R 262

यूनानी राजनीति-सिद्धांत

GREEK POLITICAL THEORY

SIR ERNEST BARKER

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
की मानक-ग्रंथ-योजना के अंतर्गत
अनुवाद निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
द्वारा अनूदित और प्रकाशित

262

रा. प्रा. पुं. आ. १६८

प्लेटो में गहन और गूढ़ तर्क तथा लोकोत्तर काव्योत्साह का मणिकांचन-संयोग मिलता है जो उसकी अलंकृत वाणी के वैभव तथा सामंजस्य के साँचे में ढलकर संगीत-लयों की अटूट धारा का रूप धारण कर लेता है और उसके फलस्वरूप आस्था के चरण निरंतर आगे बढ़ते चले जाते हैं—इतनी तीव्र गति से मानो इस यात्रा में पल भर भी ठहरने का उन्हें अवकाश न हो।

उसने पहली बार, और शायद अंतिम बार, यह मंत्र दिया कि राज्य का शासन सबसे ज्ञानवान व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित होना चाहिए, सबसे धनी, या सबसे महत्वाकांक्षी या सबसे धूर्त व्यक्तियों के हाथों में नहीं।

शैली

यूनानी राजनीति-सिद्धांत

प्लेटो और उसके पूर्ववर्त्ती

द. सं. १८३५१

लेखक
सर अर्नेस्ट बार्कर
अनुवादक
विश्वप्रकाश गुप्त

वाल्मीकि विद्यापीठ-पुस्तकालयः

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय,
भारत सरकार की मानक-ग्रंथ-योजना के अंतर्गत प्रकाशित

निदेशक—डा० नगेन्द्र

© भारत सरकार

प्रथम संस्करण, 1967
मूल्य : तेरह रुपए पचहत्तर पैसे

R: 1550

राजनीति-विज्ञान-समीक्षा-समिति

डा० बिशेश्वर प्रसाद (अध्यक्ष)
डा० हरनामसिंह
डा० शांतिनारायण वर्मा
डा० नवीन नारायण अग्रवाल
महेन्द्र चतुर्वेदी (संयुक्त निदेशक)
विश्वप्रकाश गुप्त (सहायक निदेशक)

भाषा-संपादक
महेन्द्र चतुर्वेदी

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की
मानक-ग्रंथ-योजना के अंतर्गत, शिक्षा-मंत्रालय,
भारत सरकार के शत-प्रतिशत
अनुदान से प्रकाशित हुई है

प्रकाशक : अनुवाद निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मुद्रक : नवज्योति प्रिंटिंग प्रेस, 90 सरायजीना, मेरठ

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

1906 में द पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ प्लेटो एंड अरिस्टाटल (प्लेटो और अरिस्टाटल का राजनीति-चिंतन) शीर्षक से लेखक की पहली पुस्तक प्रकाशित हुई थी और उसमें पहली पुस्तक की सारी त्रुटियाँ (और शायद सारी से भी अधिक त्रुटियाँ) विद्यमान थीं। महायुद्ध आरंभ होने से कुछ समय पहले प्रकाशक की सारी प्रतियाँ बिक गई थीं और लेखक को प्रकाशक के साथ अपने संविदे के कारण और विषय के अध्येताओं के प्रति अपनी जिम्मेदारी के कारण भी यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वह इस कृति के एक नए संस्करण की तैयारी में जुट जाए।

आरंभ में लेखक का विचार केवल यह था कि मूल संस्करण की त्रुटियों का संस्कार कर दिया जाए और फालतू बातें हटा दी जाएँ और ऐसी वातें उसमें थीं भी वहुत। पर उसने मूल रूप में जिस विषय का निरूपण करने का प्रयत्न किया था, उस क्षेत्र में 1906 के बाद वहुत-सा काम हो चुका था, उसके अपने विचारों में परिपक्वता आ गई थी और कुछ समय बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ज्यादा अच्छा यह होगा कि मूल रचना को फिर से लिखा जाए, उसमें नई सामग्री तथा अपनी अधिक परिपक्व बुद्धि का उपयोग किया जाए और संपूर्ण कृति का अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत तथा समन्वित ढँग से आयोजन किया जाए। फलतः, उसने निश्चय किया कि वह दो खंडों में यूनानी राजनीति-सिद्धांत लिखेगा जिनमें से पहले और अपेक्षाकृत बड़े खंड में प्लेटो और उसके पूर्ववर्त्तियों का तथा दूसरे और अपेक्षाकृत छोटे खंड में अरिस्टाटल तथा उसके उत्तराधिकारियों का विवेचन होगा। इनमें से पहला खंड तो यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है और दूसरे खंड के बारे में लेखक को आशा है कि जैसे ही देश की स्थिति कुछ सँभली वह उसके प्रणयन का कार्य अपने हाथ में ले लेगा और उसे शीघ्र ही समाप्त कर देगा। इस समय अन्य कर्त्तव्यों की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक है।

इस संस्करण का पहला अध्याय कुछ संशोधनों सहित मूल संस्करण की भूमिका है। दूसरा अध्याय पूरी तरह नया है। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय कुछ सीमा तक मूल रचना के पहले अध्याय के अनुरूप हैं; पर जिस सामग्री से पुराने संस्करण के पाठक का परिचय है, वह इन अध्यायों में वहुत कम बची है। छठे और सातवें अध्यायों में पूर्ववर्त्ती रचना के दूसरे अध्याय के सारतत्त्व का पूर्ण रूप से संशोधन कर दिया गया है। आठवें से लेकर ग्यारहवें अध्याय तक पुराने संस्करण के तीसरे अध्याय की जगह हैं पर ग्यारहवाँ अध्याय तो पूरी तरह, और शेष अध्यायों का वहुत सा अंश अधिकतर, नया है। शेष रचना पहले संस्करण के चौथे अध्याय के स्थान पर है, उसे दुबारा नए सिरे से लिखा गया है और उसमें पुराने संस्करण के कुछ ही अवतरण शेष हैं। परिशिष्ट में पुरानी कृति के परिशिष्ट के सारतत्त्व का संशोधन और परिवर्धन कर दिया गया है।

संभवतः लेखक का यह कहना उचित है कि यहाँ जो कृति प्रकाशित की जा रही है, वह बिल्कुल नई कृति है। इस औचित्य में कुछ सीमा तक निंदा भी निहित है। 'किसी बिचारी पुस्तक के साथ ऐसा व्यवहार' न तो प्रायः किया जाता है और न वह ठीक ही है। 'लिखित शब्द नित्य होता है' (*Litera scripta manet*) और लेखक को स्वयं अपने प्रति भी कुछ श्रद्धा का भाव रखना चाहिए–और कुछ नहीं तो कम से कम उन लोगों की ही खातिर जिनके पास उसकी मूल कृति हो। लेकिन ये पुर्ननिर्माण के दिन हैं और कुल मिलाकर सर्वश्रेष्ठ मार्ग यह लगता था कि निर्भीक होकर पुनर्निर्माण किया जाए और नई पीढ़ी के बारे में सोचा जाए जो, शायद दूसरे तथा अधिक सुखद दिनों में, लेखक को यह सम्मान दे कि उसका ग्रंथ पढ़े।

लेखक को इस ग्रंथ का प्रणयन करते समय शुद्ध रस की अनुभूति होती रही है और प्रायः ही उसके मन में संदेह उठा है कि क्या इस रसानुभूति का वह सचमुच अधिकारी है। पाठक देखेंगे कि पुस्तक पर अपने सृजन-युग की छाप है पर आशा है कि यह छाप अप्रीतिकर नहीं है। अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनके संबंध में लेखक के लिए प्लेटो के संदेश का महत्व पहले से अधिक हो गया है ; और यदि महायुद्ध के फलस्वरूप अंतर्मन उद्वेलित न हुआ होता तो उसका महत्त्व इतना न बढ़ता। युग की परिस्थितियों तथा वातावरण के संदर्भ में अनेक प्रश्नों—जैसे न्याय और बल का प्रश्न (पृ० 109–114), सैन्यवाद का अभिप्राय (449–52), अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का स्वरूप (394–8) और सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का क्षेत्र (अध्याय 17)—के बारे में पुराने संदेश के प्रति एक नया भाव पैदा हो गया है और इस तरह के भाव की अनुभूति न हो. यह असंभव था। पर लेखक साहसपूर्वक यह आशा करता है कि उसके आलोचक उसकी इस स्वीकारोक्ति से यह नहीं सोचेंगे कि उसने प्लेटो को चिरंतन मूल्यों के संदर्भ में (sub specie œternitatis) या कम से कम सामयिक मूल्यों के संदर्भ में (sub spccie temporum suorum) समझने का और स्वयं प्लेटो के दर्शन की यथासंभव निष्ठा और सहानुभूति के साथ और शुद्ध भाव के अनुसार व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया है।

लेखक इस पुस्तक की जिन विशेषताओं की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहेगा, वे हैं—दूसरे अध्याय में यूनानी राज्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन, चौथे में सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन की हाल में प्राप्त खंड-रचना के अवतरण और लॉज़ से संबद्ध अध्याय। यदि अंतिम अध्यायों के फलस्वरूप कुछ अँग्रेज पाठकों के मन में प्लेटो की सबसे अधिक उपेक्षित और फिर भी अनेक दृष्टियों से सबसे अधिक आधुनिक (या मध्ययुगीन) रचना के प्रति रुचि जागृत हो जाए, तो उनके प्रणयन का प्रयोजन सफल हो जाएगा। जिस पैमाने पर न्यूमैन ने पॉलिटिक्स का महान् संस्करण प्रकाशित किया है, उसी पैमाने पर लॉज़ के संस्करण की महती आवश्यकता है और यदि कोई विद्वान् इस अनुष्ठान में प्रवृत्त हो सके तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

लेखक यूनानी भाषा के अनेक विद्वानों का ऋणी है—प्रोफ़ेसर बर्नेट का सबसे अधिक। प्रोफ़ेसर बर्नेट के प्रकांड पांडित्य तथा नीर-क्षीर विवेक से उसे अनेक अवतरणों

में पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ है। लेखक ने अन्य व्यक्तियों का ऋण उपयुक्त स्थलों पर स्वीकार किया है, पर एक ऋण स्नेह का है जिसे वह यहां स्वीकार करना चाहेगा। सेंट जॉन कॉलिज के मि० सिडनी बाल ने सहृदयता से प्रूफ़ पढ़े हैं: उन्होंने अनेक बैठकों में लेखक के साथ कठिनाइयों पर विचार किया है; और ग्रंथ में जो दोष रह गए हैं, उनकी जिम्मेदारी मि० बाल पर कतई नहीं है पर ग्रंथ में जो कुछ निर्दोष वन पड़ा है, उसका वहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। ऋण शब्दों से नहीं चुकाया जा सकता और मि० वाल का लेखक के ऊपर यही एकमात्र ऋण नहीं है।

ऑल सोल्स कॉलिज के वार्डेन ने कृपाकर चौदहवें अध्याय का पहला भाग पढ़ा है और उसकी समालोचना की है। यदि वार्डेन लेखक का हाथ न थाम लेते और विधि की कुछ बारीकियों से उसे परिचित न कराते, तो लेखक को इस क्षेत्र में "घुस पड़ने" में कहीं अधिक संत्रास की अनुभूति होती।

महाविद्यालय में अध्यापक होने के नाते लेखक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह न्यू कॉलिज के छात्र, अपने शिष्य, मि० ए० एस० ग्रेगसन को हार्दिक धन्यवाद दे कि उन्होंने अंतिम प्रूफ़ों का संशोधन करने में लेखक का हाथ बँटाया है।

अब कहने को एक ही बात रह जाती है और वह स्वयं प्लेटो ही कहेगा: "मेरी वाणी के जिन स्वरों में सत्य की झंकार हो और जो उसे मान्य प्रतीत हों, वही काल के प्रवाह में अजर-अमर रहें। पर यदि मैंने अनजाने में कोई गलत बात कह दी हो, तो मेरी प्रार्थना है कि वह मुझे दंड दे और जो भूल करता है उसका उचित दण्ड एक ही है—उसे सही मार्ग पर ले आया जाए" (**क्रिटिआस**, 106 B—C)*।

—अर्नेस्ट बार्कर

आक्सफ़र्ड, 21 दिसम्बर, 1917.

---

* बी० जॉवेट के अंग्रेज़ी अनुवाद के आधार पर। द डायलॉग्ज ऑफ़ प्लेटो खंड–दो (1937), पृ० 71।

1947 के पुनर्मुद्रित संस्करण का प्राक्कथन

1947 में मूल रूप से प्रकाशित यह पुस्तक एक पूर्ववर्त्ती रचना—या कहें कि पूर्ववर्त्ती रचना के एक अंश—का संशोधन (और सच पूछा जाए तो आमूल संशोधन) थी। यह पूर्ववर्त्ती रचना पहले-पहल 1906 में प्रकाशित हुई थी। अब और संशोधन का प्रयत्न नहीं किया गया है ; पर चूंकि इस पुस्तक की अब भी माँग है और कुछ विश्वविद्यालयों में अब भी अध्ययन के लिए इसकी संस्तुति की जाती है, इसलिए इसका फिर से मुद्रण कर दिया गया है और इस पुनर्मुद्रण में वही छोटे-मोटे शाब्दिक परिवर्त्तन किए गए हैं जो फ़ोटो बना कर पुनर्मुद्रण करने की स्थिति में संभव हो सकते हैं।

पिछले तीस वर्षों में प्लेटो की व्याख्या के बारे में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ा गया है। कभी वह वामवक्ष का क्रांतिकारी और समाजवाद का पैग़ंबर माना जाता था, पर पिछले कुछ समय से उसे दक्षिणपक्ष का क्रांतिकारी और फ़ासिज्म का अग्रदूत कहा गया है। लेखक को आशा है, और विश्वास भी, कि इस पुस्तक में प्लेटो के सच्चे स्वरूप का ही निरूपण हुआ है। वह क्रांतिकारी अवश्य है और सत्तावादी भी है, पर वह क्रांतिकारी है श्रेय के शुद्ध भाव का और सत्तावादी है शुद्ध विवेक का। वह संलग्न किसी के साथ नहीं है—न दक्षिण पक्ष के साथ और न वामपक्ष के साथ।

स्पष्टीकरण के दो शब्द और। 1918 के संस्करण की प्रस्तावना में लेखक ने कहा था कि उसे आशा है कि वह इस ग्रंथ के दूसरे खंड की रचना कर सकेगा और इस तरह यहाँ उसने प्लेटो तथा उसके पूर्ववर्त्तियों का जो विवरण दिया है, दूसरे खंड में अरिस्टाटल तथा उसके उत्तराधिकारियों का विवरण देकर वह यूनानी राजनीति-सिद्धांत का पूरा इतिहास प्रस्तुत कर सकेगा। वह आशा पूरी नहीं हुई है। लेखक कोई सफ़ाई देने की कोशिश नहीं करेगा पर वह एक निवेदन करना चाहेगा जिससे उसके अपराध की गुरुता कम प्रतीत हो। यह ठीक है कि लेखक ने अरिस्टाटल के राजनीति-सिद्धांत के बारे में एक और खंड नहीं लिखा है पर इतना जरूर है कि उसने अरिस्टाटल की **पॉलिटिक्स** का एक अनुवाद प्रकाशित कर दिया है ; और इस अनुवाद के साथ एक अपेक्षाकृत विस्तृत भूमिका तथा अनेक परिशिष्ट जोड़ दिए हैं जिनमें अरिस्टाटल की **एथिक्स**, **र्‌हेटोरिक** तथा अन्य रचनाओं में उपलब्ध विधि तथा शासन-संबंधी विचारों का विवरण दिया गया है। यह अनुवाद अनेक वर्षों के परिश्रम का फल है और अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। इस अनुवाद के मूल में लेखक की यह भावना सक्रिय रही है (संभवतः कुछ और लोग भी ऐसा ही सोचें) कि अरिस्टाटल को समझने-समझाने के लिए उसकी ओर से सबसे अच्छी सेवा यही हो सकती थी कि वह अरिस्टाटल की मूल विचार-राशि का अनुवाद प्रस्तुत कर देता—ऐसा अनुवाद जो सुपाठ्य भी हो और सुबोध भी। इस दृष्टि से **पॉलिटिक्स** का अनुवाद (भूमिका, टिप्पणियों तथा परिशिष्टों सहित) कुछ हद तक एक ऐसी

रचना का दूसरा तथा अंतिम खंड समझा जा सकता है जिसमें यूनानी राजनीति-सिद्धांत के सामान्य इतिहास का, कम से कम अरिस्टाटल की मृत्यु तक के इतिहास का, विवेचन हुआ है ; और शायद पाठकों के अनुग्रह से ये दोनों खंड मिला कर एक समन्वित रचना समझे जा सकते हैं जिसका प्रणयन भले ही भिन्न-भिन्न कालों में हुआ हो पर जिसके भाग एक-दूसरे के पूरक हैं ।

—अर्नेस्ट बार्कर

18 जून, 1946.

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना 5
आमुख 7
Preface to the First Edition 9
Preface to the Reprint of 1947 11
प्रथम संस्करण का प्राक्कथन 13
1947 के पुनर्मुद्रित संस्करण का प्राक्कथन 17

अध्याय 1

यूनानी राज्य-सिद्धांत 1

अध्याय 2

यूनानी राज्य 23
(क) यूनानी राज्य की सामान्य विशेषताएँ 25
(ख) नगर-राज्य और कबाइली राज्य 34
(ग) यूनानी राज्य और दासता 41
(घ) यूनानी राज्य और प्रतिनिधि-संस्थाएँ 48
(ङ) यूनानी राज्य और शिक्षा 53

अध्याय 3

सोफ़िस्टों से पहले का राजनीति-चिंतन 59
(क) होमर से सोलोन तक 61
(ख) पायथागोरस के अनुयायी और आयोनियाई दार्शनिक 68
(ग) भौतिकविदों से मानववादियों तक की यात्रा 79

अध्याय 4

सोफ़िस्टों का राजनीति-सिद्धांत 83
(क) नैतिक और राजनीतिक चिंतन का उत्थान 85
(ख) सोफ़िस्टों के सामान्य लक्षण 89
(ग) प्रोटेगोरस और शुरू के सोफ़िस्ट 94
(घ) प्रकृति और विधि का विरोध 100
(ङ) सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन 103
(च) सोफ़िस्ट-सिद्धांतों के विषय में प्लेटो का विवरण 107
(छ) सामान्य प्रतिमा-मंजन 115
(ज) पैम्फ़लेटनवीस और कल्पना-राज्यवादी 119
(झ) परिशिष्ट—सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन के 'ऑन ट्रुथ' से दो अवतरण 126

अध्याय 5

साक्रेटीज़ और उसके गौण अनुयायी 131
(क) साक्रेटीज़ का जीवन 133
(ख) साक्रेटीज़ की पद्धति और सिद्धांत 136
(ग) साक्रेटीज़ की मृत्यु 143
(घ) ज़ेनोफ़ॉन 151
(ङ) ईसोक्रेटीज़ 154
(च) सिनिक और सिरेनायक 180

अध्याय 6

प्लेटो और प्लेटो के संवाद 165
(क) प्लेटो का जीवन 167
(ख) प्लेटो के संवादों की पद्धति 179

अध्याय 7

प्लेटो के आरम्भिक संवाद 183
(क) अपॉलॉजी और क्रिटो 186
(ख) चारमिडीज़, यूथीडिमस और लैचेज़ 189
(ग) मीनो, प्रोटेगोरस और गॉर्जियाज़ 194

अध्याय 8

रिपब्लिक और उसका न्याय-सिद्धांत 217

(क) रिपब्लिक की योजना और उद्देश्य 219

(ख) न्याय के स्थूल सिद्धांत 230

(1) सिफ़ालस का सिद्धांत : परंपरावाद (327—36) 230

(2) थ्रे सीमेकस का सिद्धांत: आमूल परिवर्त्तनवाद (336—354) 333

(3) ग्लॉकन का सिद्धांत : अर्थक्रियावाद (357—67) 238

(ग) आदर्श राज्य का निर्माण 242

(1) राज्य में आर्थिक तत्त्व 246

(2) राज्य में सैनिक तत्त्व 249

(3) राज्य में दार्शनिक तत्त्व 252

(घ) प्लेटोवादी राज्य के वर्ग 258

(ङ) प्लेटोवादी न्याय 264

अध्याय 9

रिपब्लिक और उसका शिक्षा-सिद्धांत 271

(क) प्लेटो के राज्य में शिक्षा का स्थान 273

(ख) यूनानी शिक्षा-पद्धतियाँ 276

(ग) प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत का दार्शनिक आधार 282

(घ) संरक्षकों या सहायकों का प्रशिक्षण 287

(1) शिक्षा में व्यायाम का स्थान 287

(2) शिक्षा में संगीत का स्थान 290

(ङ) पूर्ण संरक्षकों का उच्चतर अध्ययन-क्रम 297

(च) चिंतनमय जीवन और कर्ममय जीवन 305

(छ) आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था 308

अध्याय 10

रिपब्लिक और उसका साम्यवाद-सिद्धांत 311

(क) संपत्ति का साझा 313

(ख) पत्नियों का साझा 327

(ग) रिपब्लिक में साम्यवाद का सामान्य सिद्धांत 339

अध्याय 11

प्लेटो और यूनान के राज्य 355
(क) रिपब्लिक—एक आदर्श 357
(ख) आदर्श के आलोक में वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन 363
(ग) पहली विकृति—धनिकतंत्र 373
(घ) दूसरी विकृति—अल्पतंत्र 375
(ङ) तीसरी विकृति—लोकतंत्र 378
(च) अंतिम विकृति—निरंकुश-तंत्र 385
(छ) न्याय और अन्याय : अंतिम निर्णय 387
(ज) प्लेटो और सर्वहेलेनवाद 394
(झ) नोट—टिमाएस और क्रिटिआस 399

अध्याय 12

पॉलिटिकस 403
(क) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की परिभाषा 406
(ख) पॉलिटिकस की पुराण कथा 409
(ग) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की अंतिम परिभाषा 412
(घ) राजनीतिक नम्यता के तर्क के आधार पर निरपेक्षता का पोषण 415
(ङ) सामाजिक सामंजस्य के तर्क के आधार पर निरपेक्षता का पोषण 420
(च) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरपेक्षता का संशोधन 425
(छ) प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण 431

अध्याय 13

लॉज़ और उसका राज्य-सिद्धांत 437
(क) लॉज़ का उद्भव और स्वरूप 439
(ख) लॉज़ का सिद्धांत—आत्म-संयम 446
(ग) शांति और युद्ध 449
(घ) विधि का स्वरूप 453
(ङ) इतिहास के सबक 462

अध्याय 14

लॉज़ में सामाजिक संबंधों की व्यवस्था 471
(क) भूगोल और जनसंख्या 473

(ख) लॉज़ में संपत्ति का विवेचन 480
(ग) लॉज़ के राज्य में अर्थ-व्यवस्था 485
(घ) लॉज़ में विवाह तथा परिवार का विवेचन 493

अध्याय 15

लॉज़ की शासन-व्यवस्था 499
  (क) राज्य के आरंभ-काल के लिए की गई व्यवस्था 503
  (ख) राज्य की स्थायी संस्थाएं 506
  (ग) लॉज़ में शासन-व्यवस्था का सामान्य स्वरूप 516
  (घ) लॉज़ के बाहरवें खंड में स्वर-परिवर्त्तन 520

अध्याय 16

लॉज़ तथा उसका विधि-सिद्धांत 535
  (क) अपराध तथा दंड के संबंध में प्लेटो का दृष्टिकोण 539
  (ख) धर्म और धार्मिक उत्पीड़न 552

अध्याय 17

लॉज़ का शिक्षा-सिद्धांत 561
  (क) शिक्षा-सिद्धांत का प्राक्कथन 563
  (ख) शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण 567
  (ग) लॉज़ में प्रारंभिक शिक्षा का विधान 570
  (घ) लॉज़ में माध्यमिक शिक्षा का विधान 572
  नोट—अरिस्टाटल पर लॉज़ का ऋण 580

परिशिष्ट

प्लेटो के राजनीति-चिंतन का परवर्ती इतिहास 583
  (क) मध्य युग 585
  (ख) पुनर्जागरण—सर टामस मोर 590
  (ग) आधुनिक संसार—रूसो, हीगेल और कोंट 595
पारिभाषिक शब्दावली 601
अनुक्रमणिका 626

अध्याय 1

यूनानी राज्य-सिद्धांत

अध्याय 1

यूनानी राज्य-सिद्धांत

राजनीतिक चिंतन का श्रीगणेश यूनानियों से ही होता है। उसके जन्म का यूनानी मानस के शांत तथा स्वच्छ तर्कबुद्धिवाद (rationalism) के साथ संबंध है। यूनानियों ने भारत तथा जूडिया के लोगों की भाँति धर्म के क्षेत्र में प्रवेश पाने का प्रयास नहीं किया। न तो उन्होंने संसार को विश्वास के आधार पर ग्रहण किया, न उसे केवल आस्था की आँखों से देखा। इसके वजाय उन्होंने तो चिंतन के साम्राज्य में अपने पाँव जमाए। दृश्यमान् वस्तुओं के प्रति उनमें कौतूहल का भाव था[1]। इसी साहसपूर्ण भाव से प्रेरित होकर उन्होंने सृष्टि के संबंध में तर्कबुद्धि के आधार पर चिंतन का प्रयास किया। यह एक सहज प्रवृत्ति है कि अनुभव में वस्तुओं की जो व्यवस्था आती है, उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया जाता है। भौतिक संसार तथा मानवी संस्थाओं के संसार को समान रूप से अनिवार्य मान लेना और प्रकृति के साथ मनुष्य के संबंधों, अथवा परिवार या राज्य जैसी संस्थाओं के साथ व्यक्ति के संबंधों, के महत्व के बारे में कोई सवाल न उठाना आसान है। यदि ऐसी कोई जिज्ञासाएँ जगती हैं, तो उन्हें इस धुआँधार उत्तर से तुरंत ही दबाया जा सकता है: "क्या कुतर्की व्यक्ति सर्व-शक्तिमान ईश्वर से टक्कर लेगा"? लेकिन, इस तरह बात को चुपचाप स्वीकार कर लेना, जो सभी युगों में धार्मिक व्यक्तियों के लिए स्वाभाविक रहा है, यूनानी के लिए असंभव था। उसमें ऐसी श्रद्धा न थी जो सब वस्तुओं के संबंध में ईश्वर का ज़रा-सा हवाला देते ही संतुष्ट हो जाती। कारण चाहे कुछ भी रहा हो

---

[1] प्लेटो का एक सुप्रसिद्ध कथन है कि दर्शन का जन्म कौतूहल से होता है। यूनानियों की यह विशेषता थी कि उनमें कौतूहल का भाव काफ़ी था। जिन वस्तुओं को देखकर यूनानियों में कौतूहल का भाव जागता था, उनके संबंध में वे स्वभावतः जाँच-पड़ताल करते थे। उन्होंने विवेक के आधार पर वाणी के गुण-धर्मों के संबंध में जाँच-पड़ताल की और, इस प्रकार, तर्कशास्त्र को जन्म दिया। उन्होंने पदार्थ के स्थानपरक गुण-धर्मों पर भी सविवेक विचार किया और फलतः यूक्लिडीय ज्यामिति को जन्म दिया। यह ज्यामिति उनकी प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। इसी भावना से उन्होंने राज्य की विशेषताओं और रचना के संबंध में जाँच की। पायथागोरस के कुछ परवर्ती अनुयायियों के चिंतन को छोड़ कर यूनान के राजनीति-सिद्धांत में 'दैवी अधिकार' अथवा अति-प्राकृतिक अनुशास्तियों के कोई संकेत नहीं हैं।

(चाहे यह आरंभ के देशांतरणों (migrations) के क्षोभकारी परिणाम के कारण हो[1], या कई राज्यों में ऐसे नागरिक संगठन के कारण हो जिसने एक सार्वभौम और महिमाशाली चर्च का उत्थान रोक दिया था), यह बात निर्विवाद है कि यूनानी में धार्मिक प्रेरणाओं के प्रति कम ही आकर्षण था। इसलिए, उसमें मनुष्य के विचार और उद्योग के प्रति लघुता का वह भाव भी नहीं था जो उसमें अपने आपको अनंत का एक अणु समझने की प्रेरणा जगाता। इसके विपरीत, उसने अपने आपको कुछ अलग और आत्म-निर्भर समझने की कोशिश की। उसने अपने आपको अपने अनुभव से विलग करके उस पर निर्णायक के रूप में बैठने का साहस किया। हो सकता है कि इस निरपेक्षता और प्रतिपक्षता (antithesis) का उपयोग छोटी चीज़ प्रतीत हो, लेकिन, फिर भी इसका बड़ा महत्व है। प्रत्येक राजनीतिक विचारक का यह काम है कि जिस प्रतिपक्ष की शक्ति को उसने समझ लिया हो, उसे अपने अनुकूल बना ले और समाप्त कर दे। इसी तरह संपूर्ण राजनीति-चिंता की यह पूर्ववर्ती शर्त है कि व्यक्ति तथा राज्य की प्रतिपक्षता को समझ लिया जाए। इस प्रतिपक्षता को समझे बिना राजनीति-विज्ञान की किसी समस्या का—राज्य के प्राधिकार (authority) और उसकी विधियों के स्रोत से संबंधित समस्याओं का—कोई भी अर्थ नहीं होगा। इसके निपटारे के बिना इनमें से किसी समस्या का कोई हल भी नहीं निकल सकता। सोफ़िस्टों ने इस प्रतिपक्षता को आग्रहपूर्वक ग्रहण किया और उस पर बल दिया—इसी रूप में वे प्लेटो और अरिस्टाटल के पूर्ववर्ती हैं और उन्होंने इन दोनों के लिए भूमि तैयार की। प्लेटो और अरिस्टाटल ने इस प्रतिपक्षता का अंत कर दिया।

इस प्रकार, यूनान में राजनीति-चिंता के विकास की प्राथमिक शर्त थी—व्यक्ति के मूल्य की भावना। यह भावना जितनी सिद्धांत में व्यक्त हुई, उतनी ही व्यवहार में भी और उसने कार्य में स्वशासी समुदाय की स्वतंत्र नागरिकता की व्यावहारिक संकल्पना के रूप में अभिव्यक्ति पाई। यही संकल्पना यूनानी नगर-राज्य का मूल तत्त्व है। यूनानी राजनीति में अथवा यूनानी सिद्धांत में राज्य के प्रति व्यक्ति के बलिदान के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाए, यह एक तथ्य है कि शेष प्राचीन संसार की तुलना में यूनान में समष्टि के प्रति उसके अंग, व्यक्ति, का उतना बलिदान नहीं दिया जाता था जितना अन्य समाजों में। यूनानी अपने आप से इस बात का बखान करते हुए कभी नहीं थकते थे कि जहाँ उनके समुदायों में प्रत्येक व्यक्ति का महत्व उसकी योग्यता के अनुसार होता था और सामूहिक जीवन पर वह भी कुछ प्रभाव डालता था, वहाँ पूर्व के निरंकुश राज्यों (despotisms) में निरंकुश शासक के अतिरिक्त न तो किसी की कुछ गिनती ही थी और न उनके हितों में कोई समानता

---

[1] यह प्रभाव उन आयोनियाइयों के ऊपर विशेष रूप से पड़ा होगा जो एशिया माइनर में नए नगरों की स्थापना करने के लिए यूनान से बाहर चले गए थे। "धर्म की सहज बुनियादें नष्ट हो गई थीं। उसके साध्य—देवता—केवल कल्पना की वस्तु रह गए थे। लेकिन, मनुष्यों के हृदयों में किसी मूलतः नई वस्तु की लालसा थी। आयोनियाइयों ने न केवल विज्ञान बल्कि वीरकाव्य के लिए भी यही मूल्य चुकाया"। (Wilamowitz Moellendorff, *Staat und Gesellshaft der Griechen*, p. 20)।

ही थी। यूनान के राज्य किसी एक व्यक्ति की अस्थिर इच्छा के प्रति समान अधीनता के व्यक्तिगत बंधन में नहीं बँधे थे, वे तो विधि के आधार पर एक दूसरे से बँधे थे। उनका रूप यह न था कि बस स्वामी और सेवक एक-जुट हो गए हों और उनके समान हित कुछ भी न हों। वे तो सामाजिक मत और सामाजिक आचरण की समान भूमि पर आधारित संस्थाएँ और संघ थे। इन राज्यों में लोग साझेदारी की भावना से परस्पर बँधे हुए थे, वे हमेशा अगर 'बराबर' न होते थे तो 'एक-जैसे' अवश्य थे और एक साथ मिलकर एक ही उद्देश्य की साधना में लगे हुए थे—ऐसे ही राज्यों में राजनीति-चिंता को सहज भूमि मिली। ये ऐसे लोग थे, जो राज्य से भिन्न थे, फिर भी जिनके संयोग से राज्य का निर्माण हुआ था। यह भेद कैसा था और इस समागम का क्या स्वरूप था ? क्या व्यक्ति की सहज वृत्तियों और राज्य के अनवरत दावों के बीच कोई विरोध था ? राज्य जिस चीज़ को निरंतर न्यायपूर्ण समझ कर लागू करता था, क्या व्यक्ति उसके अलावा अन्य किसी चीज़ को स्वभावतः न्यायपूर्ण समझता था ? यदि ऐसी कोई विषमता थी, तो वह कैसे उत्पन्न हुई ? जो समाज प्रकृति-मानव (natural man) की न्याय-संबंधी संकल्पना से भिन्न किसी संकल्पना को लागू करता, उस समाज का निर्माण ही कैसे हुआ ? लगता है यूनान के राजनीतिक जीवन के विशेष स्वरूप को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक था। (वस्तुतः ये प्रश्न एथेंस में पाँचवीं शताब्दी में उठे भी)। सिद्धांततः, राजनीति-विज्ञान की एक शर्त यह है कि व्यक्ति को राज्य से अलग करके देखा जाए। व्यवहार में, नगर-राज्य के जीवन में यह चीज़ पहले से उपलब्ध हो गई थी। यूनानी नागरिक की अपने नगर-राज्य के साथ पूरी तरह अभिन्नता थी, फिर भी वह काफ़ी हद तक स्वतंत्र था और समुदाय के कार्य-व्यापार में इस हद तक एक अलग शक्ति था कि वह अपने आपको उसके विरोध में रखकर विचार कर सकता था और, इस प्रकार, उसके मूल्य के संबंध में अपना अलग दर्शन विकसित कर सकता था। दूसरे शब्दों में, यूनानी नगर बौद्धिक सामंजस्य के एक ऐसे सिद्धांत पर आधारित था जो यद्यपि चरितार्थ नहीं हो सका था, लेकिन जो अंतर्निहित अवश्य था; और चूंकि यह सिद्धांत अव्यक्त रूप से विद्यमान था, अतः जागरूक विवेक के व्यक्ति के लिए राजनीतिक साहचर्य की समस्या के समाधान में जुट जाना अपेक्षाकृत अधिक सरल था।

नगर-राज्य के अस्तित्व ने कुछ और तरीकों से भी राजनीति-चिंता के लिए आधार प्रदान किया। वह प्राच्य संसार के राज्यों की भाँति गतिहीन नहीं था। उसका एक विकास-सिद्धांत था और उसने अनेक परिवर्तन-क्रम देखे थे। यूनानी जगत में स्पार्टा ही ऐसा एक-मात्र राज्य था जो अपने शासन में अटूट अविच्छिन्नता की अडिग परंपरा बनाए हुए था। अन्य नगरों में अनेक परिवर्तन हुए थे और इन परिवर्तनों का क्रम प्रायः एक ही रहा था—राजतंत्र (monarchy) स अभिजात-तंत्र (aristocracy), अभिजात-तंत्र से निरंकुश-तंत्र (tyranny) और निरंकुश-तंत्र से लोकतंत्र (democracy)। इन परिवर्तनों ने राजनीति-चिंता के विकास में दो प्रकार से सहायता दी। सबसे पहली बात तो यह कि उनके कारण कई तरह के ऐसे आँकड़े जमा हो गए जिनके आधार पर जाँच-पड़ताल हो सके। इतिहास ने एक प्रकार के संविधान के स्थान पर एक के बाद एक अनेक प्रकार के संविधान प्रस्तुत किए और

जहाँ एक ही प्रकार की व्यवस्था बनी रहे, वहाँ संभव है कि चिंतन की प्रवृत्ति न जागे पर जहाँ उसके अनेक प्रकार सामने आएं, वहाँ अनिवार्यतः मनुष्य तुलना करने लगता है, विवेचन करता है[1]। यहाँ यह संकेत कर दिया जाए कि इनमें से अंतिम प्रकार के संविधान ने राजनीति-चिंता के विकास में और भी अधिक प्रत्यक्ष रीति से सहायता दी। अभिजात-तंत्र ने संघर्ष के विना लोकतंत्र के आगे घुटने नहीं टेके थे। लोकतंत्र को संपन्न तथा अभिजात वर्गों के दावों से अभी अपनी रक्षा करनी थी। अभिजात वर्ग के पास अब वैधिक विशेषाधिकार नहीं रहे थे, लेकिन, उसके पास जन्म तथा धन पर आधारित सामाजिक विशेषाधिकार थे। यूनान के आर्थिक विकास से जहाँ यूनानियों की धन-संपदा बढ़ी थी, वहीं उनकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई थी। वैधिक अधिकारों की हानि के मुकाबले में कहीं अधिक फ़ायदा उन्हें सामाजिक प्रभाव बढ़ने के कारण हुआ था। 'बहुतों' को, विधि की दृष्टि से चाहे उन्हें कैसी भी समानता क्यों न मिली हो, उस व्यावहारिक प्रवरता का मुकावला करना ही पड़ता था जो धन-संपदा, जन्म और संस्कृति के कारण 'थोड़ों' को प्राप्त थी। इस संघर्ष का अनुभव सिद्धांत के आधार पर भी होता था और व्यावहारिक जीवन के आधार पर भी। 'थोड़ों' को संपति और जन्म के अधिकारों की वात करना सुगम लगता था। 'बहुतों' को इसके दार्शनिक उत्तर की खोज करनी थी। कहा गया है कि यदि निकृष्ट तत्त्व-मीमांसा (metaphysics) न होती, तो तत्त्व-मीमांसा की आवश्यकता ही न पड़ती। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि यूनान में राजनीति-सिद्धांत का जन्म पहले से प्रचलित सिद्धांत में संशोधन की आवश्यकता के कारण हुआ। वहाँ जैसे ही 'बहुतों' ने अभिजात वर्ग की प्रतिष्ठा के दावों के युक्तियुक्त उत्तर देने का प्रयत्न किया, वैसे ही राजनीति-चिंता का जन्म हुआ। छठी शताब्दी के आदि से चौथी शताब्दी ई० पू० के अंत तक—सोलोन और थियोगनिस से प्लेटो और अरिस्टाटल तक—'बहुतों' के विरोध में 'थोड़े' से ज्ञानियों और धर्मियों के दावों को तोलना ही यूनानी चिंतन का स्थायी तत्त्व रहा था। संक्षेप में, 'थोड़ों' और 'बहुतों' के संघर्ष ने यूनान में राजनीति-सिद्धांत के विकास को उसी ढंग से प्रोत्साहन दिया जैसे आधुनिक काल में जनता के राजतंत्र-विरोधी विद्रोहों ने सामाजिक संविदा (social contract) जैसे राजनीतिक सिद्धांतों को जन्म दिया है अथवा कम से कम उनको स्फूर्ति दी है। अंत में, हमें यह स्मरण रखना है कि लोकतंत्र अपने आप में विचार-विमर्श द्वारा शासन है। यह 'शब्द द्वारा' शासन है। निर्णय के लिए सारी चीज़ें एक अखाड़े में छोड़ दी जाती हैं जहाँ "एक सबल विचार दूसरे को हड़प जाता है"। यूनानी लोकतंत्र के नागरिक लगातार राजनीति ब्योरों की चर्चा करते-करते स्वभावतः राजनीति-सिद्धांतों की चर्चा तक उसी प्रकार पहुँच गए, जिस प्रकार क्रॉमवेल की सेना के लोकतंत्रनिष्ठ सिपाही वेतन के प्रश्नों तथा युगीन परिस्थितियों की चर्चा करते-करते राजनीतिक समाज के 'मूल तत्त्वों' की चर्चा तक पहुँच गए। लोकतंत्र किसी ऐसी परंपरा के आधार पर नहीं टिक सकता जो वंशागत हो और जिसकी व्याख्या न की गई हो। वह चपल

---

1. संविधानों के वर्गीकरण की समस्या ने, जिसमें तुलना के बिना काम ही नहीं चलता, हेरोडोटस (III. c. 80–2) का ध्यान भी आकृष्ट किया था। आगे चलकर वह यूनानी जिज्ञासा का मुख्य तत्त्व बनी।

विचारों की मुक्त वायु में पनपता है। उसके जीवन के लिए सिद्धांतों का विवेचन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि नीतियों का। थ्यूसीडाइड्स के ग्रंथ के पाठकों का ध्यान इस बात की ओर गए बिना नहीं रहता कि लोकतंत्रवादी वक्ताओं की सैद्धांतिक पकड़ बड़ी गहरी थी—चाहे वह सिराक्यूज़ में एथेनागोरस हो, अथवा एथेंस में क्लिओन हो, या मेलोस में एथेंस के दूत हों।

लेकिन, नगर-राज्य ने तुलना और विवेचन के लिए केवल विपुल ऐतिहासिक आधार-सामग्री ही नहीं दी। अपने स्वरूप के कारण नगर-राज्य एक न होकर अनेक थे। यूनान में एक ही समय में अनेक अलग-अलग राज्य थे। उनका न केवल सह-अस्तित्व था बल्कि उनमें परस्पर घनिष्ठ संबंध भी था। जब लोगों ने देखा कि राज्य की विभिन्न व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं, तो वे अपने आपसे यह प्रश्न पूछने के लिए विवश हो गए कि राज्य का वास्तविक अर्थ क्या है? जब एथेंस, थीव्स और स्पार्टा ने नागरिकता के लिए ऐसी शर्तें लगा दीं जिनमें बड़ी विविधता थी, तो उन्हें बरबस अपने आप से यह सवाल पूछना पड़ा कि वास्तव में नागरिक कौन है? यह प्रश्न खास तौर से उठता था और इसके प्रति यूनानी में विशेष आकर्षण था कि सर्वश्रेष्ठ राज्य कैसा होता है? उसके वर्तमान रूपों में कौन सा पूर्णता के सबसे अधिक निकट है और अन्य राज्य क्रमशः किस सीमा तक उससे पीछे रह जाते हैं? चूँकि यथार्थ में इतनी विविधता थी, इसलिए आदर्श की संकल्पना की बड़ी आवश्यकता मालूम पड़ी। आदर्श राज्य एक मानक का काम देगा जिसके आधार पर वर्तमान राज्यों का वर्गीकरण हो सकेगा और उन्हें समझा जा सकेगा। चूँकि ये विविध राज्य आधुनिक शब्दावली में न केवल 'सांविधानिक' भेदों को बल्कि नैतिक उद्देश्य और चरित्र के अधिक गहरे और अधिक आधारभूत भेदों को भी प्रकट करते थे, अतः आदर्श की यह खोज और भी स्वाभाविक हो गई थी[1]। नगर-राज्य के विस्तार के कारण और उसके फलस्वरूप उसके जीवन में जो घनिष्ठता आ गई थी, उसके कारण शिष्टता और औचित्य के संबंध में एक स्थानीय मत के जन्म को प्रेरणा मिली। इन छोटे नगरों में से प्रत्येक का एक अपना स्वर था। प्रत्येक ने अपने इतिहास के दौरान में अपनी एक विशिष्ट आचरण-संहिता का विकास किया था[2]। इस संहिता के पीछे जनमत की शक्ति थी और जनमत ने ही इसका निर्माण किया था। अपनी एकाग्रता और सघनता के कारण इस मत का प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर जो बोझ पड़ता था, उसकी कल्पना हम कठिनाई से कर सकते हैं। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति

---

[1] अरिस्टाटल के विचार से ये भेद सांविधानिक थे क्योंकि संविधान राज्य के नैतिक उद्देश्य को प्रकट करता है और वह जीवन की एक शैली होता है।

[2] प्रत्येक राज्य का अनूठापन भौतिक वस्तुओं में भी दिखाई देता था। "जिस प्रकार प्रत्येक नगर की अपनी बोली और उसे लिखने की शैली है, अपने देवता और संविधान हैं, उसी प्रकार उसके पास बरतनों को गढ़ने और उन्हें रंगने की अपनी कुछ युक्तियाँ होती हैं, वेशभूषा और जूतों के संबंध में अपनी कुछ विचित्रताएँ होती हैं, अपने कुछ परंपरागत व्यंजन और पेय होते हैं, कलाओं और दस्तकारियों के संबंध में अपना अलग 'संप्रदाय' होता है"। (Zimmern, *Greek Commonwealth*, p. 219)।

अपने पड़ोसी को जानता हो, (अरिस्टाटल ने उपयुक्त नगर की यह भी एक शर्त मानी है) और प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी के व्यवहार पर दृष्टि रखता हो, वहाँ किसी भी व्यक्ति के लिए अपने नगर के जीवन के स्वर और स्वभाव के विरुद्ध जाना कठिन था। नगर का रूप एक नैतिक प्राणी का रूप था। उसका एक निश्चित चरित्र था और जैसा कि पेरीक्लीज़ के अंत्येष्टि भाषण से ज्ञात होता है, उसके सदस्य अपने नगर के व्यक्तित्व के प्रति सचेत थे तथा वे उसके चरित्र की अन्य नगरों के चरित्र से तुलना कर सकते थे[1]। इस प्रकार, यूनानी राज्यों में एक प्रकार की राजनीतिक चेतना का विकास हो गया था। प्रत्येक नगर एक पूर्ण विकसित इकाई के रूप में अपने प्रति जागरूक था। उसका अपना एक नैतिक जीवन था जिसका उसने स्वयं ही सृजन और पोषण किया था। वह इस भाव को प्रत्येक राजनीतिक इकाई की 'आत्म-निर्भरता' की संकल्पना में व्यक्त करता था। चूंकि प्रत्येक राज्य आत्म-निर्भर था, अतः वह स्वशासी होने का भी दावा करता था। आत्म-निर्भरता का अनिवार्य परिणाम था स्वशासन। "परंपरागत यूनानी दृष्टिकोण में स्वशासन और आत्म-निर्भरता प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं।" अतः, कोई आश्चर्य नहीं कि लोग इन विभिन्न प्रकारों के मूल्य का विवेचन करने लगे या पृथक् व्यक्तित्व की राजनीतिक चेतना राजनीतिक चिंतन में प्रकट होने लगी।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि नगर-राज्य की राजनीतिक स्थितियों ने राजनीति-चिंता के विकास में तीन कारणों से योग दिया। एक—नगर एक स्वशासी समुदाय था जिसके अपने सदस्यों के साथ संबंध के बारे में जाँच-पड़ताल ज़रूरी थी। दो—नगर विकास की एक प्रक्रिया से होकर गुज़रा था जिसने आधार-सामग्री तो दी ही थी, उसके साथ ही अपने अंतिम चरण में चिंतन को भी गति दी थी। अंत में, अपनी अनन्यता के प्रति सचेत विभिन्न प्रकार के नगरों के सह-अस्तित्व ने उनकी तुलना करने और एक आदर्श की खोज करने की प्रेरणा दी। किंतु, नगर-राज्य की राजनीति-चिंता पर उसकी विशिष्ट परिस्थितियों की अमिट छाप रहती है। नगर-राज्य नैतिक समाज था और इस समाज के विज्ञान होने के नाते यूनानियों के हाथों में राजनीति-विज्ञान विशेष रूप से और प्रधानतः नैतिक हो गया। अरिस्टाटल के

---

[1] "हमारा शासन हमारे पड़ोसियों के शासन की नकल नहीं है। हमारा सैनिक प्रशिक्षण भी हमारे विरोधियों से भिन्न है। यही बात शिक्षा के संबंध में है। सार्वजनिक जीवन से पृथक् रहने वाले व्यक्ति को जहाँ अन्य राज्य 'शांत' समझते हैं, हम उसे बेकार का आदमी मानते हैं। नीति के सभी प्रश्नों पर हम सावधानी से और व्यक्तिगत रूप से निर्णय और विवाद करते हैं। हमारी ख्याति है कि हम कर्म में सबसे अधिक साहसी और पहले से सबसे अधिक सोच-विचार करने वाले हैं। भलाई करने में भी हम शेष संसार से बिल्कुल उलटे हैं। हम अनुग्रह पाकर नहीं, बल्कि अनुग्रह करके मित्र बनाते हैं। संकट से जूझते समय जो गौरव-गरिमा हम प्राप्त कर लेते हैं, वह कल्पनातीत है और आज का कोई भी अन्य नगर उसकी होड़ नहीं कर सकता"। (Thucydides, II. 37. यह हिंदी अनुवाद ज़िमर्न के अँग्रेज़ी अनुवाद पर आधारित है, *op. cit.*; pp. 197—200)।

विचार से संविधान ही राज्य है। संविधान केवल 'पदों का विन्यास' ही नहीं है, बल्कि वह 'जीवन की एक शैली' भी है। वह वैधिक संरचना से अधिक है। वह नैतिक भावना भी है। वास्तव में यही उसका आभ्यंतरिक सार और अर्थ है। जब कोई विचारक राज्य के बारे में विचार कर रहा हो, तो उसे अपने विषय पर नैतिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। उसे राजनीति-विज्ञान पर नैतिक दर्शन की शब्दावली में ही विचार करना चाहिए,[1] न्यायशास्त्र की शब्दावली में नहीं जैसे कि रोम की शिक्षा के आधार पर बाद की एक पीढ़ी ने किया था। उसे पूछना चाहिए : वह लक्ष्य क्या है जिसे प्राप्त करने का प्रयास राज्य को करना चाहिए और वे उपाय कौन से हैं जिनका सही ढंग का जीवन व्यतीत करने और सच्ची नैतिक भावना हस्तगत करने के लिए राज्य को प्रयोग करना चाहिए। उसे यह नहीं पूछना चाहिए कि राजनीतिक शक्ति एक जगह केंद्रित हो या बँटी हुई हो। उसे वैधिक अधिकारों और करों के वितरण के बारे में भी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए। उसे याद रखना चाहिए कि उसका सरोकार वैधिक समुदाय के बजाय नैतिक समुदाय से है। उसे इस समुदाय के नैतिक जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर विचार करना चाहिए। उसके लिए राजनीति-विज्ञान संपूर्ण समाज का नीतिशास्त्र होना चाहिए—उस समाज का जो एक समान नैतिक प्रयोजन के आधार पर बना हुआ हो। उसे तय करना चाहिए कि इस समाज का 'श्रेय' (good) क्या है ? समाज की वह कौन-सी गठन है जिससे इस 'श्रेय' को सबसे अच्छे ढंग से हासिल किया जा सकता है ? और, वह कौन-सा कर्म है जिसके द्वारा वह स्थायी हो सकता है। अरिस्टाटल के विचार से राजनीति-विज्ञान की इस संकलपना में और नीतिशास्त्र में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। आदर्श रूप में व्यक्ति का 'श्रेय' वही है जो समाज का। उसका सद्गुण (virtue) आदर्श रूप से वही है जो उसके राज्य का है। अरिस्टाटल के विचार से पूर्ण श्रेय समान कर्म द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है और राजनीति-विज्ञान उसी श्रेय की साधना में निरत समूचे नैतिक समाज का विज्ञान है और इसी रूप में यह उच्चतम नीतिशास्त्र है। यह मनुष्य के संपूर्ण कर्तव्य का विज्ञान है—और जब अरिस्टाटल यह कहता है तो इसका अर्थ यह है कि वह मनुष्य को उसके परिवेश के संदर्भ में और उसके कर्म तथा संबंधों की पूर्णता के संदर्भ में ग्रहण कर रहा है। अरिस्टाटल के पास विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र की न तो कोई पृथक् संकल्पना ही है और न उसके पास इसके लिए कोई अलग शब्द ही है। यदि उसने राजनीति-विज्ञान के ग्रंथ से भिन्न नीतिशास्त्र के ग्रंथ की रचना की, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह राजनीति को एक विशिष्ट विज्ञान मान रहा है। इसका मतलब केवल यह है कि वह सद्गुण के दो प्रकारों में भेद कर रहा है। सद्गुण का एक रूप यह है कि वह व्यक्ति की एक स्थिर और मनोवैज्ञानिक अवस्था है। सद्गुण का दूसरा रूप यह है कि वह सामाजिक मानव की

---

[1] कहा जा सकता है कि राजनीति-विज्ञान को अपनी शब्दावली सदैव ही अन्य शास्त्रों—नीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र अथवा जीवविज्ञान—से ग्रहण करनी पड़ी है। यूनान का राजनीति-विज्ञान सदैव नैतिक शब्दावली का व्यवहार करता था।

गतिशील शक्ति है[1]। इस प्रकार, अरिस्टाटल के लिए राजनीति-विज्ञान और नैतिक दर्शन में अभेद है और (यह भी कहा जा सकता है कि) दोनों का न्यायशास्त्र के साथ अभेद है क्योंकि राज्य की नैतिक संहिता विधि अथवा अधिकार के समरूप है। फिर, दीवानी विधि के सिद्धांत और नैतिक विधि के सिद्धांत में कोई अंतर भी नहीं है। राजनीति-विज्ञान त्रिमुखी विद्या है। वह राज्य का सिद्धांत है, लेकिन वह नीतियों का भी सिद्धांत है और विधि का भी। इसमें दो ऐसे विषयों का विवेचन होता है जिन्हें बाद में उसके क्षेत्र से बाहर कर दिया गया और फिर जिनका पृथक् शास्त्रों के रूप में विवेचन किया गया है।

राजनीति-विज्ञान की इस संकलपना से यूनान की राजनीति-चिंता और हमारी आधुनिक चिंतन-शैलियों के कुछ भेदों का पता चलता है। सद्‌गुण की प्राप्ति के लिए एक नैतिक संघ के रूप में राज्य की संकलपना में व्यवित के साथ राज्य के संबंधों की ऐसी धारणा निहित है जो अधिकांश आधुनिक धारणाओं से भिन्न है। हम कह चुके हैं कि यूनानी के लिए उसका वास्तविक महत्त्व समाज में उसकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से था। यद्यपि उसके कार्य के निर्धारण में वह अपने आप को भी महत्वपूर्ण समझता था, तथापि, यह एक तथ्य है कि यूनानी की राजनीति-चिंता में व्यक्ति की धारणा की प्रधानता नहीं है और अधिकारों की संकलपना उसमें प्राय: विकसित नहीं हो पाई थी। संभवत:, इसका वास्तविक कारण यही रहा होगा कि चूंकि व्यक्ति समझता था कि वह संपूर्ण समाज के जीवन पर प्रभाव डाल सकता है, अत: उसने संपूर्ण के विरोध में अपने अधिकारों पर ज़ोर देने का प्रयास नहीं किया। समाज में अपने मूल्य के नाते सुरक्षित होने के कारण उसे अपने निज के बारे में चिंता करने की आवश्यकता नहीं थी। और इसलिए, नैतिक दृष्टिकोण से आरंभ करने और राज्य को एक नैतिक संस्था मानने के कारण यूनानियों ने ऐसे ऐक्य की कल्पना की थी जिससे अधिकांश आधुनिक चिंतन अपरिचित है। व्यक्ति और राज्य के नैतिक प्रयोजन इस हद तक एक थे कि राज्य से इतने अधिक प्रभाव की आशा की जाती थी और वह इतना अधिक प्रभाव डालता था कि हमें विस्मयजनक प्रतीत होता है। प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों ही राज्य का उद्देश्य 'श्रेय' की निश्चित अभिवृद्धि मानते हैं। वे 'पूर्ण' से आरंभ करते हैं और ऐसे साधनों की खोज करते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के ऊपर उसके जीवन और प्रयोजन की छाप डाली जा सके। आधुनिक विचारक की दृष्टि में राज्य का कार्य नकारात्मक है। उसका कार्य नैतिक जीवन को प्रेरणा देना नहीं, बल्कि उसके मार्ग की बाधाओं का निवारण करना है। हम 'व्यक्ति' से आरंभ करते हैं। हम उसे अधिकारों से (प्राय: सामाजिक मान्यता से निरपेक्ष प्राकृतिक अधिकारों से) संपन्न मानते हैं : हम आशा करते हैं कि राज्य इन अधिकारों की गारंटी दे तथा ऐसा करके चरित्र के सहज विकास की परिस्थितियाँ पैदा करे। हम चाहते हैं कि राज्य के कार्यों से उसके सदस्यों के जीवन कठपुतलियों जैसे बनकर न रह जाएँ। हमारी आदर्शोक्ति है : आंतरिक

---

[1] इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि **पॉलिटिक्स** के चौथे और पाँचवे खंडों में नीतिशास्त्र से अलग राजनीति का यथार्थवादी विवेचन है।

प्रेरणा से किया गया आधा कार्य बलपूर्वक बाहर से लादे गए संपूर्ण कार्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। यूनानियों को ऐसी चिंता न थी। अधिकारों की पवित्रता के संबंध में उनकी यदि कोई धारणा थी भी, तो नहीं के बराबर। प्लेटो सबसे महत्वपूर्ण अधिकार का अंत करने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होता है। अरिस्टाटल अन्य स्थलों की भाँति यहाँ भी अधिक रूढ़िवादी है। यहाँ वह ऐसे अधिकार को उचित ठहराता है (जैसे दासता के रूप में उसने अन्याय को उचित ठहराया है) जिसने चिर-भोगज अधिकार (prescriptive title) का रूप ले लिया हो[1]। इसलिए, यूनानी राजनीति-चिंता में यह इच्छा निहित है कि राज्य कर्म में प्रवृत्त हो और उसके कर्म की दिशाओं को निर्धारित करने का प्रयास किया जाए, और यही उसकी विशेषता है।

नगर-राज्य के उपर्युक्त सिद्धांत में इसके सिवा और क्या हो सकता था ? यह सदैव याद रखना चाहिए कि नगर-राज्य के अंतर्गत राज्य और चर्च में कोई अंतर नहीं किया गया था। यूनानी धर्म 'बाह्य सार्वजनिक पूजा' का विषय था—इसके अपवाद थे केवल रहस्य*। यूनान में रोम की भाँति अलग से कोई पुजारी-वर्ग नहीं था। वहाँ डेल्फ़ी के अपोलो की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। इस पूजा ने छठी शताब्दी के आरंभ में जीवन के एक विशिष्ट स्वर को जन्म दिया और यूनान के इस विशिष्ट विचार के प्रसार में सहायता दी कि 'अति से बचना चाहिए'। डेल्फ़ी के अपोलो के अपने पुजारी तो थे, लेकिन, अन्य स्थानों पर उसके पंथ के इर्द-गिर्द किसी संगठित चर्च का निर्माण नहीं हुआ था। प्रत्येक नगर के एक या एक से अधिक अपने पंथ थे और उन सबका सार था औपचारिक कर्म-कांड। सामान्य रूप से यूनानी धर्म ऐसा आध्यात्मिक प्रभाव नहीं डालता था जो आभ्यंतरिक जीवन की ओर उन्मुख कर सके। इसमें देवी-देवताओं को भेंट और बलि दी जाती थी। धार्मिक पवित्रता नगर के प्रति (देवताओं के प्रति नहीं) प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य था। धार्मिक पवित्रता का अर्थ था औपचारिक विधि-विधानों का उचित रीति से पालन करना और धार्मिक अपवित्रता के माने होते थे इस प्रकार के कर्तव्य की अवहेलना करना। राज्य द्वारा मान्य देवताओं के अतिरिक्त नागरिक अन्य देवताओं की पूजा कर सकता था, लेकिन, वह राज्य द्वारा मान्य देवताओं की पूजा छोड़ नहीं सकता था। संक्षेप

---

[1] हम इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि अधिकारों के संबंध में प्लेटो की और उससे भी अधिक अरिस्टाटल की अपनी कुछ धारणा थी। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, संसार के प्रति उनके साध्यपरक दृष्टिकोण (teleological view) में यह धारणा निहित थी।

* प्राचीन काल में ईसाई धर्म से इतर भूमध्यसागर की तटवर्ती जातियों में प्रचलित विशेष प्रकार के गोपनीय धर्म-संस्कार जिन्हें संपन्न करने का अधिकार केवल कुछ संप्रदाय-दीक्षित व्यक्तियों को ही रहता था। इन संस्कारों में मंत्रोच्चार, खान-पान और यज्ञादि कर्म निहित थे और इनका उद्देश्य था—उपासकों के लौकिक जीवन का सुधार करने के साथ-साथ उनके पारलौकिक जीवन का भी सुधार। यूनान में ये रहस्य एल्यूसियाई रहस्यों के नाम से ख्यात थे क्योंकि इनका उद्भव एथेंस के उत्तर-पश्चिम में स्थित एल्यूसिस नामक नगर में डेमेटर देवता के मंदिर से संबंधित माना जाता था।

में, यूनानी धार्मिक जीवन की मुख्य विशेषताएँ थीं—बाह्य कर्म-कांड और उस कर्म-कांड का स्थानीय स्वरूप। प्रत्येक समुदाय अपने स्थानीय कर्म-कांड पर उतना ही और उसी प्रकार ध्यान देता था जिस प्रकार कि अपने सार्वजनिक कार्यों पर। धर्म राजनीतिक समाज के राजनीतिक जीवन का एक पहलू था। वह कोई और अलग जीवन नहीं था और न उस के लिए कोई और अलग समाज था। यूनानी नगर का जीवन किसी ऐसी संस्था के अस्तित्व के कारण सीमित न था जो उसके साथ बराबरी का दावा करे या अपने को उससे ऊँचा माने। नैतिकता के प्रचार का और अपने सत्यों के पक्ष में अनुशास्तियाँ खोजने का काम वह ऐसी संस्था पर नहीं छोड़ सकता था। चूँकि वह अपने आप ही चर्च भी था और राज्य भी, इसलिये उसे एक ओर तो परंपरागत पाप-कर्म का दमन करना था और दूसरी ओर न्याय-मार्ग का निर्देश। मध्यकालीन सिद्धांत में राज्य पहले काम में सीमित था और दूसरा काम चर्च का दायित्व था।

इस प्रकार, नगर-राज्य का सिद्धांत ऐसा सिद्धांत है जिसमें राज्य के समग्र कार्यक्षेत्र को तत्परता से स्वीकार कर लिया जाता है और फिर इस बात की विशेष रूप से मीमांसा की जाती है कि राज्य अपने कार्यों को उचित रीति से किस प्रकार कर सकता है। यह सिद्धांत विधिकर्त्ताओं द्वारा निर्मित है और उन्हीं के मतलब का है। यूनानियों का विश्वास था कि उनके राज्यों के विभिन्न स्वर और स्वभाव लाइकरगस अथवा सोलोन जैसे संतों के कार्य के फलस्वरूप थे। उन्होंने कुछ ऐसे साँचे तैयार कर दिए थे जिनमें उनके साथियों के जीवन सदैव ढलते रहें। संभवतः, उनका अधिकांश विश्वास इतिहास से समर्थित नहीं है। लाइकरगस के विधि-निर्माण की कहानी शायद चौथी शताब्दी में गढ़ी गई होगी। स्पार्टा की विधि पूर्वजों की दृढ़ प्रथाओं और परंपराओं का संकलन थी: और, धर्म की तरह इस प्रकार की विधि का अस्तित्व लोगों के हृदयों में होता है। इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति ने नहीं किया, वल्कि, उसका विकास पीढ़ियों में जाकर हो पाया था[1]। लेकिन, अन्य स्थानों पर लोग अधिक

---

[1] इस पुस्तक के मूल रूप के कुछ आलोचकों ने पुस्तक में उल्लिखित इस विचार पर आपत्ति की थी कि विधिकर्त्ता की यूनानी संकल्पना उस "स्वाभाविक और सार्वभौम प्रवृत्ति से प्रभावित है जिसके अनुसार किसी राष्ट्र के मानस की धीमी प्रक्रिया को उसकी महानतम् संतानों के आदेश से संबंधित कर दिया जाता है"। इँगलैंड के इतिहास के पाठक आख्यान के चमत्कार से परिचित हैं जिसने अल्फ्रेड को 'शायर' और 'जूरी' जैसी अँग्रेज़ी संस्थाओं का सार्वभौम प्रवर्त्तक बना दिया है। लेकिन, यूनान के इतिहास में विधिकर्त्ता के महत्व को कम आँक कर मैंने गलती की है और पाठ को वदल दिया है। दूसरी ओर उपर्युक्त उद्धरण (Wilamowitz, *op. cit.* p. 80 से) मेरे कथन को पुष्टि करता है और मेरा मन यूनानियों के संबंध में यह विश्वास करने का होता है कि "उनकी कलात्मक मनोवृत्ति का यह तकाज़ा था कि संस्थाएँ एक छेनी की गोलाकार कृतियाँ प्रतीत होनी चाहिएँ"। मैं यह और कह दूँ कि विधि-कर्त्ताओं के वारे में अपनी जानकारी के लिए हम बाद के अधिकारी विद्वानों पर निर्भर हैं जिनमें तथ्य के अन्वेषण की प्रवृत्ति सजग थी। आधुनिक काल के एकमात्र 'विधिकर्त्ता' जेरमी वेंथम को अपने परिश्रम का कोई फल प्राप्त

विनयशील थे। यूनानी अस्थिर स्वभाव के थे, अतः वे व्यवस्थाकारी बुद्धि की निर्माण-क्रिया का नियंत्रण मानने के लिए कभी-कभी सुगमता से तैयार तो हो जाते थे, लेकिन, शायद यह स्थिति हमेशा नहीं रहती थी। सोलोन ने एथेंस के ऊपर अपनी छाप छोड़ी थी। कुछ दृष्टियों से क्लीस्थेनीज़ का कार्य सोलोन के कार्य की अपेक्षा अधिक उल्लेखनीय है। कम से कम उसके बारे में वह कहावत सही है कि "उनके विधिकर्त्ता वास्तुकारों की भांति रूल और कुतुबनुमा से कार्य करते हैं"। उसने एथेंस के जीवन की समस्याओं को दार्शमिक प्रणाली से सुलझाया। उसने जनता को दस कबीलों में बाँट दिया और साल के दस महीने किए। इस प्रकार, उसने एथेंस की समस्याओं का गणितीय निश्चितता के साथ समाधान किया[1]। जो बात एथेंस के बारे में सही है, यह यूनान के अनेक उपनिवेशों के बारे में भी सही है। यूनानियों को जो प्रयोग प्रिय थे, उन्हें पूरा करने के लिए उपनिवेशों के रूप में उन्हें नए क्षेत्र और नई भूमि मिल गई थी और चूंकि उपनिवेशों में अकसर विभिन्न जातियों के लोग रहते थे; इसलिए वहाँ कुछ न कुछ व्यवस्था आवश्यक हो गई थी। अतः, यदि राजनीति विचारकों के मन में विधिकर्त्ता की तस्वीर रहती है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे अपने आप को काल्पनिक विधिकर्त्ता मानते हैं। सबसे पहले वे मन के अनुसार आदर्श की पूर्ण योजना बनाते हैं। जब वे देखते हैं कि आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता, तो वे व्यावहारिक योजना का निर्माण करते हैं जिसे कार्यान्वित किया जा सके। यदि वास्तविक विधिकर्त्ता ने इस ढंग से अतीत का निर्माण किया हो, तो दार्शनिक वर्तमान का निर्माण क्यों नहीं कर सकता ? वह भी पहले के विधिकर्त्ता की भाँति सामग्री को अपनी इच्छानुसार ढाल सकता है। यूनान की राजनीति-चिंता में यह व्यावहारिक प्रवृत्ति सदा मौजूद रही है। जिन ग्रंथों में यह दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, वे मैकियावेली के **प्रिंस** की भाँति राजमर्मज्ञों के लिए नियम-ग्रंथ

नहीं हुआ। "सम्राट् एलेक्ज़ेंडर प्रथम ने रूस की संहिता के सुधार में बेंथम से सहायता माँगी। बेंथम ने बवेरिया नरेश को भी इसी प्रकार के कार्य में सहायता दी। बाद में उसने यूनानी विद्रोहियों से राजतंत्र की निंदा की और मेहमतअली को एक संविधान का प्रारूप दिया। यह समझ में नहीं आता कि निष्ठा के इस सतत परिवर्तन का क्या ठोस परिणाम निकला" ? (Montague, preface to Bentham's *Fragment of Government*, p. 11)।

[1] विलामोवित्ज़ को इसमें पायथागोरस का प्रभाव दिखाई देता है (आगे अध्याय 3 खंड (ख) से तुलना कीजिए), लेकिन, यह ध्यान रखना चाहिए कि आरंभिक जर्मन कबीले भी इसी प्रकार गणितनिष्ठ थे। जर्मन पेगस 1,000 आदमियों का एकक था और सेंटेना 100 आदमियों का उपमंडल। एंग्लो-सेक्सन काल का 'कबाइली भूमिकर' (Tribal Hidage) भी इसी गणितीय प्रवृत्ति को प्रकट करता है। आरंभिक क्षतिपूर्ति की तालिकाएँ (Tables of weregilds) अंकगणित के अभ्यासों की भांति है। सुबोध पूर्णांकों की प्रवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिये हमें न तो पायथागोरस के पास जाने की जरूरत है और न "यूनानियों की क्रम और सममिति की विशेष रुचि" के ही। यह प्रवृत्ति राजनीतिक विकास की किसी अवस्था में सहज ही होती है। संभवतः, वास्तविक जीवन में खराब सिले हुए कोट की भाँति ढीले-ढाले ढँग से वे अधिक उपयोगी थे।

(manuals) हैं। प्लेटो के संबंध में यह बात विशेष रूप से सही है। उसने अपने गुरु साक्रेटीज की भाँति ज्ञान का उद्देश्य सदैव यही माना था कि उसका फलोदय कर्म में होना चाहिए। उसने स्वयं अपने दर्शन को कार्यरूप में परिणित करने का और **रिपब्लिक** में निहित आशाओं की पूर्ति के लिए एक निरंकुश शासक को प्रेरणा देने का प्रयास किया था। अरिस्टाटल के साथ भी हम तभी न्याय कर सकेंगे जब यह याद रखें कि **पॉलिटिक्स** का उद्देश्य विधिकर्त्ता और राजमर्मज्ञ का पथ-प्रदर्शन करना और अपने संपर्क में आने वाले राज्यों के निर्माण में अथवा उनके सुधार में या कम से कम उनकी रक्षा में सहायता देना है।

यदि यह स्थिति है तो पूछा जा सकता है—क्या यूनानियों का राजनीति-विज्ञान विज्ञान की अपेक्षा कला नहीं है? विज्ञान में तो अनुसंधान के किसी निश्चित विषय के बारे में सच्चाई जानने का प्रयास किया जाता है। अगर राजनीति-विज्ञान का उद्देश्य अध्ययन के विषय में परिवर्तन करना हो, तो क्या इस दृष्टि से देखने पर वह विज्ञान हो सकता है? इस कठिनाई का समाधान तभी हो सकता है जब हम यह समझ लें कि मानव-मन की क्रियाओं पर विचार करने वाले विज्ञानों के दो पक्ष होते हैं—चाहे सिद्धांत-रूप में देखा जाए और चाहे व्यवहार-रूप में। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीति जैसे विज्ञान मुख्यत: उन नियमों के निर्धारण का प्रयास करते हैं जिनके अनुसार मन उनकी विषय-वस्तु पर अलग-अलग विचार करता है। वे अपनी सामग्री का विश्लेषण उन सामान्य स्थापनाओं को निर्धारित करने के लिए करते हैं जो उस सामग्री के स्वरूप के संबंध में स्थिर की जा सकें। परंतु, विवेक जिन नियमों के अनुसार सक्रिय होता है, उन्हें समझने का अर्थ सामान्य स्थापनाओं के रूप में नियमों को निर्धारित करना नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि विनियमों के अर्थ में नियमों को निर्धारित किया जाए। तर्क द्वारा चिंतन-प्रक्रिया का उद्घाटन भी उचित चिंतन-विधियों की दृष्टि से विधान का कार्य है। इस प्रकार से प्रख्यापित विधि की सत्ता को अतिरंजित रूप देना और औपचारिक तर्कशास्त्र के नियमों के अधीन विचार की प्रक्रिया का निग्रह करना आसान है। जहाँ कहीं भी यह किया जाता है, वहाँ तर्कशास्त्र के तानाशाही पक्ष के विरुद्ध प्रतिक्रिया अनिवार्य है। तर्कशास्त्र का निस्संदेह यह एक पहलू है और मानव-कार्य के विज्ञान भी ऐसा एक पहलू प्रस्तुत करते हैं। राजनीतिक हैसियत में मनुष्य के कार्य के संबंध में जो उक्तियाँ सही हैं, वे उसके कार्य के नियम भी हैं। कारण यह है कि जिस विषय के संबंध में ये उक्तियाँ सही हैं, वह स्वस्थ सामान्य विषय है। यह उसी प्रकार है जैसे कि तर्कशास्त्र की उक्तियाँ सामान्य और नियमित चिंतन के लिए सही हैं। इसके अनुसार ही, "राज्य का उद्देश्य अपने नागरिकों का कल्याण करना है" अथवा "अच्छाई का बदला अच्छाई और बुराई का बदला बुराई ही न्याय है'—जैसी उक्तियाँ आज्ञा के भाव से भी लिखी जा सकती हैं और संकेत के भाव से भी। राज्य को अपने नागरिकों का पूर्ण और सच्चे रूप से **कल्याण करना चाहिए**। उसको अपना लक्ष्य धन अथवा शक्ति का संचय या समानता की स्थापना **नहीं समझना चाहिए**। राज्य को उन व्यक्तियों को पद और सम्मान देना **चाहिए** जिन्होंने उसे 'सत्' का दान किया हो, जिससे उसके उद्देश्य की अभिवृद्धि हो। उसे धनिकों को, केवल इसलिए कि वे धनिक

हैं और गरीबों को केवल इसलिए कि वे गरीब हैं, सत्तारूढ़ नहीं करना चाहिए। यूनानियों की राजनीति-चिंता ने विज्ञान के इस तानाशाही पक्ष पर अपना ध्यान विशेष रूप से से केंद्रित किया था[1]। यूनानियों ने राजनीति-विज्ञान की रचना आज्ञात्मक भाव से की। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि वे संकेतात्मक भाव को भूल गए थे। अरिस्टाटल के मत से राजनीति-विज्ञान का उद्देश्य सत्य का बोध और उसकी व्याख्या करना है यद्यपि उसने अपने विचार सामान्यतः आज्ञात्मक भाव में ही व्यक्त किए हैं और विज्ञान के सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक दो भेद करके तथा राजनीति को व्यावहारिक विज्ञान की श्रेणी में रखकर व्यवहार को निदेशित करने वाले विज्ञान के रूप में उसके महत्व पर बल दिया है।

नगर-राज्य ने जिस राजनीतिक चिंतन को जन्म दिया था, उसकी मुख्य विशिष्टताओं का हम दिग्दर्शन करा चुके हैं। यह ऐसा चिंतन था जिसमें राज्य को एक नैतिक संस्था माना गया था और जिसके परिणामस्वरूप विषय का विवेचन नैतिक दृष्टि से किया गया था। इस चिंतन का व्यवहार से इतना घनिष्ठ संबंध था कि इसका भावन प्रधानतः व्यावहारिक अध्ययन के रूप में किया जाता था। यूनान के राजनीति-चिंतन की दिशा को निर्धारित करने में एक तत्त्व और महत्वपूर्ण था। इस तत्त्व का संबंध राज्य-शरीर के क्रिया-विचार से न था, बल्कि उसके रोग-विचार से था। चूंकि राजनीतिक चिंतन व्यावहारिक और उपचारपरक था, अतः इस तत्त्व ने उसके विकास की दिशा पर और भी अधिक प्रभाव डाला। हीगेल की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि यूनानियों ने 'समाज' और 'राज्य' के बीच कभी कोई स्पष्ट भेद नहीं किया। इसमें एक ओर आर्थिक वर्गों का जटिल संश्लेष होता है जिनके विभिन्न योगदानों से एक सामाजिक इकाई का निर्माण होता है, लेकिन, जो स्वयं वैयक्तिक हितों में लीन रहते हैं; और दूसरी ओर प्रभु की तटस्थ, निष्पक्ष तथा मध्यस्थ सत्ता होती है। यह प्रभु सबके हित का मूर्तिमंत प्रतिनिधि होता है, और उसे ध्यान में रखते हुए समाज के व्यक्तिवाद का शोधन करता है। बहुत कुछ इस पर निर्भर होता है कि राज्य को समाज से पृथक् रखा जाए और मध्यस्थ तथा शोधनकारी सत्ता को उन स्वार्थों के प्रभाव से बचाकर अक्षुण्ण रखा जाए जिनका वह नियंत्रण करती है। इस पृथक्ता और इस सत्यनिष्ठा को प्राप्त करने के लिए आधुनिक राज्य भी उतना ही उत्सुक रहता है जितना कि प्राचीन राज्य। अब भी यह खतरा है कि कहीं कोई सामाजिक वर्ग, कोई आर्थिक स्वार्थ राज्य की पवित्रता को दूषित न कर दे और शासन की शक्तियाँ हथिया कर उनसे निजी लाभ न उठाने लगे। दूसरी ओर यह खतरा भी हमेशा रहता है कि राज्य एक ऐसी जड़ शिला का रूप न ले ले जो समाज के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध कर दे। रोम साम्राज्य के

---

1. प्रो० बर्नेट का कथन है (*Greek Philosophy*, p. 12) कि यूनानी दर्शन मुख्य रूप से धार्मिक वृत्ति को संतुष्ट करने का प्रयास था। उसने एक विशिष्ट जीवन--पद्धति को जन्म दिया। दार्शनिक यह जीवन-शैली "कभी तो शिष्य-मंडली को और कभी सम्पूर्ण मानव-जाति को बताने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव करता था"। दार्शनिक मनस्वी जीवन अथवा व्यक्तिगत 'सत्' के जीवन की अपेक्षा सामाजिक प्रभाव के लिए अधिक प्रयत्नशील रहता था।

उत्तर-काल में यही हुआ था। उस समय नगरपालिका अथवा व्यापारी-मंडल जैसी समाज-संस्थाओं को कठोर नियंत्रण और शासन में रखा जाता था। 'राज्य' को हीगल के अर्थ से इतर एक और अर्थ में भी 'समाज' से भिन्न माना जा सकता है : समाज को प्रतियोगी आर्थिक वर्गों का जटिल संश्लेष और राज्य को एक ऐसी भव्य एकता मानने के स्थान पर जो उनके भेदों से ऊपर हो और उनमें समन्वय स्थापित करे—हम समाज को एक ऐसा क्षेत्र मान सकते हैं जहाँ विविध दिशाओं में स्वेच्छा से सहयोग किया जाए और राज्य को ऐसा संगठन जो एक समान विवशता के वातावरण में काम करे[1]। इस दृष्टि से यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि समाज के प्रभाव से शासन के कार्य में फेर-बदल होनी चाहिए और समाज की नई गतिविधियों की राज्य पर प्रतिक्रिया होनी चाहिए। यूनानियों के जैसे स्वतंत्र राजनीतिक समाज में यह सुधार या प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। समाज और राज्य एक दूसरे के ऊपर असर डालते थे। एक ओर तो समाज का मत राजनीतिक कार्य को जीवन और शक्ति प्रदान करता था, दूसरी ओर राजनीतिक कार्य के रूप में व्यक्त होने की संभावना समाज के मत को यथार्थता प्रदान करती थी। संक्षेप में, लोकतंत्र की भावना सक्रिय थी और जैसा कि लोकतंत्र की भावना के सक्रिय होने पर सदैव होता है, स्वतंत्र सामाजिक मत और सामाजिक वर्ग राज्य के जीवन को सुगमता से प्रभावित कर सकते थे।

यूनानी जगत का वास्तविक खतरा यह कम था कि कहीं राज्य समाज का गला न घोंट दें, उसका खतरा तो यह था कि कहीं समाज के कुटिल हित राज्य को भ्रष्ट न कर दें। यह भ्रष्टाचार राजनीति के लिए विष है। वह आधुनिक राज्यों पर सिर्फ़ इसलिये हावी हो सकता है कि आधुनिक राज्य अपने आकार और विपुलता के कारण अपने संगठन का अधिक गोपनीय और प्रभावशाली ढंग से प्रयोग कर सकता है। ऐसा लगता है कि नगर-राज्य इस बीमारी के विशेष रूप से शिकार होते थे। जहाँ शासन अपने प्रजाजनों से परिचित हो, उनकी रूचियों और भावनाओं को जानता हो, और जब चाहे उन्हें निष्फल या प्रोत्साहित कर सकता हो, वहाँ तटस्थ शासन दुर्लभ है। नगर-राज्य का क्षेत्र सीमित था, इसलिए वह किसी ऐसे निरपेक्ष और भव्य शासन का विकास नहीं कर सका जो सामाजिक प्रेरणाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया से ऊपर हो। वह किसी ऐसे राजनीतिक उपकरण का निर्माण नहीं कर सका जो अपने उद्देश्य के प्रति उत्साह से ओत-प्रोत होता[2]। समाज को राज्य के साथ एकीकृत होना चाहिए क्योंकि उनमें भेद करने के लिए कोई स्थान नहीं था। अनुपाती न्याय (distributive justice) का सिद्धांत भी यही बात स्पष्ट करता है। इस सिद्धांत के अनुसार राज-

---

[1] कहा जा सकता है कि हीगल ने जो भेद किया है, वह राजकीय समाजवाद (State Socialism) की ओर ले जाता है; यदि दूसरे भेद पर ज़ोर दिया जाए तो वह श्रेणि-समाजवाद (Guild Socialism) की ओर ले जाता है।

[2] नगर-राज्य की इस आलोचना में उस समय काफी फेर-बदल ज़रूरी हो जाती है जब उसे स्पार्टा के ऊपर लागू किया जाता है—उस युग के स्पार्टा के ऊपर जो उसका स्वर्ण-युग था।

नीतिक शक्ति या तो प्रत्येक सामाजिक वर्ग को उसके योगदान के अनुपात में प्राप्त होनी चाहिए या वह किसी एक वर्ग को उसकी अनूठी सेवाओं के बदले में प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार, यूनानियों के राजनीति-सिद्धांत ने समान श्रेय की धारणा को प्रत्येक राजनीतिक समुदाय का लक्ष्य माना है, लेकिन, वह इस धारणा तक कभी नहीं पहुँच सका कि उस समान श्रेय की सिद्धि के लिये सही उपकरण क्या हो। उसने इस धारणा तक पहुँचने के लिए प्रयास सदा ही किया। इस धारणा के अभाव ने जिन बुराइयों को जन्म दिया, वे बुराइयाँ ही उसके लिए पर्याप्त प्रेरणा थीं। ये बुराइयाँ वास्तविक थीं। यदि व्यक्तियों ने सिद्धांत-रूप में यह प्रयत्न किया कि विभिन्न वर्गों के बीच पदों का न्यायपूर्ण रीति से वितरण किया जाए, तो व्यवहार में उनमें राजनीतिक सत्ता को सबसे सशक्त वर्ग का पुरस्कार बना देने की और जब पुरस्कार प्राप्त हो जाए तो विजेता-वर्ग के हित में उसका प्रयोग करने की प्रवृत्ति थी। अस्तु, चौथी शताब्दी तक राजनीति ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया था। राजनीतिक सत्ता विग्रह की वस्तु बन गई थी जिसके लिए अमीर गरीबों से होड़ करते थे। राजनीति-चिंता की मुख्य समस्या समन्वय और संतुलन स्थापित करने की थी। यह कुछ ऐसे ही था जैसे कि वाणिज्य-प्रणाली के 'एडम-पूर्व' दिनों में राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था की मुख्य समस्या एक ऐसी योजना को खोजने की थी जिसके अनुसार उत्पादन के विभिन्न तत्त्व मिल-जुलकर कार्य कर सकें, और साथ ही, दस्तकारी तथा कृषि दोनों की रक्षा हो सके, किसी एक को तरजीह देने के कारण दूसरे की हानि न हो। प्लेटो ने **रिपब्लिक** में साम्यवाद की व्यवस्था के द्वारा समाज की ओर से निरासक्त शासकों के एक विशेष वर्ग का निर्माण कर यह समन्वय और संतुलन प्राप्त करने का प्रयास किया था। इस प्रयत्न का उद्देश्य 'राज्य' और 'समाज' में भेद करना और समान श्रेय की सिद्धि के लिए उपकरण की खोज करना था। अरिस्टाटल ने भी इस उद्देश्य की सिद्धि का प्रयास किया, लेकिन भिन्न साधनों से। जहाँ प्लेटो ने मानव प्रभु की प्रतिष्ठा का प्रयास किया था, वहीं अरिस्टाटल ने उसके विरोध में राज्य के वास्तविक प्रभु के रूप में तटस्थ और निष्काम विधि की संकल्पना की ओर ध्यान दिया। अरिस्टाटल ने यह समझ लिया था कि विधि को कार्यान्वित करने के लिए मनुष्य के माध्यम की आवश्यकता है। वह यह भी समझता था कि जिस ढंग से मनुष्य विधियों को लागू करते हैं, वे वैसी ही बन जाती हैं। इस कारण उसने 'मध्यम-वर्ग' की कल्पना की जो संघर्षशील गुटों के बीच मध्यस्थ और विवाचक (arbitrator) का कार्य कर सके। यदि दोनों छोरों में से किसी का शासन न हो, बल्कि मध्यम-वर्ग की प्रधानता रहे, जो दोनों के हितों में भागीदार होता है, तो फिर समन्वय और संतुलन स्थापित हो जाता है और समान श्रेय की सिद्ध के लिये एक उपकरण का का निर्माण हो जाता है[1]।

---

[1] अरिस्टाटल के आदर्श राज्य में एक भिन्न उपाय अपनाया गया है। शासन-कार्य में सभी नागरिकों का सहयोग प्राप्त करके (और नागरिकों में चुना हुआ अभिजात-वर्ग ही आता है) निष्पक्षता की खोज करनी है और उसे प्राप्त करना है। पुस्तक में वर्णित पद्धति उप-आदर्श राज्य अथवा 'पालिटी' की है।

अब तक हमने राज्य पर और उसके जीवन की सामान्य स्थितियों पर विचार किया है। यूनान का राजनीति-चिंतन इन्हीं स्थितियों पर आधारित था और उसने अपने निष्कर्षों को उन्हीं के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। लेकिन, यह ध्यान रखना चाहिए कि यूनान में दो राज्य मुख्य थे जिन्होंने प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों के दर्शन को निर्धारित करने में योग दिया। ये दो राज्य एथेंस और स्पार्टा थे—प्रधानतः और विशेषतः एथेंस। प्लेटो और अरिस्टाटल ने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग एथेंस में व्यतीत किया था। उन्होंने स्वभावतः एथेंस की परिस्थितियों को निरखा-परखा था। पर सिर्फ़ इन तथ्यों के कारण उनका राजनीति-दर्शन एथेंस का दर्शन नहीं बन गया था। इसका मुख्य कारण यह था कि एथेंस में उच्चकोटि का विकसित राजनीतिक जीवन था, उसके उपयुक्त और नियमित उपकरण थे। एथेंस के नागरिकों में राजनीतिक जागृति भी पूरे ज़ोरों पर थी। दार्शनिक उस विकास को पसंद करते या न करते, पर वह उनके अध्ययन के लिए अपने ढंग का एक पूर्ण और सर्वांगीण नमूना अवश्य था। वे उसके सिद्धांत से सहमत होते या न होते, पर सिद्धांत उनके सामने ज़रूर था जिसकी वे परीक्षा कर सकते थे। वहाँ स्वतंत्रता के संबंध में दावा किया जाता था कि वह जन्मसिद्ध अधिकार है। लोगों की दृष्टि में स्वतंत्रता का अभिप्राय यह था कि वे सामाजिक मामलों में अपनी इच्छा के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकें और राजनीतिक मामलों में बहुमत के अनुसार कार्य करें। यूनानियों के लिए समानता मूल-मंत्र था। यूनानी भाषा में समानता के व्यंजक अनेक शब्द प्रचलित हैं—'इसोनोमी', 'इसोटिमी' ओर 'इसागोरिया'। 'इसोनोमी' शब्द का अर्थ है—विधि के समक्ष सबके लिए स्वतंत्रता। 'इसोटिमी' का अर्थ सबके प्रति समान आदर का भाव है। 'इसागोरिया' का अर्थ भाषण की समान स्वतंत्रता है। यूनान में लोग संस्कृति को भी नहीं भूले थे। एथेंस को संस्कृति-राज्य (Kulturstaat) होने का अभिमान था। जहाँ एथेंस की रुचियां बहुमुखी थीं, वहाँ स्पार्टा में बहुत गहरी युद्ध-निष्ठा थी। फिर भी, स्पार्टा दार्शनिक के लिए अत्यधिक आकर्षण का विषय था। कारण यह था कि यूनान के राज्यों में एक वही ऐसा था जो अपने संविधान के 'स्वर' को अक्षुण्ण रखने के लिए 'प्रशिक्षण' देता था। इस साधन के द्वारा वह प्रत्येक स्पार्टावासी को शिक्षा देता था कि वह अपने आपको राजनीतिक व्यवस्था का एक अंश समझे। यह एक ऐसा सिद्धांत था जिसके बारे में लगता था मानो पूर्ण और निर्मम तर्क के द्वारा उसे अपने चरम बिंदु तक पहुँचा दिया गया हो; और, दार्शनिक तो दार्शनिक राज्य की सराहना ही कर सकता था। यहाँ 'मर्यादा' (limit) का भाव सजीव और सक्रिय रूप से विद्यमान था—जिसका यूनानियों के लिये इतना अधिक महत्व था। यदि एथेंस को ज़िंदादिली पर नाज़ था, तो स्पार्टा को विधि-निष्ठा पर। स्पार्टा का संविधान सैंकड़ों वर्षों से स्थिर रहा था। प्रतिभाशाली एथेंसवासी संविधान की इस स्थिरता से बिल्कुल अपरिचित था। इसलिए, कोई आश्चर्य नहीं कि **रिपब्लिक** कुछ हद तक लैकोनिया* (स्पार्टा) के प्रति सम्मान पैदा करने वाली पुस्तिका है। इसमें

---

* 'लैकोनिया' या 'लैकोनिका' प्राचीन यूनान का एक विशिष्ट पर्वतीय प्रदेश था जिसका सबसे बड़ा नगर स्पार्टा था। सामान्य बोलचाल में लैकोनिया स्पार्टा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है।

एथेंस की आलोचना की गई है और स्पार्टा के तर्क, वहाँ के प्रशिक्षण तथा वहाँ राज्य के प्रति व्यक्ति की अधीनता की सराहना की गई है। प्लेटो की दृष्टि में एथेंस ने यह पाप किया था कि उसने राजनीति के क्षेत्र में प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं की थी। इसके कारण वहाँ के राजनीतिज्ञ भ्रष्ट हो गये थे। उसकी दृष्टि में यह भी एथेंस का पाप था कि वहाँ राजनीति में स्वार्थ की भावना वलवती हो गई थी। व्यक्ति झूठी स्वतंत्रता और झूठी समानता के नाम पर राज्य के विरुद्ध खड़ा हो गया था। उसकी मुक्ति और यूनान की मुक्ति इसी में थी कि स्पार्टा का अनुसरण किया जाए ताकि नागरिक को कम से कम अपने कार्य का प्रशिक्षण मिल सके और राज्य के प्रति कर्त्तव्य का भाव जागे। लेकिन, स्पार्टा में भी कुछ अपने दोष थे। प्लेटो इन दोषों से अपरिचित नहीं है। अरिस्टाटल ने इन दोषों का मार्मिक उद्घाटन किया है। स्पार्टा का सिद्धांत बड़ा संकीर्ण था। उसके जीवन का साध्य तथा लक्ष्य युद्ध में सफलता प्राप्त करना था। उसके प्रशिक्षण के फलस्वरूप सीमित और कुंठित चरित्र का निर्माण होता था। स्पार्टा में राज्य के प्रति तापस निष्ठा के ऊपरी प्रदर्शन के पीछे अत्यधिक आत्म-रंजन की प्रवृत्ति थी। आदर्श यूनानी का निर्माण करने के लिए एथेनी चरित्र की व्यापकता और स्पार्टीय चरित्र के मनोयोग को समन्वित करने की आवश्यकता थी। एथेंस में मनुष्य के व्यक्तित्व का अपूर्व विकास हुआ था। स्पार्टा में राज्य ने व्यवस्था और एकता की बलपूर्वक स्थापना की थी। आदर्श नगर को मनुष्य के व्यक्तित्व तथा राज्य की व्यवस्था और एकता दोनों में समन्वय स्थापित करना चाहिए।

कोई भी राजनीति-दर्शन अपने ऐतिहासिक पर्यावरण से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक विचारकों की अधिकांश महान् कृतियाँ, मैकियावेली का **प्रिंस**, हॉब्स का **लेवियाथन**; रूसो का **कंट्रैक्ट सोशल** अपने समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर लिखी गई थीं। प्लेटो और अरिस्टाटल में यह प्रवृत्ति और भी प्रबल दिखाई पड़ती है। वे दोनों ही राजनीति-विज्ञान को व्यावहारिक और उपचारपरक अध्ययन मानते थे। उनका दर्शन यूनान का दर्शन है और यूनानी के लिए है। जब नगर-राज्य मैकेदोनिया के साम्राज्य में लुप्त होने लगा, तब एक नए प्रकार का अनुभव सामने आया। यह अनुभव हमारे अनुभव से मिलता-जुलता है। इस अनुभव के आधार पर सिनिकों और स्टोइकों ने ऐसे राजनीतिक सिद्धांत का निर्माण किया जिसको आधुनिक बुद्धिजीवी अधिक आसानी से समझ सकता है। दूसरी ओर हमें प्लेटो और अरिस्टाटल के राजनीति-सिद्धांत की सापेक्षता को अनुचित रूप से अतिरंजित भी नहीं करना चाहिए। यह सही है कि उनका सिद्धांत यूनानी जगत के लिए था। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस सिद्धांत ने यूनानी जगत के ऊपर व्यापक प्रभाव भी डाला। लेकिन, यह भी सही है कि यह सिद्धांत कुछ दृष्टियों से इस जगत के वास्तविक तथ्यों से काफी पीछे रह गया। कुछ दृष्टियों से यह सिद्धांत यूनान के अनुभव की सीमाओं को पार भी कर गया। प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों ही राज्य को शिक्षा-संस्था मानते थे—कुछ-कुछ उन दार्शनिक विद्यालयों की तरह जिनमें उन्होंने अध्यापन किया था। उनमें से कोई भी पेरीक्लीज़-कालीन एथेंस के व्यापक और समृद्ध राजनीतिक आदर्श के साथ न्याय नहीं कर सका। दोनों यूनानी जगत की नगर-राज्य से

बड़ी राजनीतिक इकाई की प्रवृत्ति को समझने में असफल रहे (और शायद अरिस्टाटल प्लेटो से भी अधिक)। यह प्रवृत्ति एथेंस के साम्राज्य में और फिर विओशियाई संघ में विशेष रूप से रही थी। इस अर्थ में दोनों ही नगर-राज्य की सीमाओं को पार करने में असफल रहे। दूसरी ओर प्लेटो ने **रिपब्लिक** में कम से कम ऐसे आदर्श की कल्पना तो की है जो उसके अपने युग और संभवतः सभी युगों की सीमाओं को पार कर जाता है। स्वयं अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के अधिक गंभीर और यथार्थपरक पृष्ठों में नागरिक के तन और मन का राज्य के ममतामय संरक्षण में ऐसा विकास चित्रित किया है जो यूनानी अनुभव की सीमाओं से परे की बात है। अंततोगत्वा, यूनानियों का राजनीति-सिद्धांत उनके अपने युग के अनुभव से ही मर्यादित नहीं था। वह सामान्य मानवता के तत्वों से बना हुआ है और उसने जिन आदर्शों को प्राप्त किया है, वे सदा ही संपूर्ण मानवता के आदर्श रहेंगे। अपने अनोखे और निजी पहलुओं में भी वह हमारे लिए अनजाने नहीं हैं। यह सही है कि राज्य के परिवर्तन के साथ ही राजनीति-सिद्धांत भी बदल जाता है। अरिस्टाटल का आत्म-निर्भर नगर-राज्य का सिद्धांत डांटे के सार्वभौम साम्राज्य के सिद्धांत से भिन्न है और डांटे का साम्राज्य-सिद्धांत हॉब्स के राष्ट्रीय राज्य के सिद्धांत से भिन्न है। इन समस्त परिवर्तनों के बावजूद राजनीति-सिद्धांत में मूलभूत एकता है। इसके सामने सदैव ही एक समस्या रही है—मनुष्य जिस राज्य में रहता है, उसके साथ उसका क्या संबंध है? यदि यूनान का दर्शन यूनानी दर्शन है और यूनानी के लिए है, तो भी यूनानी मनुष्य था और उसका नगर राज्य था और यूनानी का और उसके नगर का दर्शन, अपने समस्त मूल तत्वों में, मनुष्य का और राज्य का दर्शन है और वह ऐसा दर्शन है जो सदा सही है। प्रस्तर-खडों का विन्यास पुराना हो सकता है, पर प्रस्तर-खंड (प्रश्न) तो वही है। हम नगर-राज्य के दर्शन का अध्ययन ऐसे विषय के रूप में नहीं करते, जिसका केवल ऐतिहासिक महत्व हो, हम उसका एक ऐसे विषय के रूप में अध्ययन करते हैं जो अब भी सजीव और प्राणवान है। नगर-राज्य आज के राष्ट्र-राज्य (nation state) से भिन्न था। लेकिन, वह केवल इसी रूप में भिन्न था कि वह एक ही वस्तु का अधिक जीवंत और तीव्र रूप था। उसमें व्यक्ति राज्य के अंग के रूप में अपना विकास अधिक सुगम और स्पष्ट रूप से कर सकता है। इसका कारण यह है कि नगर-राज्य का आकार और उसका प्राथमिक शासन इस विकास में सहायक थे। इसका अध्ययन करते समय हम अपने आधुनिक राज्यों के आदर्श का अध्ययन करते हैं। हम एक ऐसे विषय का अध्ययन करते हैं जो जितना कल के लिए था, उतना ही आज के लिए है; क्योंकि अपने मूल तत्वों के नाते वह सदैव के लिए है।

कहा है कि संपूर्ण इतिहास सम-सामयिक होता है। जब हम इतिहास का अध्ययन करते हैं, हम अपने आपको समझने की कोशिश करते हैं और इस जानकारी को प्राप्त करने के लिए हम उस गर्त को जिसमें से हम खोदकर निकाले गए हैं और उस शिला को जिसमें से हम तराशे गए हैं, खोजने का प्रयास करते हैं। हमारे लिए यूनान के इतिहास से अधिक महत्वपूर्ण अथवा उससे अधिक सामयिक अन्य कोई इतिहास नहीं है। आज हम जो हैं, वह बहुत-कुछ इसलिए हैं कि वे वैसे थे। कई

दृष्टियों से यह विराधोक्ति सही है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के एथेंस का इतिहास अठारहवीं शताब्दी के यूरोप के इतिहास से अधिक आधुनिक है। अँग्रेज़ को फ्रेडरिक महान् के संस्मरणों की अपेक्षा पेरीक्लीज़ का अंत्येष्टि भाषण अधिक अपना मालूम पड़ता है। यूनानी नागरिकता की समस्याओं का आज भी हमसे संबंध है क्योंकि वे हमारी समस्याएँ हैं और वे हमारी समस्याएँ इसलिए हैं कि यूनानियों का अनुभव हमारे प्राणों में समा गया है और हमारे अस्तित्व का अंग बन गया है।

"वे वही तत्व हैं जिनसे हम और हमारी आज की दुनिया बनी है। यह केवल ······इसी अर्थ में नहीं कि उस समय दोनों की बुनियादें रखी गई थीं ; केवल इसी अर्थ में नहीं कि हम अपने पूर्वजों के परिश्रम के कारण बन सके हैं। हम यूनानी हैं ······हम आज जो कुछ बने हैं—उनके विचारों, कार्यों और अनुभवों से बने हैं। हमारी दुनिया उनकी दुनिया है। बाद की विकास-परंपरा में उसमें कोई विच्छिन्नता नहीं आई। वह सदैव एक, और अभिन्न है[1]"।

---

[1] Professor J. A. Smith (based on Benedetto Croce) in *The Unity of Western Civilization*, p. 72.

अध्याय 2

यूनानी राज्य

(क) यूनानी राज्य की सामान्य विशेषताएँ
(ख) नगर-राज्य और कबाइली-राज्य
(ग) यूनानी राज्य और दासता
(घ) यूनानी राज्य और प्रतिनिधि-संस्थाएँ
(ङ) यूनानी राज्य और शिक्षा

अध्याय 2

यूनानी राज्य

(क) यूनानी राज्य की सामान्य विशेषताएँ

संपूर्ण प्राचीन काल में यूनान में—और इटली में भी—राजनीतिक जीवन की इकाई नगर था। मनुष्य 'राजनीतिक प्राणी' इस अर्थ में थे कि वे 'नगर' के सदस्य थे। यद्यपि काल-प्रवाह में मैंकेदोनिया और रोम के साम्राज्यों के अधीन, नगर बृहत्तर इकाई में समा गया था, लेकिन फिर भी वह विलीन नहीं हुआ था। वह अब भी निष्ठा का केंद्र था और शासन-प्रणाली का आधार। वह नागरिक में भक्ति-भाव जागृत करता था और उसे औदार्य की प्रेरणा देता था। नगर अपने कार्य भी बराबर करता रहा। वह अपने कार्य राजनीतिक जीवन की बृहत्तर योजनाओं के अधीन रह कर नहीं; प्रत्युत उनके साथ रहकर करता रहा—इस राजनीतिक जीवन के दायरे में उसे समेट लिया गया था। यह सही है कि यूनान के अनेक भागों में नगर नहीं थे। उदाहरण के लिए अरिस्टाटल के दिनों में भी इटोलियाई लोग* अरक्षित गाँवों में कबाइली जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन, यूनानी का सामान्य जीवन नागरिक जीवन था। वह इस तथ्य से परिचित भी था। वह अपनी सभ्यता में जो नागरिक सभ्यता थी—और केल्टों अथवा जर्मनों की सभ्यता में—जो देहात में रहते थे और जिनकी सभ्यता कबीले की थी—भेद कर सकता था।

प्राचीन काल में यूनान के नागरिक जीवन और उत्तर यूरोप के ग्राम्य जीवन में जो भेद था, उसका सादृश्य मध्य युग में दिखाई देता है। यह सादृश्य इटली के शहरी जीवन का—जो प्राचीन काल की तरह मध्य युग में भी नगरों का देश रहा—और इँगलैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के प्रधानतः ग्राम्य जीवन के भेद का सादृश्य है। मध्ययुगीन इटली के नगरों की प्राचीन यूनान के नगरों से तुलना करना स्वाभाविक

---

* इटोलिया यूनान का एक पार्वत्य प्रदेश था जहाँ के निवासियों ने एक प्रकार के शिथिल संघ का निर्माण किया था। तीसरी शताब्दी ई० पू० में यह संघ राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गया और मैंकेदोनिया तथा रोम से होड़ लेने लगा। 189 ई० पू० में इस संघ की रोम के हाथों पराजय हुई और इसके बाद यह रोम का एक अधीन प्रांत बन गया।

है[1]। इस तुलना की इन पृष्ठों में बार बार चर्चा की जाएगी। मध्ययुगीन इटली के शहर की भांति यूनानी नगर भी जीवन की एक इकाई है। वह समस्त व्यवसायों का केंद्र है। उसमें अनाज और जैतून की उपज होने के साथ साथ बरतनों और चमड़े के निर्माण का कार्य भी होता है। वह सभी वर्गों का घर है। उसमें अभिजात भू-स्वामी भी रहते हैं और कारीगर तथा खुदरा-व्यापारी भी। इस आधारभूत तथ्य से यूनानी नगर की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताओं का पता चलता है। प्रथमतः, नगर होते हुए भी उसमें ग्राम का सौरभ है। यदि वह शहरीपन और 'Civility' (शिष्टाचार) का केंद्र है—हमारा 'Civilization' (सभ्यता) शब्द 'Civility' से ही बना है—तो वह सबसे अधिक उजड्डपन का भी केंद्र है। एक फ्रेंच लेखक का कथन है, "अरिस्टोफ़ेन्स* के सुखांत नाटकों (comedies) में शस्यागार की महक है"[2]। एथेंस की प्राचीरों के बाहर गठीले जैतूनों के उद्यान, अंगूरों के बाग और बुवाई किए हुए खेत थे। नगर के निकट ही पहाड़ियों पर चरागाह थे जहाँ चरवाहे अपनी भेड़ें चराते थे। शताब्दियों तक यूनानियों का एक-मात्र व्यवसाय कृषि रहा। वहाँ उद्योग तथा वाणिज्य का विकास सातवीं शताब्दी के बाद ही शुरू हुआ; इसके पहले नहीं। इसके बाद भी काफ़ी समय तक यह परंपरा बनी रही कि नागरिक का एक-मात्र उचित व्यवसाय कृषि है। "यह विश्वास कि भौतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से जीवन का एक-मात्र स्वस्थ आधार यही है, डेल्फ़ी के देवता में, अरिस्टोफ़ेन्स में और अरिस्टाटल में समान रूप से पाया जाता है"[3]। **पॉलिटिक्स** में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अरिस्टाटल की ग्रामीण वृत्ति के काफ़ी हद तक दर्शन होते हैं। अर्थशास्त्र का विवेचन करते समय उसने निर्धारित किया है कि अर्जन (acquisition) का एक-मात्र स्वाभाविक उपाय कृषि है। उसे छोटे व्यापारियों और दस्तकारों से विरक्ति थी।

---

[1] विलामोवित्ज़ ने इस सादृश्य की ओर हमारा ध्यान खींचा है, *op. cit.*, p. 79. "इटली के अत्याचारी शासकों और यूनान के अत्याचारी शासकों में आश्चर्यजनक सादृश्य है। इन दोनों स्मरणीय कालों में यह भी समानता है कि सब आपसी झगड़ों के बावजूद और इतने अधिक व्यक्तियों के विनाश के बावजूद आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की सामान्य प्रगति पूरी तरह उत्साहजनक है और सभी प्रकार के आघात जीवन को अधिक तीव्र तथा समृद्ध और मनुष्यों को अधिक साहसी तथा अधिक आनंदपूर्ण बनाते हैं। दोनों ही युगों में निर्माण-कला का अभूतपूर्व उत्कर्ष होता है जिसकी सराहना ही करते बनता है। दोनों ही कालों में हम यतित्ववाद (asceticism) और रहस्यवाद के साथ ही साथ मांसलप्रियता और उद्दंड अहंवाद के दर्शन करते हैं"।

* यूनान का प्रसिद्ध हास्य कवि जिसका जीवन-काल 444 ई० पू० से 380 ई० पू० तक माना जाता है। अरिस्टोफ़ेन्स के सुखांत नाटकों का ऐतिहासिक दृष्टि से इसलिए विशेष महत्व है कि उनमें अपने समय की कुरीतियों पर प्रहार किया गया है और प्रमुख राजनीतिज्ञों के व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

[2] फ़र्ग्यूसन द्वारा उद्धृत, *Greek Imperialism*, p. 11. यह महक अकार्नियन्स में स्पष्ट है। इसकी क्लाउड्स, पंक्ति संख्या 1006 और आगे की पंक्तियों में भी खोज की जा सकती है।

[3] Wilamowitz, *op. cit.*, p. 63.

उस समय की स्थिति को देखते हुए अरिस्टाटल की यह विरक्ति उचित नहीं मालूम पड़ती। इस विरक्ति का कारण संभवतः यह हो सकता है कि अरिस्टाटल कुछ तो दर्शन-शास्त्र में बहुत उलझा हुआ था और कुछ उसके मन में कृषि के प्रति पक्षपात था। वह ग्राम्य कृषकों के लोकतंत्र को सबसे अधिक पसंद करता है[1]। जब वह अपने आदर्श राज्य की भूमि को नागरिकों के बीच बाँटता है, तो वह प्रत्येक नागरिक को दो प्रकार की ज़मीनें देता है—एक नगर के निकट और दूसरी देहात में[2]। जब वह साम्यवाद के सिद्धांत पर विचार करता है, तो उसके सम्मुख एक समस्या यह है कि नागरिक समुदाय की भूमि साझे में रहे या अलग-अलग।

संभवतः अरिस्टाटल इस संबंध में निश्चित रूप से रूढ़िवादी सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा था। पाँचवीं शताब्दी तक एथेंस में खेती की उपज कम हो गई थी। साथ ही उसकी जनसंख्या बढ़ गई थी। इसके कारण वहाँ एक नवीन अर्थ-व्यवस्था का विकास हुआ जिसमें विक्रय के योग्य वस्तुओं को बेच दिया जाता था और आवश्यक क्रययोग्य वस्तुओं को खरीद लिया जाता था। एथेंस ने सोलोन के समय से निर्यात को बढ़ावा देने के उद्देश्य से औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहन दिया था। छठी शताब्दी के बाद से वह मुख्यतः विदेशी आयातों पर निर्भर रहने लगा था। वस्तुतः, नगर-राज्य आर्थिक दृष्टि से इतना आत्म-निर्भर नहीं था जैसा कि उसे अरिस्टाटल के सिद्धांत के अनुसार होना चाहिए। इसके विपरीत, वह विभिन्न क्रिया-कलापों का केंद्र था जिसमें उद्योग और विनिमय कृषि के साथ-साथ चलते थे। उसका ऐसा होना श्रेयस्कर भी था। वह ऐसा स्थल था जहाँ सभी व्यवसाय समान भूमि पर आकर मिलते थे। इसलिए, वह समान जीवन का स्थल था और वर्गों के सम्मिलन का केंद्र भी (यह नगर राज्य का दूसरा आवश्यक लक्षण है)। एक ही नगर में साथ-साथ रहने से लोगों के बीच सहज निकटता स्थापित हो जाती थी। इसके कारण चाहे धन, जन्म और संस्कृति की प्रतिष्ठा समाप्त न हुई हो, लेकिन इसने समस्त वर्गों के बीच सुगम संपर्क की परंपरा स्थापित कर दी थी। अमीर के महल और गरीब की झोंपड़ी के बीच भौतिक अलगाव नहीं था। जलवायु ऐसी थी जिसके कारण लोग काफ़ी हद तक खुले में रहते थे। लोग बाज़ार में मिलते थे, क्रय-विक्रय करते थे और बातचीत करते थे। वे सार्वजनिक व्यायामशालाओं अथवा अखाड़ों में साथ-साथ व्यायाम करते थे[3]। बरसात होने पर वे पटी हुई वीथियों में—जो यूनान के अधिकांश नगरों में पाई जाती थीं—साथ-साथ टहलते थे। चौक, व्यायामशाला और पटी हुई

---

1. Ar., *Pol.*, VI. 4, §§ 8—15 (1319, a 4—b I).
2. *Ibid.*, VII. 10, § 11 (1330, a 9—16; पर यह विचार प्लेटो के लॉज से ग्रहण किया गया है)।
3. अरिस्टाटल के समय में एथेंस में व्यायामशालाएँ नगर की चहारदीवारी के बाहर थीं। (Newman, *Politics*, III, p. 415)। व्यायामशालाएँ अधिकतर शहर के अंदर थीं—जैसे स्पार्टा में। सिराक्यूज़ में व्यायामशाला बाजार में थी। प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों का मत है कि व्यायामशालाएँ बाजार में होनी चाहिएँ (Newman, *op. cit.*, p. 338)।

वीथियों में नगर के बुद्धि-केंद्र थे। जब मनुष्य विचार-विनिमय के लिए सभा में जमा होते थे, तो उनका उद्देश्य ऐसे प्रश्नों का निर्णय करना होता था, जिनकी पहले चर्चा हो चुकती थी और जिनके संबंध में इन सभी केंद्रों में एक राय बन चुकी होती थी। नगर शासन की इकाई ही नहीं था, वह क्लब भी था। वह राजनीतिक दृष्टि से ही स्वशासी नहीं था, उसमें सामाजिक विचार-विनिमय की भी (जिसके कारण स्वशासन संभव हो पाता था) पर्याप्त स्वतंत्रता थी। यूनानी के लिए घर का महत्व हमारी अपेक्षा बहुत कम था। उसके लिए चौक के खुले जीवन का कहीं अधिक महत्व था। इस प्रकार के जीवन के आपसी संसर्गों में सभी वर्गों के मनुष्य आपस में मिलते थे और एक दूसरे से बातचीत करते थे। इस वातावरण में स्वभावतः समानता और स्वतंत्रता के लोकतंत्रात्मक आदर्शों की जड़ जम गई। यूनान में रोज़ ही विचार-गोष्ठियाँ और वार्त्ता-मंडलियाँ रहती थीं। सार्वजनिक वार्त्ता और खुले वाद-विवादों में समुदाय के कार्य-व्यापार के संबंध में स्वाभाविक रूप से चर्चा हुआ करती थी[1]। मनुष्य एक दूसरे को निकट से जानते थे। बाज़ार की सामान्य चर्चाओं में और अखाड़ों के व्यायामों में लोग एक दूसरे के महत्व को पहचान जाते थे। यही समाज यूनानी दार्शनिकों के सिद्धांत की पृष्ठभूमि है और यही उनका आधार है। जब अरिस्टाटल यह कहता है कि समाज में पद योग्यता के अनुसार प्राप्त होने चाहिएँ, तो वह ऐसे समाज की ही चर्चा करता है क्योंकि, "नागरिकों के लिए एक दूसरे के चरित्र की जानकारी ज़रूरी है—न्याय-संबंधी प्रश्नों के बारे में निर्णय करने के लिए भी और योग्यतानुसार पदों के बँटवारे के लिए भी"। जिस समय अरिस्टाटल यह कहता है कि राजनीतिक शक्ति में जन-साधारण का हिस्सा होना चाहिए, तब उसके ध्यान में ऐसा ही समाज है; क्योंकि उसके अनुसार "(थोड़े व्यक्तियों की अपेक्षा) जनता में निर्णय करने की अधिक प्रतिभा होती है। इसका कारण यह है कि कोई किसी पहलू से देखता है और कोई किसी से लेकिन सब लोग मिलकर हरेक पहलू को देख लेते हैं"[2]।

यूनानी राज्य की अंतिम विशेषता का ज्ञान हमें अभी ऊपर बताई गई विशेषता से होता है। विस्तार की दृष्टि से यूनानी राज्य नगरपालिका की भाँति—यहाँ तक कि पेरिश* की भाँति था। इस तथ्य की भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। यह बात आसान अवश्य है, लेकिन आसान होने के कारण ही सही नहीं है। हो सकता है भूगोल ने यूनान को समुद्र की भुजाओं और ऊँची पर्वतमालाओं के द्वारा छोटे-छोटे घेरों के रूप में बनाया हो। लेकिन, मनुष्य जो कुछ बनता है, भूगोल से नहीं, भावना से बनता है। यदि यूनानी समान जीवन की भावना से और इस भावना को प्राप्त करने के लिए नागरिक संगठन की आवश्यकता

---

[1] यह अवतरण ज़िमर्न की पुस्तक पर आधारित है, *op. cit.*, pp. 56—61.

[2] Ar., *Pol.*, 1326, b 14—16 (VII. 4, § 13) : 1281, b 7—9 (III. II, §3)।

* इँगलैंड में स्थानीय शासन की एक इकाई जो काउँटी का एक हिस्सा होती है।

से अभिभूत न होते, तो समान राष्ट्रीयता (nationality) की भावना यूनानियों को एक वृहत् राज्य के निर्माण की प्रेरणा देती । नगर-राज्य कोई भौगोलिक संगठन न था। वह ऐसे समाज का आध्यात्मिक वातावरण था जो विचार-विनिमय पर आधारित था, जिसे आपसी बातचीत में अपूर्व रस प्राप्त होता था और जो संयुक्त विचार-विनिमय और समान स्वशासन के द्वारा विचार तथा वार्त्ता को संगठित कार्य का रूप देना आवश्यक समझता था । यूनानियों को अपनी एकता का पूरा भान था। उन्हें यह ज्ञात था कि, "उनका रक्त एक है, उनकी भाषा एक है, उनके उपासना-स्थान और हव्य एक हैं तथा उनके जीवन की आदतें एक हैं"[1]। वे एक जाति के थे, इस रूप में अपनी बर्बरों के साथ तुलना कर सकते थे । अरिस्टाटल के विचार से हेलेनी जाति उत्तर यूरोप की जातियों और एशिया की जातियों को देखते हुए सौम्य जाति थी। "अपनी इसी विशेषता के कारण यह जाति स्वतन्त्र है, अन्य जातियों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ ढंग से शासित है और वह यदि किसी एक शासन का निर्माण कर पाती तो सारे संसार पर शासन कर सकती थी"[2]। यह महत्वपूर्ण है कि अरिस्टाटल ने यूनानियों को सर्वश्रेष्ठ रीति से शासित जाति बताते हुए भी उन्हें एकान्वित शासन से विहीन बताया है। यूनानियों का शासन सबसे अच्छा इसलिए था कि वे नगरों में रहते थे। इसी कारण वे एकान्वित शासन से वंचित थे। उन्हें अपने नगर-राज्यों के लिए जो मूल्य चुकाना पड़ा था, उससे वे परिचित थे। लेकिन, सब मिलाकर उन्होंने यह मूल्य खुशी से चुकाया था। आजकल के लोगों में राष्ट्रीय सरकार के अंतर्गत और इसके माध्यम से राष्ट्रीय एकता की स्थापना की भावना बड़ी प्रबल है। यूनानियों में यह भावना बिल्कुल नहीं थी। वस्तुतः, इसोक्रेटीज़ जैसे कुछ लोग अवश्य थे जो साम्राज्य की आवाज़ को सुनते थे और जिनका विचार था कि यूनान न तो उस समय तक संसार में अपना उचित स्थान ही प्राप्त कर सकता था और न पूर्व में अपना मिशन ही पूरा कर सकता था जब तक कि वहाँ किसी राजतंत्र के अंतर्गत राष्ट्रीय एकता की स्थापना न हो जाती। लेकिन, वे अपने युग में अपवाद-स्वरूप थे। प्लेटो और अरिस्टाटल नगर-राज्य के दार्शनिक होने के साथ-साथ यूनान की वास्तविक राजनीति के भी दार्शनिक हैं। हम यूनानी नगर-राज्य को **क्लीनस्टाटेरी*** कह सकते हैं। आकार की दृष्टि से वह ऐसा है भी। लेकिन, प्राचीन यूनान के राज्यों ने जिस प्रकार मानव-मस्तिष्क को अनुप्राणित किया है अथवा मानव अंतरात्मा की महिमा का उद्घाटन किया है, वैसा शायद ही और कोई राज्य कर पाया हो। लेकिन, हमें यह भी मानना चाहिए कि उनकी सफलता का उलटा पहलू भी है। एक नगर का दूसरे नगर से संघर्ष था। अपने सामूहिक जीवन की सघनता और घनिष्ठता के बावजूद—अथवा उसके कारण ही—प्रत्येक नगर नागरिक विग्रहों का केंद्र हो गया

---

[1] Herodotus, VIII. 144.

[2] Ar., *Pol.*, 1327, b 29—33 (VII. 7, § 3).

* इस जर्मन शब्द का अर्थ है बीस हजार से कम आबादी का छोटा नगर। कहा जा सकता है कि आकार और जनसंख्या की दृष्टि से यूनान के नगर-राज्य भारत के कस्बों या छोटे शहरों की तरह थे।

था। परिणामतः, जब उत्तर में मैकेदोनिया के फिलिप की अधीनता में एक महान् राज्य का उदय हुआ, तब नगर-राज्यों का पतन हो गया। यूनानी अपनी दुर्बलता से परिचित थे; लेकिन वे अपने आदर्श से चिपके रहे। यूनानियों की दृष्टि में राज्य और नगर उनके महान् युग के अंत तक समानार्थक शब्द बने रहे। उनके दार्शनिकों का ऐसे किसी राज्य से परिचय नहीं, जो नगर न हो। कबीला राज्य नहीं है। वह अधिक से अधिक राज्य का आद्य रूप ही है। संघात्मक रूप में राज्यों का समूह राज्य नहीं होता। वह राज्यों का योग होता है—सो भी बुरी तरह से किया गया योग। बिओशिया में पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से 387 ई० पू० तक असाधारण संघात्मक शासन प्रणाली प्रचलित रही थी। फ़िलिप ने 338 ई० पू० में कोरिंथ की कांग्रेस में यूनान का जो पुनर्गठन किया था, उसके लिए संघात्मक शासन-प्रणाली संभवतः आदर्श रही थी[1]। लेकिन, अरिस्टाटल ने उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। उसने उस महान् प्रादेशिक राज्य की भी कोई चर्चा नहीं की है जो उसके समय में मैकेदोनिया में उदित हुआ था और जिसमें वह स्वयं रहा था।

यह अंधापन नहीं है। इसका कारण यह है कि यूनानी दार्शनिक एक ऐसी शासन-प्रणाली में व्यस्त थे जो उच्चतर थी या जिसे कम से कम उच्चतर समझा जाता था और उन्होंने अन्य शासन-प्रणालियों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। यदि हम राजनीतिक सिद्धांत के विकास को समझना चाहें, तो हमें यह याद रखना चाहिए कि यह उच्चतर शासन-प्रणाली इतनी अधिक मूलगामी थी कि प्रादेशिक राज्यों और साम्राज्यों का उदय होने पर वह नष्ट नहीं हो गई। मैकेदोनिया या रोम ने नगर को हड़प नहीं लिया। उनके साम्राज्यों में नगर जीवन और शासन की इकाई बना रहा। एलैक्ज़ेंडर और उसके उत्तराधिकारियों ने अपने अधीनस्थ असंख्य नगरों के नागरिकों में व्यवहारतः दोहरी निष्ठा मान ली थी—नगर के प्रति नागरिक निष्ठा का भाव और अपने प्रति वैयक्तिक निष्ठा का भाव। उन्होंने प्राचीन नागरिक निष्ठा के ऊपर नई वैयक्तिक निष्ठा आरोपित की और इस निष्ठा को प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने आपको देवता बना लिया तथा देवताओं के नाते अपने नगरों से आराधना की अपेक्षा की। उदाहरण के लिये, तीसरी और चौथी शताब्दियों में पश्चिम एशिया में सेल्यूसिडों का साम्राज्य मुख्यतः नगरों का साम्राज्य था। प्रत्येक नगर एक प्रकार का राज्य था। "उसकी प्रभुसत्ता राजा में—अकेले राजा में—ही निहित नहीं थी। उसकी प्रभुसत्ता साधारण सभा में एकत्रित उसके मताधिकार-प्राप्त निवासियों में निहित थी। सभा विचार-विनिमय और प्रस्तावों द्वारा अपने कार्य परिषद् और दंडनायकों (magistrates) को सौंप कर और अपनी घरेलू व विदेश-नीतियों का निर्धारण कर अपने सार्वजनिक कार्यों का संचालन करती थी"[2]। नगर यूनानी भाषा बोलते थे। उनकी यूनानी संहिताएँ थीं। उनकी यूनानी व्यायामशालाएँ

---

[1] Ferguson, *Greek Imperialism*, pp. 26—30.

[2] Ferguson, *Greek Imperialism*, p. 203.

थीं। उनके ऊपर राजा था जो देवता था — मूर्त्तिमंत देवता—जैसा एन्टिओकस एपिफ़ेन्स* अपने आपको कहता था। नागरिक उसके प्रति भी निष्ठावान् थे। यदि सम्राट् के आदेशों तथा नागरिकों की विधियों के बीच कोई संघर्ष होता, तो नागरिकों के लिए सम्राट् के आदेशों का पालन करना अधिक आवश्यक था। सम्राट् स्वयं किसी नगर का नागरिक नहीं था। वह सबसे बाहर और सबसे ऊपर था। अरिस्टाटल की शब्दावली में वह सबका शासक 'मनुष्यों के बीच में देवता के समान' था। कुछ दृष्टियों से यह बाद के युग का दैवी शासक प्रतीत होता है[1]। लेकिन, फिर भी, नगर बना रहता है। नगर सारे सेल्यूसिड राजाओं के शासन-काल में जीवन का वास्तविक और अंतरंग केंद्र है।

नगर फिर भी जीवित रहा। वह रोम साम्राज्य के अधीन प्राय: चौथी शताब्दी ई० तक वैसा ही जीवन-केंद्र बना रहा। रोम स्वयं नगर-राज्य था। रोम साम्राज्य की वृद्धि ने पहले इटली में और बाद में प्रांतों में प्रधान नगर-राज्य के तत्त्वावधान में, अन्य नगर-राज्यों के संघ का रूप धारण किया। रोम का नागरिक संविधान इस बोझ को नहीं सँभाल सका। रोम साम्राज्य को भी मैकेदोनिया के साम्राज्यों की भाँति एक ऐसे दैवी शासक अथवा 'दिव्य सीज़र' का विकास करना पड़ा जिसकी साम्राज्य के सभी नगर आराधना कर सकें। लेकिन, दैवी शासक के उत्थान ने साम्राज्य में नगरों के विकास में बाधा उपस्थित नहीं की, प्रत्युत उसकी प्रवृत्ति उनको और प्रोत्साहन देने की थी। इटली और यूनानी पूर्व के पुराने नगर-राज्य अब भी बने रहे। जब राज्यों को नगरों के रूप में विघटित किया गया अथवा जब पश्चिम में स्पेन, गाल और ब्रिटेन में कैल्टिक कबाइली एककों को नगर-राज्यों के रूप में परिवर्तित किया गया और उन्हें नागरिक शासन से सज्जित किया गया, तब नगर-राज्यों की संख्या और बढ़ गई[2]। यहाँ भी हमें दो नागरिकताओं के दर्शन होते हैं—एक स्थानीय नगर की नागरिकता है और दूसरी रोम की। पर यहाँ भी केंद्रीय नागरिकता नागरिकता उतनी नहीं है जितनी कि वह दैवी शासक के प्रति निष्ठा है। पूर्व और पश्चिम दोनों में नगर समस्त स्थानीय शासन की नींव और अनिवार्य इकाई हो जाता है[3]। यह सही है कि रोम ने अपने गणराज्य-कालीन संविधान की भाँति अल्पतंत्रात्मक ढंग का एक समरूप नागरिक संविधान थोपा। इस संविधान में मुख्य शक्ति सीनेट (अथवा आर्डो) के पास थी। सीनेट के सदस्य भूतपूर्व पदाधिकारी होते थे[4]। प्रत्येक नगर की स्थानीय प्राण-शक्ति

---

* सीरिया का नरेश। शासन-काल 175 से 164 ई० पू०। उसने यहूदी धर्म का नाश करने और उसके स्थान पर यूनानी देवी-देवताओं की उपासना चालू करने का प्रयत्न किया पर वह सफल न हो सका और विक्षिप्त अवस्था में मृत्यु का ग्रास बना।

1. Ar., *Pol.*, 1284, a 10 (III. 12, § 13).
2. Seeck, *Der Untergang der antiken Welt*, II. p. III.
3. *Ibid.*, pp. 112, 164.
4. *Ibid.*, pp. 149—55.

दीर्घकाल तक सक्रिय रही। नगर-राज्य की पुरानी विशेषताएँ रोम साम्राज्य के नगरों में भी लंबे समय तक कायम रहीं। स्थानीय संघर्ष सदैव की भाँति प्रबल थे और हर चीज़ उन के दायरे में आती-जाती थी। ट्राजन* निकोमेडिया में आग बुझाने वाले स्वयंसेवक दल के अस्तित्व की अनुमति नहीं दे सकता यद्यपि एक भीषण अग्निकांड ने उसकी आवश्यकता साबित कर दी है क्योंकि वह जानता है कि इसके संगठन से नागरिकों के मतभेदों का एक कारण और बढ़ जाएगा[1]। नगर के अपने पड़ोसी नगर के साथ पुराने झगड़े फिर हुए। सेप्टिमाइयस सीवरस† के शासन-काल में हम प्रतियोगी नगरों को गृह-युद्ध में भाग लेते हुए देखते हैं। इस गृह-युद्ध के कारण साम्राज्य का ध्यान विरोधी झंडों के नीचे उनकी स्थानीय प्रतिद्वंद्विताओं को नष्ट करने में बँट जाता है[2]। अंत में, नगर-राज्य के प्रति निष्ठा की पुरानी भावना और सार्वजनिक उदारता की पुरानी प्रवृत्ति नागरिकों के हृदयों को प्रेरित करने के लिए फिर भी बनी रही। अमीर आदमी जब तक दिवालिया नहीं हो गए, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपना धन निर्धन नागरिकों के भोजन और आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करने या अपने नगरों के लाभ के लिए स्नान-गृहों के और अनाथ बच्चों के चिकित्सालयों के निर्माण में व्यय करते रहे। हो सकता है उनका उद्देश्य अकसर यह रहा हो कि उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाएँ या मृत्यु के उपरांत उनकी सार्वजनिक रूप से अंत्येष्टि हो। उनके कार्यों से यह प्रकट होता था कि एथेंस की प्राचीन नागरिक भावना मृत नहीं हुई है और जीवन का वह दृष्टिकोण अब भी सशक्त था जिसने समृद्ध एथेंसवासियों को वृंदगायन की अथवा पोत को सज्जित करने की प्रेरणा दी और एक्रोपोलिस‡ के निर्माण में सहायता दी। अरिस्टाटल की शिक्षा के अनुसार अमीर अब भी यह सोचते थे कि यदि धन पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो, तो उसका सबके हित के लिए उपयोग होना चाहिए और उसे समुदाय के लिए एक न्यास के रूप में रखना चाहिए। गरीब अपनी इस भावना के कारण कि उन्हें अमीरों का धन लेने का अधिकार है, साम्यवाद के उन भावावेगों से बच गए जो तीसरी सदी की निर्धनता के फलस्वरूप अन्यथा उत्तेजित होते[3]। लेकिन, दूसरी शताब्दी के अंत से ये चीज़ें बदलने लगी थीं। जीवन की पुरानी पद्धति दो चीज़ों पर निर्भर थी : वह इस संकल्पना पर निर्भर थी कि नगर का रूप एक राज्य का है और वह नागरिक की उचित निष्ठा का पात्र है। वह इस विश्वास पर भी निर्भर थी कि नगर में पद

---

* रोम का एक शक्तिशाली और उदार सम्राट्। जीवन-काल 52 से 117 ई० पू० तक।

[1] *Ibid.*, p. 159.

† रोम का सम्राट् और महान् विजेता। जीवन-काल ईस्वी सन् 146 से 211 तक।

[2] *Ibid.*, 114.

‡ प्राचीन यूनान में ऊंचाई पर स्थित वह गढ़ी जहाँ शत्रु का आक्रमण होने पर नागरिक अपनी रक्षा के लिए एकत्रित हो जाते थे।

[3] *Ibid.*, *op. cit*. pp. 155—81.

कोई बोझ नहीं, प्रत्युत एक सम्मान है । यह संकल्पना और यह विश्वास लुप्त होने लगा । निष्ठा केंद्रीय शासन के प्रति मोड़ दी गई और मनुष्य केंद्रीय सरकार के पदों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगे जिससे कि उन्हें उनके विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ प्राप्त हो जाएँ । और, नगर की वित्त-व्यवस्था का प्रबंध कभी सही नहीं रहा था । सार्वजनिक उदारता ने उसकी विकृति को और बढ़ा दिया था । जब सम्राटों ने, अच्छे से अच्छे इरादों के साथ, स्थानीय वित्त-व्यवस्था को ठीक करना चाहा, तो उन्हें विवश होकर नगरों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करना पड़ा । पद एक भार बन गया और मनुष्य इस भार से बचने के लिए शहरों को छोड़कर देहातों में जाने लगे[1] । चौथी शताब्दी ई० तक नगर का पतन हो उठा । लेकिन, इस शताब्दी से पूर्व नगर बराबर मानव-जीवन का केंद्र और प्रेरणा बना रहा था ।

संक्षिप्ततम रूपरेखा से जहाँ तक प्रकट हो सकता है, नगर का यही रूप था । प्रायः एक हज़ार वर्षों तक—सातवीं शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक—नगर ने इतिहास में इस प्रकार की भूमिका का निर्वाह किया था । यह विचार करने के बाद कि वह क्या था, अब हम इस पर विचार कर लें कि वह क्या नहीं था । जो संस्था काल की दृष्टि से हमसे दूर है और जिसकी अंतरात्मा हमारी अंतरात्मा से भिन्न है, उसका विवेचन करते समय आसानी से भूलें हो सकती हैं । यदि हम तीन बातों पर विचार करें या तीन विरोधाभासों का वर्णन करें तो इससे हम कुछ ऐसी भूलों से बच जाएँगे, जिनमें हम आसानी से पड़ सकते हैं । सर्वप्रथम, नगर नगर नहीं था, कम से कम वह सदा नगर नहीं था । हम इस शब्द का जो अर्थ समझते हैं, उसमें वह निश्चित रूप से कभी नगर नहीं था । दूसरे, नगर, अनिवार्यतः ऐसी जगह न थी जहाँ 'फ़ुर्सत ही फ़ुर्सत' हो, उसके नागरिकों का जीवन दासता के आधार पर टिका हुआ न था और उनमें श्रम के प्रति अनादर की प्रवृत्ति भी नहीं थी । अंत में, नगर न तो प्रतिनिधि-संस्थाओं से रहित था और न वह उस राजनीतिक व्यवस्था से ही अपरिचित था जिनका उन संस्थाओं से संबंध होता है ।

---

[1] Seeck, *op. cit.*, pp. 164 sqq. सीक का कहना है कि ईसाइयत के उदय का नागरिक जीवन के पतन के साथ बहुत संबंध था । समुदाय के प्रति राजनीतिक दायित्व का भाव मंद पड़ गया : धार्मिक शिक्षा ने सार्वजनिक उदारता को विस्थापित कर दिया । पुनः, बिशप ने नगर में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की और उसने नागरिक पदाधिकारियों को विस्थापित कर दिया । लेकिन, डायोक्लेशियन ने जो कराधान-पद्धति शुरू की, उसके चकनाचूर कर डालने वाले बोझ ने ही मुख्य रूप से (यह भार नगरों के ऊपर विशेष रूप से पड़ा और इसकी व्यवस्था के लिए नगरों के शासन को उत्तरदायी बनाया गया) नगर की अंतरात्मा पर प्राणांतक प्रहार किया (pp. 188—20) ।

(ख) नगर-राज्य और कबाइली राज्य

'नगर-नगर नहीं था'। पहली बात तो यह है कि वह भवनों का समूह या नगर-प्रांत मात्र नहीं था। मोटे अंदाज़े के अनुसार एथेंस 'नगर' में ब्रिस्टल के बराबर (अनुमानतः 3000,000 और 4000,000 के बीच में) जन-संख्या थी और उसका क्षेत्रफल डर्बीशायर के बराबर था। आधी जन-संख्या मुख्य नगर में रहती थी जो दो भागों में बँटा हुआ था और जिसमें एक पत्तन के साथ-साथ चार मील की दूरी पर एक आंतर्देशिक नगर भी था। आधी जन-संख्या गाँव में रहती थी।[1] संपूर्ण नगर जिसमें शहर और देहात दोनों शामिल थे, प्रायः सौ डेमों* में विभाजित था। यद्यपि क्लीस्थेनीज़ ने इन डेमों को विभिन्न कबीलों में बड़ी चतुराई से बांट रखा था ताकि कभी पास-पास के डेमों के आपस में मिल जाने से एक कबीले का निर्माण न हो सके, पर फिर भी ये डेम अलग-अलग रहकर भी सप्राण स्थानीय जीवन के केंद्र और केंद्रीय शासन के सक्रिय उपकरण थे। उनकी अपनी स्थानीय सभा और अपने

---

[1] यूनानी भाषा में **आस्ति** शब्द (1) ग्राम (**एग्रोस** अथवा **खोरा**) के विपरीत नगर का वाचक है। नगर के आचार-व्यवहार से संपन्न होना अथवा 'नागर' होना **एस्तियोस** होना है। ग्रामीण आचार-व्यवहार से संपन्न होना अथवा 'गँवार' होना **एग्रोईकोस** होना है। (2) दूसरे, यह शब्द नागरिक समुदाय (जो **पोलिस** है) के विरोध में नगर की इमारतों का अर्थ व्यक्त करता है। लेकिन, एटिक में **आस्ति** का कभी-कभी सीमित अर्थ में भी प्रयोग होता है। इस रूप में उसके निम्नलिखित अर्थ होते हैं: (3) पत्तन के विरोध में आंतर्देशिक नगर अथवा (4) आंतर्देशिक नगर का एक भाग। (लिडेल और स्काट के अनुसार वह दुर्ग (**एक्रोपोलिस**) से पृथक् निचाई पर बसे हुए नगर का लेकिन न्यूमैन (IV. 514) के अनुसार निचाई पर बसे हुए नगर से पृथक् दुर्ग का वाचक है)। **पोलिस** शब्द के अनेक अर्थ हैं। एथेंस में दुर्ग को अकसर इसी नाम से पुकारते थे। लेकिन, सामान्यतः, इसका अर्थ होता था राज्य (जिसमें नगर और ग्राम दोनों शामिल थे)। इसका प्रयोग क्षेत्र के अर्थ में इतना नहीं था जितना नागरिक-वर्ग अथवा समुदाय के अर्थ में।

* प्राचीन यूनान में स्थानीय शासन की एक इकाई।

निर्वाचित पदाधिकारी थे। वे अपने क्षेत्र की संपत्ति का और धार्मिक समारोहों का प्रबंध करते थे। केंद्रीय शासन के मामलों में भी उनका महत्वपूर्ण योग रहता था। इसके लिए वे अपने पास नागरिक समुदाय की एक नामावली रखते थे (इस में प्रत्येक नागरिक को डेम के सदस्य के रूप में अपना नाम दर्ज कराना पड़ता था)। (जब आवश्यक होता) वे प्रत्यक्ष कर भी जमा करते थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे उन उम्मीदवारों की सूचियाँ प्रस्तावित करते थे जिनमें से एथेंस के जूरी सभ्यों और सभासदों का चुनाव होता था। चुनाव पर्चियाँ डालकर हुआ करता था। सच तो यह है कि एथेंस कई दृष्टियों से विचित्र था। शायद ही कोई शहर ऐसे हों जिनके स्थानीय जीवन की तुलना उसके डेमों से की जा सके। उदाहरण के लिये स्पार्टा ऐसा राज्य था जिसका राज्यक्षेत्र एथेंस से बड़ा था। लेकिन, स्पार्टा के समूचे राज्यक्षेत्र पर यूरोटास तटवर्त्ती स्पार्टा नगर का प्रभुत्व था। इस नगर में पाँच गाँव थे और हालाँकि वे गाँव एक इकाई में संगठित हो गए थे, फिर भी उनका कुछ हद तक अलग अस्तित्व बना हुआ था। राजनीतिक अधिकार केवल नगर के निवासियों को ही प्राप्त थे। शेष जन-संख्या विभिन्न अंशों में पराधीन थी। कुछ पेरिओसी* थे। वे अपने स्थानीय मामलों का प्रबंध स्वयं करते थे, परंतु केंद्रीय शासन में उनका कोई हाथ न था। जनता के अधिकांश भाग में हैलट अथवा कमिया थे। वे नगर में रहने वाले अपने स्वामियों की भूमि पर खेती करते थे और बदले में खेत की थोड़ी सी उपज उन्हें मिलती थी। और बातों में स्पार्टा एथेंस से चाहे कितना ही भिन्न क्यों न हो, इस बात में वह एथेंस के समान ही था : आधुनिक अर्थ में वह भी नगर नहीं था, ठीक उसी तरह जैसे कि एथेंस नगर नहीं था। वे दोनों ही राज्य थे। दोनों में शहर और देहात शामिल थे यद्यपि उनके इस समन्वय की शर्त्तें एक दूसरे से बहुत भिन्न थीं।

लेकिन, एक और लिहाज़ से भी यह कहा जा सकता है कि नगर नगर नहीं था। हमें याद रखना चाहिए कि यूनानियों के लिए नगर का अभिप्राय हमेशा व्यक्तियों का एक समुदाय हुआ करता था, राज्यक्षेत्र नहीं। वे जब नगर की बात करते थे तो उनका मतलब उसके निवासियों से हुआ करता था पर हमारे मन पर चूंकि अचेतन रूप से सामंती विचार छाए रहते हैं, इसलिए हमारी प्रवृत्ति उसके विस्तार की बात करने की होती है। प्रश्न उठता है : वह कौन-सा विचार था जिसके आधार पर ये लोग वर्गबद्ध किए गए और जिसके आधार पर समाज में उनकी समानता की स्थापना हुई। दो उत्तर संभव हैं। एक तो हम कह सकते हैं कि उसका आधार था सान्निध्य; या हम दूसरा उत्तर दे सकते हैं कि वह भाव सगोत्रता (kinship) का था। यदि हम पहला उत्तर दें, तो हम यूनानी लोक-राज्य की चर्चा नगर-राज्य (Stadtstaat) के रूप में कर सकते हैं। दूसरा उत्तर दें, तो हम उसे नगर-राज्य नहीं, बल्कि कबाइली राज्य (Stammstaat) कहने के लिए बाध्य होंगे। यूनान

---

* प्राचीन स्पार्टा में राजनीतिक अधिकारों से वंचित वे स्वतंत्र नागरिक जो प्रजावर्ग के अंग थे। ये लोग देश के वाणिज्य तथा उद्योग का संचालन करते थे तथा सशस्त्र सेना में काम करते थे।

के महानतम विद्वानों में से एक ने दूसरे दृष्टिकोण पर ज़ोर दिया है[1]। उसने स्वीकार किया है कि रोम नगर-राज्य था—यद्यपि उसने यह रूप धीरे-धीरे ग्रहण किया था और उधर आयोनिया में, देशांतरणों के युग में, पुराने वर्ग-बंधनों के विस्थापन और संभ्रम के कारण कबीले का रक्त-संबंध शिथिल पड़ गया था और नष्ट हो गया था और उसका स्थान नगर के स्थानीय बंधन ने ले लिया था। लेकिन, "एथेंस और स्पार्टा का राजनीतिक महत्व उसी समय तक रहा जब तक कि उनके संविधानों में नगर का कोई निशान तक न था"। एथेंस और स्पार्टा में और सामान्यतः यूनान में राज्य एक जीवंत कबीला था—लोगों की एक निजी व्यवस्था। "ये लोग जन्म से और इसलिए प्रकृति से एक दूसरे के थे। इन्हें प्रकृति का उल्लंघन किए बिना एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था"। कबीला अथवा शाखा यह नहीं मानती थी कि वह किसी एक ही पूर्वज के वंश में बढ़ती-फैलती चली आई है, इसलिए उसमें एकता है। लेकिन, फिर भी वह कबीला अथवा शाखा एक थी और अपनी इस एकता के प्रति वह जागरूक थी। उसने एकता की यह भावना अपनी एक महान् देवी एथेना की समान और विशेष उपासना-पद्धति के माध्यम से प्रकट की। एथेनियों का वंश एथेना की पूजा करता था। उसने अपना नाम 'एथेना की संतति' अपनी आराध्या देवी के नाम पर रखा था। काल-गति के साथ देवी में उसके लोगों की बहुत सी विशेषताएँ आरोपित हो गईं। यदि देवी ने लोगों को अपना नाम दिया, तो लोगों ने देवी में अपने चरित्र का आरोप किया और उसे अपना दर्पण बना दिया। इस प्रकार के समाज में, जो प्राकृतिक रक्त-संबंध से संगठित होता है और अपनी एकता को अपनी उपासना-पद्धति से व्यक्त करता है, कुछ आभ्यंतरिक 'बिरादरियाँ' और कुल होते हैं। ये बिरादरियाँ और कुल भी मूल समाज के समान ही रक्त पर आधारित होते हैं और उसके समान ही प्राकृतिक होते हैं। उनकी स्थिति वैसी ही होती है जैसे कि पेड़ में उसके वलय होते हैं। जिस प्रकार पेड़ वलयों के मिलने से नहीं बना होता, उसी प्रकार राज्य बिरादरियों के मिलने से नहीं बनता। कबीले का समाज इन बिरादरियों के समाजों से पहले का होता है—जैसे पेड़ अपने वलयों से पहले का होता है। कबीले का समाज चाहे कस्बों में रहने लगे या वह एथेंस की भाँति उग्र लोकतंत्र के आधार पर अपने को गठित कर ले, लेकिन वह रहता कबाइली राज्य ही है। नागरिकता निवास पर नहीं, प्रत्युत जन्म पर निर्भर होती है। एथेंस के गौरव-काल में विधितः कोई नगर नहीं था। क्लीस्थेनीज़ की व्यवस्था में, नगर के डेम देहात के डेमों के साथ मिले हुए थे—यही एथेना के लोगों का विभाजन था। हेलेन-काल तक एथेनी राज्य पर एथेंस नगर का नियंत्रण स्थापित नहीं हुआ था। उस समय तक नगर एक आर्थिक तथ्य था, राजनीतिक योजना नहीं; और, राजनीतिक जीवन का आधार तथा प्रबलतम तत्त्व शाखा ही थी।

शाखा के रूप में यूनानी राज्य की धारणा से कई निष्कर्ष निकल सकते हैं। सबसे पहले तो यह निष्कर्ष निकलता है कि नागरिकता वंश-क्रम पर आधारित है। रक्त-संबंध के सिद्धांत पर आधारित समाज की सदस्यता उस समाज में जन्म से ही

---

[1] Wilamowitz, *op. cit.*, pp. 42—51, 97, 100.

अर्जित की जा सकती है, हालांकि समाज अपनी सभा में व्यक्त सामान्य सहमति के द्वारा नए सदस्य अपनाने का निश्चय कर सकता है। एथेंस में भी 481 ई० पू० में यह विधि लागू की गई थी कि वही व्यक्ति एथेंस की नागरिकता प्राप्त कर सकता है जिसके माता और पिता विधिसम्मत रूप से विवाहित एथेनी नागरिक हों; और, यह पेरीक्लीज़ के घोर परिवर्तन के युग की बात है। अतः, जब नागरिकता को रक्त पर आधारित और समान पंथ के आधार पर संगठित समाज की सदस्यता समझा जाता था, तब यह एक स्वाभाविक निष्कर्ष था कि नागरिकता का यदि विस्तार किया भी जाता तो आसानी से नहीं किया जा सकता था। एथेंस, डेलियाई लीग* में अपने 'मित्रों' को भी नागरिकता प्रदान नहीं कर सकता था। उनका रक्त-संबंध नहीं था और लीग की प्रत्येक शाखा की धार्मिक चेतना के अनुसार उसकी कई शाखाओं को एक शाखा का रूप देना, उन्हें असह्य एकेश्वरवाद प्रतीत होता। दूसरे, शाखा के स्वरूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस पर आधारित राज्य अनिवार्यतः स्वजनों का एक सप्राण समुदाय है। राज्य एक परिवार-वृत्त है और वह और छोटे-छोटे परिवार-वृत्तों में बँटा हुआ है। वह अपना संगठन रक्त-सिद्धांत पर आधारित बिरादरियों और कुलों के रूप में करता है, सान्निध्य के सिद्धांत पर आधारित क्षेत्रों और वार्डों के रूप में नहीं।

> "यूनानी नगर का पारिवारिक पहलू इस तथ्य से और स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ नगर-भवन लोगों के लिये घर की तरह था। नागरिकों के मुख्य उप-विभाजन बिरादरियों के रूप में किए गए थे। सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए निर्मित उनके समस्त स्थायी संघ अपने विभिन्न सदस्यों को समान पूर्वजों के वंशज मानते थे और ये पूर्वज स्वभावतः देवता अथवा अर्द्ध-देवता थे"[1]।

इस प्रकार की व्यवस्था के फलस्वरूप जो सप्राण समाज बना, वह स्वाभाविक और आवश्यक रूप से प्रभुसत्तासंपन्न था। यूनानी लोक-राज्य की स्वायत्तता सगोत्र-समुदाय के स्वरूप का अनिवार्य और अटल परिणाम थी। सान्निध्य पर आधारित समाज में स्तर हो सकते हैं, पर, बंधुता पर आधारित समाज में तो गोत्र के सभी व्यक्तियों के वैधिक अधिकारों को स्वीकृति मिलनी चाहिये। सान्निध्य के सिद्धांत का अनुसरण करने वाले रोमी लोग, 'राज्य' और 'शासन' की बात करते थे; यूनानी—जो गोत्र के सिद्धांत का अनुसरण करते थे—'साहचर्य' और 'स्वायत्तता' की बात करते थे। जो बात राजनीति पर लागू होती है, वही धर्म पर भी लागू होती है। चूंकि समाज एक समान पंथ के आधार पर संगठित है, अतः उसके समस्त सदस्यों का इस उपासना-पद्धति पर समान रूप से नियंत्रण रहता है। "यूनानी राज्य अपने

---

* डेलियाई लीग की स्थापना फ़ारस के हमले के डर से 478 ई० पू० में एथेंस के नायकत्व में हुई थी। इसका प्रधान केंद्र डेलोस द्वीप था। बाद में यह लीग एथेंस की साम्राज्यवादी नीति का उपकरण बन गई थी।

[1] Ferguson, *op. cit.*, p. 14 (विलामोवित्ज़ के आधार पर)।

देवताओं के साथ अपने संबंधों के बारे में अब भी यह सिद्धांत मानता है कि प्रभुसत्ता जनता में और उन स्वतंत्र व्यक्तियों के समाज में निहित है जो स्वभावतः ही, अथवा प्रायः स्वभावतः, एक हैं''[1]। अंत में, हम इसके विलोम पक्ष को भी देख लें। इस प्रकार का, इतना स्वतंत्र और स्वशासित समाज अपने सदस्यों से अन्यतम निष्ठा की आशा करता है और उसे प्राप्त भी करता है। राज्य के प्रति उनका दृष्टिकोण होता है : "वह हमारा है, हम उसके हैं"। रक्त-संबंध के आधार पर अपने समाज से एकान्वित होने के कारण, उससे बिलकुल अभिन्न और अनन्य होने के कारण, व्यक्ति न तो पृथक् व्यक्तिगत जीवन की बात सोचता है और न पृथक् व्यक्तिगत अधिकारों की। "हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि किसी भी नागरिक का अपने ऊपर अधिकार है; वास्तव में वे सब राज्य के हैं"[2]। पेरीक्लीज़ के अंत्येष्टि भाषण के स्वर में भी यही पुराना विचार मुखरित हुआ। उसका सार है : "एथेनी लोग नगर के लिए बने हैं, नगर एथेनियों के लिए नहीं"[3]। यूनानी राजनीति-चिंता में यह विचार निरंतर विद्यमान रहा है। जहाँ आधुनिक चिंतन का आरंभ व्यक्ति के अधिकारों से होता है और राज्य के विषय में धारणा यह है कि उसका अस्तित्व इसलिए है कि वह व्यक्ति के विकास की परिस्थितियाँ पैदा करे, वहाँ यूनानी चिंतन का आरंभ इस धारणा से होता है कि राज्य को स्वशासी और आत्म-निर्भर अस्तित्व का अधिकार है और व्यक्ति का अस्तित्व इसलिए है कि वह राज्य के वैसे अस्तित्व में योग दे। जिसने मृत्यु-पर्यंत देश के प्रति बालक की सी आज्ञाकारिता का परिचय दिया वह सात्रेटीज़ है—वही सात्रेटीज़ जो मर्त्यों में सबसे अधिक स्वतंत्र था और जिसने अपने विवेक के अतिरिक्त किसी की भी आज्ञा नहीं मानी[4]। परंतु, यह विचार कि यूनानी राज्य नगर-राज्य नहीं था बल्कि कबाइली राज्य था, बहुत संशोधनों के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सच है कि और देशों की भाँति यूनान में भी राज्य का आरंभ रक्त-संबंध के आधार पर संगठित संस्था के रूप में हुआ। मूलतः शाखा एक धार्मिक और वैधिक इकाई थी। उसकी अपनी उपासना-पद्धति थी और अपने रीति-रिवाज़ थे। जब यूनानियों ने यूनान में प्रवेश किया था, तब वे इसी ढंग के समाजों में बँटे हुए थे। लेकिन, जैसे ही इन समाजों की स्थायी बस्तियाँ बस गईं, वैसे ही सान्निध्य के सिद्धांत के कारण रक्त के सिद्धांत में संशोधन होने लगे और धीरे-धीरे वह एक बड़े क्षेत्र में मान्य हो गया[5]। सबसे पहले गाँव बने। इन गाँवों में बहते पानी के किनारे ऊँची भूमि पर कोई गढ़-गढ़ी या वैसी ही कोई जगह होती थी—इसे **एक्रोपोलिस** कहते थे और शुरू-शुरू में इसे अकसर पोलिस के नाम से पुकारा जाता था। यह जगह वास्तव में रहने के लिए नहीं होती थी और शायद ऐसे आश्रय के रूप में भी न हुआ करती थी जहाँ खतरा आने

---

1. Wilamowitz, *op. cit.* p. 53.
2. Ar., *Pol.*, 1337, a 28—9 (VIII. I, § 4).
3. Zimmern, *op. cit.*, p. 70.
4. Wilamowitz, *op. cit.*, p. 116.
5. Hermann-Swoboda, *Lehrbuch der Griechischen Staatsaltertümer*, III. i. (6th ed. 1913), pp. 4 sqq.

पर गाँव के लोग अपने पशुओं समेत चले जाते। वह तो शायद इसलिए होती थी कि एक गढ़ का काम दे जिससे कोई उनके क्षेत्र पर स्थायी रूप से अधिकार न कर पाए। इन गढ़ियों में ही हम नगर का बीज छिपा हुआ देख सकते हैं और अरिस्टाटल की तरह हम यह पहचान सकते हैं कि उसका आरंभ 'जीवन की खातिर' हुआ। लेकिन, नगर के उदय के पहले कुछ और भी घटनाएँ घटी थीं। गाँवों ने अपना संगठन ग्राम-संघों और ग्राम-तंत्रों के रूप में कर लिया—उदाहरण के लिए मराथन के ग्रामचतुष्टय अथवा पीरेअस के इर्द-गिर्द चार गाँव। स्थानीय इकाइयाँ अपने-अपने क्षेत्रों में प्रायः प्रभुसत्तासंपन्न हो गई थीं। उधर, रक्त-संबंध पर आधारित पुराने समूह धार्मिक समाजों के रूप में ही रह गए और उनमें केवल उपासना-पद्धति ही एक जैसी रह गई। अंत में, सातवीं सदी ई० पू० के आस-पास सच्चे माने में नगर अस्तित्व में आए। आरंभिक जर्मनों की भाँति यूनान के आरंभिक अधिवासियों ने अपने से पहले वाली सभ्यता के कस्बों की उपेक्षा की और गाँवों के दुर्गों से ही संतोष कर लिया। लेकिन, जैसे जीवन की आवश्यकताओं ने गढ़ का निर्माण कराया, वैसे ही 'अच्छे जीवन' की आवश्यकताओं ने नगर को जन्म दिया। आवश्यकता के समय सुरक्षा के लिए अनेक सुरक्षित स्थानों के उपयोग के बजाय, इसमें अधिक सहूलियत और कौशल दिखाई दिया कि लोग स्थायी रूप से एक दुर्ग में आकर रहें। और शायद इससे भी बढ़ कर इस बात का अनुभव किया गया कि यदि लोग बड़े समुदायों में एकत्रित हो जाएँ और शासन के नियमित अंगों का निर्माण कर लें, तो बेहतर और अधिक निष्पक्ष न्याय सुलभ हो सकेगा[1]। गढ़ के नीचे की ओर खुले नगर का आविर्भाव हुआ। और जब दोनों के इर्द-गिर्द परकोटा बनाकर उन्हें एक सूत्र में बाँध दिया गया तो निश्चय ही नगर का उदय हो गया (हालाँकि कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि यह काम बहुत बाद तक नहीं हुआ—जैसे एथेंस में)। संघवाद के आधार पर आस-पास के गाँवों को नगर के साथ मिलाने का काम बाद में हुआ। यह हम देख ही चुके हैं कि ये संघ विभिन्न राज्यों में विभिन्न शर्तों के आधार पर बने थे[2]। लेकिन, नगरों के निर्माण का सामान्य परिणाम यह हुआ कि गाँव नगर के ऊपर निर्भर हो गए और निश्चित रूप से नागरिक जीवन की संस्था का आरंभ हुआ जिसमें शाखा का पुराना रक्त-संबंध धीरे-धीरे लुप्त हो उठा। यह सही है कि प्राचीन काल के अवशेष बने रहते हैं और हम यह भी देख सकते हैं कि जिस समय क्लीस्थेनीज़ ने अपने डेमों का

---

[1] Cf. Zimmern, *op. cit.*, p. 82. "मनुष्यों को नगरों की ओर प्रवृत्त करने वाली सच्ची प्रेरक शक्ति यह न थी कि युद्ध-काल में अधिक सक्षमता की आवश्यकता होती है बल्कि यह थी कि शांति-काल में सक्षमता की दृष्टि से इसकी ज़रूरत थी। वे एक दूसरे के नज़दीक सुरक्षा की खातिर उतने नहीं आए जितने कि न्याय की खातिर"। अरिस्टाटल (*Pol.*, 1233, a 37—9 : 1.2, § 16) ने लिखा है, "न्याय राज्य के साथ बँधा हुआ है क्योंकि राजनीतिक समाज को व्यवस्था में बाँधना ही न्याय-निर्णय है"।

[2] "एलियाई लोगों ने फ़ारस के युद्धों के बाद अपने नगर का निर्माण किया था। लेकिन गाँवों में पुराना जीवन हमेशा बना रहा और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि एलिस नगर की सचमुच प्रभुता हो गई थी"। Wilamowitz, *op. cit.*, p. 63.

निर्माण किया, उस समय प्रत्येक डेम ने अपने किसी न किसी वीर संस्थापक की उपासना चालू कर दी और (इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि) स्थानीय डेम की सदस्यता आनुवंशिक हो गई। फल यह हुआ यदि कोई व्यक्ति किसी नए डेम में चला जाता था, तो भी वह और उसके बाद उसके बच्चे अपने पूर्वजों के ही डेम के रहते थे। यहाँ एक नई संस्था में पुराने विचारों का अनुकरण किया गया। लेकिन, यह सही है कि नगर के अस्तित्व में आते ही सान्निध्य के सिद्धांत की विजय हो उठी और लोग रक्त-संबंधों की अपेक्षा पड़ोस के संबंधों पर ज्यादा ज़ोर देने लगे। आखिर, नगर-राज्य नगर-राज्य ही है। एथेंस एथेंसवासियों के जीवन की धुरी था। पेलोपोनेशियाई युद्ध में पेरीक्लीज़ ने ग्राम-प्रांत तो आक्रमणकारी के हाथों में समर्पित कर दिया था, पर उसने एथेंसवासियों को उनके जीवन के अंतरंग केंद्र में एकत्रित कर लिया। किंतु जो भी हो, कबीले ने यूनानी इतिहास में अपनी भूमिका तो निबाही ही। हमें मानना होगा कि आरंभिक यूनान की वह एक ही इकाई थी। इतिहास में यूनानी राज्य का सबसे पहले कबीले के रूप में आविर्भाव हुआ। यूनानी नगर के पीछे एक लंबा इतिहास था और इस इतिहास में ऐसे तत्त्व हैं जिनका अरिस्टाटल ने अपनी **पॉलिटिक्स** में उल्लेख नहीं किया। वह गाँव और नगर से आगे नहीं गया। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि कबीले ने नगर के ऊपर अपना प्रभाव छोड़ा और नगर में नागरिकता का आधार तथा बिरादरियों और कुलों में उसके विभाजन का आधार अब भी रक्त-सिद्धांत ही था। अंत में, हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि समूचे महान् प्राचीन युग में और चौथी शताब्दी के अंत तक यूनान में ऐसे अनेक भाग थे जहाँ नगर का विकास नहीं हुआ था और राजनीतिक जीवन का आधार कबीला ही था। फोसिसवासियों का एक कबीला था जो गाँवों में रहता था और यही बात इटोलियाई तथा और बहुत से लोगों के बारे में भी सही है। यूनानी राज्य के संबंध में यह तो कहना कठिन है कि वह एक ही तरह का राज्य था। वास्तविक जीवन में अनेक विविधताएँ थीं। यूनान में अभिजात-तंत्र और लोकतंत्र में तो अंतर था ही (यूनानी राज्य के बारे में जो कुछ कहा जाता है, उसका बहुत सारा अंश केवल यूनानी लोकतंत्र के बारे में ही सही है), शाखा-राज्य अथवा कबीला-राज्य और नगर-राज्य में भी बड़ा भारी अंतर था। लेकिन, जहाँ तक हम एक प्रकार के राज्य की बात कर सकते हैं, हमें कहना होगा कि नगर-राज्य और विशेष रूप से लोकतंत्रात्मक व्यवस्था का नगर-राज्य ही वह प्रकार है। कम से कम राजनीतिक सिद्धांत के लिए तो इस एक प्रकार का ही महत्व है। अरिस्टाटल की राज्य-संबंधी संकल्पना—विशेष कर नागरिकता-संबंधी संकल्पना—ऐसी संकल्पना है जो केवल नगर-राज्य के और लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के नगर-राज्य के ही उपयुक्त है। जब वह आदर्श राज्य का निर्माण करता है, तब इस आदर्श राज्य का केंद्र भी आदर्श नगर ही है और उसका मन उस आदर्श नगर के निर्माण में लीन रहता है और उसी से उसकी कल्पना को प्रेरणा मिलती है।

(ग) यूनानी राज्य और दासता

ऊपर कहा गया था : "नगर अनिवार्यतः ऐसी जगह न था जहाँ 'फ़ुर्सत ही फ़ुर्सत' हो; उसके नागरिकों का जीवन दासता के आधार पर टिका हुआ न था और उनमें श्रम के प्रति अनादर की प्रवृत्ति भी नहीं थी"। यहाँ हमें एक ओर तो स्पार्टा और एथेंस में भेद करना है और दूसरी ओर दर्शन तथा वास्तविक व्यवहार में। फ़ुर्सत, दासता का आधार और श्रम के प्रति अनादर—ये सब स्पार्टा के जीवन की विशेषताएँ थीं, एथेंस के जीवन की नहीं। और यूनानी दार्शनिक इस बारे में एकमत थे कि उनके आदर्श नगरों के नागरिकों को ऊँची बातों के लिये प्रचुर अवकाश मिलना चाहिये। दासता को वे उस अवकाश के लिए आवश्यक आधार मानते थे और उनका विचार था कि जिन लोगों के पास आवश्यक अवकाश न हो, उन्हें राज-काज में भाग नहीं लेने दिया जाना चाहिए। लेकिन, कम से कम एथेंस में, और अन्य बहुत से नगरों में, वास्तविक जीवन न तो उनकी अभिधारणाओं के अनुसार ही था और न उनके सिद्धांतों से मेल खाता था। हम यूनानियों की परख केवल तथ्यों के आधार पर और तथ्यों की परख एथेंस-विषयक अपनी जानकारी के आधार पर ही कर सकते हैं क्योंकि अन्य नगरों के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। जो कुछ हम जानते हैं उससे यही पता चलता है कि अभिजात-तंत्रात्मक नगरों में अवकाश के और हीन दैहिक श्रम से मुक्ति के आदर्श मान्य थे[1]। अभिजात-तंत्रों से हम सभी युगों में सिर्फ यही आशा कर सकते हैं। लेकिन, यह हम

---

[1] अरिस्टाटल ने कहा है, (*Pol.*, 1278, a 25—6 : III. 5, § 7) "थीब्स में यह विधि थी कि ऐसा कोई व्यक्ति पद धारण नहीं कर सकता था जो दस वर्ष तक बाज़ार में बिक्री करने से (या जैसा कि उसने अन्यत्र (1321, a 29: VI. 7, § 4) कहा है 'श्रमपरक धंधों से' अलग न रहा हो"। पुनः, "अनेक अल्पतंत्रों में वाणिज्य के द्वारा धनोपार्जन करना निषिद्ध है" (1316, b 3—4 : V. 12, § 14)। रोम में 218 की क्लाडियस विधि के अनुसार सीनेट-सदस्यों के लिये नौवहन-व्यापार में भाग लेना अथवा सरकारी ठेके लेना वर्जित था (Mommsen, *History of Rome* ET., II, 386)।

देख ही चुके हैं कि यूनानी राज्य का ठेठ रूप अभिजात-तंत्र नहीं है; और सामान्य यूनानी समुदाय के आदर्शों तथा सामाजिक आधार की खोज के लिए हमें एथेंस की ओर दृष्टिपात करना होगा ।

एथेंस के स्वर्ण-काल में उसके निवासी नागरिकों की कुल जन-संख्या 40,000 थी । इनमें से 7,000 से कुछ अधिक नागरिकों के ऊपर नगर के शासन और रक्षा का भार था । दूसरे शब्दों में, हर छह एथेनियों में से एक नियमित और दैनिक राजकीय काम में तैनात था—यह राजकीय काम सैनिक हो या असैनिक[1] । इससे लगता है कि एथेंस में एक बहुत बड़ा अवकाशजीवी वर्ग था, लेकिन हमें यह याद रखना होगा कि पेरीक्लीज़ की व्यवस्था में नागरिक को काम के बदले वेतन मिलता था । सेना और नौ-सेना में काम करने के लिये तथा परिषद और न्यायालयों में उपस्थिति के लिए उसे वेतन दिया जाता था । प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों ने वेतन देने के तरीके पर आपत्ति की । उन्होंने कहा कि इससे वेतन पाने वाले व्यक्ति का अध:पतन होता है और भीड़ राजनीति की ओर आकृष्ट होती है । लेकिन, ऐसा न किया जाता, तो इसके दो परिणाम हो सकते थे—या तो सरकारी धन का ग़बन होता या सीमित अल्पतंत्र (oligarchy) की स्थापना होती । पेरीक्लीज़ ने जो व्यवस्था की, उसका उद्देश्य राजनीति में ऐसे लोगों को खींचना था जिनके समय का मूल्य धन से चुकाया जाए और जो मुफ्त में अपना समय न दें और वह ऐसे लोगों को राजनीति में खींच लाने में सफल हुआ । पेरीक्लीज़ ने गर्व किया था: "हमारे पदाधिकारी एक ही वक्त सरकारी और निजी दोनों काम कर सकते हैं और शेष नागरिक चूंकि अपने काम में रत रहते हैं, इसीलिये उन्हें नगर के काम की पूरी जानकारी प्राप्त करने से नहीं रोका जाता"[2] ।

एथेनियों का सचमुच शाब्दिक अर्थ में 'अपना काम' था और वे उसमें अपना ध्यान लगाते थे । एथेंस की आबादी किसानों और कारीगरों की आबादी थी और एथेंस की सभा के प्राय: सभी सदस्य ऐसे थे जो अपने हाथों से काम करते थे । एथेंस में 'श्रमजीवी' और 'व्यावसायिक' वर्गों के बीच भेद का कोई चिह्न नहीं मिल सकता—खाई का तो कहना ही क्या है । सब एक ही धरातल पर राज्य का काम करने वाले 'दंडनायक' के लिए तथा जनता को अपनी सेवाएँ अथवा अपनी चीज़ें बेचने वाले डाक्टर अथवा कुम्हार के लिये एक शब्द 'लोक-कर्मी' का प्रयोग किया जा सकता था । पेरीक्लीज़-युग के एथेंसवासी जार्ज इलियट द्वारा रोमोला में चित्रित फ्लोरेंस के कारीगरों की भाँति थे: वे शिष्टता और भद्रता के साथ अपने शिल्प-कर्म में संलग्न रहते थे पर इसके साथ ही वे विनोदी भी थे और उनमें राजनीति तथा साहित्य के प्रति रूचि भी थी । काम को कलंक मानना तो दूर की बात है, वे अपने शिल्प से संबंधित होने पर गौरव का अनुभव करते थे[3] और उसकी कलात्मक साधना से उन्हें

---

[1] Zimmern, *op. cit.* p. 170, विलामोवित्ज़ के आधार पर ।

[2] Thucydides, II. 40 ।

[3] "अकर्मण्यता अपराध है, कर्मण्यता नहीं"—यह एक कविता है जो ज़ेनोफ़ोन अनुसार सात्र्केटीज़ उद्धृत किया करता था ।

सुख मिलता था, परन्तु चूंकि वे बहुत हद तक अपने आप ही अपने मालिक भी होते थे, इसलिए न तो वे आवश्यकता से अधिक काम ही करते थे और न अपने आप को काम में खो ही देते थे। कहा गया है कि शिल्पी का लक्ष्य था : "अपनी पूरी निजी स्वाधीनता और कर्म की स्वतंत्रता की रक्षा करना, मन होने पर और नागरिक कर्त्तव्यों से समय मिलने पर काम करना, अपने काम का उन अन्य धंधों से ताल-मेल बिठाना जिनमें यूनानी जीवन व्यस्त था, शासन में भाग लेना, न्यायालयों में अपना स्थान ग्रहण करना, खेलों और उत्सवों में सम्मिलित होना…"[1]। काम भरे-पूरे और सामंजस्यपूर्ण जीवन का एक भाग था पर यदि काम की अति हो जाती तो उसका यह रूप न रह सकता था। एथेंसवासी को किसी आधुनिक कारखाने में काम करने में यह आपत्ति होती कि उसमें इतने वक्त तक नीरस काम करने के बाद उसका अपना निजी जीवन समाप्त हो जाएगा। उस समय भी वह कुछ व्यवसायों को 'हीन' समझता था क्योंकि वे बहुत नीरस थे या अच्छे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक थे। लेकिन, तलवार के कारखानों में अच्छी तलवारें तैयार करने में या मिट्टी के कलात्मक बरतन बनाने में अथवा चमड़े को साफ करने या पकाने तक में वह किसी तरह की लज्जा का अनुभव नहीं करता था बल्कि काफ़ी गर्व के साथ अपना काम करता था। पेरीक्लीज़ की मृत्यु के बाद जिन राजनीतिज्ञों को ख्याति मिली, उनमें एक चमड़ा बेचने वाला, एक दिए बनाने वाला और तीसरा कोई रस्सी का व्यापारी था। एथेंस का जीवन अरिस्टाटल के इस सूत्र के बिल्कुल भी अनुकूल नहीं "कि कारीगर या अन्य कोई वर्ग जो सद्गुण का उद्भावक नहीं है, राज-काज में कोई भाग नहीं लेता"[2]। उसका यह कथन कि उसके आदर्श राज्य में "किसी कारीगर या किसान को या ऐसे ही किसी और व्यक्ति को स्वतंत्र नागरिकों के बाज़ार के चौक में घुसने की अनुमति नहीं दी जाएगी"[3] स्पार्टा से बाहर के यूनानी जीवन की हमारी जो जानकारी है, उससे इतना दूर है कि आश्चर्य होता है। सच यह है कि दार्शनिक राजनीति का भावन तो कला या शिल्प के रूप में करते हैं और इस प्रकार अव्यक्त रूप से कलाओं और शिल्पों के प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हैं, पर वे इस सादृश्य का उपयोग कुछ इस तरह से करते हैं जो अंततः शिल्पी के लिए अहितकर होता है। प्लेटो का तर्क है कि चूंकि समस्त कलाओं में विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा होती है और चूंकि एक व्यक्ति केवल एक ही कला में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकता है, इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि राजनीति-कला की साधना भी वही व्यवसायी

---

[1] ज़िमर्न द्वारा पूर्वोक्त कृति में पृ० 265—6 पर सल्विओली के *Le Capitalisme dans le monde antique* से उद्धृत, पृ० 148।

[2] Ar., *Pol.*, 1329, a 20—1 (VII. 9, § 7).

[3] Ar. *Pol.*, 1331, a 34 (VII. 12, § 4). लगता है 'कारीगर' से अरिस्टाटल का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो हाथ का काम करता है। अन्य शिल्पी उदाहरण के लिए डाक्टर—'कारीगर' नहीं हैं (cf. 1277, b I, and Newman *ad locum*, III. 166).

वर्ग कर सकता है जिसने उसका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। यह बात पेरीक्लीज़ की इस धारणा के विरोध में है कि ये दोनों बातें साथ-साथ हो सकती हैं कि निजी काम का ध्यान भी रखा जाए और राजनीति का समुचित ज्ञान भी प्राप्त किया जाए। अरिस्टाटल का दृष्टिकोण प्लेटो के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है, लेकिन फल उसका भी वही निकलता है। चूंकि राज्य मूलतः एक ऐसी संस्था है जो सद्‌गुण-पूर्ण अच्छे जीवन के लिए है, अतः निष्कर्ष निकलता है कि केवल वे ही व्यक्ति उसके सदस्य हैं जो सद्‌गुण के उद्‌भावक हैं और चीज़ों का उत्पादन करने वाला शिल्पी अपने उस काम के साथ-साथ नैतिक सेवा में योग नहीं दे सकता। यहाँ भी दार्शनिक उन दो चीजों को एक दूसरे के असंगत मान कर अलग-अलग कर देता है जो पेरीक्लीज़ की धारणा के अनुसार एक साथ संभव हो सकती थीं और एथेंस में एक साथ थीं भी।

> "राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से, सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन में हममें से कोई जितना ही अपने आपको किसी शाखा में दूसरों से भिन्न और विशिष्ट साबित करदे, उतनी ही उसे मान्यता मिलती है। किसी व्यक्ति का उसकी योग्यता के देखे इसलिए अधिक सम्मान नहीं होता कि वह किसी विशेष वर्ग का सदस्य है। यदि कोई व्यक्ति गरीब है, लेकिन नगर की सराहनीय सेवा कर सकता है, तो उसे सिर्फ़ इसलिए सार्वजनिक कार्यों से वंचित नहीं रखा जाता कि वह किसी बड़े ओहदे पर नहीं है"[1]।

यदि एथेंसवादी शिल्पी ही होते, तो उनका जीवन दासता पर आधारित नहीं रह सकता था। यह सच है कि एथेंस में स्त्री-पुरुष दोनों मिला कर लगभग 80,000 दास थे जबकि नागरिकों की संख्या 40,000 थी[2]। इसका अर्थ यह है कि हर नागरिक दो दास रख सकता था। लेकिन, हमें दो बातें याद रखनी हैं। एक तो यह कि एक बड़ी संख्या में दास राज्य के अधिकार में थे या राज्य के लिए काम करते थे। अनुमान लगाया गया है कि राजकीय दासों के अलावा—जो पुलिस के सिपाहियों और क्लर्कों का काम करते थे—20,000 दास लाउरियम में चाँदी की सरकारी खानों में काम किया करते थे। इन दासों में से सब नहीं तो बहुत सारे लोगों की व्यक्तिगत संपत्ति थे। ये व्यक्ति पट्टे पर खानें आदि ले लेते थे और इन दास-श्रमिकों से खानों में काम कराते थे। कहा जाता है कि निसिआस के पास खानों में काम करने वाले 1,000 दास थे। यह विशुद्ध रूप में दास-श्रम है—अपने

---

[1] Thucidides, II. 37.

[2] एथेंस की कुल जनसंख्या के अनुमान 300,000 से लेकर 400,000 तक के हैं। इसमें ये शामिल हैं :—(1) नागरिक, उनकी पत्नियाँ और बच्चे जिनकी संख्या 160,000 से ऊपर रही होगी; (2) मेटिक अथवा वहाँ बसे हुए विदेशी। एथेंसवासी इनके प्रति उदार थे और इनकी संख्या प्रायः 45,000 वयस्क या बच्चों सहित प्रायः 90,000 थी; (3) दास जिनकी संख्या का अनुमान 80,000 का है।

निकृष्टतम या औपनिवेशिक रूप में। जिस हद तक खानों के शुल्कों से राज्य की आय वढ़ी थी और इस प्रकार एथेंस के लोकतंत्र की उपलब्धियाँ संभव हो सकी थीं, उस हद तक हम कह सकते हैं कि राज्य और लोकतंत्र दास-प्रथा पर आधारित थे। दूसरे, धनी एथेंसवासियों के पास निजी दास भी काफ़ी वड़ी संख्या में थे। इन दासों को वे या तो किराए पर—जैसे इमारत बनाने वाले ठेकेदारों को—दे देते थे या उन्हें अपने कारबार में—उदाहरण के लिये तलवारों के कारखानों में—लगा देते थे। इसलिए, यह निश्चित है कि धनी एथेंसवासी को धन दासों के श्रम के कारण प्राप्त होता था चाहे वह इन दासों को खानों में काम पर लगाता हो, चाहे किराए पर ठेकेदारों को देता हो या उनसे अपने निजी कारबार में काम लेता हो। लेकिन, साधारण एथेनी शिल्पी और किसान के वारे में यह वात नहीं कही जा सकती। चूंकि एथेंस में इन शिल्पियों और किसानों की काफ़ी अधिक संख्या थी, अतः हमें उनकी स्थिति को और दासता के साथ उनके संबंध को ध्यान में रख कर ही यह निर्णय करना है कि एथेंस का जीवन कहाँ तक दासता के आधार पर टिका हुआ था। यह बात तो तुरंत ही मान लेने की है कि एथेंस के बहुत से कुम्हारों और शिल्पियों की दुकानों पर दास-प्रशिक्षु (slave apprentices) काम करते थे; लेकिन जब हम धनिक व्यक्तियों के दासों को हिसाब में ले लेते हैं, (और यह हो सकता है कि एथेंस के अधिकतर दासों पर साधन-संपन्न व्यक्तियों का—या कहिए पूंजीपतियों का—स्वामित्व रहा हो[1]) तो औसतन एक एथेनी शिल्पी और किसान के लिए एक दास की गुंजाइश भी नहीं रह जाती। जो शिल्पी और किसान दासों के श्रम का उपयोग कर सकते थे, जीवन में उनकी उच्चतर स्थिति इन दासों की सेवा के कारण ही थी। लेकिन ऐसे भी बहुत से एथेंसवासी थे जिनके पास दास नहीं थे लेकिन फिर भी जिनके पास जूरी का काम करने के लिए, सभा में बैठने के लिए, या रंगशाला में उपस्थित होने और खेल-कूद देखने के लिए समय था। दूसरे शब्दों में, सामाजिक प्रवरता के लिए दासता आवश्यक थी; राजनीतिक विशेपाधिकार अथवा बौद्धिक विकास के लिए वह आवश्यक नहीं थी। किसी एथेंसवासी के यहाँ दास न होते तो भी वह एथेंस के राजनीतिक और बौद्धिक जीवन के लाभ उठा सकता था। अंत में, यहाँ यह कह देना उचित होगा कि खानों में काम करने वाले दासों के अतिरिक्त, एथेंस में कुल मिलाकर दासों की स्थिति अच्छी थी। अधिकतर दास कुशल कारीगर थे—कुम्हार, राज, तलवार-निर्माता; और उनसे उनके कौशल का पूरा-पूरा उपयोग तभी कराया जा सकता था जब कि उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता। दास कुछ धन देकर स्वतंत्र हो सकता था, या उसे वचन दे दिया जाता था कि एक निश्चित अवधि समाप्त होने पर उसे स्वतंत्रता मिल जाएगी अथवा उसका स्वामी अपनी इच्छा से उसे स्वतंत्र कर सकता था। एथेंस में आरंभ से ही दास के साथ ज़ोर-जबर्दस्ती करना अपराध माना जाता था और इसके लिए मुकदमा चलाया जा सकता था। सामाजिक जीवन में दासों के साथ बरावरी का व्यवहार होता था

---

[1] हमें उन दासों की भी गुंजाइश छोड़ देनी चाहिए जो धनी व्यक्तियों के यहाँ घरेलू सेवा में लगे हुए थे।

और अकसर उनकी वेश-भूषा में स्वतंत्र व्यक्तियों की वेश-भूषा से कोई भेद नहीं होता था। स्पष्ट है कि एथेंस को ध्यान में रखकर ही प्लेटो ने रिपब्लिक (563 B) में लिखा है, "लोक-स्वतंत्रता की चरम सीमा तब होती है जब कि धन से खरीदा गया दास—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—उतना ही स्वतंत्र हो जितना कि उसका खरीदार"।

अस्तु, दो बातें निस्संकोच कही जा सकती हैं। एक तो यह कि एथेंस का राजनीतिक जीवन दासता के आधार पर नहीं टिका हुआ था—अगर था तो सिर्फ़ उसी हद तक—जिस हद तक कि चाँदी की खानों से राज्य को प्राप्त होने वाला लाभ दासों के श्रम पर निर्भर था और जिस हद तक एथेंस का राजनीतिक जीवन इस लाभ पर निर्भर था—और सच यह है कि यह निर्भरता कोई विशेष नहीं थी[1]। दूसरी ओर, घनिक नागरिक का धन और सुख-सुविधा-संपन्न शिल्पी की सुख-सुविधा—ये दोनों ही चीज़ें मुख्यतः दासों की सेवाओं पर निर्भर थीं। दूसरे, एथेंस में दो प्रकार की दासता थी : एक तो खानों की अकुशल औपनिवेशिक दासता और बरतन बनाने तथा तलवार बनाने के कारखानों की और गार्हस्थ्य जीवन की कुशल दासता। अकुशल दास का जीवन कष्टमय था। कहीं भाग्य से कोई अच्छी जगह मिल जाए तो उसे कुशल दास का सा अवसर प्राप्त होता था। फ्रीजिया, लीडिया और एशिया के अन्य लोग दास बनाकर एथेंस ले जाए जाते थे। स्वदेश में दासता के बजाए एथेंस में दासता के कारण उनकी स्थिति में जो परिवर्तन आता था, हो सकता है वह उनके लिए बंधन-मुक्ति ही होती हो। लेकिन, इतना तो निश्चय ही है कि चाहे दासता एथेंस के राजनीतिक जीवन की शर्त्त न रही हो और उसका आधार न हो, पर उसके सामाजिक जीवन में वह हर स्तर पर समाई हुई थी। दासता के स्वरूप की हम चाहे कितने ही उदार भाव से व्याख्या क्यों न करें, वह कभी नीति-सम्मत नहीं हो सकती। एथेंस के हर आठ या नौ निवासियों में से केवल एक नागरिक था; और हर चार या पाँच निवासियों में से एक दास। इँगलैंड के हर पाँच या छः निवासियों में से एक को मतदान का अधिकार प्राप्त है। इस बात का अनुमान करना कठिन है कि कितने लोग मज़दूरी करके जीवन-निर्वाह के योग्य पैसा कमा पाते हैं या उतना भी नहीं कमा पाते। एथेंस में दासों की सुख-सुविधा की ऐसे स्वतंत्र मज़दूरों के कष्ट से तुलना करना भी उतना ही कठिन है। यदि एथेंस में दासों को आराम था, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ दासता न्यायसम्मत थी और यदि इँगलैंड के श्रमिकों को स्वतंत्रता प्राप्त है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनको कष्ट मिलना ही उचित है। लेकिन, मूल्यों के किसी भी पैमाने को ले लीजिए, स्वतंत्रता हमेशा सुख-सुविधा से बड़ी रहेगी क्योंकि उसका संबंध अंतरात्मा से है और वह

---

[1] अनुमान है कि राज्य को खानों से पचास टेलेंट की वार्षिक आय होती थी। एथेंस को मित्र-राज्यों से 600 टेलेंट की वार्षिक आय होती थी। एथेंस का राजनीतिक जीवन इस बात पर इतना निर्भर न था कि वह ऐसा राज्य था जिसके पास दास थे, जितना इस बात पर कि वह एक साम्राज्यिक राज्य था।

समस्त मूल्यों की जड़ है, उनका आधार है। और, कुछ भी कह लीजिए, एथेंस का दास स्वतंत्र नहीं था।[1]

---

[1] इस संपूर्ण खंड के लिए मैं जिमर्न के *Greek Commonwealth* और विशेषकर दूसरे खंड के अध्याय VII और XV का सबसे अधिक ऋणी हूँ और मैं जानता हूँ कि जिमर्न मुझे क्षमा कर देंगे (मित्रों का माल सबकी संपत्ति है)। यूनानी प्रजातंत्र के संबंध में उनके रोमानी दृष्टिकोण को मैं यथावत् ग्रहण नहीं कर पाता और मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि एथेंस में दासता का जो स्वरूप था, वह भी मुझे तो दासता ही लगती है।

(घ) यूनानी राज्य और प्रतिनिधि-संस्थाएँ

ऊपर कहा जा चुका है कि "नगर न तो प्रतिनिधि-संस्थाओं से रहित था और न वह उस राजनीतिक व्यवस्था से ही अपरिचित था जो इन संस्थाओं से संबंधित होती हैं"। यदि हम एथेंस की नागरिक सभा के बारे में विचार करें—जिसकी हर बैठक में और यह बैठकें प्रायः महीने में तीन बार होती थीं; सम्मिलित होने का एथेंस के 40,000 नागरिकों में से प्रत्येक को अधिकार था—(और हमें मालूम है कि एक अवसर पर इसकी बैठक में 3616 नागरिक उपस्थित हुए थे)—तो हम सोचेंगे कि यूनानी लोकतंत्र प्राथमिक लोकतंत्र था और हमें कहना पड़ेगा कि यूनानियों को प्रतिनिधित्व के सिद्धांत की कोई जानकारी नहीं थी। यदि हम ऐसा करते हैं, तो पहली बात तो यह कि प्रतिनिधित्व के क्षेत्र के बारे में हमारा दृष्टिकोण बड़ा संकीर्ण होगा। कार्यकारी संस्था भी उतनी ही प्रतिनिधिक हो सकती है जितनी कि कोई सभा : इंगलैंड का मंत्रिमंडल उतनी ही प्रतिनिधिक संस्था हो सकती है—और है भी—जितनी कि वहाँ की संसद। "यह आवश्यक नहीं कि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति तदर्थ निर्वाचित संस्थाओं तक ही सीमित हो, बल्कि वह लोकतंत्रात्मक स्वशासन के सिद्धांत का उल्लंघन किये बिना कोई भी उपयुक्त और सुविधाजनक रूप ग्रहण कर सकती है"[1]। एथेनी लोकतंत्र प्रतिनिधित्व से अपरिचित था—यह हम तभी कह सकते हैं जब हम यह प्रमाणित कर दें कि एथेंस के कार्यांग (executive) की अपनी कोई प्रतिनिधिक स्थिति अथवा आधार न था। दूसरे, एथेंस में प्रतिनिधित्व के अस्तित्व को न मानने का मतलब है परिषद् के अस्तित्व को भूल जाना। यूनान के प्रायः प्रत्येक राज्य में हम परिषद् और सभा को साथ-साथ विद्यमान पाते हैं; हाँ, हमें कुछ ऐसे संकीर्ण अल्पतंत्रों को अलग रखना होगा जहाँ दोनों को एक संस्था में मिला दिया गया था। सामान्य रूप से परिषद् का काम था विधियों का प्रस्ताव करना और सभा का कार्य था उनके भविष्य का निर्णय करना। पर नियम यह था कि सभा केवल उन प्रस्तावों पर निर्णय दे सकती थी जिन्हें पेश करने के लिये परिषद् राजी हो गई

---

[1] Bosanquet, *Philosophical Theory of the State*. 2nd ed., p. xxiv.

हो । प्रश्न तैयार करने और उसे निर्णय के लिए प्रस्तुत करने की शक्ति भी कुछ कम नहीं होती[1]। और यदि इस शक्ति से संपन्न संस्था की रचना किसी भी तरह से प्रतिनिधिक हो, तो हम यह नहीं कह सकते कि वहाँ प्रतिनिधित्व का सिद्धांत नहीं है या अज्ञात है ।

एथेंस में परिषद् की रचना निश्चय ही प्रतिनिधिक थी और डेम स्थानीय निर्वाचन-क्षेत्र अथवा निर्वाचक-मंडलों के रूप में कार्य करते थे । डेम परिषद् के 500 सदस्यों का प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन नहीं करते थे। प्रत्येक डेम अपने निवासियों की संख्या के अनुसार—और महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुपाती प्रणाली के आधार पर—उम्मीदवारों की एक सूची तैयार कर लेता था । यदि ये उम्मीदवार निर्धारित अर्हताओं की परीक्षा पास कर लेते तो फिर उनके नाम की पर्चियाँ डाली जातीं और उसमें नाम आ जाने पर वे परिषद् के सदस्य चुने जा सकते थे[2] । निष्कर्ष यह कि एथेंस में प्रतिनिधित्व ही नहीं था, बल्कि अनुपाती प्रतिनिधित्व था। वहाँ संसदीय निर्वाचन होते थे, और प्रति वर्ष होते थे क्योंकि परिषद् की प्रतिवर्ष नए सिरे से रचना होती थी और यहाँ हम यह भी कह दें कि परिषद् का कोई भी सदस्य अधिक से अधिक दो बार चुना जा सकता था। जब हम सोचते हैं कि डेम ऐसे उम्मीदवार भी निर्वाचित करते थे, जिनमें से पर्चियाँ डालकर वर्ष के नौ आर्खन* चुने जाते थे, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि डेम के निर्वाचन मामूली चीज़ न थे । इन निर्वाचनों का संचालन करने के लिए पार्टी क्लब बना लिये जाते थे जिनमें सदस्यों की संख्या बहुत कम रखी जाती थी[3] । इन क्लबों में हम काकस की कुछ झलक देख सकते हैं । वास्तव में, पर्ची के अतिरिक्त प्रयोग के द्वारा निर्वाचन का उपबंध बहुत हद

---

[1] अरिस्टाटल ने परिषद् के बारे में कहा है कि वह सब मामलों में उच्चतम सत्ता है । "क्योंकि उसके हाथ में एक साथ विधि के कार्यान्वय का भी अधिकार है और उसके प्रवर्त्तन का भी (और उसका संकेत है कि इस प्रसंग में वह अपने आप में प्रभुसत्तासंपन्न है) । या, कम से कम, जहाँ लोग (अपनी सभा में) प्रभु हैं, वहाँ परिषद् को इस सभा में नेतृत्व करने का अधिकार है ।" (1322, b 12 : VI. 8, § 17).

[2] हरमन-स्वोबोडा, (पू० कृ०, पृ० 139, टि० 3) के अनुसार पहले किसी तरह का निर्वाचन हुए बिना सीधे पर्ची के प्रयोग की पद्धति 460 ई० पू० के आस-पास शुरू हुई थी । लेकिन इसका कोई निश्चित साक्ष्य नहीं । मैंने इस विवरण में विलामोवित्ज़ (पू० कृ०, पृ० 101) और ज़िमर्न (पू० कृ०, पृ० 159) का अनुसरण किया है । इस विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है । डेमों के इस अनुपाती प्रतिनिधित्व के बारे में हमें केवल पुरालेखों से ही कुछ जानकारी मिलती है ।

* प्राचीन एथेंस से मुख्य दंडनायक, विशेषकर 683 ई० पू० के वे मुख्य दंडनायक जिन्हें कार्यकारी, न्यायिक, धार्मिक, सैनिक, विधायी और प्रशासनिक शक्तियां प्राप्त थीं ।

[3] थ्यूसीडाइड्स (VIII. 54) ने 412 ई० पू० के दर्म्यान इन क्लबों की और पद के निर्वाचनों को नियंत्रित करने के उनके लक्ष्य की चर्चा की है ।

तक इस इच्छा के कारण लगाया गया था कि चुनाव के षड्यंत्रों से बचा जा सके[1]। पर पर्ची के प्रयोग के बावजूद एथेंस में निर्वाचन-सिद्धांत के लिए गुंजाइश थी। अल्पतंत्रात्मक दल नागरिकों की संख्या सीमित करने की चेष्टा करता था जिसका उद्देश्य केवल सभा की सदस्यता को ही नहीं, बल्कि निर्वाचकों की संख्या को भी सीमित करना था। उदाहरण के लिए, इस दल ने 411 ई० पू० में स्वतंत्र-जन्मा एथेंसवासियों के वयस्क मताधिकार के बजाए भारी शस्त्रास्त्रों के स्वत्व पर आधारित संपत्ति-मताधिकार लागू करने का प्रयास किया था। लेकिन, यह याद रखना चाहिए कि निर्वाचन एक बात है और प्रतिनिधित्व दूसरी। कोई संस्था—भले ही वह प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित हो—तब तक वास्तव में प्रतिनिधि-संस्था नहीं हो सकती जब तक उसे प्रतिनिधि-प्राधिकार प्राप्त न हो; या दूसरे शब्दों में कहें तो जब तक उसे अपने क्षेत्र में सामान्य इच्छा के उन्नायक के रूप में विचार-विनिमय और निर्णय करने का अधिकार न हो। एथेंस की परिषद् में यही कमी थी। वह कुछ हद तक निर्वाचित तो थी, लेकिन उसे प्रतिनिधि-प्राधिकार प्राप्त नहीं था। सभा प्रभुसत्तासंपन्न थी और वह स्वयं ही अपनी प्रतिनिधि थी। तो भी, एथेंस में एक तरह से द्विसदन-प्रणाली (bicameral system) थी और उसका अधिनियम-सूत्र इस प्रकार था, "परिषद् और सभा द्वारा इसका अधिनियमन किया जाता है।" परिषद् अधिनियमों में सम्मिलित ही नहीं होती थी, वह उनका प्रवर्त्तन भी करती थी। सभा उसके प्रस्तावों में संशोधन तो कर सकती थी लेकिन उसे अपने आप प्रस्ताव पेश करने का अधिकार नहीं था[2]। इसके अतिरिक्त परिषद् अधिनियमों को कार्यान्वित करती थी, कभी-कभी उनकी व्याख्या करती थी। वह वैदेशिक संबंधों का संचालन करती थी, प्रशासन का केंद्र थी और कार्यकारी पदाधिकारियों का पर्यवेक्षण करती थी। अस्तु, हम उसे किसी न किसी रूप में प्रतिनिधि सत्ता माने बिना नहीं रह सकते।

बिओशियाई लीग* की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। इसकी परिषद् अधिक निश्चित रूप से एक प्रतिनिधि संस्था थी। इसमें 660 सदस्य थे। ये सदस्य लीग के ग्यारह निर्वाचन-मंडलों से समान संख्या में निर्वाचित होते थे। प्रत्येक मंडल में उसके संघटक भाग अनुपाती पद्धति के आधार पर सदस्यों का चुनाव करते थे[3]। जब स्पार्टा ने बिओशियाई लीग का विघटन किया, तब बिओशियाई

---

[1] Ar., *Pol.*, 1303, a 28 (V. 3, § 9). स्वच्छंद निर्वाचनों के खतरों के बारे में अरिस्टाटल के विचारों से भी तुलना कीजिए, 1305, a 28 और क्रमशः (V. 5, § 10).

[2] वह परिषद् से प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए कह सकती थी।

* बिओशिया यूनान का एक प्रदेश था और 14 स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों ने आपस में मिलकर अपनी एक लीग बनाली थी जिसका नेता थीब्स था। बिओशियाई लीग के अधिकांश राज्यों में अभिजात-तंत्रीय शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

[3] फर्ग्युसन (पू० कृ०, पृ० 37) और विलामोवित्ज़ (पू० कृ०, पृ० 129) से तुलना कीजिए। यहां कहा गया है कि परिषद् 'प्रबल रूप से प्रतिनिधि-संस्था' थी

प्रणाली स्वयं विओशिया में ही समाप्त हो गई। पर ऐसा लगता है कि 338 ई० पू० में मैकेदोनिया के फिलिप ने विओशियाई प्रणाली के अनुरूप ही यूनान का संगठन किया था। कोरिंथ की परिषद् विओशिया-परिषद् की नकल थी। अतः, जब अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** की रचना की होगी, तब वह इन प्रतिनिधि-संस्थाओं के अस्तित्व से अपरिचित न रहा होगा और जब **पॉलिटिक्स** के चौथे अध्याय में उसने विचारकारी संस्था के संभाव्य भेदों का विवेचन किया है, तब वह प्रतिनिधि सभा के सुझाव के बहुत निकट पहुँच गया है। "यह एक अच्छी योजना है कि जो विचार-विमर्श करने वाले हैं, वे उच्च वर्ग और जनता में से, निर्वाचन के आधार पर या पर्चियाँ डालकर बराबर-बराबर चुने जाएँ[1]। यह सुझाव हमें आधुनिक प्रशा की त्रि-वर्गीय पद्धति की याद दिला देता है"। लॉज़ में प्लेटो ने परिषद् के निर्वाचन के लिए जिस प्रणाली का प्रस्ताव किया है, वह भी इसी जैसा है और प्रशा की निर्वाचन-प्रणाली की याद दिला देता है। प्लेटो ने विधि के संरक्षकों, और अन्य पदाधिकारियों के निर्वाचन के बारे में जिन प्रणालियों का सुझाव दिया है, वे भी निश्चित रूप से आधुनिक हैं[2]।

अब तक हमने विचारकारी संस्थाओं की ही चर्चा की है। अब हमें यह देखना है कि नगर-राज्य की कार्यकारी सत्ताओं में से किसी का प्रतिनिधि स्वरूप था या नहीं। कम से कम एथेंस में तो हमें प्रतिनिधि कार्यांग के लक्षण मिल ही सकते हैं। एथेंस के दस सेनापति एक तरह के मंत्रिमंडल जैसे थे। वे जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते थे और अन्य पदाधिकारियों के विपरीत अपने पद पर वर्षों तक रह सकते थे। सभा में भी उनकी सीधी पहुँच थी और यह बात भी अन्य पदाधिकारियों के विपरीत थी। जब कोई प्रभावशाली व्यक्ति अन्य सेनापतियों को अपने नियंत्रण में ले आता था तो वस्तुतः वह एथेंस गणराज्य का प्रधान मंत्री हो जाता था और वह प्रधान मंत्री इस नाते होता था कि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था। पेरीक्लीज़ ने लगातार पंद्रह वर्ष तक यही किया था। पेरीक्लीज़ के बाद यह काम जनोत्तेजक नेताओं (demagogues) के हाथों में पड़ गया। जो काम अब तक सबसे प्रभावशाली सेनापति करता था वह अब जनोत्तेजक नेता करने लगा। आज हम जनोत्तेजक नेता शब्द का जो अर्थ लगाते हैं उस समय उसका वह स्वरूप कतई नहीं था। वह एक अनुभवी और वरिष्ठ सांसदिक (parliamentarian) होता था,

---

(संपूर्ण परिषद् की बैठक केवल महत्त्वपूर्ण मामलों के लिए ही होती थी। सामयिक मामलों का निर्णय उसके चौथाई सदस्यों की समितियाँ करती थीं। ये सदस्य बारी-बारी से समितियों में काम करते थे)।

[1] 1299, a 21 (IV. 14, पृ. 3) और न्यूमैन, **उसी स्थल पर** (IV. 250) इस सुझाव को VI. 3 (1318, a 11 और क्रमशः) में और विशद रूप दिया गया है। पर, वहाँ इसे पदाधिकारियों तथा न्यायाधीशों के निर्वाचन पर लागू किया गया है।

[2] सीनेट के निर्वाचन के संबंध में आगे अध्याय 15 (ख) से तुलना कीजिए। 'विधि के संरक्षकों' तथा अन्य पदाधिकारियों के निर्वाचन के सिलसिले मे भी इसी परिच्छेद से तुलना कीजिए।

सभा का विश्वास-पात्र होता था और सभा उसकी बात को ग़ौर से सुनती थी। वह किसी निर्धारित नीति का हिमायती होता था और सभा पर अपने प्रभाव के सहारे उसे अमल में लाने का प्रयास करता था। उसका कोई पद नहीं होता था, वह तो केवल अपने प्रभाव के बल पर शासन करता था। जब एथेंस में प्रतिद्वंद्वियों को देशनिकाला दिला देने की पद्धति प्रचलित थी, तब सफल जनोत्तेजक नेता अपने प्रतिद्वंद्वी को देशनिकाला दिला कर अपने प्रति विश्वास का प्रस्ताव पास करा सकता था। देशनिकाला दिला देने की पद्धति का महत्त्व इस बात में था कि इसके कारण नीति को ढालने की शक्ति किसी एक मान्य परामर्शदाता के हाथों में आ जाती थी और इससे शासन में स्थिरता तथा निरंतरता बनाए रखने में मदद मिलती थी। जब पांचवीं शताब्दी के अंत में यह प्रथा लुप्त हो गई, तब सदन के दो या अधिक प्रतिद्वंद्वी नेता रहने लगे—लोग कभी एक नेता का अनुसरण करते, कभी दूसरे का—और इसके बड़े घातक परिणाम निकले। लेकिन, हम कह सकते हैं कि पांचवीं शताब्दी में एथेंस में किसी न किसी रूप में प्रतिनिधिक कार्यांग का अस्तित्व था—चाहे वह प्रमुख सेनापति के रूप में हो या अग्रणी जनोत्तेजक नेता के रूप में[1]।

---

[1] तुलना कीजिए, विलामोवित्ज़, पृ० 104—5।

(ङ) यूनानी राज्य और शिक्षा

पर यह सब कुछ कहने के वाद यह भी कह दिया जाए कि यूनानी दार्शनिकों ने यूनानी राज्य का जिस रूप में भावन किया है, उसके अनुसार प्रतिनिधित्व किसी भी तरह उसका मूल विचार नहीं। उनका मूल मंत्र शिक्षा है, प्रतिनिधित्व नहीं। प्रतिनिधित्व-सिद्धांत में राज्य के विषय में जो दृष्टिकोण और जो धारणा निहित, है, यह उससे भिन्न है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि दार्शनिक यूनानी राज्य को एक नैतिक समाज समझते थे। यदि इसी दृष्टिकोण पर और ज़ोर दिया जाए तो हम देखेंगे कि राज्य अनिवार्य रूप से समान आध्यात्मिक तत्त्व से अनुप्राणित समुदाय है और उसके अंगों की गतिविधि अनिवार्यतः शिक्षा की गतिविधि है, अपने सदस्यों को इस समान तत्त्व में उनका भाग प्रदान करने की गतिविधि है। समाज एक शिक्षण-संस्थान है जिसमें रहकर प्रत्येक व्यक्ति की मानवीय क्षमताओं का पूर्णतः विकास हो सकता है। विलोमतः, शिक्षा एक सामाजिक तथ्य है जो समाज को मन के समान तत्त्व के आधार पर बाँधे रखती है। फिर, राजनीतिक समाज का संगठित शासन होने के नाते राज्य शिक्षा का साधन होता है। वह उन सब सामाजिक प्रभावों को एक केंद्र में समेट लाता है जो मानवता की शिक्षा के लिए आवश्यक होते हैं···उन सब संकेतों को जो समाज-मानव से फूटकर व्यक्ति के जीवन में प्रकाश की किरणों की तरह समा जाते हैं, उस सब प्रशिक्षण और 'अनुशासन' को जिसकी संगठित समाज में अपना स्थान निश्चित करने और उसे बनाए रखने के लिए व्यक्ति को आवश्यकता होती है। फिर, विलोमतः, शिक्षा व्यष्टि अध्यापक और व्यक्तिगत अध्ययन के द्वारा केवल व्यक्ति की शिक्षा नहीं—मुख्यतः व्यक्ति की शिक्षा भी नहीं। वह राजनीतिक समाज की शिक्षा है और उसके साथ ही समग्र रूप से उस समूचे समाज की शिक्षा है। यह शिक्षा उस सामाजिक पद्धति के द्वारा दी जाती है जिसमें वे सब सहभागी होते हैं और जो उन्हें ढालती है और उनका निर्माण करती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि **प्रोटेगोरस** में—और उससे भी अधिक **रिपब्लिक** में—प्लेटो की शिक्षा का यही सार है और यही तत्त्व है। अरिस्टाटल की **पॉलिटिक्स**

के चिंतन का भी प्राण-तत्त्व यही है। यही वह पाठ है जो हीगेल ने यूनानियों से पढ़ा और जो वह अपने संप्रदाय को विरासत में दे गया[1]।

अस्तु, समुदाय उस समान आध्यात्मिक तत्त्व पर आधारित होता है जिसे वह उत्तराधिकार में प्राप्त करता है और जो उसे बाद की पीढ़ियों के लिए प्रेषित कर देना चाहिए। वह समुदाय इसलिए है कि उसने इस तत्त्व को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है और वह शिक्षण-संस्था इसलिए है कि उसे यह तत्त्व प्रेषित करना होता है और यह तत्त्व यूनानियों के लिए एक अमूर्त्त तत्त्व मात्र न था; वह मूर्त्त तत्त्व था और उनकी विधि में मूर्त्तिमंत था—वह विधि लिखित हो या अलिखित, संविधि-पुस्तिका अथवा संविधान में निहित हो या लोक-हृदय में। इस प्रकार विधि राज्य को एक सूत्र में बाँधे रखने वाली शक्ति है। वह समाज में एकता स्थापित करती है और उसकी रक्षा करती है। वह पिंडर के अनुसार 'राजा' है, हेरोडोटस के अनुसार 'स्वामी'। प्लेटो के मत से तो नागरिक 'विधि के दास' हैं। वह राज्य को एक सूत्र में बाँधने वाली शक्ति तो है ही पर साथ ही ऐसी शक्ति होने के नाते वह राज्य की प्रभुसत्ता भी है[2]। "संपूर्ण नैतिकता, न केवल नागरिक बल्कि मानवी नैतिकता भी और सभ्यता के सारे लाभ उस विधि की देन प्रतीत होते हैं जिसे समाज अपना स्वामी मानता है"[3]। यूनानी साहित्य में विधि की आधारभूत प्रभुता सबसे अधिक प्रभावशाली रूप में **क्रिटो** के उस अवतरण में प्रकट होती है जहाँ प्लेटो ने मृत्यु की प्रतीक्षा में कारागार में पड़े हुए साक्रेटीज़ का विधियों से वार्त्तालाप कराया है और उससे यह स्वीकार कराया है कि उसकी अंतिम तथा सर्वोच्च निष्ठा विधियों के प्रति है[4]। साक्रेटीज़ की आत्मा स्वतंत्र विचरण करती थी, पर उसने

---

[1] मैंने मि० ब्रैडले के **एथिकल स्टडीज़** में हीगेलवाद विषयक वक्तव्य पर टिप्पणी देते हुए अन्यत्र लिखा है: "बच्चा अपने जन्म के समय जो कुछ होता है, समुदायों के कारण होता है। उसमें कुछ पारिवारिक चरित्र की झलक आती है, कुछ राष्ट्रीय चरित्र की और कुछ उस सभ्य चरित्र की जो मानव-समाज की देन है। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता है, वह जो भाषा सीखता है उसके माध्यम से और जिस सामाजिक वातावरण में सांस लेता है, उसके द्वारा समुदाय उसके प्राणों में इस तरह समा जाता है कि उसके अस्तित्व का कण-कण समुदाय के संबंधों से अनुप्राणित होता है।' (**पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम हर्बर्ट स्पेंसर टू टुडे**, पृ० 62—3)। यह अवतरण **प्रोटेगोरस** की टीका भी हो सकता है। (आगे अध्याय 7 (3) से तुलना कीजिए)। इस आधार से आरंभ कर के प्लेटो ने युक्ति दी है कि "जब समुदाय ही व्यक्ति का निर्माण करता है, तो उसे यह कार्य सचेतन भाव से संपन्न करना चाहिए—अपनी शिक्षा के सचेतन संगठन के आधार पर।" प्लेटो ने **रिपब्लिक** में इस संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। देखिए नाटोर्प, **श्टाट उंट् डी इडी डेयर ज़ोसियाल पाडोगोगिक**। यहाँ मैं इस ग्रंथ का ऋणी हूँ।

[2] तुलना कीजिए, **हरमल-स्वोबोडा**, पू० क्र० पृ० 14—15।

[3] विलामोवित्ज़, पू० क्र०, 14—15.

[4] आगे अध्याय 7 (1) से तुलना कीजिए।

अपने आपको विधि का दास स्वीकार किया । और जो बात सात्रेटीज़ के बारे में सही है, वही एथेंस के लोगों के बारे में भी सही है । जब वे अपने सभास्थल में जमा होते, तो उन्हें लगता अपनी धरती पर उनकी अपनी प्रभुता है लेकिन विधियों की प्रभुसत्ता को वे भी स्वीकार करते थे[1] ।

अस्तु, विधि किसी भी समाज का मूर्त्त रूप में व्यक्त समान आध्यात्मिक तत्त्व है । इस नाते विधि समाज को एक सूत्र में बांधने वाली शक्ति होती है और प्रभुतासंपन्न होती है और, चूंकि इस तत्त्व का प्रेषण और प्रकाशन शिक्षा के द्वारा होता है, इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि राज्य का कार्य अपने नागरिकों को विधि के अनुसार शिक्षित करना है जिससे वे उसके तत्त्व को आत्मसात कर सकें और इस तरह अपनी परंपरा में प्रतिष्ठित हो सकें । यहां हम अरिस्टाटल के दो आधारभूत सिद्धांतों की चर्चा करेंगे जो एक दूसरे से संबंधित भी हैं । वे सिद्धांत हैं—विधि की प्रभुसत्ता और विधि के अनुसार नागरिकों की शिक्षा । "विधि का शासन किसी भी एक व्यक्ति के शासन से श्रेयस्कर है । और यदि यह श्रेयस्कर हो कि कई व्यक्ति शासन करें, तो तो उक्त सिद्धांत के अनुसार उन्हें विधि का संरक्षक और सेवक बना देना चाहिए"[2] । "श्रेष्ठ विधियों का भी तब तक कोई लाभ नहीं जब तक लोग समाज-भावना के अनुसार स्वभाव से प्रशिक्षित न हो जाएँ और शिक्षा से तदनुरूप ढल न जाएँ भले ही राज्य के प्रत्येक नागरिक ने उन विधियों को स्वीकार कर लिया हो"[3] । राज्य का कार्य है लोगों को अपनी विधियों के अनुसार प्रशिक्षित करना । दंडनायकों का यह कर्त्तव्य है कि राज्य के अभिकर्त्ता और विधियों के सेवक होने के नाते वे इस कार्य को पूरा करें । इस प्रकार हम प्राचीन राज्य और आधुनिक राज्य की समस्या में भेद कर सकते हैं । इससे हमें यह समझने में भी सहायता मिलेगी कि प्राचीन राज्य में आधुनिक राज्य की अपेक्षा प्रतिनिधित्व का कम महत्त्व क्यों था । यूनानियों के विचार से शिक्षा इसलिए आवश्यक थी कि समाज-मत को स्थिर, आधारभूत और प्रभुसत्तासंपन्न विधि की आत्मा और स्वर के अनुसार समन्वित और समंजित किया जा सके । आज का विश्वास यह है कि अस्थिर, परिवर्तनशील और अधीनस्थ विधि को प्रभुसत्तासंपन्न लोकमत अथवा 'सामान्य इच्छा' की गतिविधि के अनुसार समन्वित-समंजित करने के लिए प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है ।

स्पष्ट है कि इन विभिन्न विश्वासों के पीछे विधि की अलग-अलग संकलपना है । यूनानी की दृष्टि में विधि नैतिक और वैधिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियों का

---

[1] **पॉलिटिक्स** में अरिस्टाटल ने दलील दी है कि विधि का अतिक्रमण करने और उसकी प्रभुसत्ता को पराजित करने के लिए सभा आज्ञप्तियों (decrees) का प्रयोग करती थी । लेकिन, यह मानना सकारण है कि अरिस्टाटल ने ग़लत धारणा व्यक्त की है—इसके कारण का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे ।

[2] Ar., *Pol.*, 1287, a 18—22 (III. 16, §§ 3—4).

[3] वहीं, 1310, a 14—17 (V. 9, § 12).

परंपरागत सारतत्त्व था—ऐसा तत्त्व जिसकी समाज में प्रभुसत्ता थी। हमारे लिए यह उन विनियमों की व्यवस्था है जो धीरे-धीरे संग्रहीत हुए हैं पर जिनमें निरंतर संशोधन करते रहने की आवश्यकता है और जो किसी राज्य-विशेष के सदस्यों के आपसी संबंधों की क्रिया-प्रतिक्रिया का निर्धारण करते हैं—आज के जटिल औद्योगिक समाजों में ये संबंध अधिकतर आर्थिक हैं। यह सही है कि यूनानी अपनी विधि को बदल देते थे, लेकिन यह भी सही है कि कुल मिलाकर वे उसे एक नियत और स्थायी चीज़ मानते थे जिसे न बदलना ही ज्यादा अच्छा था; "क्योंकि विधि के पास अपना आदेश पालन कराने के लिए (अपनी अंतरात्मा के अनुकूल शिक्षा द्वारा अर्जित) स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं होती और यह स्वभाव दीर्घकाल में ही बन पाता है। फलतः, वर्तमान विधियों को बदल कर दूसरी विधियाँ बनाने की तत्परता से विधि की शक्ति क्षीण होती हैं"[1]। यह वातावरण हमारे आज के वातावरण से भिन्न है। हम प्रगति की बात करते हैं और हम विधि तथा लोकमत के संबंध को उलटा देते हैं। हम जानते हैं कि लोकमत सदा गतिशील रहता है और हमारा विश्वास है कि वह आगे की ओर गतिशील है। हम सोचते हैं कि उसे ज्वार की तरह विधि को अपने प्रवाह में बहा ले जाना होगा। लोकमत और विधि के बीच मध्यस्थता करने और लोकमत के व्याख्याता तथा उपकरण के रूप में कार्य करते हुए विधि में आवश्यकतानुसार अदल-बदल करने के लिए हम प्रतिनिधि विधान-मंडल बनाते हैं। यह दो समाजों का भेद है जिनमें से एक की दृष्टि प्रभुता-संपन्न विधि में व्यक्त आभामय अतीत की ओर है और दूसरे की आगे की ओर, अधिक आकर्षक भविष्य की ओर जिसका निर्माण सतत परिवर्त्तनशील विधि के किसी नवीन परिवर्त्तन के आधार पर होगा। यह ऐसे दो समाजों के बीच का अंतर है जिनमें से लोकमत के विषय में एक की संकल्पना गतिहीन है और दूसरे की गतिशील। इनमें से एक समाज मानता है कि लोकमत का पहले से ही निर्माण हो चुका है और वह अपने निर्मित रूप में प्रभुसत्तासंपन्न है। दूसरे की धारणा है कि लोकमत का सदैव रूपांतरण हो रहा है और यह अपने प्रत्येक रूप-रूपांतर में प्रभुसत्तासंपन्न है। कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जहाँ प्रतिनिधि राज्य की और शैक्षणिक राज्य की संकल्पनाएँ मिल जाती हैं। मिल के प्रतिनिधि शासन के समर्थन में प्रायः यही स्थिति परिलक्षित होती है—उसके समर्थन का आधार यह था कि सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने से चरित्र और बुद्धि दोनों का उन्नयन होता है। पर ये संकल्पनाएँ इस तरह कहीं-कहीं मिल भले ही जाएँ, फिर भी इनके बीच एक चौड़ी खाई है।

एक ही यूनानी विचारक ऐसा है जो विधि की प्रभुसत्ता विषयक यूनानी संकल्पना से दूर चला गया है और वह है प्लेटो। **क्रिटो** में—और फिर **लॉज़** में—उसने इस संकल्पना का अनुसरण किया है। लेकिन, **रिपब्लिक** में और **पॉलिटिक्स** में उसने विधि की प्रभुसत्ता को साफ़ तौर से अस्वीकार कर दिया है। परंतु, यह अस्वीकृति समाज के एक आदर्श नैतिक आधार के प्रति उत्साह का परिणाम थी जो किसी भी कठोर विधि-संहिता से परे हो। इस अस्वीकृति का कारण निश्चय ही यह

---

[1] Ar., *Pol.*, 1269, a 20—4 (II, 8, § 24).

न था कि उसका किसी ऐसी प्रभुसत्तासंपन्न विधि निर्मात्री संस्था में विश्वास था जो अपने बनाए हुए नियमों से बड़ी हो। यह अस्वीकृति राज्य के शैक्षिक आदर्श से गिर जाने के कारण भी नहीं थी; बल्कि उसका कारण तो इस विचार का और अधिक विस्तार था। प्लेटो का विचार था कि यदि राज्य के शासकों का कार्य नागरिकों को समाज के नैतिक आधार के अनुकूल शिक्षा देना है, तो उन्हें अपने आप भी इस आधार को समझने की शिक्षा मिलनी चाहिए। और फिर, जब वे उस आधार को इतनी अच्छी तरह समझ लें कि वह उनके मन और बुद्धि का अभिन्न अंग बन जाए तब उनकी सजग बुद्धि ही सच्ची प्रभुता धारण कर लेती है, और उन्हें उसकी सचाई के अनुसार ही अपने साथी-नागरिकों को शिक्षा देनी चाहिये। वास्तव में प्लेटो ने शिक्षा के बारे में नागरिक की अपेक्षा शासक के दृष्टिकोण से विचार किया है। प्लेटो ने देखा था—या वह समझता था कि उसने देखा है—कि साधारण शासक राजनीतिक समाज के आधारभूत सिद्धांतों को समझने में असमर्थ रहते हैं। **गॉर्जियाज़** में उसने इस असमर्थता की भर्त्सना भी की थी—यहाँ तक कि पेरीक्लीज़ भी उससे नहीं बचा। उसने देखा कि इस असमर्थता का उपचार दर्शन और उसके अध्ययन में है। उसने अपनी अकादमी में इसका उपचार करने का निश्चय किया और एक दार्शनिक प्रशिक्षण-क्रम द्वारा प्रशिक्षित शासकों का संप्रदाय तैयार करने का बीड़ा उठाया। **रिपब्लिक** में यही प्रशिक्षण-क्रम परिलक्षित होता है। लेकिन, इस क्रम में प्रशिक्षित व्यक्ति वंशागत विधि में व्यक्त, समाज के नैतिक आधार से आगे बढ़ते—वे उस शाश्वत आधार को पा लेते, जो न समाज के साथ बदलता, न समय के साथ। **रिपब्लिक** में शैक्षिक राज्य के यूनानी आदर्श का चरम बिंदु परिलक्षित होता है परंतु चूंकि आदर्श को इतना ऊँचा उठा दिया गया है, इसीलिए वह यूनानी विचारों से दूर हट गया है। **लॉज़** में प्लेटो यूनानी विचारों की सीमाओं में लौट आता है और जैसे उसके दर्शन का आरंभ हुआ था वैसे ही उसका अंत भी उसी वृत्त में होता है जिसमें यूनानी चिंतन सदा घूमता रहा—वह वृत्त था आधारभूत विधि की प्रभुसत्ता का और उस विधि के अनुसार नागरिकों की शिक्षा का[1]। राजनीति-विज्ञान अथवा राजनीति-कला वह विज्ञान है जो सामाजिक शिक्षा के माध्यम से सामाजिक मानव का ऐसा उत्थान कर सके कि वे प्रभुसत्तासंपन्न विधि के रूप में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन के आध्यात्मिक तत्त्व में सहभागी बन जाएँ।

---

1. पर हम देखेंगे कि यह संदेह सकारण है कि प्लेटो सचमुच कभी विधि की सीमाओं में लौट आया था (आगे अध्याय 15 (ख) से तुलना कीजिए)। लॉज़ के अंत में ऐसा संकेत लगता है मानों वह अंत तक विधि के शासन के प्रति विद्रोही और स्वतंत्र बुद्धि के शासन का समर्थक था। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि **पॉलिटिकस** में उसने विधि के शासन को एक दम अस्वीकार नहीं किया है। उसने माना है कि कुछ स्थितियों में वह 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ' हो सकता है।

अध्याय 3

सोफ़िस्टों से पहले का राजनीति-चिंतन

(क) होमर से सोलोन तक

(ख) पायथागोरस के अनुयायी और आयोनियाई दार्शनिक

(ग) भौतिकविदों से मानववादियों तक की यात्रा

अध्याय 3

सोफ़िस्टों से पहले का राजनीति-चिंतन

(क) होमर से सोलोन तक

आजकल यूनानी इतिहासकारों में प्राचीन यूनान और आधुनिक संसार के इतिहास में सादृश्य दिखाने का फ़ैशन सा चल पड़ा है। हम यूनानी 'मध्य-युग', यूनानी 'धर्म-सुधार' (Reformation), यूनानी 'पुनर्जागरण' (Renaissance) की बाबत पढ़ते हैं। इतिहासकार ये जो सादृश्य दिखाते हैं इनके बारे में उनमें मतभेद हैं। जहाँ एक इतिहासकार पाँचवीं शताब्दी के अंत तक के यूनान के संपूर्ण प्राचीन युग की तुलना इस आधार पर हमारे इतिहास के मध्य-युग से कर सकता है कि दोनों का आरंभ कबीलों के देशांतरणों से और अंत 'संसार और मानव की खोज' में हुआ; वहीं दूसरा इतिहासकार सोलोन-कालीन ज्ञानोदय से पहले के यूनानी इतिहास के आरंभिक युग की तुलना हमारे मध्य-युग के साथ कर सकता है और छठी शताब्दी को 'धर्म-सुधार' तथा 'पुनर्जागरण' का समय मान सकता है। यदि हम इस बाद वाली तुलना को मानें, तो कह सकते हैं कि यूनानी मध्य-युग का राजनीति-चिंतन होमर और हेसिऑड में मिलता है। दरअसल, इस काल के लेखक हैं ही सिर्फ़ ये दोनों। कभी-कभी कहा जाता है कि होमर का राजतंत्र के दैवी अधिकार में विश्वास था :

> "बहुतों का शासन शुभ नहीं। दुष्टात्मा क्रोनोस के पुत्र ज़ेअस ने जिसके हाथों में राजदंड थमाया है और जिसे विधियों के प्रख्यापन की शक्ति दी है, उस एक शासक, एक राजा का शासन ही वरेण्य है"[1]।

परंतु, इन पंक्तियों में तो युद्ध-काल का आदेश निहित है। ये शब्द ओडीसियस* ने एक अव्यवस्थित सेना को संबोधित करके कहे हैं जबकि वह यह प्रयत्न कर रहा है कि सेना अपने प्रधान सेनापति की आज्ञा माने। होमर का राजा

---

[1] इलियड, II. 204–6. मुझे याद पड़ता है कि मैंने इस पंक्ति को इसी अर्थ में प्राय: दस वर्ष पूर्व इँगलैंड-स्थित जर्मन राजदूत के मुँह से सुना था।

* यूनानी कवि होमर के महाकाव्य ओडीसी का नायक। अँग्रेज़ी में इसका उच्चारण यूलीसेस है।

समुदाय का एक पदाधिकारी होने के नाते ही राजा है। किसी शाखा के सभी सरदार 'राजा' कहलाते हैं और सभी दावा करते हैं कि वे ईश्वर के ही वंश में अवतरित हुए हैं। असली राजा अपने साथियों से केवल इसी अर्थ में विशिष्ट हो सकता है और होता है कि वह संपूर्ण समुदाय का नियत पदाधिकारी हो। इसका मतलब यह है कि होमर के ज़माने में कबीले पर कबीले की अपनी ही प्रभुता थी, उसका शासक नाम-मात्र का था और वह अपने पद पर कबीले का प्रवक्ता और प्रतिनिधि होने के नाते प्रतिष्ठित रहता था। होमर का तो राजतंत्र के इस रूप से परिचय था, पर हेसिऑड को तो इतना ही ज्ञात है कि अनेक राजा राज्य किया करते थे। उसने पहले से ही अपनी पीढ़ी के 'राजाओं' के 'सोफ़िस्टवादी' दृष्टिकोण की निंदा की है और उनके दर्शन—'न्यायी से आततायी भला'—का जवाब उसने दैवी प्रतिकार की दुहाई देकर दिया है[1]।

सोलोन के शासन-काल के आरंभ में (प्राय: 600 ई० पू०) एक नए युग का उदय हुआ। सातवीं शताब्दी में यूनान को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था और इस संकट का अस्फुट स्वर सबसे पहले संभवतः हेसिऑड के काव्य में सुना जा सकता है। गरीबों की भूमि बंधक (mortgage) में चली गई थी और धनी पड़ोसियों ने हथिया ली थी। यूनान में नया स्वर जगाने की आवश्यकता थी, नई विधियों की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी—तभी उसे अराजकता से बचाया जा सकता था। यह नया स्वर डेल्फ़ी ने जगाया; इन नई विधियों की खोज सोलोन जैसे विधिकर्त्ताओं ने की। डेल्फ़ी के उपदेशों ने उस चीज़ को प्रेरणा दी जिसे कभी-कभी यूनानी सुधार कहा जाता है। 600 ई० पू० के आसपास डेल्फ़ी फ़ोसिस के कबीले से अलग हो गया और चर्च-राज्य बन गया। डेल्फ़ी की देववाणी प्रसिद्ध थी। उसके पुजारी अपने देवता अपोलो की पुरानी परंपरा से संपन्न थे जिसके अनुसार उसे वंशागत पाप से मुक्ति का प्रवर्त्तक माना जाता था। पुजारियों ने इस परंपरा का विस्तार कर अपोलो को यूनानी नीति का व्याख्याता और यूनानी विधि का प्रवक्ता बना दिया[2]। डेल्फ़ी की नैतिक शिक्षा का सार था—संयम की आवश्यकता का प्रतिपादन। उसने ये सबक सिखाए कि संयम में सौंदर्य है; कि स्मरण रखना चाहिए हर चीज़ की एक मर्यादा होती है जिसका लोगों को कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए; कि (डेल्फ़ी के आधार पर पिंडर के स्वर में) "हरकुलीज़ के स्तंभों के पार वह मार्ग है जिस पर न ज्ञानियों के चरण पड़ सकते हैं, न मूर्खों के"[3]। अतीत के सब संकटों की जड़ थी धन-संपदा की स्पृहा। उसे वश में लाना चाहिए, व्यवस्था में बांधना चाहिए। भविष्य में जीवन की आदर्शोक्ति होनी चाहिए : "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। इस तरह से एक परंपरा की स्थापना हुई जिसे बहुत लंबे अरसे तक चलना था और जो यूनानी जीवन की गहराइयों में समा जाने वाली थी—यह वही परंपरा थी जिसे पायथागोरस के सीमा-सिद्धांत (doctrine of Limit) से बल मिला,

---

1. **वर्क्स एंड डेज़**, 248—64.
2. विलामोवित्ज़, पू० कृ०, पृ० 87—8.
3. **ओलम्पिया**, 3, 44—5.

और अरिस्टाटल के मध्यम-मार्ग के सिद्धांत (doctrine of the Mean) में जिसका शास्त्रीय रूप में आख्यान हुआ ।

अपोलो नीतिशास्त्र का व्याख्याता भी था, और विधि का प्रतिपादक भी। यूनान में विधायकों ने—जिनके विधि-निर्माण का समय वही है जो यूनानी धर्म-सुधार का—डेल्फ़ी की मर्यादा और संयम की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। बाद की परंपरा में सात संतों की चर्चा की गई है। इनमें अकेला सोलोन ही ऐतिहासिक व्यक्ति है। परंपरा के अनुसार इन सातों व्यक्तियों ने राजनीतिक गतिविधियों में भाग लिया था। उनकी कहावतों में कुछ-कुछ राजनीति-दर्शन भी आ जाता है। प्लेटो ने कहा है, "सूक्तियाँ बड़ी उपयोगी होती हैं।" इन कहावतों में अनुभव से ज्ञात अथवा तत्त्वान्वेषी दृष्टि से गृहीत सत्य का कोई न कोई पहलू सदा के लिए सुरक्षित है। 'सात संतों की उक्तियाँ' मुख्यत: नैतिक हैं, लेकिन इन नैतिक कहावतों में कुछ राजनीतिक सत्य भी बिखरे पड़े हैं—जैसे कि "पदासीन होने पर पता चलता है कि आदमी किस धातु का बना हुआ है"[1]। प्लेटो के अनुसार इन सातों संतों ने अपने ज्ञान के पुष्प समवेत रूप से डेल्फ़ी में अपोलो के मंदिर की भेंट चढ़ा दिए थे[2]। इस प्रकार उसने इस परंपरा की पुष्टि की है कि इन सातों संतों का अपोलो की शिक्षा से कुछ संबंध था। यह भी कहा जाता है कि डेल्फ़ी के आस-पास रहने वाले लोगों ने इन संतों के वचनों को मंदिर की दीवारों पर उत्कीर्ण करा दिया था जिससे मालूम पड़ता था मानो वे दिव्य वचनों की सी गरिमा से मंडित हों। "इन लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के विचारों में ही हमें सामाजिक दर्शन के आरंभिक और शैशवकालीन रूप के दर्शन होते हैं"[3]। सात संतों के सामाजिक दर्शन की भाँति ही सोलोन के युग के ऐतिहासिक विधायकों की राजनीतिक गतिविधि भी डेल्फ़ी की प्रेरणा से अनुप्राणित थी। सोलोन के कार्य के जो अभिलेख (records) प्राप्त हैं, उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में मर्यादा और संयम की शिक्षाओं को लागू करना था और "धन-संपदा के उपयोग पर प्रतिबंध लगाकर राज्य की एकता स्थापित करना" था[4]। अमीरों और गरीबों के विवाद से जर्जरित राज्य में सोलोन ने सामाजिक समता के आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। उसने प्रयत्न किया कि सबल अपनी धन-संपदा की शक्ति का निर्बाध उपयोग न करने पाएँ और उसने गरीबों के उन्नयन का भी भरपूर प्रयास किया। एक ओर तो उसने अपनी 'आज्ञप्ति' से गरीब किसानों के उन भारी ऋणों को रद कर

---

1. प्लूटार्क ने कॉन्विवियम सेप्टेम सापिएंटियम (सात ज्ञानियों का सूक्ति-संग्रह) में दिखाया है कि सातों संत इस बात पर विचार कर रहे हैं कि राज्य की अधिकतम प्रसन्नता के लिए कौन सी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। प्लूटार्क ने इनमें से हरेक संत का मत प्रस्तुत किया है।
2. **प्रोटेगोरस,** 343 b.
3. **ग्रोटे, हिस्ट्री ऑफ ग्रीस,** IV. 23.
4. ज़िमर्न, पू० कृ०, पृ० 127।

दिया जो वँधक के कारण बढ़ते चले गए थे, उसने भू-संपति की सीमा निश्चित कर दी और व्यय-नियामक विधियों द्वारा धन-संपदा की तड़क-भड़क दिखाने के धनिकों के अधिकार पर अंकुश लगा दिया। दूसरी ओर, उसने किसानों को अपने खेतों पर पूर्ण स्वामियों के रूप में वसाने की कोशिश की और अपने शिल्प-कौशल का उपयोग करने के लिए विदेशियों को एटिका में बसने की सुविधाएँ देकर उद्योग-धंधों का विकास किया। इसके फलस्वरूप आगे चलकर गरीबों का उद्धार हुआ और अंत में उन्हें विशुद्ध कृषिपरक शासन-व्यवस्था की तकलीफ़ों तथा विवशता से छुटकारा मिला। इनसे तथा दूसरे उपायों से उसने सामाजिक समता स्थापित करने का प्रयास किया। कहा गया है कि यूनानी विधि के मानवीय तत्त्व में उसके सौम्य और पवित्र स्वरूप की झलक मिलती है। कमज़ोर और ज़रूरतमंद लोगों को बचाने के लिए उसने अनुमति दे दी थी कि एथेंस का कोई भी नागरिक बिना किसी जोखिम के किसी दंडनीय अपराध के लिए दूसरे व्यक्ति की ओर से मुकदमा दायर कर सकता है। निश्चित और निष्पक्ष न्याय की दिशा में यह एक वहुत बड़ा क़दम था। उसकी 'संस्था-विधि' भी उल्लेखनीय है।

"उसने यह सिद्धांत भी निर्धारित किया कि समान उपासना पद्धति वाली कोई संस्था अपनी संविधियाँ बना सकती है। अगर ये विधियाँ राज्य की विधियों के विरोध में न होंगी, तो राज्य संस्था के सदस्यों के लिए उन्हें मान्य समझेगा। इस विधि के दायरे में लुटेरे जहाज़ भी जाते थे और जहाज़ी कम्पनियाँ भी। लुटेरे जहाज़ों के उल्लेख से स्पष्टतः इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। यह संस्थाओं की स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादन है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि डायजेस्ट* में सोलोन की विधि का भी समावेश है[1]"।

लेकिन, सोलोन का काम इससे भी बढ़कर था। हमें सोलोन की करुण कविताओं से पता चलता है कि उसका उद्देश्य था संतुलित समानता (समाधिकार) की स्थापना जिसके अंतर्गत न तो कोई वर्ग सामाजिक प्रवरता के दावे का दंभ कर सके और न अनुचित राजनीतिक विशेषाधिकारों का उपभोग। इन कविताओं में सोलोन ने अपने कार्य की योजना और उसके औचित्य का निरूपण किया है।

> "साधारण जनदल को मैंने पददान दिया, समुचित सादर।
> अपहरण किया सम्मान नहीं, बढ़ने न दिया हद के बाहर ॥
> वे जो थे वलशाली समृद्ध संपदापूर्ण सब विधि शोभन।
> आदेश किया मैंने उनको हों वे न कभी किंचिद शोभन ॥
> दोनों के मध्य खड़ा था मैं दृढ़ ढाल लिए कर में अपने।
> कोई पूरा कर पा न सका अन्यायपूर्ण जय के सपने ॥'†

---

* जस्टीनियन के आदेशानुसार तैयार की गई रोमी विधियों की संहिता।

[1] विलामोवित्ज़, पू॰ कृ॰, पृ॰ 50—1।

† श्री भोलानाथ शर्मा के **अरिस्तू की राजनीति** (प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर-प्रदेश सरकार, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1956) से उद्धृत काव्यानुवाद, पृ॰ 553।

आधुनिक चिंतक सहज ही कह उठेगा कि सोलोन वैधिक सुधारक भी था और संविधान-निर्माता भी। सोलोन के युग में अथवा सामान्य रूप से यूनानी इतिहास में लोगों को इस भेद का पता न था। किसी पृथक् सांविधानिक विधि का न तो सोलोन ने ही निर्माण किया और न कभी एथेंस में ऐसी कोई विधि रही। उसने तो राज्य के पदाधिकारियों के लिए अनुदेशों के रूप में कुछ नियमों का निर्माण किया जिनका हम अभी-अभी उल्लेख कर चुके हैं। इनका उद्देश्य था पदाधिकारियों के प्रशासनिक कार्यों पर नियंत्रण रखना। पदाधिकारियों को विधि के सेवक मानते हुए उसने विधि की लिखित व्याख्या की जिससे कि अलिखित परंपरा के वजाए लिखित संहिता (code) की प्रतिष्ठा हो। जहाँ उसने इस प्रकार विधि शासन की यूनानी संकलपना को कार्यरूप में परिणित किया, वहीं उसने प्रच्छन्न रूप से विधि की प्रभुसत्ता पर आधारित एक सांविधानिक व्यवस्था की भी स्थापना की। इस व्यवस्था में पदाधिकारियों की स्थिति स्वभावतः विधि के सेवकों की हो गई। सोलोन ने इन लोगों को एक सार्वजनिक न्यायालय के प्रति उत्तरदायी बनाया जिससे यह निश्चित हो जाए कि वे विधि के अनुसार कार्य करेंगे। इस न्यायालय की स्थापना उसकी अपनी नई सूझ थी। इस न्यायालय का नाम था हेलिआया। यह एक लोक-न्यायालय था जिसमें कई हज़ार न्यायाधीश होते थे। गरीब से गरीब नागरिक भी उसमें बैठ सकता था और अपना निर्णय दे सकता था। (असाधारण मामलों में अपीलें सुनने के अतिरिक्त) प्रत्येक पदाधिकारी की पदावधि समाप्त होने पर उसके आचरण की समीक्षा करने का अधिकार भी इस न्यायालय को था। यहाँ सोलोन ने जनता को 'न्याय करने वाली प्रभुसत्ता' बना दिया और अरिस्टाटल के इस सिद्धांत के अनुसार कि "न्याय करने वाली प्रभुसत्ता संविधान की प्रभुसत्ता भी होती है" उसने प्रच्छन्न रूप से लोक-प्रभुसत्ता अथवा लोकतंत्र की स्थापना की[1]। लेकिन, उसने केवल न्यायिक क्षेत्र में ही लोकतंत्र की प्रतिष्ठा की। उसने लोगों को शासन-नीति का नियंत्रण तो सौंपा ही पर इससे बड़ी बात यह थी कि उसने लोगों में यह विश्वास जगाया कि वे ज्ञात नियमों के अनुसार वैधानिक रीति से शासित हो रहे हैं[2]। उसने गरीब एथेंसवासियों को सभा में आने का अवसर दिया—यह छोटी-सी बात भले ही हो पर महत्त्वहीन किसी तरह से न थी। और इस तरह अपने पदाधिकारियों के चुनाव में योगदान करने का उन्हें अवसर मिला।

सोलोन ने अपनी कविताओं में अपने काम के जो ब्योरे दिए हैं, उनके अलावा और सारे ब्योरे आज भी विवादास्पद हैं। पाँचवी शताब्दी के आते-आते स्वयं एथेंसवासियों में ही उसके कार्य की सार्थकता और विस्तार के वारे में विवाद चल पड़ा था। ये विवाद बौद्धिक नहीं थे। उनका वास्तविक राजनीति से भी घनिष्ठ संबंध था। एक ओर तो लोकतंत्रीय पक्ष था जो उसे पेरीक्लीज के लोकतंत्र का जनक मानता था। दूसरी ओर 'मध्यमार्गी' थे जिनका रुझान अल्पतंत्र की ओर था और जिन्होंने 411 ई० पू० में राजनीतिक क्रांति का प्रयास किया था। ये लोग उसे

---

[1] अरिस्टाटल, **अथीनिओन पोलितिया.** IX. § 1.

[2] ज़िमर्न, पू० कृ०, पृ० 130—1।

मध्यमार्गी और मिश्रित प्रकार के 'परंपरागत संविधान' का प्रवर्त्तक मानते थे। यह संविधान न तो लोकतंत्रीय था और न अल्पतंत्रीय और उनका आग्रह था कि एथेंस को ऐसे ही संविधान की ओर लौट आना चाहिए। लगता है अरिस्टाटल ने अपने दोनों ग्रंथों **एथेनी राज्य-व्यवस्था** और **पॉलिटिक्स** में दूसरी व्याख्या को ग्रहण किया है और माना है कि सोलोन ने राज्य के विभिन्न तत्त्वों के समुचित मिश्रण द्वारा परंपरागत संविधान की स्थापना की थी[1]। अरिस्टाटल के राजनीति-दर्शन में बहुत-कुछ ऐसा है जिसमें बरबस सोलोन का स्मरण हो जाता है। सोलोन की भाँति उसका भी विधि की प्रभुसत्ता में विश्वास था। सोलोन की भाँति ही—और इस प्रसंग में उसने सोलोन का हवाला भी दिया है[2]—उसका भी विश्वास है कि जन-साधारण को कम से कम इतनी राजनीतिक शक्ति तो प्राप्त होनी ही चाहिए कि "वह पदाधिकारियों का निर्वाचन कर सके और दंडनायकों से जवाब तलब कर सके"। सबसे बड़ी बात यह है कि सोलोन की भाँति उसे भी तटस्थ, मध्यमार्गी और मध्यस्थताकारी राज्य की संकल्पना प्रिय है। इस राज्य में विभिन्न तत्त्व समुचित रीति से मिले होते हैं और किसी भी एक तत्त्व को "अनुचित रीति से नहीं बढ़ने दिया जाता"।

संभवतः, यही वह मुख्य संकल्पना है जो सोलोन के विधान और करुण गीतों ने यूनान को वसीयत में दी है। सोलोन उस तटस्थ राज्य का पहला प्रवक्ता था जिसकी खोज यूनानियों को आगे चलकर काफ़ी लंबे समय तक और विभिन्न उपायों से करनी पड़ी। इस खोज का उद्देश्य उस संघर्ष से बचना था जो उनके समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त था। उसके संघर्षपूर्ण युग के लिए यह स्वाभाविक भी था। मिगारा* में थियोगनिस के काव्य में 'अच्छे' और 'बुरे' का घोर वैषम्य प्रकट होता है और कवि को उस भीड़ द्वारा जो "बकरियों की खाल पहने हुए है तथा आज्ञाप्तियों अथवा विधियों के बारे में कुछ नहीं जानती," जन्मजात कुलीनों के पराभव पर खेद है[3]। जहाँ सोलोन एथेंस में राज्य का पथ-प्रदर्शन कर उसे अभीष्ट गंतव्य की ओर ले जाने में सफल हुआ, वहाँ मिटीलीन में एल्केयस राज्य-यान को झकझोर देने वाली हवाओं के रुख को नहीं पहचान सका। मिटीलीन में इस राज्य-यान को सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने का काम मिट्टाकस ने उस क्रांति के बाद तानाशाह के रूप में शासन (590-580 ई० पू०) करते समय संपन्न किया जिसमें एल्केयस

---

[1] तुलना कीजिए, *Pol.*, 1273, b 35 sqq. (II., 12. §§ 2—6).

[2] 1286, b 33—4 (III. 11, 8).

* यूनान के मिगारिस नामक प्रदेश की राजधानी मिगारा प्राचीनकाल में एटिका के चार डिवीज़नों में से एक थी। इस पर कुछ समय तक डोरिस और कोरिंथ का नियंत्रण रहा था, पर आगे चल कर वह स्वतंत्र हो गई। इतिहास में वह एक विशिष्ट दर्शन-संप्रदाय—मिगारा दर्शन संप्रदाय—के लिए प्रसिद्ध है जिसका प्रवर्त्तन साक्रेटीज के शिष्य और इस नगर के वासी यूक्लिड ने किया था।

[3] थियोगनिस, VV. 350–1.

और उसके सामंत-बंधुओं को देश-निकाला दे दिया गया था* । स्पार्टा तक में—जो यूनानी राज्यों में सबसे अधिक स्थिर था—भूमि के सवालों को लेकर घोर विपत्ति आई थी । स्पार्टावासियों को मेसेनिया में अपने उत्पीड़ित दासों के विद्रोह का सामना करना पड़ा था । यह विपत्ति और विद्रोह टायर्टेयस के अपने ज़माने की घटना है । उसका काव्य न केवल युद्ध का शंखनाद है बल्कि विधि-पालन की प्रशस्ति में एक राजनीतिक प्रवचन भी है† ।

---

* एल्केयस मिटीलीन के अभिजात-तंत्रीय दल का नेता था । जब 606 ई० पू० में एथेंस और मिटीलीन में लड़ाई हुई, उस समय एल्केयस ने कायरता का परिचय दिया और वह अपने देश की मान-हानि का कारण बना । इस युद्ध में पिट्टाकस ने अपूर्व रण-चातुर्य प्रकट किया । फलतः, जब युद्ध के पश्चात् मिटीलीन में सत्ता जनतंत्रात्मक पक्ष के हाथों में आई तब उसने पिट्टाकस को अपना नेता चुना और उसे अधिनायक की संपूर्ण शक्तियाँ प्रदान कीं । पिट्टाकस ने एल्केयस को उसके भाई एंटीमेनिडास तथा अन्य कुलीनों के साथ देश से बाहर निकाल दिया । एल्केयस ने शक्ति-प्रदर्शन के द्वारा मिटीलीन पर फिर से विजय पाने का प्रयास किया, पर पिट्टाकस ने उसके सारे प्रयत्न विफल कर दिए । पिट्टाकस दस वर्ष 590 से 580 ई० पू० तक मिटीलीन का अधिनायक रहा और अपने इस शासन-काल में उसने राज्य में शांति और व्यवस्था की स्थापना की तथा अनेक सुधार किए । इसके बाद उसने अपने पद से स्वतः त्याग-पत्र दे दिया । पिट्टाकस की गणना यूनान के 'सात ज्ञानी व्यक्तियों' में होती है और वह यूनानी इतिहास में एक अप्रतिम योद्धा, राजमर्मज्ञ, दार्शनिक तथा कवि के रूप में विख्यात है ।

† जब स्पार्टा की मेसेना से लड़ाई हुई, तब स्पार्टा ने एथेंस के टायर्टेयस को अपना नेता बनाया था । एथेंस ने टायर्टेयस को बिल्कुल निकम्मा आदमी समझकर स्पार्टा की सेवा में भेज दिया और टायर्टेयस जो काम शरीर-बल से न कर सका, वह उसने काव्य-बल से कर दिखाया । अपनी कविता के स्वरों में उसने स्पार्टावासियों को आपसी मतभेद भूलकर एकता के सूत्र में बँध जाने की शिक्षा दी ।

(ख) पायथागोरस के अनुयायी और आयोनियाई दार्शनिक

यूनानी इतिहास के और यूनानी राजनीति-चिंतन के इतिहास के अगले युग का संबंध आयोनियाई पुनर्जागरण से है। डेल्फ़ी से धर्म-सुधार की जो लहर फैली थी, उसका उद्‌भव और स्वर-विधान मुख्यतः डोरिस में हुआ था* । महान् डोरिस-राज्य स्पार्टा के डेल्फ़ी से सदैव घनिष्ठ संबंध रहे थे। देववाणी की शिक्षा का प्रभाव भी यही था कि डोरिस जीवन-पद्धति का अनुसरण हो। छठी शताब्दी ई० पू० के फूलदानों और वास्तु-शिल्प दोनों ही में डोरिस-शैली की ओर झुकाव परिलक्षित होता है[1]। यूनान की मुख्य भूमि पर जो परिस्थितियाँ थीं, आयोनिया उपनिवेश में सदैव उनसे भिन्न परिस्थितियाँ रहती थीं। यहाँ आरंभ से ही जीवन निश्चित रूप से नगर की ओर उन्मुख रहा था और कबाइली जीवन की पुरातन आस्थाएँ यहाँ कभी भी अपनी जड़ें नहीं जमा पाई थीं। उनके बजाए कुछ विवेकपरक और धर्म-निरपेक्ष मनोवृत्ति का विकास हुआ—और उसके साथ ही फली-फूली एक समुन्नत और प्रायः स्त्रैण प्रकार की भौतिक सभ्यता। आयोनियाई नगरों के कृत्रिमतापूर्ण वातावरण में स्वर्ग से लेकर पृथ्वी तक की समस्त वस्तुओं के बारे में खुलकर चिंतन और बहस होती थी और शायद कुछ सीमा तक पूर्व के संसर्ग से प्रेरित होकर लोग प्राकृतिक विज्ञान की ओर मुड़ गए। थेल्स के जमाने (प्रायः ५८५ ई० पू०) से वे भौतिक संसार की समस्याओं का अन्वेषण करने लगे थे। ये लोग भौतिक सृष्टि की पहेली से परेशान थे। देखने में यह सृष्टि विभिन्न तत्त्वों के संयोग से बनी मालूम पड़ती है, लेकिन, उसमें निरंतर ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं कि इनमें से कोई भी एक तत्त्व किसी भी दूसरे तत्त्व में रूपांतरित हो सकता है। उन्होंने उस एक निर्विशेष का, पदार्थ के उस एक आधार-तत्त्व का पता लगाने की कोशिश की जो समस्त तत्त्वों के मूल में स्थित है और जिस

---

* यूनान में डोरिस एक छोटा पार्वत्य प्रदेश है। इसके नाम पर वहाँ एक विशिष्ट वास्तुकला का विकास हुआ। इस वास्तु-संप्रदाय की मुख्य विशेषताएँ थीं—सादगी और विशालता।

1. बर्नेट, ग्रीक फिलॉसफ़ी, पृ० 34।

से उन सबका उद्भव हुआ है। पदार्थ के इस आधार तत्त्व को, इस अनन्य तत्त्व को जिससे सारी चीज़ें बनी हैं—चाहे उसका किसी भी रूप में भावन किया जाए—उन्होंने प्रकृति कहा[1]। इस बात को शायद बड़े सहज भाव से मान लिया जाता है कि साक्रेटीज़ से पहले लोग केवल प्रकृति का ही अध्ययन करते थे और मानव के अध्ययन की प्रेरणा विचारकों को पहले-पहल उसी के उदाहरण से मिली[2]। परंतु साक्रेटीज़ से पहले के विचारक पदार्थ के संबंध में जिन निष्कर्षों पर पहुँचे, वे रसायन-शास्त्र की किसी समस्या पर विचार करने वाले भौतिक वैज्ञानिकों के सिद्धांत ही न थे, उनके प्रतिपादकों के लिए तो वे सृष्टि के रहस्यों के समाधान थे। अतः ये सिद्धांत पृथ्वी के जीवन के संदर्भ में जितने सत्य थे, उतने ही सत्य मानव-जीवन के संदर्भ में थे। भौतिक प्रकृति के तत्त्वों और उनके पारस्परिक संबंधों को लेकर जो निष्कर्ष निकाले गए, उनमें मनुष्य की नैतिक प्रकृति के तत्त्वों और उनके संबंधों के बारे में—राज्य के तत्त्वों और उन्हें एक सूत्र में बाँधने वाली योजना के बारे में—उसी प्रकार के निष्कर्ष निहित थे।

तथाकथित भौतिक सत्य के धरातल से नैतिक सत्य की ओर यह कदम सबसे अधिक तत्परता के साथ पाँचवीं सदी के पायथागोरसवादियों ने उठाया। पायथागोरस (530 ई० पू० के लगभग) सामॉस द्वीप का एक आयोनियाई था। वह दक्षिण इटली में बस गया था और वहीं उसने एक ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। उसके शिष्यों ने उसके सिद्धांत—पायथागोरस के नियम (Rule of Pythagoras)—के आधार पर एक दर्शन-पद्धति का निर्माण किया। पायथागोरस के अनुयायियों का मत था कि समस्त भौतिक तत्त्वों के मूल में कोई एक तत्त्व विद्यमान है। अधिकांश आयोनियाई दार्शनिकों का विचार था कि यह मूल तत्त्व कोई मूर्त्त तत्त्व है। पायथागोरस के अनुयायियों की दृष्टि में वह कोई भौतिक तत्त्व न होकर अधिक अमूर्त्त संख्या-सिद्धांत था[3]। इस प्रकार के सिद्धांत को मानवीय आचरण के नैतिक जगत् पर भी आसानी से लागू कर दिया गया। यह तर्क दिया जा सकता है कि उस जगत् का अंतभूर्त

---

1. आयोनियावासियों के लिए प्रकृति का वही अर्थ था जो हमारे लिए पदार्थ का है। "भौतिकशास्त्री पदार्थ शब्द का जो अर्थ समझता है, उसी अर्थ में उन्होंने पदार्थ के सिद्धांत की रूपरेखा तैयार की थी" (बर्नेट, पू० कृ०, पृ० 27)।

2. (यह धारणा अरिस्टाटल के कथन पर आधारित है। तुलना कीजिए, मेटाफिजिक्स, 987, 1—4; 1078, b 17—19)। यहाँ साक्रेटीज के बारे में यह तो कहा गया है कि उसने लोगों को राजनीति तथा आचार-विचार की शिक्षा दी पर यह नहीं कहा गया कि नीतिशास्त्र की ओर प्रवृत्त होने वाला सबसे पहला व्यक्ति वही था। उसके बारे में तो यही कहा गया है कि उसने सबसे पहले परिभाषाओं की परंपरा डाली और यह परंपरा नीतिशास्त्र के क्षेत्र में डाली गई।

3. यह सही है कि पायथागोरस के अनुयायी मानते थे कि संख्या का प्रसार 'देश' में भी है।

सिद्धांत भी संख्या का अथवा संख्या के अनुकरण का सिद्धांत है[1]। इस प्रकार, पायथागोरस के परवर्त्ती अनुयायी अपनी न्याय-विषयक धारणा तक पहुँचे। उनके विचार में न्याय एक संख्या है—अपने आप से ही गुणा की हुई संख्या यानी वर्ग-संख्या है। वर्ग संख्या में पूर्ण सामंजस्य होता है क्योंकि उसके भाग समान होते हैं और भागों की संख्या प्रत्येक भाग के संख्यात्मक मूल्य के बराबर होती है। यदि न्याय को वर्ग संख्या कहा जाए तो निष्कर्ष यह निकलता है कि न्याय समान भागों से निर्मित राज्य की संकल्पना पर आधारित है। संख्या उसी समय तक वर्ग रहती है जब तक उसके भागों की समानता बनी रहे। राज्य तभी तक न्यायानुकूल होता है जब तक उसके भागों में समानता बनी रहती है। इस समानता का बना रहना ही न्याय है। लेकिन, यह समानता कैसे बनाए रखी जाए ? आक्रमणकारी से—जिसने अपने आप को बहुत बड़ा और आक्रांत को बहुत छोटा बना दिया हो—वह सब कुछ छीन कर जो उसे आक्रमण के फलस्वरूप मिला हो और उसे समग्रतः पराजित पक्ष को लौटाकर ? इसीलिए, पायथागोरस के अनुयायियों ने आगे चलकर न्याय की परिभाषा यह कह कर की है कि वह प्रतिफल है ; आप जिस पैमाने से दूसरे के लिए नापेंगे, उसी पैमाने से आपके लिए नापा जाएगा। स्पष्ट है कि न्याय की इस संकल्पना में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्होंने परवर्त्ती राजनीतिक चिंतन की धारा पर प्रभाव डाला[2]। यहाँ राज्य को बराबर के सदस्यों का योग मानने का विचार निहित है ;

---

[1] इस प्रकार के विस्तार के सिलसिले में प्लेटो (**गॉर्जियाज़, 507E–508A**) से तुलना की जा सकती है। प्लेटो की युक्ति है कि नैतिक स्वार्थ भौतिक सहयोग और भाईचारे के तो प्रतिकूल है ही जो पृथ्वी और स्वर्ग को एक सूत्र में बाँधते हैं; वह ज्यामितीय समानता के सिद्धांत के भी विरुद्ध पड़ता है। लगता है प्लेटो यह कहना चाहता है कि जिस प्रकार नक्षत्र एक दूसरे के साथ सहयोग से रहते हैं क्योंकि उनमें से हरेक अपने नियत स्थान पर रहता है और किसी पड़ौसी नक्षत्र के स्थान का अतिक्रमण करके समानता का उल्लंघन नहीं करता; उसी प्रकार मनुष्यों को इस तरह सहयोग से रहना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने नियत स्थान पर रहे और वह अधिक पाने के उद्देश्य से अपने क्षेत्र का अतिक्रमण करके समानता का उल्लंघन न करे। **रिपब्लिक** की शिक्षा भी यही है। प्लेटो ने पायथागोरसवाद से बहुत कुछ ग्रहण किया—सबसे अधिक उसकी गणितीय रूचि ग्रहण की और दर्शन पर गणित के दृष्टिकोण से विचार किया जबकि अरिस्टाटल ने एम्पेडोक्लीस की भाँति दर्शन का अध्ययन जीव विज्ञान के दृष्टिकोण से किया (बर्नेट, **ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० II, 71)। प्लेटो ने मानव-जगत के क्रम की प्राकृतिक जगत् के क्रम से जो तुलना की है, उसमें शायद पायथागोरस का प्रभाव झलकता है। आगे अध्याय 7 में खंड (ग) से तुलना कीजिए।

[2] तथापि, बर्नेट के विचार से (**अर्ली ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 317; उसकी **ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 90 से भी तुलना कीजिए) न्याय की यह परिभाषा कि वह एक वर्ग है, "सादृश्यमूलक कल्पना का खिलवाड़ मात्र है।" हर्बर्ट स्पेंसर ने भी राज्य को एक जीवी (organism) माना है और उसकी संकल्पना के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। पर, राज्य को जीवी मानने का सिद्धांत हर्बर्ट स्पेंसर के दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। और गणितीय सादृश्यों को न्याय पर लागू करना विशेष रूप से आसान है।

यह विचार निहित है कि उसका उद्देश्य है संतुलन की स्थापना—जिसे न्याय कहते हैं, जो सदस्यों के परस्पर समायोजन को बनाए रखता है। प्लेटो ने **रिपब्लिक** में न्याय की यही अवधारणा ग्रहण की है और उसे अधिक अमूर्त्त तत्त्व तथा गहनतर सत्य से मंडित किया है। न्याय एक प्रकार का समायोजन है। लेकिन, वह ऐसा समायोजन है जो राज्य का निर्माण करने वाले प्रत्येक अमूर्त्त तत्त्व—विवेक (reason), उत्साह (sprit) तथा बुभुक्षा (appetite) को उसका सही और उचित स्थान देता है। अरिस्टाटल के 'विशेष' न्याय सिद्धांत (Theory of 'Particular' justice) में शायद पायथागोरस की अवधारणा के औपचारिक और संख्यात्मक पहलू की झलक देखी जा सकती है। अरिस्टाटल ने **एथिक्स** के पाँचवें अध्याय में अनुपाती और शोधनात्मक न्याय सिद्धांत (theory of distributive and rectificatory justice) का जो विवेचन किया है और **पॉलिटिक्स** के पहले अध्याय में वाणिज्य के क्षेत्र में न्याय के सिद्धांत का जो अनुप्रयोग किया है—हो सकता है उसका श्रेय कुछ हद तक पायथागोरस की शिक्षा को हो[1]।

पायथागोरस के पाँचवीं शताब्दी के अनुयायियों ने शायद इसी प्रकार प्राकृतिक दर्शन के सिद्धांतों को राज्य पर लागू करके राजनीति-विज्ञान के विकास में सहायता दी थी। उनमें से कुछ न्याय की अवधारणा पर संख्या के अनुप्रयोग से भी आगे बढ़े और उन्होंने राजनीति के एक निश्चित सिद्धांत की शिक्षा दी। इस सिद्धान्त का सार यह था कि ज्ञानवान् को राज्य पर शासन करने का दैवी अधिकार है। फलत:, इन लोगों की एक प्रकार के धर्म-सापेक्ष (theocratic) राजतंत्र में आस्था थी। जैसे ईश्वर संसार पर शासन करता है, वैसे ही राजा भी दैवी विधान से अपनी प्रजा पर शासन करता है। हो सकता है यह शिक्षा पाँचवीं शताब्दी से बाद की हो और **रिपब्लिक** के दार्शनिक राजा की प्रतिध्वनि मात्र हो। यह भी संभव

(तुलना कीजिए, मेन, **एन्श्यंट लॉ**, पृ० 58) "संख्याओं या भौतिक मात्राओं के समान विभाजन का निस्संदेह हमारे न्याय-बोध से घनिष्ठ संबंध है। ऐसे संबंध थोड़े ही हैं जो मन पर इतने अटल भाव से छा जाते हों या जिन्हें गंभीरतम विचारक भी इतनी कठिनाई से हटा पाते हों"।

[1] अरिस्टाटल ने साधारण न्याय (Universal justice) और विशेष न्याय में भेद किया है। 'साधारण' न्याय (विधि का सार्वजनिक पक्ष, विशेषकर उसका फ़ौजदारी का तत्त्व) सामाजिक और नैतिक व्यवस्था कायम रखता है। 'विशेष' न्याय का संबंध राज्य द्वारा व्यक्तियों के बीच अधिकारों के वितरण से और व्यक्तिगत अन्यायों के संशोधन या निवारण से है। (तुलना कीजिए, सर पॉल विनोग्रेडॉफ, **कोलंबिया लॉ रिव्यू**, नवंबर, 1908)। उसने इस पायथागोरसवादी न्याय-परिभाषा पर आपत्ति की है कि वह केवल प्रतिफल है (**एथिक्स**, V. 1132, b 22), लेकिन उसका विचार है कि अनुपाती प्रतिफल तो राज्य को बाँधने का सूत्र ही है। राज्य के वितरण और संशोधन के कार्य में वह उसका आधार ही नहीं है, बल्कि वह नागरिकों के पारस्परिक व्यवहारों को नियमित करता है और वाणिज्य-विनिमय का आधार है।

है कि वह प्लेटो से पहले की हो और उसने प्लेटो पर प्रभाव डाला हो[1]। बाद की पीढ़ी ने, छठी शताब्दी में, पायथागोरस के परवर्त्ती शिष्यों के सिद्धांतों का प्रवर्त्तक खुद पायथागोरस को ही माना। इस पीढ़ी का यह भी विश्वास था कि पायथागोरस ने इन सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया था। परंपरा के अनुसार पायथागोरस ने क्रोटोन में तीन सौ लोगों के एक मंडल की स्थापना की थी। इस मंडल के सदस्य ऐसे तरुण व्यक्ति थे जिन्हें प्लेटो के संरक्षकों की भाँति दर्शन-शास्त्र का प्रशिक्षण दिया जाता था और जो उनकी ही तरह अपने दर्शन के आलोक में राज्य का शासन करते थे। पायथागोरस के सिद्धांत "मित्रों का माल सब की संपत्ति है" की व्यवस्था भी प्लेटो द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद की प्राक्-कल्पना के रूप में की गई। पर इन परंपराओं और व्याख्याओं का कारण यह हो सकता है कि बाद की पीढ़ी ने प्लेटो के विचारों का उत्स 'आचार्य' (पायथागोरस) के मस्तिष्क में समझ लिया हो पर पायथागोरस में इनकी कहीं अभिव्यक्ति नहीं हुई। पायथागोरस का जो अपना कृतित्व है और जिन सिद्धांतों की शिक्षा खुद उसने दी, वे सरल थे। यह ठीक है कि उसकी विचारधारा में प्लेटो की विचारधारा के अनेक तत्त्व पाए जाते हैं। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्लेटो की भाँति पायथागोरस भी तरुणों को राजनीति के जीवन के लिये प्रशिक्षित करता था अथवा साम्यवाद का प्रचार करता था। पायथागोरस के परवर्त्ती शिष्यों ने—जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं—उसकी शिक्षा में अनेक नई बातें जोड़ी थीं। साथ ही उसके बारे में बाद में जो परंपरा चली, उसमें प्लेटो के अनेक सिद्धांत प्रविष्ट हो गए थे। यदि हम उसके नाम से इन दोनों बातों को हटा दें, तो हम देखेंगे कि उसका काम यह था कि उसने एक समाज की नींव डाली और उसके सदस्यों में 'एक-जीवन-पद्धति' का भाव जगाया। वह पहला ऐसा व्यक्ति था, जो मानता था कि दर्शन एक विशिष्ट नियम के रूप में व्यक्त होता है और यह नियम शिष्य-मंडली को बता दिया जाता था। उसके बाद और भी ऐसे अनेक व्यक्ति हुए (पीछे पृष्ठ 14-15) और इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि उसमें प्लेटो का पूर्व-रूप मिलता है। उसने दक्षिण इटली के एक नगर क्रोटोन में अपने संप्रदाय की स्थापना की थी। यह संप्रदाय राजनीतिक उपद्रवों में फँस गया था, लेकिन इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि उसने जान-बूझकर कभी राजनीति में हस्तक्षेप किया हो या अभिजात-तंत्र के पक्ष का समर्थन किया हो। पायथागोरस का नियम शुद्धि का व्यक्तिगत नियम था। इसका साधन था चिकित्सा का अभ्यास और 'संगीत' का अध्ययन। संप्रदाय के सदस्य शरीर की शुद्धि के लिए चिकित्सा की और आत्मा की शुद्धि के लिए संगीत की साधना करते थे। उनकी चिकित्सा भोजन के संतुलन और निग्रह की थी, औषधियों और चिकित्सा-उपचार की नहीं। वे यति का-सा जीवन व्यतीत करते थे। खाने-पीने की कुछ चीज़ों का उनके यहाँ निषेध था। वे शाकाहारी पंगतों में शामिल होते थे और उनके बारे में जो यह बात कही गई कि वे साम्यवाद की हिमायत करते थे, हो सकता है उसका आधार यही

---

[1] कैम्पबेल के **पॉलिटिक्स** के संस्करण की भूमिका पृ० XX—XXVII से तुलना कीजिए। संभव है प्लेटो ने **पॉलिटिक्स** में इन्हीं सिद्धांतों का हवाला दिया हो। आगे अध्याय 12 खंड (ख) से तुलना कीजिए।

रहा हो। वे दर्शन को संगीत का सर्वोच्च रूप मानते थे[1]। दर्शन से उनका अभिप्राय विज्ञान के—और विशेष कर गणित के—अध्ययन से था। इस क्षेत्र में उनका योगदान कम न था। "पायथागोरस की मौलिकता यह है कि वह विज्ञान—विशेष कर गणित—के अध्ययन को आत्मा की शुद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन मानता था[2]।" यह सही है कि प्लेटो पर पायथागोरस की शिक्षाओं का ऋण कम न था। प्लेटो ने **रिपब्लिक** में व्यायाम तथा संगीत के द्वारा संरक्षकों के प्रशिक्षण का प्रतिपादन किया है और पायथागोरस ने चिकित्सा और संगीत द्वारा आत्मा की शुद्धि की व्यवस्था की है। इन दोनों में निकट सादृश्य है। प्लेटो ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि संतुलित भोजन व्यायाम का एक भाग है (403 E–410 B)। यूनान के वास्तविक जीवन में यह नियमित विधान था कि चिकित्सा व्यायामशालाओं में की जाती थी। पायथागोरस की भाँति प्लेटो भी गणित के महत्त्व का कायल है। और जब प्लेटो **रिपब्लिक** में संगीत का विवेचन करता है, तब संगीत का क्षेत्र होमर और विपंची से आरंभ होकर ज्योतिष और घन ज्यामिति (solid geometry) तक विस्तृत हो जाता है।

पायथागोरस की शिक्षा में दो तत्त्व ऐसे थे जिनका आम तौर से प्लेटो और यूनानी दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इनमें से एक सिद्धांत यह था कि मानव के तीन वर्ग होते हैं, ज्ञान-प्रेमी (Lovers of Wisdom), सम्मान-प्रेमी (Lovers of Honour) और लाभ-प्रेमी (Lovers of Gain)। इस सिद्धांत में ही शायद आत्मा के तीन पहलुओं—विवेक (Reason), उत्साह (Spirit) और बुभुक्षा (Appetite) का सापेक्ष सिद्धांत निहित है। इन बातों में **रिपब्लिक** के ऊपर पायथागोरस के सिद्धांत का ऋण स्पष्ट भी है और गहरा भी। **रिपब्लिक** के संपूर्ण ढाँचे और ताने-बाने पर पायथागोरस की छाप है क्योंकि **रिपब्लिक** में भी राज्य के तीन वर्ग और आत्मा के तीन पहलू माने गए हैं। पायथागोरस की शिक्षा में 'सीमा' का सिद्धांत (theory of limit) एक और ऐसा तत्त्व है जिसने प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों पर असर डाला था। पायथागोरस ने संगीत का अध्ययन गणित के सहारे से किया था। उसने देखा कि सरगम के चार 'स्थायी स्वरों' में से सिरे वाले दो परस्पर विरोधी स्वर तो मंद और तीव्र थे और बीच वाले दो अपने-अपने ढंग से माध्य थे। इससे उसे यह विश्वास हो गया कि माध्य (Mean) एक मिश्रण अथवा समन्वय है। इसी बात को संगीत की भाषा में यों कहा जा सकता है कि वह दो प्रतिपक्षों का सामंजस्य अथवा अन्विति है। इसी प्रकार उसने चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन में यह देखा कि स्वास्थ्य जीवन-शक्तियों का सामंजस्य और उनके विरोध का समन्वय है। इस तरह उसके मन में यह विश्वास जमा कि माध्य वह सहज सीमा अथवा व्यवस्थाकारी बंधन है जिससे विरोधी तत्त्वों का अनिवार्य संबंध होता है। माध्य के साथ

---

[1] संगीत 'म्यूज़' नाम की देवी की उपासना-पद्धति है। वह काव्य की 'म्यूज़' (देवी) की ही नहीं, बल्कि नौ की नौ 'म्यूज़ों' (देवियों) की अथवा संस्कारी कलाओं (liberal arts) की उपासना है।

[2] पायथागोरस के आरंभिक अनुयायियों का यह विवरण मैंने बर्नेट के आधार पर दिया है। (ग्रीक फिलॉसफ़ी, पृ० 41—2)।

अपने संबंधों के कारण ही उनका स्वरूप एकदम व्यवस्थित हो जाता है और वे मनुष्य के लिए बोधगम्य हो जाते हैं। उसी में उनका सामंजस्य और समन्वय भी हो जाता है। इस विश्वास का प्लेटो और अरिस्टाटल की तत्त्व-मीमांसा पर, और 'पदार्थ' (matter) के साथ एक सीमा के रूप में "रूप-विधान' (form) के संबंध की अवधारणा पर, क्या प्रभाव पड़ा—इसका विवेचन हमारे क्षेत्र से बाहर है। लेकिन, यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि सीमा के सिद्धांत ने और माध्य को सीमा मानने के सिद्धांत ने अरिस्टाटल के राजनीतिक सिद्धांत को निश्चित रूप से प्रभावित किया था। धन की सीमा और राज्य के आकार की सीमा में तो अरिस्टाटल का विश्वास है ही, 'मध्यम' अथवा मिश्रित संविधान में भी उसका विश्वास है। यह संविधान परस्पर-विरोधी पद्धतियों—अल्पतंत्र और लोकतंत्र—का समन्वय है और इसके अंतर्गत वस्तु-जगत के राज्य अपनी सच्ची व्यवस्था अथवा रूप प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ पायथागोरस के सिद्धांत और सोलोन के व्यवहार का समन्वय हो गया है और इस प्रकार तटस्थ और मध्यमार्गी राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ है। लेकिन, जहाँ तक हमें मालूम है, स्वयं पायथागोरस ने सीमा की धारणा को राजनीति पर लागू नहीं किया था। हाँ, उसके परवर्त्ती उत्तराधिकारियों ने अवश्य सीमा के सिद्धांत को नीति-शास्त्र के ऊपर लागू किया। उन्होंने सांत और ससीम को सद्‌गुण का और अनंत तथा असीम को अवगुण का प्रतीक माना तथा संख्या के नियमों को राजनीति के ऊपर लागू किया और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उन्होंने न्याय की कल्पना एक वर्ग के रूप में की।

पायथागोरसवाद ने यूनानी सिद्धांत पर ही नहीं, यूनानी राजनीति पर भी प्रभाव डाला। कहा गया है कि क्लीस्थेनीज़ ने एथेंस में जो संविधान बनाया था, उसकी सेयीज़-जैसी तर्क-पद्धति है और उसमें एथेंस के जीवन पर गणितीय दृष्टि से विचार किया गया है और इस सब में पायथागोरस का प्रभाव झलकता है। ध्यान देने की बात है कि क्लीस्थेनीज़ का सामॉस से संबंध रहा था और यह सामॉस ही पायथागोरस का घर था। यह शुद्ध अनुमान है। चौथी शताब्दी तक यूनानी राजनीति पर पायथागोरसवाद का कोई असर नहीं दीख पड़ता और उसके बाद जो असर दिखाई देता है वह पायथागोरस का नहीं, बल्कि उसके परवर्त्ती अनुयायियों का है। थीब्स उनके प्रभाव में आ गया था। पायथागोरस का अनुयायी लीसियस, एपामिनोन्डास का गुरु था और एपामिनोन्डास उसे पिता कहता था। अरिस्टाटल ने लिखा है कि थीब्स में "जैसे ही शासक दार्शनिक हो गए, वैसे ही नगर फलने-फूलने लगा"[1]। टारेन्टम का आर्कीटस चौथी शताब्दी में पायथागोरस का एक प्रसिद्ध अनुयायी था। अपने नगर में वह एक लंबे अरसे तक सबसे शक्तिशाली व्यक्ति रहा। सात बार वह वहाँ का सेनापति बना—यद्यपि विधि इसके प्रतिकूल थी। हो सकता है आर्कीटस जैसा आदमी—जो अपने नगर का सेनापति भी था और टारेन्टम में अपने उद्यान में अपने शिष्यों को दर्शन-शास्त्र की शिक्षा भी देता था—**रिपब्लिक** के लिए सहज आदर्श रहा हो और जब हम यह सोचते हैं कि जिन दिनों प्लेटो ने अपना ग्रंथ

---

[1] अरिस्टाटल, र्‌हेटोरिक 11. 23, § 11.

रचा उन दिनों आर्कीटस टारेन्टम में रहता था और एपामिनोन्डास थीब्स में, तो **रिपब्लिक** का व्यावहारिक पहलू निश्चित रूप से स्पष्ट होने लगता है[1]।

जब हम पायथागोरसवाद के इतिहास से एशिया माइनर के आरंभिक आयोनियाई दार्शनिकों पर आते हैं और यह जानने का प्रयास करते हैं कि उन्होंने अपने भौतिक निष्कर्षों को राजनीतिक चिंतन पर कहाँ तक लागू करने का प्रयास किया, तो हम एक ऐसे विषय पर आ जाते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट है। यह हम देख ही चुके हैं कि आयोनियाई संप्रदाय के सदस्य भौतिकविद थे। उनके सामने मुख्य समस्या पदार्थ की थी। वे पदार्थ के प्रकट रूपों के मूल में निहित एकता का पता लगाना चाहते थे (वह एकता चाहे जल की हो, चाहे वायु की या अग्नि की)। यह पता लगाना कठिन है कि उनकी शिक्षा में और उनकी रचनाओं में मानव जीवन का कहाँ तक समावेश हुआ है। यह संभव है और यह कहा भी गया है कि **पेरी फिसिओस** शीर्षक समस्त रचनाओं में राजनीति का विवेचन है। इसका निश्चित साक्ष्य मिलता है कि हेराक्लिटस ने अपना प्रकृति-विषयक ग्रंथ तीन खंडों में लिखा था जिनमें से एक का विषय राजनीति है[2]। पर, राजनीति के विषय में हेराक्लिटस (500 ई० पू० के लगभग) के जो लिपिबद्ध वक्तव्य हैं, उनमें किसी राजनीतिक सिद्धांत का संकेत नहीं मिलता, बल्कि वे सात संतों की शैली की असंबद्ध सूक्तियों जैसे हैं। सृष्टि के भौतिक नियमों की वह भावना जिससे प्रेरित होकर उसने कहा था कि यदि सूर्य अपने मार्ग से विचलित हुआ, तो फ्यूरियाँ* उसे नीचे गिरा देंगी, इस वचन में भी प्रतिबिंबित होती है कि लोगों को अपनी विधि के लिए उसी प्रकार संघर्ष करना चाहिए जिस प्रकार वे अपने नगर की प्राचीरों के लिए संघर्ष करते हैं। हेराक्लिटस के पूर्ववर्ती एनाक्जिमेंडर ने भी कहा है कि "भौतिक तत्त्व न्याय द्वारा दिया हुआ दंड भोग रहे हैं और अपने अन्याय के लिए एक दूसरे को जुर्माना चुका रहे हैं"। एनाक्जिमेंडर के इस वक्तव्य में जगत की विधि और राज्य की विधि का साम्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार उसने परिवर्त्तन के व्यापार की व्याख्या की है। किंतु, एनाक्जिमेंडर तो मानव-जगत और पदार्थ-जगत की समांतरता दिखा रहा है और लगता है हेराक्लिटस भी इस समांतरता से आगे नहीं बढ़ा है। वह पदार्थ और मनुष्य

---

[1] प्लेटो आर्कीटस को व्यक्तिगत रूप से जानता था। आगे, अध्याय 6 में खंड (क) देखिए।

[2] डायोगेनीज़ लायर्टियस, IX. 5। यह ग्रंथ तीन खंडों में विभक्त है—एक प्रकृति के संबंध में है, दूसरा राजनीति के संबंध में, और तीसरा धर्म के संबंध में। डायोगनीज़ का कहना है कि एक टीकाकार डियोडोटस के विचार से यह कृति प्रकृति के संबंध में नहीं बल्कि राजनीति के संबंध में है। जिस कृति को प्रकृति संबंधी कहा गया था, वह एक दृष्टांत अथवा निदर्शन मात्र थी। यह बात कितनी भी ग़लत हो, पर है रोचक। इससे ज्ञात होता है कि एक टीकाकार का यह विश्वास था कि हेराक्लिटस भौतिकी के क्षेत्र तक पहुँच गया था। आगे एंटीफ़ोन के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसे भी आगे पृ० 104—6 पर देखिए।

* यूनानी पुराणकथा में रोष की अधिष्ठात्री देवियाँ जिनकी संख्या तीन मानी गई है।

की आत्मा की तुलना करता है और इस सिद्धांत का प्रतिपादन करता है कि दोनों का ही समान आधार-तत्त्व अग्नि है। आखिरकार, वह है तो एक आयोनियाई भौतिकविद ही। और उसके दर्शन की अधिक से अधिक पहुँच यहीं तक है कि वह पदार्थ की भौतिक गठन और आत्मा की भौतिक गठन के बीच एक समांतरता स्थापित करता है और यह समांतरता एक अभेद की स्थिति तक खींची गई है। अग्नि और जल का शाश्वत विरोध है। अग्नि जीवन का स्रोत है और जल मृत्यु का। "सभी वस्तुओं का जन्म संघर्ष से होता है"। लेकिन, मनुष्य और जगत दोनों का कर्त्तव्य है अग्नि की साधना करना···यही दोनों का 'न्याय' है और यही दोनों का सत्य। सत्य का निवास समान और अभिन्न तत्त्व 'तोक्सीनॉन' (सामान्य)* में है। यह सत्य अग्नि है—प्राकृतिक जगत में भी और मनुष्य की आत्मा में भी। यह प्राणप्रद अग्नि सभी वस्तुओं में व्याप्त है। "जिस प्रकार नगर को विधि पर स्थिर रहना चाहिए, उसी प्रकार विचारक को अपने ज्ञान का नहीं, प्रत्युत इसी अग्नि का सहारा लेना चाहिए"। "एक दैवी विधि ही समस्त मानवीय विधियों को सँभाले हुए है। इसमें असीम शक्ति है और उन सबके लिए वह काफ़ी है, बल्कि काफ़ी से अधिक है।" इस प्रकार, संसार की भौतिक विधि से मानवीय विधियों की व्याख्या हो जाती है, भौतिक विधि नैतिक संसार की विधियों को अनुप्राणित करती है। अन्य विधियों का उद्भव उसी एक विधि से हुआ है। वे आत्मा और संसार के समान तत्त्व की प्रतिमूर्त्ति है और वह तत्त्व है अग्नि। चिंतन की इसी धारा ने हेराक्लिटस को अभिजात स्वभाव अपनाने की प्रेरणा दी। "यद्यपि ज्ञान सबकी चीज़ है, लेकिन, बहुत से लोग इस प्रकार रहते हैं मानों ज्ञान उनका अपना हो," पर "जन साधारण में क्या ज्ञान अथवा बुद्धि होती है? बहुत लोग बुरे होते हैं, केवल कुछ लोग अच्छे हैं"। एफ़ेससवासियों† को चाहिए कि अपने आप को फाँसी पर लटका दें—उन्होंने हरमोडोरोस को—जो उनमें सबसे अच्छा आदमी था—यह कह कर निकाल दिया कि "हमारे बीच में कोई श्रेष्ठ आदमी नहीं होना चाहिए" फिर भी "यदि कोई श्रेष्ठ आदमी हो, तो मेरे लिए वह अकेला ही दस हजार आदमियों के बराबर है"। जिसने अपनी आत्मा को 'रूखा' रखा हो और जो अग्नि के ही आसरे रहा हो, वही मनुष्य का प्रकृत शासक है। यहाँ हेराक्लिटस में हमें कुछ प्लेटो की-सी बात दिखाई पड़ती है। जो व्यक्ति सार्वभौम तत्त्व पर अडिग रहा हो (प्लेटों की शब्दावली में जिसने 'श्रेय'-भाव का साक्षात्कार कर लिया हो), वह दूसरे दस हजार लोगों से अच्छा है। और फिर, हेराक्लिटस में स्टोइकों के सर्व-राष्ट्रवाद (cosmopolitanism) का भी कुछ अंश है: 'ज्ञानी' उस सार्वभौम तत्त्व पर अटल रहने के कारण ही ज्ञानी है जो संसार में व्याप्त है। और, अंततोगत्वा, ऐसे ही व्यक्ति का आदर्श राज्य वह राज्य होगा जो संपूर्ण संसार को अपने में समेट ले।

---

* यूनानियों की धारणा के अनुसार वह सार्वभौम तत्त्व जो जड़-चेतन में, सारे चराचर में समान रूप से पाया जाता है, कुछ-कुछ ब्रह्म की तरह।

† एफ़ेसस एशिया माइनर के तट पर स्थित आयोनिया के मुख्य बारह नगरों में से एक था। यहाँ आर्टेमिस नामक देवता का एक बड़ा प्रसिद्ध मंदिर था।

कुछ आयोनियाई दार्शनिकों ने वास्तविक राजनीति पर भी प्रभाव डाला था। यदि हम ज़ेनोफ़ेन्स की भी दार्शनिकों में गणना करें, तो यहाँ तक कह सकते हैं कि उनसे से एक में व्यावहारिक प्रेरणा प्रबल थी। वह छठी शताब्दी के अंत में विद्यमान था और अपने करुण-काव्य की सर्जना कर रहा था। यह वह समय था जब यूनान और फ़ारस-अधीन पूर्व के बीच की खाई चौड़ी होती जा रही थी। उस समय उसके देशवासियों का पूर्व से घनिष्ठ संबंध था। डेल्फ़ी की धर्म-सुधार-संबंधी शिक्षाएँ देकर उसने उन्हें मुख्य देश के यूनानियों के धरातल पर लाने का और पूर्व से अलग करने का प्रयास किया। इस प्रकार, उसने अपने साथी देशवासियों की स्थिति सुदृढ़ करने की चेष्टा की। आयोनिया के धर्म-निरपेक्षतावाद (secularism) ने देवताओं के प्रति तत्कालीन विश्वासों को डिगा दिया था। उन दिनों देवताओं का निरूपण चोरों और व्यभिचारियों के रूप में किया जाता था और इससे बुराई बढ़ती थी। ज़ेनोफेन्स के मन में ऐसी चीज़ों के प्रति नैतिक रोष था। उसने आयोनियाई विज्ञान के परिणामों का प्रयोग करते हुए बहुदेववाद (Polytheism) पर प्रहार किए और उसके उपास्य देवताओं के अस्तित्व तक को मिथ्या प्रमाणित किया, और किसी आयोनियाई का व्यावहारिकता के प्रति इतना निश्चित रुझान नहीं था। परंतु, अपने आपको दार्शनिक कहने वालों में भी कुछ ऐसे ज़रूर थे जिनकी व्यावहारिक मामलों में कुछ न कुछ दिलचस्पी थी। कहते हैं हेराक्लिटस ने एफ़ेसस के राजनीतिक जीवन में कोई भाग लेने से इनकार कर दिया था, लेकिन फिर भी वह एफ़ेसस का 'राजा' था, रहस्यों की एक शाखा का पुजारी था। यह भी कहा जाता है कि आयोनिया के पहले भौतिकविद थेलस (585 ई० पूर्व के लगभग) ने एशिया माइनर के आयोनियाइयों से आग्रह किया था कि वे मिलकर एक संघ बना लें जिसकी राजधानी टिओस में हो[1]। इसका साक्ष्य हेरोडोटस है। संघात्मक राज्य का सुझाव बहुत मार्के का है। थेलस की भाँति ही पाँचवीं शताब्दी के एलियाई दार्शनिकों ने भी राजनीति पर प्रभाव डाला था। वे तब तक प्रचलित संपूर्ण भौतिक दर्शन के विरुद्ध विद्रोह के प्रतिनिधि थे। कहा जाता है कि पारमेनिडेज़ ने एलिया की विधियाँ बनाई थीं। स्ट्रेबो के अनुसार उसका शिष्य ज़ेनो अपने राज्य के कल्याण में दत्तचित रहा और उसने एक अत्याचारी शासक के विरुद्ध राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा का प्रयास किया। एग्रिजेंटम के एम्पेडोक्लीज़ के बारे में भी—जो

---

[1] अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के पहले खंड में कोल्हुओं के एकाधिकार की कहानी से व्यावहारिक ज्ञान का दृष्टांत दिया है*।

* यह कहानी **पॉलिटिक्स** के पहले खंड के ग्यारहवें अध्याय में दी गई है। इसके अनुसार दार्शनिक थेलस को उसकी निर्धनता के कारण उलाहना दिया जाता था और कहा जाता था कि उसकी इस अकिंचनता से दर्शन-शास्त्र का निकम्मापन सूचित होता था। थेलस ने इस प्रवाद का निवारण करने के लिए अपने नक्षत्र-ज्ञान के आधार पर पहले से यह जान लिया था कि आगामी ग्रीष्म-ऋतु में जैतून की अच्छी फसल होने वाली है और उसके पास जो भी थोड़ा-बहुत पैसा था, उसने उससे जैतून को पेरने वाले सारे कोल्हुओं का बयाना देकर ठेका ले लिया। फसल का समय आने पर कोल्हुओं की बहुत माँग हुई और उसने कोल्हुओं को मनचाहे किराए पर उठाकर प्रचुर धनराशि एकत्रित करली।

कवि, दार्शनिक और जीव-वैज्ञानिक था—कुछ ऐसी ही गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। उसका किसी भी संप्रदाय से सरोकार न था। लगता है कि वह अपने नगर में लोकतंत्र का नेता था और समानता का समर्थक था। उसने एग्रिजेंटम की 'सहस्र-सभा' नष्ट कर दी थी। उससे राजा बनने का आग्रह किया गया था, लेकिन उसने इनकार कर दिया।

(ग) भौतिकविदों से मानववादियों तक की यात्रा

जब हम पाँचवीं शताब्दी के अंतिम चरण के एथेंस की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो भौतिक चिंतन से स्वतंत्र वास्तविक राजनीतिक चिंतन के हमें पहली बार दर्शन होते हैं। भौतिक दार्शनिकों ने राजनीतिक चिंतन की ओर चाहे कितना भी ध्यान दिया हो, फिर भी उनका राजनीति-सिद्धांत उनकी ब्रह्मांड-विद्या **(cosmology)** की ही उपज था। जिस आधारभूत भौतिक तत्त्व से इस परिवर्त्तनशील संसार का जन्म हुआ है, उसे ढूंढ निकालने के प्रयास में संयोगवश वे राजनीति-सिद्धांत का भी आख्यान कर देते थे। जब हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि पाँचवीं शताब्दी के अंतिम दौर में एथेंसवासियों के सोचने की दिशा क्या थी, तब हमारे सामने मानो ऐसे लोग आते हैं जिनके चिंतन का मुख्य विषय राजनीति और मानव के आचरण और संस्थाओं का संसार है। यदि वे भौतिकी की ओर मुड़ते हैं, तो 'दृष्टांत के लिए', अपने राजनीतिक विचारों के लिए उदाहरण प्राप्त करने के उद्देश्य से[1]। पेरीक्लीज़ के उत्कर्ष-काल में एनाक्ज़ागोरस अपने साथ एथेंस में भौतिक विज्ञान लाया था। उसकी नीति थी कि एथेंसवासियों में "मन का कुछ-कुछ

---

[1] हमने एनाक्जिमेंडर और हेराक्लिटस के बारे में अभी-अभी जो कुछ देखा है, यह बात उसके विपरीत है। वे अपने विवेचन में राजनीति से भौतिकी तक या कम से कम मानव से पदार्थ तक पहुँचे थे, अब यह विवेचन भौतिकी से राजनीति तक पहुँचता है। यूरिपिडीज़ (538–551) के फाएनिस्साए में इस तरह की युक्ति की कुछ झलक मिल जाती है। वहाँ यह युक्ति दी गई है कि जैसे अपनी यात्रा मे रात और दिन समान रूप से बदलते रहते हैं, एक दूसरे का स्थान ग्रहण करते रहते हैं, वैसे ही राज्य में भी पद की समानता और अदल-बदल होती रहनी चाहिए। इसी प्रकार, रिपब्लिक में प्लेटो ने स्त्रियों और पुरुषों के लिए समान राजनीतिक कर्त्तव्यों का निर्धारण उचित ठहराने के लिए कुत्ते के स्थूल सादृश्य का प्रयोग किया है। अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के प्रथम खंड में दासता को उचित ठहराया है और इसके लिए ऐसे उदाहरण दिए हैं कि इसी प्रकार की अधीनता प्रकृति में भी है। मैंने प्रथम

वैसा खुलापन और लचीलापन आए जो समुद्र-पार बसने वाले उनके सजातियों का विशेष गुण है, और अपनी इसी नीति के एक अंग के रूप में उसने एथेंस में आयोनिया के दर्शन का प्रवर्त्तन किया होगा"[1]। डायोगनीज़ लार्यटियस का कहना है कि एथेंस का आर्कीलायस—जो एनाक्ज़ागोरस का शिष्य और परंपरा के अनुसार साक्रेटीज़ का गुरू था—विधि और, न्याय पर भाषण देने वाले भौतिकविदों में अंतिम और नीतिशास्त्रियों में प्रथम था। मानवीय व्यापार-जगत में प्रकृति और रूढ़ि के बीच सबसे पहले उसी ने प्रसिद्ध विभाजक-रेखा खींची और शिक्षा दी कि "साधु और असाधु रुढ़ि द्वारा होते हैं, प्रकृति द्वारा नहीं"[2]।

स्वाभाविक था कि यूनानी—और विशेष कर एथेंसवासी—व्यापक सृष्टि की पहेली से लघुतर सृष्टि की पहेली के विचार पर आ गए (उनके विचारकों ने सबसे पहले महत्तम से ही चिंतन शुरू किया था) और राज्य की प्रकृति तथा व्यक्ति के साथ उसके संबंध के बारे में छान-बीन करने लगे। जब आयोनियाई भौतिकविद भौतिक पदार्थ के रहस्य को सुलझाने की और उसके समस्त परिवर्त्तनों का एक आधार ढूंढने की कोशिश कर चुके, तो प्रतिक्रिया-स्वरूप उनका मानव-अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त होना अनिवार्य था। इस प्रतिक्रिया के स्रोत वे लोग थे जिनकी भौतिक विज्ञान की अपेक्षा मानव-प्रकृति में अधिक रुचि थी[3]। यहाँ हम यह आशा कर सकते थे कि जब यूनानी विचारक भौतिक वस्तुओं की ओर बढ़ेंगे तो वे सबसे पहले राज्य का अध्ययन करेंगे क्योंकि वे राज्य को एक नैतिक व्यवस्था मानते थे और प्रत्येक नागरिक को उसका सदस्य। लेकिन, पाँचवीं शताब्दी के अंतिम चरण के सोफ़िस्ट हमारी इस आशा को मिथ्या प्रमाणित करते मालूम पड़ते हैं[4]। उनकी शिक्षा में (कम से कम उन सोफ़िस्टों की शिक्षा में जिनकी प्लेटो ने चर्चा की है) अनासक्ति है—यहाँ तक कि व्यक्ति की महिमा के गीत भी गाए गए हैं। राजनीतिक चिंतन इतना विकसित मालूम पड़ता है कि व्यक्तिवाद का स्पर्श कर लेता है। एक नई और क्रांतिकारी

संस्करण में बहुत अव्यक्त रूप से एक जर्मन लेखक (डमलर, **प्रोलीगोमिना जु प्लेटोन्स स्टाट**) का अनुसरण किया था। उसका कहना है कि **फाएनिस्साए** के अवतरण और यूरिपिडीज के अन्य नाटकों के अवतरणों के मूल में एक राजनीतिक ग्रंथ है जिसका यूरिपिडीज़ ने उपयोग किया था। इस ग्रंथ के लेखक ने संसार की और राज्य की व्यवस्था की तुलना करते हुए विधि की प्रभुसत्ता के अधीन कार्य करने वाले लोकतंत्रात्मक राज्य के सिद्धांत को उचित ठहराने का प्रयत्न किया है। यह संभवतः मूल स्रोत की खोज को बहुत दूर तक ले जाना है। जर्मन लेखकों की कुछ ऐसे राजनीतिक प्रबंध ढूंढ निकालने की प्रवृत्ति होती है जिनके बारे में यह कहा जाता हो कि वे वे पेलोपोनेशियाई युद्ध के दौरान एथेंस में लिखे गए थे। आगे पृ० 121—3 से तुलना कीजिए।

1. वर्नेट, **अर्ली ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 277।
2. रिटर और प्रेलर (आठवाँ संस्करण), § 218 b.
3. वर्नेट, **ग्रीक फिलॉसफी**, पृ० 101।
4. पर दरअसल इस सबके बावजूद सोफ़िस्टों का राज्य में विश्वास है। लेकिन, शर्त्त यह है कि राज्य का सुधार और पुनर्निर्माण कर दिया जाए। आगे अध्याय 8, खंड (क) देखिए।

भावना दिखाई पड़ उठती है। अब तक 'प्रकृति' की संकल्पना का प्रयोग रूढ़ अर्थ में किया जाता था। यदि उसने कुछ काम किया था, तो यह कि वर्त्तमान व्यवस्था को उचित ठहराया था और बहुसंख्यकों की चिर परंपरागत इच्छा की रक्षा की थी। पायथागोरस के अनुयायियों ने 'प्रकृति' की अपनी व्याख्या में न्याय का आधार खोज निकाला था : हेराक्लिटस सार्वभौम तत्त्व की स्थिरता के आधार पर मानव-विधि की महिमा पर ज़ोर दिया था। जब हम सोफ़िस्टों पर आते हैं, तब भी हम पाते हैं कि 'प्रकृति' एक प्रचलित शब्द तो है लेकिन उसके अर्थ का विपर्यय हो गया है। यह विधि अथवा रूढ़ि के विरोध में है और इससे हमें एक ऐसी कसौटी मिल जाती है जिसके आधार पर राज्य और उसकी विधि की परख की जाती है और उसकी कमियों का पता लगाया जाता है। यह महान् परिवर्त्तन कैसे हुआ ?

●

अध्याय 4

सोफ़िस्टों का राजनीति-सिद्धांत

(क) नैतिक और राजनीतिक चिंतन का उत्थान
(ख) सोफ़िस्टों के सामान्य लक्षण
(ग) प्रोटेगोरस और शुरू के सोफ़िस्ट
(घ) प्रकृति और विधि का विरोध
(ङ) सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन
(च) सोफ़िस्ट-सिद्धांतों के विषय में प्लेटो का विवरण
(छ) सामान्य प्रतिमा-भंजन
(ज) पैम्फ़लेटनवीस और कल्पना-राज्यवादी
(झ) परिशिष्ट—सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन के 'ऑन ट्रुथ' ग्रंथ से दो अवतरण

अध्याय 4

सोफ़िस्टों का राजनीति-सिद्धांत

(क) नैतिक और राजनीतिक चिंतन का उत्थान

यूनान के आरंभिक चिंतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह थी कि राज्य की व्यवस्था को और उन नियमों को जिन्हें वह लागू करता था बिना न-नुच और बिना शंका के स्वीकार कर लिया जाता था। लोग पुरानी प्रथाओं के अनुरूप जन्मते थे, पलते-बढ़ते थे और मर जाते थे। ये प्रथाएँ कब अस्तित्व में आईं—इसकी किसी को कोई जानकारी न थी। एक हल्का-सा अहसास इस बात का होता था कि वे दैवी प्रथाएँ हैं। यह निश्चित रूप में माना जाता था कि वे हमेशा से रहीं हैं और उनमें कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। अभी तक बाकायदा कोई विधि नहीं बनाई गई थी। मनुष्य-जीवन का संचालन अचल प्रथा या नीति के अनुरूप होता था। मानव-जीवन की अटल व्यवस्था का भाव इतना प्रबल था कि उसकी तुलना में अपनी चिर चंचलता और परिवर्त्तन, तड़ित और झंझावात से युक्त धरती का जीवन अस्थिर और अनिर्दिष्ट-सा लगता था। मानव-जीवन में सब कुछ नियत था। आपने यह किया और उसका यह परिणाम निकला। प्रकृति में यह नहीं था। "मनुष्य विधि और प्रथा के मंत्रपूत घेरे में रहता था और चारों ओर का संसार विधिहीन था"[1]। यह हम देख ही चुके हैं कि एनाक्जिमेंडर जैसे विचारक के लिए भौतिक संसार में व्यवस्था की कल्पना करना संभव था—यह दिखाकर कि संसार के सब परिवर्त्तनों के मूल में न्याय का सिद्धांत है और यह तर्क देकर कि चूंकि मानवी विधि का अस्तित्व असंदिग्ध है, अतः संसार में भी विधि के अस्तित्व की संभावना हो सकती है। दूसरी ओर, जब विचारकों ने यह देख लिया कि संसार में एक विधि का अस्तित्व है, तब उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे उससे मिलते-जुलते और उसी तरह से मान्य मानव-विधि का स्पष्टीकरण करने और उसका समर्थन करने के लिए उसका प्रयोग करते। लेकिन, इसके बावजूद, इतिहास की गति धीरे-धीरे मानव-व्यवस्था की

---

[1] बर्नेट, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स, VII. 328 और क्रमशः (तुलना कीजिए, ग्रीक फिलॉसफ़ी, पृ० 105—7)।

स्थिरता को नष्ट करती जा रही थी। नई-नई बस्तियाँ बसाने के फलस्वरूप मनुष्य के हाथों नए राज्य बने जिनमें नई-नई विधियाँ लागू हुईं। फलतः लोग प्रथा के पुराने परिधान से मुक्त होते जा रहे थे, परंपरागत स्थिरता भंग होती जा रही थी। ऐसे समय में एक नए धार्मिक आंदोलन का जन्म हुआ, नया कर्मकांड आया, 'रहस्यों' का एक नया विधान पैदा हुआ। नतीजा यह हुआ कि कहीं-कहीं तो राज्य से स्वतंत्र धार्मिक समाजों का उद्‌भव हुआ और कहीं—जैसे एथेंस में—राज्य के धर्म में परिवर्त्तन हुआ और उसने नए कर्मकांड को भी अपने घेरे में लपेट लिया। अनेक राज्यों में विधिकर्त्ता सक्रिय हो उठे। किसी सोलोन ने अथवा किसी केरोनडास ने एथेंस या केटाना को विधियाँ दीं। यहाँ स्पष्ट रूप से विधि का निर्माण मनुष्य द्वारा हुआ था। क्या संपूर्ण विधि इसी प्रकार बनी थी? क्या विधिकर्त्ताओं ने ही सर्वत्र विधियाँ निर्धारित की थीं? क्या सभी जगह विधियाँ लोगों के द्वारा अंगीकृत हुई थीं? अगर ऐसा था, तो सहज ही निष्कर्ष निकलता था कि राज्य और उसकी विधि या तो किसी विधिकर्त्ता की सृष्टि थी या किसी अंगीकारी जाति की रूढ़ि। कुछ भी हो, यह स्पष्ट था कि जो विधि लागू हुई, वह अलग नगरों में अलग-अलग थी और लोगों को यह सहज जिज्ञासा हुई कि क्या उसके समस्त परिवर्त्तनों के मूल में कोई एक आधार अथवा प्रकृति है? पदार्थ की जिस समस्या से आयोनियावासी जूझते रहे थे, वह अब मानव की समस्या बन गई थी। अब हमारे सामने मानवीय वस्तु-जगत में प्रकृति अथवा नित्य एकता और विधि अथवा रूढ़िगत अनेकता के परस्पर-विरोधी पक्ष उभर कर आते हैं। आयोनियाई दार्शनिकों ने एक और नित्य भौतिक आधार तथा गोचर सृष्टि के अनेक एवं अनित्य भौतिक 'रूपों' के बीच जो भेद किया था, यह विरोध उसी के अनुरूप है।

जहाँ इतिहास की गति ऐसे परिणामों की ओर ले जा रही थी, वहीं मानव-ज्ञान के विकास की प्रवृत्ति भी उसी दिशा में थी। यात्रियों ने बहुत-सी नई सामग्री एकत्रित की थी और इतिवृत्तकारों (logographers) ने उसे लिपिबद्ध किया था। विभिन्न जातियों और कबीलों की प्रथा के बारे में बहुत-कुछ ज्ञात था और पाँचवीं शताब्दी के एथेंस में मानव-विज्ञान (anthropology) की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था[1]। प्रकृति-पुत्रों की मोहक प्रथाओं, और निष्कलुष हाइपरबोरियाइयों या निर्विकार लीबियाइयों का, साम्यवाद अथवा संकरता के पक्ष में दलीलों के रूप में समाज-सुधारक प्रयोग कर सकते थे। यदि मानव-विज्ञान के अध्ययन से कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकलता तो असंस्कृत प्रथाओं की अनंत विविधता देख कर मनुष्य किसी प्राकृतिक या सार्वभौम विधि के अस्तित्व के बारे में अवश्य संदेह करता। प्रकृति के नियम जो कल थे, वही आज हैं, जो यूनान में हैं, वही फ़ारस में हैं। आग हर जगह और हर समय जलाती है। लेकिन, विवाह-संस्कार या मृतक-संस्कार

---

[1] हेरोडोटस की रचनाओं में मानव-विज्ञान विषयक सामग्री की प्रचुरता इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

की दसियों प्रथाएँ थीं, सैंकड़ों थीं[1]। ऐसी कोई चीज़ नहीं थी जिसे सर्वत्र 'समान और समरूप' समझा जाता। यहाँ कोई भी चीज़ ऐसी न थी जो प्रकृति की सृष्टि होती। यहाँ तो सब कुछ मनुष्य की सृष्टि थी। विधि रुढ़ि थी; खुद राज्य संविदा पर आधारित था[2]। अस्तु, भौतिकी के अध्ययन की प्रवृत्ति समस्त पदार्थ के मूल में रहने वाले एक आधार की धारणा की ओर थी तो मानव-जगत का मानव-वैज्ञानिक अध्ययन संस्थाओं की अनंत विविधता का निर्देश करता था। अब पुराना संबंध उलटा हो गया। प्रकृति एक विधि का पालन करती थी, मनुष्य अनेक विधियों के बीच में झूलते रहते थे भौतिकी और मानव-विज्ञान एक दूसरे के विरोध में थे और उनका विरोध इस तरह प्रकट हुआ कि प्राकृतिक विधि तथा मानव-प्रथा में परस्पर द्वंद्व पैदा हुआ। शायद अंशतः इसी तरह से इन दोनों शब्दों को—जिनमें से एक का स्रोत प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन है और दूसरे का मानव-संस्थाओं का अध्ययन[3]—परस्पर विरोधी समझा जाने लगा।

पाँचवीं शताब्दी में इतिहास की गति बड़ी तीव्र और सप्राण थी—उसके कारण परिवर्त्तन अनिवार्य हो गया। यह आवश्यक था कि राष्ट्र-रक्षा के महान् प्रयत्न—जैसे फ़ारस के युद्ध—राष्ट्रीय और व्यक्तिगत आत्मा-चेतना को बढ़ा कर, विचार स्वातंत्र्य को प्रोत्साहन देते। अरिस्टाटल का कहना है, "फ़ारस के युद्धों के पश्चात् अपनी सफलताओं पर गर्व करते हुए लोग नए-नए क्षेत्रों में आगे बढ़ते गए। वे संपूर्ण ज्ञान को अपना क्षेत्र मानने लगे, उनके लिए उसमें कोई भेद न रह गया और

---

1. हेरोडोटस का ध्यान मृतक-संस्कार की प्रथा के भेदों की ओर गया है। यूरिपिडीज़ ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं कि कुछ लोगों को तो शव-यात्रा के समय हर्ष होता है और कुछ को शोक। बर्नेट के अनुसार हेरोडोटस ने अपने संशय के कारण इस बात पर ज़ोर दिया है कि अगर कोई ऐसी चीज़ है जो निश्चित और निर्भ्रांत हो, तो वह है रुढ़ि, सिर्फ़ रुढ़ि। (**ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 107)।
2. इन विचारों को भाषा की समस्या के ऊपर भी लागू किया गया। एक ओर तो यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि मनुष्य के सहज उद्गारों के रूप में भाषा का प्राकृतिक उद्‌भव हुआ था। दूसरी ओर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया कि भाषा की उत्पत्ति एक ऐसी संकेतावलि के रूप में हुई थी जिसके बारे में विचार-विनिमय की सुविधा के ख़्याल से लोग सहमत हो गए थे। देखिए, गम्पर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स**, अँग्रेजी अनुवाद के आधार पर, I. 394 और क्रमशः।
3. सोफ़ोक्लीज़ के एंटीगॉन से एक और ऐसे पथ का निर्देश होता है जिस पर चल कर लोगों ने प्रकृति और विधि में भेद किया। राज्य की विधि एंटीगॉन को अपने भाई को दफ़नाने से रोकती है। पर, उच्चतर विधि की प्रेरणा है कि वह उसे दफ़नाए। "अलिखित विधियाँ—जिनका स्रोत मनुष्य मात्र को अज्ञात है"—राज्य की विधियों से ऊपर होनी चाहिएँ (**एंटीगॉन**, 453–7; तुलना कीजिए, **ओडीपस टिरेनस**, 865 और क्रमशः)। लगता है कि विधियों के द्वंद्व की समस्या ने सोफ़ोक्लीज का ध्यान आकृष्ट किया है। **एजाक्स** में यह समस्या फिर उभर कर आती है।

वे अपने अध्ययन को व्यापक से व्यापकतर बनाते गए"[1]। एथेंस का यह जागरण एलिज़ाबेथ-कालीन इँगलैंड के जागरण के सदृश था और अन्य स्थानों की अपेक्षा एथेंस में वह अधिक सप्राण था। स्वातंत्र्य-युद्ध के तुरंत बाद राजनीतिक परिवर्त्तन हुए। डेलियाई लीग के प्रभुत्व ने एथेंसवासियों के गर्व को और प्रबल कर दिया। खुद एथेंस में जो राजनीतिक परिवर्त्तन हुए, उनके कारण सभा और अदालतों के रूप में लोगों को चर्चा-परिचर्चा के लिए खुला क्षेत्र मिल गया। ऐसी स्थिति में सोचने-विचारने की योग्यता और विचारों को व्यक्त करने की क्षमता का व्यावहारिक महत्त्व हो गया। इस नई आत्म-चेतना को प्रकट करना और नए विचारों की तथा उन्हें व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दों की व्यावहारिक माँग को पूरा करना सोफ़िस्टों का ही काम था।

---

[1] **पॉलिटिक्स**, 1341, a 30–2. यहाँ प्रसंगवश यह भी कह दिया जाए कि फ़ारस के युद्धों ने डेल्फ़ी के प्रभाव को बड़ा भारी आघात पहुँचाया और यूनानी मानस पर धर्म का प्रभाव कम करने में बहुत योग दिया। "अपोलो तटस्थ रहा और यह बहुत शर्म की बात थी"। (ज़िमर्न, पू० कृ०, पृ० 177)। यूनान की रक्षा "आदमियों ने की, देवताओं ने नहीं"। धर्म का स्थान मानववाद ने ले लिया। सोफ़ोक्लीज़ ने गाया : "शक्तिशालियों में मनुष्य से अधिक आश्चर्यजनक शक्ति किसी में भी नहीं है—उसने भाषा सीखी है, उसके विचारों में पवन का वेग है और वह नगर-निवास की पद्धतियों से परिचित है"। (एंटीगॉन, 332, 355–6)।

(ख) सोफ़िस्टों के सामान्य लक्षण

जिस प्रकार यह नया आंदोलन व्यापक और सामान्य था, उसी भांति सोफ़िस्टों का कार्य भी व्यापक और सामान्य था। इन सोफ़िस्टों ने पाँचवीं शताब्दी के अंतिम दौर में एथेंस में इस आंदोलन के शिक्षक बनने का प्रयास किया था। सोफ़िस्टों में से कुछ वैय्याकरण थे। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति का आधारभूत प्रश्न उठाया; उसका निर्माण मनुष्य ने किया है या वह प्रकृतिजन्य है। कुछ तार्किक थे। वे 'अभिन्न' और 'भिन्न' जैसी संकल्पनाओं पर विचार करने के लिए अथवा प्रकथन (predication) के स्वरूप पर तर्क-वितर्क करने के लिए उत्सुक थे। उनमें से अधिकांश, और विशेष रूप से गॉर्जियाज़, भाषण-शास्त्री थे क्योंकि तरुण राजनीतिज्ञ के लिए भाषण-कला अभीष्ट होती है। और नीति तथा राजनीति के बारे में इनमें से अधिकांश के अपने विचार थे क्योंकि इन चीज़ों में हर आदमी दिलचस्पी लेता है। लेकिन, इन विचारों में बड़ी विविधता थी। कुछ लोग सुखवाद (hedonism) को मानते थे और कुछ परंपरागत नैतिकता को। कुछ लोग अत्याचारी शासन के समर्थक थे और कुछ विधि-शासन के। सोफ़िस्ट बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। "वे अपने समय के ऐतिहासिक कथाकार भी थे और थियोसोफ़िस्ट, संदेहवादी और शरीरक्रियाविद् (physiologists) भी"[1]। एलिस का हिप्पियास सोफ़िस्टों की बहुमुखी प्रतिभा का आदर्श था। एक बार ओलंपिक खेलों के अवसर पर वह अपने हाथ के बने कपड़े पहन कर मैदान में उतरा था। वह कवि भी था और गणितज्ञ भी, पुराकथाविद् भी था और नीतिवादी भी, संगीत का साधक भी था और कला का पारखी भी और वह हर क्षेत्र में एक अप्रतिहत लेखक था। महत्त्व इस बात का न था कि सोफ़िस्टों ने क्या शिक्षा दी (सोफ़िस्टों ने किसी एक संप्रदाय का निर्माण नहीं किया था, उनके विचार भी एक तरह के नहीं थे, वे सब के सब स्वतंत्र कार्यकर्त्ता थे)—महत्त्व इस बात का था कि उन्होंने शिक्षा दी और वे पेशे से यूनान के पहले शिक्षक थे और उनकी शिक्षा का उद्देश्य राजनीति में व्यावहारिक सहायता देना था।

---

[1] डमलर, प्रोलीगोमिना जु प्लेटोन्स स्टाट।

उनके महत्त्व का भी यही कारण था। सोफ़िस्टों के पास जाने का अर्थ था विश्वविद्यालय में जाना। यह विश्वविद्यालय ऐसा था जो उनको व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करता था और चूंकि व्यावहारिक जीवन राजनीति का जीवन था, इसलिए वह उनके राजनीतिज्ञ बनने की तैयारी कराता था—ठीक वैसे ही जैसे प्लेटो को आशा थी कि उसकी रिपब्लिक की शिक्षा-योजना उसके संरक्षक-वर्ग को तैयार करेगी। सोफ़िस्टों को आधे पत्रकार और आधे आचार्य कहा गया है;[1] वे आधे शिक्षक और विचारक तथा आधे प्रचारक थे—प्रचारक उन नई और विचित्र, विरोधाभास-पूर्ण और विस्मयजनक बातों के जो दूसरों का घ्यान अपनी ओर तुरंत आकृष्ट कर लें। वे कुछ ढोंगी थे और कुछ दार्शनिक। इसलिए, पहला निष्कर्ष तो यह निकला कि सोफ़िस्टों का कोई एक संप्रदाय नहीं था, उनके कोई निश्चित बँधे-बँधाए सिद्धांत नहीं थे। दूसरे, उनकी गतिविधि किसी एक विषय तक सीमित न थी वल्कि वे अनेक विषयों के आचार्य और शिक्षक थे। अभी दो निषेधात्मक स्थापनाएँ और रहती हैं। एक तो यह कि 'सोफ़िस्ट' शव्द से आधुनिक पाठक की जो अर्थ ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, वे उस अर्थ में सोफ़िस्ट नहीं थे यानी वे न तो कुतर्की थे और न अच्छी बात को बुरी सिद्ध करने के ही फेर में रहते थे। वे तो पेशेवर ज्ञान-व्यवसायी थे—जैसे कलाकार पेशेवर कला-व्यवसायी होता है, परंतु, पेशेवर होने के बावजूद उन्हें वेतन मिलना ज़रूरी नहीं था। प्लेटो और अरिस्टाटल ने सोफ़िस्टों की निंदा इसी कारण की है कि वे वेतन-भोगी थे। लेकिन, वास्तव में यह निंदा चौथी शताब्दी के सोफ़िस्टों की है (पाँचवीं शताब्दी के सोफ़िस्टों की नहीं)। ईसोक्रेटीज़ की भांति प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों ही अपने आपको चौथी शताब्दी के सोफ़िस्टों से भिन्न समझते थे और इस भेद का आधार उनके अनुसार यह था कि वे उदार भाव से संस्कारी कलाओं (liberal arts) की शिक्षा देते थे और सोफ़िस्ट व्यवसाय-प्रणाली की शिक्षा व्यवसायी भाव से देते थे। यह सही है कि पांचवीं शताब्दी के सोफ़िस्ट वेतन-भोगी थे—हालांकि वे अपने वेतन की राशि निश्चित करने का काम अकसर शिष्यों के ही ऊपर छोड़ देते थे—लेकिन, यह भी सही है कि वे मानविकी विद्याओं (humanities) की भी शिक्षा देते थे और यह कार्य—कम से कम मूलतः —वेतन के लिए ही नहीं करते थे। दूसरे, सोफ़िस्ट सामान्य रूप से आमूल परिवर्त्तनवादी (radicals) भी नहीं थे; न उनका युग वाल्टेयर, रूसो और विश्वकोशिविदों (Encyclopaedists)* के युग के समानांतर है। प्लेटो की रचनाओं में सोफ़िस्टों के संबंध में जो थोड़े-से निर्देश मिलते हैं, उनके आधार पर हमें

---

[1] गम्पर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स**,, अँग्रेजी अनुवाद के आधार पर, I, 413, 414।

* दिदरो, डी एलमबर्ट, क्वेज़्ने, टर्गट आदि अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी लेखकों का वह वर्ग जिसने फ्रांसीसी भाषा में विश्वकोश का संपादन किया था। इस विश्वकोश में अपने समय के योग्यतम विद्वानों की रचनाएँ संकलित थीं और इसमें अपने समय के संपूर्ण ज्ञान को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति की भूमि तैयार करने में इस ज्ञान-साहित्य का और इसके निर्माताओं का प्रमुख योग रहा था।

सोफ़िस्टों को राजनीति में भयंकर समतावादी (Levellers)* या नीति-शास्त्र में नीत्शे[1] के पूर्ववर्ती या धर्म में वाल्टेयर की भाँति अनीश्वरवादी (agnostics) नहीं मान लेना चाहिए। प्लेटो के **प्रोटेगोरस** नामक संवाद में प्रोटेगोरस के प्रति उसका जो स्वर है, उससे इसके विरुद्ध पर्याप्त चेतावनी मिल जाती है। सोफ़िस्टों की वास्तविक नवीनता इस बात में है कि उनमें आयोनियाई दर्शन के विरुद्ध उस प्रतिक्रिया का पहला अवस्थान प्रकट हुआ है जिसकी चर्चा हम कर आए हैं और जो भिन्न रूप में ही सही एलियाई दर्शन में फिर प्रकट हुई। अभावात्मक रूप से देखें तो उन्होंने इस प्रकार के दर्शन की निष्फलता को प्रमाणित करने का प्रयास किया—जैसे गॉर्जियाज़ और प्रोटेगोरस ने—और भावात्मक रूप से उन्होंने मानवीय वस्तुओं के बारे में जाँच-पड़ताल करने की कोशिश की और इस दृष्टि से वे सार्क्रेटीज़ से सहमत थे। उनकी इस नई जिज्ञासा का रुझान पूरी तरह से व्यावहारिक था। यूनान के समस्त विचारकों की भाँति उनका उद्देश्य भी सही जीवन जीने में व्यावहारिक सहायता देना था। वे 'श्रेय' अथवा व्यावहारिक बुद्धिमत्ता की शिक्षा देते थे और राज्यों तथा परिवारों के सही-सही प्रबंध की कला सिखाने का दावा करते थे[2]। वे अन्याय के आदर्श (Lehre des Unrechts) का नहीं, वल्कि न्याय के आदर्श (Lehre des Rechts) का प्रचार करते थे।

दूसरी ओर, उनके अपने उद्भव और एथेंस की उन राजनीतिक परिस्थितियों ने—जिनमें वे शिक्षा देते थे—कुछ कठिनाइयाँ पैदा कीं और उनकी शिक्षा विकृत हो गई। वे अधिकांश में विदेशी थे जो मेटिकों के रूप में एथेंस में रहते थे। उन्हें अन्यान्य मेटिकों की भाँति काफ़ी हद तक सामाजिक समानता तो मिल गई थी लेकिन वे राजनीतिक विशेषाधिकार से वंचित थे। गॉर्जियाज़ सिसली के लिओंटिनी नगर का था, प्रोटेगोरस अबडेरा का और थ्रेसीमेकस एथेंस साम्राज्य के थ्रेसिआई प्रदेश के काल्सीडॉन नामक स्थान का। हिप्पियास का एलिस से संबंध था और प्रोडिकस किओस द्वीप का था। वे लोग एथेंस इसलिए आए थे कि एथेनी साम्राज्य के कारण एथेंस यूनान का बौद्धिक केंद्र हो गया था। लेकिन, स्वाभाविक था कि एथेंस में उन्हें जो शिष्य मिले, वे धनी थे। धनिकों को स्वभावत: उन लोकतंत्रात्मक संस्थाओं से कोई

---

* इँगलैंड के गृह-युद्ध में संसद-समर्थकों की सेना का एक उग्र वर्ग जो आमूल वैधानिक सुधारों के पक्ष में था और चाहता था कि राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक आदि विविध क्षेत्रों में सभी लोगों को समान अधिकार प्राप्त हों।

[1] जब हेराक्लिटस यह कहता है कि ईश्वर शुभ और अशुभ से परे है, तो लगता है वह अधिकतर सोफ़िस्टों की अपेक्षा नीत्शे के अधिक निकट आ गया है। लेकिन, कुछ अन्य सोफ़िस्ट भी नीत्शे की विचारधारा को मानने वाले थे। आगे पृष्ठ 109—11 से तुलना कीजिए। सब मिलाकर प्लेटो का यह सूत्र (रिपब्लिक, 493) याद रखना समझदारी की बात होगी कि जो कुछ वातावरण में समाया हुआ था, सोफ़िस्टों ने उसी को ग्रहण किया और स्पष्ट कर दिया।

[2] **प्रोटेगोरस, 318 b–319 A; तुलना कीजिए, रिपब्लिक, 600 c।**

सहानुभूति नहीं थी जिनकी पेरीक्लीज़ ने एथेंस में प्रतिष्ठा की थी। सोफ़िस्ट कहते थे कि वे भाषण-कला और सामान्यतः व्यावहारिक योग्यता की शिक्षा देते हैं। धनी लोग ज्ञान तो प्राप्त करना चाहते थे पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए। वे भाषण-कला सीखना चाहते थे—इसलिए कि लोक-न्यायालयों में दोषारोपों से अपना बचाव कर सकें, व्यावहारिक योग्यता का अर्जन करना चाहते थे ताकि चुनावों पर नियंत्रण रख सकें, राज्य में वैसा प्रभाव जमा सकें जिसका वे अपने को अधिकारी समझते थे और संविधान को अल्पतंत्र की दिशा में मोड़ सकें। लोकतंत्रवादियों की दृष्टि में सोफ़िस्टों द्वारा सिखाई गई भाषण-कला ऐसी लगती थी मानो वह बुराई को अच्छाई का जामा पहना देने की कला हो और "राज्य-प्रबंध की कला में क्षमता" "दलगत षड्यंत्र की कला में निपुणता" प्रतीत हो सकती थी[1]। उनके शिष्यों में से ही कुछ अल्पतंत्र के नेता बने। थ्यूसीडाइड्स ने लिखा है कि 411 में जिस क्रांति की कोशिश की गई थी, उसकी योजना वक्ता एंटीफ़ोन ने बनाई थी।

> "व्यावहारिक योग्यता की दृष्टि से एथेंस में उसके जोड़ का कोई दूसरा आदमी नहीं था। वह भाषण और जोड़-तोड़ का सिद्ध आचार्य था। सभा में या किसी वाद-विवाद में वह अपनी मर्ज़ी से कभी आगे नहीं आता था। इसका कारण यह था कि वह बहुत चंट समझा जाता था और लोग उस पर संदेह करते थे। लेकिन, जब वे लोग, जो न्यायालय में या सभा में किसी उद्देश्य को लेकर लड़ रहे हों, उससे सलाह माँगते थे, तब जितनी अच्छी सलाह वह देता था और कोई नहीं दे सकता था।"[2]

जब हम यह सोचते हैं कि सोफ़िस्ट—अनायास ही सही—इस प्रकार का व्यावहारिक प्रभाव डाल सकते थे और जब हम यह बात ध्यान में रखते हैं कि वे विदेशी थे, और एथेंस में उनकी स्थिति निरापद न थी, तो हम तुरंत ही यह समझ सकते हैं कि उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा और लोगों में उनके प्रति कितना द्वेष रहा होगा। पर, फिर भी, अगर हम यह याद न रखें कि उनमें से बहुत से पक्के रुढ़िवादी थे, तो हम उनके साथ अन्याय ही करेंगे। हरकुलीज़ के चयन की कथा का लेखक प्रोडिकस नीतिशास्त्र का प्रचारक था। वह प्राचीन इतिहास में अपने नागरिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए प्रख्यात है। प्रोटेगोरस भी—जिसने प्लेटो की भाँति रिपब्लिक शीर्षक से एक कृति रची थी और जो सोफ़िस्टों में सबसे महान् था—उतना ही रुढ़िवादी था। यह सच है कि उसके बारे में कहा जाता है कि एक ऐसी रचना के अपराध में उसे एथेंस से देश-निकाला दे दिया गया था जिसमें उसने देवताओं के अस्तित्व का निषेध किया था। लेकिन, शायद उसकी रचना में देवताओं को जान पाने की संभावना का ही निषेध किया गया था और

---

1. बर्नेट, पू० कृ०, पृ० 173.
2. थ्यूसीडाइड्स, VIII. 68. जेब, **एटिक ओरेटर्स**, पृ० 1 पर उद्धृत। जेब ने लिखा है (पृष्ठ 3) : "उस पर सोफ़िस्टों का असर अवश्य पड़ा होगा लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह किसी खास सोफ़िस्ट का शिष्य रहा था"।

यह बिल्कुल संभव है कि उक्त असंभावना दिखाकर उसने यह शिक्षा दी हो कि "नगर जिन देवताओं की उपासना करता है, उनकी उपासना करना" और विधि के अनुसार उचित धर्म-निष्ठा का परिचय देना ही कर्त्तव्य है। अगर प्रोटेगोरस क्रांतिकारी होता तो थुरीं में एथेनी उपनिवेश की स्थापना में सहायता देने के लिए पेरीक्लीज़ उसे नियुक्त न करता।

(ग) प्रोटेगोरस और शुरू के सोफ़िस्ट

लिओंटिनी का गॉर्जियाज़ प्रोटेगोरस के बाद (427 ई० पूर्व में) एथेंस आया था। लेकिन, हम उसकी शिक्षा पर पहले विचार करेंगे क्योंकि वह प्रोटेगोरस की शिक्षा से अधिक आसान और अधिक निषेधात्मक है। वह मूलतः भाषण-शास्त्र का अध्यापक था और शैली के विकास पर उसने बड़ा भारी प्रभाव डाला था। प्लेटो ने अपने जिस संवाद में भाषण-शास्त्र की विवेचना की है उसका शीर्षक उसने गार्जियाज़ के नाम पर ही रखा है। गॉर्जियाज़ ने नैतिक और राजनीतिक दर्शन की ओर ध्यान नहीं दिया। परंतु, उसने तत्कालीन भौतिक दर्शन की आलोचना की और उसकी सारहीनता सिद्ध करके इस स्थापना में योग दिया कि मानव जाति के अध्ययन का उपयुक्त विषय मनुष्य ही है। उसके विवेचन की चरम स्थिति प्रसिद्ध थी। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि न अस्तित्व संभव है, न ज्ञान और ,नित्य' की शिक्षा असंभव है। वह वक्ता और शिक्षक था, अतः उसका विचार यह तो हो नहीं सकता था कि हर चीज ऐसी होती है जिसका न संप्रेषण हो सकता है, न व्याख्या। प्रोटेगोरस के सिद्धांत की भाँति उसकी स्थापना भी भौतिकविदों और उनके अनन्य आदि तत्त्व के सिद्धांतों के विरुद्ध मानी जानी चाहिए। भाषण-शास्त्र की बात दूसरी है। उसकी स्थापना संप्रेषणीय भी थी और निर्वचनीय भी। यदि उसने यह कहा कि सत्य नाम की कोई चीज़ नहीं है, तो यह उस सत्य के बारे में कहा था जिसकी चर्चा आयोनियाई दार्शनिकों ने की थी। उसके कथन का नैतिकता से कोई संबंध नहीं था और न उसमें यह भाव था कि नैतिक सत्य जैसी कोई चीज़ नहीं होती अथवा नैतिक जगत में 'जिसके पास लाठी हो उसी की भैंस' होती है।

अवडेरा का प्रोटेगोरस (500—430 ई० पू०) गॉर्जियाज़ से पहले एथेंस आया था। भौतिकविदों पर गॉर्जियाज़ ने जो प्रहार किया था, उसे प्रोटेगोरस ने गति दी पर उसकी आलोचना अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक थी। गॉर्जियाज के विपरीत वह नैतिक और राजनीतिक दार्शनिक था। गॉर्जियाज़ और सब सोफ़िस्टों

की भाँति वह वक्तृत्व-कला का अध्यापक था और इस संदर्भ में उसका महत्त्व शैली के क्षेत्र में उतना नहीं है, जितना कि तर्कशास्त्र के क्षेत्र में। हालांकि कहते हैं वह उपयुक्त शब्द-विधान (accidence) पर बहुत ज़ोर देता था और उसने इस विषय पर एक ग्रंथ भी लिखा था। वह पहला यूनानी था जिसने तर्क (dialectic) की शिक्षा दी। कहते हैं उसने दुर्बल पक्ष को सबल बनाने का काम अपने हाथ में लिया। वह अपने शिष्यों को साधारण विषयों की शिक्षा देता था अथवा वह उन्हें ऐसे विषय तैयार करा देता था जिन्हें बहस में तुरंत प्रयोग के लिए वे कंठस्थ कर लेते थे। अपने तर्क तथा विवादमूलक विषयों के द्वारा उसने तर्क-कला के विकास में थोड़ा-बहुत योग दिया। परंतु, उसकी महत्ता का मूल आधार वह दर्शन है जिसका उसने आयोनियाई भौतिकविदों के विरोध में प्रतिपादन किया। ट्रुथ, ऑर द थ्रोअर्स नामक ग्रंथ में उसने संसार में अंतर्निहित एकता को खोज निकालने की उनकी चेष्टाओं के विरुद्ध स्वस्थ अनुभववाद (empiricism) का प्रतिपादन किया। 'इस सृष्टि में जो कुछ है, उसका एकमात्र मानदंड मनुष्य है" व्यक्ति की व्यवहार बुद्धि के माप अथवा निर्धारण के अनुसार चीज़ों का अस्तित्व होता है या नहीं होता—यह सूत्र जिस रूप में हमारे सामने है, लगता है वह हमें चरम व्यक्तिवाद (individualism) से बाँध देता है। प्रत्येक व्यक्ति को जो चीज़ जिस रूप में दिखाई पड़ती है, उसके लिए उसका उसी रूप में अस्तित्व होता है। यदि हम इस मानसिक दर्शन को नैतिक क्षेत्र में उतारें, तो स्पष्टतः हमें नीतिशास्त्र और राजनीति के एक ऐसे व्यक्तिवादी सिद्धांत को स्वीकार करना होगा जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही इस बात का मापदंड अथवा व्यवस्थापक होता है कि सही क्या है पर, प्रोटेगोरस का यह सिद्धांत नहीं था। यह सच है कि उसने यह माना कि किन्हीं दो व्यक्तियों के लिए हर चीज़ के दो परस्पर विरोधी पक्ष (counts) अथवा दो प्रकार के निर्णय हो सकते हैं और वे उन दोनों व्यक्तियों के लिए सही भी हो सकते हैं। लेकिन, प्रोटेगोरस का विचार था कि उनमें से एक अधिक प्रबल हो सकता है और होगा भी। उसका कहना था कि तर्क के द्वारा उसे और भी अधिक प्रबल करके दिखाना चाहिए। स्पष्ट है अधिक प्रबल पक्ष देखने में प्रकृत लगता है। वह किसी वस्तु का प्रकृत व्यक्ति द्वारा किया गया माप होता है। व्यक्ति की समझ आख़िरकार सामान्य ही रहती है और माप अनन्य नहीं होता बल्कि वह प्रकृत बुद्धि के सामान्य मानक के अनुसार होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रोटेगोरस कोरा व्यक्तिवादी नहीं था। वह अनुभववादी था और मनुष्य की प्रकृत व्यवहार-बुद्धि में उसका विश्वास था। फिर, यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जब वह दुर्बल पक्ष को सबल बनाने की बात करता है, तो उसका मतलब यह नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने दृष्टिकोण को किसी भी तरह से विजयी बनाए। वह तो व्यवहार-बुद्धि के इस अधिकार का समर्थन करता है कि वह प्रकृत विश्वास को इसलिए उचित ठहरा सकती है कि वह प्रकृत विवेक के अनुकूल है।

इस सिद्धांत में कुछ रूढ़िवाद है। आख़िरकार, जो चीज़ जैसी दिखाई पड़ती है, वैसी ही होती है—शर्त्त सिर्फ़ यह है कि उसे समझने के लिए सही समझ से काम लिया जाए। प्रोटेगोरस का नैतिक और राजनीतिक दर्शन निश्चित रूप से रूढ़िवादी

है। उसने माना कि सृष्टि में जो कुछ भी है उसका मानदंड मनुष्य है। यह प्रत्यक्षत: व्यक्तिवादी सिद्धांत है पर इस सिद्धांत के साथ उसने इस विश्वास का समन्वय किया कि प्रकृत सामान्य बुद्धि सही होती है। इसी तरह उसने व्यक्तिगत आवश्यकताओं से राज्य की उत्पत्ति की धारणा का व्यापक विधि की सर्वोपरिता के सिद्धांत के साथ समन्वय किया। जिस तरह वह यह नहीं मानता कि भौतिक सृष्टि की एक ही 'प्रकृति' है जो सामान्य बुद्धि के लिए अगोचर है और जो समस्त प्रत्यक्ष बोध का खंडन करती है, उसी तरह वह यह भी नहीं मानता कि मानव-समाज की एक ही प्रकृति है जिसे अनेक पीढ़ियों की नैतिक बुद्धि भी देख-समझ नहीं पाई है और जो मनुष्य की समस्त विधियों के प्रतिकूल है। आयोनिया के भौतिकविदों के विरुद्ध वह अनुभवजन्य बुद्धि का पक्ष लेता है। जो लोग मानव-व्यापारों में प्रकृति-शासन के हिमायती हैं, उनके विरोध में वह विधि-शासन का और विधि-शासन द्वारा व्यक्त ठोस नैतिक भाव का समर्थन करता है। हमें प्रोटेगोरस की नैतिक और राजनीतिक शिक्षा के बारे में जो जानकारी मिलती है, उसका आधार प्लेटो है। लेकिन, यह मानना सकारण है कि **प्रोटेगोरस** नामक रचना में उसकी शिक्षाओं का यथावत् निरूपण किया गया है[1]। हमें प्लेटो से पता चलता है कि उसने राज्य का शिक्षा के साथ संबंध स्थापित किया और राज्य का भावन एक शिक्षा-संस्था के रूप में किया जो सच्ची यूनानी प्रणाली है। उसने अपने दृष्टिकोण की स्थापना कुछ तो सादृश्य के द्वारा और कुछ समाज की उत्पत्ति के सिद्धांत के द्वारा करने का प्रयास किया। उसने बताया कि जैसे अध्यापक अपने शिष्यों के सामने श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं के शिक्षाप्रद उद्धरण रखता है, और शिष्यों को उन्हें ज़बानी याद करने के लिए तथा अपने आपको उनके अनुरूप ढालने के लिए बाध्य करता है (325 D—326 A), वैसे ही नगर अपने नागरिकों के सामने विधियाँ रखता है और उन्हें ये विधियाँ सीखने और उनके अनुरूप रहने के लिए बाध्य करता है (326 C—D)। उसने अपने समाज-उत्पत्ति के सिद्धांत में मानव-विकास की तीन अवस्थाएँ मानी हैं। पहली अवस्था (320 D—322 B) प्राकृतिक अवस्था है। मनुष्य उद्योग तथा कृषि की कलाएँ जानते थे, परंतु वे नागरिक जीवन की राजनीतिक कला से परिचित नहीं थे। नगर तो तब थे नहीं। वे जंगली जानवरों के शिकार हो जाया करते थे। आवश्यकताओं से विवश होकर ही उन्होंने नागरिक समुदायों का निर्माण किया। इस प्रकार, वे विकास की दूसरी अवस्था में पहुँचे (322 B)। इस अवस्था में उन्होंने नगरों की स्थापना करके आपस में एका करने का और अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। पर, यद्यपि उन्होंने नगरों का निर्माण कर लिया था, फिर भी उन्हें राजनीतिक कला का कोई ज्ञान नहीं था। हर आदमी अपने साथियों को तब तक चोट पहुँचाता रहता था जब तक कि वे लोग बिखर कर नष्ट नहीं हो जाते थे। फिर तीसरी अवस्था

---

[1] नाटोर्प (**प्लाटोस स्टाट उंट डी इडी डेयर, जोसियाल पाडोगोगिक**) ने लिखा है कि प्लेटो के सिद्धांतों के साथ प्रोटेगोरस के सिद्धांतों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि वे वास्तव में प्रोटेगोरस के ही सिद्धांत हैं क्योंकि पुराने लेखकों का कहना है कि प्लेटो की रिपब्लिक के विचारों का प्रोटेगोरस की रचनाओं से काफ़ी साम्य है (डायोगेनीज़ लार्यटियस, III, 25)।

(322 C—D) शुरू हुई। ज़ेअस ने हरमीज़ को नीचे की दुनिया के लोगों के पास भेजा। हरमीज़ ने नई नींव के नगरों में एकता के सूत्र और व्यवस्था के सिद्धांत के रूप में 'श्रद्धा' और 'न्याय' की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार, अंत में, राज्य का आविर्भाव हुआ। इस अंतिम रूप में राज्य एक आध्यात्मिक समाज है। वह देवताओं की ओर से स्वीकृत है और 'श्रद्धा' तथा 'न्याय' के आध्यात्मिक सूत्रों द्वारा एकता के बंधन में बँधा हुआ है। इस रूप में वह अपने सदस्यों की शिक्षा का सर्वोच्च माध्यम है। वह उन्हें इस तरह शिक्षा देता है कि वे उसकी विधि की आत्मा से परिचित होकर पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करें। "इस प्रकार, राज्य सच्चा शिक्षक होता है; उसका संपूर्ण कार्य शिक्षा और सभ्यता देने का है। व्यक्तिगत शिक्षक—पिता हो या माता, अध्यापक हो या सोफ़िस्ट—समुदाय का अभिकर्त्ता और सामान्य इच्छा का माध्यम मात्र होता है"[1]।

इस शिक्षा-सिद्धांत का पूरा-पूरा अभिप्राय क्या है ?—इसकी चर्चा हम बाद में, प्लेटो के **प्रोटेगोरस** पर विचार करते समय, करेंगे (अध्याय 7 खंड [ग])। स्पष्ट है यह सिद्धांत प्लेटो के सिद्धांत से काफ़ी मिलता-जुलता है। यह ठीक है कि **रिपब्लिक** में प्लेटो ने विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा की पैरवी करके और दार्शनिक राजाओं के शासन का प्रतिपादन करके इस सिद्धांत को और आगे बढ़ा दिया है, पर, इसमें संदेह नहीं कि **रिपब्लिक** के पीछे प्रोटेगोरस से मिलती-जुलती भावना सक्रिय रही है। प्रोटेगोरस व्यक्तिवादी नहीं है। वह प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) की बात भले ही करे और भले ही कहे कि नगरों की नींव इच्छापूर्वक डाली गई है, लेकिन फिर भी वह सामाजिक संविदा (social contract) के सिद्धांत का समर्थक नहीं है। जो नगर बाद में बने वे कायम रहे जबकि पहले वाले नगर नष्ट हो गए और इसका कारण यह था कि बाद के नगरों की नींव संविदा पर नहीं रखी गई थी बल्कि उससे कहीं अधिक गहरी थी। इन नगरों में जो राज्य बने उनके उद्देश्य "एक दूसरे के विरुद्ध मनुष्यों के अधिकारों की संविदामूलक गारंटी" की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक थे। संविदा-सिद्धांत की नींव डालने के कारण हम प्रोटेगोरस को सोफ़िस्ट लाइकोफ्रोन का अग्रगामी नहीं कह सकते। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि जब उसने न्याय के दैवी आधार पर स्थित शिक्षा-राज्य का सिद्धांत सिखाया तो वह प्लेटो का अग्रगामी बन गया। उसने निश्चय ही राज्य को ईश्वर का आदेश माना और माना कि वह संविदा पर आधारित, मानवीय सृष्टि नहीं, बल्कि उसका अस्तित्व दैवी विधान पर निर्भर है। राजनीतिक कला की शिक्षा देने का दम भरने वाले महान् शिक्षक के लिए राज्य के शिक्षा-सिद्धांत का प्रतिपादन करना स्वाभाविक था और यदि प्रोटेगोरस का यह विश्वास रहा हो—जैसा कि प्लेटो ने संकेत दिया है[2]—कि उसकी शिक्षा अपरिहार्य है, तो इस उत्साह के लिए हम उसे क्षमा कर सकते हैं। कुछ भी हो, वह यह तो अवश्य मानता था कि जीवन को सही रास्ते पर लाने के लिए विधि एक श्रेष्ठ शिक्षक है। उसने अगर यह आग्रह

---

1. नाटोर्प, पू० कृ०, पृ० 7।
2. रिपब्लिक, 600 c.

किया कि मेरा प्रशिक्षण आवश्यक है तो यह भी स्वीकार किया कि सामाजिक जीवन अपने आप में एक प्रशिक्षण है।

अतः, प्रोटेगोरस की शिक्षा में 'प्रकृति' और 'विधि' के बीच कोई विरोध नहीं है और यदि उनमें कोई परस्पर विरोध है भी तो उसने विधि को उच्चतर माना है क्योंकि उसके पीछे दैवी स्वीकृति है और उसने लोगों को उस प्राकृतिक अवस्था से उबारा जिसमें वे पशुओं से किसी तरह बेहतर न थे। प्रोटेगोरस व्यक्तिवाद का भी प्रचारक नहीं—अतिमानव (superman) का तो और भी नहीं। व्यक्ति की अपेक्षा राज्य में उसकी ज़्यादा दिलचस्पी है। वह कुशल और सबल आदमी के इस अधिकार को स्वीकार नहीं करता कि वह अपने अनुयायियों को दबाए रहे। उसकी स्थापना तो यह है कि कि ज़ेअस के आदेश से 'न्याय' और 'श्रद्धा' में सभी का समान भाग है और चूंकि उसके फलस्वरूप सभी को राजनीतिक कला का समान वरदान प्राप्त होता है, अतः राजनीतिक विचार-विनिमय में सबका समान महत्त्व होता है और समान दिलचस्पी। (**प्रोटेगोरस**, 322 C—323 A)। इस प्रकार, सोफ़िस्ट होने के नाते, प्रोटेगोरस राज्य का मसीहा था। उसने विधि की पवित्रता की और राज्य के सदस्यों की समानता की शिक्षा दी। पाँचवीं शताब्दी के अन्य सोफ़िस्टों में दो ही सोफ़िस्ट—किओस का प्रोडिकस तथा एलिस का हिप्पियास—ही ऐसे थे जिन्होंने अपनी पीढ़ी में कुछ यश पाया। इतिहास में प्रोडिकस का उल्लेख केवल नीति-शास्त्र के अध्यापक और व्याकरण के आविष्कर्त्ता के रूप में है। उसने पर्यायों के भेद की ओर विशेष ध्यान दिया था। एलिस के हिप्पियास के बारे में हम देख ही चुके हैं कि वह यह प्रपंच रचता था कि ज्ञान सार्वभौमिक[1] है। वह स्मरण-शक्ति बढ़ाने की एक प्रणाली सिखाने का दावा करता था। वृत्त को वर्ग का रूप देने में उसकी वैसी ही दिलचस्पी थी जैसी आगे चल कर हॉब्स में दिखाई पड़ी। ज़ेनोफॉन[2] ने न्याय के स्वरूप और विधि के साथ उसके संबंध के बारे में हिप्पियास और साक्रेटीज़ की बहस का विवरण प्रस्तुत किया है। यदि इस विवरण को सही मानें, तो हम देखेंगे कि हिप्पियास का भी एक विधि-दर्शन था और वह दिलचस्प भी है। वह साक्रेटीज़ के इस विचार से सहमत है कि विधि और न्याय का विस्तार एक जैसा है और न्यायसंगत तथा विधिसंगत होना एक ही बात है। पर, उसे इस बात से परेशानी होती है कि जो लोग विधियाँ बनाते हैं, वे ही अकसर उन्हें रद्द कर देते हैं और बदल डालते हैं। वह यह भी मानता है कि कुछ ऐसी अलिखित विधियाँ होती हैं जिनका प्रत्येक देश में एक ही तरह से पालन होता है और जो मनुष्य की बनाई हुई नहीं हो सकतीं (क्योंकि मनुष्य उन्हें बनाने के लिए कभी एक जगह इकट्ठे न हो सके होंगे और अगर हो भी गए होंगे तो कभी एक दूसरे को समझ नहीं सके होंगे)। इन विधियों का निर्माण निश्चय ही देवताओं ने किया होगा। एक ऐसी प्राकृतिक विधि के अस्तित्व की बात जो प्रत्येक राज्य की सकारात्मक विधियों (**positive** laws) से भिन्न और उनसे उच्चतर हो (उच्चतर इसलिए कि वह उनकी तरह

---

[1] **प्लेटो, हिप्पियास माइनर**, 368 B—E.

[2] **मेमोराबिलिया**, IV. 4.

मानवीय अधिनियम के फलस्वरूप नहीं वल्कि दैवी आदेश से जन्म लेती है) स्पष्ट रूप से प्राकृतिक विधि तथा सकारात्मक विधि के विरोध को जन्म दे सकती है। प्राकृतिक विधि सार्वभौम और दैवी होती है, सकारात्मक विधि स्थानीय और मानवीय। **प्रोटेगोरस** के एक अवतरण में प्लेटो ने संकेत किया है कि इस प्रतिपक्षता की हिप्पियास ने स्थापना की थी। एलिस के इस अजनबी हिप्पियास के मुख से एथेंसवासी श्रोताओं के प्रति यह कहलवाया गया है; "मैं आप सब को विधि के आधार पर तो नहीं, लेकिन प्रकृति के आधार पर सजातीय, सबंधी और साथी-नागरिक मानता हूँ। जो परस्पर समान होते हैं, वे प्रकृति के आधार पर परस्पर संबंधित होते हैं। लेकिन, विधि मनुष्य को सताती रहती है और हिंसा के बल पर अकसर (मनुष्य को) प्रकृति के विरोध में खड़ा कर देती है"। हिप्पियास के ये शब्द सिनिकों के विश्व-राज्य के उस विचार का आभास देने लगते हैं जिनमें सभी मनुष्य बराबर के साथी-नागरिक हों। जो भी हो, यहां प्रकृति और विधि के बीच जिस प्रतिपक्षता का संकेत किया गया है, उसका भारी महत्त्वं है। वह हमारे सामने सोफ़िस्टों की एक नई और उग्र प्रवृत्ति का उद्‌घाटन करती है। अब प्रकृति का चाहे कुछ भी अर्थ समझा जाए, वह विधि के विरुद्ध है। प्रकृति का सिंहासन विधि के ऊपर है। प्रकृति की इस प्रतिष्ठा का अंतिम परिणाम यह होगा कि शिक्षा के संदर्भ में व्यक्ति राज्य और उसकी विधियों के नियंत्रण से—जिन्हें अब केवल बंधन समझा जाता है—स्वतंत्र हो जाएगा। कुछ अतिशय उत्साहियों के लिए तो वह अतिमानव की प्रतिष्ठा हो सकती है।

(घ) प्रकृति और विधि का विरोध

उग्र सोफ़िस्टों के विचार से प्रकृति और विधि के विरोध का अभिप्राय यह था कि परंपरा, रूढ़ि और संस्थाओं का नैतिक तत्त्व, मानव-जीवन के प्रथम सिद्धांत की धारणा पर आधारित नैतिकता की आदर्श संहिता के विरुद्ध था। यह विरोध कैसे पैदा हुआ ? यह समझने के लिए हमें आयोनिया के भौतिक दार्शनिकों के सिद्धांतों का शायद फिर से अनुशीलन करना चाहिए[1]। जब आरंभिक भौतिकविदों ने मूर्त्त जगत के समस्त परिवर्त्तनों के मूलवर्त्ती स्थायी आधार को पाने का प्रयास किया, तो उन्होंने उसे सदा किसी मूर्त्त पिंड के रूप में देखने की कोशिश की। पायथागोरस की 'संख्याओं' का विस्तार भी 'देश' में था। एनाक्ज़ागोरस का 'विवेक' भी अंततोगत्वा एक तत्त्व ही था। परंतु, यदि संसार का स्थायी आधार मूर्त्त है और प्रत्यक्ष बोध का संसार भी मूर्त्त है—सूत्र रूप में कहें तो यदि दोनों का ही आधार जड़ है—तो दोनों में से एक निश्चय ही अयथार्थ होगा। नतीजा यह हुआ कि वास्तविक प्रत्यक्ष बोध के संसार को अयथार्थ माना गया। प्रकृति के नए यथार्थ ने इंद्रिय-सापेक्ष संसार के यथार्थ अस्तित्व का निषेध कर दिया। पदार्थ के अणुवादी सिद्धांत के संस्थापक, अवडेरा के डिमोक्रिटस का यह कथन महत्वपूर्ण है : "रंग और स्वाद का अस्तित्व अगर है तो केवल रूढ़ि के कारण—वास्तव में सत्ता या तो अणुओं की है या शून्य की"। हम कह सकते हैं कि भूल यह थी कि वस्तुओं के स्वरूप को स्थूल मान लिया गया। यदि उसे अमूर्त्त माना जाता—दिन प्रति-दिन के संसार से बाहर की वस्तु नहीं, बल्कि जीवन-सिद्धांत के रूप में अंतरंग और अंतर्निहित माना जाता—तो आवश्यक न था कि इसी प्रकार का परिणाम निकलता। इसी प्रकार, जब आरंभिक नीतिवादियों ने मनुष्य के जीवन और संस्थाओं के नैतिक जगत के समस्त प्रवाह में निहित स्थायी आधार अथवा 'प्रकृति' का पता लगाने का प्रयास किया, तब वे किसी सूक्ष्म तत्त्व की नहीं बल्कि एक संहिता की खोज कर रहे थे और यह ऐसी संहिता थी जो इस प्रकार की अनेक संहिताओं के आधार-स्वरूप थी। इस

---

[1] तुलना कीजिए, प्रोफ़ेसर बर्नेट, **इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स**, VII., 328।

प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि वे नैतिकता के जिस स्थायी आधार को पाने का प्रयास कर रहे थे वह वास्तविक जीवन की अनेक संहिताओं और विधियों के ध्वंसक के रूप में ग्रहण किया गया[1]। नैतिकता की आदर्श संहिता का साधारण संहिताओं से केवल विरोध का ही नाता हो सकता है। साधारण संहिताएँ आदर्श संहिता का विरूपण और विकृतियां मात्र होती हैं। भौतिकी की भांति यहाँ भी भूल यह थी कि स्थायी आधार को उन तथ्यों की अपेक्षा कम भौतिक और वस्तुपरक नहीं माना गया जिनके मूल में वह स्थिर था। यहाँ भी नैतिकता की 'प्रकृति' को नैतिक जीवन की साधारण प्रथा के संदर्भ में बाहरी—और इसलिए विरोधी समझने की भूल की गई। चिंतन का लक्ष्य उस आंतरिक चेतना की खोज करना होना चाहिए था जो साधारण नैतिक जीवन के क्षेत्र में परिव्याप्त हो और जिससे साधारण भौतिक जीवन का क्षेत्र सप्राण बनता हो। वास्तव में हुआ यह कि उसने भौतिक संसार की 'प्रतीतियों' और नैतिक सृष्टि की 'प्रथाओं' मात्र को नष्ट करने के लिए बाह्य और भौतिक 'प्रकृति' की विभाजक तलवार का प्रयोग किया।

इस आधार पर आदर्श संहिता वह सब कुछ होगी जो साधारण संहिताएँ नहीं होतीं। यह आदर्श संहिता नैतिक और राजनीतिक व्यापार की 'प्रकृति' होती है और साधारण संहिताओं से इसका विरोध होता है। जिस प्रकार साधारण पदार्थों के विरुद्ध मान कर भौतिक संसार की प्रकृति देशपरक विस्तार की अथवा शुद्ध परंतु मूर्त्त विवेक की समझी जाने लगी, उसी प्रकार नैतिक संसार की 'प्रकृति' को भी सामाजिक जीवन के साधारण नियमों के विरुद्ध माना गया और उसे व्यक्ति के सुख और संतोष में ही निहित समझा जाने लगा। आयोनियाई दार्शनिकों के भौतिक सिद्धांतों और अधिक उग्र सोफ़िस्टों के नैतिक सिद्धांतों में यहाँ जो सादृश्य बताया गया है, उस पर कुछ और विचार करने की आवश्यकता है। सोफ़िस्ट आयोनियाई संप्रदाय के भौतिक दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रिया भले ही व्यक्त करते हों पर यह भी सर्वथा संभव है कि उनमें से अनेक पर उसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा था। कुछ भी हो, इस विचार के साक्ष्य स्वयं प्लेटो के शब्द हैं कि मानव जीवन के विषय में उनकी संकल्पना के मूल में भौतिक संसार की संकल्पनाएँ निहित थीं। संसार का भौतिकवादी दृष्टिकोण ही 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धांत को जन्म देता है—और वह दृष्टिकोण यह है कि यहाँ न ईश्वर है, न विवेक[2]। उन्होंने आरंभ इस धारणा से किया कि जिस भौतिक संसार में हम रहते हैं वह 'विवेक' के द्वारा अस्तित्व में नहीं आया और न वह ईश्वर की सृष्टि है, बल्कि प्रकृति और संयोग के द्वारा उत्पन्न हुआ और उसकी इकाइयां "अपनी-अपनी अंतर्भूत शक्ति के संयोग से आपस में मिल गई थीं।" लोगों ने अपनी इन्हीं धारणाओं के अनुसार अपने नैतिक

---

1. "यदि हम नैतिक यथार्थ को उस संहिता में खोजने के बजाए जो पहले से विद्यमान नैतिक संहिताओं को बांधने वाली शक्ति प्रदान करती है,—उन नियमों की संहिता में खोजें, जो वास्तव में बंधनकारी हों, तो हम निश्चय ही पहले वाली संहिता को मनमानी और अवैध मानेंगे"। (इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स, VII. 330)।
2. लॉज, 889 और क्रमशः ; आगे अध्याय 16, खंड (ख) से तुलना कीजिए।

दर्शन का आविष्कार कर लिया है। उनका विचार है कि भौतिक संसार की तरह नैतिक संसार में भी, प्रत्येक "इकाई की अंतर्भूत शक्ति" का संयोग रचना का प्रधान तत्त्व होना चाहिए और "प्रकृति के अनुसार सही यह है कि यथाशक्ति दूसरों के ऊपर प्रभुता जमा कर रहा जाए।" उनका विश्वास है कि इसका विरोध करने वाली जितनी भी मानव-विधियाँ हैं—और ये विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार की हैं—सब कला और रूढ़ि की उपज हैं और ऐसी विधियों के अनुसार जिनका कोई प्राकृतिक औचित्य नहीं, दूसरों की दासता में रहना बेहूदगी है। व्यक्ति अपने बल से जो कुछ जीत सके उस पर उसका अधिकार होता है। यह सही है कि अपने इस तर्क में प्लेटो चिंतन के विकास का आदर्श की दृष्टि से विवेचन कर रहा है, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। यहाँ वह भौतिक संसार के प्रकृतिवादी दर्शन और नीतिशास्त्र की प्रकृतिवादी संकल्पना का आंतरिक सादृश्य दिखा रहा है जिसे दार्शनिक मानस स्पष्ट देख पाता है। आंतरिक सादृश्य का अर्थ यह नहीं कि ऐतिहासिक संबंध भी हो। सोफ़िस्ट बलवान के प्राकृतिक अधिकार की बात करते थे। पर यह हो सकता है कि भौतिक संसार के संबंध में उनका कोई भी दर्शन न रहा हो—बल्कि हम यह भी देख ही चुके हैं कि सोफ़िस्ट आमतौर से जानबूझ कर अपना ध्यान ऐसे दर्शन से दूर हटा लेते थे। फिर भी यह दर्शन वातावरण में व्याप्त था। और जिसने यह समझ लिया हो कि हमारी पीढ़ी में विकास का वैज्ञानिक सिद्धांत नैतिक और सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में जाने-अनजाने किस हद तक पैठ गया है, वह प्लेटो के तर्क के मूल सत्य को समझने में चूक नहीं सकता।

(ङ) सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन

पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के सोफ़िस्ट साहित्य का अभी हाल में जो अंश प्राप्त हुआ है, उससे प्लेटो द्वारा वर्णित संप्रदाय के विचारों का पता लग जाता है। यह अंश सोफ़िस्ट एंटीफोन की एक रचना का है[1]। यह एंटीफ़ोन अपने उस सम-सामयिक और नामराशि, वक्ता एंटीफ़ोन से भिन्न है जो 411 की क्रांति का अल्पतंत्री नेता था। यह एंटीफ़ोन अनेक विषयों का लेखक था। प्राचीन काल के आलोचकों का कहना है कि उसकी लेखनी से **इंटरप्रेटेशन ऑफ ड्रीम्स, कान्कर्ड, स्टट्समैन** तथा ट्रुथ नाम के ग्रंथों की रचना हुई। यह जो अंश हाल ही में मिला है, उसकी अंतिम पुस्तक में से है। ट्रुथ नामक ग्रंथ दो भागों में था। इसमें मुख्यतः भौतिकी और तत्वमीमांसा के प्रश्नों का विवेचन था। लेकिन, इस नए अंश से प्रमाणित होता है कि उसमें नीति-शास्त्र और राजनीति के प्रश्नों का भी विवेचन किया गया था। यह काफ़ी महत्व की बात है क्योंकि इससे ऊपर व्यक्त किए गए इस विचार की पुष्टि होती है कि भौतिकी से संबंधित रचनाओं में भी मानवीय कार्य-व्यापारों का विवेचन हुआ करता था। लेकिन, एंटीफ़ोन की रचना का यह नया अंश इससे भी आगे एक और विचार की पुष्टि करता है। इससे पता लगता है कि भौतिक और नैतिक चिंतन में संबंध था और सृष्टि के प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप नीति-शास्त्र और राजनीति की प्रकृतिवादी पद्धति का जन्म हुआ। यह संबंध कैसा था—इसका संकेत प्लेटो में मिलता है। ट्रुथ शीर्षक ग्रंथ के उक्त अंश में निश्चित रूप से इस पद्धति के दर्शन होते हैं। इसका महत्त्व यह है कि इसमें हम पहली बार

---

[1] यह अंश *Oxyrhynchus* Papyri, XI. सं० 1364 पृ० 92—104 पर मुद्रित है। मैं इस अंश के लिए मि० जे० यू० पावेल का आभारी हूँ। उन्होंने ही इसकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। ऊपर के पैराग्राफ़ लिखने के बाद मैंने यह अंश पढ़ा। इससे मेरे विचारों की पुष्टि होती है। इसका अनुवाद—जो डा० ग्रेनफेल के अनुवाद पर आधारित है—प्रस्तुत अध्याय के परिशिष्ट में दिया गया है।

एक ऐसे सोफ़िस्ट के विचार मूल रूप में पढ़ सकते हैं जो समझता था कि प्रकृति की प्रकृतिवादी संकल्पना विधि के विरोध में पड़ती है और जो प्रकृति को विधि से ऊपर मानता था। इसे ध्यान में रख कर हम प्लेटो के सोफ़िस्टवादी सिद्धांतों के विवेचन की परख कर सकते हैं। इसके आधार पर हम यह भी देख सकते हैं कि प्लेटो ऐसी स्थितियों की आलोचना नहीं कर रहा जो उसने केवल आलोचना के लिए ही गढ़ ली हों बल्कि वह ऐसे विचारों की आलोचना कर रहा है जो उस समय वास्तव में प्रचलित थे। इस दृष्टि से **रिपब्लिक** तथा प्लेटो के अन्य संवादों को समझने के लिए एंटीफ़ोन के इस अंश का कम महत्त्व नहीं है[1]।

एंटीफ़ोन के विचार से 'प्रकृति' 'सत्य' या यथार्थ है जिसका उसने विवेचन किया है। उसने 'प्रकृति' की इस संकल्पना का दो दिशाओं में प्रयोग किया—एक तो राज्य की बनाई हुई विधि की—जिसे कोरा मत और रूढ़ि का मामला समझा जाता है—साख घटाने के लिए; और दूसरे इसलिए कि उस समय यूनानी तथा बर्बर का जो भेद प्रचलित था वह दूर हो जाए और यह ज्ञात हो जाए कि दोनों ही मानवता की समान 'प्रकृति' में भागीदार हैं। यदि हम पूछें कि 'प्रकृति' से उसका क्या अभिप्राय है, तो एक दम स्पष्ट उत्तर नहीं मिलेगा। एंटीफ़ोन की रचना के उक्त अंश से हमें केवल उन आधार-वाक्यों (premises) का स्वरूप ज्ञात हो जाता है जिनका शायद वह पहले उल्लेख कर चुका होगा और जिन्हें अब वह बस मानकर चलता है। कहते हैं प्रकृति के नियम आवश्यक हैं। वे अगर विधियाँ हैं तो उसी अर्थ में जिस अर्थ में गुरुत्वाकर्षण का नियम (law of gravitation) एक विधि है। अगर कोई उनका उल्लंघन करने का प्रयत्न करेगा, तो एक अनिवार्य प्रतिक्रिया होगी—जैसे यदि कोई गुरुत्वाकर्षण के नियम का उल्लंघन करे तो निश्चय ही गिर पड़ेगा। जहाँ तक हम समझते हैं, एंटीफ़ोन के विचार से यह प्रकृति का नियम है कि मनुष्य जीवन की साधना करे और मृत्यु से बचे। अत: उसे ऐसी चीज़ें पाने का प्रयास करना चाहिए जिससे जीवन का या सुख-सुविधा का उन्नयन हो और ऐसी चीज़ों से बचना चाहिए जो उसकी मौत का कारण बन सकें या जिनसे उसे कष्ट मिले। यह हॉब्स जैसा सीधा प्रकृतिवादी दृष्टिकोण है। लेकिन, दोनों में एक अंतर है—हॉब्स का तो यह विचार है कि जब मनुष्य एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तब वे प्रकृत्या एक दूसरे की जान के गाहक होते हैं और इसलिए यह स्वाभाविक और आवश्यक है कि उन पर विधि का दबाव रहे ताकि वे एक दूसरे के जीवन का सम्मान करना सीखें। पर एंटीफ़ोन का मत है कि दबाव की विधि जीवन की प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल है। मनुष्य को एक दूसरे के साथ मिल कर रहना होता है—इस तथ्य से जो समस्या पैदा होती है, उसकी ओर शायद उसने ध्यान ही नहीं दिया। वह अमूर्त्त व्यक्तिवाद की

---

1. उक्त अंश से अनायास ही जर्मन विद्वानों का यह अनुमान भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि एंटीफ़ोन प्रोटेगोरस के ढंग का रूढ़िवादी था और उसका विधि की प्रभुता में विश्वास था। इसी अध्याय में आगे पृ० 121—2 तुलना कीजिए। वह तो इसके विपरीत विधि का आलोचक और 'प्रकृति' का शिष्य है।

पद्धति का अनुसरण करता है[1]। उसका तर्क है कि मानवीय विधि आचरण के नियमों की स्थापना करती है जो प्रकृति की इस विधि के प्रतिकूल पड़ते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और सुख-सुविधा की साधना करनी चाहिए। मानवीय विधि के नियम संयोग के फल हैं: उनका आधार केवल प्रसंविदा (covenant) और अभिसमय (convention) हैं। वे सत्य की नहीं, लोगों के मत की उपज हैं। वे हमें ऐसे कामों में प्रवृत्त करते हैं जो अप्राकृतिक हैं क्योंकि वे मन को सुख नहीं देते; उनके कारण सारा रस सूख जाता है, ज़िंदगी लचर हो जाती है। ये नियम हमें सिखाते हैं कि अपने पड़ोसियों पर कभी आक्रमण मत करो; बहुत करो तो इतना कि अगर तुम्हारे ऊपर आक्रमण हो तो अपनी रक्षा कर लो; कि अपने माता-पिता के साथ कभी कोई बुराई मत करो—चाहे वे भले ही तुम्हारे साथ बुराई करें; तुम तो बस बुराई का बदला भलाई से दो। इन सब तर्कों से एंटीफ़ोन यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि शक्ति सत्य में ही होती है या यह कि जीवन की अधिकाधिक परिपूर्णता के लिए व्यक्ति को यथाशक्ति, खुल्लमखुल्ला और साहसपूर्वक विधियों का उल्लंघन करना चाहिए; परंतु वह यह निष्कर्ष अवश्य निकालता है कि जब दूसरों के जाने बिना विधियों का उल्लंघन किया जा सके, तब वैसा करना अच्छा होता है। विधि के अधीन जो दंड दिए जाते हैं वे वास्तव में मनुष्य के मत से जुड़े हुए होते हैं; और अगर कोई मनुष्य के मत के कटघरे में आने से बचा रह सके तो वह इन दंडों से भी बचा रहता है। आम तौर से और औसतन विधि का पालन करना ग़लत होता है, क्योंकि आम तौर से और औसतन विधियाँ प्रकृति के प्रतिकूल होती हैं और क्या ठीक है—इसका प्रमाण प्रकृति होती है। हाँ, यह हो सकता है कि कभी विधि का पालन करना ही एक तरकीब हो लेकिन यह भी बहुत कम होता है। जो अपने कष्ट के निवारण के लिए विधि का मुँह जोहता है, वह अकसर धोखा खाता है क्योंकि अदालतें शायद ही कभी उचित रूप से यह काम संपन्न कर पाती हों। इस बात का जितना मौका पीड़ित पक्ष को होता है कि वह अपने पक्ष को अच्छे ढंग से प्रस्तुत करे और न्यायाधीशों से अपनी बात मनवा ले, उतना ही पीड़क पक्ष को भी होता है। संक्षेप में, यदि आपकी कसौटी यह हो कि सही क्या है, तो विधि का पालन करना अकसर ग़लत होता है; यदि आप मसलहत की दृष्टि से देखें, तो कभी-कभी उसमें मसलहत हो सकती है। पर कुल मिलाकर वह किसी भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

जैसे एंटीफ़ोन यूनानी नगर-राज्य की रूढ़ विधि की साख घटाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही वह यूनानी और बर्बर के रूढ़ भेद को भी समाप्त करना चाहता है। हम जानते हैं कि इस युग के अनेक यूनानी विचारक ऐसे थे जो अभिजात तथा साधारण जन के भेद को प्रकृति के विरुद्ध मानते थे; हम जानते हैं कि कुछ ऐसे विचारक भी थे जिनका स्वतंत्र व्यक्ति और दास के भेद के बारे में भी यही मत था[2]। एंटीफ़ोन ऐसा विचारक है जो इससे भी आगे बढ़ गया है। उस समय लोग यूनानियों और सारी दुनिया के बीच एक आधारभूत भेद माना करते थे; उसने इस

---

[1] इस अध्याय के परिशिष्ट से तुलना कीजिए, पृ० 128 पर टि०।

[2] इस अध्याय में आगे पृ० 115—6 से तुलना कीजिए।

मत का खंडन किया जिसकी प्रतिष्ठा बहुत बाद के युग में होने को थी। इसका कारण जानने के लिए फिर उसी 'प्रकृति' का सहारा लेना होगा। यूनानी और बर्बर के भौतिक गुण एक से हैं। यदि हम इस विषय को भौतिक जीवन तक ही सीमित मान लें (और सच तो यह है कि एंटीफ़ोन पहले ही विधि-पालन के विषय को भौतिक जीवन के दायरे में सीमित करके विचार कर चुका है) तो हम देखेंगे कि इस कसौटी पर सब मनुष्य एक से हैं, समान हैं। वे एक ही से अंगों से एक-सी हवा में साँस लेते हैं। इसी बात को हॉब्स ने इस प्रकार कहा है: "प्रकृति ने शरीर की क्षमताओं की दृष्टि से सब मनुष्यों को समान बनाया है"। हॉब्स का यह भी कथन है कि सब मनुष्य मस्तिष्क की क्षमताओं में भी समान हैं। एंटीफ़ोन ने भी संभवतः यही बात कही है। लेकिन, यहीं पर उसकी खंड-रचना समाप्त हो जाती है और हम यह नहीं कह सकते कि उसने इस तर्क को आगे किस प्रकार बढ़ाया।

अस्तु, एंटीफ़ोन के चिंतन का मूल-मंत्र यथार्थवाद है। मैकियावेली की भाँति वह भी वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप तक जाता है और मानव-व्यापारों में वह यही सत्य पाता है—इस दृष्टि से नहीं कि मनुष्य क्या सोचता है बल्कि इस दृष्टि से कि अपनी शरीर-रचना के कारण और प्रकृति के हाथों गढ़े हुए होने के नाते वह वास्तव में होता क्या है। मनुष्य जीवन और सुख की साधना करता है। यही उसके जीवन का सच्चा नियम है और इस भूमि पर ही हर आदमी एक-सा होता है। वह दृष्टिकोण जिसके कारण मनुष्य जीवन और सुख का साधक नहीं रह जाता या जिसके फलस्वरूप कुछ लोग दूसरों से अच्छे हो जाते हैं, कृत्रिम और कोरा हवाई दृष्टिकोण होता है। वह विचार-प्रेरित मन की तरंग मात्र होता है। विधियों की अधिकतर धारणाएँ इसी प्रकार की कोरी कल्पनाएँ हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि अपने माता-पिता के प्रति हमारा एक कर्त्तव्य होता है और वे चाहे हमारे प्रति कैसा भी व्यवहार करें, हमें इस कर्त्तव्य का पालन करना ही होता है—यह कोरी कल्पना है। और अपने घेरे से बाहर के लोगों से अपने बड़े होने की बात—मानो प्रकृति-जगत में कोई घेरा भी होता हो—यह भी कोरी कल्पना है।

(च) सोफ़िस्ट-सिद्धांतों के विषय में प्लेटो का विवरण

एंटीफ़ोन की इस खंड-रचना के अतिरिक्त हमें प्लेटो की कृतियों से भी उस संप्रदाय की शिक्षा का परिचय मिलता है जो प्रकृति और विधि को परस्पर विरोधी मानता था और यदि सदैव नहीं तो प्रायः न्याय को शक्ति के पर्याय के रूप में ग्रहण करता था। यों इसे संप्रदाय कहना निर्विवाद नहीं है। प्लेटो ने जो विवरण दिया है उसके अनुसार इस शिक्षा के दो रूप उपलब्ध होते हैं। एक का उल्लेख तो **रिपब्लिक** के दूसरे अध्याय के शुरु में है[1]। यह शिक्षा का अधिक संयत रूप है। दूसरा रूप जो अधिक उग्र है, **गॉर्जियाज़** में मिलता है। इसकी तर्कसिद्ध पराकाष्ठा **रिपब्लिक** के पहले अध्याय में दिखाई पड़ती है।

शिक्षा के उक्त संयत और प्रचलित रूप का विवरण ग्लॉकन ने (जो सोफ़िस्ट नहीं, बल्कि प्लेटो का बड़ा भाई था और **रिपब्लिक** के नाटकीय पात्रों में से एक है) इस प्रकार दिया है :

> "अन्याय करना प्रकृत्या, अच्छा होता है; अन्याय सहना बुरा। लेकिन, अच्छाई से बुराई ज्यादा बड़ी होती है। अतः जब लोग अन्याय कर और सह चुकते हैं और दोनों का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं, तब चूंकि वे एक से बच नहीं सकते और दूसरे को हासिल नहीं कर सकते, इसलिए वे सोचते हैं कि आपस में समझौता कर लें कि न अन्याय करेंगे, न सहेंगे। फलतः विधियों और पारस्परिक रूढ़ियों का जन्म होता है। जो चीज़ विधि के द्वारा समर्थित होती है, उसे लोग विधिसम्मत तथा न्यायपूर्ण कह उठते हैं" (**रिपब्लिक** 258 E—359 A)।

---

[1] कुल मिलाकर देखें तो एंटीफ़ोन की शिक्षा का रूप संयत है। एंटीफ़ोन के तर्क में और **रिपब्लिक** के दूसरे अध्याय के शुरू में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित तर्क में काफी साम्य है जिससे संकेत मिलता है कि प्लेटो एंटीफ़ोन की रचना से परिचित था। लेकिन, दूसरी ओर यह बात ध्यान देने की है कि उसने एंटीफ़ोन के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

इस सिद्धांत में वर्त्तमान का व्यक्तिवाद अतीत में प्रतिबिंबित होता है। चूंकि आज का मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इच्छा और उसके दावों के प्रति पूरी तरह जागरूक है, इसलिए वह यह प्रश्न कर उठता है कि अतीत के मनुष्य ने—जिनके बारे में यह माना जाता है कि वह भी उतना ही जागरूक था—कैसे यह मान लिया कि वह अपनी उस इच्छा का स्वतंत्र प्रयोग करना और अपने दावों से बारे में भरपूर आग्रह करना छोड़ देगा। कुछ लोग कहेंगे कि यह समर्पण अपनी इच्छा से ही किया गया होगा। इसके द्वारा मनुष्य ने पारस्परिक सहयोग के लाभ की ख़ातिर अपना संतोष त्याग दिया—हालाँकि यह सत्य है कि उसका वह संतोष व्यक्तिगत शक्ति की सीमाओं के कारण सीमित था। यहाँ हमारे सामने जो संकल्पना आती है, वह एक व्यक्ति के और सबों के साथ ऐच्छिक संविदे की संकल्पना है। लेकिन इस संविदे के आधार पर जिस राज्य का निर्माण होता है, उसकी वैधता सशर्त होती है। वह अंतिम शरण है। जो न्याय राज्य लागू करता है, वह पूर्ण आत्म-संतोष का आदर्श न्याय या प्राकृतिक श्रेयस् नहीं होता। वह व्यावहारिक न्याय होता है, रूढ़ श्रेयस् होता है और इसका संतोष पारस्परिक सहनशीलता द्वारा सीमित होता है। वह बलवान् का बल नहीं, निर्बल की आवश्यकता है और यदि यह किसी अर्थ में बल है भी, तो "थोड़ों की शक्ति के विरुद्ध संगठित बहुतों की निर्बलता का बल है"[1]।

यहाँ तक व्यक्तिवाद अपने चरम रूप में प्रकट नहीं होता। इसमें केवल दो ही निष्कर्ष निहित हैं जिन्हें संयत समझा जा सकता है: प्रकृति की एक ऐसी मूल अवस्था थी जिसमें हर आदमी अपने मनचाहे ढँग से, व्यक्ति के रूप में रहता था, बाद में एक संविदा हुआ जिसमें लोगों ने सोच-समझ कर एक सौदा किया—सौदा यह था कि उनके जीवन की रक्षा की जाए, उनके निरापद रहने की व्यवस्था की जाए और इसके बदले में वे अपनी इच्छा के स्वतंत्र प्रयोग के अधिकार का समर्पण कर देंगे। ग्लॉकन द्वारा वर्णित सामाजिक संविदा का सिद्धांत अपने इस संयत रूप में शायद डिमोक्रिटस का सिद्धांत रहा होगा। यह सोचने के अनेक कारण हैं। पहला तो यह कि हम जानते हैं बाद के दिनों में एपीक्यूरस सामाजिक संविदा के सिद्धांत का पोषक था और चूंकि वह कई दृष्टियों से डिमोक्रिटस का अनुयायी था; अतः यह मानना स्वाभाविक है कि उसने राजनीतिक सिद्धांत में डिमोक्रिटस का अनुसरण किया होगा। एपीक्यूरस की भाँति डिमोक्रिटस भी सुखवाद (hedonism) के सिद्धांत की शिक्षा देता था। इस सिद्धांत में व्यक्ति की महत्ता पर ज़ोर दिया जाता है और यह एक ऐसे राजनीतिक सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ है जो मानता है कि राज्य का उद्भव व्यक्तियों के संविदे के फलस्वरूप हुआ। फिर, हम यह भी जानते हैं कि डिमोक्रिटस भाषा के रूढ़िगत और कृत्रिम उद्भव में विश्वास करता था। यह भी कहा गया है कि वह रंग और स्वाद जैसे गौण गुणों को 'रूढ़िगत' मानता था। भाषा और गौण गुणों के बारे में उसका जो विश्वास था, वही राज्य के बारे में रहा होगा।

---

[1] जॉवेट द्वारा किए गए **रिपब्लिक** के अनुवाद के आधार पर; भूमिका, पृ० 32।

अब हम प्रकृति और विधि की प्रतिपक्षता के दूसरे और चरम रूप पर विचार करेंगे जिसका उल्लेख प्लेटो ने **गॉर्जियाज़्** में किया है। यहाँ सामाजिक संविदा द्वारा प्रतिष्ठित रूढ़िगत न्याय को पूरी तरह अस्वीकृत करके शक्ति के प्राकृतिक न्याय को पूरी तरह अपनाया गया है। यद्यपि **गॉर्जियाज़्** में इस विचार का प्रतिपादन है लेकिन प्लेटो ने यह विचार खुद गॉर्जियाज़ के माथे नहीं मढ़ा है। (हम देख ही चुके हैं कि गॉर्जियाज़ ने स्वयं किसी नैतिक अथवा राजनीतिक सिद्धांत की शिक्षा नहीं दी थी और प्लेटो ने भी उसे ऐसे किसी सिद्धांत का प्रवर्त्तक नहीं माना)। प्लेटो ने कैलीक्लीज़ नाम के किसी व्यक्ति को इस सिद्धांत का प्रतिपादक बताया है। हमें कैलीक्लीज़ के अस्तित्व के बारे में और कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी हो सकता है वह पाँचवीं शताब्दी के उत्तर काल का कोई वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति रहा हो[1]। कैलीक्लीज़ विधि मात्र को अस्वीकार करता है—वह उसे संविदाओं की हेय सृष्टि मानता है। उसके अनुसार बलवानों को उनके न्याय अधिकार से वंचित करने के लिए निर्बलों ने ये संविदे या समझौते किए हैं (492 C)। विधि 'दासोचित नैतिकता' की स्थापना करती है। (विधि सज्जनों की सृष्टि नहीं, दुर्जनों की है) और दासोचित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं क्योंकि प्रकृति और विधि का विरोध होता है और मानव-जीवन का सच्चा नियम है प्रकृति। यदि हम इस नियम का अनुसरण करें—और हमें यही करना चाहिए—तो हम देखेंगे कि नैतिकता और अधिकार इस बात में निहित है कि शक्ति का अधिकतम प्रयोग किया जाए जिससे कि शक्ति के द्वारा जितना सुख प्राप्त किया जा सकता है, किया जाए, इतना प्रचुर सुख जो निर्बल कभी नहीं कर सकता। अस्तु, असमानता प्रकृति का नियम है। यह रूढ़ि का प्रताप है कि समानता का अस्तित्व है, या कि लोग वितरण की समानता का दावा करते हैं। प्रकृति से मनुष्य असमान होते हैं और बलवान निर्बल से अधिक पा लेता है। यहाँ कैलीक्लीज़ जिस बल की बात कर रहा है, वह केवल शारीरिक बल नहीं है। वह शरीर और मन दोनों की—अथवा एक ही शब्द में कहें तो संपूर्ण व्यक्तित्व की—क्षमताओं की चर्चा कर रहा है। वह उस शक्ति की बात कर रहा है जिसे मैकियावेली ने प्राणवत्ता *(virtu)* कहा है और जिससे उसने सीज़र बोर्गिया को संपन्न माना है। यह प्राणवत्ता बुद्धि से पोषित इच्छा-शक्ति में निहित है। प्राणवान् व्यक्ति अथवा नीत्शे की भाषा में, अति-मानव यदि एक बार अपनी सारी शक्ति सहेज कर उठा खड़ा तो वह यूथ के प्रभुत्व को और उसकी यूथ-नैतिकता को उखाड़ कर फेंक देगा। उसके व्यक्तित्व में प्रकृति का न्याय अपनी पूर्णता में साकार हो उठेगा (484 A)।

अंत:करण, आत्मा कभी, कभी अंतर्मन,
ये तो निपट क्लीव, कायर-वाणी के गुंजन।
पुरुषसिंह-गर्जन-मंदन हित इनका सर्जन,
अपना तो भुजबल ही हो अपना अंतर्मन।।

---

1. बर्नेट, ग्रीक फिलॉसफ़ी पृ० 121 : क्रीगबाउम, डेर उर्सप्रंग डेर वॉन कैलीक्लीज़ इन प्लेटोन्स गॉर्जियॉज़ बर्ट्रेटेनेन ऑस्चाउनगेन, पृ० 42।

'शक्ति की इच्छा' के इस प्राचीन ,यूनानी सिद्धांत और नीत्शे की शिक्षा के सादृश्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक नहीं है[1]। नीत्शे ने कहा था कि "सत्य की कसौटी यह है कि भावना को बढ़ाया जाए"। यह बात कैलीक्लीज़ भी कह सकता था। नीत्शे की भाँति कैलीक्लीज़ आचारों का इतना विध्वंसक नहीं जितना नैतिक क्रांतिकारी है। वह नैतिकता का तिरस्कार नहीं करता, वह रूढ़िबद्ध अथवा यूथ नैतिकता का तिरस्कार करता है ताकि उसकी जगह प्राकृतिक अथवा स्वामित्व-नैतिकता की स्थापना हो सके। वह मानता है कि प्राकृतिक अधिकार जैसी चीज़ होती है लेकिन उसके अनुसार उसका आधार है शक्ति।

प्लेटो ने रिपब्लिक के पहले खंड में इससे भी अधिक उग्र और चरम स्थिति का निरूपण किया है। यह स्थिति पाँचवीं शताब्दी के उत्तरकाल के एक सोफ़िस्ट काल्सीडॉन के थ्रेसीमेकस के माध्यम से व्यक्त की गई है। थ्रेसीमेकस के विचार से प्राकृतिक सत्य नाम की कोई चीज़ नहीं। राज्य में जो सबसे सबल हो, वह अपने स्वार्थ के अनुकूल जिस किसी चीज़ को भी लागू कर दे, वही सत्य है। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि वह क्या लागू करता है—शक्तिशाली के सत्य को लागू करता है या दुर्बल के सत्य को, समानता को लागू करता है या असमानता को। वह जिस चीज़ को लागू करेगा, वह सत्य है। थ्रेसीमेकस यह नहीं मानता कि प्रकृति के आदेशानुसार शक्ति मूलतः सत्य होती है। थ्रेसीमेकस का कथन है कि शक्तिमान् जो कुछ भी लागू कर दे, वही सत्य होता है—फिर चाहे राज्य में शक्ति की प्रतिष्ठा कहीं भी हो और वह चाहे कुछ भी आदेश दे—उसके अनुसार इसके परे और कुछ सत्य नहीं। यदि निर्बल अपने हित में अथवा अपने हित के विषय में अपनी संकल्पना के अनुसार विधियाँ बनाए, तो वे विधियाँ और उनके द्वारा प्रतिष्ठित अधिकार तभी तक न्यायपूर्ण और सत्य रहते हैं जब तक कि वे उन्हें लागू करते रह सकें। ज्यों ही यह स्थिति आ जाए कि उन्हें लागू न किया जा सके, त्यों ही वे सत्य नहीं रह जाते। कैलीक्लीज़ तो कुछ आदर्शवादी-सा है, वह ऐसे प्राकृतिक सत्य में विश्वास करता है, जो सदैव सत्य बना रहता है; पर थ्रेसीमेकस अनुभववादी (empiricist) है। उसका विश्वास है कि अनन्य और चिरंतन सत्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। उसके विचार नीत्शे से नहीं, हॉब्स से मिलते हैं। हॉब्स की भाँति उसका भी विचार है कि प्रभु-शक्ति का आदेश ही एकमात्र सत्य है। कहा गया है[2] कि यह नैतिक नाशवाद (ethical nihilism) है। नैतिकता के क्षेत्र में यह गॉर्जियाज़ के बौद्धिक नाशवाद की तर्कसंगत पूर्ति है यद्यपि यह ऐसी पूर्ति है जो गॉर्जियाज़ की अपनी शिक्षा में नहीं थी। जिस प्रकार गॉर्जियाज़ का विचार है कि आप परम तत्त्व (Being) को नहीं जान सकते, उसी प्रकार थ्रेसीमेकस का विचार है कि आप सत्य को नहीं जान सकते। जैसे गॉर्जियाज़, परोक्षतः, हमें वस्तु के 'आभास' (appearance) पर ले पहुँचता है, वैसे ही थ्रेसीमेकस हमें प्रत्यक्षतः विभिन्न प्रभुसत्ताधारियों के द्वारा लागू

---

[1] तथापि, सादृश्यताएँ वृहद् अंतर को दूर नहीं करतीं। नीत्शे एक सिद्धांतवादी नहीं, प्रत्युत सूत्रकार है। वह सौंदर्यवादी दृष्टिकोण से लिखता है। कलीक्लीज़ इससे बहुत दूर है।

[2] बर्नेट, पू० कृ०, पृ० 121।

की गई विभिन्न विधियों के अधिनियमों (enactments) पर अथवा आभासों पर ले पहुँचता है।

इन सिद्धांतों के पीछे कुछ ऐतिहासिक तथ्य हैं जो उनके स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक हैं और जिनके बिना वे अस्तित्व में न आए होते। **गॉर्जियाज़** में कैलीक्लीज़ के तर्क से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह हम देख ही चुके हैं कि कैलीक्लीज़ के अनुसार असमानता और बलवान का शासन प्राकृतिक विधि के तकाज़े हैं। यदि हम प्रमाण माँगें, तो हमें दो प्रमाण मिलेंगे। पहला प्रमाण पशु सृष्टि (483 D) का है यानी पशु जगत से हमें उदाहरण दे दिया जाएगा। यह वही तर्क है जिसका स्वयं प्लेटो ने **रिपब्लिक** में प्रयोग किया है—लेकिन बहुत भिन्न रीति से। और यह वही तर्क है जिसका लगता है, एथेंस में भी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धांत को उचित ठहराने के लिए उसी अर्थ में प्रयोग होता था जिस अर्थ में कैलीक्लीज़ ने उसका प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये अरिस्टोफ़ेन्स के **क्लाउड्स** शीर्षक नाटक में (जिसमें उग्र सोफ़िस्टों की शिक्षा का मज़ाक उड़ाया गया है) स्ट्रेप्सिएड्स अपने पिता पर प्रहार करता है और यह कह कर अपने कार्य को उचित ठहराता है "मुर्गों को और अन्य ऐसे ही पशुओं को देखो; वे अपने बापों को दंड देते हैं; और वे हमसे किस बात में भिन्न हैं—सिवाय इसके कि वे संसद् के अधिनियम नहीं बनाते" ? इस तर्क का जब इस अर्थ में प्रयोग होता है तो वह हमें पशु-जगत में अस्तित्व-संघर्ष और योग्यतम की चिरजीविता पर आधारित बल की प्रभुता के नियम के पक्ष में दी जाने वाली आधुनिक दलीलों की याद दिला देता है। उन 'दादाओं' के जो अपने आपको जीवन-संघर्ष, का सिपाही बताते हों प्राचीन संस्करण भी हैं; और हक्सले के शब्दों में कहें तो कैलीक्लीज़ मानों 'व्याघ्र-अधिकारों' के सिद्धांत का पहले ही से प्रयोग करता प्रतीत होता है। इस सिद्धांत का उपयोग आजकल के अन्य अनेक विचारकों ने भी किया है लेकिन वह मानव-जगत पर बिल्कुल लागू नहीं होता[1]। पर, कैलीक्लीज़ का यह प्रमुख तर्क नहीं है। प्रकृति के विषय में उसकी धारणा का वास्तविक आधार राज्यों का उस समय का आचरण है जब वे राज्यों के रूप में काम कर रहें हों (483 D)। यह बात हॉब्स के संदर्भ में समझी जा सकती है। प्रकृति की असंस्कृत अवस्था के विषय में उसकी संकलपना का कारण यह है कि राज्य सदैव ही "मल्लों की स्थिति और भंगिमा में रहते हैं"।

राज्यों के संबंधों पर आधारित किसी तर्क को व्यक्तियों के संबंधों पर लागू किया जा सकता है या नहीं—यह प्रश्न अपने आप में इतना बड़ा है कि इस पर यहाँ

---

[1] "प्रकृति......ऐसे किन्हीं अधिकारों को नहीं मानती जो होने चाहिएं : उसके अधिकार तो केवल वे शक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग उसका प्राणी संघर्ष में स्वत्वाधिकार के लिए सचमुच करता है...उसकी विधियाँ निर्मम तथ्यों का आख्यान मात्र हैं : उसके अधिकार केवल पाशविक शक्तियाँ हैं...ऐसे क्षेत्र में कोई अधिकार नहीं होते; और नैतिक अधिकारों का विचार तो यहाँ एकदम असंगत माना जाना चाहिए" (पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम हर्बर्ट स्पेंसर टु टुडे, पृ० 134)।

विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का तर्क पशु-जगत से ग्रहण किए गए तर्क से भिन्न है क्योंकि यह मानव-जीवन के एक विभाग में निरखे-परखे नियम को दूसरे विभाग में लागू करने वाली बात है; परंतु कहा जा सकता है कि इन दोनों विभागों में आधारभूत अंतर है और एक विभाग का आधार लेकर दूसरे विभाग के संवंध में तर्क करना उचित नहीं है; और यदि इस तरह का तर्क किया भी जाए तो उसकी दिशा उलटी होनी चाहिए। जो भी हो, यह बात ध्यान देने की है कि यूनान में शक्ति के दर्शन का जिस रूप में आविर्भाव हुआ, उसका कारण बहुत हद तक राजनीतिक तथ्य थे विशेषकर एथेनी साम्राज्य के राजनीतिक तथ्य। इस साम्राज्य के अग्रणी एथेंस को उसी रूप में ग्रहण किया जाता था जैसे कोई अत्याचारी शासक होता है। अपनी शक्ति के कारण उसने अपनी इच्छा और अपने स्वार्थ को साम्राज्य के अन्य सदस्यों के ऊपर आरोपित किया और उसे ही सत्य का मानदंड माना और यह कहा गया कि व्यक्ति को नगर का अनुसरण करने का हक है। लगता है अत्याचार के लिए यूनानियों के मन में एक साथ ही आकर्षण भी था और वितृष्णा भी—चाहे वह अत्याचार व्यक्ति का हो, चाहे किसी नगर का। 'अत्याचारी जीवन' उन्हें कभी तो निकृष्टतम लगता है और कभी उत्कृष्टतम—जैसे कैलीक्लीज़ को। यूरिपिडीज़ के मन में अत्याचारी व्यक्ति के प्रति आकर्षण था—यह बात **हरकुलीज फ्यूरेन्स**[1] से स्पष्ट हो जाती है। हम यह अनुभव किए विना नहीं रह सकते कि **रिपब्लिक** और **गॉर्जियाज़** में शक्ति के जिस दर्शन का निरूपण हुआ, उसके पीछे भी अत्याचारी का—पौरुष-युक्त अति-मानव का—व्यक्तित्व है, जो अधिक बलिष्ठ होने के नाते अपने बल को ही न्याय का मानदंड बना लेता है। सच तो यह है कि प्लेटो ने इसका स्पष्ट संकेत दिया है। लेकिन, शायद अत्याचारी व्यक्ति के व्यक्तित्व से भी अधिक प्रभावशाली अत्याचारी नगर का तथ्य था। थ्यूसीडाइड्स ने इस बात पर वारंवार ज़ोर दिया है कि एथेंनी साम्राज्य का आधार बलवानों का दुर्बलों पर शासन करने का अधिकार है। पेलोपोनेशियाई युद्ध शुरू होने से पहले एथेंस के राजदूतों की स्पार्टावासियों से जो वातचीत हुई थी, उसमें एथेनी राजदूतों ने स्पार्टावासियों से कह दिया था कि "यह हमेशा एक ध्रुव सत्य रहा है कि निर्बल सबल के नियंत्रण में रहें"। एथेंसवासियों के नेता भी सभा में इसी स्वर में बोलते हैं। पेरीक्लीज़ ने 430 ई० पू० में कहा था "आपका साम्राज्य अत्याचारी के शासन की भाँति है"। क्लिओन ने 427 ई० पू० में इसमें यह और जोड़ा कि "यह अत्याचारी शासन आपकी प्रजा के सद्भाव पर नहीं, आपकी शक्ति पर टिका है"। सबसे प्रसिद्ध और सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा मेलोस के लोगों के प्रति एथेंस के दूतों की है। मेलोस एक द्वीप था जो 425 ई० पू० के बाद से नाम मात्र के लिए साम्राज्य में सम्मिलित था। चूंकि वह कर न

---

[1] **फोएनिस्साए** की 504—10 पंक्तियों और **सप्लाइसेज़** की 409—25 पंक्तियों से भी तुलना कीजिए। यूरिपिडीज़ संभवतः बैरिस्टर जैसे उत्साह से एक पक्ष को प्रस्तुत कर रहा है, जैसा कि वह प्रायः करता है। पर, वह मकेदोनिया के दरबार में रह चुका था। प्लेटो का त्रासदीकारों पर यह आक्षेप है कि अत्याचार के प्रति उनके मन में सहानुभूति है।

दे सका था, इसलिए एथेंसवासियों ने 416 ई० पू० में उस पर आक्रमण कर दिया था ।

> "हमारी तरह आप भी यह अच्छी तरह जानते हैं कि संसार की जो गति है, उसमें अधिकार का प्रश्न केवल समान शक्ति वाले लोगों के बीच ही उठता है । संसार में बलवान् व्यक्ति जो कुछ कर सकते हैं, करते हैं और दुर्बलों के सिर पर जो आ पड़ती है, वे उसे सहते हैं । देवताओं के बारे में परंपरागत विश्वास के कारण और मनुष्यों के बारे में अनुभव के आधार पर हम जानते हैं कि प्रकृति के अकाट्य नियम के अनुसार वे जहाँ कहीं शासन कर सकते हैं करते हैं"[1] ।

थ्यूसीडाइड्स ने ये भाव अधिकारी एथेनियों की वाणी से व्यक्त कराए हैं और इन एथेनियों में दूसरे राज्यों में भेजे हुए दूत भी हैं तथा देश के भीतर सक्रिय राजनीतिज्ञ भी । और उसका दावा है कि उसने उनके भाषणों को लिपिबद्ध किया है । हो सकता है वह इतिहासकार से अधिक दार्शनिक के रूप में लिख रहा हो और अपने पात्रों द्वारा उन सिद्धांतों का निरूपण करवा रहा हो जो उनके कार्यकलाप के मूल में निहित थे—जिन पर वे स्वयं राजनीतिज्ञों की तरह शिष्ट शब्दों का पर्दा डाल देते थे । लेकिन, इसमें कोई संदेह नहीं कि अल्पतंत्रीय वृत्तों में और विशेष कर अल्पतंत्रीय मंडलों में एथेंस द्वारा साम्राज्य के शासन की—और हम कह सकते हैं कि स्वयं लोकतंत्र द्वारा एथेंस के शासन की—घोर निंदा की जाती थी और उसे उच्च स्वर से केवल शक्ति पर आधारित बताया जाता था । एथेंस के अल्पतंत्रीय वृत्तों का कथन था कि अत्याचारी नगर के विरुद्ध मित्र-राज्यों के साथ उनकी सहानुभूति है, और वे उस नगर के लोकतंत्रात्मक शासन को सामूहिक स्वार्थपरता का एक नमूना समझते थे और वह स्वार्थ प्रकट इस तरह होता था कि अमीरों पर तथा गरीबों के संपन्न धर्मस्व पर भारी कर लगाकर मिली-जुली जनता के हित साधे जाते थे । अल्पतंत्र की ओर झुके हुए एथेंसवासियों ने पाया था कि लोकतंत्र के मूल में भी "शक्ति ही न्याय है" का सिद्धांत सक्रिय है—पर स्वयं उन्होंने भी अनिवार्य रूप से इस सिद्धांत को छोड़ नहीं दिया था । वे सिद्धांत को कम पर उसके प्रयोग को ज्यादा नापसंद करते थे । यदि एलिसबिआडिज़ और उसके मित्रों को अवसर मिलता, तो वे स्वयं भी संभवतः उल्टी दिशा में उसका प्रयोग करने के लिए तैयार थे । सच तो यह है कि अल्पतंत्रीय विचारधारा और उग्र सोफ़िस्टों की शिक्षा में जो सादृश्य था, उसी के कारण सोफ़िस्ट एथेंस की जनता में इतने बदनाम हो गए थे । सोफ़िस्ट अमीरों को वक्तृत्व-कला और राजनीतिक योग्यता की ऐसी शिक्षा देते थे जिसे खरीदना गरीबों के बस की बात न थी । इसलिए, सोफ़िस्ट संदेह की दृष्टि से देखे जाते थे । जब कुछ सोफ़िस्टों के बारे में यह समझा गया कि वे अल्पतंत्रीय क्लबों की

---

[1] थ्यूसीडाइड्स, I. 76 : II 63 : III, 37 : 89 और 105 । ये निर्देश फ्रीगबाउम की पूर्वोद्धृत उपयोगी पुस्तिका में संकलित हैं, पृ० 67 और क्रमशः ।

प्रचलित विचारधारा को दार्शनिक अभिव्यक्ति दे रहे हैं, तो उन्हें और भी अधिक संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा[1]।

---

[1] यह सुझाव कि 'अति-राज्य' के सिद्धांत और व्यवहार ने अति-मानव के सिद्धांत के विकास में योग दिया, नीत्शे के ऊपर लागू नहीं किया जा सकता। नीत्शे का अति-मानव में भले ही विश्वास रहा हो पर आक्रामक राज्य और उसके सैनिकवाद से उसे घृणा थी। उसकी यूरोप के संयुक्त राज्य में आस्था थी।

(छ) सामान्य प्रतिमा-भंजन

प्रकृति को विधि के विरोध में रखने की प्रवृत्ति ने न केवल राज्य का विध्वंस करने वाले विचारों को जन्म दिया बल्कि अनेकों संस्थाओं और विश्वासों का विनाश करने वाले मतों को भी जन्म दिया। एक बार प्रकृति को रूढ़ि के विरोध में खड़ा कर दीजिए : युग-युगों की सारी परंपरा नष्ट हो जाएगी। हम कई चीजों को स्थानापन्न के रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं क्योंकि प्रकृति की अनेक रूपों में व्याख्या की जा सकती है। वह केवल अपनी अभावात्मकता में, और रूढ़ि जो कुछ है वह न होने में, स्थिर है। भावात्मक पक्ष में वह अस्थिर है—यहाँ तक कि असंगत है और उसका प्रयोग कभी तो स्वामित्व की नैतिकता को क्षम्य मानने में किया जा सकता है और कभी उसके विरोध में दासता का खंडन करने में। उसका प्रयोग धर्म का महत्त्व कम करने में और देवताओं को रूढ़ि की सृष्टि बनाने में होना स्वाभाविक और सुगम था। प्रोडिकस की शिक्षा थी कि जिन देवताओं की पहले-पहल उपासना हुई, वे प्रकृति की शक्तियों के मानवीय रूप थे। 'नास्तिक' डायागोरस ने अपने एक विशिष्ट ग्रंथ में देवताओं की आलोचना की। क्रिटियास ने सिसीफस में कहा कि सामाजिक जीवन की पहले से अधिक समुचित सुरक्षा के लिए बुद्धिमानों ने देवताओं की कल्पना कर ली है। यह कल्पना इसलिए की गई कि देवताओं के डर से लोग चोरी-छिपे भी बुराई की कल्पना न करें; जैसे बुद्धिमान् व्यक्तियों की बनाई विधियों के कारण लोग खुले आम बुराई करने से डरते हैं। दासता की भी निंदा की गई—जैसे कि हमें यूरिपिडीज़ की कविता से पता चलता है :

"दास की तो संज्ञा ही ऐसी है कि शर्म से सिर झुक जाए"[1]।

चौथी शताब्दी में सोफ़िस्ट एल्सिडामस ने जब यह कहा कि प्रकृति से कोई भी व्यक्ति दास नहीं है, तो उसके स्वर में भी दासता की निंदा की गूँज थी। कुलीन

---

[1] *Ion*. 854—6.

तथा अकुलीन वर्ग के भेद को भी उतना ही कृत्रिम माना गया जितना स्वतंत्र व्यक्ति और दास के भेद को। यूरिपिडीज़ ने लिखा है :

> "प्रकृति के निकट कुलीन आदमी वही है जो—ईमानदार हो"[1]।

अरिस्टाटल का कथन है कि लाइकोफ्रोन जन्मना भेदभाव की वास्तविकता को अस्वीकार करता था। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** में बताया है कि लाइकोफ्रोन विधि को केवल रूढ़िगत और "एक दूसरे के विरोध में मनुष्यों के अधिकारों का गारंटी-कर्त्ता" कहता था। लेकिन, आलोचना इससे भी आगे बढ़ गई। उसने यूनानी समाज के शिखर तथा आधार—कुलीन तथा दास—को ही अस्वाभाविक नहीं बताया : उसने तो परिवार जैसी प्रतिदिन की संस्थाओं पर भी आक्षेप किया[2]। यूरीपिडीज़ ने स्त्रियों की समस्या की ओर भी ध्यान दिया है। **मीडिया** में उसकी नायिका पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की दशा पर दुःख प्रकट करती है। एक बार प्रसव-वेदना सहने की अपेक्षा वह तीन बार युद्ध-क्षेत्र में लड़ना कहीं अच्छा समझती है। **प्रोटेसिलाउज़** के एक खंडित अंश में उसने पत्नियों के साझे की पैरवी की है[3]।

---

[1] **फ्रेगमेंट**, 345 (डिन्डोर्फ़)।

[2] संभवतः, इसका आधार कुछ हद तक तुलनात्मक मानव-विज्ञान से प्राप्त हुआ। विवाह और संपत्ति-संबंधी विभिन्न प्रथाएँ विशेष रूप से ध्यान देने की हैं। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** (दूसरे खंड) में, में लीबिया की विवाह प्रथा का और संपत्ति के बारे में कुछ बर्बर कबीलों की प्रथाओं का उल्लेख किया है।

[3] **मीडिया**, 230; और क्रमशः **फ्रेगमेंट**, 655। यूरिपिडीज़ का मन और दृष्टिकोण कुछ-कुछ सोफ़िस्टों जैसा था। उसने सामाजिक और राजनीतिक जीवन के सभी ज्वलंत और विवादास्पद प्रश्नों पर विचार किया है। अपने **काव्य** में उसने पक्ष और विपक्ष दोनों ही के विचारों का समावेश किया है। इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि अत्याचारी शासन की समस्या में उसकी दिलचस्पी थी। वह न तो अत्याचारी शासन का पक्षपाती है, न लोकतंत्र का। उसे दोनों पक्षों की युक्तियाँ प्रस्तुत करना प्रिय है। उदाहरण के लिए, **सप्लाइसेज़** (399—455) का वह अवतरण प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें क्रिओन के प्रतिनिधि के रूप में थीब्स का दूत एथेनी लोकतंत्र के परंपरागत संस्थापक थीसियस के विरोध में अत्याचारी शासन का समर्थन करता है। जिस अवतरण में उसने लोकतंत्र का समर्थन किया है (**फोएनिस्साए**, 538—51 ; **सप्लाइसेज़**, 406—8 से तुलना कीजिए), उसमें वह प्रकृति-जगत के उदाहरण को—जिसका अनेक बार विपक्ष में प्रयोग किया गया था—लोकतंत्रात्मक समानता के पक्ष की युक्ति बनाकर प्रस्तुत करता है। "वर्ष के दौरान रात के बाद दिन और दिन के बाद रात समान रूप से आते रहते हैं। इसी प्रकार राज्य में पद की समानता रहनी चाहिए और उसका पारस्परिक परिवर्त्तन होते रहना चाहिए"। जहाँ तक यूरिपिडीज़ की अपनी पसंद का सवाल है, वह मध्यममार्गीय संविधान के पक्ष में है जिसमें मध्यमवर्ग सर्वोच्च होते हैं। तीनों वर्गों में मध्य वर्ग ही ऐसा है जो "राज्यों की रक्षा करता है और उनकी व्यवस्था को कायम रखता है"। (**सप्लाइसेज़**, 244—5)। इसके आगे, वह देहाती किसान का भी प्रशंसक है। उसको वह संभवतः मध्य वर्ग का मेरुदंड

अरिस्टोफेन्स ने **क्लाउड्स** में 'कुतर्क' को मूर्तिमान करके सोफ़िस्टों की शिक्षा पर व्यंग्य किया है। **एक्लेसिआज़ुसाए** में वह स्त्रियों की संसद के विचार का उपहास करता है। स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों की मुक्ति के बारे में चर्चा होने लगी थी। प्लेटो ने स्त्रियों की समस्या का समाधान साम्यवाद में ढूंढ़ा था और उसका मत था कि उन्हें पुरुषों जैसा काम दिया जाना चाहिए। लगता है इस समाधान की पहले ही कल्पना की जा चुकी थी। वास्तव में, **रिपब्लिक** पर सामान्यतः विचारों के उस समस्त आंदोलन का ऋण है जो पाँचवीं शताब्दी के एथेंस का विशेष लक्षण था। यदि प्लेटो ने यूनान की धर्म-विषयक संकल्पनाओं को बदलने का प्रयास किया, तो इस क्षेत्र में भी उसके पूर्ववर्त्ती थे। यदि उसने सामाजिक वर्ग-व्यवस्था के पुनर्निर्माण का और दार्शनिकों के अभिजात-तंत्र की स्थापना का प्रयास किया, तो उसके पूर्व ऐसे विचारक हो चुके थे, जिन्होंने किसी को जन्मना कुलीन-अकुलीन मानने का विरोध किया था। यदि उसने परिवार का अंत करके समाज को नया रूप देने की कोशिश की, तो इस क्षेत्र में भी उससे पहले ऐसे लोग हो चुके थे—जैसा कि हमें यूरिपिडीज़ से ज्ञात होता है। राजनीति का समष्टिवाद (यदि उसे इस नाम से पुकारा जा सके) पूर्ववर्त्ती व्यक्तिवाद की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है; और दार्शनिक राजा और कोई नहीं, 'सबल व्यक्ति' ही है—हाँ, उसे अपने ढंग से सँवार लिया गया है, शिक्षित-दीक्षित कर लिया गया है और उसका रूप बदल दिया गया है। **रिपब्लिक** का जन्म प्लेटो के मानस में अचानक अपने आप ही नहीं हो गया था। उसकी भूमिका और निर्माण के बीज पूर्ववर्त्ती चिंतन में निहित थे। यदि हम यह पाते हैं कि प्लेटो निरंतर अपने पूर्ववर्त्तियों के विरोध में बोलता है, तो हमें यह भी भूल नहीं जाना चाहिए कि प्लेटो उनका ऋणी भी है। उन्होंने प्लेटो को केवल आधार-बिंदु और प्रेरणा ही नहीं दी बल्कि ऐसी सामग्री भी दी जिसका उसने उपयोग किया।

सोफ़िस्टों की शिक्षा और प्रवृत्ति के संबंध में कोई सामान्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करना कठिन है। प्रोटेगोरस से थ्रेसीमेकस तक की दूरी बहुत बड़ी दूरी है और दोनों को किसी एक सूत्र में बाँधना कठिन है। शुरू की पीढ़ी रूढ़िवादी थी—इसका प्रतिनिधि प्रोटेगोरस है। बाद की पीढ़ी के प्रतिनिधि कैलीक्लीज़ और थ्रेसीमेकस हैं।

समझता था। **ओरेस्टेस**, (917—22) में उसने देहाती किसान के बारे में कहा है कि "वह नगर में और बाज़ार के चौक में बहुत कम जाता है। अपने हाथों से वही इस ढँग का काम करता है जिससे ज़मीन की रक्षा होती है। वह कुशाग्रबुद्धि होता है। वह बहस में एक दम आमने-सामने आ डटने के लिए तैयार रहता है। वह आडंबरों से दूर रहता है और उसका जीवन निर्दोष होता है"। मध्य वर्ग और देहाती किसान की इस प्रकार की प्रशंसा करते समय यूरिपिडीज़ अपने समय के प्रचलित विचारों को और एथेंस के मध्यमार्गीय दल के मत को ही व्यक्त कर रहा है। थेरामीन्स का एथेंस के इसी मध्यमार्गीय दल से संबंध था। इन सामान्य विचारों ने एथेंस के पुस्तिका-साहित्य पर अपनी छाप छोड़ी थी। अरिस्टाटल ने इन सामान्य विचारों को ग्रहण कर लिया और उनको **पॉलिटिक्स** में—विशेषकर उसके छठे खंड में—समाविष्ट कर लिया।

इसके बारे में हमें जो कुछ ज्ञात होता है केवल प्लेटो से और एंटीफ़ोन की नई खंड-रचना से ही होता है पर इतना हम जान सकते हैं कि सिद्धांतों की दृष्टि से यह पीढ़ी क्रांतिवादी हो गई थी। प्लेटो के संवादों में दोनों पीढ़ियों के सोफ़िस्टों का चित्रण है। प्लेटो पर दोनों ही पीढ़ियों के सोफ़िस्टों की शिक्षा का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा—कहीं आकर्षण के द्वारा, कहीं विकर्षण के। कुल मिलाकर उसका निर्णय उनके प्रतिकूल ही है। यह सच है कि वह प्रोटेगोरस के साथ न्याय कर सकता है और गॉर्जियाज़ की भी चर्चा कुछ सम्मान-पूर्वक करता है, लेकिन, उसका पुराने सोफ़िस्टों के बारे में भी यही विचार है कि वे तर्क का नहीं प्रत्युत वाग्मिता का, मौलिकता का नहीं, प्रत्युत रूढ़िवादिता का ही परिचय देते हैं। सामान्य रूप से उसकी दृष्टि उग्र संप्रदाय पर केंद्रित रही है। इस संप्रदाय ने प्रकृति और रूढ़ि को एक दूसरे से अलग कर दिया था। प्लेटो ने गॉर्जियाज़ में, रिपब्लिक में और लॉज़ के दसवें खण्ड में इस बात पर ज़ोर दिया है कि यह पृथक्करण भूल है और इसके भयंकर व्यावहारिक दुष्परिणाम होते हैं। प्रकृति और रूढ़ि को सहज विरोधी मानकर सत्य को नहीं पाया जा सकता, न न्याय की सिद्धि हो सकती है—इसके लिए तो आवश्यक यह है कि दार्शनिक शिक्षा और अंतर्दृष्टि के सहारे रूढ़ियों में निहित शाश्वत 'विचार' खोज निकाले जाएँ और उन 'विचारों' के आलोक में रूढ़ियों को उदात्त स्वरूप में ढाला जाए, उनका उन्नयन किया जाए।

(ज) पैम्फ़्लेटनवीस और कल्पना-राज्यवादी

सोफ़िस्टों के दृष्टिकोण में परस्पर चाहे कितना ही भेद क्यों न रहा हो, परंतु वे सब प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की ओर मुड़ने में एकमत थे। हम देख चुके हैं प्रोटेगोरस और गॉर्जियाज़ ने इस परिवर्तन को आसान बना दिया था—गॉर्जियाज़ ने तो यह दिखाकर कि पुरानी भौतिक संकल्पनाएँ असंभव हैं और प्रोटेगोरस ने मानव-बुद्धि के मापों की सचाई और मूल्य पर ज़ोर देकर। उनकी देखा-देखी अनेक सोफ़िस्टों ने मनुष्य की बहुमुखी गतिविधियों का—उसकी राजनीति का, उसकी विधि और भाषा का—अध्ययन किया। भविष्य के लिए जो दिशा बनने को थी वह 'मानवीय वस्तु-व्यापार' के अध्ययन की दिशा थी और चिंतन का प्रवाह इसी दिशा में होने को था। यह चिंतन प्रधान रूप से राजनीतिक ही हो सकता था। मनुष्य राज्य से इतना अधिक बँधा हुआ था कि व्यक्तिगत नीति की अविकल चर्चा संभव न थी। मानवीय क्रिया-कलाप का अगर कोई दर्शन हो सकता था, तो बहुत हद तक उसका 'राजनीतिक' दर्शन होना अनिवार्य था। फिर, सम-सामयिक दलों के संघर्ष में भी ऐसे प्रश्न निरंतर उठते थे जिनके उत्तर की अपेक्षा थी और जिन्होंने राजनीतिक चिंतन को बहुत आवश्यक और व्यावहारिक चीज़ बना दिया था। राजनीति का व्यस्त अध्ययन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ा। वह अंशत: ऐतिहासिक था। यहाँ राजनीतिक चिंतन ने ऐतिहासिक समाख्यान (narration) और अनुसंधान का जामा पहन लिया। वह अंशत: आदर्श था; और लोगों ने ऐसे कल्पना-राज्यों (Utopias) का स्वप्न देखा जो केवल कल्पना की चीज़ नहीं मालूम पड़ते थे। अंत में, साक्रेटीज़ के मन में उसका रूप सुधारपरक था, उसकी उत्साहपूर्वक शिक्षा दी जा सकती थी और उसका प्रचार किया जा सकता था।

ऐतिहासिक पहलू में राजनीतिक चिंतन अनेक रूपों में प्रकट हुआ। वह हेरोडोटस और थ्यूसीडाइड्स के नपे-तुले इतिहास में प्रकट हुआ। हेरोडोटस ने रूढ़ियों की विविधता पर विचार किया। उसने राजतंत्र, अभिजात-तंत्र और लोकतंत्र के

गुणों की तुलना की। थ्यूसीडाइड्स ने यूनान के राजनीतिक घटना-प्रवाह का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया। भाषणों में, जहाँ उसने राजनीतिक विचारों को मुक्त आकाश में विचरने दिया है, वहाँ उसने पेरीक्लीज़ से आदर्श एथेंस का चित्र उपस्थित कराया है, सिराक्यूज़ के एथेनागोरस से लोक-शासन के सिद्धांतों का समर्थन कराया है अथवा मेलोस-स्थित एथेंस के राजदूतों से अपने साम्राज्य के मूलवर्त्ती शासन-सिद्धांतों का विवेचन कराया है। लेकिन, हमारा इतिहास की अपेक्षा राजनीतिक पैम्फ़लेटों से कहीं गहरा सरोकार है। और एथेंस में पाँचवीं शताब्दी के अंत में अनेक राजनीतिक पैम्फ़लेट लिखे गए थे[1]। इनमें से पहला थाओस के एक साहित्यकार स्टेसिब्रोटस ने लिखा था। इस लेखक ने 430 ई० पू० के तुरंत बाद थेमिस्टोक्लीज़ (मेक्लेसिआस के पुत्र) राजमर्मज्ञ थ्यूसीडाइड्स और पेरीक्लीज़ पर एक पुस्तक लिखी थी। यह ऐसी कृति है जिसमें, कुछ लोगों के विचार से, एथेंस के सबसे बड़े राजमर्मज्ञों द्वारा एथेंस के लोकतंत्र का मूल्यांकन कराने की चेष्टा की गई है। परंतु कुछ और लोगों का विचार है कि यह राजनीतिक प्रवादों का संकलन मात्र है। एथेनी संविधान के बारे में एक ग्रंथ अब भी सुरक्षित है जिसका लेखक कभी गलती से ज़ेनोफॉन को माना जाता था। शायद इस ग्रंथ की रचना अल्पतंत्री दल के एक सदस्य ने 425 ई० पू० के आस-पास की थी। वह जो कुछ वर्णन करता है, उसकी आलोचना करता है लेकिन वह जिसकी आलोचना करता है उसे समझने की कोशिश करता है। इस पुस्तक में बताया गया है कि एथेनी लोकतंत्र की विशेषताओं का जन्म स्वतंत्रता के सिद्धांत से होता है, जिसे उसने अपनाया था। लेखक ने समुद्र-शक्ति और लोकतंत्र के बीच भी घनिष्ठ संबंध जोड़ा है। इस 'पुराने अल्पतंत्री' ने अपने विवरणों को जिस हद तक सामान्य सिद्धांतों से अनुप्राणित कर दिया है, उसके कारण उसके ग्रंथ को "समाज और राजनीति में निगमनात्मक पद्धति का आदि आदर्श कहा गया है"[2]। एथेंस के संविधान के बारे में भिन्न दृष्टिकोण से लिखा गया एक पैम्फ़लेट और है जिसका रचनाकार अनुमान के आधार पर अवसरवादी थेरामीन्स को माना गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि अरिस्टाटल-रचित एथेंस का जो संविधान हमें उपलब्ध है वह इस पैम्फ़लेट पर आधारित था। यह पैम्फ़लेट कभी भले ही विद्यमान रहा हो, पर अब लुप्त हो चुका है। इस पैम्फ़लेट में एथेंस के प्रमुख राजमर्मज्ञों को आधार बनाकर एथेंस के लोकतत्र का विवेचन किया गया था और उनके इतिहास के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि एथेंस के लिए पेरीक्लीज़-युगीन उग्र लोकतंत्र के स्थान पर मध्यमार्गीय संविधान अधिक उचित होगा। लेखक ने इस प्रकार के संविधान को सोलोन-युग के प्राचीन 'परंपरागत' संविधान के समरूप बताया है।

---

[1] इनका विवरण जानने के लिए निम्नलिखित दो ग्रंथों का अध्ययन कीजिए : विलामोवित्ज़, **अरिस्टाटलीज़ उंद एथेन**, I. 161 और क्रमशः, और डेरप (**हीरोदु—पेरी पोलितेअस**) पृ० 110 और क्रमशः।

[2] (शोल के आधार पर) गम्पर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स**, I. 500। ग्रंथ के तर्क के बारे में अध्याय 11, खंड (ङ) से और अध्याय 14, खंड (ख) से तुलना कीजिए।

अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** में मध्यमार्गीय लोकतंत्र (अथवा **पॉलिटी**) को जो तरजीह दी है, उस पर हो सकता है इस लेखक के तर्कों का प्रभाव पड़ा हो[1]।

हो सकता है एथेंस में पाँचवीं शताब्दी का अंतिम चरण एक ऐसा समय लग रहा हो जब भाँति-भाँति की पुस्तिकाएँ धुआँधार लिखी जा रही थीं, पर जर्मन आलोचकों के इन साहसपूर्ण अनुमानों के बारे में अभी अपना निर्णय स्थगित रखना और एक प्रकार के विवेकपूर्ण संदेह से काम लेना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा क्योंकि इन अनुमानों का आधार बहुत ही अपर्याप्त है। हाँ, इस गतिविधि के कुछ चिह्न प्राचीन काल की उन रचनाओं में खोजे जा सकते हैं जो अब भी उपलब्ध हैं। संभव है 411 ई० पू० की क्रांति के वास्तविक नेता एंटीफ़ोन ने सामंजस्य और राजमर्मज्ञता पर कुछ पुस्तिकाएँ लिखी हों। जब एंटीफ़ोन पर मुकदमा चलाया गया था तो उसने अपने बचाव में एक बहुत ही बढ़िया भाषण दिया था (जो अब लुप्त हो चुका है)। लेकिन, हमें जो कुछ प्राचीन साक्ष्य मिलता है, उसके अनुसार, ये पुस्तिकाएँ दूसरे यानी सोफ़िस्ट एंटीफोन की लिखी हुई हैं। इस स्थिति में अनुमान लगाना व्यर्थ है और अन्य लेखकों की रचनाओं (उदाहरण के लिए यूरिपिडीज़ के नाटक) में—जो उपलब्ध हैं—इन गुप्त रचनाओं के चिह्न खोजना और भी बेकार मालूम पड़ता है। कुछ विद्वानों ने तथाकथित **ज्ञातनाम आयम्बलीची** (Anonymous Iamblichi) और सोफ़िस्ट एंटीफोन को अभिन्न माना है। (पर किस आधार पर माना है—यह समझ में नहीं आता)[2]। आयम्बलीची के बारे में यह समझा जाता है कि वह पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का लेखक था। उसकी रचना परवर्त्ती नव्य-प्लेटोवादी लेखक आयम्बलिचस के पृष्ठों में पाई गई है। यह माना गया है कि उसकी रचना विधि-निष्ठा के पक्ष में थी। वह चाहे कोई रहा हो और उसने चाहे कभी भी लिखा हो, उसकी रचना में अति-मानव के बारे में कुछ विचित्र निर्देश मिलते हैं (अभेद्य शरीर, रोग तथा वासना से मुक्त, तन और मन से अविचल और साथ ही साथ विराट और दृढ़काय)। परंतु उसका विचार है कि शेष समाज विधि के पालन और उससे प्राप्त शक्ति के बूते पर अति-मानव का सही जोड़ होगा। उसका यह भी विश्वास है कि यह शक्ति केवल विधि और न्याय के आधार पर ही अक्षुण्ण रह सकती है। अंत में, यह अनुमान लगाया गया है कि **पेरि पोलितेइया** शीर्षक संक्षिप्त भाषण, जो

---

[1] क्रिटिआस भी—जो तीस अत्याचारी शासकों में से था और जिसने थेरामीन्स को मरवा दिया था—एक राजनीतिक लेखक था। कहा जाता है उसने गद्य और पद्य में जीवन की सुख-सुविधा के बारे में विभिन्न देशों के आविष्कारों के संबंध में लिखा था (तुलना कीजिए, विलामोविट्ज़, पू० कृ०, I. 175)। यह भी माना जाता है कि उसने स्पार्टा और थेसाली के संविधानों के विवरण भी लिखे थे।

[2] सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन की अभी हाल में जो खंडित रचना मिली है, उसने इस बात को ग़लत सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति थे और यहाँ जो संदेह व्यक्त किया गया है, उसकी पुष्टि कर दी है। एंटीफ़ोन के विचार **अज्ञातनाम आयम्बलीची** के विचारों से मिलते-जुलते हैं।

परंपरा से दूसरी शताब्दी ईसवी के वक्ता हिरोडेज़ एटिकस का माना जाता है और जिसके बारे में यह कहते हैं कि वह प्राचीन यूनानी इतिहास के एक प्रकरण पर आधारित है तथा वक्तृत्व-कला के अभ्यास के रूप में दिया गया था, वास्तव में एक राजनीतिक पैम्फ़लेट है जिसे आलंकारिक रूप में ढाल दिया गया है और जो 404 ई० पू० में जुलाई और अगस्त के बीच (यह एक दम सही तारीख है) किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखा गया था। कहने को तो यह लेरिसा के लोगों को संबोधित करके लिखा गया है और इसमें स्पार्टा के लोगों के साथ नरम अल्पतंत्र की दिशा में अपने संविधान को ढालने की पैरवी की गई है पर वास्तव में यह रचना एथेंस के लोगों के लिए लिखी गई थी। यह सही है कि व्याख्यान में हिंसापूर्ण राजनीतिक परिवर्त्तन की विभिषिकाओं का ("जो युद्ध की अपेक्षा उतना ही बुरा है जितना शांति की अपेक्षा युद्ध") और अल्पतंत्र का जो वर्णन किया गया है, वह समान रूप से रोचक है, लेकिन, हो सकता है इन दोनों को ही बाद के किसी ऐसे लेखक ने अपना लिया हो जो पूर्ववर्त्ती लेखकों से परिचित रहा हो और अभ्यास के लिए भाषण लिख रहा हो। हम तो अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि हो सकता है एथेंस में पाँचवीं शताब्दी के अंतिम चरण में आम राजनीतिक विषयों पर भाषण लिखे जाते रहे हों और भाषण पुस्तिकाओं के रूप में प्रचारित किए जाते रहे हों (जैसे बाद में ईसोक्रेटीज़ के फिर प्रचारित किए गए) लेकिन यह सच हो तो भी वे लुप्त हो चुके हैं और हमें न तो उनके स्वरूप का ही कुछ ज्ञान है और न विषय-वस्तु का। एक ही पुस्तिका है जिसके बारे में हम निश्चित हो सकते हैं और वह है एथेंस के संविधान के विषय में छद्म ज़ेनोफॉन की रचना।

इतिहासों और पुस्तिकाओं के साथ ही साथ—जिनमें वर्त्तमान या अतीत के विवरण थे या जिनमें उनका मूल्यांकन किया गया था—भविष्य की रूपरेखाएँ प्रस्तुत करने की भी चेष्टाएं की गईं। लोगों ने वर्त्तमान संविधानों से राजनीतिक विचारों को ग्रहण करने का प्रयास ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने राजनीतिक विचारों से अनुप्राणित आदर्श संविधानों के चित्र प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया। ये चित्र चिंतन की प्रवृत्तियों और युग की व्यावहारिक आवश्यकताओं दोनों के स्वाभाविक परिणाम थे। रूढ़ि में बँधी हुई चीज़ों की आलोचना और प्राकृतिक वस्तुओं की सराहना का अनिवार्य फल यह हुआ कि ऐसे आदर्श राज्यों का सुझाव सामने आया जो 'प्राकृतिक' संस्था से संपन्न हों। जिस मानव-विज्ञान ने कभी परिवार जैसी संस्थाओं की आलोचना करने में सहायता की होगी, वही ठोस निर्माण का आधार बन गया होगा। स्वाभाविक ही था कि पहले आदर्श राज्य प्रकृति-जनों के संबंध में यात्रियों के विवरणों पर आधारित होते। प्लेटो की **रिपब्लिक** तक में इस आधार के कुछ चिह्न मिल जाते हैं। उपनिवेशीकरण की व्यावहारिक समस्या ने इन चित्रों को अपेक्षाकृत उससे कम काल्पनिक बना दिया जितने वे अन्यथा होते। उपनिवेशीकरण का महान् युग बीत चुका था। नए समुदायों की निरंतर स्थापना के फलस्वरूप राजनीतिक प्रयोगों के लिए जो असीम क्षेत्र मिल गया था, वह इस समय तक सीमित हो चुका था। पर बस्तियाँ भी बसाई जा रही थीं। प्रयोगों की अब भी गुंजाइश

थी ; और 444 ई० पू० में हम प्रोटेगोरस को थुर्री की एथेनी बस्ती के लिए विधायक का कार्य करते हुए देखते हैं।

आदर्श राज्य की रूपरेखा सबसे पहले नाटककार क्रेटिनस ने 'प्लुटोई' नामक सुखांत नाटक (comedy) में प्रस्तुत की थी। लेकिन कल्पना-राज्यों के दो मुख्य रचनाकार फालेयास और हिप्पोडामस हैं। ये दोनों ही पाँचवीं शताब्दी के अंत में हुए थे[1]। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के दूसरे खंड में उनके विचारों को कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया है। अरिस्टाटल ने लिखा है कि काल्सीडॉननिवासी फ़ालेयास इस विश्वास को लेकर चला है कि नगर-कलह आर्थिक कठिनाइयों के कारण होते हैं और इसलिए उसने यह प्रस्ताव किया कि सब नागरिकों की भू-संपत्ति बराबर होनी चाहिए। उसका विचार था कि नई बस्तियों में तो यह बात तुरंत ही हो सकती है और पुराने राज्यों में दहेजों का नियमन करके यह किया जा सकता है। जो धनी हैं वे दहेज दें, लें नहीं और ग़रीब दहेज लें, दें नहीं। इस प्रस्ताव से हमें मिल की बात याद आती है। मिल ने भी संपत्ति की विषमताओं को दूर करने के लिए इसी प्रकार का सुझाव दिया था। उसका प्रस्ताव था कि "किसी व्यक्ति को उत्तरदान (bequest) अथवा उत्तराधिकार में कितनी संपत्ति मिले", इसकी सीमा निर्धारित हो जानी चाहिए[2]। फ़ालेयास संपत्ति की समानता तो चाहता ही था, वह इस बात के लिए भी उत्सुक था कि प्रत्येक नागरिक को समान शिक्षा के एकसे अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। फ़ालेयास की योजना की एक अन्य विशेषता यह थी कि वह सब शिल्पकारों को शासन का दास बनाना चाहता था—शायद इसलिए कि इससे राज्य की आय बढ़ेगी पर अधिक संभावना इस बात की है कि वह चाहता था कि जिन लोगों ने उद्योग के द्वारा विभिन्न मात्राओं में धन कमा लिया हो, उनकी एक बराबर भूमि-खंडों पर बसे हुए किसानों के साथ होड़ न लगने पाए[3]।

इससे भी अधिक विस्तृत योजना का प्रतिपादन हिप्पोडामस ने किया। वह मिलेटस का निवासी था और एथेंस में जा बसा था। अरिस्टाटल के अनुसार वह कुछ दंभी आदमी था। वास्तु-कला के क्षेत्र में उसने नए आविष्कार किए थे। एक

---

1. फ़ालेयास की तिथि ज्ञात नहीं है। लगता है वह प्लेटो का समकालीन था, पर उम्र में उससे बड़ा था (तुलना कीजिए, न्यूमैन, II., 283) और हिप्पोडामस के कुछ समय बाद हुआ था (गम्पर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स** I. 578)।

2. **पॉलिटिकल एकॉनॉमी**, II. II § 4. मिल के प्रस्ताव से मिलता-जुलता एक प्रस्ताव अरिस्टाटल ने उपस्थित किया है (1308, a 24) : जिस अल्पतंत्र (oligarchy) की रक्षा करना अभीष्ट हो, उसमें संपत्ति वसीयत अथवा उपहार द्वारा नहीं, प्रत्युत उत्तराधिकार में प्राप्त होनी चाहिए और एक व्यक्ति को केवल एक उत्तराधिकार मिलना चाहिए।

3. **पॉलिटिक्स** का न्यूमैन का संस्करण, II. 294।

दूसरी से मिलती हुई सड़कों का जाल बिछा कर शहरों को वर्गाकार खंडों में बाँटने की योजना उसी ने बनाई थी। वह अपनी सज-धज के बूते पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करता था। उसके केश लंबे थे और आभूषणों से सजे रहते थे। उसके वस्त्र सस्ते दामों वाले पर गर्म-से लगने वाले कपड़े के होते थें और वह गर्मी और सर्दी दोनों में वे ही वस्त्र धारण करता था। वह भौतिकी का विद्वान् था और यह उसके कुछ-कुछ दंभी स्वभाव के अनुरूप ही था कि "वह पहला ऐसा आदमी था जिसने राजनीतिज्ञ न होते हुए भी आदर्श राज्य का वर्णन करने की कोशिश की"। प्लेटो के समान उसने भी राज्य को तीन वर्गों में बाँटा। प्लेटो से उसका भेद यह था कि उसके तीन वर्ग इस प्रकार थे : शिल्पी, किसान और योद्धा ; जबकि प्लेटो के तीन वर्ग थे : उत्पादक-वर्ग, योद्धा-वर्ग और दार्शनिक शासकों का वर्ग। हिप्पोडामस की योजना में शायद मिस्र की जातियों का कुछ अनुकरण है। उसने तीन की संख्या का बहुत प्रयोग किया है। इससे लगता है कि उस पर शायद पायथागोरस का असर था। जिस प्रकार, उसने नागरिकों को तीन वर्गों में बाँटा था, उसी प्रकार उसने भूमि को भी तीन भागों में विभक्त किया था : एक भाग पवित्र भूमि का था जो धार्मिक प्रयोजनों के लिए सुरक्षित था, दूसरा भाग सरकारी था और योद्धाओं के प्रयोग के लिए निर्धारित था ; तीसरा व्यक्तिगत भाग कृषक-वर्ग के लिए था। सैनिकों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली भूमि को उसने सरकारी संपत्ति बना दिया था—इस बात से हमें प्लेटो की योजना का स्मरण हो आता है, हालाँकि उसकी योजना इससे भिन्न थी। उसने सभी भूमि उत्पादक-वर्ग के नाम कर दी थी और उसके ऊपर कर लगा दिया था जो उपज के रूप में लिया जाता था और जो सिपाहियों और शासकों दोनों के खाने के काम आता था। हिप्पोडामस ने एक विशेष योद्धा-वर्ग का सुझाव दिया और उसकी संपत्ति को राज्य की संपत्ति बना दिया—इस तरह उसका लक्ष्य उन्नत शासन की स्थापना करना था जो अपने युग की बुराइयों से मुक्त हो। उसका प्रस्तावित शासन ऐसा शासन होता जो विशेषीकरण के द्वारा तो राजनीतिक अक्षमता से मुक्त होता और साम्यवाद के द्वारा राजनीतिक भ्रष्टाचार से। पर एक दृष्टि से वह एथेंस से दूर नहीं हटा। उसके आदर्श राज्य के तीनों वर्ग मिलकर 'जनता' थे और जनता अपने शासकों का निर्वाचन करती थी। यहाँ हिप्पोडामस का मत प्लेटो से बहुत भिन्न है। प्लेटो जनता के लिए कुछ नहीं छोड़ता। उसका विचार तो यह है कि उत्पादक-वर्ग और योद्धा-वर्ग पर एक ऐसे वर्ग का शासन रहे जिसकी नियुक्ति में उसका कोई हाथ न हो। हिप्पोडामस ने नागरिकों की भाँति विधियों को भी तीन वर्गों में बाँटा। इस विभाजन का आधार यह था कि विधि-विशेष का संबंध किस प्रकार के अपराध से है—यानी उस अपराध में किसी के सम्मान पर प्रहार हुआ है, या संपत्ति पर अथवा प्राणों पर। उसने प्रशासनिक कार्यों को भी तीन भागों में बाँटा : सार्वजनिक मामले, निवासी अदेशियों (resident aliens) के मामले और विदेशियों के मामले। उसने कहा कि अपील के एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना होनी चाहिए जिसके सदस्य जनता द्वारा चुने हुए वयोवृद्ध नागरिक हों। अंत में, उसने ऐसे व्यक्तियों को पुरस्कार देने का प्रस्ताव

किया जो सर्वसाधारण के लाभ के नए-नए आविष्कार करें[1] ।

---

[1] अरिस्टाटल ने **पालिटिक्स** के दूसरे खंड, परिच्छेद VIII, 16—25 में अंतिम प्रस्ताव की आलोचना की है । हिप्पोडामस ने राज्य का जो तीन वर्गों में विभाजन किया था, उसकी अरिस्टाटल ने इस आधार पर आलोचना की है कि 'जनता' के निर्वाचन-अधिकार के बावजूद सनिकों का वर्ग सबसे शक्तिशाली रहेगा और उसका शासन पर सदैव नियंत्रण रहेगा । उसकी युक्ति है कि पृथक् कृषक-वर्ग की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि शिल्पी तो अपने शिल्प के सहारे जीविका चला सकते हैं और सैनिकों के पास अपनी ज़मीनें हैं ही । वह साझे की भूमि की काश्त का सवाल उठाता है : यदि सैनिक उसकी काश्त करें, तो उन्हें सैनिक बने रहने का समय नहीं मिलेगा । यदि कृषक-वर्ग काश्त करे, तो उसके पास काम का बोझ बहुत हो जाएगा । यदि इन दोनों से पृथक् कोई वर्ग काश्त करे, तो राज्य में चार वर्ग हो जाएंगे ।

परिशिष्ट

सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन के 'ऑन ट्रुथ' से दो अवतरण

1

[साधारण दृष्टि से] न्याय का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति जिस राज्य में नागरिक के रूप में निवास करता हो, उसके किसी भी वैधिक नियम का अतिक्रमण न करे [या कहें कि जहाँ तक ज्ञात है न्याय किसी वैधिक नियम का अतिक्रमण नहीं करता]। अतः अगर कोई आदमी दूसरों की मौजूदगी में विधियों के प्रति बहुत सम्मान रखे और दूसरों के न होने पर जब वह अकेला हो, तब प्रकृति के नियमों के प्रति बहुत सम्मान रखे तो यह न्याय पर अमल करने का ऐसा तरीका होगा जो उसके अपने लिए सबसे लाभकर रहेगा। कारण यह है कि विधि के नियम वहिरंग[1] होते हैं, जबकि प्रकृति के नियम अनिवार्य (और अंतरंग) होते हैं, और इसके अलावा विधि के नियम प्रसंविदा की उपज होते हैं; प्रकृति उन्हें जन्म नहीं देती जब कि प्रकृति के नियम बिल्कुल इससे उल्टे होते हैं। इसलिए, जो व्यक्ति वैधिक नियमों का उल्लंघन करता है, वह उस समय तो लज्जा और दंड से बचा रहता है जब प्रसंविदा बनाने वालों की नज़र उस पर नहीं पड़ती[2]। और वह लज्जित या

---

1. (एपियेटा)—इस शब्द का अर्थ है बाहर से आरोपित किया हुआ और इसमें कुछ-कुछ 'कृत्रिम' का भाव होता है। बाद के यूनानी लेखकों ने इसका प्रयोग 'काल्पनिक' के अर्थ में और सत्य के विपर्याय के रूप में किया है।

1. प्लेटो ने रिपब्लिक के आरंभ में—और विशेषकर दूसरे खंड के आरंभ में—यही प्रश्न उठाया है कि क्या व्यक्ति के लिए उस समय न्याय का पालन करने के कुछ माने हैं जबकि उसे कोई देख न रहा हो। मान लीजिए किसी के पास गीगस की अँगूठी होती, जिसे पहनने वाला अदृश्य हो सकता था—तब क्या न्याय से कुछ फ़ायदा होता ? (रिपब्लिक, 359—61)।

दंडित तभी होता है जबकि लोग उसे पकड़ लें। प्रकृति में अंतर्निहित नियमों का उल्लंघन और बात है। यदि कोई आदमी इनमें से किसी नियम को उसकी सहन-शक्ति से अधिक खींचे तो उसके दुष्परिणाम न तो उस स्थिति में कम ही होते हैं जब कि उसे कोई देख न रहा हो और न उस स्थिति में बढ़ते ही हैं जब कि उस पर सबकी नज़रें हों। कारण यह है कि उसे जो आघात पहुँचता है, वह जनमत की वजह से नहीं बल्कि वस्तु-स्थिति की वजह से पहुँचता है[1]।

यहाँ हमारे सामने जो प्रश्न है, वह हर दृष्टिकोण से उत्पन्न होता है। बहुत सारी चीज़ें जो विधित: ठीक होती हैं (इसके बावजूद) प्रकृति के विपक्ष में पड़ती हैं। विधि ने निर्धारित कर दिया है कि आँखें क्या देखें, क्या न देखें; कान क्या सुनें, क्या न सुनें; वाणी क्या बोले, क्या न बोले; हाथ क्या करें, क्या न करें; पांव किधर चलें, किधर न चलें; और मन क्या इच्छा करे, क्या न करे। विधियाँ मनुष्य को जिन चीजों से दूर हटाना चाहती हैं, वे उन चीजों की तुलना में प्रकृति से अधिक (? कम) अनुकूल या संगत नहीं हैं जिनकी ओर विधियाँ मनुष्य को आकृष्ट करना चाहती हैं। [यह इस तरह सिद्ध किया जा सकता है]। जीवन और मृत्यु दोनों ही प्राकृतिक हैं। जो चीज़ मनुष्य के लिए हितकर होती है, उससे वह जीवन प्राप्त करता है; जो अहितकर होती है—उससे वह मौत का शिकार बनता है। लेकिन, जो चीज़ें विधि की दृष्टि में हितकर मानी जाती हैं, वे प्रकृति पर प्रतिबंध के रूप में होती हैं (अर्थात् वे मनुष्य को उन चीज़ों से जीवन ग्रहण करने से रोकती हैं,—जो वास्तव में उसके लिए हितकर होती हैं—वह जीवन जो प्रकृति की विभूति है)। इसके विपरीत, जो चीज़ें प्रकृति के द्वारा हितकर सिद्ध हैं, वे स्वतंत्र हैं [अर्थात् वे मनुष्य को उन चीज़ों से निर्विघ्न जीवन ग्रहण करने देती हैं जो वास्तव में उनके लिए हितकर हैं—क्योंकि ये वस्तुएँ उन वस्तुओं से अभिन्न होती हैं[2]]। इसलिए, जो चीज़ें पीड़ा देती हैं (और इसलिए जो मृत्यु के समान हैं) सही नज़र से देखने पर प्रकृति को उन चीज़ों से ज्यादः लाभ नहीं पहुँचातीं[3] [उल्टे वे प्रकृति को कम लाभ पहुँचाती हैं] जो सुख देती हैं

---

[1] उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य के नियमों के उल्लंघन को लीजिए (हम मान सकते हैं कि लेखक का यही अभिप्राय है)। तब एक अनिवार्य प्रतिक्रिया होती है जो वस्तु-स्थिति के कारण दुर्निवार है। मिथ्या शपथ के विरुद्ध जो नियम हैं, उनमें से किसी का उल्लंघन करने से कोई अनिवार्य प्रतिक्रिया नहीं होती : प्रतिक्रिया तभी होती है जब कोई देख ले, और फिर वह प्रतिक्रिया भी केवल मत पर आधारित होती है।

[2] यहाँ तर्क स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया। मोटे तौर पर इसका अर्थ यह लगता है कि जीवन और मृत्यु स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं। इनमें से पहली प्रक्रिया तो उस चीज़ से पैदा होती है जो मानव-शरीर के लिए स्वभावत: अहितकर है। विधि 'हितकर' और 'अहितकर' की कृत्रिम परिभाषा देती है और इस परिभाषा को लागू करने का प्रयास करती है और इस तरह इन प्रक्रियाओं के अपने आप चलते रहने में बाधा डालती है।

[3] जीवन प्राकृतिक है और चूंकि उनसे जीवन का उन्नयन या हित नहीं होता, इसलिए हम कहते हैं कि प्रकृति का उनसे कोई लाभ नहीं होता।

[और इसलिए जो जीवन के समान हैं,] और इसलिए, पुनः, जो चीज़ें पीड़ा पहुँचाती हैं, वे उन चीज़ों से ज़्यादा हितकर नहीं होंगी जो सुख पहुँचाती हैं [उल्टे वे कम हितकर होंगी]। जो चीज़ें वास्तव में हितकर हों, उनसे अहित नहीं बल्कि हित होना चाहिए[1]। [उन लोगों को लीजिए] जो चोट सहने के बाद ही जवाब देते हैं और जो खुद कभी पहल नहीं करते, या उन्हें लीजिए जो अपने माता-पिता के प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं—भले ही वे उनके साथ बुरा व्यवहार करते हों, अथवा उनको जो

---

[1] यह तर्क सहज सुखवाद के पक्ष में मालूम पड़ता है, लेकिन इसकी अभिव्यक्ति कुछ अस्पष्ट है। शायद इसे कुछ इस तरह से कहा जा सकता है : "मनुष्य को प्रकृति से जीवन की इच्छा होती है और इसलिए वह प्रकृत्या ऐसी चीज़ें चाहता है जो जीवन के लिए हितकर हों। जो चीज़ें सुख देती हैं, वे जीवन के लिए हितकर होती हैं, और इसलिए मनुष्य प्रकृति से ही सुखद चीज़ें चाहता है। पर जो चीज़ प्राकृतिक होती है, वही वास्तविक भी होती है। अतः, सुख प्रकृत्या हितकर होने के नाते—चूंकि वह जीवन के लिए हितकर होता है और जीवन प्रकृत्या वांछनीय होता है—वास्तव में हितकर होता है। लेकिन विधि का क्रम यह नहीं होता। जो चीज़ें प्रकृत्या और यथार्थतया हितकर होती हैं, वह उन्हें हितकर घोषित नहीं करती। उदाहरण के लिए भूखों मरता हुआ आदमी चोरी करे तो भी विधि के अनुसार वह हितकर नहीं, जबकि वास्तव में इस तरह की चोरी हितकर होती है क्योंकि उससे आदमी को जीने का सहारा मिलता है। फिर इसके ठीक विपरीत, विधि ऐसी चीज़ों को हितकर घोषित करती है जो प्रकृत्या और वास्तव में हितकर नहीं होतीं। उदाहरण के लिए उसके अनुसार भूखे आदमी के लिए चोरी न करना हितकर है, हालाँकि ऐसे मौके पर चोरी न करने से आदमी का अपकार होता है और वह वास्तव में अहितकर होता है"। यह तर्क भ्रांति है क्योंकि यह व्यक्ति को अलग करके देखता है। यदि व्यक्ति एकदम निरपेक्ष और अकेला होता, तो हो सकता है उसके लिए चोरी करना हितकर होता पर तब ऐसा कोई होता ही नहीं, जिसकी वह चोरी करता। लेकिन, यदि वह समाज में रहता है—और वस्तु-स्थिति यही है—और समाज के सदस्य के नाते रहता है तो जो चीज़ समाज के लिए हितकर हो, वह अंततोगत्वा उसके लिए अहितकर नहीं हो सकती। यदि सामाजिक दृष्टि से यह हितकर है कि संपत्ति हो और संपत्ति के प्रति सम्मान हो, तो दूसरों की संपत्ति का आदर करने से समाज के किसी भी सदस्य का न कुछ घटता है और न कुछ अपकार होता है। यदि कोई आदमी दूसरों की संपत्ति का सम्मान करेगा तो दूसरे उसकी संपत्ति का सम्मान करेंगे; और अगर इस समय उसके पास संपत्ति न हो, तो इससे भविष्य में उसके पास संपत्ति होने की संभावना खत्म नहीं हो जाती। अधिकारों और कर्त्तव्यों का चोली-दामन का संबंध है। एक होगा तो दूसरा भी होगा और अगर कोई 'अदृश्यता' की बात मानकर चले—यानी यह समझ ले कि अधिकारों का सम्मान न करने पर भी वह अनदेखा रह सकता है—तो इससे यह तर्क निष्फल नहीं हो जाता क्योंकि यह बात तो मानी ही नहीं जा सकती। समाज-मानव अपनी जिंदगी अपने साथियों के सामने जीता है; वह 'अदृश्य' नहीं होता : और ज्यों-ज्यों समाज अपनी व्यवस्था को, केवल पुलिस की नहीं, बल्कि संचार की व्यवस्था को भी—अधिकाधिक पूर्ण बनाता जाता है, त्यों-त्यों उसके सदस्यों का जीवन अधिक उघरता जाता है।

दूसरे लोगों की सौगंध खाकर [अपने खिलाफ़] आरोप लगाने देते हों लेकिन जो स्वयं इस तरह के आरोप कभी नहीं लगाते। यहाँ जिन कामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से अनेक प्रकृति के प्रतिकूल हैं। उनकी वजह से जहाँ कम कष्ट से काम चल सकता था, वहाँ ज़्यादा कष्ट भोगना पड़ता है; जहाँ ज़्यादा सुख मिल सकता था, वहाँ कम सुख मिलता है; जहाँ चोट से बचा जा सकता था, वहाँ चोट खानी पड़ती है।

[अब लेखक वैधिक न्याय पर एक और दृष्टिकोण से प्रहार करता है। अब तक उसने विधि और उसकी प्रकल्पनाओं पर आक्षेप किया है, अब वह न्यायालयों पर, उनके काम करने के ढँग पर आक्षेप करता है। अब तक उसने यह युक्ति दी है कि विधि सही को ग़लत बना देती है, अब वह दलील देता है कि विधि की व्यवस्था खुद अपनी झूठी प्रकल्पनाओं को कार्यान्वित नहीं कर सकती।] यदि इन रास्तों पर चलने वालों को विधियों से कोई मदद मिले, या जो इन रास्तों पर न चलकर विरोधी रास्तों पर चलते हैं, उन्हें विधियों से कोई हानि हो, तो विधियों का पालन करने में कुछ लाभ भी है। लेकिन, सच तो यह है कि स्पष्टतः वैधिक न्याय उन लोगों की सहायता करने में असमर्थ है जो उक्त रास्तों पर चलते हैं। आरंभ में [यानी इससे पहले कि तथ्यों का वैधिक प्रज्ञान हो] वह पीड़ित पक्ष को पीड़ित हो लेने देता है और अपराधी पक्ष को अपराध कर लेने देता है। पर बात सिर्फ़ इतनी नहीं कि वैधिक न्याय पीड़ित पक्ष की पीड़ा और अपराधी पक्ष को अपराध करने से न रोक पाता हो। बात इससे कुछ बढ़ कर है। यदि हम प्रतिकार के संदर्भ में वैधिक न्याय की गति पर विचार करें [वैधिक न्याय का यह तो दावा है कि वह प्रतिकार अवश्य दिलाता है] तो हम पाएँगे कि इस प्रकार का न्याय जितना अन्याय करने वाले पक्ष के अनुकूल होता है, उससे ज़्यादा पीड़ित पक्ष के अनुकूल नहीं होता। [अवतरण की शेष पंक्तियाँ कटी-फटी हैं; लेकिन उनका अर्थ यह मालूम पड़ता है कि जब कोई मुकदमा अदालत के सामने पेश होता है, तब पीड़ित पक्ष की हालत अपराधी पक्ष से ज़्यादा अच्छी नहीं होती; बल्कि उसकी हालत तो और भी खराब हो सकती है। वह तो केवल यही कह सकता है कि उसे चोट पहुँची है और अदालत से यह बात मनवाने के लिए प्रयत्न कर सकता है। अपराधी पक्ष इस बात से इनकार कर सकता है और कोशिश कर सकता है कि अदालत से यह बात मनवाले कि उसका इनकार ही सत्य है। इन दोनों पक्षों में से जो अधिक योग्य होता है, अदालत का फैसला उसी के हक़ में रहता है; और इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि पीड़ित पक्ष ही अधिक योग्य हो[1]]।

---

[1] यदि इस अवतरण का यही अर्थ है तो हमें यह बात याद रखनी होगी कि एथेंस के न्यायालय बड़े-बड़े लोक-न्यायालय थे। यहाँ भाषण-कौशल का और मुकदमे को पुरजोर ढंग से पेश करने का—'बुरी बात को अच्छी सिद्ध करने का'—बड़ा महत्त्व था।

2

[जो लोग बड़े घराने में पैदा होते हैं] उनका हम सम्मान और आदर करते हैं। जो लोग गरीब घराने में पैदा होते हैं, उनका न तो हम सम्मान करते हैं और न आदर। इस दृष्टि से हम एक दूसरे के प्रति अपने व्यवहार में [सभ्य नहीं बल्कि] बर्बर हैं। हमारी प्राकृतिक शक्ति सब बातों में एक दूसरे के बराबर है चाहे हम यूनानी हों या बर्बर[1]। हम ऐसी किसी भी शक्ति के लक्षणों को देख-परख सकते हैं जो प्रकृति से सब मनुष्यों के लिए आवश्यक हों······[इस प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों के किसी वैशिष्ट्य के कारण] हममें से कोई यूनानी अथवा बर्बर के रूप में अलग नहीं है। हम सभी अपने मुंह और नाक से साँस लेते हैं।

---

[1] सेंट पॉल के बारंबार के इस आग्रह से तुलना कीजिए कि "ईसा की दृष्टि में न कोई यूनानी है और न यहूदी, न खतना है, न गैर-खतना, न कोई बर्बर है, न सीथियाई, और न गुलाम है, न आज़ाद"। उक्त प्रकरण में जो तर्क दिया गया है, वह वही है जिसका प्रयोग शेक्सपीयर ने शाईलाक से कराया है।

अध्याय 5

साक्रेटीज़ और उसके गौण अनुयायी

(क) साक्रेटीज का जीवन
(ख) साक्रेटीज की पद्धति और सिद्धांत
(ग) साक्रेटीज की मृत्यु
(घ) ज़ेनोफ़ॉन
(ङ) ईसोक्रेटीज
(च) सिनिक और सिरेनायक

अध्याय 5

साक्रेटीज़ और उसके गौण अनुयायी

(क) साक्रेटीज़ का जीवन

इन सुधारकों के पश्चात् अब हम साक्रेटीज़ के महान् व्यक्तित्व का अध्ययन कर सकते हैं। अब तक हमने जिन विचारकों का अध्ययन किया है, वे सब विदेशी थे और एथेंस में इसलिए बस गए थे कि एथेंस प्रायः यूनान की राजधानी थी। पर इनके विपरीत साक्रेटीज़ पूरी तरह से एथेंस का नागरिक था[1]। साक्रेटीज़ का जन्म 470 ई० पू० के आस-पास हुआ था और मृत्यु 399 ई० पू० में। इस प्रकार, उसका यौवन तो पेरीक्लीज़ के महान् युग में बीता और जीवन की संध्या पेलोपोनेशियाई युद्ध की कठिनाइयों के बीच। उसने अपने युग के साधारण नागरिक कर्त्तव्यों को पूरी तरह से निभाया। वह सशस्त्र पैदल सेना का सिपाही रहा था और उसने थ्रेस की लड़ाई में एथेंस की ओर से भाग लिया था। 424 ई० पू० में डेलियम की लड़ाई में उसने फिर भाग लिया और वहाँ उसके धैर्य की प्रशंसा हुई थी। पैंसठ वर्ष की अवस्था में वह कौंसिल का सदस्य बना और जिस दिन एथेंस के नौ सेनापतियों को एक साथ एक मत की अधिकता से इस अपराध के लिए दोषी ठहराया गया था कि उन्होंने अरगिनुसाए के नौ-युद्ध (405 ई० पू०) में डूबते हुए नाविकों को नहीं, बचाया, उस दिन सभा की अध्यक्षता करने वाली परिषद्-समिति का साक्रेटीज़ भी सदस्य था। सामूहिक रूप से इस प्रकार का दंडादेश संविधान के नियम के प्रतिकूल था। समिति के सदस्यों में अकेला साक्रेटीज़ ही ऐसा व्यक्ति था, जो इस असांविधानिक मत-निर्णय को सभा के सामने रखने के लिए तैयार नहीं हुआ[2]। एक वर्ष पश्चात्

---

[1] एथेंस का आर्केलाउज़ दर्शन की ओर मुड़ने वाला पहला एथेनी नागरिक था। साक्रेटीज़ उसका शिष्य रहा था और संभव है उसके बाद वह उसके द्वारा संस्थापित संप्रदाय का प्रधान भी रहा हो।

[2] कुछ विवरणों के अनुसार साक्रेटीज़ परिषद् की अध्यक्षता-समिति का सदस्य ही नहीं था, बल्कि वह उस दिन समिति का सभापति—और इसलिए सभा का भी सभापति था। यदि यह स्थिति थी, तो यह साक्रेटीज़ की व्यक्तिगत जिम्मेदारी थी कि इस प्रश्न पर मत ले पर उसने मत नहीं लिया और इसकी जिम्मेदारी व्यक्तिगत रूप से अपने ऊपर ली।

जब एथेंस में तीस अत्याचारियों ने आंतक का साम्राज्य स्थापित कर रखा था, उस समय उन्होंने साक्रेटीज़ को और उसके साथ चार अन्य नागरिकों को एक ऐसे नागरिक को फाँसी के लिए पकड़ लाने की आज्ञा दी जिसे वे मृत्यु-दंड दे चुके थे। और एक बार फिर उसने ऐसा आदेश मानने से इनकार कर दिया जिसे वह अवैध समझता था। नागरिक कर्त्तव्य का अडिग रूप से पालन और नागरिक विधि की सीमाएँ लांघने की दृढ़तापूर्वक अस्वीकृति—ये दो ऐसी विशेषताएं हैं जो एक एथेनी नागरिक के रूप में उसके जीवन में विशेष रूप से दिखाई देती हैं।

वह एक शिल्पी का पुत्र था और हमें याद रखना चाहिए कि एथेंस का शिल्पी किसी संगतराश या कुम्हार की भांति ही एक कारीगर हुआ करता था। उसने अपने पिता का शिल्प सीख लिया था। यहां भी वह ठेठ एथेनी नागरिक प्रतीत होता है। परंतु उसने अपना जीवन दर्शन के अध्ययन में लगाया। वह उन सब विचारकों की संगति में उठता-बैठता था जिन्होंने पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एथेंस को ही अपना घर बना लिया था। शुरू-शुरू में—और लगभग 435 ई० पू० तक—अपने समय के भौतिक विज्ञान में उसकी दिलचस्पी रही। लगता है उसने अपने समय के अधिकांश सिद्धांतों का अध्ययन कर लिया था। उसने देखा कि इन सिद्धांतों से ऐसे प्रश्नों की यांत्रिक व्याख्या ही मिलती है जैसे 'चीज़ें कैसे बनी'? पर वह तो इनकी साध्यपरक व्याख्या (teleological explanation) चाहता था जिससे पता चल सके कि वे क्यों बनीं और उनकी सत्ता का कारण क्या है[1]? दूसरे शब्दों में उसने प्राकृतिक विज्ञान से और उसकी पदार्थ-मीमांसा से हट कर सच्चे दर्शन की ओर ध्यान दिया—दर्शन के उस अर्थ में जिसमें वह सृष्टि के प्रयोजन अथवा मूल कारण का अन्वेषण करता है। यह बहुत बड़ा कदम था और जब यह कदम उठ चुका, तो हम एकबारगी एनाक्ज़िमेंडर और हेराक्लिटस की दुनिया से प्लेटो और अरिस्टाटल की दुनिया में आ पहुँचे। इस युगांतर का प्रतिनिधि है साक्रेटीज़ और यही उसका महत्त्व है। हमारे अधिकारी विद्वानों के अनुसार साक्रेटीज़ का भौतिक शास्त्रों के अध्ययन से विरत होकर गहनतर जिज्ञासा के क्षेत्र में प्रवेश करने का कारण डेल्फ़ी की वही देववाणी थी जो बहुत पुराने ज़माने से यूनान के नित्य-जीवन में इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण रही थी और जिस ने एक बार फिर एक महानतम यूनानी दार्शनिक के जीवन पर प्रभाव डाला। एक बार साक्रेटीज़ के एक मित्र के पूछने पर देववाणी ने बताया था कि साक्रेटीज़ सबसे बुद्धिमान् मनुष्य है। साक्रेटीज़ में कुशल व्यवहार-बुद्धि के साथ ही साथ विनोद की भी प्रवृत्ति थी। उसने और लोगों से प्रश्न करके और अपने प्रश्नों द्वारा उन्हें अपने से अधिक बुद्धिमान सिद्ध करके देववाणी को मिथ्या प्रमाणित करने का बीड़ा उठाया पर फल बिल्कुल उल्टा निकला। उसने देखा कि दूसरे लोग इतने नासमझ हैं कि किसी चीज़ के बारे में कुछ न जानने पर भी अपने को जानकार कहते हैं। पर वह स्वयं इतना बुद्धिमान् था कि उसने मंज़ूर किया कि "मैं तो बस इतना जानता हूँ कि मैं कुछ भी नहीं जानता"। बस, उसने जीवन में सेवा-व्रत ग्रहण कर लिया। उसके मन

---

[1] बर्नेट, ग्रीक फिलॉसफ़ी, पृ० 133।

में यह विश्वास जम गया कि डेल्फ़ी के देवता ने मुझे इस संसार में किसी विशेष निमित्त के लिए भेजा है। उसने मिथ्या ज्ञान के विरुद्ध जिहाद बोल दी और वह सच्चे ज्ञान के प्रचार में जुट गया।

(ख) साक्रेटीज़ की पद्धति और सिद्धांत

साक्रेटीज़ में यह जो परिवर्त्तन आया, इसे उसका 'धर्म परिवर्त्तन' (conversion) कहा जा सकता है। इस परिवर्त्तन के उपर्युक्त विवरण में दो बातें निहित हैं। इसमें एक तो विशिष्ट पद्धति निहित है और दूसरे एक विशिष्ट सिद्धांत। यह पद्धति द्वंद्वात्मक पद्धति (method of dialectic) है। आयोनियाई पद्धति यह थी कि वे दुर्बोध गद्य या गूढ़ पद्य में पहले से निकाले गए अपने निष्कर्षों के संकेत भर दे देते थे। सोफ़िस्टों की पद्धति यह थी कि वे विविध विषयों को निश्चित योजना के अनुसार तरकीब के साथ एक ज़ोरदार भाषण के रूप में प्रस्तुत करते थे। इन दोनों पद्धतियों के वजाए साक्रेटीज़ ने प्रश्नोत्तरों की पद्धति अपनाई और उसने इस पद्धति का सब जगह और सब तरह के लोगों के बीच प्रयोग किया। (हम प्रायः कह सकते हैं कि) यह उतनी ही निश्चित पद्धति थी जितनी मध्ययुगीन शास्त्रीय पद्धति (scholastic method)। जिस व्यक्ति से सवाल किया जाता, उसके लिए यह पद्धति बड़ी नागवार होती थी। यह पद्धति ऐसी थी जो कुतर्क का रूप धारण कर सकती थी। इसमें तर्क को केवल तर्क की खातिर किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता था। लेकिन, फिर भी साक्रेटीज़ के हाथों में यह पद्धति सत्य को जानने का एक सच्चा साधन थी। प्लेटो के संवादों से हम उसकी प्रक्रिया की जानकारी पाते हैं। यह पद्धति ही प्लेटो के संवादों की जननी थी। यदि साक्रेटीज़ की यही पद्धति थी, तो उसके सिद्धांत को ज्ञान-द्वय का सिद्धांत (doctrine of the two knowleges) कहा जा सकता है। उसका मत था कि ज्ञान के दो प्रकार होते हैं। एक प्रकार का ज्ञान तो बस देखने भर का होता है और अनित्य होता है। दूसरा ज्ञान सच्चा होता है और वह मन की स्थायी निधि होता है। उसका विचार था कि सच्चे ज्ञान की खोज सभी को करनी चाहिए और यह तभी हो सकता है जब कि वे 'अपने आप को जानें' अर्थात् वे यह जानें कि वे सचमुच कितना क्या जानते हैं। उसका यह भी मत था कि सच्चा ज्ञान ही सच्चा 'श्रेय' है।

साक्रेटीज़ के नाम के साथ अगर हम कोई सिद्धांत जोड़ सकते हैं तो वह यही सिद्धांत है। यह ज़ाहिर है कि साक्रेटीज़ सच्चे ज्ञान की महत्ता पर जो ज़ोर देता था, उसका सोफ़िस्टों के विशेष ज्ञान के आग्रह से सादृश्य था। यह विशेष ज्ञान वही था जिसको

प्रदान करने की वे घोषणा करते थे। सोफ़िस्टों ने भाषण-शास्त्र जैसे विषयों को व्यवस्थित रूप ही नहीं दिया था और इन विषयों का वे प्राविधिक ज्ञान ही नहीं देते थे ; उन्होंने तो मानव-आचरण को भी एक कला का रूप दे दिया था और इस कला का विशेष ज्ञान देने का वे दम भरते थे। उनका विचार था कि इस ज्ञान का फल होगा 'श्रेय' अथवा व्यावहारिक योग्यता, और जिनके पास यह ज्ञान होगा वे राज्यों और परिवारों का सही ढंग से प्रवंध कर सकेंगे। इसलिए, साक्रेटीज़ की भाँति, सोफ़िस्टों के लिए भी सच्चा श्रेय विशेष ज्ञान पर निर्भर था और उसमें ही निहित था। हम यह भी नहीं कह सकते कि श्रेय को ज्ञान से अभिन्न मानने का सिद्धांत अपने आप में विशेषतः साक्रेटीज़ का सिद्धांत है। इसके विपरीत, सोफ़िस्ट भी—जो श्रेय की शिक्षा देने का दम भरते थे—इस स्थापना के साक्रेटीज़ जितने ही कायल थे कि 'श्रेय ज्ञान है'। ऐसा न होता, तो उसकी शिक्षा ही नहीं दी जा सकती थी और यदि उसकी शिक्षा न दी जा सकती होती, तो उनके व्यवसाय का आधार ही लुप्त हो जाता।

हम साक्रेटीज़ और सोफ़िस्टों के साम्य का निरूपण कर चुके हैं। अब हमें यह समझ लेना चाहिए कि उनके बीच मूल भेद क्या है। तभी हम साक्रेटीज़ के विशिष्ट सिद्धांत को सही तौर पर समझ सकेंगे। सबसे पहले तो हमें वह बात समझ लेनी चाहिए कि सोफ़िस्टों की तरह वह यह नहीं मानता था कि श्रेय एक विशेष कला है—या और सही शब्दों में कहा जाए, तो वह एक विशेष कला में सिद्धि है और अन्य कलाओं की भाँति इस पर भी अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। उसका यह मत नहीं था कि मानव-आचरण की एक विशेष कला होती है या इस प्रकार की कला की साधना की विशेष क्षमता का नाम ही श्रेय है। उसका विचार तो यह था कि श्रेय एक सामान्य क्षमता होती है और इस दृष्टि से वह अद्वितीय है। उसका यह भी विश्वास था कि वह और सभी चीज़ों को उनके सही स्थान और उचित भूमिका में स्थापित कर देता है। उसका विश्वास था कि वह एक प्रकार का शिल्प है जो जीवन के प्रत्येक विभाग और प्रत्येक क्रिया के उचित संबंधों और उचित अनुपात को निर्धारित करता है। संक्षेप में, मानव-आचरण की ऐसी कोई कला नहीं जैसे भाषण की कला है और जैसे कोई भाषण देने की कला में पारंगत हो जाता है वैसे इस कला में कोई सिद्धि नहीं होती। लेकिन, श्रेय जैसी कोई चीज़ है अवश्य और वह संपूर्ण आत्मा की सामान्य क्षमता है जो आत्मा की समस्त क्रियाओं के संतुलन और सामंजस्य के रूप में प्रकट होती है[1]। इस दृष्टिकोण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रेय के लिए जो ज्ञान आवश्यक है, वह ऐसा विशेष और व्यावसायिक ज्ञान नहीं जो विशेष शिक्षण के द्वारा ही अर्जित किया जा सकता हो। साक्रेटीज़ यह नहीं मानता था कि श्रेय के लिए किसी ऐसे नए, विशेष और गूढ़ ज्ञान की आवश्यकता होती है जो साधारण

---

[1] साक्रेटीज़ श्रेय को कला नहीं मानता था। इसका एक कारण यह था कि कलाओं की भाँति श्रेय में अश्रेय की या दूसरे शब्दों में बुराई की शक्ति नहीं होती। भाषण-शास्त्र न्याय और अन्याय दोनों में सहायक हो सकता है; चिकित्सक इलाज भी कर सकता है, मार भी सकता है। श्रेय का केवल एक प्रभाव होता है, इसीलिए वह कला नहीं है। आगे अध्याय 8 खंड (ख) के अंतर्गत उपखंड 1 से तुलना कीजिए।

लोगों के ज्ञान से भिन्न होता है। वह लोगों को 'प्रकृति' की चीज़ें जानने की शिक्षा देने का दावा इसलिए नहीं करता था कि कहीं लोग उस जानकारी के आधार पर विधि की चीज़ों को मानने से इनकार न कर दें। वस्तुत: साक्रेटीज़ का विधि में दृढ़ विश्वास था लेकिन, वह यह नहीं मानता था कि श्रेय ज्ञान के किसी नए तत्त्व में निहित होता है और उसके ऐसा न मानने का एक और भी गहरा कारण था। वह और भी गहरा कारण यह था कि उसका विश्वास था कि महत्त्व इस बात का नहीं कि आप क्या जानते हैं, महत्त्व तो इस बात का है कि आप उसे किस तरह से जानते हैं। उसे नई चीज़ों के ज्ञान की उतनी इच्छा न थी जितनी पुरानी चीज़ों के ज्ञान की नई पद्धति की। वह साधारण संसार से भिन्न किसी 'प्रकृति' का ज्ञान उतना न चाहता था जितना स्वयं साधारण संसार का। संसार जैसा है वैसा क्यों है—इसे ज्ञान के रूप में ढाल कर वह उक्त ज्ञान को एक नई शक्ति देना चाहता था, नए मूल्य से समन्वित करना चाहता था। वह रूढ़ि की नैतिकता को स्वीकार करता था पर उसने चाहा कि लोग जानें कि उसके अस्तित्व का कारण क्या है और वह किस विचार पर टिकी हुई है और इस तरह वह उसे एक उच्चतर नैतिकता का रूप दे देना चाहता था। इस तरह अब हम फिर उसके ज्ञान-द्वय के सिद्धांत पर लौट आए हैं और अब उसकी समग्र महत्ता को आँक सकते हैं। साधारणत: लोगों के पास जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं होता, मत होता है। वे चीज़ों को इस अर्थ में जानते हैं कि उन्होंने अकसर उन की चर्चा सुनी होती है। लेकिन, वे उन्हें केवल उस अर्थ में नहीं जानते जिस अर्थ में हम ज्ञान की बात कर सकते हैं—यानी वे उन्हें किसी कारण की उपज़ के तौर पर नहीं जानते और उस कारण के संदर्भ में नहीं जानते जिसकी वे उपज होती हैं। वे जानते हैं कि उन्हें संयमी होना चाहिए, पर सिर्फ़ इस अर्थ में जानते हैं कि उन्होंने सुन रखा है। पर, सच पूछा जाए तो वे यह जानते नहीं क्योंकि वे यह नहीं जानते कि संयमी क्यों होना चाहिए। यहां यह मूलभूत कारण हमारे सामने आ जाता है कि साक्रेटीज़ हर चीज़ की साध्यपरक व्याख्या क्यों चाहता था। ज्ञान—कम से कम महत्त्वपूर्ण ज्ञान—केवल इसी प्रकार की व्याख्या से प्राप्त हो सकता था।

यदि श्रेय ज्ञान है और ज्ञान दो प्रकार का होता है, तो श्रेय भी दो प्रकार का होगा। साक्रेटीज़ का यही विश्वास था। एक श्रेय तो वह है जिसका आधार मत होता है और दूसरा वह जो ज्ञान पर आधारित होता है। मत अस्थिर होता है, उसे भुलाया जा सकता है या किसी नए विचार के द्वारा बदला जा सकता है। मत पर आधारित श्रेय भी उतना ही अस्थिर होता है। ज्ञान स्थिर होता है क्योंकि वह सविवेक, सकारण होता है और ज्ञान पर आधारित श्रेय भी उतना ही स्थिर होता है। जिस श्रेय का आधार मत हो वह स्वभाव पर निर्भर होगा पर जिसका आधार ज्ञान हो वह श्रेय सविवेक आस्था और अंतर्दृष्टि की चीज है। एक सामान्य श्रेय है : दूसरा दार्शनिक श्रेय। यों दोनों को एक दूसरे के विरोध में रखा जा सकता है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दोनों ही श्रेय के रूप हैं। दोनों का तत्त्व एक है, भेद केवल उस तत्त्व की पकड़ का है। जहाँ तक तत्त्व का संबंध है, सामान्य श्रेय ही सच्चा श्रेय है। और हम यह देख ही चुके हैं कि साक्रेटीज़ ने इस तत्त्व को बदलने का या उसकी जगह नैतिकता के किसी नए तत्त्व की प्रतिष्ठा का कोई प्रयास नहीं किया।

रूढ़िगत नैतिकता के साधारण रूप के बारे में उसकी यह आपत्ति न थी कि वह ग़लत सिद्धांतों पर आधारित है बल्कि उसकी आपत्ति यह थी कि उसमें उन सिद्धांतों के प्रति कोई चेतना नहीं जिन पर वह आधारित है, और ये सिद्धांत ऐसे थे जिन्हें वह अपने आप में निरपेक्षत: सत्य मानता था। इस प्रकार, चेतना के अभाव में साधारण नैतिकता में दो दोष थे। चूँकि उसका उद्भव सिद्धांत की पकड़ से नहीं बल्कि संयोग से—स्वभावजन्य मनोवृत्ति के और पालन-पोषण के संयोग से—हुआ था; अत: नया पर्यावरण मिलने पर उसका लोप हो सकता है; उसमें नई और अभूतपूर्व परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता नहीं थी। फिर, उसका संप्रेषण नहीं हो सकता था—और यह उसकी और भी बड़ी कमी थी। जो श्रेय कुछ सिद्धांतों पर आधारित हो, तब उसके संदर्भ में उन सिद्धांतों की व्याख्या की जा सकती है। जो चीज़ सामान्य व्याख्या की परिधि में रहती है, उसका संप्रेषण किया जा सकता है और उसकी शिक्षा दी जा सकती है। साक्रेटीज़ इस प्रकार की परिभाषाओं की सिद्धि के लिए उत्सुक रहता था। साक्रेटीज़ की तर्क-पद्धति और प्रश्नोत्तर-प्रणाली का आधार ये परिभाषाएँ ही थीं। अरिस्टाटल का कहना है कि साक्रेटीज़ ही पहला व्यक्ति था जिसने सामान्य परिभाषाओं का प्रवर्त्तन किया। इस अर्थ में ही वह नैतिक शिक्षक था। और चूँकि वह नैतिक शिक्षक बनना चाहता था, इसीलिए उसे ऐसे श्रेय से असंतोष था जिसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती थी क्योंकि वह न तो किसी सिद्धांत पर टिका होता है और न उसे किन्हीं परिभाषाओं में बाँधा जा सकता है।

सब मिलाकर हम कह सकते हैं कि साक्रेटीज़ नीतिशास्त्र और राजनीति दोनों ही में बुद्धिवादी था। प्राचीन युग के बारे में हेराक्लिटस ने कहा था, "मैंने अपने भीतर अनुसंधान किया है।" साक्रेटीज़ के निकट ऐसा ही अनुसंधान अभीष्ट था और वह चाहता था कि उसके ऊपर आधारित जीवन का अचूक पथ-प्रदर्शन मिले। कहते हैं कि पर्ची डालकर उम्मीदवार चुनने की प्रथा पर उसे आपत्ति थी। उसके कारण जैसे योग्यता के लिए रास्ते मिलते थे वैसे ही अयोग्यता के लिए भी पथ प्रशस्त होता था। उसे ऐसी प्रभुसत्ता-संपन्न सभा के शासन पर आपत्ति थी जिसमें कसेरे और दर्जी को, मोची और धोबी को सार्वजनिक मामलों में वही महत्त्व प्राप्त हो जो राजनीति की कला को सचमुच थोड़ा-बहुत समझने वालों को। हमें **मीनो** और **गॉर्जियाज़** से यह पता चलता है कि साक्रेटीज़ सभा का पथ-प्रदर्शन करने वाले एथेनी राजमर्मज्ञों का आलोचक भी था। **मीनो** से हमें ज्ञात होता है कि बहुत से बहुत उनमें एक प्रकार की राजनीतिक सहज प्रवृत्ति थी पर उसे वे अपने पुत्रों और उत्तराधिकारियों को नहीं दे जा सकते थे। **गॉर्जियाज़** से पता चलता है कि सबसे बुरी बात यह थी कि वे झूठे गड़रिए थे जो "नगर को अंधाधुंध बंदरगाहों, गोदियों, दीवारों और कर से प्राप्त धन-दौलत से भर देते हैं" और जनसाधारण की मनचाही करके लोकप्रियता प्राप्त करने की कोशिश करते हैं लेकिन, न्याय और संयम की बातों को भूल जाते हैं। (आगे अध्याय 7 (ग) देखिए)। इन चीज़ों के विरोध में साक्रेटीज़ ने सार्वजनिक मामलों के संचालन के लिए बुनियादी सिद्धांतों पर आधारित विशेष ज्ञान की आवश्यकता की शिक्षा दी। यहाँ विशेषीकरण के उस सिद्धांत का बीज देखा जा सकता है जिसका प्लेटो ने **रिपब्लिक** में विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस तरह का विवरण

मिलता है कि साक्रेटीज़ के व्याख्यानों में जब-तब कुछ ऐसे लोग भी उपस्थित होते थे जो पेशे से सिपाही थे। ये लोग ऐसे ही व्याख्यानों को सुनना पसंद करते होंगे जिनका सार यह होता होगा कि वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित व्यवसाय-पद्धति आवश्यक है। साक्रेटीज़ इस बात में सोफ़िस्टों से सहमत था कि राजनीति के मैदान में केवल व्यावसायिक राजनीतिज्ञ ही उतरें। पर ऊपर हम जो कुछ कह आए हैं, उससे स्पष्ट है कि राजनीति के व्यवसाय के लिए साक्रेटीज़ जो प्रशिक्षण अभीष्ट मानता था, वह सोफ़िस्टों के प्रशिक्षण से कहीं आगे था। उसका अर्थ कुछ ऐसी दार्शनिक शिक्षा से था जिसके फलस्वरूप राजनीति के मूल सिद्धांतों पर पूरी तरह पकड़ हो जाए। हम जानते हैं कि इस संदर्भ में साक्रेटीज़ अकसर कलाओं का दृष्टांत दिया करता था। यदि श्रेय कला नहीं, बल्कि उससे ऊँची और उदार चीज़ है, तो कम से कम राजनीति को तो कला मानना ही चाहिए और राजनीतिज्ञ से यह अपेक्षा होनी चाहिए कि वह प्रशिक्षण प्राप्त करे और शिल्पी की भाँति किसी उस्ताद की देख-रेख में रहे। पर हमें राजनीतिज्ञ को तुरंत या एकदम शिल्पी से अभिन्न नहीं मान लेना चाहिए। जिन चीज़ों का संबंध न्याय और संयम से है, यदि उनका संरक्षण उसके ज़िम्मे है तो सबसे पहले यह आवश्यक है कि श्रेय के बारे में उसकी अपनी सच्ची और दार्शनिक धारणा हो और साक्रेटीज़ ने सदा ही यह सिखाया कि यह विषय ऐसा है जिसका संबंध कला की अपेक्षा किसी उच्चतर वस्तु से है। साक्रेटीज़ को बुद्धिवादी कहा जा सकता है; पर उसे बुद्धिवादी कह देने से ही हमें संतोष नहीं हो सकता। सबसे पहली बात तो यह है कि यूनानियों के लिए—कम से कम साक्रेटीज़ और उसके शिष्य प्लेटो के लिए—बुद्धि चिंतन का शुष्क और भावनाहीन माध्यम कभी नहीं रही। वह कुछ ऐसी चीज़ थी जो 'भावना से अनुप्राणित' थी—ऐसी चीज़ जो न केवल ज्ञान के रूप में प्रकट होती थी बल्कि जो इच्छा को दिशा देती थी और व्यावहारिक क्रिया-कलाप में भी व्यक्त होती थी। चिंतन के माध्यम से सत्य को जानने का अर्थ था जो कुछ व्यक्ति जानता हो उससे प्यार करना; सुंदर चीज़ों को जानने-समझने का—और यह देखते हुए जानने-समझने का कि वे सौंदर्य के शाश्वत भाव या रूप से संबंध रखने के कारण सुंदर हैं—अर्थ था सच्चे सौंदर्य के भव्य आकर्षण का अनुभव करना और उसके फलस्वरूप व्यवहार तथा आचरण में सौंदर्य का समावेश करना। इस तरह से हम एक आगे की बात पर पहुँच जाते हैं। बुद्धि को इच्छा से पृथक् नहीं किया जा सकता। ज्ञान की कसौटी कर्म की प्रमाणित क्षमता है[1]। यूनानी दार्शनिकों ने बुद्धि को इसी

---

[1] लूथर की रचनाओं में श्रद्धा (ग्लाबे) की संकल्पना इसके इतने समांतर है कि उसकी ओर ध्यान आर्कापित करना उचित है। लूथर के निकट "श्रद्धा ईसा की और उनकी मृत्यु की कोरी स्वीकृति ही नहीं—जिसके द्वारा उन्होंने अपने विरोधियों के पाप का प्रायश्चित किया—भले ही यह स्वीकृति विशुद्ध रूप से वैयक्तिक ही हो। यह आत्मा का परमात्मा के साथ कुछ ऐसा आध्यात्मिक मिलन था कि इसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व बिल्कुल बदल जाता था, प्रकृति को नवीनता और शक्ति प्राप्त होती थी जिससे कि न्याय के सभी सुफल स्वभावत: विकसित होते थे। श्रद्धा में एक गतिशील शक्ति है—विशेषकर जब उसे प्रेम से अभिन्न माना जाए। लेकिन कोरे विश्वास में परिवर्त्तन की और नवीयन की क्या शक्ति होती है?" (बिअर्ड, द हिबर्ट

रूप में ग्रहण किया और अपने ज्ञान के अनुसार ही **संसार को प्रभावित करने का प्रयास किया**। वे अपने आपको बौद्धिक सत्यों के अन्वेषक और शिक्षक नहीं समझते थे, बल्कि अपने को ऐसे लोगों में गिनते थे जिन्हें एक व्यावहारिक मंत्र मिल गया हो और जो स्वयं उसका पालन करने के लिए तथा दूसरों को उसके पालन करने की प्रेरणा देने के लिए विवश हों। यूनान के अन्य दार्शनिकों की भाँति साक्रेटीज़ भी जीवन की एक पद्धति सिखाना चाहता था। अन्य यूनानी दार्शनिकों से उसका भेद यह था कि उसके प्रयत्न का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। अन्य दार्शनिकों ने संप्रदायों की स्थापना की थी और वे पूरे-पक्के शिष्यों की मंडली को शिक्षा दिया करते थे। कुछ लोगों का कहना है कि साक्रेटीज़ एक निश्चित दार्शनिक संप्रदाय का प्रधान था। यह तो निश्चित लगता है कि उसके साथियों की एक नियमित मंडली थी पर उसकी शिक्षा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह किसी भी संप्रदाय की सीमाओं में नहीं बँध सकती। सोफ़िस्ट केवल तरूण कुलीनों को शिक्षा देते थे। उनके विपरीत साक्रेटीज़ अपने साथी-नागरिकों के साथ कहीं भी बात-चीत करने लगता था—सड़क पर, बाज़ार में, सभा में, कहीं भी। वह श्रोताओं की एक व्यापक मंडली के लिए बात करता था। यह यूनानियों को प्रिय भी था। वह व्यक्तियों का ख्याल किए बिना बातचीत करता था। वह स्वयं शिल्पी था ; इस नाते अपने साथियों से घृणा कभी नहीं करता था। इस तरह उसने दिखा दिया कि वह एक ऐसे पूर्वाग्रह से ऊपर था जिससे प्लेटो —यहाँ तक कि अरिस्टाटल भी—मुक्त न थे।

साक्रेटीज़ को हमने बुद्धिवादी कहा है पर अपने इस कथन में हमें एक और दृष्टि-कोण से भी संशोधन करना होगा। यह बुद्धिवादी था, तो कुछ-कुछ रहस्यवादी भी था। उसने शिक्षा दी कि लोगों को चाहिए बुद्धिमानी से सिद्धांतों को समझकर उसके अनुसार ही अपने जीवन को ढालें। लेकिन, उसके अपने जीवन का जिससे निर्देश होता था वह एक बहुत भिन्न चीज़ थी। यह हम देख ही चुके हैं कि डेल्फ़ी की देववाणी ने उसे नैतिक दर्शन की ओर प्रवृत्त कर दिया था। उसे यह भी विश्वास था कि डेल्फ़ी का देवता उससे एक मिशन पूरा कराना चाहता है। प्लेटो से हमें यह भी पता चलता है कि वह कभी-कभी भाव-समाधि में लीन हो जाया करता था। प्लेटो और ज़ेनोफ़ॉन दोनों ने यह भी लिखा है कि अकसर उसे एक चेतावनी का स्वर सुनाई पड़ता था और वह उसके निर्देश का पालन किया करता था[1] (यद्यपि दोनों ने उसके स्वरूप के अलग-अलग वितरण दिए हैं)। कहा गया है कि चेतावनी के स्वर की कहानी से यह संकेत मिलता है कि साक्रेटीज़ के कर्म-दर्शन में कुछ त्रुटि

लेक्चर्स, 1883, पृ० 131—2)। जिस प्रकार लूथर का मत था कि श्रद्धा में अनिवार्य रूप से कर्म निहित है, उसी प्रकार साक्रेटीज़ का मत था कि ज्ञान में आचरण अनिवार्यत: आ जाता है। इसीलिए, उसका विश्वास था कि न्याय का ज्ञान होना और फिर जान-बूझकर अन्याय करना असंभव है।

[1] प्लेटो के अनुसार यह स्वर उसे सदा कोई ऐसा काम न करने की चेतावनी देने के लिए ही सुनाई पड़ता था जिसे करने का उसने इरादा कर रखा होता था। ज़ेनोफ़ॉन के अनुसार यह स्वर आदेश का भी था और प्रतिषेध का भी। (रिडेल के **अपॉलॉजी** के संस्करण में इस विषय का परिशिष्ट देखिए)।

थी। यदि हम इस दर्शन पर गहराई से विचार करें, तो हम देखेंगे कि कुछ दृष्टियों से वह हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। उसने सच्चे ज्ञान की प्रभुत्ता का प्रचार तो किया; लेकिन उसने उन सिद्धांतों के स्वरूप की व्याख्या नहीं की जिनके अनुसार सच्चे ज्ञान को कार्यरूप में परिणत होना चाहिए। उसने यह अवश्य माना कि शुभ और अशुभ की कसौटी यह है कि कोई सविवेक प्रयोजन विद्यमान है या नहीं। इसी कारण उसका यह भी विश्वास बन गया कि चूंकि अशुभ कार्य किसी प्रयोजन के न होने के कारण अशुभ होते हैं, इसलिए वे अनैच्छिक होते हैं। फलतः, कोई भी व्यक्ति मन से बुरा नहीं होता। लेकिन, इस बात का पता लगाना आसान नहीं कि उसके विचार से वह साध्य क्या था जिसके प्रति श्रेय-रूप सविवेक प्रयोजन को प्रवृत्त होना चाहिए। यदि मान लें कि प्लेटो-कृत **रिपब्लिक** की नैतिक शिक्षा स्वयं साक्रेटीज़ की ही नैतिक शिक्षा है, तो वह साध्य है आत्मा का सामंजस्य जिसके फलस्वरूप आत्मा का प्रत्येक तत्त्व अपना नियत कार्य पूरा करता है। पर यह स्पष्ट नहीं कि **रिपब्लिक** की शिक्षा को साक्रेटीज़ की शिक्षा मानना उचित होगा या नहीं? यदि हम यहाँ भी ज़ेनोफ़ॉन का अनुसरण करें, तो वह साध्य है उपयोगिता और सविवेक प्रयोजन स्वभावतः उसके प्रति उद्दिष्ट होगा जो उपयोगी हो[1] (यद्यपि यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं कि हमारे लिए ऐसा करना उचित है या नहीं। ज़ेनोफ़ॉन साक्रेटीज़ को घनिष्ट रूप से नहीं जानता था और उसके अपने मन की सीमाएँ ऐसे गंभीर कारण प्रस्तुत कर देती हैं कि इस बारे में संदेह हो उठता है कि वह सचमुच साक्रेटीज़ के मन को समझता था)। लेकिन, उपयोगिता क्या है? यह उपयोगिता व्यक्तियों की है या समाज की? यदि वह समाज की उपयोगिता है, तो क्या उसे समाज में रहने वाले व्यक्तियों के बहुमत की उपयोगिता समझा जाए या उसे समुदायगत उपयोगिता माना जाए—जो व्यक्तियों की उपयोगिता से भिन्न है, फिर चाहे उसकी संख्या कितनी भी हो। ज़ेनोफ़ॉन में हमें इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलेगा और अगर मिल भी जाएगा तो इस बात का पूरा विश्वास न हो सकेगा कि उसमें सचमुच साक्रेटीज़ का मत व्यक्त हुआ है। ज़ेनोफ़ॉन ने 'श्रेय' को 'उपयोगी' से अभिन्न माना है—जैसे 'न्यायसंगत' को 'विधिसंगत' से अभिन्न माना है। और फिर उसने इन दोनों अभेदों को भी अभिन्न समझ लिया है। इस दृष्टि से ये चारों शब्द पर्यायवाची हो जाते हैं लेकिन यह मान्यता शायद अकेले ज़ेनोफ़ॉन की ही है[2]। ज़ेनोफ़ॉन स्वयं कुछ-कुछ उपयोगितावादी और विधि का पूर्ण रूप से पालन करने वाला नागरिक था, अतः उसने अपने गुरु का चित्र भी तदनुरूप ही प्रस्तुत किया है। उसके चित्र में साक्रेटीज़ एक सम्मान्य बेंथमवादी के रूप में प्रकट होता है और वह उस व्यक्ति को पापी कहता है "जिसने सबसे पहले 'न्यायपूर्ण' को 'उपयोगी' से भिन्न माना"।

---

1. **मेमोराबिलिया** IV. 6, § 8; III. 9, § 4.

1. 'न्यायसंगत' और 'विधिसंगत' के अभेद के लिए देखिए, **मेमोराबिलिया** IV. 4, § 18. चूंकि ज़ेनोफ़ॉन के अनुसार न्याय श्रेय का ही एक अंग है, अतः न्यायपूर्ण श्रेयपूर्ण का और इसलिए उपयोगी का एक अंग है।

(ग) साक्रेटीज़ की मृत्यु

ज़ेनोफ़ॉन ने जिस साक्रेटीज़ का निरूपण किया है, उसे एथेनी प्राणदंड नहीं दे सकते थे। उन्होंने असली साक्रेटीज़ को प्राणदंड दिया। उस पर यह आरोप लगाया गया था कि राज्य जिन देवताओं की उपासना करता है, उसने उनकी उपासना करने से इनकार किया, उसने और नए-नए देवताओं की सृष्टि की, उसने तरूणों को बिगाड़ा। इस आरोप के आधार पर ही उसे प्राणदंड दिया गया था। इस आरोप के दो भाग हैं—एक तो धार्मिक है; दूसरा देखने में तो नैतिक लगता है पर वास्तव में उसका आधार राजनीतिक है। इसी राजनीतिक आधार में आरोप का वास्तविक मर्म निहित है। साक्रेटीज़ के अभियोक्ताओं को असली शिकायत साक्रेटीज़ की नैतिक शिक्षा से और उस शिक्षा में जो राजनीतिक बातें निहित थीं, उनसे थी। हम उसे बुद्धिवादी कहें या न कहें; पर इतना जरूर है कि वह राजनीति की अपनी बुद्धिवादी संकल्पना के लिए शहीद हुआ। उसने एथेनी लोकतंत्र की विशेषताओं की आलोचना की थी—उसने पर्ची के प्रयोग; सभा की रचना; एथेनी राजमर्मज्ञों के अज्ञान की आलोचना की थी। हो सकता है हमें यह लगे कि उसने यह प्रचार किया था कि राजनीति के संचालन के लिए ज्ञान के गोपनीय रहस्य की ज़रूरत होती है और लोकतंत्रात्मक राज्य में इस प्रचार का जो अच्छे से अच्छा रूप सामने आता था, वह था नागरिक भावना का अभाव और उसका बुरे से बुरा रूप था राजद्रोह। तिस पर, प्रचार के द्वारा उसने बहुत से लोगों को अपना मुरीद बना लिया था। एल्सिबिआडिज़ और क्रिटिआस जैसे लोग यदि उसके 'साथी' और शिष्य नहीं, तो कम से कम सहयोगी तो रहे ही थे। एल्सिबिआडिज़ ने 411 ई० पू० की क्रांति में एथेनी लोकतंत्र का तख्ता पलटने का प्रयास किया था। क्रिटिआस ने 404 ई० पू० की क्रांति में उसे कुछ समय के लिए वास्तव में उखाड़ फेंका था। यदि ये ही उसकी सिद्धियाँ थीं तो उसने निश्चय ही तरूणों को बिगाड़ा था और सालों बाद जब वक्ता आएस्चाइन्स ने यह कहा कि "सोफ़िस्ट साक्रेटीज़ को यह सोच कर प्राणदंड दिया गया था कि उसने क्रिटिआस को शिक्षा दी है," तब वह बहुत ग़लती पर नहीं था। हमें स्मरण रखना है कि साक्रेटीज़ की मृत्यु के वर्ष (399 ई० पू०) स्वयं एथेनियों को ही लगता होगा कि उनके लोकतंत्र का आधार अरक्षित है। लोगों को 411 ई० पू० और 404 की अल्पतंत्रात्मक क्रांतियाँ याद

थीं : उन्होंने देखा कि विजयी स्पार्टावासी जहाँ कहीं अल्पतंत्रों की स्थापना कर सकते हैं, वहाँ कर रहे हैं। उन्हें मालूम था कि एथेंस में एक अल्पतंत्रात्मक दल है जिसकी स्पार्टा के साथ सहानुभूति है[1]। स्वाभाविक है कि ऐसी संदेहपूर्ण मनःस्थिति में उन्होंने सोचा होगा कि एक महान् उदाहरण प्रस्तुत किया जाना चाहिए। एंटीफ़ोन भी 'श्रेय' की शिक्षा देने का दम भरता था—और वही 411 ई० पू० की क्रांति का नेता रहा था। तब हो सकता है 'श्रेय' का एक और शिक्षक नव-स्थापित लोकतंत्र के खिलाफ इसी प्रकार की क्रांति का नेतृत्व करे। साक्रेटीज़ ज्ञान की बात करता था, विशेषज्ञों की आवश्यकता पर बल देता था। अल्पतंत्रात्मक क्षेत्रों में भी इन्हीं बातों पर ज़ोर दिया जाता था। संभव है यह संयोग ही हो कि एलिसबिआडिज़ और क्रिटिआस उसके साथी थे। परंतु इसमें तो संदेह नहीं कि उसने लोकतंत्र की आलोचना की थी और एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया था जिसका मूलतंत्र था—कार्य-कुशलता; और कार्य-कुशलता उस समय एक संदिग्ध शब्द था[2]।

अस्तु, जिस साक्रेटीज़ को पेरीक्लीय लोकतंत्र के समृद्ध और निरापद दिनों में कभी भी परेशान न किया जाता, वही साक्रेटीज़ उस लोकतंत्र की दुर्बलता और शंकाओं का शिकार हो गया जिसकी पेलोपोनेशियाई युद्ध के बाद के वर्षों में फिर से स्थापना हुई थी। उसे जो दंड मिला उसके पीछे राजनीतिक प्रयोजन थे लेकिन उस पर कुछ धार्मिक आरोप भी लगाए गए थे। और अब हमें यह देखना है कि इन कारणों का वास्तविक महत्त्व और सापेक्ष प्रभाव कितना है। हम यह पहले ही देख चुके हैं (पीछे पृ० 11—12 देखिए) कि यूनानियों के लिए धार्मिक पवित्रता नागरिक कर्त्तव्य नहीं थी बलिक उपासना करना नागरिक कर्त्तव्य था। धार्मिक पवित्रता राज्य द्वारा मान्य देवताओं की औपचारिक उपासना करने में निहित थी। यह उपासना उनके लिए नागरिक कर्त्तव्य की तरह से थी और इस उपासना की अवहेलना धार्मिक अपवित्रता थी—अपवित्रता थी। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार यूनानी धर्म राजनीतिक समाज के राजनीतिक जीवन का एक पहलू था। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि नागरिक भावना के अभाव के आरोप को आसानी से धार्मिक अनाचार के आरोप के साथ मिलाया जा सकता था और यह भी स्पष्ट है कि इस बाद के

---

1. यदि पृ० 120—1 पर उल्लिखित **पेरी पाइलेतिया** भाषण 404 ई० पू० का था और वास्तव में एथेनियों के लिए ही था, तो उसका सारांश यह है कि स्पार्टा के साथ मैत्री की और नरम अल्पतंत्र के प्रवर्त्तन की आवश्यकता है।
2. **पॉलिटिक्स** (299 B. C.) में एक ऐसा अवतरण है जिसका संकेत स्पष्ट रूप से साक्रेटीज़ की ओर है और ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका उक्त अवतरण से समर्थन होता है। जो व्यक्ति यह प्रचार करता हो कि किसी भी कला में बुद्धिमत्ता ही सबसे बड़ी चीज़ है और जो विधि के विधान की तुलना में बुद्धि की प्रवरता का समर्थन करता हो, उसे इस आधार पर दंड मिलना निश्चित है कि वह तरूणों को स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना का प्रोत्साहन देकर उन्हें बिगाड़ता है।

आरोप में वास्तव में कोई धार्मिक अत्याचार की बात नहीं, यह तो राजनीतिक प्रतिशोध का काम था। यूनान में ठेठ धार्मिक उत्पीड़न अनजानी चीज़ थी और यह मानना भूल होगी कि साक्रेटीज़ धर्म पर शहीद हुआ। उसकी मौत का कारण यह था कि उसे राज्य की राजनीतिक व्यवस्था के लिए खतरनाक समझा गया था, लेकिन चूँकि यह व्यवस्था नगर-देवताओं की औपचारिक उपासना के साथ बँधी हुई थी, इसलिए उस पर इस उपासना का शत्रु होने का भी आरोप लगाया गया। धार्मिक अभियोग राजनीतिक अभियोग के बाद की बात थी या उसका सहज परिणाम थी; और हम यहाँ तक कह सकते हैं कि यह आरोप पूर्वाग्रह का एक ऐसा वातावरण बनाने के लिए लगाया गया था जिसमें वास्तविक अभियोग अधिक भयंकर प्रतीत हो। साक्रेटीज़ के धार्मिक विचार अपने आप में असामान्य नहीं थे और न उनमें ऐसी कोई चीज़ थी जो यूनानियों की सामान्य प्रथा की दृष्टि से निंदाजनक होती। उसने औपचारिक रूप से "नगर के उपास्य देवताओं की उपासना" से इनकार करने का 'पाप' नहीं किया था। इसके विपरीत, अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी उसने नागरिक कर्त्तव्यों का पूरी तरह से पालन किया था। यदि वह "और-और नए देवताओं का भी समावेश कर देता" तो भी जब तक उसके फलस्वरूप नागरिकों द्वारा नगर के देवताओं की नियमित उपासना में कोई व्यतिक्रम पैदा न होता, तब तक साधारण यूनानी धारणा के अनुसार यह अपराध नहीं माना जा सकता था। पर यह तो कहा नहीं जा सकता कि उसने नए-नए देवताओं का समावेश किया। हो सकता है अपने जीवन के आरंभिक काल में, अपने 'मत-परिवर्तन' के पहले, वह भौतिकविदों की इस धारणा से प्रभावित रहा हो कि सच्चे 'देवता' प्रकृति की भौतिक शक्तियाँ हैं; और अरिस्टोफेन्स की **क्लाउड्स** नामक रचना में यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि साक्रेटीज़ वैज्ञानिक अनीश्वरवादी (agnostic) था। यद्यपि उक्त कृति 423 ई० पू० में रची गई थी, पर उसका संकेत इस प्रारंभिक काल की ओर ही मालूम पड़ता है। लेकिन, अपने समूचे परवर्ती जीवन (435 ई० पू० के आस-पास से 399 ई० पू० तक) में साक्रेटीज़ के धार्मिक विश्वास अनीश्वरवादी के से नहीं, प्रत्युत रहस्यवादी के से थे। यदि हम प्लेटो की रचनाओं में उपलब्ध संकेतों पर चलें, तो देखेंगे कि साक्रेटीज़ की इस आर्फ़ियस-सिद्धांत में आस्था थी कि आत्माओं का पुनर्जन्म होता है और उन्हें भावी जीवन में पुरस्कार अथवा दंड मिलता है। आर्फ़ियस रहस्यों में कोई नई बात नहीं थी। ये रहस्य यूनान में सामान्य रूप से बिखरे हुए थे। जिन लोगों का इन रहस्यों में विश्वास था, वे उसके साथ-साथ नगर के देवताओं की औपचारिक उपासना भी कर सकते थे। ऐसी कोई चीज़ नहीं थी जो इन दोनों के समन्वय में बाधक होगी। यह सही है कि ये रहस्य नगर-जीवन से बाहर के अथवा नगर-जीवन से ऊपर के थे। यह भी संभव है कि उनमें नागरिक उपासनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे और कहीं अधिक आध्यात्मिक तत्त्वों का समावेश रहा हो। लेकिन, नागरिक स्थिरता के लिए उनसे कोई खतरा नहीं था। जैसे आजकल फ्रीमैसन-संगठन कभी-कभी राजनीतिक संगठन बन जाता है, वैसे उन्होंने कभी राजनीतिक संगठन का रूप धारण नहीं किया। और यदि साक्रेटीज़ का उनमें विश्वास भी रहा हो, तो यह समझ में नहीं आता कि उसके विश्वास का उसके दंड से कुछ संबंध रहा

होगा[1] ।

अतः, यदि सिसरो की शब्दावली का उपयोग करें तो हम कह सकते हैं कि कुल मिला कर, धार्मिक अभियोग का उद्देश्य—सात्रेटीज़ के मुकदमे में न्याय के ऊपर कालिमा का पर्दा डाल देना रहा होगा। उस पर मुकदमा चलाया गया तो राज्य के कारण और दंड दिया गया तो राज्य के कारण। शताब्दियों का चिंतन और कल्पना साक्रेटीज़ के जीवन पर नहीं, मृत्यु पर केंद्रित रही है। वास्तव में हम यहाँ तक कह सकते हैं कि उसके जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा उसकी मृत्यु थी। उसने अपनी मृत्यु के द्वारा यह सिखाया (और प्लेटो ने अपॉलॉजी और क्रिटो में हमारे लिए इस शिक्षा को रेखांकित किया है) कि अंतरात्मा की रक्षा के लिए मनुष्य सीज़र के विरोध में खड़ा हो सकता है, लेकिन और सब मामलों में प्राणों की बाज़ी लगाकर भी उसे सीज़र की चीज़ें सीज़र को ही देनी चाहिएं। प्लेटो ने उसके मुख से कहलवाया है कि यदि उसे इस शर्त्त पर छुटकारा भी मिलता होता कि वह चुप रहेगा और अपने साध्य से विरत हो जाएगा, तो भी वह आज्ञा का पालन नहीं कर सकता था। एथेनी राज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण आदेश ईश्वर का था। नागरिक कर्त्तव्य से अधिक महत्त्वपूर्ण ईश्वर की सेवा थी। शहीद का यही स्वभाव होता है। साक्रेटीज़ को शहीदों की श्रेणी में रखना ग़लत नहीं है। उसे कर्त्तव्यों के द्वंद्व का सामना करना पड़ा था और उसने अपनी जान की बाज़ी लगाकर अपने रास्ते की सचाई प्रमाणित की। एक ओर एथेनी राज्य के प्रति उसका कर्त्तव्य था जिसे अपने संपूर्ण जीवन में और अपनी मृत्यु में भी उसने निष्ठापूर्वक निबाहा। दूसरी ओर ईश्वर के प्रति उसका कर्त्तव्य था—यानी सब कालों और सब मनुष्यों में—बूढ़ों और जवानों में, विदेशियों और नागरिकों में, लेकिन सबसे बढ़कर उन लोगों में जिनमें अपना ही रक्त था और जो अपने ही राज्य के थे—ज्ञान के मंत्र का प्रचार। उसने स्वयं अपना रास्ता चुना और उसका फल भोगा[2] ।

फिर भी, वह सदैव एथेंस का निष्ठावान पुत्र रहा—और अपनी मृत्यु की घड़ी में सबसे अधिक। उसने सेना में नौकरी की; वह एथेनी परिषद् का सदस्य रहा—हालांकि यह सदस्यता उसे पर्ची के प्रयोग द्वारा ही मिली होगी। ईश्वर के आदेश के बाद अगर

---

[1] एथेंस में जो रहस्य प्रचलित थे वे एल्कुसिनियाई थे। 415 ई० पू० में इन रहस्यों को लेकर बहुत कठिनाई पैदा हुई थी (यह विषय बहुत अस्पष्ट है)। 399 ई० पू० में यह कठिनाई फिर पैदा हुई थी। इस कठिनाई को ध्यान में रखकर प्रोफेसर बर्नेट ने यह विचार व्यक्त किया है कि हो सकता है कि साक्रेटीज़ के मुकदमे में लोग इसलिए उसके विरुद्ध हो गए हों कि उसका आर्फियस रहस्यों से संबंध था।

[2] ज़ेनोफ़ॉन (मेमोरॉबिलिया, 1.2, §31—8) के अनुसार पहले, 404 ई० पू० में क्रिटिआस और उसके साथी अत्याचारियों ने उसे आदेश दिया था कि वह शिक्षा देना और तरुणों के साथ अपनी बातचीत बंद कर दे। यह नहीं पता कि उसने इस आदेश का पालन किया था या नहीं। लेकिन, शायद यह उसके लिए सौभाग्य की बात थी कि तीस अत्याचारियों की शक्ति शीघ्र ही समाप्त हो गई।

वह किसी चीज़ को सबसे अधिक पवित्र मानता था तो वह थीं एथेंस की विधियाँ और उनका अगर अभी उल्लंघन हो सकता था तो सिर्फ़ न्याय की खातिर। जिस कारागार में बंद वह था, उसमें से निकल भागना उसके लिए सहज बात थी। पर कारागार से निकल भागने के लिए वह इसलिए तैयार नहीं हुआ कि उससे एथेंस की विधियाँ भंग होतीं। यदि उसने यह शिक्षा दी कि राजनीति कला है; कि शिक्षण के अंततः दो पक्ष होते हैं और निपुणता तथा विशेषज्ञ के शासन पर जोर देने के कारण हो सकता है अपने एक पक्ष में वह अ-लोकतंत्रात्मक और क्रांतिकारी लगे, पर उसका दूसरा पक्ष इन दोनों चीज़ों से बहुत दूर है। साक्रेटीज़ का विचार था कि चूँकि राजनीति कला है, इसलिए उसके लिए न केवल ज्ञान ज़रूरी है, बल्कि निःस्वार्थ निष्ठा भी आवश्यक है। जब कोई कलाकार अथवा शिल्पी अपने शिल्प की साधना करता है, तो उसकी साधना अपने हित या उन्नयन के लिए नहीं होती, बल्कि वह अपनी कला के प्रतिपाद्य का ही हित चाहता है, उसके उपादान का उन्नयन चाहता है। यदि राजनीतिज्ञ भी शिल्पी है, तो उसे केवल अपना ही हित नहीं देखना चाहिए; उसे तो अपने साथी नागरिकों का हित देखना चाहिए—उन नागरिकों का जिनके साथ उसका व्यवहार रहता है, और जिनका हित उसके शिल्प का उद्देश्य होता है। प्लेटो ने उत्तराधिकार में यह संकल्पना प्राप्त की और **रिपब्लिक** में उसे चरितार्थ किया है। यह संकल्पना उग्र सोफ़िस्टों की संकल्पना के बिल्कुल प्रतिकूल है। उग्र सोफ़िस्टों की शिक्षा थी कि न्याय अधिक शक्तिशाली का स्वार्थ है और चूँकि शासन अधिक शक्तिशाली है, अतः उसके लिए अपने स्वार्थ की सिद्धि और उसकी अभिवृद्धि करना न्यायपूर्ण है। यह ऐसी संकल्पना थी कि लोकतंत्र का कोई की समर्थक इसका अनुमोदन करने के सिवाए और कुछ कर ही नहीं सकता था।

लेकिन, साक्रेटीज़ ने ज्ञान की प्रभुता का प्रचार किया था; और राजनीति में प्रयुक्त होने पर ज्ञान की प्रभुता का सिद्धांत बड़ी आसानी से प्रबुद्ध निरंकुशता (enlightened despotism) का सिद्धांत बन सकता है। प्लेटो के हाथों में इस सिद्धांत का कम से कम कुछ समय के लिए, और उसके जीवन के मध्यकाल में, यही रूप हो गया था। प्रबुद्ध निरंकुशता का ऐसा सिद्धांत निश्चित रूप से लोकतंत्र के विरुद्ध था, वह विधि-शासन के भी विरुद्ध हो सकता था। यदि ज्ञान की प्रभुसत्ता हो, तो यह कहा जा सकता है कि विधि उसके अधीन हो जाती है—यहाँ तक कि वह फ़ालतू तक हो जाती है। बुद्धिमान् शासक का सजीव ज्ञान विधि के निर्जीव अक्षर से बढ़ कर हो जाता है। यह भी ऐसा निष्कर्ष है जिसे कम से कम कुछ समय तक प्लेटो मानने के लिए तैयार था। राजतंत्रवादी और निरंकुशतावादी दर्शन तक साक्रेटीज़ से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं और इस अर्थ में वह लोकतंत्र का शत्रु था। इस प्रश्न को लेकर वह पूरे तौर पर स्वयं नगर-राज्य का भी मित्र न था—नगर राज्य का चाहे कोई भी रूप होता और उसकी चाहे कुछ भी शासन-प्रणाली होती। उसकी वाणी से दार्शनिक चिंतन का जो सोत फूटा, उसकी कम से कम एक धारा इतनी विशाल थी कि वह नागरिक सीमाओं में नहीं बँध सकती थी। साक्रेटीज़ की शिष्य-परंपरा में सिनिक भी थे। वे विश्व-नागरिक थे। वे अपने चिंतन और अपने ज्ञान को अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त मानते थे। उन्हें किसी नगर से न पथ-प्रदर्शन ग्रहण करने की

आकांक्षा थी, न शिक्षा। उन्होंने सारे संसार को अपना घर समझा। राजनीति विचार का विषय है और शासन बुद्धिमानों की चिंता का। लेकिन, इस विषय में ज्ञान ही सब कुछ नहीं है। हम इच्छा और सहज वृत्ति के उन तत्त्वों को नहीं भूल सकते जिनका राजनीतिक मामलों में इतना अधिक महत्त्व होता है। साक्रेटीज़ की और उसके बाद प्लेटो की भी अकसर इन्हें भूल जाने की प्रवृत्ति थी। राज्य के समुचित पथ-प्रदर्शन के लिए ज़रूरी है कि जो ज्ञानी हों वे शासन करें लेकिन, राज्य की सुरक्षा और एकता के लिए यह भी आवश्यक है कि लोगों की इच्छा उनके शासन के अनुकूल ढाली जाए। दोनों ही आवश्यक हैं, और समान रूप से आवश्यक हैं। कोरी इच्छा का अर्थ है भीड़ का शासन या स्वार्थ के लिए अज्ञान का शासन पर केवल ज्ञान का भी अर्थ अंततोगत्वा बौद्धिक निरंकुशता ही है और इसकी परिणति स्ट्राफर्ड* जैसे निरंकुश राजनेता और उसकी निरंकुश शासन-नीति के रूप में होती है। और मानवीय व्यापारों के संचालन में जैसे इच्छा-तत्त्व का महत्त्व होता है, वैसे ही सहज प्रवृत्ति का भी होता है। मनुष्य के सारे कामकाज में बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जिनकी बुद्धि व्याख्या नहीं कर सकती और जिस सही सहज प्रवृत्ति का आधार अनुभव हो, वह सदैव दूसरों का ध्यान अपनी ओर खींच लेती है[1]। यह सही है कि **मीनो** में प्लेटो ने दिखाया है कि साक्रेटीज़ इस सहज प्रवृत्ति की सत्ता का पता लगाता है और उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, लेकिन ज्यों ही इस सहज प्रवृत्ति का पता लगता है, त्यों ही उसे अस्वीकार कर दिया जाता है और उसका कारण यह है कि शिक्षा के द्वारा वह दूसरे लोगों तक नहीं पहुँचाई जा सकती, न जिस व्यक्ति की वह संपदा है उसके अलावा कोई और उसका फ़ायदा उठा सकता है। लेकिन, जब हम साक्रेटीज़ की अथवा उसके शिष्य प्लेटो की आलोचना करें, तो हमें याद रखना चाहिए कि उनका परिवेश क्या था। उन्होंने ज्ञान की बात ऐसे लोगों से कही थी जो इच्छा और सहज प्रवृत्ति के तत्त्वों से परिचित थे, परिचित ही नहीं थे, उन्हें समझते भी थे। उनका संबंध उस एथनी लोकतंत्र से था जहाँ जनता की इच्छा अस्थायी आज्ञप्तियों के रूप में प्रकट होती थी—कुछ ऐसी आज्ञप्तियों के रूप में जैसी एक आज्ञप्ति पर साक्रेटीज़ ने 405 ई० पू० में मत लेना अस्वीकार कर दिया था और जहाँ राजमर्मज्ञ सहज प्रवृत्ति की ही पैरवी करते थे क्योंकि उनके पास और कुछ था ही नहीं जिसकी पैरवी करते। यदि ऐसे वातावरण में वे ज्ञान की और ज्ञान की

---

* अर्ल ऑफ टॉमस वेंटवर्थ स्ट्राफर्ड सत्रहवीं सदी के इँगलैंड का एक प्रसिद्ध राजमर्मज्ञ था जिसे सम्राट चार्ल्स प्रथम ने 1631 में आयर्लैंड लॉर्ड डिप्टी बना कर भेजा था। वहाँ उसने राजा की सत्ता प्रतिष्ठित करने के लिए मनमानी कठोर नीति का आश्रय लिया और वह 'निरंकुश' (Thorough) नाम से विख्यात हो गया। बाद में उस पर अनेक आरोप लगाए गए, मुकदमा चला और फांसी दे दी गई।

[1] लॉर्ड मार्ले ने 'अंत:प्रज्ञा की उस सहज प्रवृत्ति की' चर्चा की है "जिससे राजमर्मज्ञ का मन सचेत विश्लेषण या तर्क की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावित होता है"। उसने बिस्मार्क का उद्धरण दिया है : "मैंने अकसर देखा है कि जब तक मेरा चिंतन पूरा होता है तब तक मेरी इच्छा निर्णय कर चुकती है"। (**नोट्स ऑन पॉलिटिक्स एंड हिस्ट्री**, पृ० 57—8)।

प्रभुता की बात करते थे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सत्य का जो आधा अंश उन्हें उपेक्षित लगता था, उसे उन्होंने व्यक्त किया और जिस पूरक सत्य के बारे में उन्हें लगता था कि उस पर ज़रूरत से ज्यादा जोर दिया गया है उसे वे छोड़ गए।

नोट—उपर्युक्त परिच्छेदों में मैंने अधिकांश में साक्रेटीज़ की वही व्याख्या अपनायी है जो प्रोफ़ेसर बर्नेट ने स्वीकार की है (**ग्रीक फिलॉसफी**, अध्याय VIII—X)। प्रोफ़ेसर बर्नेट का विचार है कि साक्रेटीज़ का सच्चा स्वरूप प्लेटो के संवादों में ही मिल सकता है (ज़ेनोफ़ॉन के **मेमोराबिलिया** में नहीं)। वह इससे भी आगे बढ़ गए हैं। उनके मत से प्लेटो ने **रिपब्लिक** तक जो संवाद लिखे थे—इन संवादों में **रिपब्लिक** भी सम्मिलित है—उन सबमें साक्रेटीज़ के विचारों के ऐतिहासिक विवरण दिए गए हैं। (बस संरक्षकों के अध्ययन का कार्यक्रम इसका अपवाद है और प्रोफ़ेसर बर्नेट के अनुसार वह प्लेटो की अपनी चीज़ है)। वे मानते हैं कि संवाद वास्तविक विचार-विमर्श के अभिलेख नहीं हैं (हाँ, उनमें इन विचार-विमर्शों के कुछ अंश हो सकते हैं) और ये साक्रेटीज़ को उसी रूप में उपस्थित करते हैं जिस रूप में प्लेटो ने उसे देखा था। किंतु उनका विचार है कि प्लेटो कलाकार होने के साथ ही इतिहासकार भी था और उसने अपने संवादों में गुरू के विचारों को ही प्रकट किया है अपने विचारों को प्रकट करने के लिए गुरू के नाम की आड़ नहीं ली है। उनका विचार है कि इसीलिए, उदाहरणार्थ, **रिपब्लिक** में प्लेटो के समकालीन व्यक्तियों और विवादों का नहीं बल्कि साक्रेटीज़ के समकालीन व्यक्तियों (उदाहरण के लिए थ्रेसीमेकस) और विवादों उदाहरण के लिए न्याय और शक्ति के विवाद) का उल्लेख है। इस दृष्टिकोण के अनुसार साधारणतः जो प्लेटो के सिद्धांत समझे जाते हैं, वे सब साक्रेटीज़ के सिद्धांत माने जाएँगे—विचारों का सिद्धांत, साम्यवाद का प्रतिपादन, तीन वर्गों तथा दार्शनिकों के शासन का राजनीतिक सिद्धांत। मैं इस हद तक नहीं जा पाया हूँ। मेरा विचार है कि प्लेटो के राजनीतिक दर्शन के विचार बीज रूप से तो साक्रेटीज़ के ही हैं, पर इन विचारों को अपने पूर्ण रूप में पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय उसी को है[1]। इसीलिए मैंने यह माना है कि ज्ञान की प्रभुता का सिद्धांत और राजमर्मज्ञता के कला रूप की अवधारणा का सिद्धांत तो साक्रेटीज़ का ही है। इन दोनों सिद्धांतों का **मीनो** तथा **गार्जियाज़** में विवेचन किया गया है। इसी प्रकार, मैंने **प्रोटेगोरस** नामक संवाद में वर्णित राज्य के शिक्षा-सिद्धांत की रूपरेखा को प्रोटेगोरस का माना है। दूसरी ओर इन धारणाओं के आधार पर आगे जो विस्तृत निष्कर्ष निकाले गए हैं, उन्हें मैंने प्लेटो का माना है। इस तरह का एक उदाहरण ज्ञान की प्रभुता तथा राजमर्मज्ञता की कला के समुचित व्यवहार का सुकराती सिद्धांत है। प्लेटो ने इस सिद्धांत की सफल क्रियान्विति के लिए यह आवश्यक माना है कि तीन विशिष्ट वर्ग होने चाहिएँ और इनमें से दो वर्गों को साम्यवाद की व्यवस्था के अंतर्गत रहना चाहिए और इन दोनों में से एक को अपने दार्शनिक प्रशिक्षण के कारण शासन करना

---

[1] जब यह पुस्तक लिखी जा चुकी थी और मुद्रक के हाथों में पहुँच चुकी थी, उसके बाद **माइंड** के अक्तूबर, 1917 के अंक में प्रोफ़ेसर बर्नेट के विचारों पर प्रोफ़ेसेर स्टीवर्ट का लेख प्रकाशित हुआ है।

चाहिए। दूसरे शब्दों में, मुझे ऐसा लगता है कि **रिपब्लिक** के राजनीतिक सिद्धांत का आरंभ साक्रेटीज़ की संकल्पनाओं से होता है और उसका पूर्ण विकास प्लेटो के निष्कर्षों में होता है।

प्रोफेसर बर्नेट के सिद्धांत का एक पहलू यह है कि साक्रेटीज़ एथेंस में एक निश्चित दार्शनिक 'विद्यालय' का प्रधान था, वह उस विद्यालय में एक निश्चित सिद्धांत की शिक्षा देता था और उस विद्यालय में नियमित रूप से जिस सिद्धांत की शिक्षा दी जाती थी उसी सिद्धांत को लिपिबद्ध करने के लिए प्लेटो सहज रूप से प्रवृत्त हुआ था। प्रोफेसर बर्नेट का सुझाव है कि साक्रेटीज़ के 'विद्यालय' के मुख्य सिद्धांत पायथागोरस से प्रभावित थे और व्यावहारिक रूप में साक्रेटीज़ यूनान में पायथागोरसवादियों का प्रधान था। कम से कम इतना तो निश्चित है कि प्लेटो पर पायथागोरस के सिद्धांतों का प्रभाव पड़ा था और यदि साक्रेटीज़ का पायथागोरसवादियों से संबंध रहा था, तो हम स्वभावतः यह समझ सकते हैं कि यह प्रभाव प्लेटो तक साक्रेटीज़ के माध्यम से पहुँचा था।

(घ) ज़ेनोफ़ॉन

यूनान के राजनीतिक चिंतन की भावी प्रगति उसी राह पर चलकर होनी थी जो सात्क्रेटीज़ ने निर्धारित कर दी थी। प्लेटो पूर्ण रूप से सात्क्रेटीज़ का शिष्य है। अरिस्टाटल ने उसी नींव पर अपना महल खड़ा किया है जो प्लेटो ने डाली। परंतु प्लेटो पर विचार करने से पहले सात्क्रेटीज़ के छोटे-मोटे उत्तराधिकारियों और अनुयायियों के राजनीतिक सिद्धांतों पर विचार करके रास्ता साफ कर लेना अच्छा रहेगा। इनमें से कुछ ने सात्क्रेटीज़ की शिक्षा से जो निष्कर्ष निकाले थे, वे प्लेटो के निष्कर्षों से बहुत भिन्न थे। ज़ेनोफ़ॉन अपने गुरू के विचारों का ऐसा व्याख्याता हुआ कि उसने क्षमता के सिद्धांत को ऐसे मामलों तक में लागू किया जैसे घुड़सवारी, सेनापतित्व तथा घरेलू अर्थ-व्यवस्था। प्लेटो की तरह ज़ेनोफ़ॉन भी एथेनी लोकतंत्र से चिढ़ा हुआ था क्योंकि उसमें क्षमता की कमी थी पर प्लेटो की तरह उसका उपचार यह नहीं था कि एक नए और आदर्श शासन की स्थापना की जाए, वल्कि यह था कि एथेंस को उस समय की एक विशिष्ट शासन-प्रणाली के अनुसार ढाला जाए—जो नाम को तो फ़ारस की थी लेकिन असल में थी स्पार्टा की। इस शासन-प्रणाली का चित्र उसने **साइरोपीडिया** नामक ऐतिहासिक कथा में खींचा है। इसमें उसने साइरस के जीवन के माध्यम से सात्क्रेटीज़ के विचारों की व्याख्या की है। ज़ेनोफ़ॉन के अनुसार राज्य को सेना के समान बनना चाहिए—तभी उसमें सेना जैसी कार्यकुशलता आ सकती थी। उसमें श्रेणियों की समुचित व्यवस्था और श्रम का सम्यक् विभाजन होना चाहिए। सब के ऊपर बुद्धिमान् व्यक्ति का शासन होना चाहिए और उसकी अधीनता में हरेक को वह काम करना चाहिए जिसे वह जानता हो। **साइरोपीडिया** में ऐसे अनेक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है जो बाद में प्लेटो तथा अरिस्टाटल की रचनाओं में प्रकट हुए हैं। विधियों का उद्देश्य अपराधों की रोकथाम भर नहीं होना चाहिए। शिक्षा को केवल व्यक्तिगत उद्यम पर नहीं छोड़ देना चाहिए। प्राचीन फ़ारस में यह स्थिति नहीं थी। उसकी विधि सकारात्मक थी, रचनात्मक थी। उससे नागरिकों में न्याय-परायणता की भावना जागती थी—फलतः उनमें कोई बुरा या असम्मानजनक काम करने की प्रेरणा नहीं होती थी।

वहाँ राज्य शिक्षा देता था और उसका क्रम जीवन-भर चलता था। जैसे हमारे लड़के पढ़ना, लिखना और हिसाब सीखने के लिए स्कूल जाते हैं उसी प्रकार फ़ारस के लड़के न्याय की शिक्षा पाने के लिए स्कूल जाते थे। जो वयोवृद्ध नागरिक अपना शिक्षा-क्रम ससम्मान पूरा कर लेते थे, उन्हीं को राज्य इन विद्यालयों में शिक्षक नियुक्त करता था। फ़ारसवासियों के नैतिक और सैनिक उत्कर्ष की जीवनव्यापी शिक्षा के चार चरणों का ज़ेनोफ़ॉन ने कुछ-कुछ वैसा ही निरूपण किया है, जैसा प्लेटो की **रिपब्लिक** में हुआ है और फिर उसने दिखाया है कि ऐसे माहौल में किस तरह आदर्श शासक—साइरस—का विकास हुआ जो अपने लोगों में सबसे बुद्धिमान् था, सबसे अच्छा था और जिसने अपने लोगों को पहले से कहीं बुद्धिमान और अच्छा बना दिया। अस्तु, साक्रेटीज़ के विचारों के प्रकाश में राज्य को एक नैतिक और शैक्षिक संस्था मानने के यूनानी विचार का ज़ेनोफ़ॉन की रचना में फिर से आख्यान हुआ है। और इसके फलस्वरूप हम इस धारणा पर जा पहुँचते हैं कि राज्य नैतिक ज्ञान की शिक्षा दे सकता है और इस शिक्षा के आधार पर आदर्श रूप से बुद्धिमान् व्यक्ति के शासन की स्थापना संभव है। प्लेटो के भी यही निष्कर्ष हैं; और सच पूछा जाए तो **रिपब्लिक** को ऐसी **साइरोपीडिया** कहा जा सकता है जिसका परिप्रेक्ष्य ज़ेनोफ़ॉन का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य नहीं बल्कि जो जीवन और जगत के गहन दर्शन से अनुप्राणित है[1]।

(अपने विकास के एक दौर में) जैसे प्लेटो राजतंत्रवादी था, वैसे ही ज़ेनोफ़ॉन भी है पर वह सैनिक राजतंत्रवादी है और इस दृष्टि से प्लेटो से उसका भेद है। वह खुद एक सिपाही था और साइरस तथा एजेसिलायस दोनों की अधीनता में फ़ारस के विरुद्ध लड़ा था। उसका ज़माना वह ज़माना था जब पुरानी नागरिक सेना के बजाए पेशेवर सेनाएँ अस्तित्व में आ रही थीं और इन सेनाओं के आधार पर सैनिक राजतंत्रों का उत्थान हो रहा था जैसे सिराक्यूज़ में डायोनीसियस प्रथम (405-367) का सैनिक राजतंत्र। कहा जाता है कि ज़ेनोफ़ॉन ने **हिएरो** नामक एक संवाद की रचना की थी जिसमें उसने सिराक्यूज़ के निरंकुश शासक डायोनीसियस (478-467) के पूर्ववर्त्ती हिएरो को कवि साइमोनीडीज़ के साथ निरंकुश शासन की समस्या पर विचार-विनिमय करते हुए दिखाया है और वहाँ उसका निष्कर्ष यह मालूम पड़ता है कि निरंकुश शासक वांछनीय ही नहीं है बल्कि उसके हाथों जनता की भलाई भी होती है। ज़ेनोफ़ॉन ने **साइरोपीडिया** और **हिएरो** दोनों में राजतंत्र के प्रति जो रुझान प्रकट किया है, वह उस युग का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है—व्यावहारिक राजनीति और राजनीतिक सिद्धांत दोनों का ही। यह प्रवृत्ति प्लेटो में भी है, और कुछ हद तक अरिस्टाटल में भी। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के तीसरे खंड में निरंकुश शासक के बारे में विस्तार से विचार किया है और पाँचवें खंड में अत्याचारी शासन

---

[1] **साइरोपीडिया** के लिए तुलना कीजिए, हेन्केल, **स्टिडिएन**, पृ० 136 और क्रमशः। ज़ेनोफ़ॉन ने दो ग्रंथ भी लिखे थे—इनमें से एक ग्रंथ लासीडामोनिया के संविधान के बारे में था और दूसरा एथेंस की राजस्व-व्यवस्था पर। दूसरे ग्रंथ में व्यापारिक नौवहन तथा सरायों और पांथशालाओं के राष्ट्रीयकरण की हिमायत की गई थी।

को स्थायी बनाने के उपायों की ओर ध्यान दिया है। यह प्रवृत्ति ईसोक्रेटीज़ की रचनाओं में फिर प्रकट होती है और उनमें व्यावहारिक राजनीति के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है।

(ङ) ईसोक्रेटीज़

ईसोक्रेटीज़ कई बातों में ज़ेनोफ़ॉन से मिलता है। दोनों ही द्वितीय श्रेणी के विचारक कहे जा सकते हैं और यद्यपि राजनीति पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने की क्षमता उनमें नहीं है, फिर भी दार्शनिकता का इतना पुट उनमें अवश्य है कि वे अपनी पीढ़ी की प्रचलित प्रवृत्तियों और विचारों को सामान्य शब्दावली में प्रकट कर सकें। दोनों साक्रेटीज़ के प्रभाव में थे। लेकिन उन पर जिस साक्रेटीज़ का प्रभाव है वह खंडित साक्रेटीज़ है—अपने गांभीर्य से वंचित और साधारण स्तर का साक्रेटीज़। ईसोक्रेटीज़ का जन्म 436 ई०पू० में हुआ और मृत्यु 338 ई०प० में। इस प्रकार ईसोक्रेटीज़ का जन्म प्लेटो से पहले हुआ और मृत्यु प्लेटो के बाद। ईसोक्रेटीज़ ने अरिस्टाटल के ऊपर भी असर डाला था। अरिस्टाटल उससे पचास साल से भी ज्यादा छोटा था। साक्रेटीज़ से उसका संपर्क यौवन-काल में हुआ था और इस संपर्क का असर इस रूप में परिलक्षित होता है कि वह जिस दर्शन की शिक्षा देने का दम भरता था, उसे उसने नागरिक जीवन में उतारने की कोशिश की। मगर वह साक्रेटीज़ की सच्ची शिक्षा को नहीं समझ सका—यह तथ्य दर्शन के स्वरूप के बारे में उसकी कुछ-कुछ नीरस संकल्पना में परिलक्षित होता है। उसके ऊपर सोफ़िस्टों की शिक्षा का—विशेष कर प्रोडिकस की—शिक्षा का प्रभाव पड़ा था, जो भाषा के रुचिर प्रयोग की शिक्षा देता था। परोक्षतः उस पर भाषण-शास्त्री गॉर्जियाज़ का भी प्रभाव पड़ा था। उसका ध्यान भाषण-शास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ और उसने 392 ई० पू० के आस-पास दर्शन की शिक्षा देने के लिए एक विद्यालय की स्थापना की जो पचास वर्ष चला। ईसोक्रेटीज़ की दृष्टि में दर्शन का अर्थ था—कुछ कुछ राजनीतिक वक्तृत्व-कला जैसी चीज़। उसने अपने विद्यालय की शिक्षा सोफ़िस्टों[1] से भिन्न रखने की कोशिश की और इस अंतर की स्थापना की कोशिश में उसने सोफ़िस्ट शब्द को एक नया अर्थ दिया—सोफिस्ट वह जो हेत्वाभास (sophism) की शिक्षा दे और वाद-विवाद की बारीकियों में पारंगत हो। आजकल इस शब्द का सामान्यतः इसी अर्थ में प्रयोग होता है। दर्शन की शिक्षा का दम भरता हुआ वह प्लेटो और

---

[1] ईसाक्रेटीज़ चौथी शताब्दी के सोफ़िस्टों की चर्चा कर रहा है, पाँचवीं शताब्दी के सोफ़िस्टों की नहीं।

साक्रेटीज़ की श्रेणी का व्यक्ति प्रतीत होता है। लेकिन, साक्रेटीज़ के संप्रदाय और ईसोक्रेटीज़ के संप्रदाय में कुछ आधारभूत अंतर हैं। साक्रेटीज़ के विपरीत उसका विचार था कि व्यावहारिक मामलों में ज्ञान की अपेक्षा मत अच्छा पथप्रदर्शक है। ''बेकार की चीज़ों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने की अपेक्षा उपयोगी वस्तुओं के बारे में संभाव्य मत बना लेना बेहतर है''[1]। प्लेटो का विचार था कि सच्ची शिक्षा है— विज्ञान तथा गणित का अध्ययन। पर, इसके विपरीत ईसोक्रेटीज़ का विचार था कि सच्ची शिक्षा का अर्थ है राजनीतिक विषयों पर ठीक-ठीक मत स्थिर कर लेने की क्षमता का अर्जन। उसके दर्शन का आदि और अंत है—''बड़े-बड़े राजनीतिक विषयों पर बोलने और लिखने की कला, ऐसी कला जो राजनीतिक मामलों में सलाह देने या काम करने की भूमिका समझी जा सके''[2]। पर, प्लेटो और ईसोक्रेटीज़ की दर्शन-संबंधी संकल्पनाओं के बीच बड़ी भारी खाई भले ही हो—लेकिन इसका अर्थ यह नहीं समझा जा सकता कि उन दोनों के बीच संघर्ष रहा होगा। इसके विपरीत, कम से कम अपने कुछ राजनीतिक विचारों में वे एक दूसरे के शत्रु नहीं, मित्र हैं। दोनों में राजतंत्र के प्रति सम्मान पाया जाता है। **रिपब्लिक** के पाँचवें खंड से स्पष्ट है कि प्लेटो में यूनानी एकता की प्रखर भावना थी और हो सकता है फ़ारस के विरूद्ध यूनान के संगठन की ईसोक्रेटीज़ की योजना का उसने सहर्ष अनुमोदन किया हो। ईसोक्रेटीज़ भी अपने ढँग से राजमर्मज्ञों के प्रशिक्षण में विश्वास करता था ; अतः सिराक्यूज़ के तरूण डायोनीसियस के प्रशिक्षण की प्लेटो की चेष्टाओं पर उसे भला क्यों खीझ होती[3] ?

ईसोक्रेटीज़ को शिक्षाविद् भी समझा जा सकता है और राजनीतिक निबंधकार भी। शिक्षाविद् की हैसियत से उसने पचास वर्ष से भी अधिक समय तक, अपने समकालीन सब भाषण-शास्त्रियों को तो शिक्षा दी ही, साथ ही अनेक राजमर्मज्ञों, दार्शनिकों और इतिहासकारों को भी प्रशिक्षण दिया। राजनीतिक निबंधकार की हैसियत से उसने एंटालसिडस की शांति-संधि और केरोनिया में फिलिप की विजय के बीच के पचास वर्ष (387—338 ई० पू०) में राजनीति के सभी सामयिक विषयों पर सोच-विचार किया और लिखा। उसकी इन दोनों गतिविधियों का घनिष्ठ संबंध था। उसकी शिक्षा भाषण-कला की शिक्षा थी; उसके राजनीतिक निबंधों का उद्देश्य यह बताना था कि भाषण-कला का उपयोग कैसे किया जाना चाहिए। वह महान् शैलीकार था, लेकिन वह भाषण-कला को रूप-विधान का अध्ययन उतना नहीं समझता था, जितना राजनीति की भूमिका। इसीलिए उसका विश्वास था कि वह विधान बनाने की उस कला से बढ़कर है जिससे प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों का सरोकार था। वह कला तो ऐसी थी जिसमें कोई आसानी से पारंगत हो सकता था और उसका संबंध भी राज्य के आंतरिक मामलों से ही था। पर ईसोक्रेटीज़ ने जिस रूप में भाषण-कला का भावन किया था, उसमें उसका सरोकार राज्यों के पारस्परिक संबंध

---

[1] **हेलेनाए एन्कोमियम,** § 5 (जेब द्वारा उद्धृत, **एटिक ओरेटर्स,** II. 49)।

[2] जेब, **एटिक ओरेटर्स,** II. 38—9।

[3] बर्नेट, **ग्रीक फ़िलासफी,** 215—19।

के उच्चतर प्रश्नों से था और वह एक साथ ही उच्चतर राजमर्मज्ञता की जननी भी थी और संतति भी। ईसोक्रेटीज़ के सामने असली समस्या यूनानी राज्यों के पारस्परिक संबंधों की है। यह वही समस्या है जो कुछ हद तक **पॉलिटिक्स** में अरिस्टाटल के सामने भी रही है। उसने कहा है कि प्लेटो ने **लॉज़** में और काल्सीडॉन के फालेयास ने अपनी प्रस्तावित राजनीतिक योजना में जिन राज्यों की स्थापना का प्रयास किया है, उसमें उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया है कि इन राज्यों के विदेश संबंध क्या हों। सातवें खंड के दो स्थलों पर उसने इस प्रश्न पर विचार किया है कि राज्य का अपने पड़ोसियों के प्रति उचित दृष्टिकोण क्या होना चाहिए[1]। फिर भी, ईसोक्रेटीज़ ही एकमात्र ऐसा यूनानी लेखक है जिसने इस समस्या पर सचमुच ध्यान केंद्रित किया और यह कहना अनुचित न होगा कि वह नगर-राज्य की आंतरिक राजनीति से आगे बढ़ा है और उसने यह समझा है कि आज की समस्या यह पता लगाने की है कि प्रत्येक नगर-राज्य और अन्य राज्यों के पारस्परिक संबंध का उचित आधार क्या है।

ईसोक्रेटीज़ की भाषण-कला पर विचार करने के लिए हमें उसके भाषणों को ही आधार बनाना चाहिए। उसके ये भाषण भाषण कम हैं, राजनीतिक पुस्तिकाएँ अधिक। यह सच है कि इनमें से कुछ का संबंध एथेंस की आंतरिक राजनीति से है। **एरियोपेगिटिकस** में एथेंस के परंपरागत लोकतंत्र की हिमायत की गई है। इसका रचना-काल 346 ई० पू० है। यह शब्द—परंपरागत लोकतंत्र—ऐसा था जिसका चिर काल से प्रयोग होता आ रहा था (अध्याय 3 (क) से तुलना कीजिए) और जिसके अनेक अर्थ समझे जाते थे। ईसोक्रेटीज़ के विचार से सोलोन का युग अतीत का वह आदर्श युग था जिसकी ओर एथेंस को वापस लौटना चाहिए था। पर्ची का प्रयोग सच्ची या आनुपातिक समानता के विरूद्ध है जो योग्यता को अयोग्यता से अलग करती है—अतः, उसका अंत कर दिया जाना चाहिए; और प्रत्येक पद के लिए निर्वाचन के द्वारा योग्यतम व्यक्ति को चुना जाना चाहिए। एरियोपेगस की पुरानी परिषद् को जिन शक्तियों से वंचित कर दिया गया था, वे उसे फिर से मिल जानी चाहिएँ; और यह मानते हुए कि नागरिक की शिक्षा तरूणाई के साथ खत्म नहीं हो जाती, उसे आचार-विचार की सामान्य नियंत्रक और लोक-अनुशासन की अभिभावक के रूप में काम करना चाहिए। ईसोक्रेटीज़ लोकतंत्रवादी होने का दम भरता है, पर वह 'स्पार्टा जैसा' संयत लोकतंत्र चाहता है जिसमें पद योग्यतम व्यक्ति को मिलता हो और स्वतंत्रता उच्छृंखला न समझी जाती हो। ये कुछ साधारण बातें हैं जो अरिस्टाटल की रचनाओं में फिर से आई हैं। उदाहरण के लिए अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के सातवें खंड में साम्राज्यवाद के खतरों पर विचार किया है और वहाँ लगता है मानो उसने **डी पेस** (355 ई० पू०) के इस तर्क की ही प्रतिध्वनि की हो कि जिस साम्राज्य पर एथेंस का अपने 'सतयुग' में कभी कब्ज़ा नहीं रहा था, उस पर उसे अब भी कब्ज़ा नहीं रखना चाहिए।

---

[1] **पॉलिटिक्स,** II. 6, § 2 और § 14 : VII. 2—3 और 14—15. पर यह बात एकदम कह दी जाए कि प्लेटो ने **रिपब्लिक** के पाँचवें खंड में और फिर **लॉज़** के अंतिम खंड में विदेश-संबंधों की समस्या पर निश्चय ही विचार किया है।

इस तरह जहाँ तक आंतरिक राजनीति का संबंध है, ईसोक्रेटीज़ ने एथेंस की अव्यवस्था का उपचार यह बताया है कि एथेंस 'परंपरागत लोकतंत्र' की ओर लौटे और अपने बचे-खुचे साम्राज्य को छोड़ दे। परंतु, वह जानता था कि भीतर की अव्यवस्था का सही उपचार बाहर ही ढूंढना होगा और वह केवल विदेश नीति के क्षेत्र में मिल सकता है। यदि यूनान के नगर-राज्यों को पूर्व-विजय की 'महत् योजना' बना कर आपस में संगठित कर लिया जाए, तो उनकी अव्यवस्था अपने आप मिट जाएगी। ईसोक्रेटीज़ एथेंस के नागरिक से अधिक था—वह यूनान का नागरिक था[1]। उसने देखा कि यूनान की एक संस्कृति है; और इस संस्कृति की एकता बढ़ाने में उसका अपना योगदान भी कुछ कम न था। उसका विश्वास था कि यूनानी तथा वर्बर के बीच असली भेद इसी संस्कृति का है[2] ? और उसका आग्रह था कि संस्कृति की एकता को नीति की एकता के रूप में ढाला जाना चाहिए और इस नीति का लक्ष्य होना चाहिए वर्बरों का विरोध। इस उपाय से यूनान में एकता बढ़ेगी और उसके नगर अव्यवस्था से उबर जाएँगे। इतना ही नहीं, एशिया को आज़ादी मिलेगी और उसकी जातियाँ अपनी गुलामी से मुक्ति पाएँगी।

ईसोक्रेटीज़ इस नीति का पहला प्रचारक नहीं था। ओलंपिया में—जहाँ यूनानी जगत प्रति चौथे वर्ष महान् राष्ट्रीय खेलों के लिए जमा होता था—गॉजियाज़ ने अपने एक भाषण में "यूनानियों को वर्बरों के खिलाफ एक हो जाने की सलाह दी थी"[3]। 388 ई० पू० में वक्ता लीसियास ने भी ओलंपिया में एक भाषण दिया था। उसने यूनानियों से अपील की थी कि वे गृह-कलह छोड़ कर आयोनिया के यूनानियों को वर्बर एर्टाक्सेरक्सेस के शासन से और सिसली के यूनानियों को अत्याचारी डायोनीसियस के शासन से मुक्त कराएँ[4]। इसके आठ वर्ष बाद 380 ई० पू० में ईसोक्रेटीज़ ने अपना ओलंपिया भाषण **पानेगिरिकस** लिखा। यह भाषण उसने दिया कभी नहीं; पुस्तिका के रूप में संसार के सामने रखा। उसके भाषण का सार यह था कि चूँकि एथेंस और स्पार्टा—दोनों की ही फ़ारस से लड़ाई है—तब क्यों न वे एक होकर यह लड़ाई लड़ें ? इस

---

[1] वक्ता लीसियास ने 388 ई० पू० में अपने ओलंपियाई भाषण में अपने को 'यूनान का नागरिक' कहा था (जेब, **एटिक ओरेटर्स**, I. 156)।

[2] **पानेगिरिकस**, § 50; **डी एंटीडोसी** § 293. ईसोक्रेटीज के सर्व-हेलेनवाद और प्लेटो के सर्व-हेलेनवाद की—प्लेटो ने इसका विवेचन **रिपब्लिक** के पाँचवें खंड में किया है—तुलना रोचक होगी। इस संबंध में तुलना के लिए आगे अध्याय 11 (ज) देखिए।

[3] फ़िलोस्ट्रेटस, जेब द्वारा उद्धृत, **एटिक ओरेटर्स**, I. 203—4।

[4] लीसियास रोचक व्यक्ति है और उसका राजनीति-सिद्धांत के इतिहास में अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है। उसका पिता सिफालस साक्रेटीज का मित्र था; और उसका घर ही **रिपब्लिक** का रंगमंच है। सिफालस स्वयं और लीसियास का बड़ा भाई पोलीमारकस ये दोनों संवाद के पात्र हैं। 392 ई० पू० में सोफ़िस्ट पोलीक्रेटीज़ ने साक्रेटीज़ के विरोध में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी; और लीसियास ने साक्रेटीज़ का पक्ष ग्रहण करते हुए उसका जवाब लिखा था।

प्रकार की एकता असंभव थी—फलतः ईसोक्रेटीज़ के भाषण का कुछ भी असर नहीं हुआ। नीति के केवल दो ही और रास्ते रह गए थे और ईसोक्रेटीज़ इनमें से कोई भी एक रास्ता अख्तियार करने की पैरवी कर सकता था। एक रास्ता तो यह था कि यूनानी नगरों को मिला कर एक संघ-राज्य बना लिया जाए। 371 ई० पू० में कुछ काल के लिए थीब्स के भाग्य का सितारा सबसे बुलंदी पर था; वह यूनानी संघ का केंद्र बन सकता था। पुरानी बिओशियाई लीग, 387 ई० पू० में भंग हो चुकी थी—वह हेलेनी लीग के लिए आदर्श बन सकती थी। एपामिनोडास ने इस बात का सबूत दिया था कि वह ऊँचा उठ कर यूनान की नागरिकता की संकल्पना कर सकता है। वह उसका राजमर्मज्ञ हो सकता था। पर न तो थीब्स इस अवसर का उपयोग कर सका, और न ईसोक्रेटीज़ इस अवसर को पहचान ही पाया। उसने दूसरा विकल्प अपनाया और वह एक ऐसे शासक की खोज में जुट पड़ा जो संघात्मक यूनान का राजमर्मज्ञ न हो बल्कि जो नगर-राज्यों के संश्रय का सेनापति बन सके। संघ की कल्पना उसकी राजनीतिक अंतर्दृष्टि की पहुँच से परे थे। वह नगर-राज्य से इतना अधिक बँधा हुआ था कि शिथिल राज्य-मंडल या एक ही सेनापति के अधीन सैनिक संश्रय से ऊँचे किसी संघ की हिमायत नहीं कर सकता था।

वह यूनानी जगत के विभिन्न क्षेत्रों में कई वर्ष तक ऐसे सेनापति की खोज करता रहा। सबसे पहले उसने थेसालिवासियों के सेनापति फियारे के जेसन पर अपनी आशाएँ केंद्रित कीं। 370 ई० पू० में जब उसकी मृत्यु हो गई तो उसने सिराक्यूज़ के डायोनीसियस पर अपनी निगाह जमाई और अंत में उसे भाग्य-विधाता मिला मैकेदोनिया के फिलिप के रूप में। उसने 346 ई० पू० और 338 ई० पू० के बीच फिलिप को संबोधित कर के एक भाषण और दो साहित्यिक पत्र लिखे[1]। भाषण में (जो 346 ई० पू० में लिखा गया था) उसने फिलिप से प्रार्थना की कि वह यूनानी नगर-राज्यों में एकता स्थापित करे, स्वयं संयुक्त यूनान का प्रधान बन जाए और बर्बरों के साथ युद्ध में उसका नेतृत्व करे; संक्षेप में, अपने आप को यूनान का संरक्षक, मैकेदोन का नरेश और एशिया का स्वामी सिद्ध करे। इस प्रकार, ईसोक्रेटीज़ को उस महायुद्ध का संचालन करने के लिए एक 'नायक' खोज निकालने की चिंता थी जिससे यूनान आंतरिक अव्यवस्था से बच जाता और एशिया में यूनानी संस्कृति का प्रसार होता। यह ऐसी नीति थी जिसका एक विचित्र उदाहरण हमें आज भी मिल सकता है। हम उसे राजतंत्रवादी कह सकते हैं लेकिन उसका राजतंत्रवाद सीमाओं में बँधा हुआ है। दरअसल वह चाहता यह था कि यूनान में सैनिक नायकत्व स्थापित हो जाए और सो भी पूर्व में युद्ध करने के एक-मात्र उद्देश्य से। यह सच है कि उसने साइप्रस के

---

[1] दूसरा पत्र केरोनिया में एथेंस और थीब्स के ऊपर फिलिप की विजय के बाद लिखा गया था और इसमें फिलिप से प्रार्थना की गई थी कि वह बर्बरों को यूनानियों का दास बना कर अपने गौरव की श्रीवृद्धि करे। यह पुरानी जनश्रुति कि "केरोनिया के समाचार ने वाग्मी वृद्ध को निराशा से मार दिया," सत्य के विपरीत है। इस समाचार ने तो उसे भविष्य के प्रति नई आशाओं से भर दिया था।

शासक को पत्र लिख कर अत्याचारी शासन की सराहना की और उसे 'सबसे अच्छी और सबसे बढ़कर चीज़' बताया पर उसने **फिलिप्पस** में लिखा है कि राजतंत्र यूनानियों के लिए उपयुक्त नहीं है और यह भी राजा को ही संबोधित है। सच यह है कि ईसोक्रेटीज़ का कोई राजनीतिक सिद्धांत नहीं था, न उसे राजनीतिक सिद्धांतवादी कहा जा सकता है। उसकी एक राजनीतिक नीति है और वह राजनीतिक पत्रकार है। राजनीतिक पत्रकार के नाते उसमें कुछ गुण हैं और आज के पाठक को वह किसी महान् समाचार-पत्र के संपादक की याद दिला देता है, जो अपने अग्रलेखों में लगातार एक विशेष नीति का प्रतिपादन करता हो। लेकिन, महान् पत्रकार होने के कारण ही वह न तो महान् सिद्धांतवादी हो सका, न महान् कर्मयोगी। सिद्धांत और कर्म के बीच की संदिग्ध भूमि पर रहने के कारण वह दोनों में से किसी के भी गौरव को प्राप्त नहीं कर सका[1]। वह न तो डिमास्थेनीज़ ही था, न अरिस्टाटल ही। वह अपने आप को वक्ता और अच्छा नागरिक कहता था। पर, उसमें न तो डिमास्थेनीज़ जैसी उदार नागर-भक्ति थी, न वह आग बरसाने वाली वक्तृत्व कला। वह 'दर्शन' का—और सो भी राजनीतिक दर्शन का शिक्षक होने का दावा करता था, पर लोगों ने राजनीति-दर्शन पर जैसी पकड़ अरिस्टाटल में हमेशा पाई है, वैसी पकड़ उसमें नहीं थी। परंतु, सब कुछ कह चुकने के बाद यह बात कह देना भी आवश्यक है कि सम-सामयिक इतिहास की प्रवृत्ति की जैसी समझ उसको थी, वैसी न डिमास्थेनीज़ में थी न अरिस्टाटल में। वह नगर-राज्य की आंतरिक राजनीति से ऊपर उठा —वे वहाँ तक नहीं पहुँच पाए। उसने यूनान की विदेश नीति की समस्याओं को जितनी अच्छी तरह समझा, वे उतनी अच्छी तरह कभी नहीं समझ सके। जब 337 ई० पू० में कोरिंथ की कांग्रेस ने फ़ारस के साथ युद्ध-संचालन के लिए मैकेदोन के फिलिप को पूरी शक्तियाँ देकर सेनापति बनाया, तब यह कहा जा सकता था कि अंत में ईसोक्रेटीज़ की सारी शिक्षा सार्थक हो गई।

---

[1] प्लेटो ने इस सीमांत-स्थल की चर्चा की है। अध्याय 7 (ग) से तुलना कीजिए।

(य) सिनिक और सिरेनायक

जब हम ज़ेनोफ़ॉन और ईसोक्रेटीज़ से सिनिकों और सिरेनायकों पर आते हैं, तो एक बिल्कुल ही भिन्न विचारधारा हमारे सामने आती है। पूर्ववर्त्ती विचारकों ने तो राज्य के संबंध में पुराने यूनानी विचार का समर्थन और विस्तार किया था, पर सिनिक और सिरेनायक नामक संप्रदायों ने उसे बिल्कुल त्याग दिया। ईसोक्रेटीज़ तो हेलेनी नागरिकता की संकलपना तक ही बढ़ा था परंतु सिनिक विश्व-नागरिकता की संकल्पना तक जा पहुँचे। वे उस सार्वभौम प्रवृत्ति के सजग दूत हैं[1] जो शायद दार्शनिक संप्रदायों में निहित थी क्योंकि आम तौर से उनके शिक्षक और विद्यार्थी यूनानी जगत के विभिन्न भागों के हुआ करते थे। सिनिकों के दर्शन का आधार कुछ तो जीवन था और कुछ सार्क्रेटीज़ की शिक्षा[2]। साक्रेटीज़ नंगे पैर चलता था और बड़े-छोटे सभी लोगों से बात कर लेता था—सिनिक भी ऐसा ही करते थे। साक्रेटीज़ की सीख थी कि आदमी को अपने आपको जानना चाहिए और अपने ज्ञान के अनुसार कार्य करना चाहिए ; सिनिकों ने उसकी शिक्षा को और आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा कि वह बुद्धिमान व्यक्ति जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया हो, आत्म-निर्भर होता है। उन्होंने साक्रेटीज़ के जीवन का अनुसरण किया और उसे अतिरंजित रूप दिया। फ्रांसिस के आरंभिक अनुयायियों के आदर्श पर उन्होंने भिक्षा-वृत्ति अपनाई। पर उनमें और फ्रांसिस के अनुयायियों में एक बड़ा भारी अंतर था। उन्होंने निर्धनता

---

[1] प्लेटो ने **प्रोटेगोरस** में लिखा है कि प्रोडिकस सभी मनुष्यों को 'प्रकृत्या' साथी-नागरिक मानता था। यह हम देख ही चुके हैं कि सोफ़िस्ट एंटीफ़ोन (अध्याय 4 (ङ) देखिए) पाँचवीं शताब्दी के अंत में विश्व-बंधुत्व के एक निश्चित सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा था। यहाँ यह और कह दिया जाए कि सिनिकों का विश्व-बंधुत्व सकारात्मक नहीं, नकारात्मक है। उसका स्वरूप एंटीफोन के विश्व-बंधुत्व से मिलता है, पर वह स्टोइकों के विश्व-बंधुत्व से भिन्न है। उन्हें 'ज़ोअस का नगर' जितना अच्छा लगता था, 'सेक्रोप्स का नगर' उतना ही बुरा।

[2] तुलना कीजिए, मेक्नन, **इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ एथिक्स,** XIV, 185 और क्रमशः।

इसलिए नहीं अपनाई कि उन्हें स्वर्ग के राज्य से कोई मोह था वल्कि इसलिए अपनाई थी कि धरती के राज्यों से घृणा थी। साक्रेटीज़ ने लोकतंत्र की कुछ संस्थाओं की आलोचना की थी पर इन्होंने तो संपूर्ण समाज के प्रति, उसके समस्त स्तरों और संस्थाओं के प्रति विद्रोह कर दिया। वे यूनानी जगत की परंपराओं के प्रति विद्रोही थे; वे संपत्ति, परिवार, नगर और ऐसी प्रत्येक चीज़ के विरूद्ध थे जिसमें ऊँच-नीच, आगे-पीछे और छोटे-बड़े का प्रश्न निहित हो। उनकी दृष्टि में सब आदमी एक जैसे थे और सब देश एक-जैसे थे। "मैं एटिका की कीड़ों-मकोड़ों वाली भूमि का होने का गर्व क्यों करूँ"? विद्रोह की इस भावना ने उनकी राष्ट्रीयता को नष्ट कर दिया था—"वे अपना न कोई नगर मानते थे, न घर, न देश"। साक्रेटीज़ की शिक्षा की उन्होंने कुछ इस तरह से व्याख्या की थी कि उनमें नागरिक भावना का अभाव होने लगा। "सद्गुण ही ज्ञान है"—वह भीतर की चीज़ है—सिर्फ़ भीतर की। वाहर की चीज़ें सद्गुण की साधक नहीं, बाधक होती हैं। मनुष्य को चाहिए कि सब चीज़ों को छोड़ कर केवल सद्गुण का अनुसरण करे। केवल वही वाधा-वँधनों से मुक्त है। "सव वाहरी संस्थाएँ वाधाएँ हैं: सारी सामाजिक रूचियाँ मन को भरमाती हैं"। इस संप्रदाय के संस्थापक एंटीस्थेनीज़ की चर्चा करते हुए डायोगेनीज़ ने कहा था, "उन्होंने मुझे सिखाया कि मेरी अपनी कहने की तो सिर्फ़ एक ही चीज है, वह यह कि मैं अपने विचारों का स्वतंत्र प्रयोग कर सकता हूँ"। अपने आत्मभाव में स्थित, संयत, ज्ञानवान् व्यक्ति उनका आदर्श हो गया। सिनिक अपने आप में आत्म-निर्भर था और उसके बाहर जो कुछ भी था उससे वह निरपेक्ष था। उसके लिए सब चीज़ें नगण्य थीं, राज्य निरर्थक चीज़ थी। यदि वह किसी नागरिकता को स्वीकार करता था, तो संसार की नागरिकता को; और वह कोई नागरिकता न थी। इसीलिए प्लूटार्क ने कहा था, "एलेक्ज़ेंडर ने अपने सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना करके सिनिकों के आदर्श के राजनीतिक पक्ष को कार्यरूप में परिणत किया"[1]।

इस तरह नगर-राज्य की जड़ दो वातों से खोखली हुई—एक तो इस दृढ़ आग्रह से कि किसी आदमी की राजनीतिक स्थिति चाहे कैसी हो, आदमी-आदमी सब वरावर होते हैं और दूसरे इस धारणा से कि ज्ञानवान् पूरी तरह आत्म-निर्भर होता है और वह सृष्टि का अंग वन कर संतुष्ट रहता है। यह पुराना विचार बुझ रहा है, मर रहा है कि जीवन नागरिक समुदाय की श्रेणियों में वँटी हुई सोपान-व्यवस्था के अंतर्गत विताया जाना चाहिए, कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस प्रकार के समुदाय में ही और उसके सामाजिक प्रशिक्षण के माध्यम से ही कर सकता है। इस समय संसार में दो नए विचार पनप रहे थे: एक तो यह कि सब मनुष्य प्रकृत्या समान हैं और दूसरा यह कि स्वभावतः वे एक ही मानव समाज में भाई-भाई हैं। दोनों ही विचार बड़े लंवे अरसे तक चलने को थे। हम ईसाइयत और सार्वभौम चर्च के निकट मालूम पड़ते हैं और सच तो यह है कि सिनिकों से स्टोइकों तक तथा स्टोइकों से आरंभिक ईसाई लेखकों तक ऐसी अविच्छिन्न विचार-सरणि देखी जा सकती है जिसके साथ व्यक्ति की आत्मा की स्वतंत्रता की संकल्पना और

---

[1] गंपर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स**, अंग्रेज़ी अनुवाद, II. 161।

आत्माओं के विश्व-बंधुत्व की संकल्पना जुड़ी हुई है। सिनिक विश्व बंधुत्व के विचार से निश्चित रूप से परिचित थे। इस संप्रदाय का प्रवर्त्तक एंटिस्थेनीज़ प्लेटो का सम-सामयिक था और उसके बारे में कहा जाता है कि उसने कई पुस्तकें लिखी थीं। कहते हैं कि उसने एक पुस्तक विधि या राज्य के संबंध में, एक नियम के संबंध में (**मेनेक्जेनस**) और एक राजतंत्र के संबंध में (**साइरस**) लिखी थी। ज़ाहिरा तौर पर उसका विचार यह है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अधिनियमित विधियों के अनुसार किसी राज्य में नहीं रहेगा, वह तो सद्‌गुण की विधि के अनुसार रहेगा और यह विधि सार्वभौम होती है। पर, वास्तव में उसका विश्वास यह था कि मनुष्य 'पशु प्रकृति' के जितने नज़दीक आएगा मानव-जीवन के लिए उतना ही अच्छा होगा (उसने इस विषय पर भी लिखा था)। एंटिस्थेनीज ने पशु-जीवन की मानव-जीवन के साथ जिस ढँग से तुलना की है उससे एक ही ध्वनि निकलती है : प्रकृति की ओर लौटो, नगरों, विधियों और कृत्रिम संस्थाओं को छोड़ कर सरल और आदिम संस्थाओं को अपनाओ। उग्र सोफ़िस्टों का यही संदेश है। रूसो ने भी अपने यौवन-काल में यही संदेश दिया। जब हम सबसे बड़े सिनिक डायोगेनीज़ पर आते हैं, तब हमें अधिक संयम के दर्शन होते हैं, भिन्न वातावरण मिलता है। अपनी कृति **रिपब्लिक** में (यदि उसके जो विवरण सुरक्षित हैं, उन पर प्लेटो के संस्मरणों का रंग नहीं चढ़ गया है) उसने शिक्षा दी है कि विश्व-राज्य ही एकमात्र न्याय-युक्त राज्य है। उसने स्त्रियों और बच्चों में साझेदारी की पैरवी की है। उसने कुलीन वंश में जन्म लेने की और दासता की भ्रांतियों का मज़ाक उड़ाया है। चूंकि उसने परिवार के विनाश की हिमायत की है, अतः निश्चय ही उसने व्यक्तिगत संपत्ति के विनाश की भी हिमायत की होगी। (यद्यपि हमें यह पता नहीं कि उसने सचमुच ऐसा किया है)। परंतु दूसरी ओर, उसका यह भी विश्वास था कि विधि आवश्यक है और उसकी धारणा थी कि राज्य के बिना विधि का कोई महत्त्व नहीं। ऐसा लगता है मानो (रोम की प्राकृतिक विधि की भाँति) यहाँ विश्व व्यापी विधि से युक्त विश्व-राज्य का विचार हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। यह विश्व-राज्य ऐसा है जिसमें दास और स्वतंत्र, यूनानी और बर्बर, सभी समान हैं[1] और जो इतना व्यापक और सार्वभौम होने के नाते स्वेच्छाचारी प्रधान के द्वारा शासित होता है। अगर हम यह याद रखें कि डायोगेनीज़ अरिस्टाटल का सम-सामयिक था (डायोगेनीज़ की मृत्यु अरिस्टाटल से एक वर्ष पहले हुई थी) तो हमारे मन में यह विचार आए बिना नहीं रह सकता कि उसकी शिक्षा में (यदि वह ठीक ठीक शब्द-बद्ध हुई है) राजनीति के सम-सामयिक आंदोलन के प्रति, अरिस्टाटल की रचनाओं की अपेक्षा, अधिक सहानुभूति पाई जाती है। जब नगर-राज्य मर रहा था, और जब अरिस्टाटल ओषधियों और पथ्यापथ्य की बातों को लेकर व्यस्त था, तब डायोगेनीज़ ने उच्च स्वर से कहा था : राजा मर रहा है, मर गया है, संसार का नया राजा चिरंजीवी हो।

---

1. एंटिस्थेनीज़ थ्रेस का रहने वाला था, डायोगेनीज़ सिनोप का। यूनानी नगर की जो आलोचना हुई है, उसका शायद एक कारण यह है; और इससे सिनिकों की इस शिक्षा का भी स्पष्टीकरण होता है कि प्रकृत्या सब मनुष्य समान हैं।

पॉलिटिक्स के आरंभ में हमें कुछ ऐसी चीज़ दिखाई देती है जो सिनिकों के ऊपर आक्षेप-जैसी लगती है । जो व्यक्ति यह सोचे कि वह नगर के बिना रह सकता है वह या तो पशु है या देवता । सचाई यह है कि सिनिक बारी बारी से विभिन्न रूपों में दिखाई देते थे—कभी वे देवता मालूम पड़ते थे, शुद्ध विवेकशील प्राणी, उद्वेग से रहित, आत्म-निर्भर; और कभी वे पशु प्रतीत होते थे—अपनी दरिद्रता और अशिष्टता के कारण । स्वच्छ जीवन और शिष्टता के 'रूढ़िगत' स्वरूप के विरोध में विद्रोह के तौर पर वे दरिद्र और अशिष्ट का-सा व्यवहार करने लगते थे । लेकिन, जहाँ अरिस्टाटल सिनकों के ऊपर आक्षेप करता है, वहाँ लगता है वह उन्हीं की भाषा का प्रयोग भी कर रहा है । आत्म-निर्भरता उसका भी मूल मंत्र है—ठीक वैसे ही जैसे सिनिकों का था । लेकिन, सिनिक अलग-अलग जीवन की आत्म-निर्भरता में विश्वास करते थे जबकि अरिस्टाटल का सामाजिक व्यष्टि की आत्म-निर्भरता में विश्वास था[1] । अरिस्टाटल की दृष्टि में मनुष्य आत्म-निर्भर तभी होता है जब वह नागरिक हो । और बस आत्म-निर्भरता को प्राप्त करने के लिए ही वह नागरिक के रूप में अपना विकास करता है । प्लेटो में और अरिस्टाटल में भी सिनिक का थोड़ा बहुत तत्त्व विद्यमान है । स्त्रियों और बच्चों की साझेदारी सिनिक सिद्धांत है । सिनिकों के आदर्श और **रिपब्लिक** के दूसरे खंड में वर्णित 'शूकर नगर' में बहुत सारी मिलती-जुलती बातें हैं—भले ही इस स्थल पर सिनिकों की ओर कोई इशारा नहीं और न प्लेटो का उद्देश्य उनके विचारों का मजाक उड़ाना या प्रशंसा करना है ।

सिनिकों ने व्यक्तिवाद को अपने दर्शन का आधार बनाया । उनका विश्वास था कि अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए व्यक्ति स्वयं ही यथेष्ट है । सिरेनायक संप्रदाय भी इसी व्यक्तिवादी दिशा में आगे बढ़ता रहा—यह संप्रदाय भी सात्रेटीज़ से ही चला था । उसका विचार था कि मुक्ति के लिए ज्ञान पर्याप्त है । लेकिन उसके सिद्धांतों के अनुसार मुक्ति सुख की साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । सिरेनायकों ने तो यह समझ लिया था कि जीवन का लक्ष्य बुद्धिमानी के साथ सुख की साधना करना है । इसलिए, वे यह नहीं चाहते थे कि राज्य काम-काज के बारे में कोई नियम लागू करे । कहते हैं अरिस्टिप्पस का कथन है कि दर्शन का महत्त्व यह है कि "यदि समस्त विधियों का अंत भी हो जाए तो भी वह दार्शनिक को यथावत् जीवन बिताने में समर्थ बनाए रखे" । सिरेनायक उस ऊँचाई पर पहुँच गए थे जहाँ विधि अनावश्यक हो जाती है, अतः उनके लिए विधि को रूढ़ मान लेना सहज था और यह सोच लेना

---

[1] संभव है कि **एथिक्स** के अंत में जहाँ सैद्धांतिक जीवन का विवेचन किया गया है, वहाँ सिनिकों के प्रति भी कुछ निर्देश है । जब प्लेटो दार्शनिक के बारे में कहता है कि "वह अपने ढंग से जीवन जीने के लिए" (**रिपब्लिक**, 496 E) संसार के 'तूफानों' से दूर हट जाए तो शायद वह सिनिकों की ही बात सोच रहा है । लेकिन, प्लेटो तुरंत ही यह भी कह देता है कि इस प्रकार का मनुष्य "उस समय तक अपना महत्तम कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसे कोई ऐसा उपयुक्त राज्य न मिल जाए जहाँ उसका अधिक विकास हो सके तथा वह अपने देश और अपना दोनों का उद्धार कर सके" । (497 A) ।

भी आसान था कि न्याय और अन्याय का आधार प्रकृति नहीं बल्कि रीति-रिवाज़ और अधिनियम होते हैं[1]। फिर भी उन्होंने व्यक्तिगत सुख के लिए विधि का अंत नहीं किया हालाँकि विधि के साथ इसका विरोध था। उल्टे उनका विचार यह था कि मनुष्य अपने मित्र का या अपने देश का कल्याण करके सुख पा सकता है। अपने "देश की खुशहाली भी हमें उतना ही सुख दे सकती है, जितना अपनी"। लेकिन, जिस सुख की बात वे कहते थे, वह 'सुखद क्षण' का सुख है। वह सुख जितना देश-भक्ति में पाया जा सकता है उतना ही किसी कला में या भाव के किसी अन्य उत्कर्ष में।

अतः इस सबका सुख के प्रेमी के लिए भी वही निष्कर्ष है जो कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के लिए। दोनों ही व्यक्ति को पर्याप्त मानते हैं, अपने सुख की माप के लिए भी और कर्त्तव्य की पहचान के लिए भी। दोनों ही अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बाहरी चीज़ों के प्रति सविवेक उदासीनता को आवश्यक समझते हैं। यदि कोई व्यक्ति जीवन-साध्य के अतिरिक्त अन्य चीज़ों में सक्रिय रुचि लेगा, तो वह जीवन साध्य को पाने में विफल हो सकता है। इसलिए, दोनों ही किसी नागरिक इकाई में व्यक्ति को पूरी दिलचस्पी नहीं लेने देते और दोनों के दर्शन मनुष्य के मन में संसार के प्रति, अकेले संसार के प्रति, अभावात्मक रुचि उत्पन्न करते हैं। अरिस्टाटल का विचार था कि केवल नगर में रह कर ही कोई व्यक्ति पूर्ण और सक्रिय जीवन व्यतीत कर सकता है तथा अपनी सारी अंतर्निहित क्षमताओं का विकास कर सकता है। विश्व-राज्य की नागरिकता के साथ ही एकाकी जीवन की शांति का आदर्श भी जुड़ा हुआ था जिसमें न तो नगर-राज्य का संघर्ष और कलह था और न उसका उत्साह तथा प्राणवत्ता। हो सकता है कुछ हद तक इस मनोवृत्ति ने नगर के पतन और 'एलेक्ज़ेंडरवाद' के पनपने-बढ़ने के लिए राह तैयार की हो; दूसरी ओर वह उसकी अभिव्यक्ति भी है और उसका परिणाम भी।

●

---

[1] हम पहले ही देख चुके हैं (पीछे पृ॰ 108) कि डिमोक्रिटस ने सुखवादी दर्शन का शायद इस सिद्धांत के साथ समन्वय किया था कि राज्य और उसकी विधि का जन्म संविदा से होता है।

अध्याय 6

प्लेटो और प्लेटो के संवाद

(क) प्लेटो का जीवन

(ख) प्लेटो के संवादों की पद्धति

अध्याय 6

प्लेटो और प्लेटो के संवाद

(क) प्लेटो का जीवन

प्लेटो का जन्म 428 ई० पू० के लगभग हुआ था। जन्मना उसका एक प्रख्यात एथेनी परिवार से संबंध था। मातृ-पक्ष में सातवीं शताब्दी के मध्य के एथेनी आर्खन* प्लेटो के पूर्वज थे। अपना पीढ़ी के आदमियों में वह क्रिटिआस का संबंधी था। जिस अल्पतंत्री गुट ने 404 में कुछ समय तक शासन किया था, क्रिटिआस उसका प्रमुख सदस्य था। पर क्रिटिआस के चरित्र के आधार पर प्लेटो-परिवार की राजनीति को निरखना-परखना ग़लत होगा और यह कहना भी गलत होगा कि एथेनी लोकतंत्र के विरूद्ध पूर्वाग्रह प्लेटो को अपने परिवार से उत्तराधिकार में मिला था। उसके परिवार की राजनीति टोरी (रुढ़िवादी) नहीं थी, व्हिग (परिवर्त्तनवादी) थी। सोलोन के साथ अपने रिश्ते पर उसके परिवार के लोगों को गर्व था और यदि प्लेटो के मिश्रित और मध्यमार्गी संविधान पर—जिसका उसने **लॉज़** में प्रतिपादन किया है[1]—कोई प्रभाव दीख पड़ता है, तो वह असल में उसके परिवार का प्रभाव है। प्लेटो ने कहीं-कहीं—विशेषकर **गॉर्जियाज़** में—पेरीक्लीज़ के लोकतंत्र की कठोर आलोचना

---

* प्राचीन एथेंस के मुख्य दंडनायक; विशेष कर 683 ई० पू० के वे नौ मुख्य दंडनायक जिन्हें कार्यकारी, न्यायिक, धार्मिक, सैनिक, विधायी और प्रशासनिक शक्तियाँ प्राप्त थीं।

[1] बर्नेट, **ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 209—10। सोलोन से संबंधित होने का उसके परिवार को जो गर्व था (**चारमिडीज़**, 157 E—158 A, से भी तुलना कीजिए) वह **टिमाएस** में व्यक्त हुआ है (तुलना कीजिए, 23 A)। इसमें एटलांटिस की सारी कहानी† सोलोन से प्राप्त अनुश्रुति के रूप में कही गई है। यह कहानी क्रिटिआस ने कही है और ग्रंथ का नामकरण भी उसी के नाम पर हुआ है। यह क्रिटिआस 404 ई० पू० में विद्यमान, अल्पतंत्रात्मक पक्ष का नेता न था, बल्कि यह उस क्रिटिआस का पितामह था और प्लेटो का प्रपितामह (बर्नेट, पू० कृ०, पृ० 338)।

† यूनान की एक पुराण-कथा जिसके अनुसार एटलांटिक महासागर में एटलांटिस नामक महाद्वीप के समान विशाल एक द्वीप था जो सुदूरव्यापी साम्राज्य का केंद्र था। एटलांटिस ने एथेंस को भी पराभूत करने का प्रयत्न किया था लेकिन उसे मुँहकी खानी पड़ी। कुछ समय बाद प्रलय आई और यह द्वीप समुद्र में विलीन हो गया।

की है, लेकिन उसके उज्ज्वल पक्ष के साथ वह न्याय भी कर सकता है। **रिपब्लिक** जैसी कृति में उसने न्याय ही किया है, और **पॉलिटिक्स** तथा **लॉज़** जैसे परवर्ती संवादों में —जिनमें साक्रेटीज़ का प्रभाव कम है—उसने उसके महत्त्व को सही तौर पर समझा-समझाया है।

सही अर्थ में वह शायद कभी साक्रेटीज़ के संप्रदाय का शिष्य नहीं रहा था। पर आरंभ से ही वह साक्रेटीज़ की मंडली का सदस्य ज़रूर था। लगता है शुरू-शुरू में उसका विचार एथेंस में राजनीतिक जीवन अपनाने का था। लेकिन साक्रेटीज़ की मृत्यु ने उसके ऊपर बड़ा गहरा प्रभाव डाला, उसकी योजनाओं को बदल दिया और वह दर्शन के जीवन की ओर प्रवृत्त हुआ। वह पहले-पहल 387 ई० पू० में सिसली गया था और उस समय तक वह अपने आरंभिक संवादों की रचना में लगा रहा था। **अपॉलॉजी, क्रिटो, गॉर्जियाज़, प्रोटेगोरस,** और शायद **रिपब्लिक** का अधिकांश भाग इसी काल की रचनाएँ हैं। इस समय प्लेटो की अवस्था तीस और चालीस के बीच थी और इस दौर में उसकी बुद्धि के विकास में यात्रा का बहुत हाथ रहा होगा। कहते हैं वह मिस्र गया था और (यदि यह कहानी सच है—और बहुत संभव है कि सच ही होगी—तो) उसने विभिन्न वर्गों के बीच श्रम के उस विभाजन का महत्त्व समझा जिसका उसने आगे चल कर **रिपब्लिक** में प्रतिपादन किया। 387 ई० पू० में वह इटली और सिसली गया। सिसली पायथागोरस के अनुयायियों का गढ़ था[1]। इस यात्रा में सिराक्यूज़ के निरंकुश शासक डायोनीसियस प्रथम से उसका संपर्क हुआ। प्लेटो ने डायोनीसियस को इतने विशद रूप से **रिपब्लिक** के सिद्धांत समझाए तथा अन्याय की इतनी लानत-मलामत और अत्याचार की इतनी निंदा की कि डायोनीसियस ने खीझ कर प्लेटो को स्पार्टा के राजदूत के हवाले कर दिया और उसने उसे दास बना कर बेच दिया। जब उसे धन देकर दासता से छुटकारा दिलाया गया तो वह एथेंस लौटा और 386 ई० पू० में उसने अकादमी की स्थापना की जहाँ उसने अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष बिताए।

386 ई० पू० तक तो प्लेटो लेखक और साक्रेटीज़ की शिक्षाओं का व्याख्याता और पक्षपोषक भर था; पर फिर वह दार्शनिक तथा एक दार्शनिक विद्यापीठ का अध्यक्ष बन गया। उस समय तक एथेंस यूनान का विद्या-केंद्र बन गया था। पिछली शताब्दी में उसके अधीन जो साम्राज्य था, वह उसके हाथ से निकल चुका था। पर उसके बदले में उसके हाथ एक ऐसी चीज़ लगी, जो पिछली शताब्दी में कभी उसके पास नहीं रही थी। वह यूनान का वाणिज्य-केंद्र भी बन गया और विचार-केंद्र भी। प्लेटो और ईसोक्रेटीज़ दोनों के विद्यालय समूचे यूनान के लिए थे और वे चलते भी समूचे यूनान की सहायता से ही थे। **रिपब्लिक** के छठे और सातवें खंडों से ज्ञात होता है कि प्लेटो के विद्यापीठ के पाठ्य-क्रम में मुख्य रूप से गणित का आधार ग्रहण किया गया था। उसका विचार था कि ज्यामिति के सहारे ही दर्शन तक पहुँचा जा सकता था। बीजेंटियम के एक वैय्याकरण के अनुसार प्लेटो के द्वार पर ये शब्द अंकित थे : "जो व्यक्ति ज्यामिति

---

[1] प्लेटो ने **टिमाएस** (24 A) में मिस्रियों की वर्ग-व्यवस्था की चर्चा की है।

न जानता हो, वह यहाँ प्रवेश न करे"। प्लेटो के विद्यापीठ में गणित की ओर यह जो रुझान था, उसका कारण पायथागोरस का प्रभाव हो सकता है। अरिस्टाटल और उसके अनुयायियों* की जीव-वैज्ञानिक अध्ययन की प्रवृत्ति से इस प्रवृत्ति का बड़ा स्पष्ट वैषम्य है। लेकिन, प्लेटो ने अपने विद्यापीठ में जीव-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन की भी व्यवस्था की। **क्रिटिआस** में उसने "एटिका के भू-वैज्ञानिक इतिहास का और उसके आर्थिक परिणामों का विवरण प्रस्तुत किया है जो इस तरह के आधुनिकतम विवेचन के स्तर का ही है'[1]। प्लेटो ने अकादमी में गणित तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं पर और तर्कशास्त्र तथा तत्त्व-मीमांसा के उच्चतम अध्ययन के बारे में जो व्याख्यान दिए थे, उनमें उसके जीवन के अंतिम चालीस वर्षों का अधिकतर समय और चिंतन केंद्रित रहा होगा। ये सब आज नष्ट हो चुके हैं। जिस प्रकार, हमारे पास अरिस्टाटल की निश्चित रचनाएँ नहीं हैं, उसी प्रकार हमारे पास प्लेटो के व्याख्यान भी नहीं हैं। हम प्लेटो के कृतित्व के एक पक्ष से उसी प्रकार वंचित हैं जिस प्रकार कि अरिस्टाटल के कृतित्व के दूसरे पक्ष से[2]। हमारी क्षति इसलिए और भी गंभीर है कि प्लेटो ने अपना सच्चा सिद्धांत अपने व्याख्यानों में ही प्रस्तुत किया होगा। उसके संवादों में विशिष्ट विषयों का विवेचन किया गया है, पर समग्रतः तथा सामान्य और व्यवस्थित विचारधारा के रूप में प्लेटोवाद का स्पष्टीकरण व्याख्यान-कक्ष में ही हुआ होगा और उसका वैसा ही संहित रूप रहा होगा जैसा अरिस्टाटल के सिद्धांत का है[3]।

प्लेटो ने वैज्ञानिक अध्ययन पर चाहे कितना ही ज़ोर दिया हो, पर उसके शिक्षण का और विद्यापीठ का चरम प्रयोजन पूर्णतः और अनिवार्यतः नैतिक था। यूनान के सब दार्शनिकों की भाँति उसने ऐसा ज्ञान देने का प्रयास किया जो कर्म में प्रेरित करे; उसने ऐसा दर्शन सिखाने की कोशिश की जिसमें जीवन की एक पद्धति

---

* अँग्रेज़ी पुस्तक में **पेरिपेटेटिक्स** (peripatetics) शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ टहलना, घूमना, भ्रमण करना है। अरिस्टाटल के बारे में कहा जाता है कि उसका स्वभाव था कि वह टहलता भी जाता था और अपने शिष्यों को व्याख्यान भी देता जाता था। इसीलिए अरिस्टाटल के शिष्यों अथवा अनुयायियों को **पेरिपेटेटिक्स** कहा जाता है।

[1] बर्नेट, पू० कृ० पृ० 223।

[2] बर्नेट, पू० कृ०, 214—15। इसीलिए, बर्नेट ने लिखा है, "प्लेटो से अरिस्टाटल तक आने में हमें कठिनाई का अनुभव होता है...हम . दो बिल्कुल अलग-अलग चीज़ों की तुलना करते हैं"।

[3] सातवें पत्र (341 C) के एक रोचक अंश में प्लेटो ने लिखा है, कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर "न तो मेरी कोई रचना है, और न कभी होगी"। लगता है कि यहाँ उसका अभिप्राय विचारों की प्रकृति से है। अध्ययन के अन्य विषयों की भाँति इन चीज़ों की व्याख्या नहीं की जा सकती। इनके लिए सतत साहचर्य और समागम की (दूसरे शब्दों में, वर्षों के व्याख्यानों और कक्षाओं की) आवश्यकता होती है—तभी बुद्धि की अग्निशिखा को अचानक ज्वाला के रूप में प्रदीप्त किया जा सकता है।

निहित हो, जो जीवन की प्रेरणा हो। उसके दर्शन के दो पहलू हैं—"सबसे पहले वह आत्मा की शुद्धि है; और दूसरे....मानव-जाति की सेवा"[1]। उसका विश्वास था कि शुद्धि आकस्मिक आवेग से नहीं होती, वह भाव की बड़ी-बड़ी लहरों के सहारे भी नहीं होती—वह तो धीरे-धीरे होती है जब विज्ञान की निरंतर शिक्षा से दृष्टि प्रकाश की ओर मुड़ती चली जाती है। जिस तरह हम आम तौर से सोचते हैं कि धार्मिक शुद्धि होती है, उससे यह कुछ भिन्न रीति से हो, तब तो यह नया जीवन भी देती है और मानव-जाति की सेवा का मंत्र तथा संस्कार भी। प्लेटो के शिष्यों का जिस सेवा के लिए आह्वान किया गया, वह न तो इस तरह की सेवा थी कि वे प्रचार करें और न उस तरह की जिसे हम आजकल समाज-कार्य कह देते हैं; वहाँ तो राजनीति के संसार में रहकर सेवा करने की बात थी, जो कभी तो राज्यों के पथ-प्रदर्शन का रूप ले लेती थी और यदि संभव हुआ तो कभी उनके शासन-संचालन का। इस विषय में प्लेटो और ईसोक्रेटीज़ के एक-से विचार थे। हम देख चुके हैं कि दर्शन को लेकर उनके दृष्टिकोण अलग-अलग ज़रूर थे—एक विज्ञान पर बहुत ज़ोर देता था, दूसरा संस्कृति पर; एक का आग्रह वैज्ञानिक शिक्षा पर था, दूसरे का साहित्यिक शिक्षा पर; परंतु फिर भी उन दोनों का व्यावहारिक उद्देश्य एक ही था—वे यूनान की बिगड़ी हुई राजनीतिक दशा सुधारना चाहते थे। दोनों की प्रवृत्ति राजतंत्र की ओर थी। दोनों एक ऐसा शासक तलाश करने की और उसमें प्रेरणा भरने की कोशिश में थे जो उनके आदर्शों को पूरा कर सके। एक का सपना तो यह था कि यह शासक महान् अभियान में यूनान को संगठित कर सके और दूसरे की आशा यह थी कि वह एक-मात्र सच्चे श्रेय की समान साधना में सब वर्गों को संगठित करे।

प्लेटो का उद्देश्य ऐसे दार्शनिक शासक को प्रशिक्षित करना था जो विधि के विधान को ही सब कुछ मानकर नहीं बल्कि प्रशिक्षित बुद्धि के आधार पर शासन करे; या अगर इस लक्ष्य की सिद्धि न हो सके, तो वह यह चाहता था कि ऐसे दार्शनिक विधायक को प्रशिक्षित करे जो विधि के विधान को विवेक तथा सद्भाव की भावना से भर दे। पहला आदर्श **रिपब्लिक** का है और दूसरा **लॉज़** का। ये आदर्श कोरे स्वप्न या कल्पना न थे और विद्यापीठ तथा उसके आचार्य को सचमुच जो सिद्धि हुई वह कुछ कम न थी। अकादमी राजनीतिक प्रशिक्षण का ऐसा संस्थान था जिससे राजमर्मज्ञ तथा विधायक तैयार होकर निकलते थे। प्लेटो ने अपने शिष्यों को कई राज्यों की दशा सुधारने के लिए भेजा था। प्लेटो के बाद क्रमशः अकादमी में उसका जो दूसरा उत्तराधिकारी था और जो उसका अध्यक्ष बना, उसका नाम था एक्सेनोक्रेटीज़। उसने एलेक्ज़ेंडर के कहने पर राजतंत्र के बारे में उसे सलाह दी थी। एथेनियों का विश्वास-पात्र होने के कारण उनके नगर की राजनीति में भी उसने थोड़ा-बहुत भाग लिया था[2]। अकादमी का प्रभाव सुदूरव्यापी था। पूर्व में उसका प्रसार एलेक्ज़ेंडर तक

---

[1] बर्नेट, पू॰ कृ॰, पृ॰ 218।

[2] प्लूटार्क, Adv. Col., 1126 c (बर्नेट द्वारा उद्धृत, पू॰ कृ॰, पृ॰ 303 टि॰ 1), गंपर्ज, **ग्रीक थिंकर्स**, IV. 5—7। कहा जाता है कि थीब्स के एपामिनोडास ने प्लेटो से मेगालोपोलिस के नए नगर का विधान बनाने को कहा था। (डायोगेनीज़ लार्यटियस, III 23)।

हुआ जो फ़ारस के विरुद्ध यूनान का समर्थक था। पश्चिम में उसका प्रभाव डायोनीसियस द्वितीय तक पहुँचा जो कार्थेज के विरुद्ध यूनान का रक्षक था। एक क्षेत्र में यह प्रभाव गहरा भी था और स्थायी भी। यूनानी विधियों के विकास में अकादमी का ऋण कम नहीं रहा। कुछ-कुछ बेंथम की भाँति ही प्लेटो ने भी अपने परवर्ती जीवनकाल में अपने सिद्धांतों को ध्यान में रखकर यूनानी विधि को संहितावद्ध और संशोधित करने का प्रयास किया था[1]; और यह भी संभव है कि उसके **लॉज़** ने समसामयिक यूनान पर **रिपब्लिक** की अपेक्षा अधिक गहरा असर डाला हो। कहा जाता है कि उसका कृतित्व "हेलेनी विधि की बुनियाद है" और जहाँ तक अकादमी ने हेलेनी विधि को ढालने में सहायता दी, वहाँ तक उसके आचार्य ने भी रोमियों की अंतर्राष्ट्रीय विधि (जस जेंटियम) के विकास पर प्रभाव डाला[2]।

इतना ही नहीं, जिस वक्त प्लेटो की आयु साठ-सत्तर वर्ष के बीच में थी तब सिसली में उसने कुछ हद तक अपने उच्चतम राजनीतिक आदर्श पूरा करने की और एक निरंकुश शासक को दार्शनिक शासक के रूप में ढालने की सीधी कोशिश की थी[3]। प्लेटो के सातवें पत्र से हमें पता चलता है कि उसने जो कुछ किया उसके पीछे उद्देश्य क्या थे और उसने क्या-क्या तरीके अख्तियार किये थे। सिराक्यूज़ की राजनीति में उसने जो हिस्सा लिया, उसके लिए यह पत्र एक तरह से 'पक्ष-पोषण' के रूप में है। उसने लिखा है कि जव वह युवक था, तभी राजनीतिक जीवन अपनाने की बात सोच चुका था। उस समय एथेंस में तीस अत्याचारियों का शासन था और इनमें से कुछ के साथ प्लेटो के मैत्रीपूर्ण संबंध थे। उसे बड़ी आशा थी कि वे राजनीतिक सुधार करेंगे और तब उनके कहने पर वह राजनीति के मैदान में उतर सकेगा। इन शासकों ने साक्रेटीज़ के साथ जो व्यवहार किया उससे प्लेटो की आशाओं पर पानी फिर गया लेकिन उनके पतन के बाद उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ फिर धीरे-धीरे जागीं। (324 B—325 A)। साक्रेटीज़ के मुकदमे और निधन के आघात ने उसकी विचारधारा मोड़ दी। उसने राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के बजाए राजनीतिक चिंतन का

---

[1] बेंथम प्लेटोवादी बिल्कुल नहीं पर फिर भी वह कुछ बातों में प्लेटो से मिलता है। बेंथम के मन में भी विशिष्ट सिद्धांत को ध्यान में रखकर विधि बनाने का उत्साह था और उसने अपने कई शिष्यों में अपने सिद्धांतों के प्रति आस्था भर दी थी। उसके इन शिष्यों ने इंगलैंड में विधि-निर्माण के क्रम पर प्रभाव डाला।

[2] चूंकि **जस जेंटियम** को विदेशियों पर लागू किया जाता था, अतः उस पर शुरू से ही दक्षिण इटली और सिसली की यूनानी विधि का असर रहा होगा। बाद में जब रोमियों का पूर्व से संपर्क हुआ, तब उस पर समूचे पूर्व में प्रचलित हेलेनी विधि का और ज्यादा असर पड़ा होगा। तुलना कीजिए, बर्नेट, पू० कृ०, पृ० 304 और आगे अध्याय 14 (क) देखिए।

[3] मैं यह धारणा लेकर चला हूँ कि यह पत्र सच्चा है; और मैंने तीसरे और आठवें पत्र का भी उपयोग किया है। यह सोचने का भी कुछ आधार है कि तीसरा और तेरहवाँ-ये दोनों पत्र भी प्लेटो के ही हैं। तुलना कीजिए, **द ऑथरशिप आफ द प्लेटोनिक एपिसिल्स**।

मार्ग अपनाया; वह अपने मन में इस प्रश्न पर विचार करने लगा कि राज्य की सारी गठन को कैसे सुधारा जा सकता है; और इस बीच उसने चुप हो बैठने का संकल्प किया (325 E—326 A)। अंत में, उसने देखा कि राजनीति का समा ऐसा विगड़ा हुआ है कि स्थिति असाध्य-सी हो गई है और जब तक उसमें कोई मौलिक परिवर्तन न हो, तब तक कोई लाभ न होगा और उसे लाचार होकर यह कहना पड़ा कि दर्शन के शासन में ही न्याय विजयी हो सकता है—जब या तो दार्शनिक राजा बनें या राजा दार्शनिक हो जाएँ (326 B; तुलना कीजिए **रिपब्लिक** 473 D)। 487 में जब उसने इटली और सिसली की यात्रा की, तब उसकी यही मनःस्थिति थी। यहाँ भी उसने देखा कि वैसी ही अंधेरगर्दी है जैसी यूनान में—उससे कम किसी तरह नहीं। परंतु सिराक्यूज़ की यात्रा में उसकी भेंट डायोन से हुई जो उसके विचारों का तत्पर अनुयायी बन गया। डायोन डायोनीसियस प्रथम का संबंधी था। इस यात्रा के कोई बीस वर्ष बाद डायोनीसियम प्रथम की मृत्यु हो गई और उसके बजाए डायोनीसियस द्वितीय गद्दी पर बैठा। डायोन को याद था कि प्लेटो से मिलने का उसके अपने ऊपर क्या असर पड़ा था—इसलिए उसे आशा थी कि यदि डायोनीसियस द्वितीय का प्लेटो से साक्षात्कार हो, तो उस पर भी इसी प्रकार का असर पड़ेगा। अतः उसने डायोनीसियस द्वितीय को समझा-बुझाकर इस बात के लिए तैयार किया कि वह प्लेटो को अपने राज-दरबार में आने का बुलावा दे। डायोनीसियस के आमंत्रण के साथ ही प्लेटो के पास डायोन का यह संदेश पहुँचा कि दार्शनिक राजा के प्रशिक्षण का वक्त अब आ गया है। (328 A)। प्लेटो को सफलता में संदेह था। पर उसे लगा कि उचित विधियों और युक्तियुक्त संविधान के बारे में अपने विचारों को व्यवहार-रूप देना उसका कर्त्तव्य है। उसे लगा कि यदि मैंने मौके से फायदा न उठाया तो स्वयं मेरा मन यही कहेगा कि मैं कोरा वचन-वीर हूँ; उसने यह भी सोचा कि यदि मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न न किया कि दर्शन जीवन की वास्तविक पद्धति है, तो वह दर्शन की मौत होगी जिसका मैं प्रतीक हूँ (328 B—329 B)। उसने आमंत्रण स्वीकार किया और साठ वर्ष की आयु में वह सिसली पहुँचा।

जिस स्थिति में प्लेटो पहुँचा था, उसमें कठिनाइयाँ भी थीं और संभावनाएँ भी। डायोनीसियस द्वितीय उस समय लगभग तीस साल का था। वह उतना छोटा न था और न उस पर प्रशिक्षण का वैसा असर पड़ सकता था जैसा प्लेटो चाहता था। दूसरी ओर उसके पिता ने उसे राज-काज से अलग रखा था, उसमें ग्रहणशीलता थी और दर्शन के अध्ययन के प्रति उसमें उत्साह था या वह कहता था कि उसमें उत्साह है। प्लेटो स्वयं बीस वर्ष से अकादमी में लोगों को कर्म की शिक्षा दे रहा था और यद्यपि डायोनीसियस अकादमी में नहीं आ सका था पर अकादमी मानो स्वयं डायोनीसियस के पास चली आई थी और उसके इस चले आने से बहुत कुछ आशा की जा सकती थी। प्लेटो ने अकादमी से अपने शिष्यों को राजमर्मज्ञ का जीवन व्यतीत करने के लिए शिक्षा दे-देकर भेजा था। अब अगर वह एक आनुवंशिक शासक को राजमर्मज्ञता की शिक्षा देने के लिए स्वयं चला आया था, तो वह निश्चय ही

व्यावहारिक प्रयोजन से और सफलता की पूरी संभावना लेकर आया था। सिसली और सिराक्यूज़ की राजनीतिक स्थिति ऐसी थी कि उसमें बड़ी संभावनाएँ निहित थीं। सिराक्यूज़ में ही एक सही संविधान बनाया जा सकता था। सिसली में सर्वत्र युद्ध से ध्वस्त यूनानी नगरों का पुनरुद्धार किया जा सकता था और ये नगर कार्थेज के विरुद्ध गढ़ का काम दे सकते थे। एशिया माइनर की भाँति ही सिसली भी हेलेनी और अ-हेलेनी तत्वों का संगम था और **रिपब्लिक** के पाँचवें खंड और सातवें पत्र (332 E—333 A) दोनों से सिद्ध होता है कि प्लेटो के विचार अखिल-हेलेनवादी थे और उसे आशा थी कि वह पश्चिम में हेलेनीकरण के उस काम में मदद कर सकता है जिसका ईसोक्रेटीज़ ने प्रचार किया था और जिसे बाद में पूर्व में एलेक्ज़ेंडर ने पूरा किया था।

पर सारी बात बिगड़ गई। हम देख ही चुके हैं कि प्लेटो के लिए गणित सचाई तक पहुँचने का रास्ता था। उसने सबसे पहले डायोनीसियस को गणित की शिक्षा देना आरंभ किया[1]। डायोनीसियस तेज़ी से आगे बढ़ना चाहता था। वह अपने अध्ययन से ऊबने लगा। एक बात इससे भी बुरी थी और प्लेटो ने अपने सातवें पत्र में इस पर विशेष ज़ोर दिया है। वह बात यह थी कि डायोनीसियस के दरबार में फूट और षडयंत्र का बोलबाला था। प्लेटो के आने के चार महीने के भीतर ही डायोन को—जिसकी ईमानदारी हठ की सीमा तक पहुँच जाती थी (328 B)[2]—सिराक्यूज़ से निकाल दिया गया। प्लेटो कुछ समय तक वहाँ रहा, लेकिन सफलता की कोई आशा नहीं रह गई। अंत में 366 ई० पू० में वह एथेंस वापस लौट आया। रास्ते में वह पायथागोरस के अनुयायी आर्कीटस से मिला। इस व्यक्ति ने टारेन्टम की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। प्लेटो की उसके साथ मित्रता हो गई जो आगे चल कर प्लेटो के लिए वरदान सिद्ध हुई।

कुल मिलाकर प्लेटो को कोई निश्चित सफलता नहीं मिली। न तो सिराक्यूज़ का सुधार हुआ और न सिसली के नगरों का उद्धार। प्लेटो ने डायोनीसियस पर दबाव डाला कि पहले वह अपनी शिक्षा पूरी कर ले; उसके बाद ही राजनीति के क्षेत्र में उतरे। बाद में इसी बात को लेकर डायोनीसियस ने प्लेटो की लानत-मलामत की[3]।

---

[1] प्लूटार्क, **लाइफ आफ डायोन**, अध्याय 13।

[2] बाद के वर्षों में प्लेटो ने डायोन को चेतावनी दी थी (**एपिसिल्स** IV, 321 B—C) कि उसे जितना शिष्ट समझा जाना चाहिए, उससे कम समझा जाता है। प्लेटो ने उसे यह भी याद रखने का आदेश दिया कि लोगों के दिलों को जीतने से ही कर्म में सफलता मिलती है और हठ का चिर-संगी है अकेलापन।

[3] प्लेटो ने 358 के आस-पास डायोनीसियस द्वितीय को जो तीसरा पत्र लिखा था, उसमें उसने इस लानत-मलामत का जवाब दिया है (तुलना कीजिए विशेष कर 319—C से)। अपने सातवें पत्र में—जो 352 के आस-पास लिखा गया था—उसने कहा है कि उसका इरादा था कि पहले डायोनीसियस को बुद्धिमान और विवेक-शील बना दे; फिर वह उससे विनष्ट नगरों के उद्धार का आग्रह करेगा (332 E)।

लेकिन, प्लेटो और डायोनीसियस के बीच खुले तौर पर कोई मन-मुटाव नहीं हुआ। जब वह सिराक्यूज से चला, तब डायोनीसियस ने उससे वायदा किया था कि मैं आपको फिर बुलावा भेजूंगा, डायोन को भी वापस बुला लूंगा और आप दोनों की सहायता से सिराक्यूज़ में सुधार करूँगा। प्लेटो के सिराक्यूज़ से जाने के एक साल के भीतर ही हम उसे डायोनीसियस के साथ पत्र-व्यवहार करते हुए पाते हैं। प्लेटो ने डायोनीसियस को एक अजीब पत्र (जो प्लेटो का तेरहवां पत्र था) लिखा जिसमें दार्शनिक नग्न रूप में प्रकट हुआ है और जिसमें द्रव्यादि के मामलों की ऐसी जानकारी जाहिर होती है जो कुछ लोगों के विचार से असंगत और अशोभन है। पर प्लेटो के दुबारा सिराक्यूज़ जाते-जाते पांच वर्ष बीत गए। इन वर्षों में वह अकादमी में पढ़ाता रहा, डायोन निर्वासन में रहा और डायोनीसियस कभी अध्ययन करता रहा, कभी नहीं। उसने तत्व मीमांसा पर एक ग्रंथ भी लिख डाला जिसमें 'प्लेटो के रहस्य' का उद्‌घाटन करने की बात कही गई थी। अंत में, 361 में डायोनीसियस ने प्लेटो को फिर बुलावा भेजा लेकिन, उसने डायोन को नहीं बुलाया। डायोन से यही कहा गया कि वह अभी एक वर्ष और सिराक्यूज़ से बाहर रहे (338 B)। डायोन अपना निर्वासन-काल यूनान में व्यतीत कर रहा था; उसने प्लेटो पर जाने के लिए दबाव डाला तो प्लेटो ने यह सोच कर इनकार कर दिया कि डायोनीसियस ने पांच वर्ष पहले जो वचन दिया था, उसे वह पूरी तरह से नहीं निभा रहा। लेकिन जब टारेन्टम से आर्कीटस ने लिखा कि आप अवश्य आएँ और आश्वासन दिया कि डायोनीसियस में अध्ययन के प्रति सचमुच प्रवृत्ति भी है और उत्साह भी, तो प्लेटो जाने के लिए तैयार हो गया। जब वह सिराक्यूज पहुँचा, तो उसे यह बात याद थी कि डायोनीसियस का दावा है कि वह तत्व मीमांसा के रहस्यों में बड़ी सुगमता से प्रवेश पा सकता है; अतः उसने आवश्यक समझा कि डायोनीसियस को बता दे कि दर्शन के अध्ययन में कितनी कठिनाई है और वह समय और श्रम-साध्य है। (340 B)। कहाँ तो डायोनीसियस की सद्‌भावना और कहाँ इस तरह की शुरूआत। दोनों का कब तक निभाव होता? नतीजा यह हुआ कि डायोन को लेकर शीघ्र ही दोनों में मतभेद पैदा हो गया। प्लेटो सोचता था कि डायोनीसियस द्रव्य के मामलों में डायोन के साथ उचित व्यवहार नहीं कर रहा है। इस विवाद का परिणाम यह हुआ कि प्लेटो को एक तरह से सम्मान्य बंदी बना लिया गया और आर्कीटस के बीच में पड़ने पर ही वह छूट कर यूनान वापस पहुँच सका[1]।

सिराक्यूज़ की राजनीति में स्वयं प्लेटो के सीधे भाग लेने की बात तो यहीं खत्म हो गई। लेकिन आगे के दस साल तक वह नगर की अस्त-व्यस्त राजनीति में बराबर दिलचस्पी लेता रहा—खिलाड़ी की हैसियत से नहीं, बल्कि एक दर्शक की

---

[1] टारेन्टम के दार्शनिक-शासक आर्कीटस के साथ प्लेटो का संबंध बड़ी दिलचस्पी का विषय है; परंतु इस विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। प्लेटो के एक (नवें) पत्र में उसे राजनीतिक मामलों में भाग लेते रहने के लिए प्रोत्साहित किया गया है—यह पत्र प्रामाणिक हो भी सकता है, नहीं भी।

हैसियत से । 360 में ओलंपिक खेलों के समय उसकी डायोन से मुलाकात हुई। उस समय डायोन डायोनीसियस पर चढ़ाई करने की सोच रहा था। उसने प्लेटो से अनुरोध किया कि वह मित्रों सहित उस अभियान में सहायता दे। उसने व्यक्तिगत रूप से अभियान में भाग लेने से इनकार कर दिया (350 C)—इस आधार पर कि वह डायोनीसियस के आतिथ्य-सत्कार से बँधा हुआ था[1]। इसके बाद ही 358 के आस-पास हम उसे एक बार फिर डायोनीसियस के साथ पत्र-व्यवहार करते हुए पाते हैं। इसी समय उसने अपना तीसरा पत्र लिखा जिसमें उसने अपने ऊपर लगाए गए इस आरोप का खडन किया कि उसने डायोनीसियस को सिसली के विनष्ट यूनानी नगरों के पुनरुद्धार से विरत किया। डायोन अपने अभियान में आगे बढ़ा और प्लेटो के कुछ मित्रों ने इस अभियान में उसका साथ दिया। प्लेटो का भानजा एप्युसिप्पस भी—जो प्लेटो के बाद उसका उत्तराधिकारी और अकादमी का आचार्य बना—इस अभियान में डायोन के साथ था। अभियान सफल हुआ और 357 में डायोनीसियस को निर्वासित कर दिया गया। सिराक्यूज़ पर प्लेटो के मित्र और शिष्य डायोन का पूरी तरह शासन हो गया। तब यह आशा की जा सकती थी कि सिराक्यूज़ आदर्श दार्शनिक राज्य बन जाएगा लेकिन, फिर कठिनाई पैदा हो गई। सिसली में अपने अनुभवों के आधार पर प्लेटो ने कहा है कि लगता है दुर्भाग्य हाथ धोकर सिसली के पीछे पड़ा हुआ है (350 D)। डायोन अक्खड़ आदमी था; गुटबंदियों का ज़ोर हो गया। प्लेटो के चौथे पत्र में—जो उसने तभी डायोन को लिखा था—उससे मेल-मिलाप की नीति अपनाने का अनुरोध किया गया है। पर प्लेटो के पत्र का परिणाम कुछ भी न निकला। प्लेटो चाहता था कि डायोन अपने को लाइकरगस और साइरस की भाँति जन्मजात विधिकर्त्ता प्रमाणित करे (320 D)। परंतु डायोन वैसा नहीं कर सका और 353 में कैलिप्पस नाम के एक एथेनी ने—जो कभी अकादमी का सदस्य भी रहा था—अपूर्ण अवस्था में डायोन की हत्या कर दी। इसी अवसर पर प्लेटो ने 'डायोन के मित्रों' की प्रार्थना पर उनके नाम अपना सातवाँ पत्र लिखा। हम देख चुके हैं, यह पत्र कुछ तो जीवन के पक्ष में एक वक्तव्य के रूप में है और कुछ सिसली की राजनीति के भावी संचालन के संबंध में परामर्श के रूप में। उसने अनुरोध किया कि डायोन के मित्रों को विधि के शासन का सूत्रपात करना चाहिए और इस उद्देश्य के लिए उन्हें पचास सदस्यों के एक आयोग को अधिकार देना चाहिए कि वह एक संहिता का मसौदा तैयार करे। प्लेटो ने आगे चलकर कहा है कि दरअसल, यह आदर्श नहीं है। उसने और डायोन ने शुरू-शुरू के दिनों में जिस चीज़ की आशा की थी (यानी दार्शनिक राजा के शासन की) और जिसे पाने की कोशिशें की थीं, उससे यह घटकर है। पर फिर भी, जो कुछ प्राप्य है

---

1. प्लेटो ने अपना चौथा पत्र डायोन को, उसके अभियान की सफलता के बाद लिखा था। इस पत्र में उसने लिखा था कि अभियान की सफलता पर मेरे मन में बड़ा उत्साह और उल्लास है (320 A)। इन दोनों अवतरणों में कोई असंगति नहीं है। हो सकता है अपने मित्र के अभियान की सफलता के लिए प्लेटो के मन में उत्सुकता रही हो, हालांकि वह सोचता रहा हो कि उसमें व्यक्तिगत रूप से भाग लेना उसके लिए उचित नहीं है।

उसमें यह सबसे अच्छी चीज़ है (337 B-D)। कुछ समय बाद ही—351 के लगभग—उसने इसी आशय का एक और पत्र लिखा जो उसका आठवाँ पत्र है। यह पत्र भी डायोन के मित्रों को संबोधित है और इसमें भी अधिक व्यापक शब्दावली में पहले जैसी ही सलाह दी गई है। इसमें उसने फिर विधि-शासन की स्थापना पर सबसे पहले और सबसे अधिक ज़ोर दिया है (355 B-C)। इसके साथ ही वह कुछ-कुछ मिश्रित संविधान का प्रस्ताव करता है जो विभिन्न गुटों के स्वार्थों में संतुलन स्थापित कर सके। एक त्रिमंडल (triumvirate) की स्थापना होनी चाहिए जिसमें शासन-सूत्र निर्वासित डायोनीसियस, डायोन के पुत्र और डायोनीसियस प्रथम के छोटे पुत्र के हाथों में रहे। त्रिमंडल की सहायता के लिए सभा और परिषद् के अतिरिक्त पैंतीस विधि-संरक्षकों का मंडल होना चाहिए जो युद्ध और शांति के प्रश्नों का निर्णय करे (350 A-D)। यदि डायोन जीवित रहता, तो वह इस काम को भी करता और साथ ही यूनान के विनष्ट नगरों का पुनरुद्धार भी करता। इस दूसरी बात पर प्लेटो ने विशेष ज़ोर दिया है। सिसली में हेलेनवाद को कार्थेजवासियों और इतालवी आक्रमणकारियों दोनों ही से ख़तरा है और सभी हेलेनियों को अपनी पूरी शक्ति से इस ख़तरे का मुकाबला करने के उपाय सोचने चाहिएँ। उसके अनुसार इसका एक ही उपाय था—यूनानी नगरों का उद्धार कर उनका एक मज़बूत गढ़-सा खड़ा कर देना (353 E)।

प्लेटो ने अपने युग और अपनी पीढ़ी की वास्तविक राजनीति में इसी प्रकार का भाग लिया था। वह न तो कोरा काल्पनिक था और न अव्यावहारिक। यदि वह सफल हो जाता, तो सिराक्यूज़ को तो एक आदर्श संविधान मिल जाता और पश्चिम में हेलेनी प्रभुता कुछ ऐसी दृढ़ता से स्थापित हो जाती कि उसे न तो कार्थेज का डर रहता और न शायद रोम का। अपनी असफलता के लिए पूर्णतः या मुख्यतः वह स्वयं जिम्मेदार हो—सो बात नहीं है। उसके ऊपर यह आरोप लगाया जा सकता है कि डायोनीसियस को संभालने में उसने कौशल से काम नहीं लिया। पर कुछ और उपाय किए जाते तो परिणाम कुछ और निकलता—यह साबित करना होगा। प्लेटो की असफलता की ज़िम्मेदारी उसके अपने अकौशल पर उतनी नहीं, जितनी डायोन के हठी स्वभाव पर है और इन दोनों से भी कहीं ज्यादा ज़िम्मेदारी है सिसली की सामाजिक स्थिति पर। प्लेटो इस स्थिति को अच्छी तरह जानता था (326 B-D) और उससे किसी भी तरह प्रसन्न न था। चारों ओर विलासिता का साम्राज्य था, दलबंदी ज़ोरों पर थी। सिसली की भूमि पर नित्य नई शक्तियाँ जनमती-बढ़तीं और द्वन्द्व में लग जाती थीं। उनका एक अखाड़ा-सा बना हुआ था पर ये शक्तियाँ प्रतिकूल परिस्थितियों के एक ही थपेड़े से नष्ट हो जाती थीं। प्लेटो को सिसली में जो अनुभव हुए थे, उनके कुछ परिणाम अवश्य निकले। परंतु इन परिणामों की झलक उसके अपने सिद्धांत के विकास में ही देखी जा सकती है। वह 367 में बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर सिसली गया था। उसे आशा थी कि वह अपने सपनों के नगर की स्थापना कर सकेगा और एक राजा को शिक्षा देकर दार्शनिक बना सकेगा—ऐसा बुद्धिमान दार्शनिक जो विवेक के जीवंत उपयोग द्वारा मानवीय व्यापारों का नियमन कर सके। प्लेटो के मत से यह विवेक विधि की निर्जीव

शब्दावली से कहीं ऊँचा था। शुरू-शुरू में प्लेटो का विश्वास विवेक की सर्वोच्चता और राजतंत्र में था। अंत तक पहुँचते-पहुँचते उसकी आस्था के केंद्र बन गए—विधि-शासन और मिश्रित संविधान। निश्चय ही ये उसके लिए आदर्श-मात्र न थे—वह इन्हें व्यावहारिक चीज़ें मानता था। वे ऐसी सर्वश्रेष्ठ चीज़ें तो न थीं जिन तक कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान पहुँच सकती हो लेकिन वे सर्वश्रेष्ठ से दूसरे नंबर पर ज़रूर थीं और वह कभी-कभी सर्वश्रेष्ठ से भी अच्छा रहता है। यह परिवर्त्तन धीरे-धीरे हुआ। इसका पहला संकेत तीसरे पत्र (315 E—316 A) में मिलता है। इस पत्र में यह उल्लेख किया गया है कि प्रस्तावनाएँ तैयार करने में उसने डायोनीसियस के साथ काम किया था—यह शायद 361 का ज़िक्र है जब वह दूसरी बार सिसली गया था। हर विधि के साथ ऐसी प्रस्तावना जोड़ी जाए जो उसे मानने की प्रेरणा दे—इस सुझाव पर प्लेटो ने लॉज़ में विस्तार से विचार किया है। इस प्रकार प्लेटो ने सजग बुद्धि और विधि के शासन के समन्वय का प्रयत्न किया है। प्रस्तावना मानो दोनों के बीच सेतु की तरह से है। इसमें उन सिद्धांतों का बखान तो होता ही है जिनके अनुसार सजग बुद्धि काम करती है; साथ ही उन सिद्धांतों का भी आख्यान हो जाता है जिन पर विधि-शासन आधारित होता है। वह प्लेटो के राजनीति-चिंतन के पहले और दूसरे चरण के बीच भी सेतु है। दूसरे चरण के निश्चित आरंभ का पता चलता है पॉलिटिकस में। इसकी रचना 360 के आस-पास हुई होगी। कहा गया है कि दूसरे रास्ते के तौर पर विधि-शासन सबसे सही और सबसे अच्छा होता है (297 E); और सच बात यह है कि चूँकि आदर्श शासक मिल नहीं सकता, अतः हमें उन्हीं विधानों का सहारा लेना होगा जो शब्दबद्ध कर दिए गए हों (301 D—E)। सातवें और आठवें पत्रों में विधि-शासन पर बहुत जोर दिया गया है; और यहीं विधि-संरक्षकों के विचार और मिश्रित संविधान के सिद्धांत की भी उद्‌भावना हुई है। विधि-संरक्षकों के विचार की पुनरावृत्ति लॉज में हुई है (753 D) और मिश्रित संविधान का सिद्धांत[1] प्लेटो के इस अंतिम संवाद का शायद प्रमुख सिद्धांत है। लॉज में क्रमिक विकास का चरम बिंदु परिलक्षित होता है। प्लेटो आदर्श का आदर्श के रूप में समर्थन तो अब भी करता है लेकिन अब वह व्यावहारिक के धरातल पर भी उतर आता है और 'पूर्ण संरक्षकों' से युक्त विशुद्ध न्याय-राज्य को तिलांजलि देकर वह विधि-राज्य का समर्थन करता है जिसमें विधि के संरक्षक हों। उसका अब भी यही विश्वास है कि इस प्रकार के राज्य के संचालन का एक सबसे कारगर साधन है निरंकुश शासक और तरुण दार्शनिक का सहयोग लेकिन जब एक बार यह राज्य चल पड़े तब प्लेटो जिस सामान्य संविधान की पैरवी करता है, वह राजतंत्र और लोकतंत्र का मिला-जुला रूप है। अगर हम सोचें कि सिराक्यूज़ के हर वक्त के लड़ाई-झगड़ों के और वास्तविक शासक की सजग बुद्धि के निजी अनुभव ने प्लेटो के मन में निष्पक्ष और निर्वैयक्तिक विधि की प्रभुता के महत्त्व का दृढ़ विश्वास जगा दिया था

---

[1] उपर्युक्त त्रिमंडल की चर्चा करते समय प्लेटो ने कहा है कि यह बीच का रास्ता (355 D) है। प्लूटार्क ने अपनी डायोन की जीवनी में लिखा है कि डायोन ने मिश्रित संविधान की योजना बनाई थी। इस संविधान में राजतंत्र, अभिजात-तंत्र और लोकतंत्र—तीनों के तत्त्व होते।

तो शायद ग़लत न होगा। लॉज़ का सिद्धांत धीरे-धीरे अनुभव की आँच में तप कर तैयार हुआ था। जब एकदम बुढ़ापे में उसने सदय सहिष्णुता और कुछ-कुछ विनोद-पुष्ट अवसाद की भावना से (जैसे जब उसने मनुष्यों को 'देवताओं के खिलौने' मात्र कहा) अपने अंतिम संवाद की रचना की, तब उसने दर्शन में दो चीज़ें भरने की कोशिश की—एक तो वे सबक थे जिन्हें उसने 367 और 361 में अपने सिसली के अनुभवों से सीखा था और दूसरी थीं वे शिक्षाएँ जो उसने 357 और 351 के तूफ़ानी वर्षों में सिसली की राजनीतिक उथल-पुथल से ग्रहण की थीं जिससे उसका भी घनिष्ठ संबंध रहा था।

परंतु प्लेटो दार्शनिक था और, इन वर्षों में भी, उसका ध्यान सबसे अधिक दार्शनिक समस्याओं में ही उलझा रहा था। लगता है प्लेटो के मन में सदा एक द्वंद्व चलता रहता था—एक ओर तो दार्शनिक प्रवृत्ति थी जो उसे अमूर्त चिंतन की ओर खींचती थी और दूसरी ओर थी यह भावना कि उसे 'वास्तविकताओं' से नाता जोड़ना चाहिए और कर्म-जगत् में कुछ करना चाहिए (जिस किसी भी व्यक्ति ने कभी शैक्षिक-जीवन अपनाया हो, वह इस भावना को समझ सकता है)। इन दोनों में से प्लेटो में दार्शनिक प्रवृत्ति सदा अधिक गहरी रही और यदि वह कर्म-क्षेत्र में उतरता था, तो केवल कर्त्तव्य भावना से[1]। अपने जीवन के पिछले क्षोभ-भरे वर्षों में उसने तत्त्व-मीमांसा के विविध पक्षों पर विचारात्मक संवाद लिखे। इन संवादों में साक्रेटीज़ का प्रभाव लुप्त होता दिखाई देता है और व्यावहारिक विवेक की समस्याओं की अपेक्षा शुद्ध विवेकपरक मीमांसा की समस्याओं की ओर अधिक ध्यान दिया गया है; फिर भी, उसके मन से यह विश्वास कभी नहीं गया कि मैंने एक जीवन-पद्धति खोज निकाली है। उसने लोगों को इस जीवन-पद्धति के अनुसरण की शिक्षा देने से भी कभी मुँह नहीं मोड़ा। न उसने उस दिव्य नगर के सपने देखना छोड़ा जिसकी संस्थाओं और शिक्षा-प्रणाली में इस जीवन-पद्धति की स्थायी प्रतिष्ठा हो ताकि वह मानव-समाज की समान संपत्ति बन जाए—भले ही वह बड़ी दूर रहा हो।

---

[1] सातवें पत्र 328 C—D से तथा रिपब्लिक के छठे खंड के सुप्रसिद्ध अवतरण से तुलना कीजिए।

(ख) प्लेटो के संवादों की पद्धति

प्लेटो की रचनाओं का रूप-विधान आरंभ से अंत तक संवादों का है। प्लेटो ने यह रूप-विधान उसी उद्देश्य से ग्रहण किया है जिससे साक्रेटीज़ को प्रेरणा मिली थी। साक्रेटीज़ ने इस बात की कभी कोशिश नहीं की कि वह ज्ञान चित्त में जमा दे। बल्कि उसने तो हमेशा यही कहा कि उसके पास ज्ञान है ही नहीं। वह तो विचार की ज्योति जगाना चाहता था। गोमक्खी की तरह वह मनुष्य का दंश करके उसे सत्य के प्रति सजग कर देता था, वह टारपीडो-मछली की तरह आघात करता था; वह एक दाई की तरह से था और उसका काम था विचार का प्रसव कराना। मनुष्य के मन में जो भावनाएँ होती थीं वह उन्हीं को छूता था और उसे विश्वास रहता था कि मनुष्य के मन पर इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होगी। वह मनुष्य की बुद्धि का आवाहन करता था और उसे विश्वास रहता था कि मनुष्य की बुद्धि उसका उत्तर देगी। प्लेटो की भी यही पद्धति थी। प्लेटो दिखाना चाहता था कि चिंतन की प्रक्रिया कैसे चलती है; उस प्रक्रिया के फलस्वरूप अंत में जो चीज़ उभर कर आती है बस उसी को दिखाकर छुट्टी पा जाना वह नहीं चाहता था। व्याख्याता और शिक्षक होने के साथ ही साथ वह लेखक भी था। इसीलिए, जब उसने कागज़ और कलम का सहारा लिया तो स्वभावतः उसने वही लेखन-शैली अपनाई जो अकादमी में कक्षाओं के साथ वाद-प्रतिवाद की शैली के अनुरूप थी। प्रत्येक सच्चे शिक्षक की भाँति उसकी भी यह इच्छा थी कि लोग उसकी शिक्षा के आधार पर चिंतन करना सीखें और लेखक होने के नाते उसका विचार था कि यदि उसके पाठक लेखक के अपने मन की प्रक्रिया का अनुसरण करने लगें तो उनमें विचार की ज्योति सबसे अच्छी तरह से जाग सकेगी। जिस प्रकार वार्त्ताकारों की गोष्ठी में किसी विषय पर विवाद होता है, बहुत कुछ उसी तरह व्यक्ति के मन में भी उस पर विवेचन किया जाता है। पहले एक विचार जमता है, पर तभी दूसरा विचार उसे धराशायी कर देता है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि किसी अंतिम सत्य की सिद्धि नहीं हो जाती। "एक सबल विचार दूसरे को हड़प जाता है" और अंत में विजेता के रूप में केवल सत्य ही मैदान में रह जाता है। संवाद में व्यक्ति-मन की यह प्रक्रिया मूर्त्त रूप ग्रहण

कर लेती है और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ विभिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रकट होती हैं। यह उसी प्रवृत्ति की उच्चतर और कलात्मक अभिव्यक्ति है जो प्रवृत्ति अरिस्टाटल की सारगर्भित भाषण-टिप्पणियों तक में प्रकट होती है।

नैतिक समस्याओं पर विचार करते समय प्लेटो ने स्वभावत: जन साधारण की प्रत्यक्ष धारणाओं से आरंभ किया। कोई एक पात्र जो अपने स्वभाव तथा अनुभव के कारण अपने व्यक्तित्व के माध्यम से इनमें से किसी एक विचार का स्वाभाविक प्रतीक होता है नाटकीय सत्य की शैली में रंगमंच पर पदार्पण करता है और इस विचार को अभिव्यक्ति देता है। अकसर इस तरह की स्थूल धारणा उन प्रच्छन्न सिद्धांतों में से किसी को व्यक्त करती है जिन्हें हम सोचते हैं कि हम अपने शब्दों अथवा कार्यों द्वारा प्रकट नहीं होने देते, परंतु फिर भी जिनके प्रति हमारी मूक, पर अनायास, निष्ठा होती है। "आखिर, सुख ही तो सब कुछ है—काश ! मैं यह सोच पाता—हालांकि मुझे ऐसा सोचना नहीं चाहिए"। या "आखिरकार मुझ में जो चीज़ पाने की ताकत है, वह चीज़ तो मुझे मिलनी ही चाहिए। काश ! जो चीज़ जैसी होनी चाहिए, वह वैसी होती—पर वह वैसी है नहीं"। लेकिन, जब इन प्रच्छन्न सिद्धांतों को प्रकट रूप दिया जाता है और उनके पूरे निष्कर्ष निकाले जाते हैं, तब उनमें ऐसे परिणाम निहित दिखाई देते हैं जिन्हें उनके पोषक स्वीकार नहीं कर सकते। जब इन सिद्धांतों पर पूरी तरह विचार होता है तब वे असंभव लगते हैं। उनके बजाए हमारे सामने नैतिक जीवन के उन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा होती है जिनके प्रति हम ज़बान से श्रद्धा व्यक्त करते हैं पर मन में वह होती नहीं। पर, जब इन्हीं सिद्धांतों को अपने पूरे अर्थ और पूरी महत्ता के साथ हमारे सामने रखा जाता है, तब हम देखते हैं कि हमारा समूचा अस्तित्व उन्हें सकारने को तत्पर रहता है। अगर इस आलोक में देखा जाए तो प्लेटो का एक-एक संवाद 'असतो मा सद्गमय' की शिक्षा है। आरंभ में जो असत् विचार अपनी नूतनता के कारण प्रिय लगते थे, वे फिर सत् की शरण ग्रहण करते हैं पर इस बार उन की आस्था के उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठा होती है जिससे वे संचालित होते हैं। पर लोकमत पेश किए जाने पर हमेशा अस्वीकार ही किया जाता हो—सो बात नहीं। मत भूल करने की प्रवृत्ति भर नहीं, उससे कुछ अधिक है। सही प्रेरणा हो तो वह भी सचाई तक पहुँच जाता है—यह बात और है कि जिस सचाई तक वह पहुँचता है, उसे वास्तव में देख नहीं पाता। लोकमत अन्वेषण का आधार बन सकता है। धीरे-धीरे उसका इतना विकास और परिष्कार हो सकता है कि वह वास्तविक सत्य का बोध बन जाए। उदाहरण के लिए यह सच्चा और विचारणीय मत है कि राज्य का स्वरूप उसके नागरिकों के स्वरूप से निर्धारित होता है; और अंतत: ('जिसकी लाठी उसकी भैंस' के झूठे मत का संशोधन करने के बाद) रिपब्लिक का प्रारंभ यहीं से होता है। किंतु मत का प्रसार दूर-दूर तक होता है। जब उसका वास्ता दार्शनिक सिद्धांतों से पड़ता है तो उसमें विकास होता है, गहराई आती है—और यह तब तक होता रहता है जब तक ठीक उसी तरह राज्य का विभाजन नहीं हो जाता; जैसे मानव-मन का होता है और यह प्लेटो के दर्शन का एक पहले से ही सोचा-समझा हुआ सिद्धांत है।

प्लेटो की पद्धति का एक खास लक्षण है दृष्टांत का प्रयोग। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन प्रकृतिवादी दर्शन से नवीन मानववादी दर्शन तक पहुँचने में जो परिवर्त्तन हुआ था, उसका एक खास लक्षण था—भौतिक जगत से दृष्टांतों का प्रयोग। साक्रेटीज़ की पद्धति में बरावर कलाओं से उदाहरण ग्रहण किए जाते हैं। वह मार्ग-दर्शक अथवा चिकित्सक के उदाहरण द्वारा ज्ञान और शिक्षा की आवश्यकता पर निरंतर ज़ोर देता था। प्लेटो की रचनाओं में दोनों प्रकार के उदाहरण अकसर मिलते हैं। उसने प्रकृति से जिन उदाहरणों को ग्रहण किया है, उनका संबंध पशु-जगत से है। रिपब्लिक में उसने एक से अधिक बार कुत्ते के उदाहरण को महत्त्वपूर्ण तर्कों का आधार बनाया है। रखवाली करने वाले कुत्ते के स्वभाव पर विचार करके प्लेटो उस सिद्धांत पर पहुँचता है जिसके आधार पर संरक्षकों का चुनाव किया जाना चाहिए; इसी प्रकार रखवाली करने वाले कुत्ते और कुतिया की तुलना करके प्लेटो इस निश्चय पर पहुँचता है कि पुरुषों की भांति स्त्रियां भी संरक्षक होनी चाहिएँ। पशुओं में जिस तरह से प्रजनन होता है, उसी को अपनी युक्ति का आधार बनाकर उसने विवाह के बारे में अपने अजीब सिद्धांत का निर्माण किया है। अरिस्टाटल की पॉलिटिक्स में भी प्रकृति-जगत के उदाहरणों का उपयोग हुआ है—कम से कम एक अवतरण में तो हुआ ही है। अरिस्टाटल ने प्रकृति का दृष्टांत लेकर और मनुष्यों के साथ पशुओं के संबंध का उदाहरण प्रस्तुत करके दासता की प्रथा को न्यायपूर्ण ठहराने का और स्वामी के साथ दास के संबंधों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

पर प्लेटो की रचनाओं में कलाओं के क्षेत्र से लिए गए वे उदाहरण प्रमुख रूप से मिलते हैं जिनका प्रयोग साक्रेटीज़ करता था। जब सोफ़िस्टों ने चिकित्सा-शास्त्र की भांति राजनीति को शिक्षा का एक विषय बनाने की कोशिश की, तब उन्होंने राजनीति को एक कला माना था। साक्रेटीज़ ने भी इसे ज्ञान के प्रति अपने आग्रह का आधार बनाया था। प्लेटो ने इस विषय पर जो कुछ भी कहा है, प्रायः उस सब पर राजनीति को कला मानने के इस सिद्धांत की छाप है। राजनीति को कला के रूप में ग्रहण करते हुए उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि अन्य कलाओं की भांति इसमें भी ज्ञान की आवश्यकता है। उसके संपूर्ण राजनीति-चिंतन की यह शायद सबसे बड़ी विशेषता है, और रिपब्लिक के मूल में यह मांग निहित है, कि और सभी कलाकारों के सदृश राजमर्मज्ञ को भी यह ज्ञात होना चाहिए कि वह जिस चीज़ की साधना कर रहा है वह है क्या? राजनीति की यही संकल्पना प्लेटो को और आगे भी ले गई। अपनी कला की साधना में कलाकार को विधि-विधानों की बेड़ियों से मुक्त होना चाहिए—इसीलिए प्लेटो की धारणा है कि आदर्श स्थिति तो यह है कि राजमर्मज्ञ विधि के नियंत्रण से स्वतंत्र हो। इसी आधार पर वह निरपेक्ष शासन के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। अंत में, इसी संकल्पना के बल पर वह यह सिद्ध करता है कि हर शासक सामुदायिक हित के निमित्त शासन करना चाहता है क्योंकि हर कलाकार का अगर वह सच्चा कलाकार हो तो—एक ही लक्ष्य होता है: अपनी कला के विषय का उन्नयन।

दृष्टांत का प्रयोग कठिन है और झूठे दृष्टांत देना आसान होता है। प्लेटो इस

बाधा पर सदैव जय नहीं पा सका या कभी-कभी उससे भी भूलें हुई हैं—इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पशु-जगत् के जिन दृष्टांतों का उपयोग उसने किया है, उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस तरह के दृष्टांत देकर तो किसी भी बात को सिद्ध किया जा सकता है—'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के उस सिद्धांत को भी, जिसका स्वयं प्लेटो ने **गॉर्जियाज़** में प्रतिवाद किया है। सच तो यह है कि इन दृष्टांतों से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। मनुष्य भावना-रूप है और भावना-मय जीवन के लिए पशु-सृष्टि से कोई ऐसे नियम ग्रहण नहीं किए जा सकते जो वैध हों। और कलाओं के क्षेत्र से जो दृष्टांत ग्रहण किए गए हैं उनके प्रयोग पर भी आक्षेप किए जा सकते हैं। आखिर, राजनीतिज्ञ चिकित्सक की तरह से तो नहीं होता; और यदि एक अपना कार्य पाठ्य-पुस्तक के प्रतिबंधों के बिना ही कर सकता हो, तो इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे को भी विधि-विनियम के बिना ही अपना काम करना चाहिए। शरीर के उपचार में जिन-जिन बातों की ओर ध्यान देना ज़रूरी होता है, आत्मा के उपचार में उनके अलावा और बहुत सी बातें देखनी पड़ती हैं। और कई दृष्टियों से प्लेटो इन बातों के प्रति पर्याप्त सजग नहीं रहता। इस सिलसिले में उसके दंड-सिद्धांत का उदाहरण दिया जा सकता है। पर कलाओं के क्षेत्र से लिए गए दृष्टांतों के आधार पर राजनीतिक प्रश्नों के विवेचन के औचित्य पर हम भले ही संदेह करें लेकिन हमें प्लेटो की मूल स्थिति को भूला नहीं देना चाहिए। प्लेटो के लिए राजनीति कलाओं के समान नहीं है बल्कि वह स्वयं एक कला है। वहाँ दृष्टांत नहीं, अभेद है।

●

अध्याय 7

प्लेटो के आरंभिक संवाद

(क) अपॉलॉजी और क्रिटो

(ख) चारमिडीज, यूथीडिमस और लैचेज

(ग) मीनो, प्रोटेगोरस और गॉर्जियाज

अध्याय 7

प्लेटो के आरंभिक संवाद

प्लेटो के जिन तीन महान् संवादों में राजनीतिक चिंतन की समस्याओं पर विचार किया गया है, वे हैं **रिपब्लिक, लॉज़** और **पॉलिटिक्स**। इनमें से **रिपब्लिक** की रचना प्लेटो के जीवन के पहले चरण में हुई थी और वह 386 ई० पू० तक पूरी हो गई होगी। उसी साल प्लेटो ने अकादमी की स्थापना की थी। **पॉलिटिक्स** का रचना-काल 360 के आस-पास रहा होगा। **लॉज़** प्लेटो की लेखनी का अंतिम प्रसाद है और यह रचना उसके स्वर्गवास के बाद 347 में प्रकाशित हुई थी। लेकिन, इन सबसे पहले के और शुरू-शुरू के कई और संवाद भी हैं जो शायद 386 के पूर्व लिखे गए होंगे। इनका संबंध अधिकतर राजनीति-चिंतन के विषयों से है। ये सभी संवाद ठेठ साक्रेटीज़ की शैली में हैं और इन सबका उद्देश्य है—साक्रेटीज़ की शिक्षा का आख्यान और प्रतिपादन। **अपॉलॉजी** और **क्रिटो** में—जिनमें साक्रेटीज़ के जीवन और मृत्यु का वृत्तांत है—व्यक्ति के साथ राज्य के संबंध की समस्याओं को उठाया गया है। **चारमिडीज़** और **लैचेज़** में से पहले का तो सीधा सरोकार आत्मसंयम के गुण से है और दूसरे का साहस के गुण से। लेकिन अंत में इन दोनों ग्रंथों में कहीं अधिक व्यापक प्रश्न उठाये गए हैं : एक ओर तो सद्वृत्ति को अखंड मानने की धारणा इस प्रश्न को जन्म देती है कि सद्वृत्तियों का व्यापक सद्वृत्ति से क्या संबंध है; दूसरी ओर, राज्य को प्रत्येक सद्वृत्ति का उन्नायक मानने की संकल्पना से यह सवाल पैदा होता है कि नैतिक जीवन का राजनीतिक समाज और 'राजनीतिक-विज्ञान' से क्या संबंध है। प्रसंगवश, इस बाद वाले प्रश्न पर **यूथीडिमस** के एक अवतरण में भी विचार किया गया है। **मीनो** में, ज्ञान और शिक्षा पर विचार करते-करते राजनीतिक ज्ञान के स्वरूप और राजनीति में शिक्षा की संभावना पर भी अनिवार्यतः विचार किया गया है। **प्रोटेगोरस** में भी कुछ इसी तरह की समस्या का विवेचन हुआ है। अंत में, **गॉर्जियाज़** में प्लेटो ने भाषण-कला के अध्ययन पर विचार किया है और यह देखा है कि यह अध्ययन राजनीतिक जीवन की भूमिका के लिए कितना उपयोगी है। यहां उसे उस झूठे सिद्धांत की आलोचना करनी पड़ी है जो उसके अनुसार इस कला के शिक्षण में भी निहित है और व्यवहार में भी।

(क) अपॉलॉजी और क्रिटो

अपॉलॉजी साक्रेटीज़ के विचारों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास है। लोकतंत्रियों को संदेह था कि वह अभिजात-तंत्रियों की एक टोली का नेता है। उसके ऊपर आरोप लगाए गए थे कि वह नौजवानों को बिगाड़ता है और राज्य के देवताओं में उसकी आस्था नहीं है। उसके अभियोक्ताओं ने उस पर मुकदमा चलाया था। इस मुकदमे के समय साक्रेटीज़ के सामने जो समस्या उठी वह वही समस्या थी जो एंटीगॉन के सामने उस समय उठी थी, जब क्रिओन ने यह आदेश निकाल दिया था कि वह अपने भाई पोलीनाइसेज को दफ़ना नहीं सकती। किस का पालन किया जाए—राज्य की इच्छा का या न्याय-भावना का जिसके साथ राज्य की इच्छा का विरोध था ? क्या वह चुप रहने का वचन देकर रूढ़ियों के अनुरूप रहे और इस अनुरूपता के द्वारा विधि का पालन करे ? या वह खुली चेतावनी देने और निंदा करने के अपने पथ से विचलित न हो और अपनी न्याय-भावना का परितोष करे ? यह सवाल शहीदों के सामने हमेशा रहा है और साक्रेटीज़ ने इसका जो जवाब दिया, वह भी एक शहीद का जवाब है। उसने तो बस ईश्वर के आदेश का ही पालन किया है। "मुझे छोड़ो या दंड दो : मैं अपने तौर-तरीक़े कभी नहीं बदलूंगा" (30 A—C)। साक्रेटीज़ ने राज्य की विधि का उल्लंघन किया है उससे किसी ऊँची चीज़ के नाम पर। लोग युग-युग से यही करते आए हैं। लेकिन, यह तो विवाद का केवल एक पक्ष है। इसका दूसरा और पूरक पक्ष क्रिटो में प्रस्तुत किया गया है। इस संवाद में प्लेटो ने कल्पना की है कि साक्रेटीज़ को अपने इस जवाब के लिए प्राणदंड मिल चुका है और वह कारागार में पड़ा हुआ है और क्रिटो उसे कारागार से भाग जाने का प्रलोभन देता है। यदि वह भागता है, तो इसका मतलब होगा कि उसने फिर विधि की अवज्ञा की है—उस विधि की जिसके अधीन अपनी पहली अवज्ञा के लिए उसे जेल में रहने का और मर जाने का आदेश दिया गया है। क्या वह दूसरी बार विधि के उल्लंघन का पाप करेगा ? एक बार तो उसने लाचार होकर अंतरात्मा की रक्षा के लिए विधि का उल्लंघन किया पर अब प्राणरक्षा के लिए वह दुबारा उसका उल्लंघन नहीं करेगा। वह पहले ही एक दारुण कर्म कर चुका है, उसने विधि को उलटने की चेष्टा की है। अब वह विधि

का पालन कर उसके दावों को स्वीकृति देगा और भरसक उसकी मान-मर्यादा बनाए रखने में मदद देगा। प्लेटो ने एथेंस की विधियों और साक्रेटीज़ के बीच एक संवाद की कल्पना करके यह शिक्षा दी है। विधि साक्रेटीज़ से प्रश्न करती है, "आपका विचार है कि वह राज्य जी सकता है जिसमें विधि के निर्णय व्यक्तियों की इच्छा के सामने झुक जाते हों ?" "पर, मेरे मामले में विधि का निर्णय अन्यायपूर्ण था"। "कुछ भी हो, जहाँ तक विधि के पालन का प्रश्न है उसका आपके ऊपर दोहरा दावा है"। आगे चल कर प्लेटो इस दोहरे दावे के स्वरूप की व्याख्या करता है। पहली बात तो यह है कि चूँकि विधि विवाह का तथा बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा का विनियमन करती है (और साक्रेटीज़ ने यह माना है कि उसे विधि के इस कार्य के विरोध में कुछ नहीं कहना है), अतः वह सच्चे माने में प्रत्येक नागरिक की जननी है[1]। विधि के द्वारा ही नागरिक नागरिकता के संसार में वैध रूप से जन्म लेता है। विधि के द्वारा ही उसे अपनी नागरिकता के उपयोग की क्षमता का ज्ञान होता है। वह जो कुछ होता है, विधि की कृपा से होता है। जैसे बच्चे को अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, वैसे ही और उसी कारण, नागरिक को विधि का पालन करना चाहिए। साक्रेटीज़ अपने आप साक्रेटीज़ नहीं बना; उसे विधि ने साक्रेटीज़ बनाया है। क्या वह अपने स्रष्टा से लड़े ? यहां यह धारणा यूनानी लिबास में प्रस्तुत की गई है, लेकिन वास्तव में यह धारणा हमेशा के लिए सच है। हम अनेक प्रभावों की उपज हैं—अपने विद्यालय, अपने चर्च, अपने राज्य आदि के प्रभावों की। इन प्रभावों ने हमारे चरित्र को ढाला है, हमें शक्तियाँ दी हैं। हमें जो-जो वरदान मिले हैं उनके लिए हम कृतज्ञ हैं, ऋणी हैं। किसी उच्चतर वस्तु के नाम पर उन्हें अस्वीकार कर देना हमारा कर्त्तव्य हो सकता है; लेकिन उनका सम्मान करना भी हमारा कर्त्तव्य है। यदि ये सारे प्रभाव मिल कर एकान्वित हो जाएं—जैसे यूनानियों के लिए हो गए थे; और यदि वे सब एक स्वर से अपनी स्वीकृति चाहने लगें—जैसे कि साक्रेटीज़ के संदर्भ में उन्होंने चाहा—तो फिर यह ज़रूरी हो जाता है कि ऋण की और भी सजग अनुभूति हो और उसे और भी सावधानी से चुकाया जाए। लेकिन, प्लेटो का विचार है कि विधि का व्यक्ति के ऊपर एक और दावा है। व्यक्ति को बाल्यावस्था में ही यह प्रशिक्षण मिलने लगता है कि उसे बड़े होकर क्या-क्या करना है। बालक होने पर भी इस शिक्षा का ऋण चुकाने के लिए वह बाध्य होता है। यही बालक जब बड़ा होकर पुरुष की श्रेणी में आ जाता है, तब क्या वह विधियों के पालन के एक अलिखित प्रसंविदे से नहीं बँध चुका होता[2] ? विधि के अनु-

---

1. प्लेटो के नवें पत्र (385 A) से तुलना कीजिए: "हम लोगों में से हरेक अकेले अपने लिए पैदा नहीं हुआ है; हमारा जीवन कुछ ऐसा है जिसमें हमारे माता-पिता का हिस्सा है, हमारे मित्रों का हिस्सा है और हिस्सा है हमारे देश का"।
2. जब एथेंस के लड़के का अपने डेम की नामावलि में नागरिक के रूप में नाम लिखा जाता था, तब वह निम्नलिखित शपथ ग्रहण करता था : "मैं दंडाधिकारियों की बात ध्यान से सुनूंगा और वर्त्तमान विधियों का तथा आज के बाद जनता द्वारा जो विधियां लागू की जाएंगी, उनका पालन करूंगा"। (फ्रीमैन, स्कूल ऑफ हेलास, पृ० 211)।

सार उसे यह आज़ादी है कि वह देश छोड़ कर चला जाए। किंतु, यदि वह रुका रहता है और ऐसी आयु होने पर रुका रहता है जब यह समझता है कि रुके रहने से उसके ऊपर क्या-क्या जिम्मेदारियाँ आ जाएँगी, तब वह इन दायित्वों को पूरा करने का करार कर लेता है जो व्यक्त भले ही न हो पर व्यक्त न होने की वजह से ही उसके बंधन किसी तरह कम मज़बूत नहीं होते[1]। यहाँ यह बात नहीं कही गई कि राज्य का आधार मूलतः व्यक्तियों का संविदा है और उसके दावे उन रियायतों पर निर्भर हैं जो उसने संविदा में दे दी हों। इसके विपरीत, हम अभी देख चुके हैं कि प्लेटो के निकट राज्य और व्यक्ति का संबंध संविदा करने वाले दो पक्षों का संबंध नहीं है, वह पिता और पुत्र का संबंध है। सोफ़िस्ट 'संविदावादी' (contractarians) थे और प्लेटो उनके विचारों का पक्का दुश्मन था। प्लेटो ने दृढ़ता से यह सिखाया है कि राज्य में एक अनिवार्य बंधन एक आदमी को दूसरे आदमी से बाँधे रखता है। इसी के एक निष्कर्ष के रूप में उसने यह भी सिखाया है कि राज्य का अपने सदस्यों के ऊपर सबसे बड़ा दावा होता है। प्लेटो का मंशा यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने आपको किसी राज्य का सदस्य मानता है तब वास्तव में अव्यक्त रूप से ही सदस्यता की ज़िम्मेदारियाँ स्वीकार कर लेता है—इस बात को भले ही कहा न जाए और व्यक्त न किया जाए। व्यक्ति ने कुछ अधिकारों का दावा किया है और उसके अधिकारों को मान्यता मिल गई है; उसने कुछ कर्त्तव्यों को स्वीकार किया है और वह उनका पालन करने के लिए बाध्य है। राज्य की सदस्यता में यह बात निहित है: किसी भी समुदाय की सदस्यता में यही अर्थ निहित होता है। चंदा देने और व्यवस्थित व्यवहार करने के दायित्व को स्वीकार किए बिना कोई व्यक्ति किसी वाद-विवाद गोष्ठी तक का सदस्य नहीं बन सकता। भाषण देने या भाषण सुनने का अधिकार मिलने के साथ ही ये ज़िम्मेदारियाँ उसके ऊपर आ जाती हैं। वह सदस्यता छोड़ता नहीं—यह इस बात का प्रमाण है कि वह इन दायित्वों को बराबर स्वीकार करता है। प्लेटो का यही तर्क है और इस रीति से **अपॉलॉजी** और **क्रिटो** का सारांश यह निकलता है: जब कभी किसी भौतिक स्वार्थ की बाज़ी लगी हो, तब आप विधि का पालन कीजिए और हँसते हुए कीजिए। यदि आप ऐसा नहीं करते, तो आप अवज्ञाकारी पुत्र हैं और हैं बेईमान साझीदार। जब द्वन्द्व किसी परम आध्यात्मिक प्रश्न को लेकर हो, तभी आप विधि की अवज्ञा कर सकते हैं और तब भी आप जो अवज्ञा करें उससे आपके मन को क्लेश होना चाहिए। यह हॉब्स के इस मत से बिल्कुल उल्टा है कि मनुष्य को अंतरात्मा के मसलों पर तो झुक जाना चाहिए और अपनी प्राण-रक्षा के लिए विद्रोह करना चाहिए[2]।

---

[1] आजकल जिन लोगों की सामाजिक संविदे में आस्था है, यहाँ उनकी युक्ति से तुलना कीजिए। ह्यूम ने यह युक्ति इस तरह प्रस्तुत की है: "किसी शासक के राज्य-क्षेत्र में—जिसे कोई चाहे तो छोड़कर जा सकता हो—रहने का मतलब यह है कि उस व्यक्ति ने उसकी सत्ता को मौन रूप से स्वीकार कर लिया है और उसकी आज्ञा पालने का वचन दिया है।"

[2] देखिए, "प्रतिरोध" (resistance) का दर्शन, ग्रीन, **प्रिंसिपिल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन.** §§ 137—47.।

(ख) चारमिडीज़, यूथीडिमस और लैचेज़

प्लेटो ने अपॉलॉजी और क्रिटो में तो साक्रेटीज़ की मृत्यु का वृत्तांत दिया है पर चारमिडीज़ और लैचेज़ में और कुछ हद तक यूथीडिमस में—उसने साक्रेटीज़ के जीवन तथा शिक्षा के बारे में भी लिखा है और बताया है कि उसकी शिक्षा देने की क्या पद्धति थी। चारमिडीज़ में संयम अथवा आत्म-नियंत्रण के स्वरूप का विवेचन है। यह विवेचन ऐन साक्रेटीज़ की शैली के अनुरूप शंकात्मक है, उपदेशात्मक नहीं। इस विवेचन का उद्देश्य उन समस्याओं का समाधान देना नहीं, जिनसे बुद्धि को जूझना पड़ता है; उसका उद्देश्य है विचार-प्रक्रिया उत्तेजित करना। संवाद में आत्म-नियंत्रण की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। इनमें से एक परिभाषा पर यहाँ विचार किया जा सकता है, कारण कि इसमें न्याय अथवा नीतिपरायणता की उस परिभाषा की झांकी मिल जाती है जो आगे चल कर रिपब्लिक में दी गई है। 'किसी ने' आत्म-नियंत्रण की परिभाषा इस तरह की है : "जो काम किसी के अपने हों उन्हें पूरा करना" (161 B)। इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया गया ; वास्तव में इस पर विचार भी नहीं किया गया। इस परिभाषा का यह स्पष्ट अर्थ स्वीकार नहीं किया गया कि लोगों को अपनी विशिष्ट क्षमताओं और स्थितियों के अनुरूप ही कार्य करने चाहिएं। इसे तोड़-मरोड़ कर इसका उल्टा अर्थ लगा लिया गया कि हरेक व्यक्ति को अपना सारा काम अपने आप करना चाहिए ; उसे अपने कपड़े बनाने चाहिएँ, अपने जूते बनाने चाहिएँ और अपनी हर जरूरत को खुद पूरा करना चाहिए (161 E)। इसका मतलब तो होगा कि उस चरवाहे में संयम का गुण था जिसकी चर्चा ऐडम स्मिथ ने वेल्थ आफ नेशन्स में की है और जो श्रम के विभाजन से भी अनभिज्ञ था। और यहाँ प्लेटो तुरंत यह आक्षेप करता है कि संयत राज्य, जो संयत होने के कारण सुव्यवस्थित राज्य भी होगा, पर्वतीय चरवाहों से बना हुआ नहीं हो सकता (162 A)। पर, हालांकि यहाँ यह परिभाषा इस प्रकार अस्वीकार कर दी गई है, फिर भी आगे चल कर एक अन्य, वैकल्पिक परिभाषा पर विचार-विमर्श के दौरान वह फिर दूसरे रूप में सामने आती है। इस प्रसंग में कहा गया है कि आत्म-नियंत्रण की परिभाषा आत्म-ज्ञान के रूप में की जा सकती है (165 B)। प्लेटो ने साक्रेटीज़ से यह प्रत्युत्तर दिल-

चाया है कि यदि यह ज्ञान है, तो ज्ञान के अन्य प्रकारों की तरह यह भी किसी निश्चित विषय का ज्ञान होना चाहिए ; और वह विषय क्या है ? परिभाषाकार का उत्तर है कि यह विषय तिहरा है । आत्म-नियंत्रण स्वयं उसका अपना ज्ञान है, वह ज्ञान की अन्य सब शाखाओं का ज्ञान है जिसके फलस्वरूप उससे संपन्न व्यक्ति ज्ञान की अन्य शाखाओं का संयत रीति से उपयोग कर सकता है ; और अंत में, वह अज्ञान तथा ज्ञान के भेद का ज्ञान है, जिसके बल पर उससे संपन्न व्यक्ति स्वयं अपने ज्ञान की सीमाएँ जान लेता है (166 E–167 A)। इस उत्तर में ऐसे तत्व हैं जिन पर साक्रेटज़ी की छाप है, जिन पर प्लेटो की छाप है। साक्रेटीज़ तो अपने को केवल एक ही ज्ञान का धनी बताता था और वह था—अपने अज्ञान का ज्ञान ।

"मैं कुछ नहीं जानता । अगर जानता हूँ तो सिर्फ़ यह कि मैं कुछ नहीं जानता ।"

प्लेटो ने यूथीडिमस में, और फिर पॉलिटिक्स में स्वयं यही सुझाव रखा है कि एक ऐसा परम ज्ञान होना चाहिए जिसका ज्ञान की अन्य समस्त शाखाओं के उपयोग और प्रयोग पर नियंत्रण रह सके । इस परम ज्ञान को उसने राजनीति-कला अथवा 'राजनीति-विज्ञान' से अभिन्न माना है । लेकिन चारमिडीज़ में इतने विशाल और इतने व्यापक ज्ञान की संभावना और उपयोगिता दोनों पर ही संदेह प्रकट किया गया है । पहली बात तो यह है कि यह संभव ही नहीं है—ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह सदा विशिष्ट और संबद्ध विषय का ही ज्ञान हो सकता है, और यहाँ जिन तीन विषयों का संकेत दिया गया है, वे इस शर्त को पूरा नहीं करते । यदि यह संभव होता, तो पहली ही नज़र में लगता कि यह तो बहुत उपयोगी होता। यदि लोगों को, अपने में और दूसरों में, ज्ञान और अज्ञान के भेद का पता लग सकता, तो अपने जीवन के संचालन के लिए भी और उन लोगों के जीवन के संचालन के लिए भी जिन पर उनका नियंत्रण हो, अचूक मंत्र मिल जाता। वे इस तरह पूर्ण, निर्भ्रांत जीवन का बीज बो सकते थे कि जिस काम के बारे में वे यह जानते कि हमें इसका ज्ञान नहीं, उसमें वे खुद हाथ न डालते बल्कि उस काम को ऐसे लोगों के ऊपर छोड़ देते जिनको उसका ज्ञान होता। दूसरी तरफ़ जिन लोगों पर उनका नियंत्रण होता, उन्हें भी वे ऐसे किसी काम में हाथ न लगाने देते जिसके बारे में उन्हें ज्ञान न होता और जिसे वे ठीक से न कर पाते। जिस घर में इस तरह संयम वास करे, वह सुघर घर होगा, जिस नगर में संयम का शासन हो, वह सुशासित नगर होगा—कहीं किसी तरह की भूल-चूक न होगी और हर काम में सत्य का निर्देश रहेगा । तब आदमी अच्छी तरह रहेगा और अच्छी तरह रहेगा तो सुखी भी होगा (174 E—175 A)। कम से कम लगता तो यही है पर फिर भी सच यह हो सकता है कि इस तरह का ज्ञान, जो संभव न हो, सचमुच उपयोगी भी न हो। हो सकता है यदि जीवन पर अपने प्रति और अपनी सीमाओं के प्रति पूर्णतः सजग ज्ञान का पूरा-पूरा नियंत्रण रहे, तो भी निश्चित रूप से सुख न मिल पाए ; हो सकता है श्रम के पूर्ण विभाजन से और प्रत्येक व्यक्ति के अपनी विशिष्ट क्षमता के काम में ही सीमित रहने से भी पूर्णता के निकटतर न पहुँचा जाए। एक ही ज्ञान सुख देता है और वह है भले-बुरे का ज्ञान (174 B) ; और शायद यही ज्ञान आत्म-नियंत्रण है। पर

शायद यह ज्ञान भी उपयोगी नहीं है—कम से कम इस अर्थ में कि उससे निश्चित उपयोगिता का जन्म होता है और आत्म-नियंत्रण—अगर वह आत्म नियंत्रण है तो—अंततः अनुपयोगी होता है (174 E—175 A)[1]।

चारमिडीज़ की शंकात्मक पद्धति और निष्कर्ष के कारण हमें उसके संकेतों से मुँह नहीं मोड़ लेना चाहिए। हम देखेंगे कि रिपब्लिक में इन संकेतों को स्वीकार कर लिया गया है और उनका आगे विकास किया गया है। इनमें से एक संकेत यूथीडिमस के एक अवतरण में फिर से आया है और वहाँ उसका सविस्तार विवेचन हुआ है (288—292 E)। यह उस परम कला अथवा ज्ञान का संकेत है जिससे अन्य सब कलाएँ या ज्ञान की शाखाएँ शासित होती हैं। प्लेटो का तर्क है कि कोई ज्ञान उस समय तक उपयोगी नहीं होता जब तक कि हम उस प्रयोजन को न जान जाएँ जिसके लिए ज्ञान का उपयोग होगा। यदि किसी व्यक्ति को यह ज्ञान होता कि अमरत्व किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, तो भी इससे उसे तब तक कुछ भी लाभ न होता जब तक वह यह न जानता कि अमरत्व का कैसे उपयोग किया जाए। ज्ञान की किसी शाखा का उपयुक्त प्रयोग किस प्रकार हो, इसका ज्ञान परम ज्ञान है और इस ज्ञान की मानव-जीवन के लिए बुनियादी ज़रूरत है। उदाहरण के लिए चिकित्सक जानता है कि घाव को किस प्रकार भरा जाता है, लेकिन उसकी कला का क्या उपयोग हो, इसका निर्णय करने के लिए और आगे के ज्ञान की आवश्यकता है। वह तो न्यायी के घाव को भी भरता है और अन्यायी के घाव को भी। पर अन्यायी का घाव भरा जाए और वह ज़िंदा रहे, इससे ज़्यादा अच्छा और ज़्यादा लाभकर यह होता कि वह मर जाता (लॅचेज़, 195 C—D)। यदि ज्ञान की अन्य शाखाओं पर नियंत्रण रखने के लिए परम ज्ञान न हो, तो वे निरुपयोगी बन कर रह जाती हैं। जब यह ज्ञान मौजूद होता है, तब वही उस साध्य को निर्धारित करता है जिसके अनुसार ज्ञान की अन्य शाखाओं का उपयोग होना चाहिए। और उसी के आलोक में यह तय कर दिया जाता है कि कब और किस हद तक उनका उपयोग हो। यह परम ज्ञान न तो भाषण-कला है और न सांसदिक की कला। नपे-तुले भाषण लिखने वाला ऐसा भाषण दे सकता है जो जन-सभा अथवा जन-न्यायालय को मोह ले। लेकिन, वह अपनी कला का किस प्रकार उपयोग करे, उससे किन प्रयोजनों की सिद्धि करे, उसका किन कालों और किन ऋतुओं में उपयोग करे, इस बारे में वह भी उतना ही कोरा होता है जितना चिकित्सक (यूथीडिमस, 289 D—290 A)। वह युद्ध-कला का ज्ञान भी नहीं[2]। सफल सेनापति किसी नगर या सेना को जीत तो सकता है, लेकिन उसमें यह क्षमता नहीं होती कि वह इस विजय का उपयोग कर

---

[1] मैंने इसमें और अगले प्रकरण में नोहले के स्टाट्सलेहरे प्लेटोस, अध्याय 3—4 का उपयोग किया है।

[2] पॉलिटिकस में राजमर्मज्ञ का, वक्ता, सेनापति और न्यायाधीश से जो भेद दर्शाया गया है, उसी तरह का भेद यहाँ परम कला और वक्तृत्व तथा सेनानायकत्व की कला के बीच प्रस्तुत किया गया है (अध्याय 12 (क) से तुलना कीजिए)।

सके ; यह काम उसे राजमर्मज्ञ के ऊपर छोड़ना पड़ता है । तब फिर, यह लगेगा कि मानो परम कला राजमर्मज्ञ की कला ही है ; और वही प्रत्येक राज्य में सही कार्य का मूल निमित्त है, मानो उसका आसन जहाज के किलिन* में हो और वह हमेशा जहाज का संचालन करती हो, शासन करती हो और सबसे अपना-अपना नियत कार्य कराती हो (291 D) । कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है : ज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह इस परम ज्ञान का भी कुछ फल ज़रूर निकलना चाहिए । चिकित्सक स्वास्थ्य देता है ; किसान अनाज देता है ; जिन लोगों के पास यह परम ज्ञान है, वे क्या देते हैं ? निश्चय ही उन्हें धन-संपदा, स्वतंत्रता और सामंजस्य पैदा करना चाहिए ; पर ये चीज़ें न अच्छी हैं और न बुरी—ये तो अपने आप में नगण्य हैं । सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि उनका उपयोग कैसे किया जाता है (292 C) । राजमर्मज्ञ को सबसे पहले जो चीज उत्पन्न करनी चाहिए, वह है ज्ञान ; सच्चा श्रेय जो मनुष्य को सुख दे, और यह ज्ञान नगण्य बिल्कुल नहीं होता । पर क्या यह आवश्यक है कि वे सब लोगों में ज्ञान उत्पन्न करें और वह सब चीज़ों का ज्ञान हो या वे कुछ लोगों में ही ज्ञान उत्पन्न करें और वह केवल एक चीज का ज्ञान हो ? चारमिडीज की तरह यहाँ भी तर्क-शृंखला एक बार फिर संदेह का स्वर जगाकर समाप्त हो जाती है, पर फिर भी यहाँ जो संकेत दिया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है । और हम प्लेटो को धीरे-धीरे ऐसे राज्य की संकल्पना की ओर बढ़ते हुए देख सकते हैं जिसमें पूर्ण ज्ञान का पूर्ण नियंत्रण हो । यह पूर्ण ज्ञान उस अंतिम प्रयोजन का ज्ञान होता है जिसकी मनुष्य को अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा साधना करनी चाहिए । ऐसे राज्य में इस ज्ञान से संपन्न राजमर्मज्ञ दूसरों को भी यथाशक्ति उसका दान करते हैं[1] । संक्षेप में, यह वही राज्य है जो श्रेय के विचार के प्रकाश में दार्शनिक राजाओं द्वारा शासित होता है और जिस पर रिपब्लिक में प्लेटो का निश्चित रूप से आग्रह है ।

लैचेज में भी इसी निष्कर्ष की ओर संकेत है । उसमें विचार तो किया गया है, साहस के स्वरूप पर, लेकिन उसकी परिणति हुई है सब सद्गुणों के एकत्व के सिद्धांत में । संवाद के आरंभ में एथेंस के दो प्रसिद्ध राजमर्मज्ञों के पुत्रों को अपने पुत्रों की शिक्षा के बारे में बातचीत करते दिखाया गया है । इनमें से एक 'न्यायमूर्त्ति' अरिस्टाइड्स है और दूसरा मिलेसिआस का पुत्र थ्यूसीडाइड्स । उनको यह शिकायत है कि उनके पिताओं ने उनकी शिक्षा की उपेक्षा की थी । (प्लेटो का यह एक प्रिय प्रतिपाद्य है कि एथेंस के राजमर्मज्ञ अपने पुत्रों को अपनी रीति-नीति के अनुरूप शिक्षा नहीं देते) । वे अपने पुत्रों की शिक्षा के बारे में, चिंता प्रकट करते हैं—विशेष रूप से सैनिक अभ्यास की शिक्षा के बारे में । इसके फलस्वरूप यह चर्चा आरंभ हो जाती है कि साहस के जिस गुण को जगाना ही सैनिक शिक्षा का उद्देश्य होता है, उसका

---

* जहाज का पिछला हिस्सा ।

[1] ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह किसी वस्तु के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन करे (292 D) । इस प्रकार, राजमर्मज्ञ को अपने राज्य में जिस एक चीज का ज्ञान उत्पन्न करना चाहिए वह यह है कि प्रत्येक कर्म का अंतिम लक्ष्य क्या हो ।

स्वरूप क्या है । साहस अंधा शौर्य नहीं हो सकता—वह तो अज्ञानवश खतरे मोल लेता है और यह नहीं जानता कि जिस उद्देश्य को वह पूरा करना चाहता है, उसे देखते हुए खतरे उठाना भी ठीक है या नहीं । वह ज्ञान पर आधारित दृष्टिसंपन्न गुण होना चाहिए । अतः उसकी परिभाषा यह की गई है कि वह इस बात का ज्ञान है कि युद्ध में तथा अन्य सब अवसरों पर किससे डरा जाए और किससे न डरा जाए । अतः, साहस सामान्य पशु-स्वभाव नहीं है ; वह तो केवल थोड़े से लोगों का ही गुण है ; क्योंकि थोड़े से लोग ही उस ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं, जो इसकी आवश्यक शर्त्त है (196 E) । संवाद के दौरान इस ज्ञान को और भी उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है । साहस में भले-बुरे का निर्णय निहित है—उसका संबंध चाहे अतीत से हो, चाहे वर्तमान या भविष्य से । वीर को चिरंतन ज्ञान के आधार पर यह ज्ञात होना चाहिए कि कौन सी ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे उसे डरना चाहिए और कौन सी ऐसी अच्छाई है जिससे उसे नहीं डरना चाहिए । यदि ऐसी बात हो, तो साहस सद्गुण का एक भाग उतना नहीं होता जितना संपूर्ण सद्गुण (199 E) । कहने का मतलब यह है कि वह तब तक मौजूद नहीं हो सकता जब तक कि संपूर्ण सद्गुण मौजूद न हो । इसका कारण यह है कि सद्गुण एक इकाई है और उचित ज्ञान के आधार पर एक सद्गुण को पूरी तरह प्राप्त करने का अर्थ है समस्त सद्गुण को प्राप्त करना क्योंकि इस प्रकार का उचित ज्ञान ऐसा पूर्ण ज्ञान होता है जिससे पूर्ण सद्गुण निश्चित हो जाता है । इस प्रकार, संवाद का अंत एक तरह से कुछ भी नहीं होता क्योंकि साहस के ऐसे किसी विशेष लक्षण का अनुसंधान नहीं किया गया जिससे उस का अन्य सद्गुणों से भेद स्थापित हो जाता । लेकिन, दूसरी तरह से देखें तो अंत बहुत ही सार्थक है क्योंकि तर्क का निष्कर्ष है—सद्गुण का एकत्व । यह निष्कर्ष ऐसा है जो **यूथीडिमस** की परम ज्ञान की धारणा से मेल खाता है । जो सद्गुण से और सद्गुण में निहित पूर्ण ज्ञान से संपन्न है, उसे वह परम ज्ञान भी प्राप्त होता है जो राज्य का पथ प्रदर्शन कर सके[1] ।

---

[1] लगता है कि **चारमिडीज़** के तर्क में अच्छाई और बुराई के ज्ञान और इस परम ज्ञान के बीच भेद किया गया है । लेकिन, यह भेद कोई अंतर प्रकट करने के लिए नहीं किया गया है ।

(ग) मीनो, प्रोटेगोरस और गॉर्जियाज़

प्लेटो के आरंभिक संवादों के तीसरे और अंतिम वर्ग में **मीनो**, **प्रोटेगोरस** और **गॉर्जियाज़** आते हैं। अभी-अभी हमने जिस वर्ग पर विचार किया, उसका सरोकार तो साक्रेटीज़ की शिक्षा के भावात्मक पक्ष से है। परंतु, प्रस्तुत वर्ग में साक्रेटीज़ की शिक्षा का अभावात्मक और आलोचनात्मक पक्ष प्रकट हुआ है[1]। इस वर्ग में जो तीन संवाद आते हैं, उन सबमें वास्तविक राज्यों और उनके वास्तविक तौर-तरीकों का विवेचन किया गया है। इन सब संवादों का उद्देश्य उन सिद्धांतों की व्याख्या करना है जिनके ऊपर, जाने या अनजाने, ये तौर-तरीके आधारित होते हैं, उनकी कमियों को दिखाना है और यह बताना है कि किसी सच्चे और उचित कार्य के लिए सच्चे और वास्तविक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, प्लेटो साक्रेटीज़ सिद्धांत को वास्तविक जीवन के संपर्क में ले आता है और हम आगे चल कर देखेंगे कि इसका परिणाम यह निकलता है कि जहाँ इन ग्रंथों में वास्तविक जीवन को कुछ हद तक उचित ठहराया गया है—शायद **गॉर्जियाज़** की अपेक्षा **मीनो** और **प्रोटेगोरस** में यह औचित्य-प्रतिपादन कम है—वहीं इनमें वास्तविक जीवन की निंदा भी की गई है और साक्रेटीज़ के सिद्धांत का औचित्य सिद्ध किया गया है। प्लेटो ने इन संवादों में बताया है कि इस सिद्धांत का वर्तमान राज्यों के साथ मेल नहीं बैठ सकता।

---

[1] इस दृष्टि से **चारमिडीज़**, **लैचेज़** और **यूथीडिमस** में **रिपब्लिक** के रचनात्मक पक्ष का—उसके न्याय-सिद्धांत का और दर्शन के शासन के बारे में उसके आग्रह का—पहले से ही संकेत मिल जाता है। इसके विपरीत, **मीनो**, **प्रोटेगोरस** और **गॉर्जियाज़** का सादृश्य है **रिपब्लिक** के आलोचनात्मक अंश से तथा उसके आठवें और नवें खंडों में किए गए वास्तविक राज्यों तथा उनके दोषों के विश्लेषण से। **रिपब्लिक** के बाद के खंडों की तरह हमें उनसे यह समझने में मदद मिलती है कि प्लेटो आदर्श राज्य की रचना में किस प्रकार प्रवृत्त हुआ, वे कौन सी वास्तविक परिस्थितियाँ थीं जिनके विरोध में आदर्श राज्य का उद्भव हुआ और जिनका सुधार करना उसका लक्ष्य था (आगे अध्याय 8 (क) से तुलना कीजिए)।

साक्रेटीज़ की मृत्यु इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसने अपने जीवन में जो पाठ पढ़ाए, वे वास्तविक राज्य में कभी अमल में नहीं लाए जा सकते। राज्य अपने मौजूदा रूप में यदि ऐसे व्यक्ति को प्राणदंड दे सकता था जिसने निश्चय ही केवल वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता का पाठ पढ़ाया था, तो वह इस बात को तो कभी भी बरदाश्त नहीं कर सकता कि उस पाठ पर सचमुच अमल किया जाए। निष्कर्ष यह है—और हम प्लेटो को भी धीरे-धीरे इसी निष्कर्ष की ओर बढ़ते हुए देखते हैं—कि दर्शन को राजगद्दी पर बिठाने की कोशिश करने से पहले यह ज़रूरी है कि राज्य का आमूल सुधार हो। ज़रूरत इस बात की नहीं कि कोई बुद्धिमत्ता के प्रभुत्व का प्रचार भर करे, ज़रूरत तो इस बात की है कि उसके स्वागत के लिए एक राजपथ तैयार किया जाए और ऐसी परिस्थितियां पैदा की जाएँ जो उसके शासन के लिए आवश्यक हों। इसका मतलब यह है कि आदर्श राज्य का निर्माण किया जाए जिसमें ऐसी व्यवस्था हो कि ज्ञान को अपना उचित स्थान मिल सके; यानी, विरोधाभास के रूप में कहें, तो इसका अभिप्राय है कि एक कल्पना-राज्य (Utopia) का, एक वायवीय राज्य (city of Nowhere) का निर्माण किया जाए जहाँ ज्ञान को अपने लिए आवास मिल सके। अगर वह नहीं हो सकता तो नैराश्य की भावना से भर कर हमें राज्य के मौजूदा रूप पर ही लौट आना होगा और यह स्वीकार कर लेना होगा कि ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ ज्ञान का शासन हो सके; और तब हमें यह मान लेना होगा कि साक्रेटीज़ ने असंभव का पाठ सिखाया।

यह पूर्ण निष्कर्ष केवल रिपब्लिक में ही ग्रहण किया गया है और सो भी बस धीरे-धीरे। अभी तक तो प्लेटो ने वास्तविक जीवन के तौर-तरीके के विरोध में साक्रेटीज़ की शिक्षाओं को ही सही सिद्ध किया है। साक्रेटीज़ ने सच्चे या महत्तर ज्ञान की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया था। पूछा जा सकता है कि फिर मनुष्य जितनी सफलता पा लेता है, उस ज्ञान के बिना ही कैसे पा लेता है और क्या यह ज्ञान इस तरह का है कि शिक्षा का विषय बन सके और क्या इसे दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। साक्रेटीज़ की बात को सही प्रमाणित करने के लिए इन प्रश्नों के उत्तर की ज़रूरत है और मीनो में यह उत्तर देने की चेष्टा की गई है। इसमें राजनीतिक सद्‌गुण पर अथवा अच्छे राजमर्मज्ञ के गुण पर विचार किया गया है और प्लेटो ने यह माना है कि अनुभव से पता चलता है कि अच्छे राजमर्मज्ञ अपने गुण अपने पुत्रों या उत्तराधिकारियों को नहीं दे पाते। वे ऐसा कर पाते, तो ज़रूर करते; और इससे ऐसा लगने लगेगा कि अंततः साक्रेटीज़ असंभव का प्रचार कर रहा था और शिक्षा से कोई अच्छा राजमर्मज्ञ नहीं बन सकता। असल में बात ऐसी नहीं। अच्छे राजमर्मज्ञ अगर राजमर्मज्ञता के ज्ञान का संप्रेषण नहीं कर पाते, तो इसका कारण यह नहीं है कि राजमर्मज्ञता का ज्ञान संप्रेषणीय नहीं, कारण यह है कि उनके पास संप्रेपणीय ज्ञान होता ही नहीं। उनके पास कोई ऐसा तर्कपुष्ट ज्ञान नहीं होता जिसके पीछे किसी सिद्धांत का बल हो ताकि उसके आलोक में वह स्पष्ट भी हो और उसकी शिक्षा भी दी जा सके। उनके पास तो सिर्फ़ एक सहज कौशल होता है, एक प्रकार की आंतरिक प्रेरणा जिसके सहारे वे सही राह पर चलते रहते हैं—यद्यपि सचाई का ज्ञान उनकी आंखों से ओझल

ही रहता है[1]। इस तरह की सहजात 'सु-मति' लोगों को बहुत दूर तक ले जा सकती है। उनमें समझ तो होती नहीं पर "प्रेरित और भावाविष्ट होने के नाते" वे बहुत कुछ ऐसा कह और कर सकते हैं जो भव्य हो (99 C. D.)। इस 'सु-मति' का राजनीति में वही स्थान है जो धर्म में अंत:प्रेरणा का है। लेकिन, 'सु-मति' का संप्रेषण नहीं हो सकता—सहज वृत्ति की कोई शिक्षा नहीं दे सकता और इसमें एक कमी यह भी है कि वह ऐन संकट की घड़ी में दग़ा दे सकती है। इसका कोई निश्चय नहीं हो सकता कि हर नई समस्या के पैदा होने पर उससे काम लिया जा सके। भिन्न परिस्थितियों में वह बिल्कुल निरर्थक सिद्ध हो सकती है क्योंकि उसका आवश्यक संबंध तो केवल रूढ़िगत प्रथा से ही होता है। सिद्धांत से अनुप्राणित तर्कपुष्ट ज्ञान ही जीवन की हरेक माँग से जूझ सकता है, उसे पूरा कर सकता है—और इस तरह का ज्ञान, इतना व्यवस्थाबद्ध और समन्वित ज्ञान, स्वभावत: शिक्षा का विषय बन सकता है जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंप सकती है। **मीनो** से ज्ञात होता है कि प्लेटो को वैज्ञानिक ज्ञान के दो बड़े-बड़े फ़ायदों का कितना प्रबल अनुभव था—पहला तो यह कि वह प्रत्येक संकट का सामना कर सकता है और दूसरा यह कि उसका बराबर संप्रेषण हो सकता है। वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने पर राजमर्मज्ञों को क्षण की प्रेरणा पर निर्भर रहने की ज़रूरत न रहेगी और राज्यों के लिए भी यह आवश्यक न रहेगा कि प्रत्येक संकट में उन्हें इस संयोग पर निर्भर रहना पड़े कि कोई प्रेरित राजमर्मज्ञ मिलता है कि नहीं। प्रशिक्षण से राजमर्मज्ञ को निरंतर प्रेरणा मिलती रहा करेगी : प्रशिक्षण से राज्य को दार्शनिक राजाओं का स्थायी वंश मिल जाएगा ; कभी-कभी "जनता के प्रधान मंत्रियों" के मिल जाने पर उसे निर्भर न रहना होगा। इसी प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर प्लेटो शिक्षा की उस संपूर्ण व्यवस्था की ओर बढ़ा जिसकी **रिपब्लिक** में स्थापना की गई है, और जो उसके विद्यापीठ में प्रदान की जाती थी। **मीनो** में दोनों का आभास मिल जाता है और उससे पता चलता है कि प्लेटो ने जीवन को सहज वृत्ति से बँधे हुए संयोग के क्षेत्र से बाहर निकाला और उसे वह कला के क्षेत्र में ले जाना चाहता था जो ज्ञान से बँधी होती है।

प्रोटेगोरस के बारे में भी बहुत कुछ यही कहा जा सकता है। इस संवाद में साक्रेटीज़ ही नहीं, सोफ़िस्ट प्रोटेगोरस भी **मीनो** में निर्दिष्ट दृष्टिकोण के समर्थक की हैसियत से प्रकट हुआ है। संवाद में पहले ही साक्रेटीज़ प्रोटेगोरस के मत का खंडन करता है लेकिन हम देखते हैं कि अंत में वह, उच्चतर धरातल पर, प्रोटेगोरस के ही मत पर लौट आता है। प्रोटेगोरस आरंभ में कहता है कि सोफ़िस्ट, अथवा शिक्षक, की हैसियत से वह राजनीति-कला की शिक्षा देता है और लोग उसकी शिक्षा से अच्छे नागरिक बन जाते हैं ; राजकाज में वे सर्वोच्च काम करने लगते हैं (319

---

[1] यह साक्रेटीज़ का ज्ञानद्वय का सिद्धांत है। न्यूनतर ज्ञान (अथवा 'सही मत') डाएडालस द्वारा निर्मित संविधियों की भाँति है। जब तक इन संविधियों को पक्के ढंग से नहीं बनाया जाता, वे लुप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार, जब तक 'सही मत' को किसी सिद्धांत अथवा निमित्त के सविवेक आधार के अनुसार दृढ़ नहीं बनाया जाता, वह लुप्त हो जाता है। जहाँ यह एक बार हुआ, वह मत नहीं रहता, वह ज्ञान हो जाता है (**मीनो**, 97 D–98 A)।

A) । इस तरह के विषय में शिक्षा देने की संभावना है—इस बारे में साक्रेटीज़ की दो आपत्तियाँ हैं । पहली आपत्ति तो यह है कि जब कभी कोई ऐसा व्यक्ति जिसे जहाज-निर्माण के विषय का तकनीकी ज्ञान न हो, इस विषय पर सभा में भाषण देता है, तो वहाँ उसके भाषण को कोई नहीं सुनता । पर राज-काज पर कसेरे और दर्जी का भाषण भी तत्परता से सुना जाता है । इसका मतलब यह निकलता है कि राजनीति-कला में कोई तकनीकी ज्ञान नहीं होता । दूसरे, एक पुरानी कठिनाई है । एथेंस के अनुभव से यह सिद्ध है कि राजमर्मज्ञ अपनी बुद्धिमत्ता अपने पुत्रों को नहीं दे पाते । प्रोटेगोरस ने एक लंबे भाषण में साक्रेटीज़ की कठिनाइयों का जवाब दिया है । उसके भाषण के मूल में यह धारणा है—और यह धारणा प्लेटो और अरिस्टाटल के समूचे चिंतन के मूल में भी है—कि राजनीति-कला अथवा राज्य के संदर्भ में सही तौर पर काम करने का गुण सद्गुण से अथवा सामान्यतः सही काम करने के गुण से अभिन्न है । इस व्यापक अर्थ में प्रोटेगोरस ने राजनीति-कला को विशिष्ट कलाओं की तरह विशिष्ट व्यक्तियों का गुण नहीं माना बल्कि मानव जाति की समान विभूति माना है । उसने अपने इस विश्वास को एक आख्यान के रूप में प्रकट किया है जिसमें, लगता है, राज्य के उद्भव के विषय में उसका वास्तविक दृष्टिकोण प्रकट हुआ है । (पीछे पृ० 96–97) । वह प्रकृति की आदिम अवस्था में और राजनीतिक साहचर्य के धार्मिक उद्भव में विश्वास करता है । प्राकृतिक अवस्था में लोगों के पास जीने की कलाएँ तो थीं पर वे राजनीति-कला से वंचित थे और यद्यपि उनके पास धर्म और भाषा थी ; परंतु राजनीतिक साहचर्य की शक्ति के अभाव में पशुओं ने उन्हें नष्टप्राय कर दिया था[1] । आत्म-रक्षा की इच्छा ने उन्हें नगरों की ओर खींचा । लेकिन, चूंकि अब भी वे राजनीति-कला से वंचित थे अतः उन्होंने अपने आपसी झगड़ों से अपने नगरों को नष्ट कर डाला । आखिरकार, उनकी रक्षा के लिए ज़ेअस का आविर्भाव हुआ और उसने उनके पास हरमीज़ को यह आदेश देकर भेजा कि "आदर और न्याय के सिद्धांतों के अनुसार और मित्रता और मेल-मिलाप के बंधनों के द्वारा नगरों की व्यवस्था की जाए" (322 C) । लेकिन जहाँ दूसरी कलाओं पर केवल कुछ भाग्यशालियों का ही अधिकार रहा था, वहाँ ज़ेअस ने न्याय की 'राजनीति-कला' सब के लिए प्रदान की क्योंकि मनुष्यों के नगर तभी बने रह सकते थे जब सभी लोग उसमें हिस्सेदार बनते । यही कारण है कि एथेंस के लोग राज-काज में कसेरे और दर्जी की बात भी ग़ौर से सुनते थे ।

इस आख्यान में एक गहन सत्य की अभिव्यक्ति हुई है । लोगों के एक जगह इकट्ठे हो जाने भर से राज्य नहीं बन जाता । बनावटी विधियों के आधार पर खड़ा

---

[1] प्लेटो ने पॉलिटिकस, 274 B, में फिर यह कहा है कि आदिम मनुष्य को पशुओं ने नष्टप्राय कर दिया था । इसी प्रकार लूक्रेटियस ने भी मानव के जीवन के बारे में लिखा है कि वह अकसर पशुओं का आहार बन जाता था :

> "आदिम मानव ने पशुओं को आहार के रूप में अपने प्राणों की भेंट दी और जब पशु उसे जीवित निगलते थे, तब वह देखता था कि उसके सप्राण अंग सप्राण कब्र में जा रहे हैं ।"

हुआ बनावटी एकता का महल बनते-बनते ही ढह जाता है। जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है सत्-जीवन के समान प्रयोजन की साधना के लिए समान मानस ; और राज्य इस समान मानस के बल पर ही वास्तविक और सप्राण बन सकता है। प्रोटेगोरस ज्यों-ज्यों अपने तर्क को आगे बढ़ाता है, त्यों-त्यों वह सहज भाव से और सत्यों का उद्घाटन करता जाता है। वह अपने श्रोताओं को बताता है कि दंड इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि इस सद्गुण या राजनीति-कला का—जो राज्य का प्राण है—संप्रेषण हो सकता है, शिक्षा दी जा सकती है ; क्योंकि दंड न तो पशु का निर्विवेक रोष (324 B) है और न है अतीत के किसी अन्याय का बदला। दंड दिया जाता है, भविष्य को ध्यान में रखकर—इसलिए कि वह अपराधी को दुबारा अन्याय करने से रोके[1]। दंड जैसे निरोधक साधन का ही यह अर्थ नहीं कि सद्गुण की शिक्षा दी जा सकती है। राज्य की शिक्षा-व्यवस्था में यह बात निश्चित रूप से और स्पष्टतः व्यक्त होती है। नौजवानों को महान् काव्य की शिक्षा दी जाती है जिसमें उद्बोधन होते हैं, प्राचीन काल के प्रसिद्ध व्यक्तियों की कथाएँ होती हैं जिनका अनुकरण-अनुसरण किया जा सके। उन्हें संगीत की शिक्षा दी जाती है जो अपने स्वर और सामंजस्य और लय-ताल से आत्मा को लय-ताल और सामंजस्य से भर देता है और फिर उन्हें व्यायाम की शिक्षा दी जाती है जो शरीर को सद्वृत्त मानस का अनुकूल सेवक बना देता है। पुरुषों के लिए इस तरह की विधियाँ हैं जो केवल दमन के द्वारा नहीं, बल्कि भावात्मक निर्देश के द्वारा भी मनुष्य के आचरण को दिशा देती हैं। प्रोटेगोरस की जिज्ञासा है कि क्या इन निर्धारित और औपचारिक संस्थाओं के अतिरिक्त और कुछ संस्थाएँ भी सद्गुण की शिक्षा नहीं देतीं। "क्या सभी मनुष्य अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सद्गुण के शिक्षक नहीं हैं? (327E)। क्या समाज अपने आप महान् विद्यालय नहीं है"? जब हम एक दूसरे से अपनी भाषा में बोलते हैं और युवक हमारी बात को सुनते हैं, तब हम अनजाने ही उन्हें शिक्षा देते हैं और जो बात हमारे शब्दों के बारे में सही है, वही कामों के बारे में भी सही है। हमारे जीवन में अनेक शिक्षाएँ निहित होती हैं। हममें से कुछ अच्छे शिक्षक हैं और भलाई की शिक्षा देते हैं; कुछ बुरे हैं और बुराई की शिक्षा देते हैं। "हम सबकी एक दूसरे के न्याय और गुण में रुचि है ; इसीलिए हममें से हरेक न्याय और विधियों की शिक्षा देने के लिए इतना तत्पर रहता है" (327 B)। और अगर जैसा कि सॉक्रेटीज़ का आग्रह है, हममें से कुछ के अच्छे शिक्षक होने पर भी परिणाम बुरे निकलते हैं, तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि हमारी सामग्री निकृष्ट है? यदि पेरीक्लीज़ अपनी सद्वृत्ति और राजनीतिक योग्यता अपने पुत्रों को न दे सका, तो इसका कारण यह नहीं था कि उसके पास ज्ञान का अभाव था या यह

---

1. प्लेटो के दंड-सिद्धांत के लिए अध्याय 16 (क) से तुलना कीजिए। जब प्लेटो प्रोटेगोरस के मुँह से दंड-सिद्धांत का निरूपण करवाता है, तब हमें पेरीक्लीज़ और प्रोटेगोरस के एक शास्त्रार्थ की कहानी याद हो जाती है। यह शास्त्रार्थ दिनभर चला था। "भाला फेंकने के खेल में भाग लेने वाले एक खिलाड़ी से अनजाने में एक दर्शक मारा गया। दोषी कौन था.......खेल का आविष्कार करने वाला, प्रतियोगी अथवा खुद भाला"? गंपर्ज़, ग्रीक थिंकर्स, I. 446)।

कि उसके पास जो ज्ञान था, वह दूसरों को दिया नहीं जा सकता था। वास्तव में, देवता अपने महत्तम उपहार सभी को नहीं देते और उन्होंने ये उपहार उसके पुत्रों को नहीं दिए थे। फिर भी, उसके पुत्रों को भले ही अपने पिता की प्रेरणापूर्ण राजमर्मज्ञता विरासत में न मिली हो, पर समाज के सामान्य विद्यालय में तो उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई ही और उन्हें राजनीति-कला के सामान्य तथा संप्रेषणीय उपहार मिले।

लगता है कि प्रोटेगोरस ने एथेंस की सभा और एथेंस के राजमर्मज्ञों की अच्छी पैरवी की है[1]। उसने एथेनी सभा के पक्ष में यह तर्क दिया है कि राजनीति में पेशेवर और शौकिया का कोई भेद नहीं होता और जितनी तत्परता से लोग अपनी भाषा सीख लेते हैं या कोई धुन पकड़ लेते हैं, उतनी ही तत्परता से उनमें राजनीति की सहज वृत्ति भी जग जाती है। लोकतंत्र के पक्ष में यह हमेशा एक आधारभूत तर्क रहेगा। उसने ऐथेनी राजमर्मज्ञों की भी वैसी ही पैरवी की है। यदि वे दैवी प्रेरणा की मशाल अपने पुत्रों के हाथों में नहीं थमा सकते, तो इसमें उनका दोष नहीं क्योंकि यह मशाल ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है, त्यों-त्यों उसका रुख बदलता जाता है। प्रोटेगोरस ने एथेंस के राजनीतिक तौर-तरीके की ही ज़ोरदार हिमायत नहीं की है, उसने बहुत कुछ ऐसा भी कहा है जो जितना प्रोटेगोरस का है, उतना ही प्लेटो का भी लगता है। रिपब्लिक का बहुत-सारा अंश—जैसे उसकी सारी शिक्षा योजना उन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति मालूम पड़ती है जो यहाँ प्रोटेगोरस के मुख से व्यक्त कराए गए हैं। जैसे प्लेटो ने रिपब्लिक के आरंभ में राज्य को श्रम-विभाजन पर आधारित आर्थिक संगठन माना है; फिर उसे ऐसी आध्यात्मिक संस्था के रूप में ग्रहण किया है जिसमें हरेक आदमी अपने नियत कर्त्तव्य का पालन करते हुए न्यायनिष्ठता की सिद्धि करता है और इस तरह उसे उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है, वैसे ही प्रोटेगोरस ने भी प्रोटेगोरस नामक संवाद में आरंभ में तो राज्य को जीवन की रक्षा करने वाली संस्था कहा है और अंत में उसे सत् जीवन के समान प्रयोजन की सिद्धि के लिए निर्मित समान मानस-संगठन मान लिया है। हो सकता है लोगों के पास जीवन की कलाएँ हों, और इनमें वे जीवन की रक्षा के लिए कुछ समान व्यवस्था और जोड़ दें ; लेकिन निपट आर्थिक संगठन प्रवृत्ति से ही स्वार्थपूर्ण होता है—चाहे उसमें निहित श्रम-विभाजन के कारण कुछ पारस्परिक सहायता भले ही मिल जाए—और यदि न्यायनिष्ठता और आदर की विभूतियों से युक्त 'राजनीति-कला' मनुष्य को अभयदान नहीं देती, तो यह आर्थिक संगठन अपने स्वार्थ के कोल्हू में ही पिस जाएगा।

अब तक हमने प्रोटेगोरस की जिन शिक्षाओं का वर्णन किया है, उनकी पुष्टि स्वयं प्लेटो के महानतम संवाद की सीखों से हो जाती है। यह ठीक है कि प्रोटेगोरस

---

[1] **प्रोटेगोरस** में, एथेंस के संबंध में जो उदार निर्णय दिया गया है, वह बड़े मार्के का है—खासकर जब हम उसकी गॉर्जियाज़ के कठोर निर्णय से तुलना करते हैं। इस संबंध में हमें दो बातें याद रखनी हैं। पहली तो यह कि प्लेटो प्रोटेगोरस के विचार बयान कर रहा है और दूसरी यह कि अपने वक्तव्य के अनुसार ही प्रोटेगोरस पक्ष-विशेष की वकालत कर रहा है और अपने निजी विचार नहीं, बल्कि सामान्य विचार प्रकट कर रहा है (329 A : 352 B)।

के प्रवचन में प्रबल सम्मोहन है, फिर भी प्लेटो सात्रेटीज़ के मुख से उसका खंडन करवाता है। प्रोटेगोरस की यह धारणा ग़लत है कि राजनीति-कला अन्य कलाओं से इस अर्थ में भिन्न है कि वह सबकी साझी संपत्ति है और उसका समाज के सामान्य जीवन में सहज रीति से प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। प्रोटेगोरस की यह मान्यता भी ग़लत है कि इस कला की सबसे ऊँची सिद्धि एक ऐसी सहज वृत्ति में है जिसका न तो कोई हिसाब लगाया जा सकता है और न जिसका ज्ञान दूसरों को दिया जा सकता है। अन्य कलाओं की भाँति राजनीति-कला भी केवल कुछ ही लोगों की संपदा होनी है और उसके लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। और-और कलाओं के उत्कृष्ट साधकों की भाँति राजनीति-कला के उत्कृष्ट साधकों में भी विवेक-पुष्ट और संप्रेषणीय कौशल होना चाहिए। राजनीति ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें जनता की सहज वृत्ति या राजमर्मज्ञ की अंतः प्रज्ञा से ही काम चल जाए। राज्य जन्मजात राजमर्मज्ञ की दैवी अनुकंपा का सहारा होने पर भी सिर्फ़ सामान्य ज्ञान या (अज्ञान) के सहारे ही नहीं टिका रह सकता, उसके लिए दार्शनिक ज्ञान की और प्रशिक्षित शासक की आवश्यकता होती है और यदि राज्य में प्रशिक्षण-व्यवस्था हो, तो वह उस पर हमेशा और पूरा-पूरा भरोसा कर सकता है। प्रोटेगोरस ने राजनीति-कला को सद्गुण से अभिन्न माना है और उसका विचार है कि सद्गुण की शिक्षा दी जा सकती है और यह सच है कि उसकी यह बात ठीक है। लेकिन, सद्गुण कहीं अधिक दुर्गम चीज़ है और प्रोटेगोरस उसके लिए जितनी शिक्षा आवश्यक समझता है उससे कहीं अधिक गंभीर शिक्षा की आवश्यकता होती है। पूर्ण सद्गुण गुणों का ऐसा समूह नहीं है कि उसमें सभी लोग अपने-अपने ढंग से योग दे सकें। वह ता, एक और अखंड चीज़ है और सात्रेटीज़ ने सद्गुण के एकत्व के विवेचन से यह सिद्ध कर दिया है कि पूर्ण सद्गुण और ज्ञान अभिन्न हैं। पूर्ण सद्गुण पूर्ण ज्ञान है, वह संसार का और संसार में मनुष्य के स्थान का पूर्ण बोध है; और, इसीलिए, उस तक केवल कुछ थोड़े से लोगों की पहुँच हो सकती है। परंतु चूँकि सद्गुण ज्ञान-रूप है, अतः उसकी शिक्षा दी जा सकती है और प्रोटेगोरस का जो आशय रहा होगा उससे कहीं ज्यादा सच्चे अर्थों में दी जा सकती है। उसकी शिक्षा हर साधन के द्वारा दी जा सकती है और उसकी पूरी-पूरी शिक्षा उन सारे साधनों द्वारा दी जा सकती है जिनसे लोगों को दुनिया का पूर्ण बोध होता है। सात्रेटीज़ अपनी दृष्टि सद्गुण की उन अनेक अवस्थाओं पर नहीं जमाता जिनका एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं होता और जिनका बहुत ही अस्पष्ट बोध होता है; दंड, शिक्षा, विधि और सामाजिक प्रभाव की साधारण रीतियों द्वारा जो विवेक की अपेक्षा सहज वृत्ति को अधिक प्रभावित करती हैं—व्यावहारिक रूप से मन में उनकी जो अनिश्चित-सी प्रतिष्ठा की जाती है—उस पर भी वह अपना ध्यान केंद्रित नहीं करता। उसकी दृष्टि तो जमती है एक और अखंड सद्गुण पर जो पूर्ण आत्मज्ञान होने के नाते, पूर्ण आत्म-प्रभुत्व भी होता है; उस सद्गुण पर जो पूर्ण शिक्षा की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सीखा जा सकता है; इस पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य होता है संसार का पूर्ण ज्ञान; उसके आधार पर मनुष्य का पूर्ण ज्ञान और उसकी योजना में मनुष्य के स्थान का पूर्ण ज्ञान।

प्लेटो ने गॉर्जियाज़ में राजनीतिक प्रश्नों का जिस गहराई और प्रखरता के साथ विवेचन किया है, वैसा आरंभ के और किसी संवाद में नहीं किया। गॉर्जियाज़ भाषण-कला का ग्रंथ है; इसका नामकरण एथेंस में भाषण-कला के प्रथम आचार्य गॉर्जियाज़ के नाम पर ही हुआ है। हमें संवाद से जो जानकारी मिलती है, उसके अनुसार भाषण-कला में प्लेटो की दिलचस्पी दोहरी थी। इसका कुछ कारण तो यह है कि वह इस कला को शिक्षा का साधन मानता है और कुछ यह कि भाषण-कला के उपयोग द्वारा पद और प्रभाव दोनों प्राप्त किए जा सकते हैं। शिक्षा-पद्धति के रूप में एथेंस में भाषण-कला जिस ढँग से सिखाई जाती थी, उसमें रूप-विधान और शैली का ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक भाषण की विषय-वस्तु और नीति का भी विवेचन होता था। ईसोक्रेटीज़ के विद्यालय के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे इस कला की शिक्षा के क्षेत्र का पता चल सकता है और हमें याद रखना है कि ईसोक्रेटीज़ ने अपने विद्यालय की स्थापना चौथी शताब्दी के पहले दशक में की थी और जब प्लेटो ने गॉर्जियाज़ की रचना की थी, तब शायद वह पहले से ही चालू था[1]। अगर कोई और विद्या परम ज्ञान के पद पर दर्शन की प्रतिष्ठा को चुनौती देने का दम भर सकती थी, या जीवन और जगत के निर्देश में उसकी होड़ का दावा कर सकती थी तो वह भाषण-कला ही थी जो लोगों को राजनीति की शिक्षा देने का, उन्हें कर्म में निपुण तथा वाणी में कुशल बनाने का ऐलान करती थी। अस्तु, भाषण-कला के शिक्षक के मुकाबले दर्शन के शिक्षक की महत्ता तो सिद्ध करनी ही थी, साथ ही एथेंस की वास्तविक राजनीति में वक्ता-राजमर्मज्ञ की तुलना में दार्शनिक-राजमर्मज्ञ की प्रतिष्ठा की भी रक्षा करनी थी। भाषण-कला एथेंस के संविधान और उसके जीवन की जड़ों में धँसी हुई थी—कुछ हद तक लोक-न्यायालयों में उसका बोलबाला था, और लोक-न्यायालयों से भी अधिक वहाँ की लोक सभा में था। राज्य में इस सभा की शक्ति सबसे अधिक थी; अतः जो वक्ता सभा के निर्णयों पर सबसे ज्यादा असर डाल सकता था, और उन पर अपना नियंत्रण रख सकता था; स्वभावतः राजनीतिक प्रभाव और शक्ति उसी के हाथ में केंद्रित हो जाती थी। आधुनिक राज्यों की प्रतिनिधि सभाओं में सार्वजनिक भाषण-कला के लिए बड़ी भारी गुंजाइश रहती है। इन सभाओं में तर्कसिद्ध वक्ता भाषणों के ज्वार पर चढ़ कर पद की सिद्धि तक पहुँचता है। पर एथेंस में तो उसके लिए इन आधुनिक राज्यों से भी कहीं व्यापक क्षेत्र था। आज की प्रतिनिधि-सभा में वक्ता को प्रतिनिधियों की सजग आलोचना-बुद्धि का परितोष करना पड़ता है—ये प्रतिनिधि निरंतर अधिवेशनों में मौजूद रहते हैं और स्वयं निरंतर काम-काज का संचालन करते हैं। एथेनी सभा में वक्ता का काम कहीं अधिक सुगम था। उसे अपनी श्रोता-मंडली पर जिसमें साधारण

---

[1] कुछ भी हो; ऐसे भाषण-शास्त्री उस समय अवश्य ही विद्यमान थ, जो दूसरे वक्ताओं के लिए भाषण लिख देते थे। **यूथीडिमस** (289 D—290 A) में प्लेटो ने उनकी 'अति-बुद्धिमत्ता' की सराहना की है और कहा है कि किसी समय मुझे यह आशा थी कि जिस सच्चे विज्ञान अथवा परम ज्ञान की तलाश में मैं भटकता रहा हूँ, वह शायद मुझे उनकी कला में मिल जाए।

लोग होते थे, मोहिनी डालनी होती थी और इन लोगों की सहज प्रतिभा या राजनीतिक अनुभव कैसा भी होता, उनमें प्रभावशाली भाषण से बेहद प्रभावित हो जाने की प्रवृत्ति थी। अनौपचारिक 'जननायक' की स्थिति और प्रतिष्ठा का आधार था—सभा पर उसका प्रभाव यद्यपि पेरीक्लीज़ की औपचारिक स्थिति सेनापति की थी पर वास्तव में उसके प्रभाव का कारण बहुत हद तक उसकी वक्तृत्व-शक्ति थी और यह तथ्य कि "वक्ताओं में वही एक ऐसा वक्ता था जो श्रोताओं के मन में दंश की अनुभूति छोड़ देता था"। **यूथीडिमस** में—और फिर **पॉलिटिकस** में—प्लेटो ने वक्ता को सच्चे राजमर्मज्ञों का विकट प्रतिद्वंद्वी माना है और यह दिखाने का भी पूरा प्रयत्न किया है कि उन दोनों में क्या भेद है। यह स्वाभाविक ही है कि वह भाषण-कला के मूल सिद्धांतों और उसके असली महत्त्व का विवेचन करने के लिए एक पृथक् संवाद की रचना करता और उसने **गॉर्जियाज़** में यही किया है। यह भी स्वाभाविक है कि उसने इस संवाद में भाषण-कला के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाया, वह बहुत ही प्रतिकूल होता; और इस दृष्टिकोण से एथेनी संस्थाओं के बारे में लिखते समय वह **मीनो** और **प्रोटेगोरस** की अपेक्षा उनकी बहुत ही कड़ी निंदा करता[1]।

गॉर्जियाज़ में भाषण-कला के बारे में सामान्य दृष्टिकोण यह है कि इसमें कला के दो वर्ग माने गए हैं—मनुष्य की आत्मा से संबंधित कलाएं और शरीर से संबंधित कलाएं। कहते हैं कि आत्मा की भी एक कला होती है जिसका लक्ष्य होता है : आत्मा का स्वास्थ्य। और इस कला के—जो राजनीति की कला है—दो भाग हैं : एक विधायी और दूसरा न्यायिक। इसी तरह शरीर की भी एक कला होती है जिसका लक्ष्य होता है—शरीर का स्वास्थ्य। इसका एक भाग है व्यायाम और दूसरा चिकित्सा। व्यायाम स्वस्थ शरीर के विकास और क्रिया का नियमन करता है और चिकित्सा का कार्य है—रोगों का उपचार। विधान-कार्य व्यायाम की तरह है और न्याय-कार्य

---

[1] गॉर्जियाज़ का स्वर बहुत कटु है—इतना कटु कि उसमें कुछ सनकीपन सा आ गया है। स्वर की इस कटुता का एक और कारण 399 में सार्क्रेटीज़ के प्राणदंड की स्मृति है। इससे कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि यह संवाद इसके शीघ्र बाद ही लिखा गया होगा। डब्ल्यू० एच० टॉमसन ने अपने संस्करण (XXXI, XXXV—XXXVI) में इसका रचना-काल 395 के आस-पास निर्धारित किया है—इस आधार पर कि ग्रंथ के स्वर से लगता है मानो प्लेटो के मन में सार्क्रेटीज़ के प्राणदंड की याद अभी ताज़ी थी। लेकिन, अन्य अनेक ऐसे कारण हैं, जिनसे संकेत मिलता है कि उसकी रचना बाद में, शायद 390 के आस-पास हुई थी। इनमें से एक विशेष कारण यह है कि रिपब्लिक से उसका बहुत ही सादृश्य और निकट संबंध है। गंपर्ज़ ने यही रचना-काल स्वीकार किया है और कहा है (पू० क्र०, II. 355) कि सार्क्रेटीज़ की मृत्यु से प्लेटो के मन में जो गहरा रोष उत्पन्न हुआ था, वह उस समय दो कारणों से फिर जाग गया था। पहला कारण तो यह था कि उस समय एथेंस की राजनीति में उस दल की तूती बोलने लगी थी जिसमें सार्क्रेटीज़ का अभियोक्ता एनीटस भी था; और दूसरा यह कि 392 में पोलीक्रेटीज़ की वह पुस्तिका प्रकाशित हो गई थी जिसमें सार्क्रेटीज़ और उसके शिष्यों पर कीचड़ उछाला गया था।

चिकित्सा की। ये सब सच्ची कलाएँ हैं और इस नाते उनकी दो विशेषताएँ हैं : वे वैज्ञानिक हैं और सिद्धांतों पर आधारित हैं; और उनका लक्ष्य होता है उन चीज़ों का सुधार और लाभ जिनसे उनका सरोकार हो। लेकिन, कुछ झूठी कलाएँ भी हैं जो केवल आनुभविक (empiric) हैं, जिनका जन्म सिर्फ़ अनुभव से या अभ्यास से होता है और जिनका उद्देश्य केवल आनंद देना और इंद्रियों को तृप्त करना होता है। इस तरह के कपड़े पहनना कि शरीर स्वस्थ लगे, छल है, धोखा है और वह व्यायाम की जगह हथिया लेता है; पाकशास्त्र—जिसमें शरीर के स्वास्थ्य की चिंता का दिखावा हो—एक तरह का कपट है जो चिकित्सा का रूप ले लेता है। वेश-भूषा का व्यायाम से जो संबंध है, वही संबंध कुतर्क का विधान से है; पाकशास्त्र का चिकित्सा से जो संबंध है, वही संबंध भाषण-कला का न्याय से है (466 B—466 A)। कुतर्क आत्मा के परिवर्धन और कार्य-कलाप का नियमन करने के लिए झूठे सिद्धांतों को जन्म देता है; भाषण-कला बुरी बात को अच्छी दिखा कर अन्याय के उपचार का दंभ करती है। इस प्रकार, महान् भाषण-शास्त्री गॉर्जियाज़ की कला नीम-हकीम का दंभ बन कर रह जाती है; और सोफ़िस्ट सामान्य रूप से जिस वक्तृत्व-कला की शिक्षा देते थे, और जिसकी वे राजनीति-कला का सार समझ कर इज्ज़त करते थे, वह उस कला के सच्चे न्याय-पक्ष की छाया भर, एक 'धोखा' भर प्रमाणित कर दी जाती है। भाषण-कला के इस झूठे स्वरूप के मूल में कुतर्क के झूठे सिद्धांत हैं। भाषण-कला और कुतर्क में भेद किया जा सकता है, लेकिन दोनों में बहुत निकटता है। भाषण-कला में वे सिद्धांत प्रच्छन्न रहते हैं, जिन्हें कुतर्क प्रकट रूप से सिखाता है[1]। जो वक्ता केवल इसलिए कोरे वक्तृत्व की सराहना करता है और दूसरों को भी उसकी सराहना करना सिखाता है कि उसके प्रताप से बुरी बात को भी अच्छा करके दिखाया जा सकता है, वह इस सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है और इस सिद्धांत को दूसरों के मन में भी जमाता है कि आत्मा का लक्ष्य और प्रयत्न भौतिक सफलता है—किसी भी तरह से और किन्हीं भी साधनों से। वक्तृत्व-कला के सिद्धांत का शिक्षक और उस का व्यवहार करने वाला राजमर्मज्ञ—जो पद पाने के लिए अपनी वक्तृत्व-शक्ति का प्रयोग करता है—दोनों शक्ति के एक जैसे उपासक हैं। दोनों का सचमुच यह विश्वास होता है कि सफलता ही सब कुछ है। दोनों सचमुच समझते हैं कि शक्ति, शक्ति की चेतना और शक्ति का उपयोग कर सकने का संतोष—बस ये ही ऐसी चीज़ें हैं, जिन का महत्त्व है।

जब प्लेटो वक्तृत्व-कला में निहित सिद्धांत को समझा चुकता है, तब वह उस की सचाई और उसके महत्त्व का विवेचन करने लगता है। वह स्वयं वक्तृत्व-कला को तो छोड़ देता है, परंतु उसके मूल में विद्यमान दर्शन की चर्चा छेड़ देता है। संवाद

---

[1] कुतर्क (sophistry) का अर्थ है—घर अथवा नगर के प्रबंध के बारे में लोगों का सामान्य प्रशिक्षण; भाषण-कला का अर्थ है—न्यायालयों अथवा राज-नीतिक सभा में भाषण देने की कला का विशिष्ट प्रशिक्षण। किंतु, अंग बहुत कुछ अंगी से मिलता है। वे एक ही व्यक्ति में आकर मिल जाते हैं और उन का एक-सी चीजों से संबंध रहता है (466 C): वक्ता और कुतर्की एक ही या करीब-करीब एक हैं (520 A)।

के दो पात्रों से बारी-बारी से इस दर्शन का समर्थन कराया गया है। इनमें से पहला पात्र पोलस इस सिद्धांत को मानता और सराहता है कि चाहे सफलता जैसे भी प्राप्त की जाए, असली महत्त्व इसी का है। लेकिन, उसमें इतनी रूढ़िप्रियता जरूर है कि वह अपने आपको यह मानने के लिए लाचार पाता है कि जो सफलता अन्याय के मोल मिलती है, वह निंदनीय होती है। दूसरा पात्र कैलीक्लीज़ अधिक उग्र है। उसकी आस्था इस सिद्धांत में है कि विजय उसी की होनी चाहिए जो सबसे बलवान हो और जो सबसे बलवान हो उसे अपना सारा बल विजय पाने के लिए लगा देना चाहिए। उसका यह भी विश्वास है कि यदि लोग अपने फिलस्तीनवाद (Philistinism) को और सम्मान्यता की रूढ़िबद्ध उपासना को छोड़ दें; तो फिर सफलता की निर्मम साधना में बदनामी की कोई बात नहीं रह जाएगी। यह प्रकृति का नियम है; और यह स्वाभाविक है कि रूढ़िगत विधि-निषेधों का कितना ही उल्लंघन क्यों न होता हो प्रकृति के नियम का पालन करना निंदनीय कभी नहीं हो सकता।

पोलस के विचार से वक्ता अत्याचारी शासक की स्पृहणीय स्थिति में होता है। लोकतंत्रात्मक संविधान-रूप के अधीन वह करीब-करीब अत्याचारी शासक बन जाता है और अपनी मर्ज़ी के मुताबिक लोगों को प्राणदंड दे सकता है, भिखारी बना सकता है या देश-निकाला दे सकता है: संक्षेप में, 'जो चाहे' सो कर सकता है (466 B—E)। इसके फलस्वरूप प्लेटो जिज्ञासा करता है कि 'जो चाहे सो' करने का स्वरूप क्या है और 'जो चाहे सो करने' और 'जो चाहे सो पाने' में क्या अंतर है। लोग वास्तव में जो काम करते हैं, वे उन्हें पसंद नहीं होते—उन्हें तो वह साध्य या प्रयोजन प्रिय होता है जिसके लिए वे उन सब कामों को करते हैं। जब वे दवा लेते हैं, तब उन्हें दवा लेना अच्छा नहीं लगता; वे तो अपना स्वास्थ्य सुधारना चाहते हैं। अतः यह संभव है कि आदमी जो चाहे सो काम करे, फिर भी वह जो चाहे उसे न पा सके। अत्याचारी शासक अथवा वक्ता मार सकता है या देश-निकाला दे सकता है—और फिर भी हो सकता है वह अपनी इच्छा-पूर्ति में असफल ही रहे। इस तर्क के पीछे यह दृष्टिकोण है कि ग़लत काम अपनी मर्ज़ी से नहीं किए जाते, लोग हमेशा कुछ अच्छा चाहते हैं और यदि वे जो काम करते हैं वह बुरा हो तो इसका मतलब यह है कि वास्तव में वे जो चाहते हैं उसकी उन्हें सिद्धि नहीं होती, और इसी अर्थ में उनका बुरा काम अपनी मर्ज़ी से किया हुआ नहीं होता[1]। लेकिन यह तर्क पोलस को नहीं बदल

---

[1] 509 E में जब प्लेटो इस तर्क को संक्षेप में दुहराता है, तब उसका यह निष्कर्ष है: "हमने यह माना था कि अपनी इच्छा से कोई भी अन्याय नहीं करता; जो भी लोग अन्याय करते हैं, अनिच्छा से करते है"। प्लेटो ने बार-बार कहा है कि लोग अपनी इच्छा से ग़लत काम नहीं करते। इसी विषय पर लॉज़ में उसने एक बार फिर विचार किया है। गॉर्जियाज़ की भाँति यहाँ भी उसका निष्कर्ष यही है कि अपराध आध्यात्मिक रोग है। यहाँ भी प्लेटो ने अपराध को दंड के एक सिद्धांत के साथ जोड़ दिया है जिससे उसका स्वर सुधारपरक हो गया है। संक्षेप में, प्लेटो का तर्क यह है कि अनुचित काम इच्छा के विरुद्ध होता है क्योंकि इच्छा सदा अच्छाई की और सुख पाने की ओर प्रवृत्त होती है और अच्छाई से ही सुख मिल सकता है। यदि लोग ऐसा

पाता। जो व्यक्ति राज्य में अपनी मनमानी कर सकता हो—भले ही अत्याचारी शासक की भाँति वह अन्याय के रास्ते पर चलकर सिंहासन तक पहुँचा हो—उसके प्रति डाह की प्रवृत्ति पोलस के मन में अब भी है। उसका तर्क है कि यदि अन्याय करना निंदनीय हो तो भी अंततः उससे न तो अन्यायी का कोई आंतरिक अपकार होता है, न उसे कोई नुकसान ही पहुँचता है (474 D)। प्लेटो का उत्तर है कि अन्याय से अवश्य ही नुकसान पहुँचता है और चूंकि उससे नुकसान पहुँचता है, अतः उससे अपमान ही होता है। यहाँ जिस सिद्धांत की स्थापना की गई है, वही रिपब्लिक का भी मूल आधार[1] है—न्यायी आदमी जितना सुखी और जितनी सुदशा में होता है, क्या अन्यायी को कभी उतना सुखी और उतनी सुदशा में कहा जा सकता है? अगर सारे कपटवेश को और सारे आवरणों को उतार कर भीतर झाँक कर देखा जाए—जैसा कि अंतिम निर्णय के समय किया जाएगा—तो क्या वह बुराई और वेदना से ओतप्रोत नहीं होगा? गॉर्जियाज़ में कहा गया है कि अन्याय[1] सदा दुःखदायी होता है और उस समय सबसे अधिक दुःखदायी होता है जब उसके लिए कोई दंड न मिले और उसका कोई उपचार न हो। अन्याय उस समय सबसे कम दुःखदायी होता है—हालांकि रहता वह तब भी दुःखदायी है—जब उसका दंड मिल जाए और उपचार हो जाए (472 E)। जिस प्रकार रोग शरीर का कष्ट है, उसी प्रकार अन्याय आत्मा का। वह कष्ट इसलिए होता है कि उसका अर्थ होता है—आत्मा की रुग्णावस्था जिसमें स्वास्थ्य के संतुलन और व्यवस्था[2] का लोप हो जाता है (504 B) और उनकी जगह अस्थिरता और अव्यवस्था आ जमते हैं। बिना किसी परिचर्या के, बिना

काम करना चाहते हैं, जो अच्छाई के प्रतिकूल हो, तो इसका मतलब है कि वे ऐसा काम करना चाह रहे हैं जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल है। यह रोग की अवस्था है और यह ज़रूरी है कि इसका दंड के द्वारा उपचार और सुधार किया जाए। यह सिद्धांत लॉज़ में जिस रूप में विकसित हुआ है, मैंने उसी रूप में उसका विस्तार से विवेचन करने का प्रयास किया है। आगे अध्याय 16 (क)।

[1] अन्याय का अर्थ है अनीति या यदि और सही बात कही जाए तो सामाजिक अनीति (क्योंकि प्लेटो का न्याय सामाजिक नीतिपरायणता का पर्याय है)। दूसरे शब्दों में जिस सामाजिक नीति-विधान पर कोई समाज निर्भर हो, उस का पालन न करना ही अन्याय है।

[2] इस वाक्यांश में रिपब्लिक के इस समूचे सिद्धांत का संकेत मिल जाता है कि न्याय आत्मा के तत्त्वों की सही 'व्यवस्था' और उन तत्त्वों के संबंधों की सही पद्धति है। हो सकता है यह दृष्टिकोण अंततः पायथागोरस का हो (आगे अध्याय 8 (घ))। गॉर्जियाज़ के अवतरण (507 E–508 A) में तो निश्चय ही प्लेटो इस दृष्टिकोण को पायथागोरस के विचार के साथ जोड़ता प्रतीत होता है (पीछे पृ० 70, टि० 1 से तुलना कीजिए)। लॉज़ तथा पॉलिटिकस (आगे अध्याय 12 (ङ)) की भांति यहाँ भी उसने कहा है कि ज्ञानियों के कथनानुसार 'व्यवस्था' का एक ही सिद्धांत धरती और आकाश में मनुष्यों और देवताओं में व्याप्त है और वह उन्हें मित्रता और साहचर्य, संयम और न्याय के सूत्र में बाँधे हुए है। इसी कारण विश्व का नाम ,Cosmos' (सृष्टि) पड़ा है। सब वस्तुओं के 'दिव्य सामंजस्य' का यह विचार निश्चित रूप से पायथागोरस का है।

किसी इलाज के इस रोग में पड़े रहना कष्ट की चरम सीमा है। दंड की कटु औषध के द्वारा इससे छुटकारा पाने का यह अर्थ हो सकता है कि शरीर को कुछ कष्ट मिले। पर, इससे आत्मा का उन्नयन भी होता है और फलतः उसे सुख मिलता है। अतः दंड देना भलाई करना है, लाभ पहुँचाना है; और इससे भी अधिक है—वह सबसे बड़ी भलाई करना और सबसे बड़ा लाभ पहुँचाना है। धनोपार्जन लोगों को सांसारिक पदार्थों के अभाव से मुक्त कर सकता है; चिकित्सा उन्हें शरीर के रोग से मुक्त कर सकती है; न्याय उनके मन की कालिख हर लेता है और उन्हें सबसे अधिक सहायता पहुँचाता है—वह उन्हें उनकी सबसे विकट बुराई से छुटकारा दिलाता है। यदि यह बात है और यदि इस तरह दंड सुधार का ही पर्याय है, तो उस वक्ता के बारे में क्या कहा जाए जो न्यायालय में अपने मुवक्किलों को दुष्टता से मुक्ति दिलाने के लिए नहीं बल्कि दंड से बचाने के लिए अपनी भाषण-कला का उपयोग करता है। वह अपनी कला का उपयोग लोगों को दंड के लाभ से वंचित रखने के लिए करता है, वह अपनी कला के प्रभाव से लोगों को अपराध की यातना के कीचड़ में डुबाए रखता है। वह मानव-जाति का शत्रु है—या, कम से कम, शत्रु का हिमायती अवश्य है। समझदार वे लोग हैं जो उसकी सेवाओं का लाभ नहीं उठाना चाहते बल्कि अपने आप, अपनी मर्ज़ी से, ऐसी जगह पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें जल्दी से जल्दी दंड मिल जाए। उनका अन्याय-रूपी रोग कहीं जड़ न जमा ले, उनकी आत्माएँ कहीं पूरी तरह अस्वस्थ और असाध्य रोगग्रस्त न हो जाएँ—इस संभावना से बचने के लिए वे सीधे न्यायाधीश के पास चले जाते हैं, जैसे कोई बीमार चिकित्सक के पास जाता है (580 A)।

पोलस के विरुद्ध तर्क की जो परिणति हुई उसमें भाषण-कला की—उसे संकुचित और विशिष्ट अर्थ में वकालत की तर्काश्रयी कला मानकर—अंतिम रूप में गर्हणा की गई है। यह कला न्यायालय में अच्छी बात को बुरा करके दिखा देती है। घिसे-पिटे सूत्रों में बँधी हुई और छल-कपट से पूर्ण यह कला न्याय की उस सच्ची कला की जगह ले लेती है जिसका आधार होता है—आत्मा का सच्चा ज्ञान और लक्ष्य आत्मा का सच्चा उत्कर्ष। उसकी तुलना में इस झूठी कला का अपने श्रोता के परितोष से बड़ा और कोई साध्य नहीं होता। लेकिन, हमें वक्तृत्व-कला के एक रूप पर अभी और विचार करना है। वह है राजनीतिक वक्तृत्व कला। इस कला का उपयोग न्यायालय में नहीं, सभा में होता है और इसका उद्देश्य व्यक्तियों के मामलों को साधना-सँवारना नहीं, राजकाज का संचालन करना होता है। इस पर विचार करना असल में भाषण-कला पर नहीं, बल्कि कुतर्क-कला पर विचार करना है—और यह तो हम देख ही चुके हैं कि दोनों के बीच का फ़ासला बहुत थोड़ा है। कुतर्क-कला छल-कपट से सच्ची विधान-कला की जगह हथिया लेती है और शासन-संचालन के लिए झूठे सिद्धांत निर्धारित करने की कोशिश करती है। कुतर्क-कला और राजनीतिक वक्तृत्व-कला मूलतः एक दूसरे से अभिन्न हैं और यदि हम राजनीतिक वक्तृत्व-कला के महत्त्व को समझना चाहें, तो हमें कुतुर्क-कला के सिद्धांतों को समझ लेना होगा—उनके उग्रतम रूप को सामने रखकर उन्हें समझ लेना होगा। पोलस ने अपने असली सिद्धांतों पर शालीनता का जो परदा डाल रखा था, वह परदा हमें फाड़ डालना

होगा और बिना किसी दुराव-छिपाव के, नग्न और निरावृत्त सत्य का साक्षात्कार करना होगा।

तर्क का यह नया दौर कैलीक्लीज़ के आगे आ पहुँचने से शुरू होता है (481 B)। कैलीक्लीज़ एक राजममंज्ञ है, उसने अभी-अभी राजनीतिक कामों में भाग लेना शुरू किया है (555 A)। वह सभा में भाषण देता है और वक्तृत्व-कला का प्रयोग करता है (500 C)। फिर, उसे वक्तृत्व-कला के सिद्धांतों की शिक्षा भी मिली है और, अंतिम बात यह है कि, वह बेहद खरा आदमी है और हर चीज़ को उसके 'यथार्थ रूप में' देखने के लिये वह एकदम तत्पर रहता है। साक्रेटीज़ के विरुद्ध उसकी यह शिकायत है कि पोलस का खंडन करने के लिये उसने अभी जो तर्कश्रृंखला प्रस्तुत की है, उसमें वास्तविक तथ्यों को एकदम भुला दिया गया है। यह तर्क तो उस उल्टी दुनिया का है जिसमें सभी सच्चे मूल्यों का आमूल विपर्यय हो गया है। यदि कोई तथ्यों की ओर ध्यान दे, तो वह प्रकृति के विधान का अनुसरण करेगा और रूढ़ि को जहन्नुम में जाने देगा। रूढ़ि का निर्माण बहुमत करता है जो "अपने आपको केंद्र में रखकर और अपने स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए विधियाँ बनाता है और यथासुविधा किसी की सराहना करता है, किसी की निंदा" (483 B)। प्रकृति स्वयं हमें बताती है कि "न्याय यह है कि जो बेहतर हो वह बदतर से और जो सबल हो वह निर्बल से अधिक पाए" (483 C)। साधारण जीवन में सबल निर्बलों के अत्याचार से दबे रहते हैं—जैसे सिंहशावक किसी की वाणी के सम्मोहन से स्तब्ध रह जाते हों, लेकिन "जिस आदमी में पर्याप्त प्राकृतिक प्रचण्डता होगी, वह उन सारे सूत्रों को, सारे मंत्रों, सम्मोहनों और विधियों को जो प्रकृति के नियम के विरुद्ध हों, पैरों तले कुचल डालेगा, दास विद्रोह करके हमारा स्वामी बन जाएगा और प्राकृतिक न्याय का आलोक अंधकार की छाती को चीर कर फूट पड़ेगा" (484 A)। यही वास्तविक सत्य है; और यदि साक्रेटीज़ दर्शन को त्याग कर उससे ऊँची चीज़ों की ओर ध्यान दे, तो वह इस सत्य को तुरंत पहचान लेगा (484 C)। दर्शन तरुणों के लिये उनकी शिक्षा के अंग के रूप में ठीक है; प्रौढ़ लोगों के लिये या व्यावहारिक मामले सहेजने में उसका कोई महत्त्व नहीं। प्रौढ़ लोग कठोर अनुभव से जान पाते हैं कि उनका पाला कैसी दुर्दम शक्तियों से पड़ता है : व्यावहारिक मामलों में दार्शनिक के ज्ञान से काम नहीं चलता—वह तो अयथार्थ अमूर्त्त विचारों का ज्ञान मात्र होता है; वहाँ तो काम चलता है सीधे निष्ठुर बल और शक्ति से।

परम ज्ञान और राजनीति के निमित्त वैज्ञानिक प्रशिक्षण के विचारों तथा साक्रेटीज़ के शेष सिद्धांत के बारे में यही कैलीक्लीज़ का उत्तर है। हम पहले ही देख चुके हैं कि कैलीक्लीज़ का यह दृष्टिकोण कैसे बना और उसने किस तरह कुछ तो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में और कुछ पशु-जगत में अपने दृष्टिकोण के लिए आधार खोज निकालने की कोशिश की (पीछे अध्याय 3, पृ० 95-99)। अब देखना यह है कि इतनी सीधी और इतनी सशक्त आलोचना का प्लेटो क्या उत्तर देता है। यह उत्तर कैलीक्लीज़ के लिए ही उसका उत्तर नहीं है; उसमें उसके सिद्धांत का और स्पष्टीकरण भी निहित

है। प्लेटो का तर्क है कि यदि हम यह सिद्धांत स्वीकार कर लें कि शक्ति ही इस बात की कसौटी है कि न्याय क्या है और श्रेयस्कर क्या है, तो फिर यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुत, जो सामूहिक रूप से थोड़ों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं, सामूहिक रूप से अधिक अच्छे भी होते हैं और तर्कशृंखला को आगे बढ़ाएँ तो इसी आधार पर यह भी निष्कर्ष निकलता है कि अधिक शक्तिशाली होने के नाते उन्हीं का दृष्टिकोण अधिक अच्छा भी है। परंतु, उनके दृष्टिकोण के अनुसार समानता असमानता से अच्छी है और अन्याय करने की अपेक्षा अन्याय सहना ज्यादा अच्छा है; और अपने सिद्धांत को ही आधार मानें तो कैलीक्लीज़ को ये सिद्धांत स्वीकार करने होंगे (488 C—489 B))। इस अनिवार्यता से बचने के लिए वह अपना पैंतरा बदलता है। पहले के तर्क में शक्ति के अधिकार का मतलब था—संख्या का अधिकार। उसकी जगह अब वह उसका मतलब करता है—गुण का अधिकार; और अब वह यह संशोधित सूत्र अपनाता है कि जो लोग अधिक गुणी हैं यानी जिनके पास अधिक ज्ञान है, उन्हीं के हाथ में सत्ता रहनी चाहिए। यह ऐसा सूत्र है जिस पर प्लेटो को स्वभावतः कोई आपत्ति नहीं है; शर्त यह है कि इसे अभिजात-तंत्रीय अर्थ में नहीं, प्लेटो के अर्थ में ग्रहण किया जाए यानी यहां अधिक अच्छा का अर्थ हो नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा; और अधिक ज्ञानवान् का अर्थ हो दार्शनिक ज्ञान की दृष्टि से अधिक ज्ञानवान्। इसमें एक और शर्त है—सूत्र से संकेत मिलता है कि अधिक ज्ञानी व्यक्ति को शासन करने का अधिकार (अथवा कर्त्तव्य) है; उसे अपने शासन द्वारा लाभ अर्जित करने का अधिकार नहीं है। इन शर्त्तों को एक दृष्टांत के रूप में व्यक्त किया गया है। यदि खाने का एक ढेर हो और उसे बाँटा जाना हो, तो निश्चित है कि हम बांटने का यह काम सबसे योग्य व्यक्ति को सौंपेंगे; लेकिन सबसे योग्य व्यक्ति होगा एक चिकित्सक जिसे हमारे शरीरों की और उनकी आवश्यकताओं की भी कुछ जानकारी हो। पर इसका यह नतीजा नहीं निकलना चाहिए कि चूंकि उसे खाना बांटने का अधिकार है, अतः वह स्वयं औरों से ज्यादा हिस्सा ले (489 B—491 A)। पर कैलीक्लीज़ को इन दोनों शर्त्तों पर आपत्ति है। उसका स्पष्टीकरण है कि जब मैंने अधिक ज्ञानवान कहा, तब मेरा अर्थ केवल अधिक ज्ञानवान् व्यक्ति से न था; मेरा मतलब तो एक ऐसे व्यक्ति से था जिसमें अधिक पौरुष हो और जो अधिक चरित्र-बल से संपन्न हो; और जब मैंने सत्ता धारण करने की चर्चा की थी, तब मेरा मंशा सिर्फ यह न था कि चरित्र-बल से युक्त बौद्धिक शक्ति का शासन हो, बल्कि यह भी था कि शासन के द्वारा उस शक्ति का लाभ भी हो। खाने का ढेर खाने का ढेर भर है, पर राज्य तो राज्य है; और कोई भी व्यक्ति तब तक राज-काज को अपने हाथ में नहीं लेगा जब तक कि यह काम उसके लायक

---

1. यहां प्लेटो वही दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहता है—जो रिपब्लिक के आरंभ में भी व्यक्त हुआ है—कि कला का प्रत्येक साधक अपने निजी लाभ के लिए नहीं, अपने कला-विषय के लाभ के लिए काम करता है। यदि वह अपने निजी लाभ के लिए भी काम करे, तो वह एक और, अतिरिक्त कला की साधना करता है—वह अपने कौशल का किराया वसूल करता है ताकि उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके।

न हो और उससे उसे निजी लाभ न हो।[1] प्लेटो का जवाब है कि यह तो असल में सुखवाद का सिद्धांत हुआ। निजी लाभ का असली अर्थ है निजी सुख; मुनाफे को अपना उद्देश्य बना लेने का अर्थ है—सुख के लिए जीना। कैलीक्लीज़ इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए और सुखवाद के सिद्धांत के पक्ष में भरसक बिना लाग-लपेट के आग्रह करने के लिए तैयार है। आत्म-संयम किसी भी काम का सद्गुण नहीं। जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग यह है कि आप अपनी तृष्णाओं को बढ़ने दें—यहां तक कि बढ़ते-बढ़ते वे दैत्य-रूप हो जाएँ और फिर आप में इतनी सूझ-बूझ और इतना अडिग साहस होना चाहिए कि आप इन दैत्यों को तृप्त कर सकें (491 E—492 A)। इस सुखवादी दृष्टिकोण के विरोध में प्लेटो ने जो तर्क दिए हैं, यहां हम उनकी चर्चा नहीं कर सकते[2]। जहां तक हमारा संबंध है यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि यह कैलीक्लीज़ जैसे वक्ता राजमर्मज्ञ के आचरण का सिद्धांत है और प्लेटो के मत से सभी राजनीतिज्ञ—कम से कम इस प्रकार के राजनीतिज्ञ—मूलतः स्वार्थपरायण अहंवादी होते हैं।

हम देख चुके हैं कि वक्ता राजमर्मज्ञ अपने जीवन में व्यक्तिगत सुख की सिद्धि का प्रयत्न करता है। अब हमें यह भी देखना है कि वह अपने जीवन में असंख्य लोगों को प्रसन्न करने की भी कोशिश करता रहता है। पहले-पहल देखने पर यहां कुछ अंतर्विरोध लग सकता है। एक ओर तो हमसे कहा जाता है कि राजनीतिज्ञ अपने निजी लाभ के लिए शासन करता है और समुदाय के हित की उपेक्षा करता है। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि वह समुदाय को प्रसन्न रखने में अपनी शक्ति का उपयोग करता है (502E)। यह अंतर्विरोध देखने भर का है और यदि हम दो बातें याद रक्खें, तो इसका तुरंत समाधान हो जाता है। पहली बात यह है कि राजनीतिज्ञ के कार्य-स्वातंत्र्य की एक नियत सीमा होती है—जनता की प्रभुता; और दूसरी बात यह है समुदाय को प्रसन्न रखना वही बात नहीं है जो समुदाय को लाभ पहुँचाना है[3]।

---

[1] अस्तु, कैलीक्लीज़ का तर्क है कि शासक को अपनी सत्ता का प्रयोग दूसरों से अधिक पाने के लिए और अपना गौरव बढ़ाने के लिए करना चाहिए। बाद के एक अवतरण में प्लेटो ने उस पर आरोप लगाया है कि उसने ज्यामिति की उपेक्षा की है और यह बात भुला दी है कि देवों और मानवों में ज्यामितीय समानता का तत्त्व सबसे अधिक शक्तिशाली है (508 A)। यह आनुपातिक समानता का सिद्धांत है जिसकी पुनरावृत्ति रिपब्लिक (आगे अध्याय 11 (ङ)) में हुई है और लॉज (आगे अध्याय 15 (ग)) में भी।

[2] इनमें सबसे सरल-सीधा तर्क यह है कि आत्म-परितोष का जीवन निरंतर अभाव का जीवन है। यह सुखवाद का विरोधाभास है। सुखवादी चलनी को भरने की कोशिश करता है। एक अन्य रूपक में उसके जीवन की तुलना निर्झर से की गई है जिसमें पानी हमेशा आता-जाता रहता है। फिर एक और भद्दे दृष्टांत में उसकी तुलना ऐसे व्यक्ति से की गई है जिसके हमेशा खुजली होती रहती है और जो हमेशा नोचता रहता है (494 B—D)।

[3] रूसो की शब्दावली में प्रत्येक की इच्छा वही चीज नहीं है जो सामान्य इच्छा है और पहले का परितोष वही चीज नहीं है जो दूसरे की प्राप्ति, और राजमर्मज्ञ का सच्चा काम यही है।

जो राजनीतिज्ञ अपनी पीढ़ी में बुद्धिमान होता है, वह जो भी निजी लाभ प्राप्त कर सकता है, करता है। पर जनता की प्रभुता हमेशा उसकी सीमा होती है और वह अपने इसी प्रभु के सुख की व्यवस्था करके उसके बदले में निजी लाभ प्राप्त करता है। उसके तौर-तरीके उस आदमी जैसे होते हैं जिसने अपने को किसी तानाशाह के हाथ की कठपुतली बना लिया हो और जिसने अपने स्वामी की निकृष्टतम वासनाओं को तृप्त करके सफलता प्राप्त की हो (510 D)। प्लेटो की दृष्टि में एथेंस के सार्वजनिक जीवन की आदर्शोक्ति सीधी-सादी है : "हम जनता के अधीन हैं: हमें अपने स्वामियों को खुश रखना चाहिए"। संगीतकार, नाटककार और राजमर्मज्ञ सबकी समान रूप से यही आदर्शोक्ति है। संगीतकार सार्वजनिक प्रतियोगिताओं के लिए संगीत रचता है, उसे अपने श्रोताओं को प्रसन्न करने की उत्सुकता होती है। नाटककार बड़े गंभीर भाव से तरह-तरह की शेखियाँ बघारता है पर चलता वह भी इसी नीति पर है। वह अपने नाटक प्रेक्षकों के लिए लिखता है; और यदि हम इन नाटकों में से संगीत, लय और छंद के सारे सहायक साधन निकाल दें, तो हम देखेंगे कि वे केवल असंस्कृत वाणी-विलास रह जाते हैं (502 D[1])। राजमर्मज्ञ संगीत-भवन और रंगशाला के उदाहरण पर चलता है और लोक-मनोरंजक की भूमिका निबाहता है। सफलता और लोकप्रियता की धुन में वह यह भूल जाता है कि उसका काम कहीं ऊँचा है। उसका काम यह है कि अपने साथी-नागरिकों को उसने जिस ढंग का पाया हो, वह उन्हें उससे कहीं अच्छे आदमी बना कर जाए और उनके मन को संतुलन और व्यवस्था के ऐसे उत्कृष्ट वरदान दे जाए जो न्याय और संयम के ही नहीं बल्कि हर तरह के उत्कर्ष और सद्गुण के जनक और निर्माता होते हैं (504 D: 506 D)। (उसे मालूम हो तो) उसका काम ज्वार के साथ तैरना नहीं है; उसका काम तो उससे उल्टी दिशा में तैरना है। जो चीज़ सबसे अच्छी हो, उसके पक्ष में खड़े होने और बोलने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए—चाहे वह किसी को प्रिय लगे या अप्रिय। उसे प्रयत्न करना चाहिए कि वह लोगों को अपनी हीन इच्छाएँ तजने के लिए बाध्य कर दे। उसमें इतना साहस होना चाहिए कि वह देश को उसकी अपनी भलाई की खातिर 'दंड' दे और उसे प्रयास करना चाहिए कि वह अपने साथी-नागरिकों को स्वतंत्र होने के लिए लाचार कर दे (505 B—C)।

एथेंस के समूचे इतिहास में एथेंस के राजमर्मज्ञों का आचरण इससे कितना भिन्न रहा है? कैलीक्लीज़ स्वयं भी राजमर्मज्ञ है और उसने बिना किसी लाग-लपेट के उन सिद्धांतों का उल्लेख कर दिया है जिन पर एथेंस के राजमर्मज्ञों ने हमेशा अमल किया। वर्त्तमान राजमर्मज्ञों को दोष देना आसान होता है और उन्हें जो दोष दिया जाता है, वे उस सबके पात्र भी हैं। लेकिन, इसका मतलब यह बिलकुल नहीं कि उनके पूर्ववर्त्तियों को अभियोग से बरी कर दिया गया। "जब भीषण विपत्ति आएगी" (प्लेटो यह बात घटना के बाद लिख रहा है पर उसने सात्रेटीज़ के मुंह से भविष्य-

---

[1] लॉज़ में यह तर्क फिर आया है और वहाँ उसका विस्तार भी हुआ है। वहाँ प्लेटो ने नाटक में 'रंगमंच-तंत्र' और राजनीति में लोकतंत्र को समकक्ष रखा है (आगे तुलना कीजिए, अध्याय 13 (ङ))।

वाणी कराई है) "जब एथेंस के लोग जो कुछ उन्होंने अर्जित किया है वही नहीं, बल्कि उनके पास जो पुरानी संपदा है वह भी खो बैठेंगे, तब वे कैलीक्लीज़, एल्सिबियाडिज़ और अपने युग के समस्त राजमर्मज्ञों को दोष देंगे"; लेकिन वे मूल अपराधियों को भूल जाएँगे—राजमर्मज्ञ तो उनके पाप में बस भागीदार रहे होंगे (519 A)। हो सकता है पुराने राजमर्मज्ञ अपने नगर को जहाज़ों, प्राचीरों और शस्त्रागारों से लैस करने में अच्छे रहे हों (517 C); पर उसे सद्‌गुण से सजाने-संवारने की दृष्टि से वे ज्यादा अच्छे न थे। एथेंस में भ्रष्टाचार का बोलबाला तो साइमन के समय का, और उससे भी पहले थेमिस्टोक्लीज़ के समय का और उससे भी पहले मिल्टिआडीज़ के समय का है* (503 B—C : 516 D—E)। एथेनी लोकतंत्र की सबसे बड़ी विभूति पेरीक्लीज़ के विरुद्ध भी प्लेटो का यही आरोप है (515 D—516 C)। स्वयं संतोष पाने के लिए उसने लोगों को भी संतुष्ट किया। एथेंस में सिरमौर बनने के लिये उसने लोगों को पैसा दिया और उन्हें आलसी, कायर, वाचाल और लालची बना दिया। उसने अपने साथी-नागरिकों को बेहतर बनाने के बजाए बदतर बना दिया। यह बात उसके अपने उदाहरण से ही सिद्ध हो गई। एथेंस के लोग क्रोध में भरकर अंत में उसके ऊपर ही टूट पड़े क्योंकि घटना-क्रम उनकी मर्ज़ी के माफ़िक नहीं चल रहा था। यदि पशुओं के किसी झुंड का चरवाहा (और अंततोगत्वा, राजमर्मज्ञ भी मानव-झुंड का चरवाहा ही होता है[1]) इस तरह का आचरण करता, यदि वह अपने झुंड को इस हद तक हाथ से निकल जाने देता और अपने प्रबंध से उसे इतना हिंस्र बना देता कि वह उल्टा उसी के ऊपर टूट पड़ता और उसके टुकड़े-टुकड़े कर देता, तो हम निश्चय ही उसे अच्छा चरवाहा नहीं मान सकते। क्या हम पैरीक्लीज़ को अच्छा चरवाहा कह सकते हैं? "ऐसा कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता जिसने कभी इस नगर की राजनीति में अपने आप को अच्छा आदमी सिद्ध किया हो" (517 A)। "किसी नगर में एक भी ऐसा नेता नहीं मिलता जिसे नगर ने संभवत: अन्यायपूर्वक दंड दिया हो—उसी नगर ने जिसका वह नेता है" (519 C)। निराशा के क्षणों में प्लेटो को उजाले की कोई किरण नहीं दिखाई देती, सभी राजमर्मज्ञ धोखेबाज़ हैं। उन्हें खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की चीज़ जुटाने की ही चिंता सदा रही है और रहती है। वे चिकित्सा और व्यायाम की आवश्यकता को भूल जाते हैं और हमेशा से भूलते आए हैं। वे सेवकोचित और गौण कलाओं की साधना करने के लिए तो प्रस्तुत हैं; पर वे सही विधान और सच्चे न्याय-प्रशासन द्वारा लोगों की आत्मा को पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करने वाली शासकोचित और प्रभुतासंपन्न कला से

---

* साइमन, थेमिस्टोक्लीज़ और मिल्टिआडीज़ तीनों ही एथेंस के विख्यात सेनापति और राजमर्मज्ञ थे। युद्ध-कौशल और राजनेतृत्व में अग्रणी होने पर भी इसाक व्यक्तिगत नैतिक आचरण संदिग्ध था और इनके लिए इन तीनों को ही समय-समय पर दंड दिया गया। इन तीनों ने एथेंस की भौतिक और सैनिक उन्नति करने में तो कोई कसर नहीं छोड़ी थी, पर एथेंस के राजनीतिक जीवन में भ्रष्टाचार का भी बीज इन्होंने बोया था।

[1] पॉलिटिक्स (आगे अध्याय 12 (क)) में इस विचार की पुनरावृत्ति हुई है और वहां इसका विशद विवेचन हुआ है।

कतराते हैं। सही विधान और सच्चे न्याय-प्रशासन का आत्मा के लिए वही महत्त्व है जो व्यायाम तथा चिकित्सा का शरीर के लिए। "उन्होंने नगर को बंदरगाहों और कर से प्राप्त धन-दौलत (राजस्वों) से भर दिया है[1] : उन्होंने न्याय और संयम के लिए बिल्कुल जगह नहीं छोड़ी है (519 A)"।

यह है एथेंस का अतीत। (प्लेटो साक्रेटीज़ से कहलवाता है कि) आज जो आदमी राजमर्मज्ञ बनना चाहे, उसे अपने आपसे यह सवाल पूछना चाहिए कि वह राज्य का चिकित्सक बनेगा और उसके सदस्यों को अच्छे से अच्छा बनाने की भरसक कोशिश करेगा या सिर्फ़ सेवक और चाटुकार की भूमिका निभा कर ही उसे संतोष हो जाएगा (521—A)। साक्रेटीज़ ने अपने आप से यह सवाल पूछा है और इसका वही जवाब दिया है जो इसका एक-मात्र संभव जवाब है। वह चिकित्सक की भूमिका निभाना चाहेगा और उसकी आदर्शोक्ति होगी: "लोग बीमार हैं: आइए, हम अपने स्वामियों को चंगा करें।" वह एथेंस के उन इने-गिने लोगों में से है—और शायद अपनी तरह का अकेला एथेनी है—जिसने राजनीति की सच्ची और शुद्ध कला की ओर ध्यान दिया है। अपनी पीढ़ी का वही एक राजमर्मज्ञ है। वह जानता है कि उसे पुरस्कार ज़रूर मिलेगा। चूंकि उसने जो कुछ किया है अपने स्वामियों को खुश करने के लिए नहीं, सुधारने के लिए ही किया है, अतः जिन झूठे राजनीतिज्ञों की उसने लानत-मलामत की है, "वे उसे कटघरे में खड़ा करेंगे जैसे किसी हलवाई के अभ्यारोपण पर छोटे-छोटे बच्चों की अदालत में चिकित्सक पर मुकदमा चलाया जाए, और अभियोग यह हो कि वह कड़वी दवाएँ देता है और मिठाई से परहेज़ करने को कहता है" (521 D—522E)। उस दिन यह कहना वृथा होगा कि मैंने तो ठीक काम किया था; मैंने तो जो कुछ किया तुम्हारी भलाई के लिए किया था। अदालत इस सफ़ाई को नहीं सुनेगी।

फिर भी हम यह सोच सकते हैं कि एक और दृष्टिकोण से साक्रेटीज़ शायद पहला ऐसा व्यक्ति होता जो राजमर्मज्ञ की उपाधि अस्वीकार कर देता। भले ही उसका नैतिक प्रयोजन सही रहा हो, पर वह तो खुले आम कहता था कि मेरा एक-मात्र ज्ञान तो अपने अज्ञान का ज्ञान है। तब, हो सकता है वह यही कह देता कि मेरे पास आवश्यक ज्ञान और प्रशिक्षण नहीं है। प्लेटो का कहना है कि सच्चा राजमर्मज्ञ वही हो सकता है जो यह सिद्ध कर सके कि उसने राजनीति-कला की प्रशिक्षा पाई है; और उसे यह भी दिखा देना चाहिए कि बड़ी-बड़ी चीज़ों में अपनी कला का उपयोग करने से पहले वह छोटी-छोटी चीज़ों में सफलता के साथ उसका उपयोग कर चुका है। यही बात प्लेटो से भी पहले उसका गुरु हमेशा कहा करता था—जिसने शिल्प-कला का प्रशिक्षण न पाया हो और जो अपनी बनाई हुई अच्छी-अच्छी इमारतों के रूप में अपने कौशल का प्रमाण न दे सकता हो, उसे मकान बनाने के लिए शिल्पी के रूप में कभी भी नहीं

---

[1] 'राजस्वों' शब्द से अभिप्राय उस कर से है जो एथेनी साम्राज्य के 'मित्र राज्य' दिया करते थे। लगता है कि प्लेटो की भाषा में साम्राज्य की निंदा का भाव निहित है। जब उसने गॉर्जियाज़ की रचना की थी, तब तक यह साम्राज्य हाथ से निकल चुका था। 'भीषण विपत्ति' और 'संपदा खो बैठने' से उसका संकेत पेलोपोनेशियाई युद्ध के अंत में साम्राज्य की हानि से है।

चुना जाएगा । यही बात निश्चय ही राजमर्मज्ञ पर भी लागू होती है और हम यह तकाज़ा कर सकते हैं कि उसने भी अपनी कला का प्रशिक्षण पाया हो और वह भी अपने काम में कौशल का परिचय दे सके (514 A—515 A)। कोई वक्ता जिस विषय को न समझता हो, उस पर उसे परामर्श देने का दम नहीं भरना चाहिए और न उस समय सभा की कार्यवाही में अपनी टाँग अड़ानी चाहिए जब किसी विशेषज्ञ को किसी पद पर चुनने का सवाल पेश हो। इस तरह का चुनाव करना विशेषज्ञों का काम है। जब शिल्पी या सेनापति को चुनना हो, तब वक्ताओं को नहीं, बल्कि शिल्पियों और सेनापतियों को ही परामर्श देना चाहिए (455 A—B)। जब आप इमर्तबान बना रहे हों, तब घड़ा बनाना सीखने की कोशिश करना कहाँ की अक्लमंदी है (514 D) ? और राजमर्मज्ञ को चाहिए कि पहले वह वैयक्तिक उद्यम से स्वयं को पद के योग्य बना ले और इसके बाद ही उस पद का बोझ उठाने के लिए आगे बढ़े[1] । इसलिए, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजमर्मज्ञ के लिए दो बातें आवश्यक हैं: एक तो सही नैतिक प्रयोजन —जिसके लिए निःस्वार्थता चाहिए और जो उसे अपने साथी-नागरिकों की खुशहाली के लिए काम करने की प्रेरणा देता है; और दूसरे अपने व्यवसाय का पूरा ज्ञान—जिसके लिए विशिष्ट कौशल और नियमित प्रशिक्षण की ज़रूरत होती है। यदि शासन को कला के रूप में ग्रहण किया जाए और यह कला सच्ची कला हो—दिखावटी कला न हो—तो इस धारणा में इन दोनों बातों का संगम हो जाता है और वे मिलकर एक हो जाती हैं। जब एक बार यह बात मन में जम जाए कि समाज-जीवन के पथ-प्रदर्शन के लिए एक निश्चित कला है, एक परम ज्ञान ऐसा है जिसका लक्ष्य लोगों को यह बताना है कि वे अपने कर्मों द्वारा कौन-सा प्रयोजन साधें और इस तरह जिसका लक्ष्य उनका उन्नयन करना हो, जब एक बार यह बात समझ ली जाए कि राजमर्मज्ञों के लिए इस कला में निश्चित प्रशिक्षण की ज़रूरत है, तब सब कुछ हाथ आ जाता है। तब राजमर्मज्ञ ऐसे नौसिखिए और अनाड़ी न रहेंगे जो सोचें कि राजनीति में हर आदमी की गति हो सकती है। वे अपनी उदात्त वृत्ति के लिए परिश्रमपूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त करेंगे, वे अपने निजी लाभ के लिए हाथ-पैर मारना छोड़ देंगे क्योंकि कला का प्रशिक्षण पाने और

---

[1] यहाँ प्लेटो और अरिस्टाटल के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन रोचक होगा। **पॉलिटिक्स** (III, II§ 10—13; 1281, b 38–1282, a 14) में अरिस्टाटल ने युक्ति दी है कि जो व्यक्ति स्वयं विशेषज्ञ नहीं है, पर जिसे विशेषज्ञ की बनाई हुई चीज़ों का इस्तेमाल करना पड़ता है, वही विशेषज्ञ का सबसे अच्छा चुनाव कर सकता है। प्लेटो की युक्ति में विशेषज्ञ के महत्त्व के बारे में प्लेटोवादी मत व्यक्त हुआ है: अरिस्टाटल का (राजनीति में भी और कला-संबंधी मामलों में भी) विशेषज्ञ में कम और सामान्य निर्णय में अधिक विश्वास है। प्लेटो ने जब आप इमर्तबान बना रहे हों, तब घड़ा बनाना सीखने की जिस कहावत का उल्लेख किया है, उसके जवाब में अरिस्टाटल का वह सिद्धांत रखा जा सकता हैं जो उसने नीतिशास्त्र के बारे में (और लक्षण द्वारा राजनीति के बारे में भी) निर्धारित किया है—"हम काम करते-करते सीखते भी जाते हैं।" (एथिक्स, 1103, a 32—3)। इस सिद्धांत का बड़ा भारी महत्त्व है। उदाहरणार्थ, इसमें उन वर्गों के लिए भी मताधिकार उचित माना गया है, जो तब तक मताधिकार का उपयोग नहीं समझ पाते जब तक उसका वास्तव में उपयोग न करलें।

कला की साधना करने से वे यह समझ जाएँगे कि उनका काम अपनी कला के विषय की भलाई के लिए प्रयत्न करना है; और आखिरी बात यह है कि वे अपने स्वामियों की चाटुकारिता बंद कर देंगे क्योंकि वे जान जाएँगे कि उनकी कला उन्नयन के लिए है, चाटुकारिता के लिए नहीं।

गॉर्जियाज़ का यही तर्क है और इस तरह प्लेटो यह सिद्ध करने की कोशिश करता है (जैसा कि उसने **प्रोटेगोरस** में प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है) कि सद्गुण की, सच्ची राजनीति-कला की, शिक्षा तो दी ही जा सकती है। इस तरह के प्रशिक्षण की बड़ी भारी आवश्यकता भी है। इस तरह अंत में सात्रेटीज़ की बात का औचित्य सिद्ध कर दिया गया है और भावी सुधार की दिशा का भी संकेत दे दिया गया है। झूठी शिक्षा को उखाड़ फेंकना चाहिए और कुतर्क-कला का निषेध होना चाहिए। झूठे राजमर्मज्ञों को जो अपने कार्यों द्वारा इस तरह की शिक्षा के मूल में निहित स्वार्थवाद के सिद्धांत का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, काम-काज के संचालन का अधिकार नहीं देना चाहिए। अज्ञान की जगह ज्ञान की प्रतिष्ठा होनी चाहिए—सच्ची शिक्षा द्वारा दिए जाने वाले सच्चे ज्ञान की; और जिन लोगों के हृदय और मस्तिष्क में यह ज्ञान अपना आसन जमा ले, उन्हीं लोगों को उसके आलोक में मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। अब हम रिपब्लिक की ओर देखें तो पाएँगे कि वहाँ इन सारे सुझावों का संकलन किया गया है, उन्हें एक सूत्र में बाँधा गया है; वहाँ सच्चा ज्ञान, सच्ची शिक्षा और सच्चे राजमर्मज्ञ सभी के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। हमने अब तक प्लेटो की जिन रचनाओं पर विचार किया है, वे या तो निषेधात्मक हैं या फिर भूमिका के रूप में हैं। रिपब्लिक में भावात्मक शिक्षा दी गई है और वहीं वह भवन अस्तित्व में आया है जिसकी ये सब बुनियादें हैं।

जिस समय गॉर्जियाज़ की रचना की गई थी, उस समय प्लेटो के मन में न्याय अथवा नीतिपरायणता के राजनीतिक आदर्श का एक चित्र बन चुका था और उसे यह विश्वास हो चुका था कि उसकी सिद्धि उपयुक्त परिस्थितियों और उपयुक्त प्रशिक्षण पद्धति पर निर्भर है। किंतु आदर्श से दो काम निकल सकते हैं: मौजूदा परिस्थितियों को निरखने-परखने और उनकी लानत-मलामत करने के लिए वह एक मापदंड हो सकता है, उनकी आलोचना के लिए एक सूत्र बन सकता है या वह सुधार के लिए एक प्रतिमान और भविष्य की आशा का रूप ले सकता है। गॉर्जियाज़ में न्याय के आदर्श का उपयोग इनमें से पहले प्रयोजन की पूर्ति के लिए किया गया है। इस ग्रंथ में एथेंस नगर को बुरा-भला कहा गया है पर उसमें आदर्श नगर का सही रास्ता नहीं बताया गया। प्लेटो को सिद्धांतों का तो स्पष्ट ज्ञान है; पर अभी वह उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का मार्ग नहीं जानता। अपने सातवें पत्र में उसने बताया है कि राज्यों के वर्त्तमान रूप से मुझे विरक्ति हो गई है पर मैंने अभी यह सोचना आरंभ नहीं किया है कि आदर्श राज्यों का निर्माण कैसे हो सकता है। इसी पत्र में प्लेटो ने लिखा है कि उसने इस बारे में शीघ्र ही चिंतन आरंभ कर दिया था। उसे यह ज़रा भी विश्वास नहीं हुआ है कि आदर्श का राज्य इस दुनिया का राज्य नहीं होता और

दर्शन का जीवन मृत्यु की भूमिका होती है[1]। **गॉर्जियाज़** में तो कुछ ऐसा लगता है मानो अपने चुप हो बैठने के बारे में प्लेटो ने अपनी सफ़ाई पेश की हो। जब कैलीक्लीज़ उन दार्शनिकों की खिल्ली उड़ाता है जो किसी एकांत कोने में तीन-चार छोकरों की छोटी-सी मंडली से गुप-चुप बातें करते रहते हैं (485 E), तब शायद उसमें प्लेटो द्वारा अपने ही ऊपर लगाया गया अभियोग परिलक्षित होता है। जब साक्रेटीज़ कैलीक्लीज़ से कहता है कि दार्शनिक होते हुए भी वही अपनी पीढ़ी का एक-मात्र राजमर्मज्ञ है, तब वह प्लेटो के अपने ही ऊपर लगाए गए दोषारोप के विरुद्ध प्लेटो का बचाव प्रस्तुत करता है[2]। लेकिन, उसके मन में एक नई आशा और अपने आदर्श के स्वरूप के बारे में एक अधिक साकार धारणा पनपने लगी थी। उसने **रिपब्लिक** की योजना ही तैयार नहीं की, उसने सिसली की यात्रा भी की और अकादमी की स्थापना भी। अंततोगत्वा उसने देखा कि दर्शन मृत्यु की तैयारी नहीं, वह तो जीवन की एक पद्धति है। प्लेटो का शेष जीवन दो ही कामों में बीता : एक तो इस जीवन पद्धति के प्रचार में और दूसरे मानव जाति की सेवा द्वारा अपने आदर्श की सिद्धि में।

---

1. **फ़ाएडो**, 64 से तुलना कीजिए। **गॉर्जियाज़**, 493 A तथा 522 E और आगे से भी तुलना कीजिए। **थियाएटेटस** (174—6) में दार्शनिक जीवन से संबद्ध अवतरण भी देखिए।
2. **टॉमसन** ने अपने संस्करण में कहा है कि प्लेटो ने **गॉर्जियाज़** में अपने मित्रों के सामने अपने राजनीति से अलग रहने की सफ़ाई पेश की है। इन मित्रों ने प्लेटो से आग्रह किया था कि वह राजनीतिक जीवन अपनाए और "सार्व- जनिक सभाओं में या न्यायालयों में भाषण देने की शक्ति का विकास करे.. साक्रेटीज़ को इस गुण के अभाव के कारण ही प्राणदंड मिला था।" (**प्रस्तावना**, पृ० XXXI)। इस दृष्टि से देखने पर 521E में साक्रेटीज़ की नियति का जो उल्लेख हुआ है, वह इस बात का संकेत है कि यदि प्लेटो भी दर्शन की साधना में रत और राजनीति से विरत रहा, तो उसकी भी वही गति हो सकती है (नाटोर्प से भी तुलना कीजिए, पू०क्र०, पृ० 15)। मेरा निवेदन है कि जिस चीज़ ने प्लेटो को सार्वजनिक निंदा के डर से भी अधिक परेशान कर रखा था, वह यह डर था कि अगर वह उच्चतम आदर्श तक न पहुँच पाया और कर्ममय जीवन न अपना सका—और उसे संदेह था कि शायद कर्ममय जीवन ही अंततोगत्वा उच्चतम जीवन हो—तो कहीं उसकी अंतरात्मा ही उसे न धिक्कारे। **यूथीडिमस** (306) में एक रोचक अवतरण है जिसमें प्लेटो ने दर्शन और राजनीति के समन्वय की संभावना पर विचार किया है। यह सही है कि उसके मन में ईसोक्रेटीज़ के ढंग के वक्ता हैं जो आधे दार्शनिक हैं और आधे राजनीतिज्ञ। लेकिन उसने जो सवाल उठाया है, उसका एक व्यापक क्षेत्र भी है।

अध्याय ४

रिपब्लिक और उसका न्याय-सिद्धांत

- (क) रिपब्लिक की योजना और उद्देश्य
- (ख) न्याय के स्थूल सिद्धांत
  - (1) सिफ़ालस का सिद्धांत : परंपरावाद (327—36 A)
  - (2) थ्रेसीमेकस का सिद्धांत : आमूल परिवर्त्तनवाद (336 A—354 C)
  - (3) ग्लॉकन का सिद्धांत : अर्थक्रियावाद (357—67 E)
- (ग) आदर्श राज्य का निर्माण
  - (1) राज्य में आर्थिक तत्त्व
  - (2) राज्य में सैनिक तत्त्व
  - (3) राज्य में दार्शनिक तत्त्व
- (घ) प्लेटोवादी राज्य के वर्ग
- (ङ) प्लेटोवादी न्याय

अध्याय 8

रिपब्लिक और उसका न्याय-सिद्धांत

(क) रिपब्लिक की योजना और उद्देश्य

प्लेटो ने रिपब्लिक की रचना अपनी प्रौढ़ावस्था में, चालीस वर्ष की आयु के आस-पास, की थी। यही कारण है कि यह ग्रंथ उसके अन्य संवादों की अपेक्षा कहीं अच्छा है। इसमें हमें उसके चिंतन की पूर्णता के दर्शन होते हैं। इस ग्रंथ के दो शीर्षक हैं —राज्य (पोलीतिया या लैटिन में, रेसपब्लिका। यह ग्रंथ सामान्यत: इसी लैटिन नाम से प्रसिद्ध है या 'न्याय-मीमांसा'। इन दो शीर्षकों के बावजूद यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह राजनीति-विज्ञान अथवा न्याय-शास्त्र का ग्रंथ है। यह राजनीति और न्याय-शास्त्र दोनों का ग्रंथ है पर उससे कुछ अधिक भी है। यह मानव-जीवन के पूर्ण दर्शन के प्रतिपादन का प्रयास है। मुख्य रूप से इसका संबंध कर्मरत मानव से है और इसलिए इसमें नैतिक और राजनीतिक जीवन की समस्याओं पर विचार किया गया है। लेकिन, मनुष्य अखंड इकाई है; उसके कर्म को उसके चिंतन से अलग करके नहीं समझा जा सकता। अत: रिपब्लिक चिंतनरत मानव का और उसके चिंतन के नियमों का भी दर्शन है। यदि इस दृष्टि से रिपब्लिक को मानव का संपूर्ण दर्शन समझा जाए, तो वह अखंड और समन्वित रचना लगती है। यदि उसके विभिन्न विभागों पर विचार किया जाए, तो वह अनेक रचनाओं में विभक्त लगेगी जिनमें से प्रत्येक रचना का अलग विषय होगा। इनमें एक ग्रंथ तत्त्व-मीमांसा पर है जिसमें श्रेय के विचार में सब चीज़ों की एकता व्यक्त की गई है। एक ग्रंथ नैतिक दर्शन पर है जिसमें मानव-आत्मा की सद्वृत्तियों का अनुसंधान किया गया है और न्याय में उनकी अन्विति तथा पूर्णता का प्रतिपादन किया गया है। एक ग्रंथ शिक्षा पर है। रूसो ने कहा था, "रिपब्लिक राजनीति का ग्रंथ नहीं है; वह तो शिक्षा के विषय पर आज तक का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है।" एक ग्रंथ राजनीति-विज्ञान पर है। इसमें राज्य-तंत्र और सामाजिक संस्थाओं का (विशेषकर विवाह और संपत्ति विषयक सामाजिक संस्थाओं का) चित्रण है जिनके अनुसार आदर्श राज्य का नियमन होना चाहिए। अंत में, एक ग्रंथ मानो इतिहास-दर्शन पर है। इसमें ऐतिहासिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया समझाई गई है और बताया गया है कि आदर्श राज्य का कैसे धीरे-धीरे पतन होता है और वह अत्याचारी शासन का रूप धारण कर लेता है। लेकिन, ये सारे ग्रंथ एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं क्योंकि तब तक ये सारे विषय एक थे। ज्ञान के अलग-अलग शाखाओं में कोई कटे-छंटे भेद अभी तक नहीं किए गए थे। अरिस्टाटल तक इनका

संकेत करके रह गया था; इन्हें व्यावहारिक रूप न दे सका था।[1] इस समय एक विषय तो था मानव-दर्शन और दूसरा था प्रकृति-दर्शन। प्रकृति-दर्शन मुकाबले में मानव-दर्शन के बराबर या उससे उच्चतर ही बैठता था। प्लेटो जिस सवाल का जवाब खोजने में लगा हुआ था, वह सवाल बस इतना-सा था—अच्छा आदमी कौन होता है और अच्छा आदमी कैसे बनता है ? हो सकता है हमें लगे कि यह प्रश्न नैतिक दर्शन का है—केवल नैतिक दर्शन का। किंतु, यूनानी के लिए यह बात साफ़ थी कि अच्छा आदमी राज्य का सदस्य भी होगा और राज्य का सदस्य बनाकर ही उसे अच्छा बनाया जा सकता है। इसलिए, पहले प्रश्न के बाद सहज ही दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है—अच्छा राज्य कैसा होता है और अच्छा राज्य कैसे बनता है? इस प्रकार, नैतिक दर्शन ऊँचा उठकर राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और तब उन्हें और भी ऊपर उठना होता है। साक्रेटीज़ के किसी भी अनुयायी के निकट यह बात बिल्कुल साफ़ थी कि अच्छे आदमी को ज्ञानवान् होना ही चाहिए। अतः, एक तीसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है: अच्छे आदमी को अच्छा बनने के लिए किस चरम ज्ञान से संपन्न होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर तत्त्व-मीमांसा दे सकती है और जब तत्त्व-मीमांसा इस प्रश्न का उत्तर दे चुकती है, तब चौथा प्रश्न उठ खड़ा होता है : अच्छा राज्य अपने नागरिकों को किन उपायों द्वारा चरम ज्ञान तक ले जाएगा—जो सदगुण की शर्त्त है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक शिक्षा-सिद्धांत आवश्यक है। चूंकि प्लेटो को अपनी शिक्षा-योजना को संतोषजनक रीति से कार्यान्वित करने के लिए सामाजिक परिस्थितियों में फिर से ताल-मेल बैठाना ज़रूरी लगता है, अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि समाज-जीवन का पुनर्निर्माण हो और नई शिक्षा-नीति को नई अर्थ-नीति का बल प्राप्त हो[2]।

एक विद्वान्[3] के अनुसार **रिपब्लिक** का मुख्य प्रेरणा-स्रोत सम-सामयिक पूंजीवाद के प्रति प्लेटो का विरोध-भाव था जिसके स्थान पर वह समाजवाद की नई व्यवस्था लाना चाहता था। इस दृष्टिकोण से **रिपब्लिक** अर्थशास्त्रीय ग्रंथ बन जाता है और इस सुझाव को प्रस्तुत करने वाले लेखक ने यह दिखा कर अपने मत की पुष्टि का प्रयत्न

---

1. उसने मेटाफिज़िक्स, एथिक्स और **पॉलिटिक्स** नामक पृथक-पृथक ग्रंथ लिखे। परंतु राजनीति-विज्ञान और नैतिक दर्शन तो उसकी निगाह में फिर भी एक और अविभाज्य हैं। किंतु यह मानना पड़ता है कि नीतिशास्त्र और राजनीति-विषयक ग्रंथों के नाम ही अलग-अलग नहीं हैं, वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भी उनकी प्रवृत्ति एक-दूसरे से दूर-दूर जाने की है। **पॉलिटिक्स** के IV—VII खंडों के यथार्थपरक स्वर पर नैतिक दृष्टिकोण का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।
2. संक्षेप में, **रिपब्लिक** 'मन का दर्शन' है—मन की समस्त अभिव्यक्तियों का; और आधुनिक काल की जिस कृति के साथ उसकी आसानी से तुलना की जा सकती है, वह **फिलॉसफ़ी ऑफ़ माइंड** के नाम से प्रसिद्ध हीगेल के दर्शन का वह अंश है जिसमें उसने चेतना और अंतरात्मा के रूप में मन की आंतरिक क्रियाओं का, विधि और सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र (राज्य के क्षेत्र) में उसकी बहिरंग अभिव्यक्तियों का, और कला, धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में उसकी 'निरपेक्ष' गतिविधि का विवेचन किया है।
3. पोहलमान, **गेस्चिक़्टे डेस एंटीकेन कोम्युनिज्मस उंद सोज़िअलिस्मस**।

किया है कि सम-सामयिक यूनान में अल्पतंत्र और लोकतंत्र का संघर्ष[1] उसी तरह का है जैसे कि आजकल पूंजी और श्रम का संघर्ष और प्लेटो में हमें इस संघर्ष की बुराइयों की तीव्र अनुभूति के तथा समाजवादी उपायों से इन बुराइयों का निवारण करने की चेष्टा के दर्शन होते हैं। लेखक के विचार से प्लेटो ने इसीलिए निजी संपत्ति की आलोचना की है और द्रव्य का प्रयोग बंद करने का सुझाव दिया है[2]। उक्त लेखक ने अरिस्टाटल को भी प्लेटो के समान इस सिद्धांत का समर्थक बना दिया है। यह सही है कि अरिस्टाटल समाजवादियों की संपत्ति की आलोचना का समर्थन नहीं करता, फिर भी (आलोचक का आग्रह है कि) वह जिन्सों पर आधारित सरल अर्थ-व्यवस्था की पैरवी करता है; द्रव्य की उसने भी बिल्कुल वैसे ही आलोचना की है जैसे प्लेटो ने और एक बात में वह प्लेटो से भी आगे बढ़ गया है—उसने व्यापार को एक तरह का लुटेरापन बताया है। यहां सहज ही एक आपत्ति खड़ी हो जाती है—इस सिद्धांत का मतलब होगा यूनानियों के आर्थिक जीवन की कहीं अधिक सरल परिस्थितियों में आधुनिक समाजवाद का आरोप: उस समाजवाद का जो उत्पादन की जटिल व्यवस्था के प्रति विद्रोह है। इसके जवाब में कहा जाता है कि यूनानी आर्थिक जीवन की परिस्थितियाँ सरल न थीं। नगर-राज्य में साख-व्यवस्था का काफ़ी चलन था, कोरिंथ जैसे नगर में विदेशों के साथ सामुद्रिक वाणिज्य ज़ोरों पर था। सूदखोरी का अर्थ सिर्फ़ यह न था कि ज़रूरतमंद किसानों को धन उधार दिया जाता हो; वह तो वाणिज्य में व्याप्त बड़ी व्यापक व्यवस्था थी। दार्शनिकों ने ब्याज की जो आलोचना की है, उससे समाजवादी प्रचार की गंध आती है—वैसे ही प्रचार की जैसा आजकल मुनाफ़ाखोरी की आलोचना के बारे में होता है। इस प्रकार, सिद्धांत में यूनानी अर्थशास्त्र के बारे में जो दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, उसमें चाहें कितनी भी सचाई हो, लेकिन यूनानी राजनीति-चिंता के बारे में उसमें जो दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, उससे सहमत होना कठिन है और यह मानना भी मुश्किल है कि प्लेटो द्वारा प्रस्तावित राज्य-सुधार एक आर्थिक बुराई का आर्थिक सुधार है। प्लेटो आर्थिक प्रश्नों पर विचार तो कर सकता है पर वह उन्हें सदा ही ऐसे नैतिक प्रश्नों के रूप में देखता है जो नैतिक समाज के सदस्य की हैसियत से मनुष्य के जीवन पर असर डालते हैं। उदाहरण के लिए वह श्रम-विभाजन की सराहना करता है, लेकिन तुरंत ही हमें पता चलता है कि श्रम-विभाजन में उसकी जो दिलचस्पी है, वह इस रूप मे नहीं कि श्रम-विभाजन आर्थिक उत्पादन का एक तरीका है, बल्कि इसलिए है कि श्रम-विभाजन समुदाय के नैतिक कल्याण का साधन है।

रिपब्लिक पर राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था-विषयक विचारों के आरोप को चाहे हम भले ही स्वीकार न करें, किंतु यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उसका सचमुच एक व्यावहारिक प्रयोजन है। उसकी रचना आज्ञार्थक भाव से हुई है—विश्लेषण के रूप में नहीं, चेतावनी के रूप में और परामर्श के रूप में। रिपब्लिक कई दृष्टियों से एक

---

1. अमीरी और गरीबी (रिपब्लिक, 421)।
2. परंतु प्लेटो का कहना है कि केवल संरक्षक ही ऐसे होंगे जिनके पास सोना-चांदी कुछ न होगा। प्लेटो के इस कथन से अनुमान किया जा सकता है कि राज्य के अन्य वर्ग बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग करते हैं।

शास्त्रार्थ है—ऐसा शास्त्रार्थ जिसमें तत्कालीन शिक्षकों और सम-सामयिक राजनीति के तौर-तरीक़ों के विरुद्ध तर्क दिए गए हैं। उसने जिन शिक्षकों का विरोध किया है, वे सोफ़िस्टों की नवोदित पीढ़ी के शिक्षक हैं—कुछ-कुछ उसी ढँग के जिनका पहले ही गॉर्जियाज़ में चित्रण हो चुका है। प्लेटो की दृष्टि में नौजवानों को बिगाड़ने का असली गुनहगार साक्रेटीज़ न था, ये ही लोग थे। वे अपने व्याख्यानों से उन्हें बिगाड़ते थे, राजनीति का जो प्रशिक्षण देने का वे दम भरते थे, उससे बिगाड़ते थे; और यदि यूनान को उनके दिखाए हुए रास्ते से बचाना था, तो यह ज़रूरी था कि नौजवानों पर उनके प्रभाव को नष्ट किया जाए और उनकी शिक्षा का प्रतिकार किया जाए। (प्लेटो को लगता था कि) वे आत्म-तुष्टि की एक नई नीति अथवा 'न्याय' का प्रचार कर रहे थे। तदनुसार उनकी प्रवृत्ति थी कि राज्य की सत्ता को शासकों की आत्म-तुष्टि का साधन बना कर राजनीति का कायाकल्प कर दिया जाए। इन सिद्धांतों के विरुद्ध प्लेटो ने न्याय की एक ऐसी धारणा प्रस्तुत की जिसके अनुसार वह आत्मा का एक गुण है—ऐसा गुण जिसके प्रताप से लोग हर सुख भोगने की और हर वस्तु से स्वार्थपूर्ण परितोष पाने की निर्विवेक आकांक्षा को दबा देते हैं और सबके कल्याण के लिए अनन्य कर्त्तव्य पालन में जुट जाते हैं। प्लेटो ने इसी के अनुरूप राजनीति के विषय में भी अपनी धारणा प्रस्तुत की जिसके अनुसार राज्य अपने शासक की स्वार्थपूर्ति का क्षेत्र न रह गया बल्कि एक ऐसा शरीर माना गया जिसका एक अंग वह स्वयं भी था, एक ऐसी सजीव इकाई जिसमें उसका अपना भी एक निर्दिष्ट कर्त्तव्य था। अब ऐसा न हो कि व्यक्तिवाद की धूल राज्य में फैले: उल्टे, व्यक्ति में ही समुदाय-भावना का संचार हो (क्योंकि प्लेटो की प्रतिक्रिया छोर तक पहुँचती है)। अब शासक को अपने निजी साध्यों की पूर्ति के लिए राज्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए: आवश्यकता पड़ने पर राज्य को ही शासक से माँग करनी चाहिए कि यदि कहीं उस के स्वार्थ राज्य के स्वार्थों से भिन्न हों, तो वह सर्व-साधारण के हितों की वेदी पर उन्हें निछावर कर दे। पर, सचाई यह है कि इस प्रकार की कोई आवश्यकता न थी और इस तरह का कोई भेद भी न था। सच्चे राज्य में व्यक्ति अपने संगी-साथियों के साध्यों की सिद्धि द्वारा ही अपने साध्यों की भी सिद्धि कर सकता है: "उसका व्यापक विकास होगा; वह अपने देश का भी उद्धार करेगा और अपना भी" (417 A)। उग्र सोफ़िस्टों[1] की (और उन्हीं की तरह सिनिकों तथा सिरेनायकों की) शिक्षा ने राज्य और व्यक्ति के हितों के जिस पुराने सामंजस्य को भंग कर दिया था उसकी

---

[1] इन सोफ़िस्टों ने, राज्य को एक व्यक्ति की तुष्टि में निरत अत्याचारी शासन का रूप देकर, राज्य और व्यक्ति में सामंजस्य बैठाया था। पर (यदि यह मान भी लिया जाए कि उन्होंने सचमुच सामंजस्य बैठाया था तब भी) उनके इस सामंजस्य का क्रम गलत था क्योंकि उन्होंने राज्य में सब लोगों का सामंजस्य स्थापित करने के बजाए राज्य को ही एक व्यक्ति के अनुरूप ढाला। फिर भी, इससे यह प्रकट हो जाता है कि, उग्रवादियों तक ने, राज्य और व्यक्ति का कितना घनिष्ठ संबंध माना था—यहाँ तक कि व्यक्तिवाद ने राज्य को नष्ट करने के बजाए अपनी धारणा के अनुसार उसके पुनर्निर्माण का प्रयास किया। सोफ़िस्टों की कल्पना जब सारे बंधनों को तोड़कर उड़ान भरती थी, तब भी वह अराजकतावाद तक नहीं पहुँच पाती थी।

प्लेटो की शिक्षा द्वारा फिर से प्रतिष्ठा हुई पर अब यह प्रतिष्ठा नए और पहले से ऊँचे धरातल पर हुई क्योंकि अब वह ऊपर उठकर सामंजस्य की सचेत भावना में परिणत हो गई है। संभव है प्लेटो और प्रसंगों में आमूल परिवर्त्तनवादी और सुधारक लगता हो, पर इस प्रसंग में वह रूढ़िवादी है। उसका लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि नैतिकता के शाश्वत नियम केवल 'रूढ़ियां' नहीं हैं जिन्हें 'प्रकृति' के शासन का पथ प्रशस्त करने के लिए नष्ट कर दिया जाए। इसके बिल्कुल विपरीत वे तो मानव-आत्मा के स्वरूप में और सृष्टि-क्रम में समाई हुई हैं—इतनी गहरी समाई हुई हैं कि उन्हें उखाड़ फेंकना असंभव है। यही कारण है कि रिपब्लिक की योजना में मानव-मनोविज्ञान का और संसार की तत्त्व-मीमांसा का समावेश हो गया है। उसके लेखक को दिखाना है कि राज्य संयोग से एक जगह एकत्रित लोगों का अव्यवस्थित समूह भर नहीं होता कि जो व्यक्ति सबसे सबल हो वह उससे अनुचित लाभ उठाए। इसके विपरीत, राज्य तो उन आत्माओं का समागम है जो बुद्धि की प्रेरणा से और आवश्यकतावश किसी नैतिक साध्य की सिद्धि में प्रयत्नशील हों और जो लोग आत्मा के स्वरूप को जानते-समझते हैं, वे विवेकपूर्वक एवं निःस्वार्थ भाव से उन्हें वांछित साध्य की दिशा में ले जाते हैं।

प्लेटो की दृष्टि में राज्य की सच्ची धारणा, उसकी सहज प्रकृत दशा यही है। पर उस समय के राज्य ऐसे बिल्कुल न थे। अतिशय व्यक्तिवाद की भावना केवल सिद्धांत में ही नहीं, यथार्थ जीवन में भी समा गई थी; और सोफ़िस्ट इसीलिए लोकप्रिय हो गए थे कि जो कुछ वातावरण में व्याप्त था उसे उन्होंने ग्रहण कर लिया था[1]। प्लेटो को लगता था कि यूनान के सम-सामयिक राज्य अपने सच्चे स्वरूप को खो बैठे हैं और अपने सच्चे लक्ष्य को भूल चुके हैं। इन राज्यों का जो यथार्थ स्वरूप था और जिन लक्ष्यों की साधना में वे वास्तव में लगे हुए थे, उनके विरोध में प्लेटो निश्चय ही उसी तरह आमूल परिवर्त्तनवादी हो जाता है, जिस तरह सोफ़िस्ट विचारों के विरोध में उसने अपने को अनुदार सिद्ध किया है। जिस एथेनी लोकतंत्र में प्लेटो रह रहा था (और जिसने सात्रेटीज़ को मौत के घाट उतारा था), मुख्यतः उसी के बारे में विचार करते हुए उसे सम-सामयिक राजनीति में दो बड़ी भारी और गंभीर त्रुटियां दिखाई पड़ती हैं[2]। एक दोष तो यह है कि ज्ञान के आवरण में सर्वत्र ही

---

1. "क्या आपका सचमुच यह विचार है कि सोफ़िस्ट अथवा निजी शिक्षक हमारे तरूणों को...काफी बिगाड़ देते हैं ? क्या जनता जो यह सारी बातें कहती है, सबसे बड़ी सोफ़िस्ट नहीं है" (492 A) ? "सोफ़िस्ट...बहुतों के अर्थात् अपनी सभाओं के मत के अलावा तो कुछ सिखाते ही नहीं और यही उनकी बुद्धिमता है" (493 A)।

2. प्लेटो ने सम-सामयिक राजनीति की जो आलोचना की है, उसे रिपब्लिक के आठवें और नवें खंडों में देखा जा सकता है। नोहले (डी स्टाट्सलेहरे प्लेटोस, पृ० 101) ने यह ठीक ही लिखा है कि जब प्लेटो आदर्श राज्य का चित्रण कर चुकता है, उसके बाद वह यथार्थ राज्यों का वर्णन करता है; हालांकि यह सच है कि उसके चिंतन-क्रम के वास्तविक विकास में यथार्थ राज्यों के अध्ययन का अवस्थान आदर्श राज्य की रचना से पहले उपस्थित हुआ और वह अध्ययन आदर्श राज्य की रचना के लिए प्रेरणा बना। इसके अलावा यथार्थ

अज्ञान की तूती बोल रही थी। और दूसरा था राजनीतिक स्वार्थ जिसने प्रत्येक नगर को दो विरोधी नगरों में बाँट दिया था—ऐसे नगरों में जो मानो एक दूसरे पर टूट पड़ने के लिए तैयार "बधिकों की मुद्रा में आमने-सामने पड़े रहते है"। इसलिए, प्लेटो के उद्देश्य हैं—अनाड़ियों की अयोग्यता की जगह कार्यक्षमता की प्रतिष्ठा ; स्वार्थ-वृत्ति और नागरिक फूट की जगह सामंजस्य की स्थापना; और इसीलिए प्लेटो के मूलमंत्र हैं—'विशेषीकरण' और 'एकीकरण'। रिपब्लिक की राजनीतिक शिक्षा इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है और इस संबंध में उसने जो साधन सुझाए हैं—जैसे उसने पत्नियों के साझे की पैरवी की है—वे ऊपर से अजीब-अनोखे लगते हुए भी सार्थक और न्यायसंगत हो जाते हैं।

प्लेटो के विचार से अज्ञान लोकतंत्र का विशेष अभिशाप था। वहाँ जो पारंगत था उसकी नहीं बल्कि जो अनाड़ी था उसकी तूती बोलती थी। एथेंस में लोकतंत्र का विशिष्ट अर्थ यही मालूम पड़ता था कि अज्ञानी को ग़लत तरीके से शासन करने का दैवी अधिकार प्राप्त है। कोई भी व्यक्ति सभा में बोल सकता था, उसके निर्णयों को किसी दिशा में बहा ले जाने में सहायता कर सकता था। कोई भी व्यक्ति—चाहे उसमें क्षमता हो या नहीं—पर्ची के संयोग के फलस्वरूप कार्यकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता था। इसमें अयोग्यता को तो छूट मिलती ही थी, झूठी समानता का भी प्रदर्शन था। इसके अलावा, प्लेटो के निकट यह व्यवस्था अन्यायपूर्ण थी। प्लेटो की दृष्टि में न्याय का अभिप्राय यह था कि व्यक्ति जीवन-क्षेत्र में वही कार्य करे जिसे करने की उसमें क्षमता हो। हर चीज़ का एक अपना काम होता है। अगर कुल्हाड़ी का उपयोग पेड़ को तराशने के साथ-साथ उसे काटने के लिए भी किया जाए, तो यह कुल्हाड़ी का दुरुपयोग होगा। (तुलना कीजिए, 353A)। अगर कोई व्यक्ति बहुत से बहुत मामूली शिल्पी बनने के योग्य हो और कोशिश करे अपने साथियों पर शासन करने की तो वह न सिर्फ ग़लती ही करता है, बल्कि दोहरा अन्याय भी करता है—उसका यह भी अन्याय होता है कि वह अपना उचित कार्य नहीं करता और यह भी कि वह ज़्यादा अच्छे आदमी को दरकिनार कर देता है।

उस समय की राजनीति में प्लेटो पर जिस चीज़ का सबसे ज़्यादा असर पड़ा और जिसने उसे सबसे ज़्यादा सुधार के पथ का पथिक बना दिया—वह थी व्यक्तिवाद की उग्र भावना। इस भावना के वश लोगों ने अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए

की कमियों से उसे यह पता चला कि आदर्श में क्या-क्या खोजे और इस अर्थ में उसकी यथार्थ-मीमांसा उसकी आदर्श रचना पर नियंत्रण रखती है, उसे निर्धारित करती है। दरअसल, कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि उसके आदर्श राज्य में जो तत्त्व सबसे अधिक आदर्शपरक लगते हैं, एक अर्थ में वे सबसे अधिक यथार्थपरक हैं : यथार्थ जीवन के जिन तत्त्वों का उसने गहन अध्ययन किया था और जिन्हें वह एकदम अस्वीकार करता था, वे उन तत्त्वों के प्रति घोर असंतोष का ही परिणाम हैं। उदाहरण के लिए उसका साम्यवाद उन दोषों के प्रति जागरूकता की भावना का ही फल है जो तत्कालीन शासक वर्ग में पाए जाते थे, जिसके अपने आर्थिक स्वार्थ थे और जो उन स्वार्थों की सिद्धि में अपनी राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाता था।

राज्य के पदों को हड़पने की तो कोशिश की ही, साथ ही इस भावना ने प्रत्येक नगर को अमीरों और गरीबों, शोषकों और शोषितों के दो विरोधी खेमों में बाँट दिया। अल्पतंत्र की तो यह खास बुराई थी। शासक-वर्ग में आपस में ही फूट की प्रवृत्ति थी और प्रजा के साथ उसका सदैव विरोध रहता था। अल्पतंत्रीय नगर दो खेमों में वँटा हुआ नगर था और वे दोनों ही एक दूसरे के विरुद्ध अवसर की ताक में रहते थे। और सारी बुराई की जड़ थी—धन का मोह। यदि यह मोह व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित रहता, तो अच्छा था। लेकिन, वह छूत की बीमारी की तरह राजनीति के क्षेत्र में भी फैल गया था। अमीर आदमी और अधिक अमीर बनने के फेर में रहते थे। वे कोशिश करते थे कि पदों पर उनका इजारा रहे ताकि उसके दुरुपयोग से वे अपने निजी उद्यम में लाभ उठा सकें। वे राज्य की सत्ता इसलिए हथियाते थे कि उससे 'लूट-खसोट' का कुछ माल उनके हाथ लग सके[1]। राज्य का सार तो यह है कि वह विभिन्न वर्गों के विभिन्न हितों के बीच तटस्थ और निष्पक्ष विवाचक का काम करे; पर वही राज्य इनमें से एक वर्ग के हाथों का खिलौना बन गया। शासन ने सब वर्गों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करने के बजाए औरों के विरुद्ध एक वर्ग की तरफदारी कर के उसका पलड़ा भारी कर दिया और इस तरह उनके मतभेदों पर और सान चढ़ गई। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि राज्य आपस में ही विभक्त था, या जैसा कि प्लेटो ने कहा है, प्रत्येक राज्य में दो पृथक् राज्य रहते थे : "उनमें से कोई भी राज्य ऐसा नहीं जो एक ही राज्य हो, एक-एक में अनेक राज्य हैं। कोई भी राज्य चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, वास्तव में दो राज्यों में विभक्त है—एक अमीरों का राज्य और दूसरा गरीबों का और वे हमेशा आपस में लड़ते रहते हैं" (422 E)[2]।

राजनीतिक स्वार्थ का यह दोष केवल अल्पतंत्रों में ही पाया जाता हो—ऐसी बात न थी। लोकतंत्र भी इस दोष से मुक्त न था। यह सच है कि जिस राज्य में हरेक आदमी दूसरे के बराबर हो और एक ही निष्पक्ष विधि सब पर लागू हो, जो राज्य किसी खास हित की पूर्ति करने के बजाए हर वर्ग के साथ न्याय करता हो—उसी को लोकतंत्र के समर्थक सच्चा राज्य समझते थे। लोकतंत्र समूचे समाज का

---

1. तुलना कीजिए, अरिस्टटाल, पॉलिटिक्स, 1279, a 13—15 (III.6, § 10), "आजकल लोग हमेशा ही उन फ़ायदों की खातिर पदारूढ़ रहना चाहते हैं जो सार्वजनिक आय और पद से प्राप्त हो सकते हैं"।
2. 'दो राज्यों' का यह विचार ऐसा है जिसकी प्लेटो की रचनाओं में बार-बार चर्चा हुई है। अल्पतंत्र के बारे में उसने कहा है, "ऐसा राज्य एक राज्य नहीं होता, उसमें दो राज्य होते हैं—एक गरीबों का और दूसरा अमीरों का। एक ही क्षेत्र में होते हुए भी वे हमेशा एक दूसरे के विरुद्ध षड़यंत्र रचते रहते हैं" (551 D)। इसी प्रकार, उसने लॉज़ में कहा है (712 E—713 A) कि साधारण राज्य का कोई संविधान नहीं होता। वह तो बस दो भागों में बँटा हुआ एक क्षेत्र ही होता है जिनमें से एक स्वामी होता है, दूसरा सेवक। प्रत्येक राज्य में दो राज्य होते हैं—प्लेटो के इस दृष्टिकोण में स्वभावतः डिज़रैली का 'द्वि-राष्ट्र' सूत्र और आधुनिक समाजवाद के 'वर्ग-संघर्ष' का विचार परिलक्षित होता है।

प्रतिनिधित्व करता था : अल्पतंत्र उसके एक भाग का । लोकतंत्र ने वित्त के क्षेत्र में अमीरों की, परिषद् में ज्ञानवानों की और निर्णय के क्षेत्र में जन-साधारण की प्रभुता स्थापित की[1] । लेकिन, एक चीज़ ऐसी थी जिसने प्लेटो का ध्यान भी बरबस अपनी ओर खींचा और अरिस्टाटल का भी । लोकतंत्रात्मक राज्य के नागरिक अपनी राजनीतिक सेवाओं के बदले में राज्य की तिजोरियों से जो वेतन पाते थे, उसी से वे अपनी जेबें न भरते थे; बल्कि वे अमीरों को लूटने-खसोटने के लिए भी अपनी सत्ता का प्रयोग करते थे—वे झूठे-मूठे आरोप लगा कर अमीरों की संपत्ति ज़ब्त कर लेते थे या उनके सिर सार्वजनिक सेवाएँ* थोप कर उन्हें और प्रच्छन्न रूप से लूटते थे अल्पतंत्र में शासक-वर्ग जो कुछ करता था, वही इन्होंने भी किया—यानी राजनीति को आर्थिक लाभ का स्रोत बना लिया । अल्पतंत्रात्मक और लोकतंत्रात्मक दोनों ही प्रकार के राज्यों में अर्थ-नीति और राजनीति का यह जो अभेद-सा हो गया था, इसी ने यूनान के नागरिक संघर्ष की ज्वाला में घी का काम किया था । राजनीतिक संघर्ष तो नरम भी हो सकते हैं और यह भी हो सकता है कि संघर्षरत पक्ष वैधानिक रीति से काम करें पर समाज-युद्ध में तो भावनाएँ बहुत ही कटु हो जाती हैं । यूनान का नागरिक संघर्ष इसी तरह का समाज-युद्ध था; और सांविधानिक विरोध जल्दी ही हिंसात्मक 'विद्रोह†' के रूप में परिणत हो जाता था[2] । अतः, प्लेटो के हाथों में राजनीति-दर्शन का एक ही लक्ष्य हो गया : एक ऐसी सशक्त और निष्पक्ष सत्ता की फिर से प्रतिष्ठा जिसमें अमीरों का गरीबों पर या गरीबों का अमीरों पर शासन न हो, बल्कि कुछ ऐसा शासन हो जो या तो दोनों के ऊपर रहे या कम से कम जिसमें दोनों का समन्वय हो जाए । जहाँ स्थिति यह थी कि "लोग राजनीतिक क्षेत्र में निजी लाभ की मंशा से ही कदम रखते थे," और "उसके फलस्वरूप पद-प्राप्ति के लिये संघर्ष होते थे जो बढ़ते-बढ़ते गृह-युद्ध का रूप धारण कर लेते थे"[3], वहाँ होना चाहिए

---

[1] थ्यूसीडाइड्स, IV. 39 (यह तर्क एथेनागोरस का है जो सिराक्यूज़ में लोकतंत्र के पक्ष का नेता था) ।

* अँग्रेजी में 'लिटर्गी' (liturgies)) शब्द आया है । 'लिटर्गी' के अंतर्गत विशेष प्रकार की सार्वजनिक सेवाएँ या पद आते थे जो प्राचीन एथेंस में धनी नागरिकों पर थोप दिये जाते थे । इसके लिये कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था । इसका यूनानी रूप है 'लिटोर्गिया' ।

† अंग्रेजी शब्द 'ज़ाक्री' (Jacquerie) है जिसका संकेत फ्रांस के 1358 के कृषक-विद्रोह की ओर है । अर्थ विस्तार के द्वारा इसका अभिप्राय किसी भी विद्रोह से हो सकता है ।

[2] थ्यूसीडाइड्स ने कोरसीरा के नगर-विद्रोह का जो चित्र खींचा है, उससे तुलना कीजिए : "और इन सब चीज़ों का कारण यह था कि लोग लोभ और महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर पद हथियाने के फेर में रहते थे" (III. 82) ।

[3] रिपब्लिक, 52 A । प्लेटो का कथन है (416 A) कि "साधारण शासक रखवाली करने वाले उन कुत्तों की तरह होते हैं जो अनुशासन की कमी के कारण अथवा भूख या किसी बुरी आदत से या और किसी वजह से भेड़ों पर टूट पड़ते है और उनके प्राण संकट में डाल देते हैं और कुत्तों के नहीं बल्कि भेड़ियों के तौर-तरीके अख्तियार करते हैं" ।

निःस्वार्थ शासन और नागरिक सामंजस्य।

अस्तु, प्लेटो को भावी सुधार की दिशा सुझाने वाली बातें दो थीं : एक तो अनाड़ियों की हर जगह टांग अड़ाने की प्रवृत्ति जिसे लोकतंत्र के पक्षधर बहुमुखता का नाम देते थे और जो लोकतंत्र की अपनी विशेषता है; और दूसरी थी राजनीतिक स्वार्थपरता जिसकी वजह से हमेशा कलह-क्लेश चलते रहते थे और जो अल्पतंत्र तथा लोकतंत्र दोनों की ही विशेषता थी। प्लेटो जब अपने आदर्श राज्य की रचना में प्रवृत्त होता है तो वह 'अनाड़ीपन' की इस व्यापक त्रुटि से ही शुरूआत करता है और बहुमुखता के मंत्र के विरोध में वह विशेषीकरण का सूत्र प्रस्तुत, करता है। सोफ़िस्ट कुछ हद तक बहुमुखता के प्रचारक रहे थे; और जैसा कि हम देख चुके हैं जब एलिस का हिप्पिआस अपने हाथ की बनाई हुई अँगूठी, लबादे और जूते पहन कर ओलंपिया में उपस्थित हुआ था, तब उसने दिखा दिया था कि इस बहुमुखता का व्यवहार के धरातल पर क्या अर्थ होता है। पर उन्हें यह भी अहसास हो गया था कि आदमी जो काम-धंधा करना चाहता हो, उसका अगर वह पहले से प्रशिक्षण पा ले, तो उसके लिए अच्छा ही है। राजनीति के धंधे के लिए उन्होंने अपने आप भी कुछ प्रशिक्षण देने की कोशिश की थी, और साक्रेटीज़ ने तो जोर देकर कहा ही था कि कर्म का आवश्यक आधार है ज्ञान। साक्रेटीज़ के अनुसार शासन एक कला है जिसके लिए विशेष ज्ञान की ज़रूरत होती है; और साक्रेटीज़ की इस शासन-विषयक धारणा ने प्लेटो को विशेष रूप से प्रभावित किया था। पेशेवर सैनिक और पेशेवर वक्ता तो प्रकट होने ही लगे थे। 394 ई० पू० के हल्के हथियारों से सज्जित पेशेवर सैनिकों के एक दस्ते ने यह प्रकट कर दिया था कि इस नई प्रवृत्ति से कार्यक्षमता कितनी बढ़ सकती है; और यद्यपि बाद में भी कोई फोकिनवासी* वक्ता और सैनिक दोनों हो सकता था, लेकिन उसके सम-सामयिक उसे अपवाद ही मानते थे। यह इफ़िक्रेटीज़† और ईसोक्रेटीज़ का युग था जिसमें थेमिस्टोक्लीज़ अथवा क्लिओन की नित नई सूझों की जगह व्यावसायिक प्रशिक्षण ने ले ली थी। लेकिन, प्लेटो की शिक्षा पहले की किसी शिक्षा अथवा किन्हीं प्रवृत्तियों से कहीं आगे बढ़ जाती है। उसने अपने आदर्श राज्य को तीन वर्गों में बांटा है—शासक, योद्धा, किसान—सोने के आदमी, चाँदी के आदमी और लोहे तथा पीतल के आदमी। इनमें से प्रत्येक वर्ग का अपना नियत कार्य है और वह उसी को करने में पूरी तरह अपना ध्यान लगाता है। राज्य के तीन आवश्यक कार्य हैं : शासन, रक्षा, निर्वाह। इन तीनों को व्यवसायों का रूप दे दिया गया है और अलग-अलग व्यावसायिक वर्गों को सौंप दिया गया है। प्लेटो को वास्तविक चिंता शासक और योद्धा वर्गों की ही है, किंतु उन्हें वह प्रत्येक साधन

---

* यूनान का एक नगर-राज्य जो बिओशिया और लोक्रिस के बीच में था।

† एथेंस का एक प्रसिद्ध सेनापति जिसने विशेषीकरण के विचार से प्रेरित होकर एथेनी सेना में अनेक सुधार किये थे और 329 ई० पू० में एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी लेकर स्पार्टा की विशाल सेना को मुंहकी दी थी और अपनी इस सफलता से संपूर्ण यूनानी जगत में तहलका मचा दिया था।

द्वारा भरसक अपने कार्य का प्रशिक्षण देने के बारे में भी सजग है। उसकी आस्था मूलतः ऐसी शिक्षा में है जो उन्हें अपने कर्त्तव्यों के पालन का पूरा-पूरा प्रशिक्षण दे। दूसरे, आध्यात्मिक साधनों से पूरी तरह संतुष्ट न रह कर वह भौतिक साधनों का भी सहारा लेता है। उसने साम्यवाद की ऐसी व्यवस्थित पद्धति सुझाई है कि इन वर्गों को भौतिक चिंताओं से पूरी तरह छुट्टी मिल जाए—उन्हें न तो उनमें अपना समय लगाना पड़े और न उनके मन पर उनका बोझ रहे और वे ज्ञान के अर्जन तथा समुदाय के अंतर्गत अपने कर्त्तव्य के पालन में पूरी तरह जुटे रह सकें। उसने प्रशासकों और सैनिकों दोनों को निजी संपत्ति से वंचित कर दिया है और उसने प्रयत्न किया है कि वे अन्य धंधों के सारे प्रलोभनों से मुक्त होकर, अपने आपको पूरी तरह अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों के प्रति उत्सर्ग कर दें।

प्लेटो के लिए विशेषीकरण का रास्ता एकीकरण का रास्ता भी था। यदि शासन-कार्य एक पृथक् वर्ग को सौंप दिया जाए, तो फिर शासन में पुराने संघर्ष की शायद कोई गुंजाइश न रहे। यदि हर वर्ग अपनी सीमाओं में ही रहे और अपने आपको अपने ही काम में केंद्रित रखे, तो फिर एक वर्ग की किसी दूसरे वर्ग से आसानी से मुठभेड़ न होगी। नगरों में लड़ाई-झगड़े विशेषीकरण की कमी के कारण ही होते थे। चूंकि ऐसा कोई उपयुक्त शासन न था जो अपना काम करने के लिए मुस्तैद भी हो और योग्य भी; इसीलिए स्वार्थी पद-लोलुपों में संघर्ष हुआ। चूंकि प्रत्येक राज्य में ऐसे अनेक लोग थे जिनका न तो कोई निश्चित कार्य था, न नियमित स्थिति—जिनके पास या तो एक से अधिक पद होते थे या एक भी उपयुक्त पद न होता था—इसीलिए वह सारा हंगामा, और दंगा-फसाद मचा जिसकी परिणति हुई थी गृह-युद्ध में। विशेषीकरण होने पर ये सब बातें बंद हो जाएँगी; प्रत्येक वर्ग संतोष के साथ अपना नियत कार्य करेगा; स्वार्थपरता समाप्त हो जाएगी और समूचा राज्य एकता के सूत्र में बँध जाएगा। जो लोग अपने आपको अपने कर्त्तव्य-पालन तक ही सीमित रखते हैं, वे स्वार्थी नहीं हो सकते। स्वार्थपरता का अर्थ है अपने दायरे से बाहर जाना और दूसरे के दायरे में अनधिकार प्रवेश करना। जिस शासक-वर्ग ने अपने समुचित कर्त्तव्य का उपयुक्त प्रशिक्षण पाया होगा; वह इस तरह की अनधिकार चेष्टा कभी नहीं करेगा। लेकिन, प्लेटो ने प्रशिक्षण से भी बढ़ कर एक और निश्चित व्यवस्था की है। जिन लोगों को शासन-कार्य के लिए प्रशिक्षण दिया गया हो, उन सभी को शासक-वर्ग में शामिल नहीं किया जाता। शासक-वर्ग पूरी तरह से निःस्वार्थ रहे, और ज़रा भी डगमगाए नहीं—इसके लिए प्लेटो ने पद उन्हीं और केवल उन्हीं लोगों के लिए सुरक्षित रखा है जो हर तरह की अग्नि-परीक्षा और प्रलोभनों के बीच इस विश्वास पर अडिग रहे हों कि राज्य का हित ही उनका हित है और राज्य का अहित उनका अहित। ये आध्यात्मिक साधन तो हैं ही—यानी विशिष्ट कार्य का प्रशिक्षण है, और ऐसे लोगों का चुनाव है जो विशेष प्रशिक्षण के द्वारा सबसे अधिक निःस्वार्थ सिद्ध हुए हों; पर इन सबके बाद में साम्यवाद की भौतिक गारंटी है। जिन शासकों का न कोई घर हो, न परिवार, न संपत्ति, वे स्वार्थपरायणता के प्रलोभन में न पड़ेंगे। बेईमानी की कमाई को वे न कहीं ले जा सकते हैं, न कोई ऐसा होता है जिस पर वे उसे खर्च कर सकें—इसलिए उसमें उनकी

कोई दिलचस्पी नहीं होती[1]।

अस्तु, ऊपर के सारे विवेचन का सार यह है कि हर आदमी को संतोषपूर्वक अपना निर्दिष्ट काम करना चाहिए। किंतु, प्लेटो की दृष्टि में यही न्याय है—अथवा, दूसरे शब्दों में, समाज-जीवन का सच्चा सिद्धांत है। इसलिए रिपब्लिक को 'न्याय-मीमांसा का ग्रंथ' भी कहा जाता है। इसका प्रयोजन न्याय के उन झूठे विचारों को—जिन्हें सर्वसाधारण की भूल से सोफ़िस्टों की शिक्षा ने छल-छद्म से फैला रक्खा था—हटाकर, सच्ची न्याय-धारणा की प्रतिष्ठा करना था। प्लेटो चाहे सोफ़िस्टों के सिद्धांत से लोहा ले रहा हो या वह समाज की प्रचलित प्रथा का सुधार करने में जुटा हो; उसके चिंतन की एक ही धुरी है और उसके विवेचन का एक ही मंत्र है—न्याय। अतः अब हमें यह देखना होगा कि उसके समय में न्याय के विषय में कौन-कौन से दृष्टिकोण प्रचलित थे; उसने इन दृष्टिकोणों को क्यों अस्वीकार किया, न्याय के विषय में अपनी धारणा का औचित्य उसने किस तरह सिद्ध किया और इस धारणा के क्या फल निकले। ऊपर के पन्नों में हमने संक्षेप में यह समझने की कोशिश की है कि प्लेटो ने न्याय के विषय में प्रचलित धारणाओं को किस तरह से चुनौती दी और न्याय के स्वरूप के बारे में अपनी धारणा को चरितार्थ करने के लिए किस तरह से राज्य का पुनर्निर्माण किया। अब हम आगे के विवेचन में इन्हीं बातों का विस्तार से स्पष्टीकरण करेंगे। हम देखेंगे कि किस तरह आरंभ में प्लेटो विशेषीकरण के व्यावहारिक सिद्धांत के रूप में एक धुँधली सी तस्वीर हमारे सामने रखता है और फिर उस पर जो प्रकाश-पुंज पड़ता है उससे उसका अर्थ स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है—यहाँ तक कि अंत में हमें लगने लगता है कि न्याय तो विशेषीकरण में ही निहित है, क्योंकि प्रकटतः न्याय यह है कि हर आदमी वे काम पूरे करे जिनकी सामाजिक प्रयोजनों के अनुसार उससे अपेक्षा हो। न्याय का अर्थ यही है, न इससे कम, न ज्यादा।

---

[1] "संपत्ति का साझा और परिवार का साझा दोनों ही उन्हें अधिक सच्चे संरक्षक बनाने में प्रवृत्त होते हैं…वे 'अपना-तेरा' के भेद से नगर के खंड-खंड नहीं करेंगे · बल्कि उन सबकी एक समान उद्देश्य को पूरा करने की प्रवृत्ति होगी" (464 C—D)।

(ख) न्याय के स्थूल सिद्धांत

(1) सिफ़ालस का सिद्धांत : परंपरावाद (327—36 A)

रिपब्लिक में न्याय की जिस धारणा पर सबसे पहले विचार किया गया है, वह परंपरागत नैतिकता में निहित न्याय धारणा है[1]। इस सिद्धांत का पहला व्याख्याता सिफ़ालस है। वह एक मेटिक (अथवा आवासी विदेशी) था और पिएराएस में रहता था। वह वक्ता लीसिआस का पिता था जिसके घर में संवाद का दृश्य आयोजित किया गया है। जब सिफ़ालस अपने लंबे जीवन पर निगाह डालता है और पुराने आचार-

---

[1] यह ध्यान देने की बात है कि प्लेटो ने 'न्याय' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसका कोई विधिक महत्व नहीं है। न्याय उन चार सद्गुणों में से एक है, जिनसे नैतिक श्रेय का निर्माण होता है; अन्य तीन सद्गुण हैं साहस, संयम और ज्ञान। यह श्रेय व्यक्ति की आत्मा का भी गुण है और व्यक्ति-समुदाय का भी; और इसलिए न्याय भी दोनों का गुण है। इस तरह वह व्यक्ति-नैतिकता और समाज-नैतिकता दोनों का अभिन्न अंग है। लेकिन, दोनों रूपों में उसका संबंध नैतिकता से है, विधि से नहीं। इसी अध्याय के खंड (ङ) से तुलना कीजिए।

यह ठीक है कि न्याय श्रेय का अंग है, लेकिन रिपब्लिक में उसका श्रेय से अभेद हो गया है। आत्मा के विभिन्न तत्त्वों (विवेक, उत्साह और बुभुक्षा) के पारस्परिक संबंध जितने न्यायपूर्ण होते हैं, प्राय: उसी के अनुसार व्यक्ति-आत्मा का श्रेय अथवा उत्कर्ष माना जाता है। जिस आत्मा के तत्त्वों में सामंजस्य होता है, और इस तरह जो आत्मा न्यायपरायण होती है, उसमें श्रेय भी होता है। इसी प्रकार समाज के सदस्यों के पारस्परिक संबंध जितने न्यायपूर्ण होते हैं, प्राय: उसी अनुपात में उस समाज में श्रेय निहित होता है। जिस राज्य का एक-एक सदस्य अपने नियत कार्य को निष्ठापूर्वक करता है और जिसके सब सदस्यों में सामंजस्य होता है, उसमें 'न्याय' तो होता ही है, श्रेय भी होता है। लॉज में एक और सद्गुण का—आत्म-संयम के सद्गुण का—प्राय: श्रेय के साथ अभेद कर दिया गया है (आगे अध्याय 13 (ख) से तुलना कीजिए)। लेकिन, रिपब्लिक की तरह यहाँ भी एक सद्गुण को संपूर्ण सद्गुण के बराबर मान लिया गया है। (हमें स्मरण रखना चाहिए कि) सद्गुण अखंड होता है और सद्गुण के अंगों में—न्याय या आत्म-संयम में—अंगी निहित होता है।

विचारों के बारे में सोचता है तो उसे लगता है कि न्याय इसी में है कि सच बोलो और अपनी देनदारी चुकाओ (331 C)। 'यज्ञ की देखभाल' के लिए जाते-जाते सिफ़ालस अपने पुत्र और उत्तराधिकारी पोलीमार्कस को अपनी तर्क-शृंखला विरासत में दे जाता है; और पोलीमार्कस अपने पिता के प्रति निष्ठावान् रहते हुए थोड़े-से परिवर्त्तन के साथ न्याय की पुरानी धारणा का समर्थन करता है। उसके मत से न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्तव्य देना (332 C)। विवेचन के दौरान 'उचित' शब्द के प्रयोग से यह धारणा पैदा होती है कि एक न्याय एक कला है—ऐसी कला जो मित्रों का भला करती है और इस धारणा से पोलीमार्कस की परिभाषा ही उलट-पलट हो जाती है। यदि न्याय कला या क्षमता हो, तो और कलाओं या क्षमताओं की भाँति, वह दो विरोधी काम कर सकती है। रोग की रोक-थाम करने की सबसे अधिक क्षमता डाक्टर में होती है, तो रोग पैदा करने की सबसे अधिक क्षमता भी उसी में होती है। जो व्यक्ति शिविर का सबसे अच्छा संरक्षक हो, उसमें शत्रु से आगे निकल जाने की भी सबसे अधिक क्षमता होती है। यदि न्याय क्षमता या कौशल है, तो उसका विरोधी दिशाओं में उपयोग किया जा सकता है–जैसे चिकित्सा-कौशल का या सैनिक योग्यता का। इस तरह, न्यायी व्यक्ति किसी अमानत की रक्षा भी कर सकता है, उसमें खयानत भी कर सकता है; जब चाहे तब न्यायी और जब चाहे तब अन्यायी बन सकता है[1]। और दोस्तों का भला और दुश्मनों का बुरा करने की बात कहना आसान है पर यदि दोस्त सिर्फ़ ऊपर से दोस्त और असल में दुश्मन हो तब क्या होगा? क्या तब भी परिभाषा का दृढ़ता से पालन किया जाए और उसके (दोस्त के) साथ भलाई की जाए; या तब विवेक का प्रयोग किया जाए और उसका अहित किया जाए? और अंत में, मित्रों के साथ भलाई करने के बारे में चाहे कुछ कहा जाए, शत्रुओं के साथ बुराई करना क्या कभी भी न्याय-संगत होगा? जिन लोगों को चोट पहुँचती है, वे नीचे गिरते हैं; और जो आदमी जितना बुरा है, उसे उससे और ज़्यादा बुरा बना देना कभी न्याय नहीं हो सकता। जब पोलीमार्कस के सामने ये परिणाम आते हैं, तब वह न्याय की अपनी यह परिभाषा छोड़ देता है कि वह दोस्तों के साथ भलाई और दुश्मनों के साथ बुराई करने की कला है। प्लेटो यह कहकर अपनी तर्क-शृंखला का अंत करता है कि यह परिभाषा पेरियांडर* जैसे किसी अत्याचारी शासक या क्ज़ेरेक्ज़स† जैसे निरंकुश सम्राट ने बनाई होगी—"जिसे अपनी शक्ति का बड़ा गर्व" रहा होगा। यह कथन न्याय की इस परिभाषा की भूमिका तैयार कर देता है कि वह "सबलतर का स्वार्थ है।"

---

[1] इसका संकेत विरोधी काम की शक्ति के सिद्धांतों के प्रति है (पीछे पृ० 137 से तुलना कीजिए)।

* पेरियांडर यूनान के सात संतों में से एक था जिसने 625 ई० पू० से 585 ई० पू० तक कोरिंथ पर शासन किया। आरंभ में, उसका शासन उदारतापूर्ण था पर बाद में उसमें दमन और अत्याचार का बोलबाला हो गया।

† 485 ई० पू० से 465 ई० पू० तक फ़ारस का शक्तिशाली सम्राट् जिसने मिस्र को तो अपने अधीन किया ही था, यूनान पर भी बड़ा भारी हमला किया था। इस अभियान में उसे शुरू-शुरू में तो सफलता मिली लेकिन बाद में मुँह की खानी पड़ी।

(इस विवेचन में प्लेटो ने यह कहना चाहा है कि) न्याय अथवा नीतिपरायणता इस अर्थ में कला नहीं है कि वह कोई प्रविधि हो जिसका अनुभव के द्वारा अर्जन किया जा सकता हो और जिसका दो विरोधी दिशाओं में से किसी भी एक में यथेच्छ उपयोग किया जा सकता हो। अनुभव के द्वारा उसका अर्जन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह न्यूनतर ज्ञान का विषय नहीं, महत्तर ज्ञान का विषय है। न्यूनतर ज्ञान तो रूढ़ि और अभ्यास से भी प्राप्त हो सकता है, किंतु महत्तर ज्ञान तो सिद्धांतों की पकड़ से ही और लक्ष्य के प्रति सविवेक आस्था से ही प्राप्त होता है। परंपरा तो बस उत्तराधिकार में प्राप्त और अनुभव पर आधारित मत है। ज्यों ही कोई कठिनाई पैदा होती है, यह परंपरा बिखर जाती है। मित्रों का भला और वैरियों का अहित करने का पुराना परंपरा-सूत्र या हेसिऑड* का यह सारगर्भित वचन कि "वे हमें देंगे तो हम भी देंगे, वे नहीं देंगे, तो हम भी नहीं देंगे" तब हमारा पथ-प्रदर्शन करने में असफल हो जाता है जब हमें इस बात का निश्चय नहीं रहता (और यह अवश्य होता है) कि कौन हमारा मित्र है और कौन शत्रु; किसने हमें दिया है और किसने नहीं। और फिर, न्याय का यथेच्छ विरोधी दिशाओं में भी उपयोग नहीं हो सकता। वह कोई प्रविधि नहीं है, वह तो आत्मा का गुण है, मन का स्वभाव है। और यह गुण और स्वभाव कुछ ऐसा होता है कि जो एक बार उसे पा लेता है, वह एक ही ढँग से काम कर सकता है—वह न तो किसी को नुकसान पहुँचा सकता है और न किसी के पतन का कारण बन सकता है—चाहे दोस्त हो या दुश्मन। अंत में, सच्चे न्याय में सेवा का भाव निहित है और उस सेवा-भाव में सामाजिक इकाई का विचार निहित है—जिसके प्रति सेवा अर्पित होती है। परंपरागत मत इस लक्षितार्थ की ओर से आँख बंद कर लेता है। (वह न्याय का बस दो व्यक्तियों के संबंधों के रूप में और व्यक्तिवाद के सिद्धांतों पर आधारित संबंध के रूप में ही भावन करता है)। इस मत में जिस व्यक्ति की कल्पना की गई है, वह स्वार्थ-केंद्रित व्यक्ति है, उसके पास प्रचुर साधन हैं, वह दोस्ती का बदला चुका सकता है, दुश्मनों पर पलट कर चोट कर सकता है। यही कारण है कि प्लेटो परंपरागत न्याय-धारणा को एक ऐसी चीज़ मानता है जिसका आविष्कार किसी पेरियांडर अथवा बज़ेरेक्ज़स ने किया होगा और इसी कारण प्लेटो की यह मंशा लगती है कि यह मत क्रांतिकारी मत में बदल जाता है जिसका आगे चलकर थ्रेसीमेकस के द्वारा निरूपण किया गया है।

---

* ई० पू० 8 वीं सदी का यूनान का महान् कवि जिसका नाम होमर के साथ ही लिया जाता है। जहाँ होमर ने वीरयुग की गतिशीलता और सक्रियता का वर्णन किया है, हेसिऑड ने सामान्य जीवन के सुख-दुःख, संसार की उत्पत्ति, देवताओं और वीरों के जीवन तथा कार्य-कलापों का चित्र खींचा है।

(2) थ्रेसीमेकस का सिद्धांत: आमूल परिवर्त्तनवाद (336 A—354 C)

जहाँ प्रस्तुत विवाद में सिफ़ालस और उसके उत्तराधिकारी ने प्राचीन यूनान की परंपरागत नैतिकता का प्रतिनिधित्व किया है, वहाँ थ्रेसीमेकस पाँचवीं शताब्दी के उत्तरकाल के नए और आलोचनात्मक विचारों का प्रतिनिधि है। प्लेटो ने उसे आमूल परिवर्त्तनवादी सोफ़िस्टों का प्रवक्ता माना है। इस नाते थ्रेसीमेकस को दो स्थितियाँ ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जाता है और फिर बारी-बारी से उसे दोनों ही स्थितियाँ छोड़नी पड़ती हैं। (1) वह समझता है कि न्याय समुदाय में रहने वाले व्यक्ति के काम का नियम और मानक है (रिपब्लिक में भी उसका आद्यंत यही अर्थ समझा गया है); और इस नाते वह उसे 'सबलतर का स्वार्थ' कहता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है : 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' ; आदमी जो कर सकता हो, वह उसे करना चाहिए ; वह जो पा सकता है, उसका वह पात्र भी होता है। यह तो स्पिनोज़ा के ढँग से न्याय को शक्ति से अभिन्न मानना होगा। स्पिनोज़ा व्यक्ति की शक्ति को राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा मर्यादित कर देता है, भले ही उसका ऐसा करना असंगत हो। राज्य की यह सर्वोच्च शक्ति बलपूर्वक शांति की स्थापना करती है जो सविवेक सद्गुण से अभिन्न होती है। इसके विपरीत, थ्रेसीमेकस का तर्क यह है और उसका यह तर्क संगत है कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति उन्हीं विधि-विधानों की रचना करती है जो उसके हित में होते हैं। सबसे शक्तिशाली होने के कारण राज्य अधिकार के रूप में जिस चीज़ का दावा करता है, उसे अपनी उच्चतर शक्ति के ज़ोर से न्याय का रूप दे देता है। इस तरह थ्रेसीमेकस के अनुसार समुदाय में रहने वाले आदमी के लिए किसी काम का मापदंड शासक की इच्छा है जो हमेशा अपने भले की ही इच्छा करता है ; और उसका आग्रह है कि यदि कोई व्यक्ति दृष्टि जमाकर वस्तु-जगत् को देखे, तो वह निश्चित रूप से यही पाएगा। जहाँ हर आदमी अपने हित को सामने रखकर काम करता है, और जो कुछ पा सकता है, उसे पाने की कोशिश करता है, वहाँ यह सबसे अधिक निश्चित है कि जो सबसे शक्तिशाली होगा, वह जो चाहेगा, उसे पा लेगा और चूँकि राज्य में सरकार सबसे शक्तिशाली होती है (अगर ऐसा न हो तो वह सरकार ही न होगी) अतः, वह जो कुछ चाहेगी, उसे पाने की कोशिश करेगी और उसे पा भी लेगी।

(2) पर, अगर इस ढंग से न्याय शासक के हित का ही पर्याय हो तो इसका यह निष्कर्ष हुआ कि शासक के अलावा और हर आदमी के लिए उसकी एक और परिभाषा हो सकती है और जहाँ तक जन-साधारण का संबंध है उसे 'दूसरे का हित' कहा जा सकता है। जनसाधारण के संदर्भ में 'न्यायी' होने का अर्थ है शासक के परितोष का साधन बनना : जनसाधारण के संदर्भ में अन्यायी होने का अर्थ है अपने संतोष के लिए काम करना। थ्रेसीमेकस को इसका कोई कारण नहीं सूझता कि जहाँ शासक के लिए तो अपनी मनमानी करना न्यायसंगत हो, वहाँ दूसरों के लिए इस तरह का आचरण अन्यायपूर्ण माना जाएगा। जो बात एक के लिए सच है, वह औरों के लिए भी सच होनी चाहिए। किसी भी समझदार आदमी के लिए काम का माप-दंड यह होगा कि वह अपना परितोष करे और इसलिए यदि हम न्याय और अन्याय शब्दों का रूढ़िगत अर्थ ही ग्रहण करें, तो हमें कहना होगा कि सब समझदार आदमियों के लिए सच्चा सद्गुण और सच्ची बुद्धिमत्ता अन्याय है, न्याय नहीं। अन्याय न्याय से ज्यादा अच्छी चीज़ होती है ; अन्यायी आदमी न्यायी से ज्यादा बुद्धिमान होता है। जो आदमी अपने शासक की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को पूरा करे और लाचारी में ही न्यायी बने लेकिन जो अपना बस चलने पर अन्यायी रहे और अपनी इच्छाओं को ही पूरा करे, दरअसल वही आदमी बुद्धिमान होता है। संक्षेप में यदि नैतिक शब्दों को 'वास्तविकता' के अनुरूप रहना हो, तो उनके साधारण अर्थ को उलट देना पड़ेगा।

यह हम पहले ही देख चुके हैं (पीछे पृ० 110) कि गॉर्जियाज़ में कैलीक्लीज़ द्वारा जिस नई परम नैतिकता का प्रतिपादन कराया गया है, उसकी तुलना में थ्रेसीमेकस का विचार एक ऐसे नैतिक शून्यवाद को प्रकट करता है जो देखने में कम उग्र लगने पर भी वास्तव में अधिक उग्र है। कैलीक्लीज़ और थ्रेसीमेकस दोनों ही परंपरागत नैतिकता के विरुद्ध जागृत आत्म-चेतना के विद्रोह के प्रतिनिधि हैं। यह जागृत आत्मा-चेतना अब तक तो परंपरागत नैतिकता को चुपचाप स्वीकार करती रही है, पर अब वह उसे अपने नए आत्म-बोध के कठघरे में ला खड़ा करती है। वैयक्तिकता की नई चेतना में गहराई भी है और आग्रह भी और परंपरागत नैतिकता में उसे अपनी गतिविधि पर प्रतिबंध ही प्रतिबंध मिलते हैं, और कुछ नहीं। कैलीक्लीज़ की वाणी में वह एक नूतन सहजता के साथ न्याय के एक नए सिद्धांत का आख्यान करती है—आदमी जो कर सके, करे और जो चाहे, उसे पाने का प्रयत्न करे। थ्रेसीमेकस ने वैयक्तिकता की इस नई चेतना का जिस रूप में भावन किया है, उसमें अधिक धूर्तता है, अधिक जड़ता है। इस सिद्धांत के अनुसार न्याय का तात्पर्य यह है कि आदमी जहाँ सत्ताधारी की आज्ञा मानने के लिए बाध्य हो वहाँ उसका पालन करे और जहाँ उसका बस चले, वहाँ अपनी खुशी का काम करे। प्लेटो की तरह जो लोग इस चरम व्यक्तिवाद के दोषों का उद्घाटन करना चाहें, उन्हें अपने जवाब में मानव व्यक्तित्व के स्वरूप और 'अधिकारों' की अधिक सच्ची धारणा पेश करनी होगी। उन्हें दिखाना होगा कि 'आत्म' कोई अलग-थलग इकाई नहीं है, वह एक व्यवस्था का अंग है और इस व्यवस्था में उसकी अपनी एक स्थिति है और आदमी को अभिव्यक्ति की पूर्णता तथा सुख की सच्ची अनुभूति तभी मिल सकती

है जब वह यथास्थिति अपने कर्त्तव्य का पालन करता हो। प्लेटो का यही आखिरी जवाब है और उसने यही जवाब देने के लिए रिपब्लिक की रचना की है। किंतु फिलहाल वह अपने तर्क से उस सिद्धांत का खंडन करके ही संतुष्ट हो जाता है। थ्रेसीमेकस ने दो दृष्टिकोण पेश किए हैं—सरकार का उद्देश्य अपने निजी लाभ के लिए काम करना है और अन्याय न्याय से ज़्यादा अच्छा होता है। प्लेटो ने इन दोनों दृष्टिकोणों पर बारी-बारी से विचार किया है। पहले दृष्टिकोण के विरोध में उसने शासन को कला के रूप में ग्रहण करने की सुकराती धारणा प्रस्तुत की है। उसका तर्क है कि सारी की सारी कलाओं का आविर्भाव उनकी प्रतिपाद्य सामग्री के दोषों के कारण होता है। चिकित्सक शरीर के दोषों का उपचार करने की कोशिश करता है और शिक्षक मन के। प्रत्येक कला का लक्ष्य और उद्देश्य होता है—अपनी सामग्री का उन्नयन। उदाहरण के लिये पूर्ण शिक्षक वह होगा जो अपने शिष्य के मन के सारे दोष दूर कर दे और उसकी सारी निहित शक्तियों-संभावनाओं को जगा दे और इसीलिए, जिस हद तक शासक शासक की हैसियत से और अपनी कला के अनुरूप आचरण करता है, उस हद तक वह पूरी तरह निःस्वार्थ होता है, और उसका एक ही लक्ष्य होता है—जो नागरिक उसकी छत्रछाया में हैं, उनकी खुशहाली। यह सच है कि शासक भी अपने निजी लाभ के लिए काम कर सकता है, वह अपने शासकीय काम करके मजूरी कमा सकता है। पर यह काम वह शासक की हैसियत से, शासन-कला के व्यवहर्त्ता की हैसियत से नहीं करता, वह यह काम जीविका कमाने वाले की हैसियत से करता है, जीविकार्जन-कला के व्यवहर्त्ता की हैसियत से। थ्रेसीमेकस की पहली स्थिति के बारे में प्लेटो का यह जवाब है। उसने जो दूसरी स्थिति ग्रहण की है उसके उत्तर में वह जो तर्क देता है उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि न्यायी व्यक्ति अन्यायी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान्, अधिक बलवान् और अधिक सुखी होता है। वह अधिक बुद्धिमान् इसलिए होता है कि वह डेल्फ़ी की पुरानी शिक्षा पर चलता है और मर्यादा को स्वीकार करने की आवश्यकता समझता है। यह सच है कि वह दूसरों के साथ होड़ करना चाहता है लेकिन, अन्यायी व्यक्ति की तरह वह हरेक के साथ प्रतियोगिता नहीं करना चाहता और न वह केवल प्रतियोगिता के लिए ही प्रतियोगिता करना चाहता है। प्रतियोगिता उसका साध्य नहीं होता। उसका लक्ष्य होता है पूर्ण उत्कर्ष; वह केवल उन्हीं लोगों के मुकाबले पर आता है जिन्होंने उस उत्कर्ष को प्राप्त न कर पाया हो और वह उनके मुकाबले पर इस तरह आता है मानो वह संयोग की बात हो। वह इसलिए प्रतियोगिता नहीं करता कि उसे प्रतियोगिता प्रिय होती है, बल्कि इसलिए करता है कि उसे उत्कर्ष प्रिय होता है। जो आदमी बुरा हो, वह उससे अच्छा बनना चाहता है, जो आदमी पहले से ही अच्छा हो, उसे पछाड़ना उसे काम्य नहीं। किंतु यह जीवन के सभी क्षेत्रों में बुद्धिमत्ता का लक्षण है। बुद्धिमान् चिकित्सक अथवा संगीतकार वह है जो प्रतियोगिता करना नहीं, उत्कर्ष प्राप्त करना चाहता है। और न्यायी व्यक्ति जिसमें बुद्धिमत्ता का यह लक्षण होता है—अन्यायी व्यक्ति से—जिसमें यह लक्षण नहीं होता—निश्चित रूप से अधिक बुद्धिमान् होता है[1]। इस प्रकार,

---

[1] प्लेटो की शिक्षा यह है कि प्रतियोगिता की ही खातिर प्रतियोगिता करना, उसे स्वतः साध्य मानना अज्ञान और अन्याय का लक्षण है। यह शिक्षा कुछ

मर्यादा के सिद्धांत को मानने के कारण न्यायी व्यक्ति अन्यायी से अधिक बुद्धिमान् तो होता ही है, वह उससे अधिक शक्तिशाली भी होता है। यदि कुछ लोग लाचारी में अन्यायी भी हों, तो अन्यायपूर्ण काम करने की ताकत हासिल करने के लिए उन्हें न्यायी होना पड़ेगा; उन्हें एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा होना पड़ेगा और एक दूसरे के प्रति न्याय का आचरण करना पड़ेगा।

न्यायी व्यक्ति किसी न किसी सिद्धांत के द्वारा अपने साथियों से बंधा हुआ होता है। उसकी शक्ति के कारण वह अन्यायी व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली तो होता ही है; पर आखिरी बात यह है कि वह उससे अधिक सुखी भी होता है। न्यायी व्यक्ति के इस अंतिम लक्षण को प्लेटो ने जिस तर्क के द्वारा सिद्ध किया है, वह सबसे अधिक महत्त्व का है। उसका तर्क है कि हर चीज़ का एक नियत कार्य होता है जिसे कोई और चीज़ नहीं कर सकती या कम से कम उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकती (352 E)। यहाँ हम विशिष्ट कार्य के उस सिद्धांत पर पहुँच जाते हैं जो, हम आगे चल कर देखेंगे, रिपब्लिक की धुरी है और उसके न्याय-सिद्धांत का मूल आधार। कार्य के सिद्धांत से चलकर प्लेटो स्वभावतः सद्गुण अथवा उत्कर्ष के सिद्धांत की ओर मुड़ जाता है। किसी चीज़ का गुण अथवा उत्कर्ष यह है कि वह अपने नियत कार्य को ठीक-ठीक संपन्न करे। आँख का गुण है विमल दृष्टि; कान का गुण है सु-श्रवण। अस्तु, आत्मा का अपना नियत कार्य है और इसके साथ ही उसका तत्संबंधी गुण अथवा उत्कर्ष है। यह कार्य है जीवन और यह गुण अथवा उत्कर्ष है साधु जीवन। अपने गुण से वंचित होने पर कोई भी अपना कार्य नहीं कर सकता और यदि आत्मा में उसका उचित गुण न हो तो वह अपना कार्य ठीक से नहीं कर सकती। इसलिए, आत्मा अपना कार्य तभी कर सकती है जब वह साधु जीवन के गुण से संपन्न हो—जिसकी दूसरी संज्ञा है न्याय। परंतु, यदि आत्मा साधु जीवन के गुण से या न्याय से संपन्न होगी, तब वह सुख से भी संपन्न होगी जो अनिवार्यतः साधु जीवन से

हद तक यूनान की मर्यादा संबंधी उस पुरानी धारणा का परिणाम है जिसका प्रवर्त्तन डेल्फ़ी की देववाणी के कारण हुआ और जो पायथागोरसवादियों के कारण दृढ़तर हुई (पीछे पृ० 73 देखिए)। किंतु इससे भी अधिक वह उसके न्याय-सिद्धांत का परिणाम है जिस तक पहुँचने के लिए वह अपना रास्ता टटोल रहा है और जिसके अनुसार न्याय का तात्पर्य है अपने विशिष्ट कर्त्तव्य का बुद्धिमत्तापूर्वक पालन। जब हर आदमी इस तरह के काम में लगा होगा, तब लोग एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता नहीं करेंगे क्योंकि उनके कार्य प्रतियोगितामूलक न होकर पूरक होंगे। यदि हम प्लेटो की सीख को आधुनिक आर्थिक शब्दावली में व्यक्त करें, तो कहना होगा कि आर्थिक प्रतियोगिता अपने आप में अच्छी नहीं होती, किंतु वह आर्थिक उत्कर्ष की सिद्धि की अर्थात् अधिक से अधिक संपदा की उत्पत्ति के साधन के रूप में अच्छी होती है। ऐसा होगा तो बुद्धिमान् उत्पादक सभी उत्पादकों के साथ प्रतियोगिता करने की कोशिश नहीं करेगा; वह केवल उनके साथ प्रतियोगिता करेगा जिनका उत्पादन निकृष्ट होगा। वह प्रतियोगिता के लिए प्रतियोगिता नहीं करेगा। उसकी प्रतियोगिता का तो एक ही लक्ष्य होगा—आर्थिक उत्कर्ष।

पैदा होता है; और जो आत्मा अधिक गुणी, या दूसरे शब्दों में अधिक न्यायी होती है, वह अधिक सुखी भी होती है। और चूंकि सुख दुख की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, अतः निष्कर्ष निकलता है कि न्याय अधिक सुखी होने के कारण अन्याय से अधिक लाभदायक अवस्था भी है[1]।

इन तर्कों में कुछ गहनतर धारणाएँ निहित हैं जिनका प्लेटो आगे चलकर उद्घाटन करता है। न्याय को ऐसी शक्ति के रूप में मानने का सिद्धांत जो किसी भी मनुष्य-समाज में सामंजस्य की स्थापना करती है, और हर चीज़ के लिए नियत कार्य-विशेष का सिद्धांत—ये सिद्धांत ऐसे हैं जिनका रिपब्लिक के बाद के खंडों में पूरा-पूरा विकास-विस्तार किया गया है। किंतु, ये तर्क जिस रूप में हैं, उस रूप में युक्ति-संगत हैं। इनसे हमें ज्ञात होता है कि प्लेटो सोफ़िस्टों के साथ उनकी शब्दावली में ही विनोद कर रहा है और उन्हें उनकी चाल से ही मात दे रहा है। ये तर्क ध्वंसात्मक हैं, रचनात्मक नहीं। इनमें बताया गया है कि थ्रेसीमेकस के न्याय-सिद्धांत पर हम क्यों विश्वास न करें ; यह नहीं बताया गया कि किस न्याय-धारणा में हम विश्वास करें। इन तर्कों से इस विकल भावना का लोप नहीं हो सका है कि सोफ़िस्टों की निर्दयता को हम भले ही दरकिनार कर दें, पर यह तो तथ्य ही है कि न्याय कुछ ऐसी चीज़ है जिसे मानव प्रवृत्ति सहज भाव से ग्रहण नहीं करती, वह तो मानो कुछ अस्वाभाविक-सी चीज़ है और आदमी में सिर्फ़ इसलिए मौजूद है कि रूढ़ि ने उसके मन में उसे प्रतिष्ठित कर दिया है और बरबस उसे वहाँ बनाए रखा गया है। समाज की यही साधारण भावना होती है, लोकमत में यही स्वर व्यक्त होता है। फलतः प्लेटो इस मत की आलोचना शुरू कर देता है और यह सिद्ध करने के लिए कि न्याय मानव-प्रकृति में समाया हुआ होता है और वह मानव-आत्मा की स्वाभाविक व्यवस्था, सामंजस्य-रूप होता है, वह तर्कशास्त्र को त्यागकर मनोविज्ञान का सहारा लेता है और शब्दों के विश्लेषण को छोड़ कर मानव-प्रकृति का विश्लेषण करने लगता है[2]।

---

1. विचार करने पर लगेगा कि यह तर्क कुछ हद तक वाणी का चमत्कार है और इस तथ्य पर आधारित है कि 'साधुता' (goodness) और 'अच्छी तरह रहना' (living well) के लिए जो यूनानी शब्द (अरेंती और अफ़ज़ीन) हैं, उनके दोहरे अर्थ हैं (या कम से कम उनकी अर्थ-व्यंजना व्यापक है)। इनके अँग्रेज़ी पर्यायों में यह बात नहीं है। 'साधुता' में मानो नैतिक उत्कर्ष ही नहीं, बौद्धिक क्षमता भी निहित है। 'अच्छी तरह रहना' का अर्थ केवल साधु-जीवन व्यतीत करना ही नहीं है, सुख से रहना भी है। किंतु, यह तर्क जितना वाणी का चमत्कार है, उतना ही यथार्थ भी है। साधुता से प्लेटो का जो अर्थ है उसमें बौद्धिक के साथ-साथ नैतिक गुण भी निहित है; और फिर वह यह भी कहना चाहता है कि इस गुण के व्यवहार से और इसकी शक्ति के द्वारा सर्वोच्च सुख की सिद्धि होती है।
2. नैटिलशिप, लैक्चर्स पृ० 48। इसके साथ ही यह याद रखना चाहिए कि प्लेटो ने बाद में जो बात सिद्ध करने की कोशिश की है,वह परोक्षतः पहले ही मान ली है। न्याय आचरण की रूढ़िगत संहिता नहीं है, वह तो आत्मा का आंतरिक उत्कर्ष है।

(3) ग्लॉकन का सिद्धांत : अर्थक्रियावाद (357—67 E)

ग्लॉकन ने नए दृष्टिकोण का स्पष्ट ही इस प्रयोजन से निरूपण किया है कि साक्रेटीज़ के तर्क से उसका आमना-सामना और विरोध हो। उसने थ्रेसीमेकस की इस स्थिति को ग्रहण नहीं किया कि अपने स्वार्थों के प्रति उद्दिष्ट, सबलतम की इच्छा ही न्याय होती है पर थ्रेसीमेकस जैसी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर उसने यह स्थापना की है कि न्याय एक कृत्रिम चीज़ है, रूढ़ि की उपज है। सामाजिक-संविदा संप्रदाय के आधुनिक लेखक जिस दृष्टिकोण की पैरवी करते हैं, प्राय: उसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए ग्लॉकन ने तर्क दिया है कि प्राकृतिक अवस्था में लोग बेझिझक और बेरोक-टोक अन्याय करते और सहते हैं। उन्हें यह अवस्था असह्य लगती है; और इसके तीन परिणाम निकलते हैं। एक—जब कमज़ोर लोग यह देखते हैं कि वे जितना अन्याय कर सकते हैं, उससे ज्यादा उन्हें सहना पड़ता है, तब वे एक दूसरे के साथ संविदा कर लेते हैं कि न तो अन्याय करेंगे और न करने देंगे। दो—संविदा को कार्यान्वित करने के विचार से वे एक विधि निर्धारित करते हैं जिसकी रूढ़ियाँ बाद के कार्यकलाप के लिए कसौटी का और न्याय-संहिता का काम देती हैं। अंतिम बात यह कि मानव-प्रकृति अपनी सच्ची सहजवृत्ति को जो आत्म-परितोष पाने की होती है त्याग देती है और भविष्य में विधि में निहित 'बल' के कारण विकृत होने के लिए सहमत हो जाती है। यह इस संविदा का और इन रूढ़ियों का परिणाम है। न्याय का जन्म भय से होता है : "वह सबसे अच्छे और सबसे बुरे के बीच का रास्ता है, समझौता है। सबसे अच्छा यह है कि अन्याय न करे और दंड न भोगना पड़े और सबसे बुरा यह है कि अन्याय सहें और बदला न ले सकें" (359 A)। इस प्रकार, थ्रेसीमेकस ने तो न्याय को प्रभुत्व की वृत्ति पर आधारित माना था और कहा था कि वह सबलतर का स्वार्थ है; पर ग्लॉकन ने उसे भय की वृत्ति पर आधारित माना है और कहा है कि वह दुर्बलता की आवश्यकता है। उसकी विचार-शृंखला तो वही है जो थ्रेसीमेकस की थी, पर वह मानो दूसरे छोर से अपना विवेचन शुरू करता है और बलवान् की क्षुधा को नहीं, बल्कि कमज़ोर के भय को आधार-रूप में ग्रहण करने के कारण वह ऐसी परिभाषा पर पहुँचता है जो थ्रेसीमेकस की परिभाषा से बिल्कुल उल्टी है।

यह सिद्धांत अकेले ग्लॉकन का सिद्धांत नहीं है, बल्कि हॉब्स[1] जैसे आधुनिक लेखकों का भी सिद्धांत है। यह सचमुच ऐसा स्थूल सिद्धांत है जिसके प्रति हमारी आदिम वृत्तियाँ सहज आकर्षित होती हैं। आधुनिक विचारकों ने इस समूचे सिद्धांत की एक-एक बात का युक्तियुक्त उत्तर दिया है। पहली बात तो यह है कि कभी कोई वास्तविक या प्रत्यक्ष 'संविदा' हुआ नहीं। हर करार की एक शर्त्त होती है और हमेशा होगी। अलिखित और लक्षित संविदे की भी एक शर्त्त का होना अनिवार्य है। एक ओर तो समुदाय के सदस्यों में सदा ही अधिकारों की पारस्परिक मान्यता होती है। लोगों ने इस मान्यता को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है, लेकिन, राजनीतिक समाज के अर्थ में राज्य की संस्थापना के लिए—व्यष्टितः और समष्टितः—'समाज-संविदे' की चर्चा करके उन्होंने इन अधिकारों को निष्प्राण ही और कर दिया है मानो राजनीतिक समाज की कभी संस्थापना की गई हो। और दूसरी ओर सदा ही शासित की यह इच्छा रहती है कि उसका शासक शासन करे और शासक की यह मान्यता होती है कि वह इस इच्छा पर निर्भर है। शासन-व्यवस्था के अर्थ में राज्य की संस्थापना के लिए शासक और शासित के बीच 'शासन के संविदे' की इसी प्रकार की चर्चा से यह इच्छा भी उतनी ही रूढ़िबद्ध हो गई है—मानो शासन-व्यवस्था राजनीतिक समाज का, जो स्वतः मानव-स्वभाव का आधारभूत गुण है, अनिवार्य अंग न हो। दूसरे यदि हम 'रूढ़िगत' और कृत्रिम शब्दों का कोई भी उचित अर्थ लें तो उस अर्थ में विधि अपनी समग्रता में रूढ़िगत अथवा कृत्रिम नहीं होती। यदि रूढ़िगत का मतलब कोई ऐसी चीज़ हो, जिसे आदमी ने बनाया है, तो विधि निश्चित रूप से रूढ़िगत है। लेकिन, इस तरह तो 'चट्टानों; पत्थरों और पेड़ों' को छोड़कर और सभी चीज़ें रूढ़िगत हैं। यदि रूढ़िगत का मतलब ऐसी चीज़ों से हो जिनका आदमी ने सचेष्ट

---

[1] हॉब्स का भी विश्वास है कि न्याय का भाव मनुष्य के अंतर्मन में व्याप्त नहीं है बल्कि उसका सर्जन संविदा के द्वारा होता है और वह सत्ता के द्वारा लागू किया जाता है। "न्यायी और अन्यायी के नाम का महत्त्व तो तभी हो सकता है जब कि बलप्रयोग करने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो" (अध्याय XV); "कारण यह है कि जब सामान्य लोगों में मतभेद हों—तब क्या सुनीति है, क्या न्याय है और क्या नैतिक सद्वृत्ति है, इसका फैसला करने और उस पर अमल करने के लिए प्रभुत्व-संपन्न शक्ति के अध्यादेशों की जरूरत होती है" (अध्याय XXVI)। उसके दृष्टिकोण में मानव-प्रकृति का जो विचार निहित है, वही उसकी मूल भूल है (प्लेटो ने ग्लॉकन के दृष्टिकोण के विरोध में बिल्कुल यही कहा है)। मानव प्रकृति के विषय में हॉब्स का यह व्यष्टिपरक विचार है कि मनुष्य एक स्वार्थरत जीव है, कि मानव की प्रकृति में हम लड़ाई के तीन कारण पाते हैं, पहला—प्रतियोगिता, दूसरा—अविश्वास और तीसरा—यशलिप्सा। अगर हम इस दृष्टि से देखें तो न्याय केवल एक बनावटी चीज़ मानी जा सकती है। वह आत्मरक्षा के अनुरूप मानव-प्रकृति की सहज वृत्तियों पर आघात करता है और सहजवृत्ति के निर्बाध परितोष द्वारा इस आघात को रोका जा सकता है। फलतः, जिस तरह प्लेटो ने ग्लॉकन का खंडन किया है उसी तरह हॉब्स का भी मानव प्रकृति के एक विरोधी सिद्धांत द्वारा खंडन किया जा सकता है, इस दृष्टिकोण की अस्वीकृति द्वारा खंडन किया जा सकता है कि मानव स्वभाव से ही स्वार्थरत होता है।

रूप से निर्माण किया हो और यदि इस तरह की चीज़ों और सहज-स्वाभाविक रूप से बढ़ने वाली चीज़ों में कोई विरोध मानें, तो बहुत सी विधियाँ रूढ़िगत होंगी और बहुत सी प्राकृतिक। पर, दोनों के बीच कोई बड़ी खाई नहीं है क्योंकि जब मनुष्य सचेष्ट रूप से निर्माण करता है, तब उसके सिद्धांत उन सिद्धांतों से एकदम भिन्न नहीं होते, जिनके अनुसार वह चीज़ों का सहज रूप से विकास करता है[1]। दरअसल, बात यह है कि पहले तो विधि का प्रायः विकास हुआ है और फिर निर्माण। विरोधाभास की शब्दावली में कहा जाए तो पहले वह लोकाचार के रूप में होती है, बाद में संहिता बन जाती है। बहरहाल, सहज विकास और सचेत निर्माण की अवस्थाओं को परस्पर विरोधी मान लेना—मानो वे एक दूसरे के प्रतिकूल हों—एकदम ग़लत है। मनुष्य एक इकाई है और वह दो बिल्कुल विरोधी दिशाओं में काम नहीं कर सकता। लेकिन साधारण बातचीत में 'रूढ़िगत' शब्द इनमें से किसी भी अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। जब हम रूढ़ियों की बात करते हैं, तब हमारा अभिप्राय न तो मनुष्य की किसी भी सृष्टि से होता है और न किसी सचेत सृष्टि से। हमारा मतलब तो आदमी की किसी ऐसी सृष्टि से होता है जो अब अपने मूल प्रयोजन को पूरा न करती हो; पर फिर भी जो अस्तित्व के अधिकार का दावा करती हो। इस अर्थ में, विधि अपनी समग्रता में निश्चय ही रूढ़िगत नहीं होगी; हाँ, कुछ विधियाँ रूढ़िगत हो सकती हैं[2]। आख़िरी बात यह है कि विधि के आदर और विधि की सत्ता का आधार 'बल' नहीं होता, इच्छा होती है। विधियाँ मान्य इसलिए होती हैं कि समुदाय के सदस्य जिन कामों के बारे में सोचते हैं कि वे उन्हें करने चाहिए, उन्हें करने की इच्छा उसमें मूर्त्तिमंत होती है। विधियों की शक्ति का आधार यह नहीं है कि उन्हें लागू करने के लिए लोगों में कितना बल है, उनकी शक्ति का आधार यह है कि उनका पालन करने के लिए लोगों में कितनी तत्परता है। (जब हम किसी व्यक्ति को दंड देकर विधि को 'लागू' करने की बात करते हैं तब यह एक तरह से ज़ोर-जबर्दस्ती-सी लगती है)। पर, यह जो ज़ोर-जबर्दस्ती सी लगती है, असल में उस व्यक्ति की ग़लत काम करने की इच्छा को दबा कर उसकी सदिच्छा की प्रतिष्ठा ही होती है—चाहे वह खुद उसी के खिलाफ क्यों न पड़ती हो।

पर प्लेटो ने ग्लॉकन की युक्ति का जिस पद्धति से उत्तर दिया है, वह अधिक सरल और अधिक तात्त्विक है। वह यह समझ लेता है कि अब तक जिन विचारों का विवेचन किया गया है—सिफ़ालस और पोलीमार्कस के विचार, थ्रेसीमेकस और ग्लॉकन के विचार—उन सबमें एक तत्त्व समान रूप से पाया जाता है। उन सबने न्याय पर इस तरह से विचार किया है मानो वह कोई बाहर की चीज़ हो—कोई उपलब्धि हो, कोई आरोपित चीज़ हो या कोई रूढ़ि हो। उनमें से किसी ने आत्मा के भीतर उसके दर्शन नहीं किए, उसे उसके आवास में प्रतिष्ठित करके नहीं देखा। अतः प्लेटो, यह सिद्ध

---

1. प्लेटो ने लॉज़ में इस तर्क का अपने आप प्रयोग किया है (आगे अध्याय 16 (ख) से तुलना कीजिए)।
2. प्राकृतिक और रूढ़िगत के संबंध का यह विचार नेटलशिप पर आधारित है (लेक्चर्स, पृ० 54—7)।

करने में दत्तचित्त हो जाता है कि न्याय न तो किसी संयोगमूलक रूढ़ि से जन्मता है और न उसकी मान्यता किसी बाहरी शक्ति पर निर्भर होती है। इसके विपरीत, वह तो अनादि और अनंत है और उसकी अपनी महिमा ही उसका बल है। इसके लिए वह बस इतना कर दिखाता है कि अगर मनुष्य पर उसके पूर्ण पर्यावरण के संदर्भ में विचार किया जाए (और उस पर इसी रूप में विचार किया जाना चाहिए), तो हम पाएँगे न्याय ही मानव-आत्मा की उचित अवस्था है—और मानव की प्रकृति को ही उसकी अपेक्षा होती है। इस तरह, न्याय कुछ अंतरंग सी चीज़ बन जाती है। थ्रेसीमेकस और ग्लॉकन ने न्याय को एक बहिरंग चीज़ समझा था—मानो वह भौतिक उपदेशों का संकलन भर हो जो आत्मा को चुनौती दे रहा हो और किसी बाहरी शक्ति के बूते पर आत्मा को नियंत्रित करने के लिए प्रयत्नशील हो। पर, अब न्याय को एक अंतरंग परिष्कार के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और उसे समझने के लिए अंतरंग मानव का अध्ययन ज़रूरी माना जाता है। प्लेटो एकदम से मानव-मन का विश्लेषण नहीं करने लगता; बल्कि वह एक ऐसा तरीका अपनाता है जो पहले-पहल देखने पर अजीब-सा लगता है। यदि हमें कोई ऐसी पांडुलिपि पढ़नी हो जिसकी दो प्रतियां हों—एक बारीक अक्षरों में और दूसरी मोटे अक्षरों में; तो हमें निश्चय ही वह प्रति पढ़ने की कोशिश करनी चाहिए जो मोटे अक्षरों में लिखी हुई हो। न्याय ऐसी ही पांडुलिपि की तरह होता है : वह एक और अनन्य है; लेकिन उसकी दो प्रतियां हैं जिनमें से एक प्रति दूसरी से बड़ी है। वह राज्य और व्यक्ति दोनों में ही विद्यमान होता है पर वह राज्य में ज्यादा बड़े पैमाने पर और अधिक व्यक्त रूप में पाया जाता है। अतः प्लेटो पहले तो न्याय के उस व्यापकतम और सबलतम रूप पर विचार करता है जिस रूप में वह राज्य में विद्यमान होता है; इतना ही नहीं, वह नवजात राज्य में उसके रूप पर विचार करता है—यानी उसके सबसे सरल और सबसे स्पष्ट रूप पर[1]। और वह शुरू से ही एक काल्पनिक राज्य का निर्माण करता है और निश्चय ही राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश करता है ताकि न्याय को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

---

1. इसी तरह, अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के पहले खंड में राज्य और गृहस्थी का भेद स्पष्ट करने के लिए पहले नवजात राज्य पर विचार करने का प्रस्ताव किया है। पर हम देखेंगे कि प्लेटो ने वस्तुतः राज्य के ऐतिहासिक विकास पर नहीं उसके तर्कसंगत विकास पर विचार किया है; और यही बात अरिस्टाटल के बारे में सही है।

(ग) आदर्श राज्य का निर्माण

प्लेटो जिस 'राज्य' का निर्माण शुरू करता है, उसकी परीक्षा करने से पहले यह बहुत ज़रूरी है कि प्लेटो ने व्यक्ति और राज्य के बीच जो सादृश्य बताया है, हम उसे ठीक-ठीक समझ लें। यह हम देख ही चुके हैं कि **रिपब्लिक** की एक प्रमुख विशेषता भौतिक दृष्टांतों का प्रयोग है; लेकिन यह कोई भौतिक दृष्टांत नहीं है। यह राज्य और मानव-शरीर का कोई ऐसा सादृश्य नहीं है—जैसा कि, उदाहरण के लिए हॉब्स ने **लेवियाथन** में और स्पेंसर ने **प्रिंसिपिल्स ऑफ सोशियोलॉजी** में व्यक्त किया है। जब हम **रिपब्लिक** के इस भाग पर पहुँचते हैं, तब बहिरंग और भौतिक तत्त्व पीछे रह जाते हैं, और यहाँ प्लेटो यह खोजने में जुटा है कि न्याय का प्राण क्या है। अतः, यहाँ जो सादृश्य है, वह आध्यात्मिक सादृश्य है। यह सादृश्य व्यक्ति-चेतना और राज्य-चेतना का है—फिर चाहे यह व्यक्ति-चेतना समग्रतः सक्रिय हो या अपनी अलग-अलग क्षमताओं (जैसे-बुभुक्षा की या विवेक की क्षमता) के अनुरूप सक्रिय हो, और इसी तरह राज्य-चेतना चाहे समुदाय के मानस में व्यक्त हो या उसके विभिन्न वर्गों में। लेकिन, सादृश्य शब्द भ्रामक है—भले ही हम यह मानकर चलें कि उसे आध्यात्मिक अर्थ में ग्रहण करना है। इसके भ्रामक होने का कारण यह है कि इससे ध्वनि निकलती है कि राज्य और व्यक्ति अलग-अलग चीज़ें हैं, जिनके बारे में अलग करके सोचा जा सकता है और जिनकी तुलना की जा सकती है। पर वे अलग-अलग हैं नहीं। व्यक्ति-चेतना और राज्य-चेतना में भेद नहीं किया जा सकता। जब राज्य के सदस्य उसके सदस्यों के रूप में सोच-विचार करें, तब उनकी चेतना ही राज्य की चेतना होती है। इस चेतना का एक खास उदाहरण लें—जब व्यक्ति राज्य के सदस्यों की हैसियत से विचार कर रहे हों या काम कर रहे हों, तब उनका साहस ही राज्य का साहस होता है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति, सड़क पर किसी गुंडे से मुठभेड़ होने पर व्यक्तिगत साहस का भी परिचय दे सकता है और (अपने साथियों के साथ मिलकर) रणक्षेत्र में अपने राज्य के शत्रुओं से लड़ते समय उस साहस का भी परिचय देता है जिसे प्लेटो ने राज्य का साहस कहा है। लेकिन व्यक्ति के साहस और राज्य के साहस दोनों का एक ही चेतना में निवास होता है। तब फिर, प्लेटो इस चेतना का पहले उसके सामाजिक पहलू को सामने रखकर क्यों अध्ययन करता है ? सिर्फ़ इसलिए कि ज़्यादा लोगों से संबंधित होने के कारण यह

चेतना अधिक स्पष्ट और अधिक बड़ी चीज़ है और इसकी परिणति ऐसे बहिरंग कर्म के रूप में होती है जो देखने में ज़्यादा प्रभावशाली लगता है। अतः, संक्षेप में, मानव-आत्मा के विश्लेषण का प्रयत्न करते हुए और इस तरह उसके भले के लिए न्याय की अनिवार्य आवश्यकता की खोज करते हुए प्लेटो यह अध्ययन करने लग जाता है कि आत्मा अपने सामाजिक पहलू में कैसे सक्रिय होती है, क्योंकि उसका विश्वास है कि सारे सामाजिक व्यापार उसी से जन्म लेते हैं और उसका यह भी विश्वास है कि ये व्यापार ऐसे जाने-पहचाने हैं कि उस आत्मा को समझने के लिए जिससे उनका जन्म होता है—वे सबसे अच्छे सूत्र हैं। "राज्यों का जन्म वृक्षों से या चट्टानों से नहीं, किंतु उनमें बसने वाले व्यक्तियों के चरित्रों से होता है"[1]। अतः जो लोगों के चरित्रों का अध्ययन करना चाहें; उन्हें उनके राज्यों का अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि मनुष्य की सारी संस्थाएँ उसके मानस की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। उसके विचार ही उसकी संस्थाएँ हैं। विधि उसके चिंतन का अंग है, न्याय उसके मन का स्वभाव। इन चीज़ों के बहिरंग और व्यक्त चिह्न होते हैं—लिखित संहिता, न्याय-पीठ। पर जो अंतरंग और आध्यात्मिक विचार उन्हें बनाता और सँभालता है, वही एक-मात्र वास्तविकता है। जो कुछ गोचर है अपने आप को उससे अलग करके देखना और गोचर को विचार का परिधान-भर समझना मुश्किल है। न्याय को सजीव विचार के बजाए राजदंडों और फरमानों के रूप में देखना ज़्यादा आसान होता है। पर हम अंतर्मन में झांक सकें, ग्लॉकन की धारणा को छोड़ सकें और सात्रेटीज के पदचिह्नों पर चल कर मानव-मन के भीतर न्याय के दर्शन कर सकें—इसके लिए हमें बहुत बड़ा क़दम उठाना होगा। प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों ने यही कदम उठाया था और राजनीति-चिंतन को यही उनकी देन है, चिरंतन देन।

प्लेटो राज्य की रचना द्वारा आत्मा के स्वरूप को समझाना चाहता है, लेकिन इसके लिए वह यह मानकर चलता है कि हमें मनोविज्ञान की कुछ जानकारी पहले से ही है। वह कुछ हद तक पहेली बुझाता है[2]। चूँकि राज्य मानव-आत्मा की सृष्टि है, अतः उसकी रचना मानव-आत्मा के तिहरे स्वरूप की धारणा में निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार हुई है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं (पृ० 73) रिपब्लिक की ओर बहुत-सी बातों की तरह इस धारणा के लिए भी प्लेटो पायथागोरस और उसके अनुयायियों का ऋणी लगता है। पायथागोरस के सिद्धांतों में एक सिद्धांत तीन वर्गों का है—ज्ञान के प्रेमी, सम्मान के प्रेमी और धन के प्रेमी; और शायद इसी सिद्धांत में आत्मा के तीन भागों—विवेक, उत्साह और बुभुक्षा—का सापेक्ष सिद्धांत निहित था। इसमें संदेह नहीं रिपब्लिक के अधिकांश की नींव आत्मा के तिहरे स्वरूप के इस सिद्धांत पर ही है; इसका स्रोत चाहे कुछ भी हो। सबसे पहले प्लेटो का मत है कि आत्मा में कामना का एक निर्विवेक या बुभुक्षामूलक तत्त्व होता है।

---

[1] रिपब्लिक 540 D; 435 E और सोफ़ोक्लीज के ओडीपस टिरेनस (56–57) से भी तुलना कीजिए : "जिस घर में मनुष्य नहीं, वह घर नहीं और जिस जहाज में मनुष्य नहीं वह जहाज नहीं। हर चीज की शोभा मनुष्य से है।"

[2] प्लेटो मनुष्य की व्याख्या करने के लिए राज्य का निर्माण करता है; पर उस निर्माण में वह मनुष्य के ज्ञान की पहले से ही कल्पना कर लेता है।

वह सुख-संतोष का संगी है और उससे प्रेम, भूख,-प्यास तथा अन्य क्षुधाएँ पैदा होती हैं (439 D)। और फिर विवेक का तत्त्व है जिसके दो काम हैं; इसके द्वारा लोग ज्ञान प्राप्त करना सीखते हैं और चूँकि वे ज्ञान प्राप्त करना सीख चुके हैं; अतः प्रेम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। यह ऐसा तत्त्व है जिसका राज्य में अनिवार्यतः सर्वोच्च महत्त्व होगा। वह उसके सदस्यों के कार्यकलाप में उनका पथ-प्रदर्शन करेगा और उनमें एकता स्थापित करने का सूत्र भी होगा। आखिर में, इन दोनों के बीच में उत्साह का तत्त्व आता है। यह ऐसा तत्त्व है जिसे हम प्रायः सम्मान-भावना से मिलता-जुलता कह सकते हैं और (जिन लोगों में वह अत्यंत प्रबल रूप से मौजूद होता है, उनमें) वैसे ही कुछ-कुछ शौर्य के रूप में प्रकट होता है। इस तत्त्व का खास काम यह है कि यह लोगों में युद्ध की प्रेरणा जगाता है, पर यह इस अर्थ में बुभुक्षा से भिन्न नहीं होता कि यह महत्त्वाकांक्षा और प्रतियोगिता का स्रोत भी है; किंतु दूसरी ओर यह विवेक-तत्त्व का सहज सहायक भी है क्योंकि यह लोगों में अन्याय के प्रति तीव्र रोष और न्याय के प्रति तत्पर समर्पण का भाव जगाता है। प्लेटो के निकट वह मुख्यतः विवेक के सहायक के रूप में ही आता है। "आत्मा की लड़ाई में वह विवेक का पक्ष ग्रहण करता है" (440 B)।

इस तिहरे विभाजन के आलोक में प्लेटो की राजनीतिक रचना में हम दो विशेषताओं की अपेक्षा कर सकते हैं और उन्हें पाते भी हैं। उसने जिस राज्य का निर्माण किया है, उसका उसकी देख-रेख में तीन चरणों में विकास होगा : निर्मित राज्य में तीन वर्ग या काम होंगे। पर राज्य का विकास ऐतिहासिक आधार पर निर्धारित नहीं होगा : लॉज़ की तरह वे स्वाभाविक अवस्थाएँ दिखाने की कोशिश नहीं की जाएँगी जिनसे गुज़र कर राज्य का विकास हुआ है। इसके विपरीत, प्लेटो रिपब्लिक में मनोवैज्ञानिक पद्धति से आगे बढ़ता है। वह मानव-मन के तीनों तत्त्वों को लेकर निम्नतम से उच्चतम तक बढ़ता है और यह दिखाता है कि इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने ढंग से राज्य के निर्माण में किस तरह योग देता है। वह मन के विभिन्न तत्त्वों का-जो किसी भी समय उस सृष्टि का निर्माण करते हैं जिसे हम राज्य कहते हैं तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जब वह बारी-बारी से एक-एक तत्त्व को लेता है और क्रम से निम्नतम से उच्चतम की ओर बढ़ता है—तो उसकी राज्य-रचना में ऐतिहासिक पद्यति का आभास मिलता है। किंतु, यह सिर्फ़ आभास है। उसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य का आरंभ श्रम-विभाजन पर आधारित आर्थिक समाज के रूप में हुआ—हालाँकि वह शुरूआत ऐसे समाज से ही करता है। उसका यह मंतव्य नहीं है कि राज्य में पहले 'सादगी' थी और फिर 'विलासिता' आती गई हालांकि वह स्वयं उसी दिशा में बढ़ता है। उसे हमेशा ध्यान रहता है कि "उसने प्रत्येक तत्त्व में जो विशेषताएँ आरोपित की हैं, वे उसके समय के एथेंस से ली गई हैं"[1]।

---

[1] नेटिलशिप, लेक्चर्स, पृ० 10। हॉब्स ने लेवियाथन में राज्य का जो प्रकटतः ऐतिहासिक निर्माण किया है, उसके बारे में भी यही कहा जा सकता है। वह भी इतिहास पर नहीं, तर्क पर आधारित है। हॉब्स ने जिन विशेषताओं को प्रस्तुत किया है, वे उस समय के इंगलैंड की विशेषताएं हैं और उस रूप में हैं जिसमें हॉब्स ने उन्हें समझा था।

प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य-विकास पर जो चेतावनी लागू होती है, वही उसके द्वारा चित्रित राज्य-विकृति पर भी लागू होती है। यह चित्रण यूनान के सांविधानिक परिवर्तनों का ऐतिहासिक सारांश नहीं है—हालांकि वह लगता वैसा ही है क्योंकि वह आदर्श मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों पर आधारित आदर्श राज्य से शुरू करके धीरे-धीरे निकृष्टतम मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों पर आधारित निकृष्टतम राज्य की ओर आता है। इसमें यह दिखाने की कोशिश की गई है कि मानव-आत्मा की सही परिस्थितियों का योग विद्यमान होने का तात्पर्य है सच्चा राज्य; पर उस योग में कोई भी कमी आने का मतलब होता है राज्य की उतनी ही विकृति। और जिस तरह पहले राज्य—न्याय के आधार पर व्यक्ति-न्याय का स्पष्टीकरण किया गया है, उसी तरह इसमें राज्यगत अन्याय के बड़े अक्षरों* के आधार पर व्यक्ति के संदर्भ में न्याय के स्वरूप को समझाने की कोशिश की गई है।

---

* प्लेटो ने न्याय-अन्याय का भावन एक ऐसी पांडुलिपि के रूप में किया है जिसकी दो प्रतियां हों—एक प्रति छोटे अक्षरों में तथा दूसरी बड़े अक्षरों में। व्यक्ति में न्याय-अन्याय का निरूपण मानो छोटी प्रति का अध्ययन है और राज्य में न्याय-अन्याय का निरूपण बड़ी प्रति का। छोटी प्रति की अपेक्षा बड़ी प्रति का पढ़ना सदा आसान होता है। इसलिए, प्लेटो ने व्यक्ति में न्याय-अन्याय का दिग्दर्शन कराने से पहले राज्य में न्याय-अन्याय का चित्रण किया है।

(1) राज्य में आर्थिक तत्व

हम देख चुके हैं कि आत्मा का स्वरूप प्रकट करने वाले राज्य का निर्माण करते समय प्लेटो ने आत्मा के स्वरूप के बारे में पहले से ही एक दृष्टिकोण बना रखा है। इसी प्रकार जब वह राज्य का निर्माण करता है और सबसे पहले उस आर्थिक संघटन पर विचार करता है, जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है, तब जिस न्याय-सिद्धांत को प्रमाणित करना उसकी रचना का लक्ष्य है उसे वह उसमें पहले से ही निहित कर देता है। जिस सिद्धांत में यह बात निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति को 'अपना काम' करना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक विशिष्ट काम होता है, वह सिद्धांत राज्य के प्रथम आद्य रूपों में श्रम-विभाजन के रूप में पहले ही प्रकट हो चुका है। प्लेटो बुभुक्षा को राज्य का प्रारंभिक आधार मान कर अपना विवेचन शुरू करता है और फिर यह दिखाता है कि उसमें किसी न किसी रूप से साहचर्य निहित होता है। भोजन, ताप और आवास की इच्छाओं की समुचित पूर्ति सामूहिक कार्यवाही के अलावा और किसी तरह नहीं हो सकती। राज्य की एकता का पहला सूत्र है—मनुष्य की आवश्यकता। मनुष्य अपने साथियों के बिना काम नहीं चला सकता। जहां हर आदमी औरों को ऐसी चीज़ दे सकता है जिसकी उन्हें ज़रूरत हो वहां बदले में उसे भी ऐसी चीज़ की ज़रूरत होती है जिसे वे दे सकते हैं। इसका नतीजा होता है—श्रम का अनिवार्य विभाजन या काम का विशेषीकरण जिसका दूसरा पक्ष होता है—एक-दूसरे के साथ अनेक पदार्थों के विनिमय के लिए सम्मिलन। प्लेटो आर्थिक आधारों पर इस तरह के विशेषीकरण का औचित्य सिद्ध करता है। इसका मतलब है ज्यादा चीज़ों और ज्यादा अच्छी चीज़ों का ज्यादा आसानी से उत्पादन। इसके फलस्वरूप लोगों का ऐसा समाज जन्म लेता है जो आर्थिक सूत्र से बँधा होता है। इस समाज में शुरू-शुरू में तो किसान और शिल्पी, बुनकर और चमार ही होते हैं; पर बाद में उसमें और लोग शामिल होते रहते हैं—एक वर्ग पहले चार वर्गों के लिए औज़ार बनाता है, दूसरा वर्ग उनके पशुओं का पालन-पोषण करता है, तीसरा वर्ग विदेशों के साथ और चौथा देश के भीतर के व्यापार को

सँभालता है[1] और इस तरह धीरे धीरे वह राज्य प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है।

राज्य के जीवन में आर्थिक तत्त्व नगण्य नहीं होता। प्रत्येक राज्य के स्वरूप का एक पहलू यह है कि वह एक महान् आर्थिक संस्था होता है, और जब-जब किसी संरक्षण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा होती है, या हुई है; तब-तब उसने राज्य को आर्थिक जीवन के संदर्भ में आत्म-केंद्रित और आत्म-निर्भर इकाई बना कर इस पहलू को प्रमुख बना दिया है।[2] जब प्लेटो राज्य पर केवल एक आर्थिक संस्था के रूप में विचार करता है, तब राज्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ने लगती हैं, जो न केवल अपने आप में और न केवल आर्थिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होती है बल्कि जिनका एक और दृष्टि

---

1. इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि बिचौलिए के प्रति—जो व्यापार का काम चलाता है—अरिस्टाटल की अपेक्षा प्लेटो अधिक दयालु है। उसकी दलील है कि जब मुद्रा का चलन शुरु हो जाता है और इस तरह जब विनिमय के माध्यम के अस्तित्व में आ जाने से दोनों उत्पादक-पक्षों में वस्तु-विनिमय की जगह, दलाल की मार्फ़त विनिमय-व्यवस्था हो सकती है तब फिर, किसान का बाजार में आकर अपनी चीजों को बेचने के लिए इंतज़ार करते रहना वक्त की बर्बादी होगी। तब यह काम बिचौलिया करने लगता है और इस तरह वह एक ज़रूरत पूरी करता है। इसी कड़ी में आगे यह दलील दी जा सकती है कि चूंकि बिचौलिया एक ऐसा काम करता है जिससे एक आवश्यकता पूरी होती है—क्योंकि वह उत्पादक का समय बचाता है—इसलिए उसे उसका पुरस्कार मिलना चाहिए। इसके विपरीत अरिस्टाटल उसके इस काम का महत्त्व नहीं मानता। इसीलिए वह यह भी नहीं मानता कि उसे किसी तरह का पुरस्कार देना उचित है। और, अगर प्लेटो रिपब्लिक में विनिमय के स्वरूप और उपयोग को मानता-समझता है, तो हमें दो बातें देखनी होंगी : (1) लॉज़ में वह लाभ की खातिर खुदरा व्यापार का निषेध करता है और इस तरह के जिस-जिस व्यापार में वह कोई हानि नहीं समझता, वह सब विदेशियों को सौंप देता है (आगे अध्याय 14 ग), और (2), रिपब्लिक में वह उत्पादन के प्रति कुछ कड़ा रुख अपनाता है; कृषि को तो वह ऐसे लोगों के हाथ में छोड़ देता है जो नीचे वर्ग के हों, प्रायः दास हों। उसने दस्तकारियों को 'अपमान जनक' माना है (590 C)। किंतु, यह कहना गलत है कि प्लेटो अभिजात होने के कारण व्यापार और उद्योग के विरुद्ध था (गंपर्ज़ ने यहीं गलती की है, ग्रीक थिंकर्स III. 111—12)। वह लॉज़ में तकनीकी शिक्षा की पैरवी करने के लिए प्रस्तुत हो गया है। उसने गरीबों की सहायता की व्यवस्था के लिए गुंजाइश निकाल दी है; और हालांकि वह यह कहकर सूदखोरी खत्म करने की कोशिश करता है कि ऋण के मामलों में वैधिक संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए, फिर भी **पॉलिटिक्स** के पहले खंड में आर्थिक गतिविधियों के जितने विकास-विस्तार के लिए अरिस्टाटल सहमत लगता है, प्लेटो ने इस काम के लिए उससे अधिक गुंजाइश छोड़ दी है। आखिर, प्लेटो का गुरू स्वयं शिल्पी था, और उसी की तरह प्लेटो का भी विश्वास था कि लोग कला और शिल्प से जीवन-व्यवहार के लिए उपयोगी सबक सीख सकते हैं।
2. राज्य को केवल एक महान् आर्थिक संस्था मानने की प्रवृत्ति समाजवाद के कुछ रूपों में भी देखी जा सकती है।

से भी महत्त्व होता है—उनसे राजनीतिक सत्यों के उदाहरण और पूर्व संकेत मिल जाते हैं। उसमें एक विशेषता विशेषीकरण की होती है; और यदि मोची आख़िरी दम तक अपने काम पर डटा रहता है और इस तरह से ज्यादा और अच्छा काम करता है, तो फिर राजमर्मज्ञ भी अपनी राजनीति-कला पर क्यों न डटा रहे और यही परिणाम प्राप्त करे? फिर उसमें पारस्परिकता की भी विशेषता होती है; औए यदि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अर्थ-नीति के संगठन का आधार यह योजना है, तो फिर राज्य में प्रत्येक आवश्यकता के परितोष के लिए मानव-जीवन का समूचा संगठन इसी योजना पर क्यों न आधारित हो? क्या यहाँ भी पारस्परिकता स्वार्थपरता को हटा कर उसकी जगह नहीं ले सकती और शासक तथा शासित के बीच सेवाओं का पारस्परिक विनिमय उस व्यक्तिवाद का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता जिसकी प्रेरणा से आदमी अपने लिए सब कुछ करना और सब कुछ पाना चाहता है। विशेषीकरण से हर जगह एकता की स्थापना होती है: विशिष्ट कार्य का सिद्धांत हर क्षेत्र में ऐसी प्रतियोगिता का अंत कर देगा जिसका न कोई ओर हो, न छोर। "इरादा यह था…कि… प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे काम में लगाना चाहिए जिसके लिए प्रकृति ने उसे बनाया हो —एक व्यक्ति के लिए एक ही काम हो। तब प्रत्येक व्यक्ति अपना काम करेगा और वह एक होगा, अनेक नहीं और इसी तरह सारा नगर एक होगा अनेक नहीं" (423 D)।

(2) राज्य में सैनिक तत्त्व

किंतु आर्थिक प्रेरणा का चाहे कुछ भी महत्त्व क्यों न हो—आर्थिक संगठन से हम जो सबक सीख सकते हैं, वे चाहे कितने भी अनमोल क्यों न हों पर वही एक-मात्र प्रेरक हेतु नहीं है, न एक-मात्र संगठन है । प्लेटो साक्रेटीज़ से सचमुच उस स्वर्ण-युग के गुण-गान कराता है जिसका उसके बनाए हुए कल्पना-राज्य में* आविर्भाव होगा, पर इसके साथ ही वह ग्लॉकन से उसकी खिल्ली उड़वाता है, उसे 'सूअरों का नगर' कहलवाता है ; और यद्यपि साक्रेटीज़ ग्लॉकन की वैभव-विलासपूर्ण नगर की इच्छा पर हँसता है और गंभीरता से यही कहता रहता है कि 'स्वस्थ' तथा सच्चे किस्म का राज्य वही है, फिर भी वह और आगे सोच-विचार करने के लिए राजी हो जाता है (372 E—375E)। यहाँ संदेह होने लगता है मानो यह साक्रेटीज़ का कोई 'व्यंग्य' हो, यह उस मोहक प्रकृति-राज्य का सूक्ष्म उपहास हो जिसका सोफ़िस्टों ने चित्रण किया था और जिसके चित्रण में सिनिकों को भी सुख मिलता था[1]। रिपब्लिक की तर्क-श्रृंखला की यह अपेक्षा

---

* अँग्रेज़ी में (Arcadian State) शब्द का प्रयोग किया गया है । 'आर्केडिया' शब्द प्राचीन यूनान के आदर्श ग्राम्य-प्रदेश का वाचक है जो शांति, सरलता और अबोधता की दृष्टि से स्वर्गोपम समझा जाता था । यह एक प्रकार की आदिम प्रतियोगिता-मुक्त राज्य-व्यवस्था का द्योतक है । हिंदी में इसे कल्पना-राज्य, आदर्श राज्य अथवा आर्केडियायी राज्य कहा जा सकता है ।

जब प्लेटो राज्य में न्याय की खोज करता है, तब शुरू-शुरू में वह साक्रेटीज़ से एक अत्यंत आदिम, प्रतियोगिता-मुक्त राज्य का निर्माण कराता है । इस राज्य का जीवन बड़ा सरल और सादा है। ग्लॉकन इस राज्य को 'सूअरों का नगर' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाता है । वह इस नगर को इतना सरल और आदिम मानता है, मानो वह मनुष्यों के नहीं सूअरों के ही रहने योग्य हो ।

[1] यदि ऐसी बात हो (हालाँकि कैम्पबेल और गंपर्ज़ दोनों का विचार है कि ऐसी बात नहीं है) तो इसका मतलब यह होगा कि प्लेटो प्रकृति की ओर लौटने के उस नारे का विरोध कर रहा है जो राज्य तथा न्याय को रूढ़िगत मानने के सिद्धांतों के मूल में निहित था । वह राज्य को सारे 'विलास-वैभव' समेत उसके वर्तमान रूप में रखना चाहेगा और गलतियों से उसकी 'शुद्धि' करेगा

है कि प्लेटो मानव-प्रकृति के दो अन्य और उच्चतर तत्वों तथा राज्य के निर्माण में उनके योग पर और विचार करे। फलत:, वह 'उत्साह'-तत्त्व को उसका स्थान देने में जुट जाता है। लोग अदना 'ज़रूरतों' के पूरा हो जाने से ही संतुष्ट नहीं हो जाते ; वे अपनी परिष्कार की इच्छाओं का परितोष चाहते हैं। चित्र और काव्य, संगीत और वस्त्र—ये सब मानव जाति की 'आवश्यकताएँ' हैं: उनकी व्यवस्था करने के लिए एक बड़ी जन-संख्या ज़रूरी होती है। जितनी बड़ी जन-संख्या होगी, उसके भरण-पोषण के लिए उतना ही बड़ा क्षेत्र चाहिए। फलत:, राज्य का एक काम युद्ध करना हो जाता है (373 D)। राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह पर्याप्त क्षेत्र अपने अधिकार में लाए और उसकी रक्षा करे। इस तरह आगे चलकर उत्साह-तत्त्व का आविर्भाव होता है (जो लोगों में युद्ध की प्रेरणा भरता है) और यह तत्त्व संरक्षकों की सेना तैयार करके राज्य का संगठन करने में अभिव्यक्ति पाता है (374 D)। प्लेटो ने राज्य को जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों से गठित माना है उनके मूल में एक प्रकार की तर्क-संगति है। वह राज्य पर ऐसे आर्थिक संगठन के रूप में विचार कर चुका है जिसका आधार बुभुक्षा हो और अब उसे राज्य पर सैनिक संगठन के रूप में विचार करना है जिसकी नींव उत्साह हो।

राज्य के सैनिक संगठन के बारे में जो पहला और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है, वह स्वभावत: विशेषीकरण का प्रश्न है। पेशेवर और प्रशिक्षित सेना का निर्माण किया जाए या ज़रूरत के वक्त सबके सब लोग सामान्य सेना के रूप में काम करेंगे ? अर्थ-नीति के प्रकरण में श्रम-विभाजन के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसमें इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है। कहाँ तो एक आदमी को जूते बनाने का और सिर्फ़ जूते बनाने का काम सौंपने की बात है जिससे कि जूते अच्छे बनें और कहाँ युद्ध-कला को, जो राज्य के लिए कहीं अधिक आवश्यक है, अप्रशिक्षित तथा अनभ्यस्त हाथों में छोड़ दिया जाए तो कितनी मूर्खता की बात होगी। यदि विशेषीकरण से कहीं भी कौशल प्राप्त करना हो, तो निश्चय ही वह युद्ध जैसे दुष्कर और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में

(399 E)। इसके साथ ही यह मानना पड़ता है कि स्वयं प्लेटो के चिंतन में —उसके कला और चिकित्सा-सिद्धांत में और शायद, विशेष रूप से, उसके साम्यवादी सिद्धांतों में—प्रत्यावर्त्तन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है (आगे अध्याय 10 (ग) से तुलना कीजिए) और इस बात को ध्यान में रखने पर कल्पना-राज्य के विचार को गंभीरता के ग्रहण किया जा सकता है। स्वर्ण युग के इसी तरह के संकेत पॉलिटिक्स और लॉज़ में मिलते हैं (आगे अध्याय 12 (ख) और 13 (ङ) से तुलना कीजिए) और यहाँ भी यह निश्चयपूर्वक समझ पाना कठिन है कि प्लेटो का मंतव्य क्या है—वह 'प्राकृत अवस्था' के विचार का अनुमोदन करता है या उसकी आलोचना। बहरहाल, यह बात ध्यान में रखने की है कि अपने आदर्श राज्य का पूर्ण निर्माण हो जाने पर प्लेटो उसे 'प्रकृति द्वारा निर्मित नगर' कहता है। वह प्राकृतिक है और केवल वही प्राकृतिक है क्योंकि एकमात्र उसी का मानव-प्रकृति के शाश्वत तथ्यों के आधार पर निर्माण हुआ है।

किया जाना चाहिए[1]। ऐसे सैनिक होने चाहिएँ जिनका काम ही लड़ाई लड़ना हो—और कुछ नहीं, बस लड़ाई लड़ना और उन्हें इस आधार पर चुना जाना चाहिए कि उनकी इस दिशा में विशेष अभिरूचि हो—अर्थात् उनमें उत्साह-तत्त्व की प्रचुरता हो और उन्हें अपने काम में इस तरह प्रशिक्षित किया जाए कि उनकी इस अभिरूचि का उचित विकास हो सके। फलतः, इस स्थल से आगे रिपब्लिक सुखी योद्धा की शिक्षा का ग्रंथ बन जाता है।

---

[1] हम पहले ही देख चुके हैं कि पेशेवर सैनिक साक्रेटीज़ के सहयोगियों में से थे (पृ० 140) और जब प्लेटो ने रिपब्लिक का यह अंश लिखा था, उसके कोई पांच वर्ष पूर्व स्पार्टा की शिथिल सेना पर इफीक्रेटीज़ के ढालसज्जित सैनिकों की विजय ने पेशेवर सैनिकों का महत्त्व सिद्ध कर दिया था। इन तथ्यों से प्लेटो के उस सामान्य सिद्धांत की पुष्टि होती है—जो उसने रिपब्लिक के पहले खंड में थ्रेसीमेकस के विरुद्ध बड़े आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया है—(पृ० 236)—और वह सिद्धांत यह है कि उत्कर्ष के लिए किसी विशेष काम को नियमित रूप से करते रहना ज़रूरी है।

[2] II. 376 E से III. 412 A तक।

(3) राज्य में दार्शनिक तत्त्व

अभी हम आदर्श सैनिक के लिए प्लेटो की शिक्षा-योजना पर विचार नहीं करेंगे बल्कि मानव-प्रकृति के अंगभूत तत्त्वों के आधार पर राज्य के निर्माण का काम पूरा करेंगे और इसके लिए पहले यह पता लगाएँगे कि उसकी रचना में विवेक का क्या योगदान होता है। यह योगदान दोहरा होता है। (1) हम पहले ही देख चुके हैं कि उत्साह का एक पहलू यह है कि वह विवेक का संगी होता है—उसे अन्याय से घृणा होती है और न्याय से प्रेम। इसीलिए हमें यह देख कर आश्चर्य नहीं होता कि राज्य के सैन्य संगठन में उत्साह के साथ विवेक भी सक्रिय रहता है। जो लोग सैनिक प्रशिक्षण के लिए चुने जाते हैं उनके लिए इतना ही काफी नहीं कि वे फुर्तीले और उत्साही हों। सैनिक राज्य का संरक्षक होता है और रखवाली करने वाले कुत्ते की तरह (प्लेटो की विवेचन-पद्धति में जो दृष्टांत बार-बार आए हैं, यहाँ वह उन्हीं में से एक का उपयोग कर रहा है) मानव-संरक्षक को भी उन लोगों के प्रति संयत और सौम्य रहना चाहिए जो उसी घर के हों जिसकी वह रखवाली करता है और उसे हर अजनबी के प्रति खूंख्वार होना चाहिए। अस्तु, रखवाली करने वाला कुत्ता जिन-जिन लोगों को पहचानता है, उन सबके प्रति वह संयत और सौम्य होता है। जिन्हें वह जानता है, उनसे प्रेम भी करता है। अपने ज्ञान के अनुसार और अपनी ज्ञान-क्षमता का उपयोग करके (यह ज्ञान-क्षमता है—विवेक) वह मित्र और शत्रु में भेद करता है (376 A—B)। अतः राज्य-संरक्षक में विवेक-क्षमता अवश्य होनी चाहिए ताकि वह नागरिक—जिसकी वह रक्षा करता है, और दुश्मन में—जिस पर आक्रमण करता है, भेद कर सके। इस तरह, सैनिक में विवेक मात्र अनुभवमूलक ज्ञान के रूप में प्रकट होता है जिसमें उत्साह-गुण का बड़ा गहरा पुट रहता है और वह ज्ञान के आलंबन के प्रति सहज प्रेम के रूप में व्यक्त होता है क्योंकि वह आलंबन जाना-पहचाना होता है, सुपरिचित होता है। (2) किंतु, विवेक की सबसे अधिक अभिव्यक्ति होती है—राज्य-शासन में (क्योंकि तब उसकी शुद्ध रूप में अभिव्यक्ति होती है, उसमें उत्साह-तत्त्व का वैसा गहरा फुट नहीं रहता)। उसे 'पूर्ण संरक्षक' में या शासक में पूर्णता प्राप्त होती है, संरक्षक में नहीं। यहाँ प्लेटो ने पूर्ण संरक्षक में

एक तीसरे तत्त्व का समावेश कर दिया है। संरक्षक-वर्ग के दो भाग हो जाते हैं— एक तो नैतिक संरक्षक जिनकी विशेषता है उत्साह और जिन्हें अब वह 'सहायक' (auxiliaries) कहता है; और दूसरे दार्शनिक संरक्षक, जिनकी विशेषता है विवेक और जो प्लेटो के राज्य के उत्कृष्ट संरक्षक हैं (414 B)।

पर स्वयं विवेक अपने शुद्ध रूप में भी, और दार्शनिक संरक्षक तक में, दोहरी चीज़ होती है। उसके सहारे हमें ज्ञान प्राप्त होता है, पर उसके माध्यम से हम प्रेम भी करते हैं; उसमें बोध का बौद्धिक तत्त्व भी पाया जाता है जो मानो स्नेह और आकर्षण का तत्त्व होता है। रखवाली करने वाला कुत्ता प्रेम भी करता है और उसे बोध भी होता है और वह प्रेम इसलिए करता है कि उसे बोध होता है[1]। अस्तु, प्लेटो ने शासक या 'पूर्ण संरक्षक' के लिए मूलतः जिस गुण की कल्पना की है—यानी मन-स्तत्त्व की जिसे वह मूलतः राज्य के शासन में व्यक्त मानता है—वह है विवेक, अपने स्नेह-पक्ष से युक्त विवेक (412 D—E)। शासक को ज्ञानवान् होना चाहिए, पर रिपब्लिक के आरंभिक अंश में जिस चीज़ ने प्लेटो को सबसे अधिक प्रभावित किया है वह यह है कि उसे स्नेहशील होना चाहिए। जिन लोगों को राज्य की सबसे अधिक चिंता रहती है, वही उसका सबसे अच्छी तरह शासन कर सकते हैं और उसकी सबसे अधिक चिंता भी उन्हीं लोगों को होती है जिनका यह विश्वास[2] होता है कि राज्य का मंगल उनका मंगल है और राज्य का अमंगल उनका अमंगल। यदि शासन में मन का यह तत्त्व व्यक्त होता है, तो शासन सहज-स्वाभाविक रूप से निःस्वार्थ होगा और थ्रेसीमेकस ने जिस राजनीतिक स्वार्थ का गौरव-गान किया था, उसकी जगह हम शासन की एक नई धारणा को साकार होते देखेंगे—और वह धारणा यह यह है कि शासन एक कला है जिसका प्रयोग अपने नागरिकों के भले के लिए होता है। विवेक की सक्रियता के इस पक्ष को दृष्टि में रखकर देखें तो वह वास्तव में एक ऐसा

---

[1] इससे साक्रेटीज़ के इस सिद्धांत का मंतव्य स्पष्ट हो जाएगा कि सद्गुण ज्ञान-रूप है। कोई चीज़ सही है—यह जान लेने का मतलब उसे कर लेना नहीं। फिर, ज्ञान के अलावा इच्छा का भी अस्तित्व होता है : यह आपत्ति आसानी से की जी सकती है। पर, पहली बात तो यह है कि यहाँ ज्ञान का आशय यह जान लेने से भी अधिक है कि क सही है और ख ग़लती पर है। उसका आशय है—किसी सिद्धांत के आलोक में संसार को समझना। दूसरे, इस बोध का इस रूप में भावन किया जाता है कि उसमें एक आकर्षण भी निहित है और वह अपने स्वरूप के अनुरूप इच्छा के रूप में प्रतिफलित होता है। दार्शनिक ज्ञान से संपन्न व्यक्ति जो कुछ समझते हैं, वे समझ के कारण उसी के प्रति—सत्य, सुंदर या सद्गुण के प्रति—आकर्षित होते हैं। यहाँ 'विश्वासेच्छा' (will to believe) की जगह—जिसकी आधुनिक लेखकों ने चर्चा की है—इच्छा के रूप में प्रकट होने वाले विश्वास की उल्टी धारणा है। पीछे (पृ० 140) से तुलना कीजिए।

[2] यह विश्वास सही मत है पर इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि प्लेटो अपने शासकों से पहले-पहल तो सही मत की माँग करता है और बाद में वैज्ञानिक ज्ञान की।

सूत्र है जो राज्य में एकता स्थापित करता है। स्नेह और आकर्षण के स्रोत के रूप में वह आत्मा का ऐसा तत्त्व है जो राज्य की एकता की रक्षा करके अपनी अभिव्यक्ति करता है। हो सकता है कि बुभुक्षा आर्थिक बंधनों के कारण लोगों को एक-दूसरे के पास लाई हो, हो सकता है उत्साह ने एक नया सैनिक बंधन उसमें जोड़ दिया हो, लेकिन लोगों को समझने की और समझ के द्वारा एक दूसरे से प्रेम करने की सीख देकर एकता के सूत्र में बाँधने का काम विवेक के द्वारा ही हो सकता है। राज्य का चरम संगठन सविवेक संगठन है। उत्साह से समन्वित होकर विवेक ने सैनिक को प्रेरणा दी है कि उस पर जिन नागरिकों की रक्षा का भार है, उन्हें वह जाने, चाहे और इसलिए उनकी रक्षा करे; शासक को शुद्ध विवेक यह प्रेरणा देता है कि वह जिस राज्य पर शासन करता है, उसे जाने-समझे और जान-समझकर उससे प्रेम करे, उसकी सेवा करे।

शासन मन की जिस वृत्ति को व्यक्त करता है, उसका यह सहज-स्वाभाविक निष्कर्ष है कि सैनिकों की तरह शासकों का भी एक पृथक् और विशेषीकृत वर्ग होना चाहिए। प्रेम के रूप में प्रतिफलित होने वाला यह विवेक सब लोगों में नहीं मिलने का; और जिन लोगों में यह सबसे ज़्यादा मिलता हो, उन्हें सैनिक वर्ग में से सावधानी के साथ और नैतिक परीक्षाओं की विस्तृत व्यवस्था द्वारा चुनना और राज्य-शासन के लिए नियुक्त करना होता है। अगर हम विवेक के बौद्धिक पहलू को देखें, तो एक शासक-वर्ग का—जो अपने को शासन-कार्य में और सिर्फ शासन-कार्य में लगाएगा—इस प्रकार का विशेषीकरण और भी अधिक सार्थक हो उठता है[1]। प्लेटो ने अंत में हमें बताया है कि सच्चे शासक का दार्शनिक होना ज़रूरी है और दार्शनिक प्रकृति केवल इने-गिने लोगों में ही मिल सकती है। "समूचा राष्ट्र दार्शनिकों का राष्ट्र नहीं हो सकता" (494 A)। इसीलिए सच्चे शासक की अंतिम परीक्षा उसकी दार्शनिक शक्ति की बौद्धिक परीक्षा है। उसे 'भाव' का अर्थात् न्याय, सौंदर्य और संयम के सार का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह अपने शासितों के चरित्र उन्हीं के अनुरूप ढाल सके[2]। जिस भाव की ये सारे भाव अभिव्यंजनाएँ भर हैं और जिस अकेले

---

[1] मतलब यह नहीं है कि विवेक का अस्तित्व अपने प्रेम-पक्ष में अलग होता है और दार्शनिक अंतर्दृष्टि के पक्ष में अलग; बल्कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। राज्य के प्रति जिस प्रेम की अभी-अभी चर्चा की गई है, वह इस बात पर निर्भर है कि एक विशेष अंतर्दृष्टि, चरम सत्य के भीतर झाँकने की दृष्टि विद्यमान हो। यह अंतर्दृष्टि विवेक की देन है और इसमें सत्य के प्रति आकर्षण की धारणा निहित है। कहने का मतलब बस इतना ही है कि एक स्थल पर विवेक का एक पहलू अधिक मुखर है, दूसरे पर दूसरा।

[2] रिपब्लिक 501 A–C। यहाँ प्लेटो ने पूर्ण संरक्षकों का इस रूप में भावन किया है मानो वे साफ-सुथरे फलक पर नया चित्र अंकित कर रहे हों। ऐसा करते समय "वे पहले तो प्राकृतिक न्याय, सौंदर्य, और संयम पर दृष्टिपात करेंगे और फिर मानव-प्रतिकृति पर...और वे तब तक एक रूप मिटा कर दूसरा अंकित करते चले जाएँगे जब तक कि वे मनुष्यों के तौर-तरीकों को भरसक दिव्य स्वरूप के अनुकूल न ढाल दें"।

से ही प्रत्येक पूर्ण कृति जन्मती है, उसे अंततः, उसी भाव का—श्रेय के भाव का—ज्ञान होना चाहिए । उसे ज्ञात होना चाहिए कि इस समूचे चराचर जगत् का प्रयोजन क्या है—वह साध्य क्या है जिसके आलोक में सारे मानवीय क्रियाकलाप को और सारी सृष्टि को सार्थकता प्राप्त हो जाती है । उसे इसका ज्ञान होना इसलिए आवश्यक है कि सृष्टि की योजना में जो काम उसके लिए नियत है, उसे वह इस ढँग से कर सके कि वह साध्य पूरा हो । अतः शासक में मन के उस चरम तत्त्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए जो जीवन के रहस्य को खोलने में जुट जाता है और उसका हल निकालता है । अगर इस तत्त्व ने उसमें साकार रूप ग्रहण किया हो, तभी और सिर्फ़ तभी ऐसा राज्य अस्तित्व में आता है जो पूर्ण मानव-मन की सृष्टि हो (और बिंब भी) । अगर मानव-मन विवेक का यह उन्नयन कर सके, अगर वह पूर्णता की ऐसी स्थिति तक पहुँच सके जहाँ परम प्रयोजन के प्रकाश से विवेक उसके क्रियाकलाप का संचालन करे, तो राज्य में भी इस उन्नयन की क्षमता होनी चाहिए, और वह भी उसके समान ही पूर्णता तक पहुँच सकता है, पर यह सिर्फ़ तभी संभव है जब दार्शनिक के विवेक की अंतर्दृष्टि उसका पथ-प्रदर्शन करे । **रिपब्लिक** जिस आधार पर स्थित है, उसका यह अनिवार्य निष्कर्ष है। वह आधार यह है कि राज्य मानव-मन की और राज्य का प्रत्येक पहलू मन के एक तत्त्व की सृष्टि है । जब राज्य का गठन उसके एक-एक मानसिक तत्त्व को लेकर होता है, तो उसकी परिणति सिर्फ़ इसी धारणा में हो सकती है कि वह न तो केवल आर्थिक संगठन है, न केवल सैनिक संगठन; वह सविवेक संगठन भी है और इस तरह का संगठन होने के नाते अंततः उसका संचालन ऐसे ऊँचे से ऊँचे विवेक के द्वारा होना चाहिए जो मनुष्य के लिए संभव हो । 'दार्शनिक नरेश'—कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे यों ही बाद में या बीच में जोड़ दिया गया हो; वह उस सारी पद्धति का तर्क-संगत परिणाम है जिसके आधार पर राज्य का निर्माण हुआ है[1] ।

---

[1] दूसरे और तीसरे खंडों में संरक्षकों के बारे में प्लेटो का जो दृष्टिकोण है, और पाँचवें खंड के अंत में तथा छठे और सातवें खंडों में उसने दार्शनिक नरेश का जो विवरण दिया है, उनमें कोई विरोध मानना जरूरी नहीं है । **रिपब्लिक** ऐसे भिन्न-भिन्न खंडों में बँटी हुई है जिनका वस्तु-तत्त्व भी अलग-अलग है और रचना काल भी—यह मानना तो और भी कम जरूरी है । अपने मन को धीरे-धीरे खोलना और अपना संदेश क्रमशः देना—यह प्लेटो की कला है (और यह कला पाँचवें खंड में सबसे अधिक आकर्षक रूप में व्यक्त हुई है) । उसने चौथे खंड में पहले ही यह संकेत दे दिया है कि "सच्ची पद्धति और है और वह बृहत्तर पद्धति" है । और छठे खंड (503 A) में शासकों की स्थिति और उनके लिए दर्शन के प्रशिक्षण की जरूरत की चर्चा करते हुए उसने यह भी कहा है, "इसी तरह की बात कही जा रही थी कि तभी युक्ति का रुख बदल गया और वह ओझल हो गई" । पर यह मानना पड़ेगा कि अनेक विद्वानों के विचार से **रिपब्लिक** में अलग-अलग स्तर हैं और उनकी दृष्टि इस बात पर अटकी है कि दार्शनिक नरेशों और उनकी शिक्षा का विवेचन करने वाले अंश तथा शेष संवाद में अंतर है । उदाहरण के लिए फ्लीडरर (सात्रेटीज उंद प्लेटोन) ने **रिपब्लिक** को निम्न खंडों में

शासन की इस नई संकल्पना से—जिसमें शासक को राज्य का प्रेमी मानने के बजाए दार्शनिक माना गया है—स्वभावतः चुनाव की एक नई पद्धति सामने आती है (503 E)। अब नैतिक परीक्षण द्वारा उन लोगों को ढूंढ़ने का प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं, जो राज्य के बारे में सबसे अधिक चिंतित रहते हों; अब तो दार्शनिक शक्ति के बौद्धिक परीक्षण द्वारा हमें उन कुछ लोगों की तलाश करनी होगी जो गहनतम बुद्धिमत्ता के आलोक में उसका सबसे अच्छा पथ-प्रदर्शन कर सकें। इसका एक परिणाम और निकलता है। यदि दर्शन को ही राज्य का पथ-प्रदर्शन करना हो, तो एक नए प्रशिक्षण और नई शिक्षा-पद्धति की ज़रूरत है। शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता उन सहायकों के लिए ही नहीं हैं जिन्हें दुर्दम्य योद्धा बनना हो, उन 'पूर्ण संरक्षकों' के लिए भी है जिन्हें दार्शनिक नरेश बनना हो। इसीलिए, **रिपब्लिक** में हम शिक्षा की दो क्रमागत योजनाओं की अपेक्षा कर सकते हैं और पाते हैं और जिस प्रकार दार्शनिक नरेश का विचार यों ही बाद में या बीच में नहीं जोड़ दिया गया

बाँटा है: **रिपब्लिक** क (I–V. 471 और VIII–IX); **रिपब्लिक** ख (V. 471–VII); और **रिपब्लिक** क–ख (X), विषयांतर। नेटिलशिप का विचार है कि V-VII अध्यायों का एक अलग खंड है जिसका अपना वैशिष्ट्य है। शायद इन्हें बीच में जोड़ दिया गया है। यह सोचने का कारण यह है कि उनका स्वर अन्य खंडों के स्वर से भिन्न है और IV से VIII खंडों तक कोई भी आसानी से पढ़ता चला जा सकता है। हम देख चुके हैं कि बर्नेट का मत है कि VI–VII खंडों में वही अध्ययन-क्रम दिया गया है जिसके अनुसार प्लेटो द्वारा संस्थापित अकादमी में प्रशिक्षण दिया जाता। इसके अलावा, **रिपब्लिक** में और सभी जगह तो साक्रेटीज़ के विचारों का प्रतिपादन हुआ है, पर इन खंडों में प्लेटो के अपने विचार मिलते हैं। तथापि, उसने न तो यही कहा है कि इन खंडों की रचना अलग-अलग कालों में हुई और न उस का ऐसा ही कोई संकेत है कि उनका प्लेटो की मूल योजना में समावेश न था।

यह और निवेदन कर दूँ कि मैं जो धारणा लेकर चला हूँ यानी यह कि **रिपब्लिक** एक समन्वित रचना है, विभिन्न खंडों की खिचड़ी नहीं, उसे मानने में भी कठिनाइयाँ हैं। उदाहरण के लिए, वह कठिनाई है जो **टिमाएस** ने प्रस्तुत की है कि पहले चार खंडों के और पांचवें खंड के अंश के तर्क को तो फिर से दुहराया गया है पर पाँचवें खंड के अंत या छठे और सातवें खंडों का कोई हवाला नहीं दिया गया (अध्याय 11 (झ) से तुलना कीजिए)। फिर, एक कठिनाई यह है कि जहाँ छठे और सातवें खंडों में तत्त्व-मीमांसा का विवेचन है, वहाँ आठवें और नवें खंडों में न तो तत्त्व-मीमांसा की कोई चर्चा है और न पहले दो खंडों के तत्त्व-मीमांसापरक तर्कों का कोई निर्देश ही है (बस नवें खंड में सुख का विवेचन अवश्य हुआ है)। पर मुझे तो यही लगता है कि पाँचवें खंड का अंतिम भाग और छठे तथा सातवें खंड **रिपब्लिक** की योजना के अभिन्न अंग हैं। प्लेटो ने शुरू के खंडों में ज्ञान के निम्नतर पहलू—सच्चे मत या सहज मत पर विचार किया था; उसके लिए यह बिल्कुल ज़रूरी था और उसका शुरू से ही यह इरादा भी रहा था कि वह शुद्ध विवेक का विवेचन करे और बताए कि उसके राज्य की व्यवस्था में विवेक की क्या भूमिका रहनी चाहिए।

है, बल्कि प्लेटो के सिद्धांतों का तर्कसंगत परिणाम है, उसी प्रकार दूसरी या दार्शनिक शिक्षा-योजना भी ऐसी चीज़ नहीं जिसे प्लेटो ने बाद में सोचा या लिखा हो, बल्कि वह उसके तर्क का युक्तियुक्त चरम बिंदु है।

(घ) प्लेटोवादी राज्य के वर्ग

अब हम इस तर्क को एक कदम और आगे बढ़ा सकते हैं। अब तक हमने राज्य के जन्म की तीन क्रमिक तर्कसंगत अवस्थाएँ देखी हैं—आर्थिक, सैनिक और सविवेक अथवा दार्शनिक। अब हमें यह देखना है कि प्लेटो के राज्य की रचना पूरी हो जाने पर उसमें इन तीन अवस्थाओं के अनुरूप तीन वर्ग हों। शासक-वर्ग और सैनिक-वर्ग ये दोनों वर्ग तो सामने आ ही चुके हैं। इन दोनों में ही विशेष प्रतिभा से संपन्न लोग हैं जिन्हें इस प्रतिभा के उपयोग का और सिर्फ़ वही एक काम करने का विशेष प्रशिक्षण मिला है जिसके लिए वे सबसे योग्य हैं। "संरक्षकों को और सारे काम-काज छोड़ कर राज्य में स्वतंत्रता की रक्षा में अपने आप को पूरी तरह लगा देना है; उन्हें इसी को अपना शिल्प बना लेना है और दूसरे ऐसे किसी काम में नहीं लगना जिससे इस साध्य की सिद्धि में सहायता न मिले" (395 B-C)। राज्य में संरक्षकों के इन दो वर्गों में हमें एक तीसरा वर्ग और जोड़ देना है—आर्थिक या उत्पादक वर्ग। इस वर्ग में वे लोग आते हैं जिनमें शासक या सैनिक की विशेष प्रतिभा तो नहीं होती, लेकिन जो शासक और सैनिक की ही तरह अपने को एक काम में सीमित कर लेते हैं और वह काम अनिवार्यतः समुदाय की भौतिक आवश्यकताएँ पूरा करने का काम है। अतः, कुल मिलाकर प्लेटोवादी राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमें तीन विशेषीकृत वर्गों के बीच श्रम का विभाजन किया गया है[1]—ये वर्ग हैं, शासक (या 'पूर्ण संरक्षक'); सैनिक (जिन्हें पहले 'संरक्षक' और बाद में 'सहायक' कहा गया है) और उत्पादक (जिन्हें प्लेटो 'किसान' कहता है)। इनमें से एक विद्वत्वर्ग है, एक योद्धा-वर्ग और एक उत्पादक-वर्ग। ये तीनों वर्ग मध्य युग के तीन वर्गों—वक्ता, योद्धा और श्रमजीवी की तरह हैं। राज्य के तर्कसम्मत उद्भव के कारणों के रूप में राज्य का निर्माण करने वाले मन के तीनों पृथक् तत्त्वों में युक्तियुक्त भेद ही नहीं करना है (जैसा कि अब तक किया गया है), बल्कि उसके बहिरंग संगठन में वर्गों के रूप में वे हैं भी एक-दूसरे से भिन्न। इसका मतलब यह है कि विशिष्ट व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों में इनमें से (बुभुक्षा, उत्साह और

---

[1] अरिस्टाटल ने उसकी इसी आधार पर आलोचना की है कि यह समाज ऐसे विभिन्न तत्त्वों से नहीं बना जिनमें से हरेक समान हित के लिए अलग-अलग योग देता हो तथा औरों के योगदान से लाभ उठाता हो।

विवेक) एक न एक तत्त्व विशेषतः और मूलतः प्रमुख होता है। कुछ लोग विवेक-प्रधान होते हैं, उनसे अधिक उत्साह-प्रधान और बाकी— जिनकी संख्या सबसे ज्यादा होती है —बुभुक्षा-प्रधान[1]। यह कथन इस मूल कथन से सर्वथा भिन्न है कि मन का प्रत्येक तत्त्व राज्य के पूर्ण जीवन की रचना के कारण-रूप होता है; और यह ऐसा कथन है जो कहीं अधिक संदिग्ध है। राज्य मन की उपज हो सकता है, और सचमुच है भी पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि राज्य को ऐसे वर्गों में विभाजित किया जाता है या किया जाना चाहिए जो मन के विभिन्न तत्त्वों के अनुरूप हों। हर व्यक्ति के मन में ये सारे तत्त्व मौजूद रहते हैं, पर यदि राज्य में हर आदमी को ऐसे काम में लगाया जाए जो एक ही तत्त्व के अनुरूप हो, तो क्या इसका मतलब यह नहीं कि उसे ऐसे नागरिक के रूप में रहने के लिए विवश किया जा रहा है जिसके मन का एक ही अंश सजग हो। शासक को विवेक के सहारे रहना चाहिए : इसीलिए प्लेटो की युक्ति है कि उसे बुभुक्षा का परित्याग कर देना चाहिए। फलतः, प्लेटो शासक को ऐसी साम्यवादी व्यवस्था के नियंत्रण में ले आता है जिसमें बुभुक्षा को खुली छूट नहीं रह जाती। इस तरह मानव-प्रकृति का एक अंतरंग तत्त्व निर्जीव हो जाता है। उधर, किसान को बुभुक्षा के परितोष के लिए ही जीना चाहिए : उसके इस जीवन पर पूर्ण संरक्षक के बहिरंग विवेक का अंकुश रहना चाहिए और इस तरह किसान के विवेक-तत्त्व को घुन लग जाता है[2]।

प्लेटो ने मानव-प्रकृति का जो विश्लेषण किया था, उससे प्रेरणा ले कर ही उसने प्रत्येक मानसिक तत्त्व को एक पृथक् सामाजिक वर्ग का रूप दिया है और शासन का अधिकार तीनों में से एक वर्ग तक ही सीमित रखा है। इस विश्लेषण की दो विशेषताएँ हैं। एक, मन के विभिन्न तत्त्वों में निश्चित अलगाव कर दिया गया है; और दो–इसमें मानसिक जीवन में विवेक-तत्त्व को सिरमौर बना दिया गया है। मन के तत्त्वों को एक दूसरे से अलग करने के लिए प्लेटो ने अंतर्विरोध के सिद्धांत का उपयोग किया है। हर आदमी अपने मन के अंतर्विरोधों या द्वंद्वों के प्रति सचेत होता है; और चूँकि एक ही काम एक ही समय में विरोधी पद्धतियों से संपन्न नहीं हो सकता (436 B); इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि मन में एक ही तत्त्व नहीं होता; वह तो विभिन्न तत्त्वों का अवास होता है जो एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं और अकसर होते हैं। उदाहरण के लिए, बुभुक्षा विवेक से भिन्न तत्त्व है; इन दोनों में संघर्ष होता रहता है "जैसे राज्य में गुटों के संघर्ष होते रहते हैं" (440 B)। पर, यह ज़रूरी होता है कि मन के अनेकविध सूत्रों में अन्विति की स्थापना की जाए; और यह काम विवेक का है। विवेक-तत्त्व को, आवेग या उत्साह-तत्त्व के संग मिल-कर काम-तत्त्व पर शासन करना चाहिए—"हम सब में मन का सबसे बड़ा अंश यह काम-तत्त्व ही है और इसका स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि इसे चाहे कुछ और कितना

---

1. लगता है प्लेटो पायथागोरस का ज्ञान-प्रेमियों, सम्मान-प्रेमियों और लाभ-प्रेमियों के तीन वर्गों का सिद्धांत स्वीकार कर रहा है और उसे विस्तार दे रहा है।
2. सच पूछा जाए तो यही आलोचना अरिस्टाटल की आर्थिक वर्गों की धारणा पर लागू हो सकती है—इन वर्गों का राज्य के नैतिक (अर्थात् सविवेक) जीवन में कोई हिस्सा नहीं होता।

भी मिल जाए, यह आघाता नहीं।" विवेक "वह सूक्ष्म अंश है जो शासन करता है...वह शायद यह समझता है कि तीनों अंगों के लिए अलग-अलग और साथ ही अंगी के लिए क्या हितकर है" (441 E—442 C)। अतः विवेक मन में अन्विति स्थापित करता है—यानी वह सही संबंधों की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करता है जिसमें विभिन्न तत्त्वों को एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं करने दिया जाता या उनमें से किसी एक तत्त्व को किसी दूसरे का काम नहीं करने दिया जाता। यहाँ हम पायथागोरसवादी सिद्धांतों के निकट पहुँच जाते हैं और जब प्लेटो मन के तीनों तत्त्वों को—"जिनकी तुलना सरगम के तीव्र, मंद और मध्यम स्वरों से की जा सकती है"—पूर्णतः समंजित स्वर-लय में बाँधने की बात कहता है, तब लगता है कि वह निश्चय ही पायथागोरसवादी सिद्धांत की ओर संकेत कर रहा है (443 D)[1]।

प्लेटो के विरोध में यह कहा जा सकता है कि मानव-मन में अंतर्विरोध या द्वंद्व होने से मानव-व्यक्तित्व की वास्तविक एकता खंडित नहीं होती, उसमें अस्थिरता भले ही पैदा हो जाए[2]। इस तरह की एकता विभिन्न तत्त्वों के सही संबंधों की व्यवस्था से अधिक होती है; वह उन तत्त्वों की सोपान-क्रमिक व्यवस्था से भी अधिक होती है जिसके अंतर्गत एक तत्त्व को तो सर्वोच्च मान लिया जाता है और बाकी को उसके अधीन रखा जाता है। मानव-मन ऐसे संघर्षरत तत्त्वों का आवास नहीं है जिनमें से किसी एक की विजय और प्रभुत्व के द्वारा ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता हो। वह तो शुरू से ही अखंड है और उसमें सर्वत्र विवेक समाया हुआ है। पर, अगर हम मानव-मन के बारे में प्लेटो के विश्लेषण को अपनाएँ और उस विश्लेषण को राज्य पर लागू करें, तो हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे, जिन पर प्लेटो पहुँचा था। त्रिवर्गीय राज्य-व्यवस्था त्रिपक्षीय आत्मा के अनुरूप होगी तथा कोई साम्यवादी व्यवस्था और दार्शनिक नरेशों का शासन विवेक-नियम के अनुरूप होगा। शासन दार्शनिक एकतंत्र बन जाएगा और राज्य के आर्थिक तथा सैनिक वर्ग उसी तरह उसकी अधीनता में रहेंगे जैसे बुभुक्षा और उत्साह मन के विवेक-पक्ष के अधीन रहते हैं। यह सच है कि ऐसे राज्य की एकता बल से अर्जित एकता न होगी—ठीक वैसे ही जैसे उसके वर्गों में यदि पृथकता रखी जाएगी तो वह कृत्रिम पृथकता होगी और कृत्रिम ढंग से ही उसकी रक्षा हो सकती है। प्लेटो के जाने इनका ही आधार सहज न्याय है क्योंकि वे दोनों ही मानव-प्रकृति के सहज स्वरूप पर आधारित हैं।

---

1. संगीत की उपमा और स्वरों के समुचित सामंजस्य के निर्देश, दोनों से पायथागोरस के प्रभाव का संकेत मिलता है। (तुलना कीजिए, पीछे पृ० 73)। देखिए, बर्नेट, **ग्रीक फिलॉसफ़ी** पृ० 176–8।

2. कभी कभी कहा जाता है कि यूनानियों को मनुष्य के व्यक्तित्व की चेतना कम ही थी; और एक लेखक ने प्लेटो के बारे में कहा है कि "अन्य यूनानियों की तरह वह भी मानव-व्यक्तित्व के चिरंतन महत्व के बारे में कुछ नहीं जानता था"। इसके विपरीत, प्लेटो ने अन्य यूनानियों की तरह राज्य को मानव-व्यक्तित्व पर आधारित किया है; उसने व्यक्तित्व की अनिवार्य एकता का महत्त्व कम भले ही आँका हो पर उसने इस एकता की महत्ता स्वीकार अवश्य की है। (उदाहरण के लिए **रिपब्लिक** 589 B से तुलना कीजिए)।

नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों और सीमाओं का ज्ञान होता है और सामान्यत: उनमें उन्हें पालन करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। प्लेटो का विचार है कि इन दोनों से त्रिवर्ग-व्यवस्था की भी रक्षा हो सकेगी और दार्शनिक नरेशों के शासन की भी। हर वर्ग जानता है कि वह क्या कर सकता है और हर वर्ग यह भी जानता है कि उसने दूसरे काम करने की या दूसरे कामों में टाँग अड़ाने की कोशिश की, तो वह अन्याय होगा। फिर, हर वर्ग आत्म-नियंत्रण के सहारे अपने ज्ञान को चित्त-वृत्ति के रूप में ढालता है और हर वर्ग के बारे में कहा जा सकता है कि वह आत्म-नियंत्रण के द्वारा वर्ग-व्यवस्था और शासन-प्रणाली के प्रति अपनी इच्छा-शक्ति का योग और अपनी सहमति प्रदान करता है। फिर भी, सच कहा जाए तो त्रिपक्षीय आत्मा के सिद्धांत और हर भाग के विशिष्ट काम के सिद्धांत में एक ऐसी राज्य-व्यवस्था उत्पन्न करने की प्रवृत्ति है जिस पर अत्यधिक पृथकतावाद और अरिस्टॉटल की शब्दावली में 'अत्यधिक एकीकरण' दोनों का आरोप लगाया जा सकता है। पहला आरोप तो इसलिए लगाया जा सकता है कि वह जिस वर्ग-व्यवस्था पर आधारित है, उसमें वर्ण-व्यवस्था के भी कुछ लक्षण हैं; और विशेष रूप से इसलिए कि इसमें उत्पादक और शासक-वर्गों के बीच एक बड़ी विभाजन-रेखा की कल्पना की गई है। दूसरा आरोप उस पर कुछ तो इसलिए लगाया जा सकता है कि उसमें एक साम्यवादी व्यवस्था निहित है जो शासकों की अभिलाषाओं की काट-छाँट करके और उन्हें संपत्ति से जो सर्वांगीण मानव-व्यक्तित्व के लिए ज़रूरी है—वंचित करके एक-दूसरे से और शेष समुदाय से जोड़ती है; और फिर कुछ इसलिए कि वह ऐसी शासन-प्रणाली पर निर्भर है जो एक अनन्य सामान्य इच्छा की क्रियान्विति के बजाए एक ही प्रभुत्व की अधीनता के आधार पर राज्य में एकता की प्रतिष्ठा करती है। यह भूल मानव-मन के साथ राज्य के संबंध के बारे में प्लेटो की धारणा के कारण नहीं हुई बल्कि इसका कारण यह है कि उसने मन के पृथक्-पृथक् पक्ष मानने की और विवेक की स्वेच्छाचारिता की धारणा राज्य पर लागू की है। यदि हम मानव-व्यक्तित्व की मूल एकता की धारणा से आरंभ करें और इसी धारणा को राज्य पर लागू करें तो राज्य के विषय में हमारा यह दृष्टिकोण बनेगा कि वह एक ऐसी इकाई है जिसमें सर्वत्र विवेक व्याप्त है। इस एकत्व का श्रेय है उस विवेक को जिससे एक-एक सदस्य अनुप्राणित है और जो केवल कुछ भाग्यशालियों के मनों में ही आलोकित नहीं होता बल्कि समूचे समाज की इच्छा में व्यक्त होता है। हम राज्य को एक अखंड व्यक्तित्व समझेंगे और रूसो की तरह यह मानेंगे कि प्रभुता इस समग्र व्यक्तित्व की सामान्य इच्छा को प्राप्त है। इस तरह की धारणा पर आधारित समाज में वर्ग तो ज़रूर रहेंगे पर सामान्य इच्छा निर्धारित करने में हर वर्ग का योग होगा; एकता तो होगी पर ऐसी एकता जिसमें हर सदस्य का पूर्ण व्यक्तिगत अस्तित्व ही रहेगा[1]।

---

1. मेरे वयोवृद्ध शिक्षक एडवर्ड केअर्ड के शब्दों में कहा जा सकता है, "प्लेटो में पर्याप्त सुसंबद्धता नहीं है"। बुद्धिमत्ता के अलावा और सारी सद्वृत्तियाँ आज्ञाकारिता की पद्धतियाँ हैं। दार्शनिक नरेशों के अलावा राज्य के अन्य सब अंग एक साध्य को पाने के साधन हैं। आगे अध्याय 10 (ग) से तुलना कीजिए।

हमने जिस पृथकतावाद की आलोचना की है, उसका एक दूसरा पक्ष भी है। वह भी हमें देख लेना चाहिए। प्लेटो यह भले ही न माने कि हर वर्ग मन की सारी क्षमताओं से संपन्न होता है और हर वर्ग के लिए यह संभव होना चाहिए कि वह अपनी सारी क्षमताओं का पूर्ण विकास कर सके, पर वह इतना ज़रूर मानता है कि किसी एक वर्ग के व्यक्ति-सदस्यों में ऐसी क्षमताएँ हो सकती हैं जो और दूसरे वर्ग की विशिष्टता हो और उसमें इस बात की उत्सुकता है कि जहाँ भी ऐसा हो वहाँ यह संभव होना चाहिए कि लोग आसानी से उस वर्ग में पहुँच जाएँ जिसमें अपनी क्षमताओं के आधार पर पहुँचने के वे अधिकारी हों। उसने यह सिद्धांत एक कथा के रूप में व्यक्त किया है। उसने कहा है कि राज्य के सब सदस्य एक-दूसरे के भाई हैं; पर ईश्वर ने शासकों की रचना में सोने का, सिपाहियों की रचना में चाँदी का और किसानों तथा शिल्पियों की रचना में लोहे और पीतल का प्रयोग किया। उसकी यह इच्छा कभी न थी कि हर वर्ग के मूल सदस्यों के वंशज पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी वर्ग में बने रहें। उसने संरक्षकों को आदेश दिया कि वे इस सिद्धांत की रक्षा में सबसे अधिक सजग और तत्पर रहें कि जिसकी जैसी रचना हो, उसी के अनुरूप उसका वर्ग हो। हो सकता है 'स्वर्ण' के माता-पिता के 'रजत' की संतान हो, हो सकता है 'रजत' के माता-पिता के 'स्वर्ण' का पुत्र हो। जब कभी ऐसा हो, तब शासकों को उसी के अनुरूप आचरण करना चाहिए; उन्हें चाहिए कि वे 'रजत' के मनुष्य को नीचे सैनिक की श्रेणी में ले जाएँ और 'स्वर्ण' के मनुष्य को ऊपर उठाकर शासक की स्थिति में पहुँचा दें (415 A—C)। श्रेणियों की इस अदला-बदली से हर व्यक्ति अपने निश्चित स्तर पर पहुँच जाएगा; यदि उसमें विवेक की ज्योति होगी, तो उसे उसके उपयोग का अवकाश मिलेगा। प्लेटो यह मानने के लिए हर्गिज़ तैयार नहीं कि उसके प्रस्तावित वर्ग-विभाजन से मानव-विकास की संभावना में कोई बाधा पैदा होगी। उलटे इससे तो एक ऐसा मौका हाथ आता है जिसके बिना हर शक्ति का पूर्णतम उपयोग न हो पाता।

श्रेणियों की अदला-बदली के रूप में सुरक्षा प्राप्त हो जाने के कारण वर्ग-विभाजन अब बे रोक-टोक अपना विशेषीकरण का प्रयोजन सिद्ध कर सकता है और उस उत्कर्ष की सिद्धि को भी संभव बना सकता है जो विशेषीकृत क्षमता के द्वारा ही हो सकती है। शासकों और सैनिकों को अपने-अपने काम पर लगा देने का मतलब होता है—राजनीति से अयोग्यता का बहिष्कार करना और प्लेटो ने अपने समय के राज्यों में जो दोष देखे थे, उनमें से एक प्रमुख दोष मिथ्या राजमर्मज्ञता के साथ ही लुप्त हो जाता है। पर यह कहा जा सकता है कि एक वर्ग को दूसरे से अलग कर देने से, विशेषकर उत्पादक-वर्ग और शासक-वर्ग को एक दूसरे से पृथक् कर देने से राजनीतिक नि:स्वार्थता पनपती-बढ़ती है हालांकि उस पर यह आक्षेप किया जा सकता है और अरिस्टाटल ने यह आक्षेप किया भी है कि उससे राज्य दो भागों में बँट जाता है और दोनों की ही मनोवृत्ति तथा संस्थाएँ परस्पर भिन्न होती हैं। एक ओर तो आर्थिक समाज स्थित होता है और दूसरी ओर राज्य का उद्भव होता है—ऐसे राज्य का जिसे एक साम्यवादी व्यवस्था द्वारा बड़ी सावधानी के साथ आर्थिक

समाज से अलग रखा जाता है और जिसे न तो उसमें हस्तक्षेप करने की संभावना होती है, न उससे प्रभावित होने की। कहा जा सकता है कि यूनानियों में समाज और राज्य के जिस भेद की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति थी, उस भेद की यहाँ पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

(ङ) प्लेटोवादी न्याय

पर, सबसे बड़ी बात यह है कि इस सारी तर्क-शृंखला का उद्देश्य जिस रहस्य—न्याय के स्वरूप—का उद्घाटन करना है, उसका संकेत इसी विषय—पृथकता और विशेषीकरण—में निहित है। न्याय की, राज्य में न्याय के स्वरूप की, अंतिम रूप से खोज करने के लिए प्लेटो अवशेष-प्रणाली (method of residues) का सहारा लेता है। राज्य के सद्गुणों—न्याय, ज्ञान, साहस और संयम अथवा आत्म-नियंत्रण का (जो यूनानियों के अनुसार चार 'आधारभूत सद्गुण) हैं' अपनी समझ से पूर्ण वर्गीकरण करने के उपरांत पहले तो प्लेटो बाद के तीनों सद्गुणों में से प्रत्येक को उसका उचित स्थान देता है और फिर जो जगह बच रहती है, उसके लिए न्याय के बचे हुए सद्गुण की ओर से दावा प्रस्तुत करता है। अब ऊपर जो सिद्धांत निर्धारित किया गया है, उसके अनुसार राज्य के सद्गुण उसके सदस्यों के सद्गुण होते हैं—जबकि वे सदस्यों के रूप में काम कर रहे हों। फलतः, ज्ञान उस शासक-वर्ग का सद्गुण होना चाहिए जो अपने विवेक द्वारा राज्य का संचालन करता है; साहस सैनिकों का सद्गुण होना चाहिए; और शायद लगे कि आत्म-नियंत्रण उत्पादक-वर्ग का सद्गुण होना चाहिए। पर, आत्म-नियंत्रण किसी भी एक वर्ग के सद्गुण से अधिक होता है। यह ऐसा सद्गुण है जो तभी प्राप्त किया जा सकता है जब बुभुक्षा तो उचित विधि-विधान स्वीकार करे और विवेक उसकी व्यवस्था करे। फलतः, निष्क्रिय पक्ष में तो राज्य के आत्म-नियंत्रण का अभिप्राय यह होगा कि उत्पादक और सैनिक-वर्ग राज्य-शासन के वशवर्त्ती होने की ज़रूरत मानें और सक्रिय पक्ष में यह कि सरकार इस शासन की व्यवस्था करने की ज़रूरत समझे। अतः, आत्म-नियंत्रण कुल मिलाकर राज्य के विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य है जो सब में एक-सी आस्था होने से पैदा होता है।

तब फिर, न्याय क्या है और उसका आवास कहाँ है? वह विशेषीकरण भर है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं; वह अपनी स्थिति के अनुरूप कर्त्तव्यों का पालन करने और दूसरी किसी स्थिति के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करने की इच्छा मात्र है, और इसलिए उसका आवास ऐसे हर नागरिक के मन में है जो अपने नियत स्थान पर रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। यह वही मूल सिद्धांत है जिस पर राज्य की स्थापना की गई थी : "हर आदमी को एक ही काम करना चाहिए—वह काम जो

उसकी प्रकृति के सबसे अनुकूल हो" (443 A)। उदाहरण के लिए, शासक को बुद्धिमान् होना चाहिए और अगर वह अपने काम में बुद्धिमत्ता का परिचय देता है और उसी को अपना असली काम मानकर बुद्धिमत्ता का सहारा थामे रहता है, तो स्वधर्म पालन के कारण वह न्यायी है— या (चूंकि यह उस राज्य का सद्‌गुण है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं, इसीलिए) यों कहें कि वह राज्य न्यायी है क्योंकि उसके सदस्य ने अपने नियत स्थान पर रहकर अपने नियत कर्त्तव्य का पालन किया है[1]। इस दृष्टि से न्याय राज्य के और सब सद्‌गुणों का आधार है क्योंकि जब तक नागरिक अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र पर ध्यान केंद्रित नहीं करेगा, तब तक वह उस सद्‌गुण का परिचय नहीं दे सकता। इस तरह, समाज-न्याय की परिभाषा उन विभिन्न प्रकार के लोगों (उत्पादक-वर्ग, सैनिक-वर्ग और शासक-वर्ग) से निर्मित समाज के सिद्धांत के रूप में की जा सकती है जो एक दूसरे की आवश्यकता से प्रेरित होकर पारस्परिक संगठन-सूत्र में बँधे हैं और जिनके इस संगठन-सूत्र में बँधने और अपने-अपने विभिन्न कार्यों पर ध्यान केंद्रित करने से एक इकाई का निर्माण हुआ है जो पूर्ण है क्योंकि वह समूचे मानव-मन की उद्‌भावना भी है और छाया भी। ऐसे समाज का सिद्धांत होने के नाते न्याय का अर्थ यह होता है कि इन वर्गों में से प्रत्येक उस विशिष्ट कार्य का संपादन करे जो अपनी क्षमता और समाज में अपनी स्थिति के कारण उसे सहज रूप में करना चाहिए। राज्य का न्याय यह है कि नागरिक को अपनी स्थिति में निहित कर्त्तव्य का बोध हो और लोक-कर्म के रूप में वह संसार के सम्मुख आए। ट्राफलगर में इँगलैंड न्याय-मार्ग पर था क्योंकि उसके योद्धाओं ने अपने एडमिरल के संकेत का पालन करके युद्ध में अपने नियत कर्त्तव्य का पालन किया और अपने विशिष्ट उत्कर्ष का परिचय दिया।

प्लेटो ने जीवन में और सिद्धांततः जिस व्यक्तिवाद का विरोध किया था, न्याय की यह धारणा उसका अंतिम और चरम उत्तर है। इस धारणा के अनुसार व्यक्ति कोई अलग इकाई नहीं है बल्कि एक व्यवस्था का अंग है और उसका उद्देश्य एकाकी आत्मा के सुखों की सिद्धि नहीं बल्कि उस व्यवस्था में एक नियत स्थान की पूर्त्ति करना है। व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण नहीं और उसे पूर्ण नहीं माना-समझा जा सकता। राज्य अपने आप में पूर्ण है और व्यक्ति के प्रति अपने एक अंग और अंश के रूप में व्यवहार करके उसे व्यक्ति के मन पर यह तथ्य अंकित कर देना चाहिए। व्यक्ति को व्यवस्था का अंग मानने की धारणा सही जरूर है, पर प्लेटो उसे अति तक खींच ले गया है; और साम्यवाद का विवेचन करते समय हमें यह मानने का कारण

---

[1] सच्चा शासक बुद्धिमत्ता और आत्म-नियन्त्रण का परिचय देगा (क्योंकि प्रजा की तरह ही यह उसका भी सद्‌गुण है) और इनके नाते तथा इनके माध्यम से न्याय का परिचय देगा। फिर, शासक बनने के लिए (अपने इस विश्वास के अनुसार कि राज्य का कल्याण उसका कल्याण है) उसे साहस का परिचय देना चाहिए। इसीलिए, अरिस्टाटल ने बाद में यह युक्ति प्रस्तुत की कि चूंकि श्रेष्ठ शासक में चारों सद्‌गुण पाए जाते हैं, अतः वह पूर्णरूप से श्रेष्ठ व्यक्ति से अभिन्न होता है।

मिल जाएगा कि इसकी वजह से प्लेटो ने व्यक्ति के वे अधिकार ही अस्वीकार कर दिए जो उसके नैतिक व्यक्ति होने की आधारभूत शर्त्तें हैं और जिनके कारण उसमें कोई सद्‌गुण विद्यमान हो सकता है। पर, सामाजिक न्याय (या नीतिपरायणता) की यह धारणा जिसकी प्लेटो की तरह गेटे ने भी घोषणा की थी[1] कि वह सामाजिक कर्त्तव्य के परम नैतिक आदेश (categorical imperative) के पालन में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने नियत स्थान की पूर्ति है, अपने सारे गुण-दोषों के बावजूद **रिपब्लिक** का आधारभूत सिद्धांत है और किसी विशेष स्थिति में संपादित किए जाने वाले सार्वजनिक कर्त्तव्य तथा कुछ विशेष प्रशिक्षण द्वारा अर्जित की जाने वाली सार्वजनिक कार्य-क्षमता के उस दृष्टिकोण का भी मूल आधार है जिसकी पैरवी करने के लिए **रिपब्लिक** की रचना की गई थी।

प्लेटो की सामाजिक न्याय की धारणा की आलोचना करने से पहले हमें उसकी वैयक्तिक न्याय की परिभाषा पर विचार कर लेना होगा। यदि राज्य का न्याय यह है कि प्रत्येक वर्ग अपने काम का उचित रीति से संपादन करे तो व्यक्ति का न्याय (जिसकी खोज करना समूची तर्क-शृखला का उद्देश्य और राज्य के निर्माण तथा विचार का कारण था) यह होगा कि व्यक्ति-मन का प्रत्येक भाग अपने काम का समुचित संपादन करे। व्यक्ति-मन के भागों में वे ही सिद्धांत परिलक्षित होते हैं जो राज्य के वर्गों में होते हैं। सच पूछा जाए तो ये विभिन्न भाग, अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग तरह से प्रबल होते हैं और समाज-वर्गों के भेद इन्हीं से उत्पन्न होते हैं (435 E)। निष्कर्ष यह है कि जैसे राज्य में—जो मानव-मन के सदृश और उसी की सृष्टि है—तीन तत्त्व होते हैं, वैसे ही उनके समानांतर और उनके अस्तित्व के स्रोत के रूप में, हर व्यक्ति के मन में विवेक, उत्साह और बुभुक्षा के तीन तत्त्व होते हैं[2]। जैसे राज्यगत न्याय का मतलब यह है कि उसके तीनों तत्त्व अपनी-अपनी जगह पर रहते हैं, वैसे ही व्यक्तिगत न्याय का अर्थ यह है कि विवेक, उत्साह और बुभुक्षा ये सब अपनी उचित मर्यादाओं के भीतर रहते हैं[3]। पर चूंकि

---

[1] गेटे का स्वयं को एक सावयव सत्ता का रूप दीजिए=प्लेटो का स्वधर्म पालन। गेटे की एक अन्य उक्ति भी प्रसंगोचित है : "मनुष्य या तो पूर्ण हो या पूर्ण में शामिल हो जाए"।

[2] पुस्तक में पहले तो व्यक्ति में निहित इन तीनों तत्त्वों का स्पष्ट विवरण दिया गया था और उसके बाद यह बताया गया था कि वे राज्य के तीनों तत्त्वों में किस तरह प्रकट होते हैं। पर, प्लेटो व्यक्ति के प्रच्छन्न मनोविज्ञान से प्रारंभ करता है, उसके अनुसार राज्य का निर्माण करता है और राज्य को तर्क का आधार बना कर व्यक्ति के प्रकट मनोविज्ञान का निरूपण करता है। हालांकि कहने के लिए वह राज्य के विराट अक्षरों को आधार बनाकर व्यक्ति के लघु अक्षरों का निरूपण करता है, पर सच बात यह है कि लघु अक्षर तो शुरू से ही मौजूद हैं। पीछे इसी अध्याय का खंड (ख–३) देखिए।

[3] संक्षेप में न्याय आत्मा के अंगों का सामंजस्य है (पीछे पृष्ठ 205 से तुलना कीजिए)।

राज्य का न्याय उसके अंगभूत व्यक्तियों का न्याय है, अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति के दो पहलू होते हैं और उसमें से किसी भी एक में वह न्याय की अभिव्यक्ति करता है। एक पहलू यह है कि वह समुदाय का सदस्य होता है और उसकी मनोवृत्ति के प्रवल तत्त्व ने उसे जिस स्थिति में ला रखा हो उसके अनुकूल सद्गुण प्रकट करके वह न्याय का परिचय देता है—उदाहरण के लिए, यदि उसके स्वभाव में उत्साह-तत्त्व प्रबल हो, तो साहस का गुण प्रकट करके। पर, दूसरा पहलू यह है कि वह व्यक्ति का मन होता है और इस रूप में अगर वह अपने मन के हर तत्त्व को उसके उचित स्थान पर रखे और इस प्रकार बुद्धि, साहस और आत्म-नियंत्रण के अन्य गुण प्रदर्शित करे तो वह न्याय का परिचय देता है। इसलिए नागरिक के रूप में अगर कोई आदमी अपने मन के एक भाग से युक्त होकर रहता है, तो व्यक्ति के रूप में वह अपने सारे मानसिक वैभव से संपन्न होकर जीवन-यापन करता है और न्याय के रूप में उसे सद्गुणों का वह आधार-सूत्र मिल जाता है जो सबको व्यवस्थाबद्ध सामंजस्य और संतुलन में बाँधे रखता है[1]।

न्याय के विषय में प्लेटो की धारणा जिस रूप में राज्य पर लागू की गई है, उस रूप में उस पर आक्षेप किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि लोग सामान्य रूप से न्याय का जो अर्थ समझते हैं, स्वधर्म-पालन का सूत्र उसके सार-तत्त्व का स्पर्श नहीं करता। इस बात पर भी ज़ोर दिया जा सकता है कि उसका स्वरूप बहुत निष्क्रिय है और वह लोगों को अपने-अपने क्षेत्र तक सीमित रखने का आदेश तो देता है, पर ऐसे किसी सिद्धांत का निरूपण नहीं करता जिसके द्वारा इच्छाओं के संघर्ष का और अधिकार के एक क्षेत्र तथा दूसरे क्षेत्र के बीच के संघर्ष का समाधान हो सके और न्याय की धारणा में हम यही समाधान पाना चाहते हैं। पर, हमें याद रखना चाहिए कि न्याय का एक संगी आत्म-नियंत्रण है जो समूचे समाज का सामान्य गुण भी है। न्याय निष्ठापूर्ण स्वधर्म-पालन है और अगर उसमें उसके सहवर्त्ती, सामंजस्य का या विभिन्न कामों के समन्वय का अभाव हो, तो आत्म-नियंत्रण—उस अर्थ में जिसमें प्लेटो ने उसकी परिभाषा की है—इस संगी के अभाव की पूर्ति करता है। उसकी प्रकृति सामजंस्य और समस्वरता की होती है (430 E)। वह सरगम के सभी स्वरों में व्याप्त[2] होकर मंद, तीव्र तथा माध्यम स्वरों में सामंजस्य पैदा करके (432 A) समग्र समाज में सक्रिय होता है। पर, आत्म-नियंत्रण नैतिक सिद्धांत है, विधि सिद्धांत नहीं और यह आपत्ति फिर भी की जा सकती है कि प्लेटो ने जिस न्याय की चर्चा की है, वह असल में न्याय है ही नहीं। वह एक अंतरंग भावना है, वह मूर्त्त न्याय के रूप में व्यक्त नहीं होती, किसी विधि के रूप में तो और भी कम होती है। विधि एक चीज़ है, नैतिकता दूसरी। एक का संबंध

---

[1] याद रखने की बात है कि 'राज्य-न्याय' और 'व्यक्ति-न्याय' दोनों की अभिव्यक्ति व्यक्तियों द्वारा ही होती है। अंतर यह है कि 'राज्य-न्याय' की अभिव्यक्ति व्यक्ति समाज के एक अंग के रूप में करता है और 'व्यक्ति-न्याय' की स्वयं अपने मानस में।

[2] जैसा कि हमने ऊपर देखा था, संगीत की उपमा (तुलना कीजिए, 443 D) पायथागोरसवादी प्रभाव प्रकट करती है।

उन बाहरी नियमों से है जो व्यवस्थित समुदाय में लोगों के कामों का निर्देश करते हैं; दूसरी का संबंध उन विचारों से है जो नियमों के पीछे रहते हैं और उन आदर्शों से है जो व्यवस्था के पीछे रहते हैं। कहा जा सकता है कि प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्य और वैधिक दायित्व के भेद को धुंधला कर दिया है और उनकी विभाजक-सीमा उलट-पलट दी है[1]।

पर सच पूछा जाए तो इस तरह की आपत्ति अप्रासंगिक है। हम पहले देख चुके हैं[2] कि प्लेटोवादी न्याय न तो विधि का विषय है और न उसका संबंध वैध अधिकारों और कर्त्तव्यों की किसी बाहरी योजना से ही है। वह सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में आता है, विधि के क्षेत्र में नहीं[3]। वह विधि का या व्यक्तिगत नैतिकता का भी विषय नहीं है। वह दोनों के बीच किसी भ्रांति का कारण भी नहीं है। वह सामाजिक नैतिकता की ऐसी धारणा है और सामाजिक नीति-संहिता की ऐसी परिभाषा है जिसका समाज-संबंधों की क्रिया-प्रतिक्रिया के मूल में विधि से किसी तरह कम हाथ नहीं होता, बल्कि उससे अधिक ही होता है। प्लेटो की न्याय-धारणा में उन उपायों पर विचार होता है जिनसे कोई पूरा का पूरा समाज-श्रेय और उसके फलस्वरूप सुख प्राप्त कर सकता है (421 B-C); वह व्यक्तियों के सुख या श्रेय तक ही सीमित नहीं। उसका सूत्र यह है कि समाज-नैतिकता का प्राण-तत्त्व "मेरी स्थिति और उसके अनुरूप कर्त्तव्य की पूर्ति" है और यह सूत्र ऐसा है जिसका आज भी आधुनिक विचारक उपयोग कर सकते हैं[4]। इस सूत्र के पीछे और समाज-नैतिकता की सारी धारणा के पीछे यह विचार है कि समाज एक नैतिक इकाई या जीव है, जो नैतिक जीवन जीता है, प्रत्येक व्यक्ति जिसका एक अंग

---

[1] तुलना कीजिए, गंपर्ज़, **ग्रीक थिंकर्स**, III, 75।

[2] इसी अध्याय में खंड (ख—1) देखिए। इसके साथ ही 433 E में जो परिभाषा दी गई है—यानी "जो अपना है, उसी को रखना और करना" न्याय है उसे भी देखिए। उसके अनुसार 'रखना' शब्द के प्रयोग में न्याय की वह विधिक धारणा निहित प्रतीत होती है जिसका अरिस्टाटल ने 'विशिष्ट न्याय' शीर्षक के अंतर्गत विवेचन किया है।

[3] सामाजिक नैतिकता "न तो हमारे अंतर्मन की आत्मपरक नैतिकता है, न विधि की बहिरंग नैतिकता। वह दोनों का समन्वय करती है और दोनों से परे है। वह जीवन की एक भावना है, स्वभाव है जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक मत में होती है और जिसकी क्रियान्विति स्वतंत्र राष्ट्र की सामाजिक अंतरात्मा द्वारा की जाती है। इससे एक-दूसरे के प्रति हमारे संबंधों का नियंत्रण होता है, और चूंकि हमारे संबंध समुदाय में हमारी स्थिति या स्थान से निकलते हैं—या यों कहा जाए कि हमारे परस्पर जो संबंध होते हैं, उनके योग से ही हमारी स्थिति या स्थान बनता है—इसलिए हम कह सकते हैं कि हमारी स्थिति या स्थान पर उसका नियंत्रण होता है" (**पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम हर्बर्ट स्पेंसर टु टुडे**, पृ० 61–62)।

[4] यह हीगेल के **फिलॉसफी ऑफ माइंड** में निहित है और ब्रैडले ने **एथिकल स्टडीज** (माई स्टेशन एंड इट्स ड्यूटीज़ अध्याय) में और बोसांके ने **फिलॉसिफिकल थ्योरी ऑफ द स्टेट** (पृ० 205 और क्रमशः) में इसका प्रयोग किया है।

है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक-न-एक काम है। प्लेटो का राजनीति-सिद्धांत इस नैतिक जीव का सिद्धांत है और उसका न्याय-सिद्धांत उस नैतिक संहिता का सिद्धांत है जिसके सहारे वह जीता है। प्लेटो वैध अधिकारों पर आधारित वैध समाज की धारणा से अपना विवेचन शुरू नहीं करता और वह न्याय का इस रूप में भावन नहीं करता कि वह इस तरह के अधिकारों की रक्षा और परस्पर संबंधों की व्यवस्था है। वह विशिष्ट काम करने के नैतिक कर्त्तव्य पर आधारित नैतिक समाज की धारणा से अपना विवेचन आरंभ करता है और न्याय को ऐसी भावना के रूप में ग्रहण करता है जिसके द्वारा लोग इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए प्रेरित होते हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि जब प्लेटो ने न्याय का इस रूप में भावन किया, तब वह यूनान के तत्कालीन विचारों से बहुत दूर था। हम देख चुके हैं[1] कि यूनानियों के पास लैटिन Jus (न्याय) से मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं था। Jus में सिर्फ़ न्याय निहित नहीं, उपचार भी है बल्कि कहीं अधिक है। वह एक मूर्त्त चीज़ है जिसे कोई मानवीय सत्ता पहचान सकती है, लागू कर सकती है। वह वास्तविक नियमों का योग होता है जिनके आधार पर अदालतें चलती हैं—ये नियम परंपरा से अथवा अदालती निर्णयों से बने हों या संविधि के आधार पर बने हों। इस प्रकार रोमवासियों ने तो एक अनन्य न्याय की तथा उसके अंग के रूप में विधि की बात सोची और कही परंतु यूनानियों ने अमूर्त्त और निरपेक्ष न्याय का चिंतन और आख्यान किया और मूर्त्त विधि की एकमात्र अभिव्यंजना के रूप में उन्होंने उसके पार्श्व में समुदाय की पुरानी और परंपरागत प्रथा की प्रतिष्ठा की—फिर चाहे वह प्रथा लिखित रही हो या अलिखित। यूनानी चिंतन के आरंभ में ही स्वभावतः सवाल उठा कि न्यायी या नीतिज्ञ का सच्चा स्वरूप क्या है, उससे संबंधित न्याय या नीतिपरायणता का गुण क्या है और न्याय तथा पुरानी परंपरागत प्रथा का आपस में संबंध क्या है। स्वाभाविक था यह चिंतन विधि-विषयक चिंतन से कुछ अधिक सिद्ध होता और विचारणा के सहारे न्यायी का मानव-समाज के आदर्श श्रेय के रूप में तथा न्याय का आदर्श श्रेयता के रूप में उन्नयन हो जाता। प्लेटो में यही हुआ है। इसका कारण यह तथ्य है कि यूनान की प्रतिभा रोम की तरह विशेष रूप से विधिपरक न थी या उसका किसी विधिक न्याय से प्रत्यक्ष संबंध न था जो विधिक उपचार द्वारा समर्थित हो और विधिक प्रक्रिया द्वारा प्रवर्त्तित। उलटे उसका तो विशेष संबंध तत्त्व-मीमांसा से था और प्लेटो अपने राष्ट्र की इस प्रतिभा का महत्तम व्याख्याता था। जब उसने न्यायी के आधारभूत विचार का पता लगाने की ओर इस विचार की सत्यता के प्रति आश्वस्त होकर उसके आलोक में समाज को बदलने की कोशिश की, तब उसने अपने सच्चे यूनानी होने का परिचय दिया। वह अपने राष्ट्र के रीति-रिवाज़ों से इतना ही दूर हटा कि समाज के आधारभूत सिद्धांत के प्रति अपने उत्साह को वह अति की स्थिति तक ले पहुँचा—जहाँ अमूर्त्त न्याय मूर्त्त विधि मात्र के लिये घातक सिद्ध हुआ और जहाँ दार्शनिक नरेश के शुद्ध विवेक में निहित आदर्श न्याय ने सारे विधि-विधान का अंत कर दिया। पर इसके लिए भी मार्ग पहले

---

1. विलामोवित्ज, स्टाट उंब गेसेलस्चापड डेर ग्रीचेन, पृ॰ 59।

से ही प्रशस्त था, उसी समय से जब अमूर्त्त न्याय और विधिगत रूढ़ि के बीच भेद की रेखा खींची गई थी[1]।

---

[1] रिपब्लिक में आद्यंत प्लेटो की यही मंशा रही है कि आदर्श न्याय यूनानी राज्यों को परंपरागत प्रथाओं के विरुद्ध है। इस दृष्टि से उसके विचार उग्र सोफ़िस्टों से मिलते हैं; पर फ़र्क यह है कि उन्होंने तो आदर्श न्याय को अधिक बलवान् के 'प्राकृतिक' अधिकार से अभिन्न माना, और प्लेटो ने उसका तादात्म्य सच्चे या दार्शनिक ज्ञान की प्रभुता से किया।

अध्याय ९

रिपब्लिक और उसका शिक्षा-सिद्धांत

(क) प्लेटो के राज्य में शिक्षा का स्थान
(ख) यूनानी शिक्षा-पद्धतियां
(ग) प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत का दार्शनिक आधार
(घ) संरक्षकों या सहायकों का प्रशिक्षण
    [१] शिक्षा में व्यायाम का स्थान
    [२] शिक्षा में संगीत का स्थान
(ङ) पूर्ण संरक्षकों का उच्चतर अध्ययन-क्रम
(च) चिंतनमय जीवन और कर्ममय जीवन।
(छ) आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था

[illegible] और [illegible]

अध्याय 9

रिपब्लिक और उसका शिक्षा-सिद्धांत

(क) प्लेटो के राज्य में शिक्षा का स्थान

राज्य का प्राण है न्याय। जब हम न्याय से हट कर उन साधनों पर विचार करने लगते हैं, जिनके द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है, तब हम देखते हैं कि प्लेटो ने दो महान् संस्थाओं का सुझाव दिया है। एक है —राज्य द्वारा दी जाने वाली सामान्य शिक्षा-प्रणाली; दूसरी है — साम्यवाद की समाज-व्यवस्था। सामान्य शिक्षा-प्रणाली से विशिष्ट काम का वह प्रशिक्षण मिलेगा और उसे पूरा करने में नि:स्वार्थ भाव से जुटे रहने की वह सहज वृत्ति जागेगी जो न्याय की दृष्टि से आवश्यक है। साम्यवाद की समाज-व्यवस्था से इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए समय मिल जाएगा (क्योंकि इस व्यवस्था में लोग रोज़ी कमाने की आवश्यकता से मुक्त हो जाएँगे), स्वार्थ के मोह-पाश टूट जाएँगे और सबसे बड़ी बात यह कि उस दृष्टिकोण की क्रियान्विति होगी जिसके अनुसार व्यक्ति 'पूर्ण' का अंग है और जो प्लेटो की न्याय-धारणा में निहित है। इन दोनों में नई शिक्षा नई समाज-व्यवस्था से बड़ी चीज़ है[1]। वह जीवन का समूचा दृष्टिकोण ही बदल कर बुराई की जड़ पर प्रहार करने और जीवन-यापन के ग़लत तौर-तरीकों में सुधार करने की चेष्टा है। वह मानसिक चिकित्सा द्वारा मानसिक रोग के उपचार का प्रयत्न है। इस दृष्टि से रूसो का कथन सच है और **रिपब्लिक** शिक्षा के विषय पर आज तक का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। तुलना करें तो नई समाज-व्यवस्था गौण है। यह सावधानी की हद है। यदि आध्यात्मिक

---

[1] "वस्तुतः श्रेष्ठ शिक्षा सुरक्षा का सबसे अच्छा साधन होगी" (416 B)। "एक सबसे बड़ी चीज़ है शिक्षा और पालन-पोषण: अगर नागरिकों को अच्छी शिक्षा मिल जाए, तो वे दूसरे मसले आसानी से हल कर सकते हैं" (423 D-E)। पर इसके साथ ही यह मानना पड़ेगा कि तीसरे खंड और पाँचवें खंड के स्वरों में कुछ अंतर है। तीसरे खंड में शिक्षा पर विचार करते हुए प्लेटो ने उसके आधारभूत महत्त्व पर बल दिया है। पाँचवें खंड में स्त्रियों और बच्चों के साझे-जैसी संस्था का विवेचन करते हुए उसने संस्थाओं के महत्त्व पर ज़ोर दिया है। अरिस्टाटल की आलोचना (कि प्लेटो ने समाज-सुधार के शैक्षिक उपाय की उपेक्षा की है और संस्थागत उपाय का सहारा लिया है) कुल मिला कर तो अनुचित ही है पर पांचवें खंड के संदर्भ में कुछ-कुछ ठीक भी है।

साधन पर्याप्त न हो, तो आदमी को भौतिक शक्ति का सहारा लेना चाहिए। साम्यवाद गौण तो है ही, साथ ही वह एक अभावात्मक चीज़ भी है : कम से कम शिक्षा-प्रणाली के भावात्मक गुण की तुलना में देखें तो निश्चय ही यह बात ठीक है। शिक्षा का मतलब है—आत्मा को उस परिवेश में ले आना जो उसके विकास की हर अवस्था में उसके उन्नयन के लिए सबसे अनुकूल हो। साम्यवाद का अर्थ है—परिवेश से उन तत्त्वों को हटा देना जो आत्मा को उसके उचित विकास से विरत कर सकते हों।

प्लेटो ने शिक्षा पर यह जो ज़ोर दिया है, वह उसकी न्याय-धारणा का तर्कसंगत परिणाम है। अगर न्याय समाज-नीति का सिद्धांत है जिससे समुदाय में सामंजस्य की स्थापना होती है, और यदि इसका मतलब यह है कि समुदाय का हर सदस्य अपने विशिष्ट काम को सही ढंग से करे, तो समुदाय के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपना सामंजस्य बनाए रखने के लिए अपने सदस्यों को अपने सिद्धांत से अनुप्राणित कर दे। अपने उत्कर्ष की खातिर उसके लिए यह आवश्यक है कि अपने सदस्यों को प्रशिक्षण दे ताकि वे अपने काम में उत्कर्ष प्राप्त कर सकें। प्लेटो की धारणा में ही नहीं बल्कि सामान्यतः यूनानियों की धारणा में शिक्षा को एक समाज-प्रक्रिया माना गया है जिसके द्वारा समाज के सदस्य सामाजिक चेतना से भर उठते हैं और समाज की सब माँगों को पूरा करना सीखते हैं। हम देख चुके हैं[1] कि यूनानियों की विधि की प्रभुसत्ता में आस्था थी, कि वे इस प्रभुसत्ता-संपन्न विधि को समाज का व्यापक आध्यात्मिक तत्त्व मानते थे— यानी लिखित या अलिखित नियमों का योग जिससे समाज में नीतिपरायणता की प्रतिष्ठा होती थी ; और उनके विचार से राज्य का काम था— अपने नागरिकों को ऐसी शिक्षा देना कि वे विधि के साथ अपना सामंजस्य बैठा सकें। राज्य का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण काम शिक्षा देना है— इस संबंध में प्लेटो अरिस्टाटल से सहमत है और इस दृष्टि से वे दोनों ही यूनानी परंपरा के प्रति सच्चे हैं। शिक्षा का अस्तित्व इसलिए है कि वह नागरिक को अपने राज्य के आध्यात्मिक जीवन की दीक्षा दे और विलोमतः राज्य में शासन-व्यवस्था का अस्तित्व इसलिए होता है कि वह शिक्षा का प्रबंध करे। रिपब्लिक में, जो अपने एक शीर्षक के अनुसार राज्य के 'संविधान' का विवेचन करने वाला ग्रंथ है, राजनीतिक-संगठन के प्रश्नों पर नहीं, बल्कि शिक्षा-पद्धति के प्रश्नों पर विचार किया गया है; और सच कहा जाए तो प्लेटो ने जिस एकमात्र शासन-प्रणाली—दार्शनिक नरेशों के शासन—का उल्लेख किया है, वह वास्तव में उसके शिक्षा-सिद्धांत का प्रतिपाद्य भी है और परिणाम भी। पर प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत का एक और पहलू भी है। शिक्षा एक समाज-प्रक्रिया है और इस नाते उसका प्रयोजन यह है कि व्यक्ति समाज के साथ अपना सामंजस्य कर सके ; पर वह निरपेक्ष सत्य के साक्षात्कार की पद्धति भी है और वह साक्षात्कार व्यक्ति–आत्मा का साक्षात्कार है। समाज और समाज-मूल्यों की बात छोड़ दें तो भी शिक्षा अपने आप में, और अपनी ही खातिर, अच्छी होती है : उसका चरम उद्देश्य धरती की निष्फल छायाकृतियों के बीच कर्म का जीवन नहीं, बल्कि उस यथार्थ का चिंतन है जो काल और जीवन से परे है—हालांकि प्लेटो का आदेश यही है कि हम इन छायाकृतियों के

---

[1] अध्याय II, अंत में।

बीच पुरुषों की भाँति अपनी भूमिका निभाएँ और चिंतन के उल्लास में अपने संगी-साथियों के प्रति अपने कर्त्तव्य को न भूल जाएँ। यह विद्यापीठ के दार्शनिक की वाणी है। वह गणित और गणित से परे की विद्याओं के माध्यम से निरपेक्ष सत्य तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है और इस धरातल पर वह सोफ़िस्टों, ईसोक्रेटीज़ और उन सब शिक्षकों को चुनौती देता है जो शिक्षा को सामाजिक सफलता का साधन समझते हैं। वे दोहरी ग़लती करते हैं। अगर शिक्षा सामाजिक है, तो वह सामाजिक सफलता का नहीं, सामाजिक नीतिपरायणता का पथ प्रशस्त करती है। और सामाजिक नीति-परायणता का ही नहीं, वह सत्य का पथ भी प्रशस्त करती है।

(ख) यूनानी शिक्षा-पद्धतियाँ

सबसे पहले हमें शिक्षा पर इस रूप में विचार करना है कि वह सामाजिक प्रक्षशिण होती है। प्लेटो ने सामाजिक प्रशिक्षण पर विशेष ज़ोर दिया है—और यहाँ वह निश्चय ही और सचेष्ट रूप से एथेंस की प्रथा से दूर हट गया है, उसकी दृष्टि वहाँ की बजाए स्पार्टा पर जम गई है। यही बात उसके साम्यवाद की ओर उन्मुख होने के बारे में कही जा सकती है[1]। एथेंस में शिक्षा निजी उद्यम पर निर्भर थी, और रोम-साम्राज्य के ज़माने से पहले तक राज्य विद्यालयों को स्थायी आधारों पर कोई आर्थिक सहायता नहीं देता था। सोलोन की एक विधि के अनुसार माता-पिता के लिए यह ज़रूरी था कि वे अपने लड़कों के अक्षर-ज्ञान की व्यवस्था कर (लड़कियों के लिए कोई विद्यालय न थे, यों भी उनके लिए तो बस घरेलू शिक्षा थी) पर, विद्यालय चलाने का कार्य तो लोगों के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर था और अगर हम आएस्चाइन्स के विरुद्ध डिमोस्थेनीज़ के भाषण* पर विश्वास करें तो इन विद्यालयों का संचालन सदा ऐसे लोगों के हाथों में न रहता था, जो उस काम के लिए सबसे योग्य हों। हो सकता है कि विद्यालयों पर राज्य के अधिकारियों का नियंत्रण रहा हो और वे उनकी निगरानी करते

---

[1] प्राचीन यूनान की शिक्षा-प्रणालियों के बारे में फ्रीमेन का **स्कूल्स ऑफ हेलॉस** ग्रंथ देखिए।

* डिमोस्थेनीज़ (384 ई० पू०—322 ई० पू०) यूनान का सर्वश्रेष्ठ वक्ता था। वह मैकेदोनिया के फ़िलिप को यूनानी नगर-राज्यों की स्वतंत्रता का शत्रु समझता था और उसने अपने कुछ सर्वश्रेष्ठ व्याख्यानों में जिन्हें **फिलिप्पिक** कहा जाता है, फ़िलिप की विस्तार-नीति का विरोध किया था। कालांतर में फिलिप्पिक शब्द ऐसी किसी भी ओजस्वी वक्तृता के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें किसी की निंदा की गई हो। डिमोस्थेनीज़ अपने प्रयत्न में सफल न हो सका और केरोनिया-युद्ध (338 ई० पू०) में फ़िलिप ने यूनानी नगर-राज्यों की स्वतंत्रता नष्ट कर दी। इस युद्ध के उपरांत डिमोस्थेनीज़ के विरोधी और फ़िलिप के समर्थक दल ने जिसका नेता आएस्चाइन्स था, डिमोस्थेनीज़ पर अनेक आरोप लगाए। डिमोस्थेनीज़ ने आएस्चाइन्स के आरोपों का मुँह-तोड़ जवाब दिया और उसकी जीत हुई। आएस्चाइन्स के आरोपों के उत्तर में डिमोस्थेनीज़ ने जो व्याख्यान दिया उसमें उसने यूनान की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर भी छींटा-कशी की थी।

हों, पर यह बात भी निश्चित नहीं है[1]। एथेनी शिक्षा-क्रम तीन स्तरों में बँटा हुआ था—जिन्हें हम प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक कह सकते हैं। (पढ़ना-लिखना भलीभाँति सीख चुकने के बाद) प्राथमिक शिक्षा के विषयों में निम्नलिखित पाठ्यक्रमों का समावेश होता था: सर्वश्रेष्ठ कवियों के अध्ययन और व्याख्या का साहित्यिक पाठ्यक्रम, विभिन्न प्रकार के व्यायामों का शिक्षण-क्रम, और प्रगीति-काव्य का संगीतात्मक शिक्षण-क्रम जिसमें संगीत की भी संगति रहती थी। साहित्यिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत साहित्यिक सुरूचि का ही परिष्कार नहीं किया जाता था बल्कि धर्म की और थोड़ी-बहुत नीतिशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। कारण यह था कि यूनान के कवि ही असली धर्म-शिक्षक थे। इस सारे शिक्षा-क्रम के (जो छह वर्ष की आयु से चौदह वर्ष की आयु तक चलता था) फलस्वरूप बहुमुखी प्रतिभा के मनुष्य का विकास होता था—जो प्रगीति-गान कर सकता था, अपने गायन में सारंगी के साथ संगत कर सकता था, ससंदर्भ होमर और हेसिऑड के उद्धरण दे सकता था और तन-मन दोनों से स्वस्थ होता था। अगर इससे अधिक शिक्षा अभीष्ट होती, तो जो लोग कीमत चुका सकते थे, वे या तो सोफ़िस्टों से या ईसोक्रेटीज़ के विद्यालय से माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते थे। वहाँ भाषण-शास्त्र और राजनीति विषयक व्याख्यानों से कुछ हद तक निश्चित राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त किया जा सकता था। माध्यमिक शिक्षा व्ययसाध्य थी और उस तक शायद केवल अमीरों की ही पहुँच रही होगी। वह चौदह से लगभग अठारह साल की उम्र तक चलती थी। अंतिम या तृतीयक अवस्थान होता था सैनिक प्रशिक्षण का। पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त करने से पहले हर एथेनी नौजवान अठारह से बीस साल की उम्र तक यह शिक्षा पाता था। इस स्तर पर आकर पहली बार, और सो भी केवल दो साल के लिए, एथेनी राज्य सामाजिक प्रशिक्षण का काम अपने जिम्मे लेता था। बाकी सारी शिक्षा परिवार की मर्ज़ी पर और निजी विद्यालयों के संयोग पर छोड़ दी गई थी। नौजवानों की शिक्षा की ज़िम्मेदारी राज्य पर न थी, परिवार पर थी, और किसी परिवार का पिता अपने पुत्रों को जो शिक्षण दिलाता, वह राज्य के स्वरूप और आवश्यकताओं के प्रतिकूल भी हो सकता था। हो सकता है उससे अच्छे नागरिकों के बजाए उपद्रवी क्रांतिकारी पैदा होते। इस तरह की व्यवस्था, या कहें कि व्यवस्था का यह अभाव, प्लेटो के सिद्धांतों के प्रतिकूल था। "एलसिबिआडीज़* की, या सच पूछा

---

[1] जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, एथेंस में राज्य के दो ही काम थे। राज्य की हिदायत थी कि हर लड़के को अक्षर-ज्ञान कराया जाए। दूसरे, विद्यालयों पर राज्य का नैतिक पर्यवेक्षण रहता था (यह पर्यवेक्षण शायद सोलोन के बाद से सोफ्रोनिस्टाए नाम के दस पदाधिकारी किया करते थे)। इस पर्यवेक्षण का उद्देश्य यह था कि कहीं लड़के उनके 'प्रशंसकों' द्वारा बिगाड़ न दिए जाएँ।

* एथेंस का एक प्रसिद्ध राजमर्मज्ञ और सेनापति (450 ई० पू०—404 ई० पू०)। उसके माता-पिता उसे बचपन में ही अनाथ छोड़ कर मर गए थे और उसका पालन-पोषण पेरीक्लीज़ ने किया था। पेरीक्लीज़ ने उसकी शिक्षा की ओर उचित ध्यान नहीं दिया था। एलसिबिआडीज़ की सर्वतोमुखी प्रतिभा का सात्रेटीज़ भी कायल था पर वह उसे दुर्व्यसनों से हटा कर सद्गुण की राह पर न ला सका। आगे चल कर एलसिबिआडीज़ ने देश के प्रति द्रोह किया। प्लेटो ने उसके नाम से एक संवाद की रचना की है जिसमें तत्कालीन एथेनी शिक्षा-प्रणाली की कठोर आलोचना की गई है।

जाए तो किसी भी एथेनी की, शिक्षा-दीक्षा की किसी को कोई चिंता नहीं है"[1]। इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, पर यह सच है कि जो विषय प्लेटो की निगाह में सबसे अधिक महत्त्व का था, वह परिवार के ज़िम्मे छोड़ दिया गया था। उसका विश्वास था कि एथेनी राज्य ने अपने सबसे महत्त्वपूर्ण काम की ओर से तो आँखें मूँद ली थीं और वह विधान की बारीकियों के जाल में फँस गया था। यदि राज्य के लोग एक बार अच्छी तरह प्रशिक्षित हो जाते, तो यह काम उनके व्यक्तिगत निर्णय पर छोड़ा जा सकता था। और अपनी इस उपेक्षा की एथेंस को कीमत भी चुकानी पड़ी। यह कीमत थी–मूर्ख और निकम्मे राजमर्मज्ञों द्वारा शासन, जिसके वह योग्य था। यदि राज्य एथेनी को नागरिकता का प्रशिक्षण न देता था, तो एथेनी अपनी पदावधि में अयोग्य अधिकारी होकर राज्य को बदला चुका देता था। इस तरह की आलोचना से प्लेटो जिन निष्कर्षों पर पहुँचा, उनका आसानी से अनुमान किया जा सकता है। शिक्षा पर परिवार का नियंत्रण होने से प्लेटो के मन में जो विरोधी प्रतिक्रिया हुई, उसमें वह परिवार का अंत करने पर ही तुल गया है। उसने एथेनी राजमर्मज्ञों में जो अज्ञान पाया, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह सोचने लगा कि नौजवानों और प्रौढ़ों का सबसे अच्छा प्रशिक्षण क्या है, जो राज्य और सिर्फ़ राज्य को ही देना चाहिए, इस तरह के प्रशिक्षण से सर्वश्रेष्ठ राजमर्मज्ञ किस तरह तैयार किया जा सकता है और अंत में इस तरह के प्रशिक्षण और राजमर्मज्ञों द्वारा सर्वश्रेष्ठ राज्य का ही कैसे निर्माण हो सकता है। फिर भी, प्लेटो की आलोचना के कारण, और इस आलोचना से जो बड़े-बड़े परिणाम निकलते हैं, उसके कारण हमें एथेनी प्रशिक्षा के उज्जवल पक्ष की ओर से अपनी आँखें नहीं मूँद लेनी चाहिए। एथेनी नागरिक बहुत-कुछ सीख लेता था और व्यापक संस्कृति से संपन्न हो जाता था, उसके तरीके भले ही अस्त-व्यस्त रहते हों। प्लेटो की आलोचना के साथ-साथ हमें पेरीक्लीज़ के अंत्येष्टि भाषण की उदात्त प्रशस्ति स्मरण रखनी चाहिए[1]: "हम एथेनी सौंदर्य के प्रेमी अवश्य हैं, पर असंयत नहीं हैं, हम ज्ञान के प्रेमी अवश्य हैं, पर पौरुषहीन नहीं हैं।" पर यदि एथेनी शिक्षा-क्षेत्र में राज्य का योग नगण्य था, तो व्यक्तिगत उद्यम का योग बहुत ज्यादा था। लगातार चलने वाली प्रतियोगिताओं से उत्तरोत्तर उत्कर्ष का पथ प्रशस्त हुआ करता था। ये प्रतियोगिताएँ ज्यादातर मल्ल-युद्ध की थीं, पर संगीत की और साहित्य तक की प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं; और यद्यपि राज्य की ओर से प्रशिक्षण का कम ही प्रबंध था, फिर भी मन उस बहुमुखी प्रतिमा का धनी था जिसमें व्यापकता भी थी और प्रखरता भी।

स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली बिल्कुल भिन्न थी। एथेंस का समाज तो आधुनिक समाज था, उसकी अपनी समुन्नत, विविध और विशिष्ट संस्कृति थी; पर स्पार्टा तो तब तक एक आदिम समाज था और उसमें तब भी अपना रूप क़ायम रखने की सहज आदिम वृत्ति पाई जाती थी। इसके अलावा, वह युद्ध-राज्य था और इस नाते काफ़ी हद तक अपने नागरिकों को आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सकता था। स्पार्टा के इतिहास के शुरू में ही राजकीय प्रशिक्षण की एक कठिन प्रणाली का विकास किया

---

[1] एलसिबिआडीज़, I, 122 B.

गया था और शताब्दियों तक उसे क़ायम रखा गया था। स्पार्टा में सात साल की आयु में बच्चा अपने माता-पिता से अलग कर दिया जाता था और उसकी शिक्षा राज्य के किसी अधिकारी को सौंप दी जाती थी। स्पार्टा में परिवार का अपने सदस्यों की शिक्षा पर कोई नियंत्रण नहीं था; राज्य ही वहाँ सब कुछ था। स्पार्टा के तरुणों का 'हाउसों' में वर्गीकरण किया गया था और प्रत्येक 'हाउस' एक 'प्रीफ़ेक्ट' के नियंत्रण में रहता था। यहाँ स्पार्टा के तरुणों को आदिमकालीन सार्वजनिक विद्यालय के ढँग पर प्रशिक्षण दिया जाता था, मल्लयुद्ध के दाँव-पेंच सिखाये जाते थे और युद्ध की तैयारियाँ कराई जाती थीं। प्रशिक्षण का मंशा निश्चय ही नागरिकों में सैनिक उत्कर्ष का 'स्वर' जगाना था—स्पार्टा के समाज का जीवन उसी पर निर्भर था। इसका सीधा उद्देश्य था—प्रत्येक नागरिक का समुदाय की सामाजिक परंपरा और सहज प्रतिभा से सामंजस्य स्थापित कर देना। स्पार्टा में इस तरह का प्रशिक्षण और भी आवश्यक था क्योंकि वहाँ कोई लिखित विधि न थी और परंपरा में निरंतरता बनाए रखने का सिर्फ़ एक ही उपाय था कि अलिखित संहिता की भावना और सिद्धांत जल्दी से जल्दी कूट-कूट कर भर दिए जाएँ। प्रशिक्षण का महान् उद्देश्य नाना प्रकार के प्रयोगों-परीक्षणों की कसौटी पर कस कर—जो कभी-कभी प्राय: बर्बरतापूर्ण होते थे—मन को (या प्लेटो की शब्दावली में 'उत्साह' तत्त्व को) साहस से परिपूर्ण करना होता था। इस तरह वह राज्य को—जिसका लक्ष्य सदा ही युद्ध में सफलता प्राप्त करना होता था—आवश्यक साधन देता था और ऐसे लोग तैयार कर देता था जिनकी उसे ज़रूरत होती थी। इस व्यवस्था की कठोरता की शिकार स्त्रियाँ भी होती थीं; और पुरुष भी—पर कुछ कम मात्रा में। परिवार का जीवन इस व्यवस्था को आवश्यकताओं के अधीन रहता था। राज्य में घर के लिए कोई स्थान न था, पति-पत्नी सच्चे अर्थ में वैवाहिक जीवन से वंचित रहते थे। बच्चे शैशव पार करते ही माता-पिता से अलग कर दिए जाते थे। परिवार की ही तरह स्पार्टा की संपत्ति-व्यवस्था भी सैनिक अनुशासन की आवश्यकताओं के अनुसार ढाल दी गई थी। नागरिक अभिजातक-वर्ग के थे। उनके गुज़ारे के लिए बड़ी-बड़ी ज़मीन-जायदादें थीं। इन ज़मीनों को जोतना-बोना रिआया का काम था। इस तरह आर्थिक चिंताओं से मुक्त होकर वे लोग उस प्रशिक्षण-क्रम के लिए अपना समय दे सकते थे जिसे राज्य ने अनिवार्य बना दिया था। ये सारी विशेषताएँ **रिपब्लिक** में परिलक्षित होती हैं। स्पष्ट है, प्लेटो ने कई बातों में स्पार्टा को ही आदर्श माना है, उसी से प्रेरणा ली है। यूनान में सामान्य रूप से स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति का प्रचार था। स्पार्टा अनुशासनबद्ध जीवन का उन्नायक था। वह सामान्य शिक्षा-केंद्र था जहाँ बाकी यूनान के बच्चे प्रशिक्षण के लिए भेजे जाते थे। स्वयं एथेंस में—विशेष रूप से उच्च वर्गों में—एक ऐसा दल था* जो स्पार्टा का समर्थन करता था। स्पार्टा में बहुत-सी कुप्रथाएँ भी थीं, खास कर बड़ी उम्र के लोगों और लड़कों के संबंधों के

---

* मूल में Loconizing Party शब्द का प्रयोग हुआ है। लेकोनिया या लेकोनिका प्राचीन यूनान का एक विशिष्ट पर्वतीय प्रदेश था जिसका सबसे बड़ा नगर स्पार्टा था। सामान्य बोलचाल में लेकोनिया स्पार्टा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है।

क्षेत्र में। इन कुत्सित प्रथाओं ने एथेंस में भी अपने पैर जमा रखे थे[1]। पर स्पार्टा की कुछ अपनी बुराइयाँ भी थीं जो रिपब्लिक की रचना के समय इतनी प्रकट न थीं जितनी स्पार्टा की शक्ति नष्ट होने के बाद उभर कर सामने आईं। फिर भी, ये दोष नज़र तो चौथी शताब्दी के आरंभ में ही आने लगे थे। यह तो ठीक है कि जहाँ तक राज्य के द्वारा एक शिक्षा-प्रणाली के संगठन का प्रश्न था और उस प्रणाली के अनिवार्य आधार के रूप में एक सिद्धांत (और नैतिक सिद्धांत) की संकल्पना का प्रश्न था, वहाँ तक तो स्पार्टा आदर्श था पर उसके सिद्धांत का क्षेत्र संकीर्ण था और इसलिए उसका शिक्षा-क्रम भी संकीर्ण था और उसके फलस्वरूप अधिक से अधिक एक सीमित सद्‌गुण का उद्‌भव हो सकता था। चूंकि वहाँ केवल उत्साह-तत्त्व का विकास किया जाता था, अतः उसमें व्यायाम के लिए जगह थी, और ऐसे संगीत के लिए जगह थी जो साहस जगाए पर उसमें शिक्षा के साहित्य-पक्ष की एकदम उपेक्षा कर दी गई थी। स्पार्टा में अनेक ऐसे लोग थे जो लिख-पढ़ नहीं सकते थे और सच पूछा जाए तो वहाँ ऐसे लोग कम ही थे जो यूनानी साहित्य से परिचित रहे हों। स्पार्टा के प्रशिक्षण से पूर्ण मानव का निर्माण नहीं होता था : उससे बस साहस का विकास होता था और साहस के भी उन श्रेष्ठ तत्त्वों का विकास नहीं होता था जो सद्‌भावना पर आधारित होते हैं। इस दिशा में एथेंस स्पार्टा को कुछ दे सकता था और इसलिए कहा जा सकता है कि प्लेटो का उद्देश्य यह था कि वह एथेंस के शिक्षण-क्रम और स्पार्टा के संगठन का समन्वय करे और उसमें स्पार्टा के सिद्धांत से अधिक व्यापक और ऊँचे सिद्धांत का समावेश कर दे। इसके साथ ही वह चाहता था कि शिक्षा का यह क्रम जीवन के उत्तर काल तक चले और उसका प्रसार ऐसी अन्य तथा उदात्त विद्याओं के क्षेत्र में भी हो जिनकी एथेनियों ने कभी कल्पना तक न की थी[2]।

तब, प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली का व्यक्ति-पक्ष—यानी यह कि शिक्षा से पूर्ण मानव का विकास हो—एथेंस की देन है, और उसका समाज-पक्ष—यानी यह कि राज्य में नागरिक को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण रहे— स्पार्टा की। चूंकि प्लेटो स्वयं एथेनी था और एथेनियों के लिए ही उसने कलम उठाई थी, अतः स्वभावतः उसने स्पार्टा वाले पक्ष पर ज़ोर दिया। अगर न्याय-शासन की प्रतिष्ठा करनी थी और राजनीतिक जीवन से निरुद्यम व्यक्तिवादिता तथा नौसिखियों-जैसी अयोग्यता खत्म करदेनी थी, तो यह आवश्यक था कि समाज़-शिक्षा की एक ऐसी योजना हो जिसमें नागरिक अनुभव के सहारे नहीं ज्ञान की ज्योति के सहारे अपने कर्त्तव्य का पालन कर सके। पर प्लेटो की योजना रहती मानव की शिक्षा-योजना ही है और उसमें एथेनी-पक्ष की कभी उपेक्षा नहीं की गई है। हो

---

1. स्पार्टा की व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि उसमें पुरुषों और लड़कों को एक साथ रहना पड़ता था—फलतः अप्राकृतिक यौन संबंधों की बुराई रुकने के बजाए और बढ़ती थी। आगे अध्याय XIII (ग) से तुलना कीजिए।
2. प्लेटो ने रिपब्लिक के आठवें खंड (आगे अध्याय XI [ग]) में और लॉज (आगे अध्याय XIII [ग] और क्रमशः) में स्पार्टा की खुली आलोचना की है। पर स्पार्टा की दबी आलोचना तो रिपब्लिक के तीसरे खंड में वर्णित शिक्षा-प्रणाली में पहले ही कर दी गई है।

सकता है प्लेटो ने सोचा हो कि वह मूलतः सिपाहियों और शासकों को ही शिक्षा दे रहा है, पर वह यह भी जानता है कि उसे सामान्यतः मानव-मन को भी प्रशिक्षित करना है। अगर एक दृष्टि से **रिपब्लिक** "राजनीतिक और सामाजिक सुधार का ग्रंथ" है, तो उसमें "मानव-जीवन के एक आदर्श सिद्धांत की भी अभिव्यक्ति हुई है जिसे सब लोग अपने ऊपर लागू कर सकते हैं"[1]। उसमें जो शिक्षा-सिद्धांत निहित है, उसकी नींव व्यावहारिक राजनीति की आवश्यकताओं पर तो रखी ही है, मानव-मन के स्वरूप पर भी है। फलत :, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में जिन-जिन तत्त्वों की प्रमुखता रहती है, विभिन्न अवस्थाओं की शिक्षा का उनके अनुरूप संचालन करने के लिए आत्मा के अंगभूत भागों का पुराना विभाजन फिर से उभर कर सामने आता है; और प्लेटो के समग्र शिक्षा-सिद्धांत पर ज्ञान के प्रति मानव-आत्मा की प्रवृत्ति की धारणा हावी रहती है।

---

2. नेटिलशिप, **लेक्चर्स**, पृ० 217

(ग) प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत का दार्शनिक आधार

इस धारणा में मानव-मन का ऐसा रूप प्रकट हुआ है मानो शिक्षा के कार्य-कलाप में वह किसी भी तरह एक निष्क्रिय विषयी मात्र न हो। वह ऐसी चीज़ नहीं जिसे ग्रहण करके और जिसकी वहन-शक्तियों का तथा भार-वितरण की उचित रीति का सावधानी से निरीक्षण करने के बाद 'शिक्षा शास्त्र' लादने के लिए प्रवृत्त होता हो। यहाँ उन 'सोपानों' की कोई चर्चा नहीं है जिन्हें पार करने पर ज्ञान का विषय मन की सेवा में प्रस्तुत किया जाता हो। प्लेटो हमेशा यह मानकर चला है कि मन सक्रिय रहता है। विषय उसकी सेवा में प्रस्तुत नहीं किए जाते, वह स्वयं विषयों की ओर उन्मुख होता है। वह अपने परिवेश के हर विषय की ओर बढ़ता है क्योंकि उसमें ही विषय के प्रति आकर्षण होता है। शिक्षक इस सक्रिय मानसिक शक्ति का स्पर्श करने की कभी कोशिश नहीं करता—कम से कम प्रत्यक्ष रीति से स्पर्श करने की नहीं। वह बस मान लेता है कि उसका अस्तित्व है और विश्वास कर लेता है कि वह सक्रिय होगा। उसका ध्यान तो उसके परिवेश पर रहता है। वह इस परिवेश को कुछ इस तरह से व्यवस्थित करने का प्रयास करता है कि जब मन अपने चारों ओर निगाह दौड़ाए और जो कुछ देखे, उसके आकर्षण से मुग्ध हो जाए, तब वह चारों ओर की सुघर-सुंदर चीज़ों को दृष्टि में भर ले और जो सुषमा-सौंदर्य उसकी आँखों में समा जाए, वह उसकी ओर उन्मुख हो सके। प्लेटो ने जो रूपक बाँधा है उसके अनुसार शिक्षा का फल यह है कि वह ज्ञानचक्षुओं को आलोक की दिशा में मोड़ देती है। और उसका कारण यह है कि शिक्षक आलोक की ऐसी व्यवस्था कर देता है कि उस पर बरबस दृष्टि पड़े। हम कह सकते हैं कि शिक्षक अपने शिष्य के श्रेष्ठ तत्त्वों को 'उभार कर ऊपर' लाता है और अगर हम यह कहें कि सही विषयों की प्रतिक्रिया से वह 'श्रेष्ठत्व' स्वयं ही आता है तो यह और भी सच बात होगी। शिक्षक की सच्ची कला तो इस बात में है कि वह इन विषयों को एक खास ढँग से अपने शिष्यों के सामने उभार कर ला दे। हो सकता है कि इसमें संस्कार के सिद्धांत का कुछ पुट हो जिसकी व्याख्या मीनो में की गई है: आत्मा इस जन्म में जो-जो बातें सीखती है, उन सबको उसने किसी पूर्व जन्म में देखा होगा और शिक्षा उसी जीवन की स्मृति है। जब विषय-विशेष का कोई पक्ष 'विचार-साहचर्य' को उद्दीप्त कर देता है, तब वह स्मृति मन में

अनायास कौंध जाती है। विषय तो सिर्फ़ सूत्र दे देता है ; आत्मा स्वयं ही उसके संकेत से प्रभावित होती है। पर, सव कुछ उस सूत्र पर निर्भर है । आत्मा अपने परिवेश के अनुरूप अपने आपको ढालती है और इस अर्थ में देखा जाए तो आत्मा का निर्माण परिवेश के द्वारा होता है । जो अपनी आत्मा को सुंदर-सुघर बनाना चाहे, उसे चाहिए कि वह उसे अभिराम वन-प्रांतर में उन्मुक्त विचरण करने दे ताकि "अस्फुट उच्चार से युक्त सौंदर्य तथा मर्मर रव से उत्पन्न सुषमा से उसका अंतरंग ओत-प्रोत हो जाए" । शिक्षा-साधनों के रूप में प्लेटो ने कला—और विशेष कर संगीत—को जो ऊँचा स्थान दिया है, उसका यही कारण है और इसलिए यौवन की अंतिम सीमा तक फैले हुए पहले शिक्षा-सोपान का विवेचन करते समय उसने आत्मा की सुघटनीयता पर और उसे ढालने में सौंदर्य के प्रभाव पर बहुत ज़ोर दिया है । इस तरह, शिक्षा का सरोकार परिवेश के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया से है । यह प्रतिक्रिया ही आध्यात्मिक जीवन है, जैसे आहार के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया ही भौतिक जीवन है। जैसे शरीर अपने आहार के बिना सक्रिय नहीं रह सकता, वैसे ही आत्मा भी अपने आहार के बिना नहीं रह सकती। अतः जब तक आत्मा जीती रहे, उसे अपने पोषण के लिए शिक्षा की ज़रूरत होती है । शिक्षा जीवन भर ज़रूरी होती है[1] । जव तक व्यक्ति में किसी भी नए उद्दीपन के प्रति चेष्टा की सामर्थ्य रहती है, जव तक उसमें अनुभव के प्रति प्रतिक्रिया होती है और उससे वह नित-नए सांचे में ढलता जाता है, तव तक उसका शिक्षा-क्रम जारी रहता है। इसलिए, शिक्षा यौवन तक सीमित नहीं होती, उसके दायरे में प्रौढ़ता भी आ जाती है। जैसे कोई वीणा के अनेक कंपनशील तारों में सुरों की झंकार भर देता है, उसी तरह एक स्तर पर तो वह यौवन की अनुभूतियों और कल्पनाओं में झंकार पैदा करती है ; और दूसरे पर विज्ञान के अनुशासन का सहारा लेकर वय के संग-संग पनपने-बढ़ने वाली चिंतन-शक्तियों को सही रास्ता दिखाने की कोशिश करती है और इससे भी ऊँचे उठकर दर्शन के अध्ययन द्वारा वह पहले की सारी विद्याओं का संवंध-वोध प्रत्यक्ष करती है और मानव-जीवन तथा मानवीय अनुभव-जगत् के चरम प्रयोजन को समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। प्लेटो के राज्य में वालक के सयाना हो जाने से ही उसकी शिक्षा पूरी नहीं हो जाती—बल्कि उसमें वहुत कसर बाकी रहती है। हो सकता है एक सीढ़ी खत्म हो गई हो, पर जो लोग चढ़ाई के योग्य होते हैं, उनके लिए और आगे की सीढ़ी होती है । जो नागरिक राजदंड धारण करने के योग्य हो—पैंतीस वर्ष की उम्र से पहले उसके बारे में यह

---

[1] हैलेनी "नागरिक जिन-जिन विषयों का अध्ययन विद्यालय में किया करते थे, उनके प्रति उनमें किसी तरह की विरक्ति या ऊबभरी उदासीनता का भाव पैदा नहीं हो जाता था, बल्कि उनके प्रति उनके मन में ममत्व का भाव रहता था और वे स्वयं इन विषयों का स्वाध्याय करते रहते थे, उन दिशाओं में अपना ज्ञान बढ़ाते रहते थे। बड़े-बूढ़े लोग तक अपनी शैली सुधारने के लिए संगीत-शिक्षक के पास लौट आया करते थे और भूगोल या ज्योतिष पर किसी सोफ़िस्ट का व्याख्यान सुनने के लिए दौड़ जाया करते थे। प्रौढ़ नागरिकों में शिक्षा के प्रति बराबर ममत्व बना रहता था और वे जीवन भर कुछ न कुछ सीखते-गुनते रहते थे।" फ्रीमैन, स्कूल्स ऑफ हेलास, पृ० 286।

नहीं कहा जा सकता कि उसका प्रशिक्षण पूरा हो गया है। प्लेटो तो चाहेगा कि इतनी उम्र बीत जाने के बहुत समय बाद, और जीवन के पद्रंह साल शासन-कार्य में होम देने के बाद, उसके नागरिक ढलती उम्र में एक बार फिर, अपनी ही मर्ज़ी से, दर्शन का स्वाध्याय करें और अपने अनुभव की पूर्णता के आलोक में काल के चिरंतन प्रवाह और चराचर जगत के रहस्यों पर विचार करें। युवकोचित शिक्षा की अवस्था बीत जाने के बाद यह जो दूसरी और उच्चतर अवस्था आती है, उसमें प्लेटो का रूपक बदल जाता है। अब वह आत्मा के संकेत और सुघटनीयता की बात नहीं करता; बल्कि अब तो वह आलोक की, दृष्टि के धीरे-धीरे निर्मल प्रकाश की ओर उन्मुख होने की, और कठिन प्रयत्न तथा कठोर आत्मानुशासन के सहारे आत्मा के धीरे-धीरे ज्ञान-लाभ करने की बात कहता है।

हम देख चुके हैं कि आत्मा एक सक्रिय शक्ति है और अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रीतियों से काम करती है। अब हमें सोचना है कि उसका किस परिवेश में विकास होना चाहिए। परिवेश के बारे में प्लेटो जो सामान्य सिद्धांत लागू करेगा, उसकी अभिव्यक्ति इस स्थापना के द्वारा हो सकती है कि मन का विकास मन की सारी अतीत सर्जनाओं के संपर्क से होता है। इसे हम उचित शिक्षा-क्रम के स्वरूप का सिद्धांत कह सकते हैं। मानव के मन ने कई पीढ़ियों में जो सर्जनाएँ की हैं—उसकी कला और साहित्य, उसका विज्ञान और दर्शन—उन सबको अपने में समाकर व्यक्ति-मन विकसित होता है। पर, हम पहले ही देख चुके हैं कि स्वयं राज्य मन की ही सृष्टि है। फलतः, प्लेटो का मत है कि शिक्षा का कुछ अंश राज्य के साथ संपर्क में निहित होता है और लोगों को ज्ञान की ही नहीं बल्कि नागरिक क्रिया-कलापों की भी शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा अपने दायरे में अनुभव की जितनी पूर्णता समेट लेती है, उसी के अनुपात में वह स्वयं पूर्ण होती है। अतीत में मन जिस-जिस तरह से विकसित हुआ है, कोई मानव-मन जब तक उसी-उसी तरह से विकसित नहीं हो लेता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अपनी सर्वोच्च सीमा तक पहुँच गया है। इस विगत विकास में राजनीतिक विकास भी शामिल है; इसलिए जिस व्यक्ति-मानव का प्रयोजन पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का हो, उसके लिए विकास की मंजिल तय करना जरूरी है। हर मानव-आत्मा के विकास की सीढ़ियाँ वे ही हैं, जो मानव-जाति की आत्मा के विकास की रही हैं। प्राणि-विज्ञान से हमने यह भौतिक सत्य सीखा है कि बीज से लेकर पूर्ण शरीर की रचना तक प्रत्येक मानव-प्राणी का भौतिक विकास मानवता के समूचे भौतिक विकास का संक्षिप्त संस्करण होता है। फलतः, प्लेटो के चिंतन में मन के व्यवहार-पक्ष और सिद्धांत-पक्ष के बीच कोई भेद नहीं किया गया है और न शिक्षा सिर्फ़ सिद्धांत-पक्ष तक सीमित है। चूंकि संपूर्ण मन का विकास ज़रूरी होता है, अतः हम जो भी व्यावहारिक प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त कर सकें, वह सब हमारी शिक्षा का अंग है। व्यवहार और सिद्धांत दोनों समान रूप से मन की उपज हैं और दोनों के ही साथ मन का संबंध-संपर्क आवश्यक होता है। इस तरह एक बार फिर प्लेटो व्यक्ति और राज्य के संबंध की पुष्टि करता है। हम देख चुके हैं कि राज्य मानव-मन की सृष्टि है; विलोमतः, अब हम यह सबक लेते हैं कि मानव-मन के विकास में वह भी आवश्यक तत्त्व है।

अतः, शिक्षा का पाठ्य-क्रम और विषय वस्तु है–मानव अनुभव की पूर्णता। पर यह अनुभव निरर्थक नहीं है। इसमें सिर्फ संयोग ही संयोग नहीं, बल्कि एक युक्ति-युक्त शृंखला है। प्लेटो के चिंतन में हमेशा ही मन की साध्यपरक धारणा पर आधारित संसार की एक साध्यपरक धारणा निहित रहती है। पहली बात यह है कि जब मानव-मन कर्म में रत होता है, तब वह एक प्रयोजन की ओर बढ़ता है क्योंकि वह विवेक के सहारे काम करता है और सविवेक कर्म सदा सप्रयोजन होता है। यदि कहा जाए कि कोई कर्म सविवेक है, तो उसका मतलब यह है कि उसका कोई प्रयोजन भी है : निर्विवेक काम का मतलब है बिना प्रयोजन के काम करना। मानव-मन कर्मक्षेत्र में उतरने पर किसी अनिश्चित प्रयोजन की ओर प्रवृत्त नहीं होता, वह सदा एक ही प्रयोजन का साधन करता है। विवेक के कारण मन एक अखंड सत्ता है और चूंकि वह एक अखंड सत्ता है अतः उसका तात्कालिक प्रयोजन चाहे कुछ भी रहे, पर चरम प्रयोजन सदा एक ही रहता है—श्रेय की सिद्धि। दूसरे, जैसे व्यवहार-पक्ष में मन सदा प्रयोजन सामने रखकर सक्रिय होता है वैसे ही ज्ञान-पक्ष में और ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रयोजन के सहारे उसे सदा मार्ग का बोध रहता है। मन को जब-जब और जिस-जिस अनुपात में विषयों में प्रयोजन के दर्शन होते हैं तब-तब और उसी-उसी अनुपात में वह उन्हें समझता है और सामान्य योजना में उन्हें उपयुक्त स्थान देता है। किसी चीज़ को जानना उसे योजना के एक अंग के रूप में देखना है (प्लेटो की शब्दावली में यही भाव है) और यह समझना है कि वह उस योजना की पूर्त्ति में किस तरह योग दे सकती है। अस्तु, अनेक असंबद्ध योजनाओं का अस्तित्व नहीं हो सकता, होगा, तो ज्ञान की स्थिति ऐसी हो जाएगी मानो बहुत-सारे खंडों को लाकर जोड़ दिया गया हो और प्रत्येक खंड पर रहस्य का पर्दा पड़ा हो और इसीलिए मन के निकट सच्चे ज्ञान की शर्त्त यह है कि सारी योजनाएँ एक अन्य योजना में (या श्रेय के चरम भाव में) समन्वित हो जाएँ—जो उसकी अखंड सत्ता के अनुरूप हो। इस तरह, ज्ञान का एक चरम आधार-तत्त्व है संसार की एकता और संसार की एकता में एक अनन्य प्रयोजन निहित होता है जो उसे एक अनन्य योजना का रूप दे-देता है। अतः कर्म की तरह ज्ञान में भी एक अनन्य चरम प्रयोजन या श्रेय निहित होता है। पर तीसरी बात यह है, कि चरम प्रयोजन के आधार-तत्त्व को ज्ञान की शर्त्त मानने का वास्तव में यह अर्थ हो जाता है कि संसार से हमारा परिचय है, वह स्वयं एक इकाई है और उसके इकाई होने का कारण है एक अनन्य आधारभूत प्रयोजन का अस्तित्व। यदि ऐसा न हो, तो वह संसार जो ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्त होता है, वह संसार जो सप्रयोजन इकाई होता है, सिर्फ मानव-मन की कल्पना कहाएगा। अतः, अगर हम यह कहें कि ज्ञान में एक चरम प्रयोजन निहित होता है, तो इसका मतलब यह कहना भी है कि जीवन में एक चरम प्रयोजन निहित होता है। इस तरह, मानव-मन के कर्म और चिंतन में और जिस संसार में मन सक्रिय होता है और जिससे उसका परिचय होता है उसके अस्तित्व में भी, एक चरम प्रयोजन निहित होता है। कर्म, ज्ञान, अस्तित्व—इन सबमें श्रेय का भाव निहित है; और सही कर्म यह जान-समझ कर किया गया कर्म है कि श्रेय सारे जीवन का हेतु है। इस तरह, शिक्षा की परिणति है – श्रेय के भाव का बोध। आत्मा अपने परिवेश के साथ पूरी तरह तभी सामंजस्य कर पाती है जब उसे यह पता हो कि

यह सब कुछ किस प्रयोजन से अनुप्राणित है। पर, संसार को एक साध्य के आलोक में जानने-समझने का मतलब है उसके अनुसार काम करना। इस तरह शिक्षा की परिणति ज्ञान के साथ-साथ कर्म में भी होती है और श्रेय के भाव को जानने-समझने की प्रशिक्षा पा लेने का मतलब है कर्म का ऐसा सूत्र पा लेना जो सब जगह लागू हो सके क्योंकि सही कर्म वही है जिसके पीछे साध्य का बोध निहित हो—उसका जो सबका साध्य है। यही वह सच्चा और निश्चित अर्थ है जिसमें सद्गुण ज्ञान का पर्याय होता है और यही मानव के उस दर्शन की चरम परिणति है जिसका प्लेटो ने **रिपब्लिक** में प्रतिपादन किया है[1]।

---

[1] पुराना प्रश्न था 'यह कैसे होता है ?' साक्रेटीज ने उसकी जगह नया प्रश्न प्रस्तुत किया —'इसका प्रयोजन क्या है ?' यह जो परिवर्त्तन था, श्रेय का भाव इसी की परिणति है। अगर हम बर्नेट की बात मानें तो यह कहना होगा कि **रिपब्लिक** के शेष सिद्धांतों की तरह श्रेय का भाव भी साक्रेटीज का है, प्लेटो का नहीं (तुलना कीजिए, बर्नेट, पू० कृ० पृ० 169)।

(घ) संरक्षकों या सहायकों का प्रशिक्षण

(1) शिक्षा में व्यायाम का स्थान

प्लेटो विकासशील मन को जिस विषय-वस्तु के आधार पर प्रशिक्षित करना चाहता है, उसका सामान्य स्वरूप क्या है — यह हम अभी-अभी संक्षेप में देख चुके हैं। अब हमें प्लेटो के पाठ्य-क्रम के स्वरूप का विस्तार से अध्ययन करना है और जिन दो सोपानों में उसका विभाजन किया गया है, उनके भेद को विशेष रूप से देखना-समझना है। मूलतः सोपानों का यह भेद आयु-भेद पर निर्भर है पर हम यह भी देखेंगे कि वह वर्ग-भेदों पर भी निर्भर है। पहला सोपान नौजवानों के लिए है। और यह वह सोपान है जिससे होकर अधिकतर सैनिक (या सहायक) अवश्य ही गुजरते हैं और इसीलिए इस स्तर का विशिष्ट प्रशिक्षण एक साथ ही नौजवानों का भी प्रशिक्षण होता है और सैनिक-वर्ग का भी । प्लेटो की दृष्टि में इस तरह का प्रशिक्षण भावनाओं के माध्यम से चरित्र का अनुशासन होता है। इसका लक्ष्य 'उत्साह' की ऐसी वृत्ति और भावनाओं का ऐसा संतुलन पैदा करना है जो समुदाय की जरूरतों को देखते हुए सबसे अधिक उपयुक्त हो और साथ ही उस स्थिति के भी सबसे अनुकूल हो जिस पर समुदाय की योजना के अंतर्गत तरुण सैनिक तैनात होगा। इस तरह, वह मुख्यतः सामाजिक प्रशिक्षण है: उसका लक्ष्य नागरिकों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना है जो राज्य में उस सैनिक काम को सही ढँग से निवाह सके जिसके लिए उसका आह्वान किया जाए। दूसरा सोपान अधिक प्रौढ़ आयु के लोगों के लोगों के लिए है। इसे वे ही लोग पूरी तरह पार कर सकते हैं जो 'पूर्ण संरक्षकों' के वर्ग में आने के योग्य हों। इसके अंतर्गत जो प्रशिक्षण होता है, वह प्रौढ़ावस्था का प्रशिक्षण भी है और शासक-वर्ग का भी। यह वह अवस्था है जिसमें शिक्षा का सामाजिक पक्ष अपनी प्रमुखता कुछ हद तक खो बैठता है। प्लेटो का विश्वास है, और सच पूछा जाए तो दृढ़ विश्वास है, कि विज्ञान और दर्शन द्वारा बोध-शक्ति का अनुशासन होने से ही राज्य के लिए ऐसे शासक तैयार हो सकते हैं जिनकी उसे आवश्यकता होती है और इस दृष्टि से इस प्रशिक्षण का सामाजिक प्रयोजन है, सामाजिक मूल्य है। पर, यह सच है कि शिक्षा के इस उत्तरवर्ती क्रम में वैयक्तिक पुट अधिक

गाढ़ा होने लगता है। "विचार के अज्ञात समुद्रों की एकाकी यात्रा" करता हुआ दार्शनिक कभी-कभी अपने समुदाय से प्राय: निस्संग-सा लगेगा और हालाँकि यह हो सकता है कि उसे राज्य की सेवा के लिए फिर से बुला लिया जाए पर तब वह दु:खी होकर आता है, उसके कदम अपनी मर्ज़ी से नहीं उठते और नेत्र हमेशा पीछे की ओर निहारते रहते हैं। बोध-शक्ति को शिक्षित करने से पूर्ण संरक्षक अथवा राजमर्मज्ञ पैदा होना चाहिए, पर उससे निर्माण होता है ऐसे लोगों का जो अपना बस चलते कभी राजमर्मज्ञ न हों; और प्लेटो भले ही यह कहे कि सर्वश्रेष्ठ शासक वे हैं जो शासन करना न चाहते हों पर उसमें कुछ न कुछ असंगति रह ही जाती है। यह असंगति स्वाभाविक है और, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह असंगति ऐसी है जो स्वयं प्लेटो के जीवन में प्रकट हुई थी[1]।

इन दो सोपानों में से पहले के लिए प्लेटो ने जिस अध्ययन-क्रम की पैरवी की है वह बहुत-कुछ पुराना एथेनी अध्ययन-क्रम है—जिसमें कुछ सँवार-सुधार कर ली गई है। एथेंस के प्राथमिक अध्ययन-क्रम के तीन विषयों का यानी व्यायाम, अक्षर-बोध, और संगीत का, प्लेटो ने दो विषयों —व्यायाम और संगीत— में समाहार कर दिया। पर प्लेटो के निकट उन दो की ही महत्ता उससे कहीं ज्यादा है जो उन्हें सामान्य एथेनी जीवन में प्राप्त थी। व्यायाम में खुराक का संतुलन, चिकित्सा और इसके साथ ही शरीर की कसरत भी शामिल है : एक शब्द में इसका मतलब है शरीर की आम रख-रखाव। इस दिशा में प्लेटो ने यूनान की एक प्रचलित प्रथा का ही अनुसरण किया था और उसके विस्तार की कोशिश की थी। यूनान में व्यायाम-शिक्षक के लिए इस बात का ध्यान रखना आम बात थी कि उसके शिष्यों की सामान्य शारीरिक अवस्था कैसी-क्या है। "उसके लिए वह जानना ज़रूरी था कि किस तरह की देह के लिए कौन सी कसरत उपयुक्त है : अकसर वह चिकित्सक की भूमिका भी निभाता था। चिकित्सक का काम था रोग का उपचार पर उसका काम था रोग का परिहार"[2]। प्लेटो ने इस प्रथा को अंगीकार करते हुए **रिपब्लिक** में चिकित्सकों का एकदम बहिष्कार ही कर दिया है। रुग्ण शरीर को स्वस्थ करने की बात कहकर वे रोग को प्रोत्साहन ही देते हैं और स्वस्थ समाज में उनके हुनर के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। जैसे प्लेटो ने व्यायाम शब्द का प्रयोग सामान्य शरीर-विज्ञान के व्यापक अर्थ में किया है, वैसे ही उसकी संगीत-विषयक धारणा भी उतनी ही व्यापक है। उसमें संगीत के अध्ययन के साथ-साथ साहित्यिक पाठ्य-क्रम भी शामिल है और सच तो यह है कि प्लेटो ने इस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसके अनुसार इसमें अभिघटन-कलाओं (plastic arts) का भी समावेश हो गया है। संक्षेप में, शिक्षा के क्षेत्र में संगीत का अर्थ है व्यापक कला अर्थात् वाणी, ध्वनि और रूप—इन तीनों में से किसी भी एक माध्यम के द्वारा जीवन की व्याख्या। वह उस सीमा तक मन के सामान्य प्रशिक्षण की पद्धति है जहाँ तक इस तरह का प्रशिक्षण कला द्वारा प्राप्त किया जा सकता हो, या यों कहें कि जहाँ तक तरुणाई में उसका कुछ भी अर्जन किया जा सकता हो।

---

[1] पीछे पृ० 177-8।

[2] फ्रीमैन, **स्कूल्स ऑफ हेलॉस**, पृ० 126 तुलना कीजिए, पीछे पृ० 72-73।

हमने कहा है कि व्यायाम तो शरीर को साधता था और संगीत आत्मा को। पर सचाई यह है—और प्लेटो शीघ्र ही इस सचाई को पा लेता है—कि "दोनों के शिक्षकों का मुख्य लक्ष्य मन का सुधार है" (410 D)। वस्तुतः, प्रशिक्षण की दोनों पद्धतियों का लक्ष्य किसी नैतिक प्रयोजन की पूर्ति होता है: दोनों चरित्र-निर्माण के साधन हैं। व्यायाम मन की खातिर शरीर को साधता है। उसका लक्ष्य धैर्य और साहस के गुण जगाना है, उसका लक्ष्य उत्साह-तत्त्व को उसका समुचित स्वर प्रदान करना है। ये ही उसके प्राथमिक लक्ष्य हैं। उसके जैसे भौतिक परिणाम होते हैं, वैसे ही नैतिक परिणाम भी होते हैं। अतः वह सैनिक की राज्य में अपनी उचित जगह ग्रहण करने की तैयारी होता है। इस दृष्टि से वह सामाजिक प्रशिक्षण की एक पद्धति है। अगर हम दो बातें याद रखें, तो इस दृष्टिकोण को समझने में आसानी रहेगी। पहली बात तो यह है कि यूनान में व्यायाम का रूप कुछ-कुछ सैनिक कवायद जैसा था। इस तरह से वह नागरिक जीवन की भूमिका होता थी। दूसरी बात यह है कि उसमें नृत्य भी शामिल होता था और यूनानी नृत्यों में लय-मय मुद्राएँ ही प्रकट नहीं होती थीं, बल्कि उनमें अकसर कोई न कोई कहानी या भाव-शैली भी निहित रहती थी जिससे उनसे कोई निश्चित शिक्षा मिलती थी[1]। पर, असल में किसी स्पष्टीकरण की ज़रूरत नहीं है। आम तौर से कहते हैं कि राष्ट्रीय लड़ाइयाँ खेल के मैदानों में (या यूनानियों की शब्दावली में अखाड़ों में) जीती जा सकती हैं और खेलों का नैतिक मूल्य भी होता है क्योंकि वे एकता की स्थापना करते हैं और धैर्य का गुण पैदा करते हैं। यह ऐसी चीज़ है जिसकी चर्चा हमारे कवियों ने भी बार-बार की है[2]।

---

[1] हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हरेक यूनानी नगर के जीवन में और समूचे
यूनानी जगत के समष्टि-जीवन में व्यायाम का बहुत महत्त्वपूर्ण योग रहता था।
प्रत्येक नगर की अपनी व्यायाम-शालाएँ या अखाड़े होते थे (ये उन अखाड़ों से
भिन्न हुआ करते थे जहाँ तरुणों को प्रशिक्षण दिया जाता था)। व्यायाम-
शालाओं में नागरिक एक साथ व्यायाम करने के लिए इकट्ठे होते थे। खेल-
कूद के राष्ट्रीय उत्सव (विशेषकर ओलम्पिक खेल) यूनानी एकता के प्रबल
सूत्र थे। इस तरह, व्यायाम का नागरिक और राष्ट्रीय जीवन से घनिष्ठ
संबंध था।

[2] उदाहरण के लिए सर हेनरी न्यूबोल्ट ने अपनी **विटाई लम्पाडा** कविता में इसका उल्लेख किया है।

(2) शिक्षा में संगीत का स्थान

यदि व्यायाम मन की ख़ातिर शरीर को साधता है, तो संगीत सीधे मन को साधता है और उसका लक्ष्य है—'उत्साह' के तत्त्वों में मर्यादा भाव भरना और उन्हें सुधारना और विवेक की नवजात शक्ति को उभारना। वैज्ञानिक ज्ञान देना उसके बस की बात नहीं। वह तो शिक्षा के अन्य साधनों का काम है और विकास की परवर्ती अवस्था में किया जा सकता है। पर वह सही मत पैदा कर सकता है और उसका मंतव्य भी यही हो सकता है। उसका उद्देश्य है कि तरुण मन को, जो अभी भावना के अवस्थान में होता है, इस तरह अभ्यस्त करना कि जिन समस्याओं का उसे समाधान करना हो, उनका वह उसी ढँग से भावन करे जैसे उसे करना चाहिए और फिर अभ्यास द्वारा बद्धमूल भावना की शक्ति से किसी कर्म के विषय में क्यों और किसलिए की जानकारी के बिना वही करे जो उसे करना चाहिए। कलात्मक माध्यमों का प्रयोग इसीलिए किया जाता है। काव्य की लय और पदावली, संगीत वाद्यों का नाद, अभिघटन-कलाओं के रूप-रंग—इनमें अपने आप ही तरुणों के लिए सम्मोहन रहता है पर जब वे अपने सशक्त कलात्मक आकर्षण से युक्त होकर तरुणों के जीवन में प्रवेश करती हैं, तब उनमें नैतिकता की ध्वनि भी समन्वित रहती है (जैसे काव्य, संगीत और मूर्त्तिकला—इन सब में नैतिकता का स्वर निहित हो सकता है)। तरुण मानस उनके कलात्मक आकर्षण से बिंध कर उन्हें स्वीकार कर लेता है और वे अनायास उसकी न्याय-परायणता पर उत्तरोत्तर सान धरती चली जाती हैं।

अगर यह सच है, तो सबसे महत्त्व की बात यह है कि कला सदा ही नैतिक संकेत दे और यौवन जिस चीज़ से स्नेह का नाता जोड़ने के लिए तत्पर न हो, उसे वह कभी किसी तरह भी अपने आकर्षण का वरदान न दे। उसे चाहिए कि उत्साह को सदा साहस का पाठ पढ़ाए, वह विवेक के कानों में हमेशा उस परम श्रेय का मंत्र फूंके जिसे वह कभी न कभी उसकी पूर्णता में जान जाएगा। इस धारणा के चरितार्थ होने के लिए साहित्य और संगीत का सुधार ज़रूरी है— तभी प्लेटो उस दिशा में प्रयत्न करता है। साहित्य-सुधार करते समय उसने उसके वस्तु-तत्त्व और रूप-विधान दोनों पर ही ध्यान दिया है। वस्तु-तत्त्व की चर्चा करते हुए तो उसने धार्मिक सुधार का

संकेत दिया है, पर रूप-विधान का विवेचन करते समय उसने साहित्यालोचन के मूल सिद्धांत निर्धारित कर दिए हैं और अरिस्टाटल के काव्यशास्त्र की नींव रखी है। इस तरह का सुधार ज़रूरी था क्योंकि हम देख चुके हैं कि साहित्य-शिक्षा में जिन कवियों के ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन होता था, वे यूनान के धर्म-शिक्षक भी हुआ करते थे; और फलतः जहाँ-जहाँ प्लेटो यह देखता था कि होमर या नाटककारों ने ईश्वर के स्वरूप का गलत चित्रण किया है, वहाँ-वहाँ वह उनकी कृतियों का वैसे ही संस्कार-परिष्कार कर देता था जैसे कोई आधुनिक सुधारक ओल्ड **टेस्टामेंट** में अंकित जेहोवाह के चरित्र से प्रतिशोध या ईर्ष्या का तत्त्व निकाल देने की कोशिश करे। लगता है यहाँ वह राज्य की सत्ता का इतना विस्तार करने की बात सोच रहा है कि धर्म का नियम भी उसकी परिधि में आ जाए[1]। राज्य की शक्तियों का इतना विस्तार तो पहले ही कर दिया गया है कि शिक्षा उनके दायरे में आ जाए। अब शिक्षा के माध्यम से धर्म को भी उनके भीतर समेट लेने की कोशिश की जा रही है। शिक्षा के माध्यम से ही इन शक्तियों का यहाँ तक विस्तार किया जा रहा है कि आदर्श राज्य के कवियों और लेखकों के लिए साहित्यिक-रूप-विधान भी निर्धारित कर दिया जाए। कवि ईश्वर के स्वरूप के जो भी चित्र खींचे, उन पर राज्य का नियंत्रण होना ज़रूरी है क्योंकि उनसे नागरिकों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है। और जैसे इन चित्रों पर राज्य का नियंत्रण ज़रूरी है वैसे ही काव्याभिव्यक्ति के रूपों पर भी उसका नियंत्रण होना चाहिए क्योंकि इनका भी चरित्र पर उतना ही प्रभाव पड़ता है। यह निष्कर्ष प्लेटो के इस सिद्धांत पर आधारित है कि मन जिन-जिन चीज़ों के संपर्क में आता है, उन-उन के संस्कार ग्रहण करता है। अगर वह अभिव्यक्ति के किसी नाट्य रूप के संपर्क में आएगा तो उसके सारतत्त्व के साथ अपना सामंजस्य कर लेगा। वह विभिन्न चरित्रों से अपना अभेद स्थापित कर उठेगा — उनमें कुछ अच्छे होंगे, कुछ बुरे। तब वह यथार्थ जीवन में भी विभिन्न मनोदशाओं को प्राप्त करने लगेगा। मन कभी एक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अभिनय करेगा, कभी दूसरी से और इस तरह वह राज्य के इस आधारभूत सिद्धांत के बिल्कुल प्रतिकूल हो जाएगा कि एक व्यक्ति एक ही काम करे और वही एक भूमिका निभाए जिसके लिए उसकी आवश्यकता हो। नाटक लोकतंत्र का साहित्यिक रूप है जिसमें हर व्यक्ति अपने वक्त पर अनेक भूमिकाएँ साधता है। पर यह ऐसा रूप है जिसे आदर्श राज्य में सहन नहीं किया जा सकता[2]। न्याय-सिद्धांत पर आधारित राज्य

---

[1] लॉज़ में राज्य की शक्तियों का यह विस्तार कहीं अधिक किया गया है (तुलना कीजिए, आगे अध्याय 16 (ख))।

[2] यूनान में लड़के होमर की—और उससे भी अधिक एटिक त्रासदीकारों की रचनाओं का सस्वर पाठ किया करते थे। तब यूनानी विद्यालयों में नाटकीय कार्य-कलाप का काफ़ी बोलबाला रहा होगा। यूनान के अनेक नृत्यों में भी नाट्य-तत्त्व का पुट रहता था—उदाहरण के लिए, उन नृत्यों में जिनमें डायोनीसस देवता के चरित्र और वासनाओं की अभिव्यक्ति होती थी। हो सकता है इस सबसे ढोंग रचने की ऐसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला हो जिससे उबरना यूनानियों के लिए मुश्किल हो गया हो (अगर हम आएस्चीलस के शब्दों का क्रम पलट, दें तो यह वास्तव में वीर बनना नहीं चाहता, सिर्फ़ वीरता का

में साहित्य-रूप के नाम पर बस समाख्यान रहेगा और कविता महाकाव्य के साँचे में ढाली जाएगी जिसमें समाख्याता का निरंतर एक-सा ही दृष्टिकोण रहे या ज़्यादा से ज़्यादा वह किसी सुपात्र के साथ अपने को अभिन्न कर दे और अपने बजाए एचिलीज़ या ओडीसियस को तो भले ही बोल लेने दे पर थर्साइट्स या पेरिस को कभी नहीं[1]।

प्रदर्शन करना चाहता है) और राष्ट्र भर में व्याप्त छल-कपट की बुराई को उससे और पोषण मिला हो। यह कहा जा सकता है कि लॉज़ में प्लेटो जैसे-तैसे इस बात पर राज़ी हो गया है कि नाटक रहे पर तभी जब कि उस पर कड़ी निगरानी रखी जाए (आगे अध्याय 17 (ख))। रिपब्लिक में तो लगता है नाटक को बनोवास दे दिया गया है; पर यह कहा जा सकता है कि प्लेटो श्रेष्ठ चरित्रों का नाट्य-अनुकरण शायद स्वीकार कर लेता—इस सिद्धांत पर कि नाटक में चित्रण श्रेष्ठ व्यक्ति का का ही किया जाए और निकृष्ट व्यक्ति के बारे में बस 'विवरण' प्रस्तुत कर दिया जाए।

[1] लगता है रिपब्लिक के अंतिम खंड में स्वयं महाकाव्य की भी गर्हणा की गई है और प्लेटो के राज्य से कविता-मात्र निर्वासित होने से बाल-बाल बच गई है। "काव्य और दर्शन में पुराना कलह है" (607 B); और प्लेटो एक के पक्ष में खड़ा होकर दूसरे के विरुद्ध हथियार उठा लेता है। प्लेटो का आग्रह है कि दर्शन स्वयं सत्य का—अर्थात् भाव का या उसके शुद्ध रूप का—साक्षात्कार करता है : काव्य तो बस गोचर रूपों का अनुकरण करता है, जो स्वयं मात्र प्रतिच्छवियाँ, सत्य की अनुकृतियाँ भर होती हैं। फिर, कवियों ने मानव-जीवन के उद्धार के लिए कोई सार्वजनिक सेवा भी नहीं की। स्वयं होमर ने कभी किसी जीवन-पद्धति की प्रतिष्ठा नहीं की, जैसा कि पायथागोरस के समय से दार्शनिक बराबर करते चले जा रहे हैं। कवि सत्य से भी दूर रहते हैं और परोपकार से भी। लोगों को सुख-दुःख की झूठी भावनाओं में डुबाकर वे उन्हें बिगाड़ते हैं और दूसरों की काल्पनिक सुख-संपदा पर हमें हर्ष या शोक से इतना विह्वल कर देते हैं कि अपने निज के जीवन में यथार्थ हानि-लाभ पर भी वैसा आचरण करते हुए हमें शर्म आएगी और इससे भी ज़्यादा बुरी बात यह है कि उनके कारण यथार्थ जीवन में हमारा अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि अनुकरण करते-करते हम अनजाने ही यथार्थ चीज़ों के प्रति भी वैसा ही आचरण करने लगते हैं जैसा आचरण काल्पनिक रूपों के प्रति करना उनसे हम सीखते हैं। इस तरह, आखिरकार, प्लेटो काव्य-मात्र पर संदेह कर उठता है। उसके दो ही अपवाद हैं : देवमंत्र और यशस्वी लोगों की प्रशस्तियाँ। उसकी कसौटी स्पष्टतः उपयोगिता-परक है : काव्य तभी तक अच्छा और ग्राह्य होता है जब तक वह राज्य और मानव-जीवन के लिए उपयोगी हो (607 D)।

यह तर्क-शृंखला समझने के लिए हमें दो बातें याद रखनी हैं। पहली बात तो यह है कि रिपब्लिक में यहाँ भी और अन्यत्र भी प्लेटो कला का विवेचन नहीं कर रहा; वह तो राज्य के साथ कला के संबंध का विवेचन कर रहा है। इसीलिए, जैसे कला-सिद्धांत की स्थापना अरिस्टाटल के 'काव्यशास्त्र' में हुई है, वैसे किसी सामान्य कला-सिद्धांत की आशा प्लेटो से करना ग़लती है। दूसरी बात यह है कि दसवें खंड में कला के साथ राज्य के संबंध की विवेचना करते समय उसके ध्यान में मुख्य रूप से उन्हीं लोगों का मत है जो समझते थे कि महाकाव्य शिक्षा की एक पद्धति थी जो लोगों को पूर्ण बुद्धिमत्ता का

यदि संगीत के नैतिक संदेश की निर्मलता बनाए रखनी हो—और यहाँ हम संगीत का संकुचित अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं[1] —तो साहित्य की तरह उस पर भी राज्य का अंकुश रखना होगा । राज्य को चाहिए कि वह सार्वभौम समीक्षक का कार्य करे । उसे चाहिए कि वह विभिन्न वाद्य यंत्रों में सोच-समझ कर भेद करे—वीणा को स्वीकार करे और वंशी को अस्वीकार । वह संगीत की शैली और सुर-ताल को सरल भेदों तक ही सीमित रहने दे। संगीत का तो इसलिए और भी सावधानी से नियमन करने की ज़रूरत है कि संगीत की शिक्षा अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा अधिक सबल साधन है (401D) और अन्य कलाओं के संकेतों की तुलना में संगीत के संकेत मन में अधिक सूक्ष्म रूप से समा जाते हैं। अन्य सब कलाओं की अपेक्षा संगीत को 'एक व्यक्ति, एक कर्म के' मूलवर्त्ती सामाजिक सिद्धांत के अनुरूप ढालना कहीं ज़रूरी है । उसका सबसे प्रबल स्वर अनलंकृत सरलता का स्वर हो । जिसमें न्याय की प्रभुत्वमयी छवि प्रतिविम्बित न हो, उसे कभी भी सहन न किया जाए । साहित्य की तरह संगीत में भी, किसी एक सिद्धांत के प्रति अनुरूपता के अर्थ में, सरलता की इच्छा के परिणामस्वरूप घोर संयम की भावना जागती है ; और लगता है प्लेटो मानव-मन की बहुत-सी उद्भावनाओं को तजने के लिए तैयार है ताकि जो शेष रहें वे पूर्ण रूप से उस सिद्धांत के साँचे में ढल जाएँ जिसके द्वारा पूर्ण का नियमन होना चाहिए। मानव-जाति के सुधार के लिए उसकी काफ़ी हद तक शल्य-क्रिया भी हो —इसके लिए भी वह तैयार है और इस तत्परता की ही चरम परिणति है एक साम्यवादी व्यवस्था जिसमें मानव-मन की संपत्ति और परिवार जैसी उद्भावनाओं का शुद्धि-संस्कार के नाम पर उन्मूलन कर दिया जाता है । प्लेटो जैसे कलाकार में कला की यह जो शल्य-क्रिया होती दिखाई पड़ती है, हो सकता है वह कुछ अजीब-सी लगे और संवाद के प्रणेता ने नाटक के साथ जो निर्मम व्यवहार किया है, वह भी असंगत ही लगेगा ।

वरदान दे सकती थी और उन्हें इस योग्य बना सकती थी कि वे राज्य का पथ-प्रदर्शन करें या सेना का संगठन । प्लेटो ने पहले तो छठे और सातवें खंडों में यह सिद्ध किया है कि जिन लोगों को राज्य की बागडोर सँभालनी है, उनके लिए विज्ञान और दर्शन की शिक्षा अनिवार्य है और इसके बाद उसने स्वभावतः दसवें खंड में इस धारणा का तो खंडन किया है कि राजमर्मज्ञ को काव्य द्वारा शिक्षा दी जा सकती है और वह इस मत की स्थापना में प्रवृत्त हुआ है कि शिक्षा के दूसरे या दार्शनिक अवस्थान की जगह कविता नहीं ले सकती। पर इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षा के पहले या कलात्मक अवस्थान मे तरुणों के संयम के साधन के रूप में कविता को कोई जगह नहीं मिल सकती । इसके विपरीत, उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है पर शर्त्त यह है कि कवि समझ-बूझ से काम लें और तरुणों के ग्रहणशील मन के आगे अनुकरण के लिए, सिर्फ़ शिष्ट चरित्रों की अवतारणा करें। इस तरह देखें तो लगता कि तीसरे खंड और दसवें खंड में वास्तव में कोई असगति नहीं है ; पर दृष्टिकोण में कुछ परिवर्त्तन ज़रूर है ।

[1] यही बात अभिघटन कलाओं के बारे में भी सही है—हालांकि स्पष्ट शब्दों में उनका कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

यह तुरंत कहा जा सकता है कि इस असंगति का कारण है, कला की झूठी धारणा—यह धारणा कि कला में नैतिक प्रयोजन की पूर्त्ति होती है। दलील दी जा सकती है कि कलात्मक आवेग की उन्मुक्त लीला ही सब कुछ है : जब राज्य कला को नैतिक प्रयोजन के कठघरे में कैदी बना देगा, तब कला में मन के तार छूने की ताकत न रहेगी और जब कला. कला के नाते, श्रोता या पाठक के अंतर्मन में झंकार पैदा न कर सकेगी, तब नीतिशास्त्र के नाते भी उसका कोई असर न हो सकेगा। इस युक्ति में जान है ; पर अगर हम यह मान लें कि प्लेटो ने कला को राज्य की निगरानी में रखना स्वीकार कर लिया, और वह कला के 'उपदेशात्मक' दृष्टिकोण से वँध गया, तो हम उसे ग़लत समझेंगे। प्लेटो ने कला का इस रूप में कभी भावन नहीं किया कि वह राज्य की अनुगता है या वह अपने सहज-स्वाभाविक वस्तु-तत्त्व में ऐसे नैतिक संकेत भरने के लिए वाध्य है जो उसके अपने संदेश में निहित न हों। प्लेटो की दृष्टि में कला इस अर्थ में नैतिक नहीं है कि वह कोई ऐसा पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करे जो स्वयं उसी में निहित न हो। वह स्वयं ही, अपने ही, माध्यम से, ऐसी शिक्षा देती है जो उसका प्राण-तत्त्व होता है। कला जोवन का प्रतिबिंब है ; उसमें मानव उसी तरह संसार की झलक पाता है जैसे कि दर्पण मे। पर जीवन में ओतप्रोत है एक सिद्धांत और संसार में व्याप्त है एक प्रयोजन। जो बात मूल के बारे में सच है वह प्रति के बारे में भी सच होनी चाहिए—वशर्त्ते कि वह प्रति सच्ची हो। कोई भी कलाकृति तभी सच्ची हो सकती है, और तभी वास्तविक सत्य की यथार्थ अनुकृति हो सकती है, जब कि वह उस श्रेय के रंग में रंगी हो जो चराचर में व्याप्त है। प्लेटो के चिंतन में सर्वत्र संसार की साध्यपरक धारणा छाई हुई है. और अंत में इसी धारणा ने प्लेटो को कला के गले पर छुरी चलाने के लिए विवश किया है। श्रेय में उसकी आस्था इतनी दृढ़ थी कि वह उसे एक दम स्पष्ट कर देना चाहता था। वस्तुतः उसने कला को अंतिम साध्य के अधीन किया है और यह अंतिम साध्य एक उदात्त विजेता की भाँति है और यह अधीनता अपने आप में उस शक्ति का गुणगान है जिसका उपयोग कला श्रेय की सेवा में कर सकती है।

प्लेटोवादी शिक्षा-सिद्धांत में राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में एक ऐसा दृष्टिकोण निहित है जिसे पहले-पहल देखने पर लग सकता है कि उसमें कुछ विरोधाभास है। शिक्षा के नाम पर जहाँ एक ओर प्लेटो राज्य को कुछ नए काम सौंपता है, वहीं दूसरी ओर उससे उसके कुछ प्राचीनतम अधिकार ले लेता है। कलात्मक सर्जना का नियमन करने का काम वह उसे सौंपता है ; तो उसे उसकी विधि-व्यवस्था और विधि-न्यायालयों से वंचित कर देता है। सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र मुख्य रूप से न्यायिक है और आधुनिक सिद्धांत में, हॉब्स और लॉक दोनों ही ने, राज्य के निर्माण का आदि कारण वंध न्याय-व्यवस्था की स्थापना या कम से कम उसका सुधार-संस्कार वताया है। जिस तरह प्लेटो शल्य-चिकित्सा और उसकी औषधियों का उन्मूलन करना चाहता है, उसी तरह और वहुत-कुछ उसी कारण से, वह विधि-न्यायालयों, वकीलों और वकालत की सारी व्यवस्था मिटा डालने के लिए तैयार

है[1]। जैसे एक शरीर के रोग का लक्षण है, वैसे ही दूसरा आत्मा के रोग का ; और उसके राज्य में न तो कोई सदस्य रोगी हो सकता है, न होगा। उसमें रोग का निवारण होगा, उपचार नहीं। उसमें तन और मन दोनों से स्वस्थ लोग होंगे और संगीत तथा व्यायाम की उपयुक्त शिक्षा द्वारा ऐसे ही लोग तैयार होंगे। यदि लोगों को ऐसी शिक्षा दे दी जाए, तो फिर वकीलों या चिकित्सकों की कोई ज़रूरत न रहेगी। जहाँ कहीं इनकी बहुतायत होती है, वहाँ उसका कारण होता है, उपयुक्त शिक्षा का अभाव। सच्चा राज्य अपने नागरिकों की काया को अनुशासन में कसेगा, उसे उचित पोषण देगा, पर वह उन्हें दवा न देगा। वह सही शिक्षा-प्रणाली द्वारा उनके मन का पोषण करेगा, पर विधिक न्याय के लिए उसे प्रेरणा-प्रोत्साहन देने की ज़रूरत न होगी। कायिकी (phisiology) की समस्याएँ तो उसके सामने आएँगी, पर रोग-विज्ञान (pathology) की नहीं। इसलिए, प्लेटो अपने आदर्श राज्य के लिए न तो किन्हीं विधियों का प्रस्ताव करता है और न किन्हीं विधि-संस्थाओं का सुझाव देता है। उग्र समाजवादी की भाँति उसके निकट भी विधि-विधान रोग को दवा देने की औषधि मात्र है "जो फोड़े को बस दाब-ढाँक ही पाती है।" "मनुष्यों के बीच साधारण व्यवहारों को लेकर... अपमान और चोट के विषय में तथा कार्यारंभ के बारे में विधि-निर्माण के लिए वह कभी तैयार नहीं होगा" (425C—D)। आज हम राज्य का एक ऐसी विधि-निर्माण-संस्था के रूप में भावन करते हैं जो अपने न्यायांग द्वारा उन विधियों की व्याख्या करती है और कार्यांग द्वारा उनका क्रियान्विति। परंतु प्लेटो विधियों को कम महत्त्व देता है और विधि-न्यायालयों को तो और भी कम और वह राज्य का सिर्फ़ कार्यांग के रूप में भावन करता है—ऐसे कार्यांग के रूप में जो मानो विधि की बेड़ियों से और क्षेत्राधिकार के बोझ से मुक्त हो[2]। जैसे राज्य कार्यांग भर है, वैसे ही कार्यांग केवल—या कम

---

[1] यह ध्यान देने की बात है कि लॉज़ में प्लेटो रिपब्लिक के आदर्श से हट गया है और उसने विधि-व्यवस्था के साथ ही चिकित्सा-शास्त्र को भी स्वीकार कर लिया है।

[2] हमारे निकट राज्य अधिकारों और कर्त्तव्यों की वैध व्यवस्था का आश्वासन देने वाली सत्ता होती है। एक ओर वह इस बात की व्यवस्था करता है कि लोग अपने अधिकारों का उपयोग कर सकें और दूसरी ओर वह उनसे अपने कर्त्तव्य का पालन भी कराता है। इस अर्थ में वह न्याय का माध्यम है। कोई किसी के अधिकारों का अतिक्रमण करे तो वह उसका निराकरण करता है, अपने कर्त्तव्य में चूके तो दंड देता है। प्लेटो के निकट राज्य समाज-नीति की उस व्यवस्था का रक्षक है जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य एक विशिष्ट काम करता है और राज्य का काम प्रत्येक सदस्य को यह सिखाना है कि वह अपना काम उचित रीति से कैसे करे। चूंकि प्लेटो की न्याय-धारणा मे न्याय का अर्थ काम का इस तरह उचित संपादन है, इसलिए उसके अपने अर्थ में राज्य न्याय का माध्यम है। पर न्याय का जो अर्थ वह समझता है, उसी अर्थ में। उसके राज्य में न्याय की इतनी परिपूर्णता है कि इस शब्द के साधारण अर्थ को देखें तो इसमें न्याय का सर्वथा अभाव दीख पड़ता है। जब विशिष्ट कर्म उचित रीति से किया जाएगा —और प्लेटो का विश्वास है कि एक बार उचित प्रशिक्षण पा लेने पर लोग ज़रूर ऐसा करेंगे—तब फिर उस न्याय के लिए कोई

से कम मूलतः—शैक्षिक संस्था है। आदिम विधिकर्त्ता ने शिक्षा की जो सामान्य रूपरेखा हमेशा-हमेशा के लिए निर्धारित कर दी है, उसके अनुसार अमल करना कार्यांग का कर्त्तव्य है। राज्य की एक-मात्र समस्या इस रूपरेखा को शुद्ध करना है: उसका एक-मात्र काम यह है कि संगीत और व्यायाम में किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने पाए। "मुझे तो देश के वीरगीत लिखने दो ; मुझे इस बात की चिंता नहीं कि विधियों का निर्माण कौन करता है"[1]—प्लेटो जान जाता कि इस उक्ति में एक गहन सत्य निहित है; बल्कि वह तो उसके क्षेत्र का और विस्तार करके उसे यह रूप दे देता : "मुझे किसी भी देश के लिए उचित ढंग के वीरगीत लिख लेने दो ; फिर किसी को विधियों का निर्माण करने की ज़रूरत न रहेगी"। संगीत और व्यायाम की सुशिक्षा में हर चीज़ आ जाती है। उसकी कृपा से यदि एक बार विधि का भाव-तत्त्व हृदय में रस-बस जाए तो फिर बहिरंग विधि की ज़रूरत ही नहीं रह जाती ; उसका अस्तित्व तो बस शब्दों और अक्षरों में होता है। विधि भाव-रूप है। विधायक विधिकर्त्ता कम होता है, शिक्षक अधिक, और वही भाव की प्रतिष्ठा करता है। जहाँ एक बार यह भाव जागा, वह सारी समस्याओं का समाधान कर देगा और सारी चीज़ों के संस्कार जगा देगा (423E)। लिखित विधि के प्रति प्लेटो की विरक्ति का यही कारण है और यही उस मूल पाठ का स्रोत है जो प्लेटो पढ़ाना चाहता है यानी राज्य भाव-रूप है और भाव से ही वह जीवित रहेगा। इस पाठ में चिरंतन सत्य निहित है पर विधि के प्रति विरक्ति का भाव एक सच्चे सिद्धांत को ऐसी अतिवादी स्थिति तक ले जाना है जो असत्य है। विधि कितने ही आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित हो जाए, बहिरंग अभिव्यक्ति के बिना उसका कभी काम नहीं चल सकता और अगर उसे निर्वैयक्तिक साँचे में नहीं ढाला जाएगा, तो वह वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य का खिलौना बनकर रह जाएगी[2]।

जगह नहीं रह जाएगी जो अधिकार के उल्लंघन को रोके या कर्त्तव्य-विमुखता का दंड दे। तब अभावात्मक वैध अधिकार की जगह भावात्मक सामाजिक नीतिपरायणता ले लेती है।

[1] तुलना कीजिए, रिपब्लिक 424 C।

[2] धर्म के क्षेत्र में जब-जब आध्यात्मिक और वैयक्तिक आधार की आवाज़ उठाई गई है, तब-तब यह खतरा भी उभर कर सामने आता रहा है। चर्च के आरंभिक इतिहास में विधि-विधान की कठोरता से विधि के प्रति विरोध का भाव जागृत हो गया था और उसने अपने बचाव में आत्मा की दुहाई दी थी। आगे चल कर जब श्रद्धा के आधार पर जर्मन धर्म-सुधारणा के औचित्य-प्रतिपादन का आग्रह किया गया, तब जिन ग्रंथों में आस्था-भक्ति पर बहुत ज़ोर दिया जाता था उनके संबंध में बाहर-बाहर से प्रकाशित की जाने वाली श्रद्धा के प्रति कुछ वितृष्णा पैदा होने लगी थी।

(ङ) पूर्ण संरक्षकों का उच्चतर अध्ययन-क्रम

अब तक हमने शिक्षा के उस अवस्थान का वर्णन किया है जिसका संबंध युवावस्था से है; सैनिक को अपने प्रशिक्षण के लिए उस अवस्थान से गुज़रना पड़ता है। अब हमें प्रौढ़ अवस्था की शिक्षा पर विचार करना है जिससे पूर्ण संरक्षकों का निर्माण होता है। यहाँ हम कला के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा की सीढ़ी पार कर विज्ञान के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा की सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं। हम एथेंस के प्राथमिक विद्यालय के साधारण पाठ्य-क्रम का सुधार छोड़ देते हैं और गणित तथा तत्त्व-मीमांसा की उच्चतर शिक्षा-योजना की ओर मुड़ते हैं। एथेंस के शैक्षिक जीवन में यह योजना बिल्कुल नई न थी। प्रोटेगोरस और अन्य सोफ़िस्ट प्राथमिक विद्यालयों से पढ़ कर निकलने वाले नौजवानों के लिए भाषण-शास्त्र और राजनीति में—यहाँ तक कि गणित तथा तत्त्व-मीमांसा तक में भी—उच्चतर शिक्षा-क्रम की व्यवस्था किया करते थे। चौथी सदी के शुरू में ही ईसोक्रेटीज़ चौदह से अठारह साल तक की उम्र के नौजवानों को राजनीतिक जीवन की तैयारी के तौर पर भाषण-शास्त्र, राजनीति और मानविकी विद्याओं की शिक्षा दिया करता था। अत: प्लेटो ने रिपब्लिक में जिस चीज का प्रतिपादन किया वह वास्तव में उच्चतर शिक्षा की एक परिष्कृत और प्रतियोगी योजना थी। वह कलम-काग़ज लेकर शिक्षा योजना का ख़ाका खींच कर ही नहीं रह गया। उसने अकादमी में इस योजना को व्यवहारिक रूप भी दिया[1]। रिपब्लिक में गणित और तत्त्व-मीमांसा के जिस शिक्षा-क्रम का उल्लेख है, वह प्लेटो के उस विद्यालय का शिक्षा-क्रम है जो अकादमी में खुलने ही वाला था और यह वही शिक्षा-क्रम है जिसका वहाँ वास्तव में अनुसरण किया गया था। हम इतना और कह दें कि यह पहले और सबसे आरंभिक विश्वविद्यालय का[2] शिक्षा-क्रम था—निगम-संस्था का जहाँ

---

1. रिपब्लिक 387 ई० पू० तक पूरी हो गई होगी। अकादमी 386 ई० पू० में खुली थी।
2. अकादमी में, प्लेटो के विद्यालय में, एक तरह की प्रवेश-परीक्षा का विधान था : “जो ज्यामिति न जानता हो वह यहाँ प्रवेश न करे”। ऑक्सफर्ड या कैम्ब्रिज के किसी कॉलज के सदस्यों की भाँति उसकी अंतरंग सदस्य-मंडली भी एक साथ

ज्ञान की साधना ज्ञान के ही लिए की जाती थी। यह सोच लेना ज़रूरी नहीं कि प्लेटो ने पहले यानी कलात्मक शिक्षा के सोपान और बाद के या वैज्ञानिक शिक्षा के सोपान का जो विवरण दिया है, उन दोनों के बीच कोई चौड़ी खाई है। यह सच है और हम देख भी चुके हैं कि दोनों के विवरण के अनुसार वातावरण में कुछ भेद है। एक में सामाजिक प्रशिक्षण के पहलू पर ज्यादा ज़ोर है और दूसरे में व्यक्ति के विकास पर। पर, सच तो यह है कि स्थिति को देखते हुए यह सहज-स्वाभाविक है; क्योंकि पहले वाला प्रशिक्षण संरक्षकों के सामान्य वर्ग के लिए है जिन्हें नागरिक कर्त्तव्य की राह पर चलने के लिए थोड़ी बहुत शिक्षा देना ज़रूरी है। बाद वाला प्रशिक्षण उन कुछ बिरले लोगों के लिए है जिनमें अपने साथियों का पथ-प्रदर्शन करने की योग्यता होती है। फिर यह भी सच है कि इन दोनों विवरणों के बीच में और-और बहुत से मसले आ गए हैं। पर यह भी सच है कि प्लेटो ने बड़ी चतुराई के साथ जोड़-तोड़ बिठाकर इन दोनों विवरणों में अन्विति स्थापित कर दी है[1]। शिक्षा के पहले अवस्थान का विवरण पूरा करते समय वह इशारा कर देता है कि वह अभी अधूरा है (416 B)। दूसरे अवस्थान का वर्णन शुरू करते समय वह इतनी सावधानी बरतता है कि उसे पहले अवस्थान से जोड़ दे और उसका निरूपण इस तरह करे कि वह सहज रूप से पहले पर आधारित प्रतीत हो (521 D—E)। प्लेटो तो चाहता है कि शिक्षा के पूर्ववर्त्ती अवस्थान में ही नौजवानों को विज्ञान के मूलतत्त्वों का ज्ञान हो जाए। उसका विचार है कि बच्चों को अंकगणित, ज्यामिति और विज्ञान के आरंभिक सिद्धांतों की शिक्षा ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं, हँसी-खेल में दी जानी चाहिए क्योंकि तभी आप उनकी सहज प्रवृत्ति का ज्यादा अच्छी तरह पता लगा सकेंगे और उन लोगों को ढूंढ सकेंगे जो आगे के कठोरतर अध्ययन के योग्य हो[2]। दोनों अवस्थाओं में इस तरह का बहिरंग सामंजस्य तो है ही। इसके अलावा उनमें एक और संबंध है जो कहीं गहरा है। यह संबंध भीतरी है, आध्यात्मिक है। हम देख चुके हैं कि कला आस्था की आँखों में संसार के प्रयोजन का प्रतिबिंब है और वह सहज भाव से ऐसी राह तैयार कर देती है जिस

खाना खाती थी। एक दिलचस्प बात यह है कि अपने सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान प्लेटो के विद्यालय का द्वार स्त्री-पुरुषों दोनों के लिए समान रूप से खुला हुआ था (फ्रीमेन, स्कूल्स ऑफ़ हेलॉस, पृ० 196—7)।

[1] हम यहाँ यह कह दें कि प्लेटो की नाट्य कला का यह एक अंग है कि जब तक किसी युक्ति को ग्रहण करने के लिए वह पाठक को तैयार नहीं कर लेता, तब तक के लिए उसे टाल देता है। उसके अपने ही एक रूपक का सहारा लेकर कहें तो उसकी युक्ति धीरे-धीरे अपना अवगुंठन उठाती है। इस दृष्टि से यह ज़रूरी था कि पहले वह दार्शनिक नरेशों के शासन के सिद्धांत का निरूपण करता और इसके बाद उनकी शिक्षा-पद्धति का। उसने किया भी यही है। उसने पाँचवें खंड के अंत में दार्शनिक नरेशों के शासन के सिद्धांत का विवेचन किया है और बाद के खंडों में उनकी शिक्षा-व्यवस्था का।

[2] एथेंस के प्राथमिक विद्यालयों में गणित सिखाया जाता था और उसके साथ वर्णमाला भी। गणित में बच्चों को नाप-तौल के पैमानों और पंचांग की जानकारी कराई जाती थी।

पर चल कर विज्ञान उस प्रयोजन का संकेत दे सके और अंततः तत्त्व-मीमांसा (या तर्क-शास्त्र) शुद्ध बुद्धि को उसका साक्षात्कार करा सके। शिक्षा का चरम लक्ष्य लोगों को यही सिखाना है कि वे श्रेय के भाव का उसकी पूर्णता में दर्शन कर सकें और प्लेटो की शिक्षा का लक्ष्य आरंभ से ही यह था कि वह दृष्टि को श्रेय के भाव की ओर मोड़ दे। जब पहले अवस्थान में भाव, कला और साहित्य के क्षेत्र में, सुंदर का रूप धर कर प्रकट हुआ, तब मन का अनायास ही उससे अपनापा हो गया या एक सामंजस्य स्थापित हो गया। अंत में, विज्ञान तथा दर्शन के सहारे ऊपर उठ जाने पर मन उस मित्र को सामने पाकर पहचान लेता है जिसकी छवि उसने प्रायः देखी होती है और जिसकी सत्ता से वह स्वयं अनुप्राणित हो गया होता है। बीस साल की उम्र होते-होते नौजवान जीवन भर के उस शिक्षा-क्रम के लिए तैयार हो जाता है। जो उसे धीरे-धीरे शुद्ध भाव के 'चिंतन' के धरातल पर उठा ले जाता है। यह सिर्फ़ इसलिए नहीं होता कि नौजवान को विज्ञान के मूलतत्त्वों की शिक्षा मिल गई होती है, बल्कि इसलिए भी होता है कि वह श्रेय के भाव से अनजाने ही अनुप्राणित हो चुका होता है।

मध्ययुगीन विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम के दो मुख्य भाग होते थे : विद्यात्रयी और विद्याचतुष्टयी। पहले में व्याकरण, भाषण-शास्त्र और तर्क का समावेश था। इसमें तर्कशास्त्र और तत्त्व-मीमांसा दोनों आ जाते थे और दूसरे में अंकगणित, ज्यामिति ज्योतिष और संगीत का।

> "व्याकरण बोलना सिखाती है, तर्कशास्त्र से सचाई का ज्ञान होता है, भाषण-शास्त्र वाणी में निखार लाता है, संगीत मधु गुंजार करता है। अंकगणित से गिनती आती है, ज्यामिति से नाप-तौल और खगोल-विज्ञान से नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त होता है"।

प्लेटो विश्वविद्यालय का तो संस्थापक था ही, इस पाठ्य-क्रम का प्रवर्त्तक भी वही था[1]। **रिपब्लिक** में जिस उच्चतर अध्ययन-क्रम की स्थापना की गई है, और अकादमी में जिसे व्यावहारिक रूप दिया गया था, उसके अंतर्गत विद्याचतुष्टयी और तर्क के विषयों का समावेश किया गया है। फिर भी, मध्य युग के शिक्षा-क्रम और प्लेटो के शिक्षा-क्रम में कुछ भेद हैं और अगर हम इन भेदों को समझ लें, तो हमें प्लेटो के पाठ्य-क्रम का विशिष्ट स्वरूप समझने-समझाने में मदद मिलेगी। पहली बात यह है कि प्लेटो के पाठ्य-क्रम में व्याकरण के लिए कोई जगह नहीं है, भाषण-शास्त्र के लिए तो और भी कम जगह है। हम देख ही चुके हैं कि गॉर्जियाज में उसने भाषण-शास्त्र की तीखी लानत-मलामत की है। ईसोक्रेटीज़ के विद्यालय में शिक्षा का मुख्य विषय भाषण-शास्त्र था; और शिक्षा के स्वरूप के संबंध में प्लेटो की धारणा उस धारणा से

---

[1] सच-सच कहा जाए तो विद्याचतुष्टयी के आविष्कर्त्ता पायथागोरसवादी थे। (देखिए एडम का रिपब्लिक का संस्करण, II. 164); और ऐसा साक्ष्य मिलता है जिसके आधार पर सोचा जा सकता है कि "चौथी सदी ई० पू० के आरंभिक चरण में यहाँ तक कि उससे भी पहले, उनके पाठ्य-क्रम को किसी न किसी रूप में मान्यता मिलने लगी थी"। (वहीं)।

बहुत भिन्न थी जिसका ईसोक्रेटीज़ प्रतिपादन करता था और जिस पर उसने अमल भी किया था[1]। प्लेटो के शिक्षा-क्रम और मध्य युग के शिक्षा-क्रम में एक और भेद यह है कि मध्य युग का विद्यार्थी तो विद्यात्रयी और विद्याचतुष्टयी के विषयों का एक ही समय में और एक साथ अध्ययन करता था पर प्लेटो ने अपनी विद्याचतुष्टयी का बड़ी सावधानी के साथ तर्कशास्त्र से भेद किया है और वह उस समय तक के लिए तर्कशास्त्र स्थगित कर देता है जब तक विद्याचतुष्टयी का अध्ययन-क्रम पूरा न हो जाए। आख़िरी बात यह है कि प्लेटो द्वारा प्रतिपादित अध्ययन-क्रम किसी मध्ययुगीन विश्वविद्यालय की विद्याचतुष्टयी की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर और सप्राण था। यह बड़े महत्त्व की बात है। यूनानी प्रतिभा की सारी सर्जनाओं में सबसे विशिष्ट, और अनेक दृष्टियों से सबसे आश्चर्यजनक, थी गणित-विज्ञान की उद्भावना। यूनानी साहित्य और यूनानी दर्शन के गौरव की चकाचौंध से हमारी आँखें यूनानी गणित का वैभव देखने से वंचित न रह जानी चाहिएँ। यूनान में थेल्स से लेकर हिप्पारकस के समय तक गणित की प्रगति का क्रम अटूट रहा था। थेल्स के बारे में कहा जाता है कि उसने छठी सदी ई० पू० के शुरू में ज्यामिति का पहला प्रमेय खोज निकाला था और हिप्पारकस ने दूसरी सदी में त्रिकोणमिति का आविष्कार किया था[2]। प्लेटो के अपने जीवन-काल में यह प्रगति बड़ी तेज़ी से हुई। ज्ञान के क्षेत्र में घन-ज्यामिति का अभी प्रवेश ही हो रहा था। इन तथ्यों को ध्यान में रखें तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्लेटो ने उच्चतर अध्ययन के लिए गणित के आधारभूत महत्त्व पर जोर दिया। इसके अलावा, प्लेटो पर पायथागोरस का असर था[3] और यूनान के विचारकों में पायथागोरसवादी गणित के अध्ययन पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया करते थे—वे उसे 'सत्य' के बंद द्वार खोलने की कुंजी समझते थे। उनकी ही तरह प्लेटो का भी यह दृढ़ विश्वास था कि दर्शन के अध्ययन की सच्ची और समुचित भूमिका गणित है। अरिस्टाटल तो पशु तथा मानव-विकास के अध्ययन के रास्ते—अर्थात् जीव-विज्ञान तथा उससे संबद्ध इतिहास के स्वाध्याय-मार्ग से हो कर—दर्शन के द्वार तक पहुँचा था, परंतु प्लेटो ने दार्शनिक

---

[1] **रिपब्लिक** की योजना में अगर व्याकरण और भाषण-शास्त्र का कुछ स्थान है, तो उनका स्थान शिक्षा के पूर्ववर्त्ती अवस्थान में ही है और सो भी अक्षर-बोध के अंतर्गत क्योंकि उसमें व्याकरण और यूनानी गद्य-पद्य-लेखकों का थोड़ा अध्ययन अपने आप आ जाता था—ठीक वैसे ही जैसे मध्ययुग में भाषण-शास्त्र' के अध्ययन अनुशीलन का मतलब था सिसरो और वर्जिल का अध्ययन और (हम कह सकते हैं) इसीलिए वह ईसोक्रेटीज़ के भाषण-शास्त्र से भिन्न था।

[2] देखिए, बर्नेट, **ग्रीक फिलासफ़ी**, पृ० 5—11, और मार्विन, **द लिविंग पास्ट**, अध्याय IV। मार्विन का कथन है कि जिस प्रकार रोमी प्रगति का सूत्र है : "बारह तालिकाओं से जस्टीनियन की संहिता तक", उसी प्रकार यूनानी विकास का सूत्र है : "थेल्स से हिप्पारकस तक"।

[3] प्लेटो के पहले शिक्षा-अवस्थान में संगीत और व्यायाम का बड़ा घनिष्ठ संबंध है और इसे देखकर पायथागोरस की शिक्षा का—खासकर संगीत द्वारा आत्मा की शुद्धि और चिकित्सा द्वारा शरीर की शुद्धि के उसके सिद्धांत का—स्मरण हो आता है। तुलना कीजिए, पीछे अध्याय III (ख)।

अध्ययन के क्षेत्र में प्रवेश पाने की जो शर्त्त निर्धारित की वह थी ज्यामिति का ज्ञान—यह हम देख ही चुके हैं। वड़े-वड़े भेदों के वावजूद अनेक दृष्टियों से जहाँ अरिस्टाटल का सादृश्य हक्सले और उन्नीसवीं सदी के जीव-वैज्ञानिक संप्रदाय से है, वहाँ प्लेटो का सादृश्य देकार्त्त और सत्रहवीं शताब्दी के गणितीय-भौतिकीय संप्रदाय के साथ है[1]।

गणित के अध्ययन की सामर्थ्य के वारे में प्लेटो के विश्वास का संबंध उसके सामान्य दर्शन से है। उसकी धारणा थी कि सत्य का निवास गोचर तत्त्वों में नहीं होता ; वे तो भाव की, परम-तत्त्व की, प्रतिच्छवि या छाया भर हैं। ये प्रतिच्छवियाँ या छायाएँ उसी में से उद्भूत होती हैं और उनमें जो कुछ सत्य होता है, इसी संबंध के नाते होता है। सत्य प्रतीयमान से भिन्न होता है और उसका अंतर्भाव इंद्रिय-बोध के नहीं, चिंतन के जगत में होता है। सत्य का दर्शन नहीं हो सकता, उसका तो चिंतन ही किया जा सकता है। मानव वही नहीं जिस रूप में हम उसे चलते-फिरते देखते हैं, न वह इस प्रकार के ऐंद्रिय बोधों का समन्वय है। मानव का जो सच्चा स्वरूप है, उसे हम केवल चिंतन से ही जान सकते हैं। अतः ज्ञान की अथवा सत्य की सिद्धि की शर्त्त यह है कि हम इंद्रिय-बोध के परे चले जाएँ और गोचर-तत्त्वों से ऊपर उठें। गणित का महत्त्व यह है कि वह मानो इस चढ़ाई को पूरा करने की सहज-स्वाभाविक सीढ़ी है। गणित के 'विषय' गोचर तत्त्व नहीं होते—हालाँकि दूसरी और वे 'भाव' भी नहीं होते। वे गोचर तत्त्वों से भाव तक पहुँचने की सीढ़ियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए अंकगणित की इकाइयाँ ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रस्तुत मूर्त्त प्रतीक नहीं होतीं, वे बोध का अमूर्त्त रूप होती हैं। इसीलिए अंकगणित का दार्शनिक मूल्य होता है कि "उसमें शुद्ध सत्य की सिद्धि के लिए शुद्ध वुद्धि का उपयोग ज़रूरी होता है" (526 B)। दूसरी ओर अंकगणित की प्रकट व्यावहारिक महत्ता भी है : "योद्धा को संख्या का उपयोग करना सीखना चाहिए वरना उसे अपनी सेना की व्यूह-रचना करना न आएगा" (525 B)। चूँकि अंकगणित का दोहरा महत्त्व है—वह साधारण ज़रूरतें भी पूर्ण कर सकता है और दर्शन के अध्ययन की भूमिका भी वन सकता है—इसलिए स्पष्ट है कि उच्चतर शिक्षा की किसी भी व्यवस्था में वही पहली सीढ़ी माना जा सकता है। जो लोग राज्य के सर्व-प्रमुख सत्ताधारी वनने को हैं, उन्हें उसका अध्ययन करना चाहिए (525 C)। सर्व-श्रेष्ठ प्रकृति वालों के प्रशिक्षण में उसका उपयोग होना चाहिए (526 C)। अंकगणित से ज्यामिति तक पहुँचना आसान है। ज्यमिति का भी व्यावहारिक महत्त्व है : "कोई सेनापति ज्यामितिविद् है या नहीं" (526D), इसका व्यूह-रचना पर भी असर पड़ता है और युद्ध-संचालन की पद्धतियों पर भी। ऐसे व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए तो

---

1. दर्शन के अध्ययन की सच्ची भूमिका क्या हो सकती है—इस पर अभी भी दार्शनिकों में मतभेद है। ऑक्सफर्ड में दर्शन का अध्ययन श्रेण्य ग्रंथों से शुरू होता है—**रिपब्लिक** और **एथिक्स** से। पर, पिछले कुछ सालों से आधुनिक दर्शन का एक ऐसा संप्रदाय चलाने के लिए आंदोलन शुरू किया गया जिसमें अध्ययन का आरंभ प्राकृतिक विज्ञान से किया जाए या कम से कम जिसका प्राकृतिक विज्ञान से घनिष्ठ संबंध रहे। जो संप्रदाय दर्शन का अध्ययन स्वयं **रिपब्लिक** से शुरू करता है उसकी अपेक्षा यह संप्रदाय प्लेटो के मन के अधिक अनुकूल होता।

उसका थोड़ा-सा ज्ञान काफ़ी है। उसका असली महत्त्व तो इस बात में है कि उससे श्रेय के भाव का साक्षात्कार करने में कहाँ तक आसानी होती है (526E)। इसी कारण प्लेटो ने समतल ज्यामिति में घन ज्यामिति भी जोड़ दी है और इस प्रकार यूनानी गणित में एक नई शाखा का समावेश कर दिया है। उसने अंकगणित और ज्यामिति को जो महत्त्व दिया है, वही महत्त्व स्वर-विज्ञान (harmonics) को दिया है (यह संगीत-कला से भिन्न संगीत का विज्ञान है)। परंतु अगर यहाँ विज्ञानों का अध्ययन शुद्ध सैद्धांतिक आधार पर हो, दर्शन के भावी अध्ययन को ध्यान में रख कर हो तो उनसे अधिक लाभ होगा। खगोल-विज्ञान का क्षेत्र आँखों से आकाशीय पिंडों के निरीक्षण तक ही सीमित न रहना चाहिए; और न स्वर-विज्ञान की सीमा कानों द्वारा सुरों की पहचान ही होनी चाहिए। ज्यामिति की तरह इनमें भी "हमारे सामने प्रश्न रहने चाहिएँ"। हमें इंद्रिय-बोध से ऊपर उठना चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए कि जो गति-भरे पिंड आकाश में तैरते रहते हैं या जो कंपन वीणा के सुरों में थिरकन पैदा कर देते हैं उनके कारण क्या हैं, वे कैसे और कहाँ से पैदा होते हैं (530B : 531C)।

प्लेटो की दृष्टि में यह अध्ययन-क्रम कम से कम दस साल तक चलना चाहिए। जब शिक्षा का पहला अवस्थान और उसके बाद दो साल की सैनिक शिक्षा—ये दोनों पूरी हो जाएँ, तब बीस साल की उम्र में यह अध्ययन शुरू होना चाहिए और तीस साल की उम्र तक चलना चाहिए। जो लोग शिक्षा का पहला अवस्थान पार कर चुके हों उन सभी को इस परवर्ती अध्ययन-क्रम में शामिल नहीं कर लिया जाएगा। इस अध्ययन का अधिकार तो सिर्फ़ उन्हीं लोगों को होगा जिन्होंने पहले अवस्थान में सबसे अधिक प्रतिभा का परिचय दिया हो—विशेष कर जिन्होंने विज्ञान के प्रति सबसे अधिक रुचि प्रकट की हो। यह तो सर्वश्रेष्ठ प्रकृति के लोगों का विशेषाधिकार होगा। यह उन गिने-चुने लोगों की प्रशिक्षण-भूमि होगी जिन्हें राज्य के पूर्ण संरक्षक और शासक बनना है[1]। इन दस सालों में, जिनमें वे विद्याचतुष्टयी का अध्ययन करेंगे, उसके हर एक विषय को अलग-थलग करके स्वाध्याय नहीं होगा। जिन विषयों का पहले के वर्षों में बिना किसी क्रम के अध्ययन किया गया होगा, उनका एक दूसरे से संबंध जोड़ने में इन आख़िरी सालों का उपयोग किया जाएगा (537B); और गणित के अध्ययन का उद्देश्य उन सामान्य सिद्धान्तों को ढूंढ निकालना होगा जिनके आधार पर इस अध्ययन-क्रम के सारे विषयों में अन्विति की स्थापना होती है। जब इन विषयों का इस पद्धति से और इस लक्ष्य को सामने रखकर अध्ययन होगा, तब ये विषय तर्कशास्त्र के उच्चतर अध्ययन के लिए सहज भूमि का काम देंगे। यह अध्ययन तीस से पैंतीस साल की आयु के बीच पाँच साल तक चलेगा। जिस तरह गणित का शिक्षा के पहले अवस्थान के विषयों से अधिक महत्त्व है उसी तरह तर्कशास्त्र का महत्त्व गणित से बढ़ कर है।

---

[1] बाकी लोगों की शिक्षा पूरी हो जाती है और वे फ़ौज के सिपाही बने रहते हैं। गणित के उन विद्यार्थियों को इन्हीं में शामिल कर दिया जाता है जिन्होंने शुरू में प्रतिभा का परिचय दिया हो पर बाद में जो अपने संबंध में उस धारणा को पुष्ट न कर पाए हों और उन विद्यार्थियों को भी जिन्होंने तर्कशास्त्र के अवस्थान में या बाद के अवस्थानों में निरीक्षण-परीक्षण के आगे घुटने टेक दिए हों।

यदि गणित ऐंद्रिय विषयों से चिंतन-विषयों तक पहुँचने की सीढ़ी है, तो तर्कशास्त्र वह माध्यम है जिसके सहारे हम स्वयं चिंतन के विषयों का —शुद्ध भावों— और अंततः चिंतन के परम विषय —श्रेय के भाव— का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम तर्कशास्त्र को न्याय, तत्त्व-मीमांसा या सीधे दर्शन कह सकते हैं, पर उसका नाम कुछ भी क्यों न हो उसमें केवल मनोविद्या से संबंधित विषयों का अध्ययन नहीं होता, बल्कि उसमें तो अध्ययन होता है स्वयं सत्ता के प्रथम सिद्धांतों का और उस आदि तथा अंतिम तत्त्व—श्रेय के भाव का— जो सत्ता का कारण है और ज्ञान का लक्ष्य। तर्कशास्त्री वह है जो हर चीज़ के मर्म की धारणा तक पहुँच जाता है और श्रेय के भाव का बोध कर लेता है (534 B)। निष्कर्ष यह है कि ग्रहणशील मन सदा ही अन्वीक्षण करता है (537 C) ; और इसलिए प्लेटो गणित के उन्हीं छात्रों को चुनेगा जिन्होंने उस बोध-शक्ति का सबसे अधिक परिचय दिया हो और अपने अध्ययन-क्रम के विषयों के परस्पर संबंधों को तथा सच्ची 'सत्ता' के साथ उनके संबंधों को स्पष्ट रूप से समझ लिया हो ; और वह उन्हें पाँच वर्ष तक तर्कशास्त्र के अध्ययन में लगाएगा। इस अध्ययन-क्रम में उनका हर तरह से परीक्षण-निरीक्षण होगा और उसके फलस्वरूप जिनमें दार्शनिक प्रकृति की कसर दीखेगी, उन्हें हटा दिया जाएगा। जो बाकी बच रहेंगे, वे राज्य के दार्शनिक नरेश और पूर्ण संरक्षक होंगे। पंद्रह वर्ष तक, पैंतीस वर्ष की आयु से पचास वर्ष की आयु तक, वे राज्य की सेवा में रत रहेंगे, युद्ध में सैन्य-संचालन करेंगे, ऐसे पद धारण करेंगे जो आयु विशेष के लिए सुरक्षित न रखे गये हों, और जीवन का अनुभव प्राप्त करेंगे (539 E)। राज्य-सेवा के इस समूचे दौर में उनकी परीक्षा चलती रहेगी, आज़माइशें होती रहेंगी और अंत में जब उनकी उम्र पचास साल की हो जाएगी, तब उनमें से उन लोगों को जिन्होंने हर परीक्षा में और हर कसौटी पर वैशिष्ट्य प्राप्त किया हो और यशस्वी रहे हों[1], लक्ष्य तक पहुँचने की अनुमति दी जाएगी और वह लक्ष्य विश्रांति का

---

[1] यह याद रखना चाहिए कि प्लेटो के वक्तव्य में अनुपाती न्याय का जो सिद्धांत निहित है—यानी जिस नियम के अनुसार पद दिए जाने चाहिएँ—वह इस संदर्भ में योग्यता का सिद्धांत है : ऐसी योग्यता का जो परीक्षा के द्वारा प्रमाणित और सिद्ध हो चुकी हो, ऐसी योग्यता जो नैतिक भी हो और बौद्धिक भी। **रिपब्लिक** के पूर्ववर्त्ती खंडों में पद के लिए योग्यता की कसौटी इतनी महत्त्वपूर्ण न थी, जितनी राज्य-भक्ति की। अच्छा शासक वह था जो अपने स्वार्थ राज्य के स्वार्थों से अभिन्न कर देता था। इस तरह इसमें दो सिद्धांत निहित हैं—राज्य का काम करने की क्षमता के अनुरूप पुरस्कार और राज्य के प्रति निष्ठा की मात्रा के अनुरूप पुरस्कार। ये दोनों सिद्धांत बेमेल नहीं हैं। राज्य-भक्ति का सिद्धांत योग्यता के सिद्धात के लिए राह तैयार कर देता है, और जो व्यक्ति भक्ति जताता है, वह इसलिए जताता है कि उसमें यह जानने की बुद्धि होती है (भले ही वह किसी 'मत' के बल पर वैसा करता हो) और अपने ज्ञान के अनुरूप काम करने की हिम्मत होती है कि राज्य स्वयं उसके साथ अविच्छेद्य रूप से अभिन्न है क्योंकि वह स्वयं भी तो राज्य का 'अंग' ही है। जैसे नैतिक शिक्षा दार्शनिक शिक्षा के लिए भूमि तैयार कर देती है, वैसे ही राज्य-भक्ति ज्ञान के लिए राह तैयार कर देती है। परीक्षा की प्रणाली दिलचस्प है : वह संपूर्ण शिक्षा-पद्धति की कसौटी है और उसका काम उस उद्देश्य की रक्षा करना है जिसे ध्यान में रख कर शिक्षा-प्रणाली को

नहीं, पूर्ण सक्रियता का लक्ष्य होगा (540 A—B)। वे अपना कुछ समय शुद्ध दर्शन के निमित्त और श्रेय के चिंतन में लगा सकते हैं पर अपना कुछ समय उन्हें अपनी बारी आने पर राज्य की सेवा में भी लगाना ही चाहिए। उन्हें पूर्ण ज्ञान के आलोक में अपने साथियों के लिए प्राणपण से परिश्रम करना चाहिए और कष्ट झेलना चाहिए—यह सोचकर नहीं कि वह कोई बहुत बड़ा काम कर रहे हैं बल्कि ज़रूरी समझकर—अपने लिए नहीं, भावी पीढ़ी के लिए; क्योंकि उनके कष्ट सहन का प्रयोजन तो यही है कि उन्होंने राज्य को जिस रूप में पाया उसी रूप में छोड़ कर जाएँ और भावी पीढ़ी को इतना लिखा-पढ़ा जाएँ कि वह उनके काम को उसी निष्ठा के साथ और उसी साध्य को सामने रखकर करती रहे।

उद्भावना की गई है यानी वह ऐसा शासक तैयार करे जिसे अपने कर्म का ज्ञान हो और अपने ज्ञान से प्रेम। उस समय की राजनीति में अनाड़ीपन का जो बोलबाला था, उसके लिए प्लेटो का उपचार यह था कि राजनीतिक काम के लिए नियमित प्रशिक्षण की पद्धति अपनाई जाए और 'परीक्षा' द्वारा उसे और भी दृढ़ता प्रदान की जाए।

(च) चिंतनमय जीवन और कर्ममय जीवन

प्लेटो के जीवन की तरह उसके शिक्षा-सिद्धांत में भी कर्म के आदर्श और चिंतन के आदर्श के बीच कुछ दुविधा-सी पाई जाती है। कभी तो लगता है कि जीवन का लक्ष्य श्रेय-भाव का दर्शन है और कभी लगता है कि लक्ष्य है मानवता का उन्नयन और दर्शन से हटकर सामाजिक सेवा के जीवन की स्वीकृति। शिक्षा कभी तो सामाजिक अनुकूलन की प्रक्रिया लगती है जिसके द्वारा लोग अपने समाज में उस स्थान की पूर्त्ति कर सकें जिसके वे सबसे अधिक योग्य हों; कभी उसका मंतव्य लगता है पूर्ण आत्म-विकास। प्लेटो ने यथार्थ सामाजिक व्यवहारों का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें हमें कर्म के प्रति उस मोह-भंग के और राजनीति के प्रति उस निराशा के दर्शन होते हैं जिसका निरूपण उसने अपने सातवें पत्र में किया है। दार्शनिक दर्शन की मधुरता का स्वाद ले चुका है; वह जनसमूह के पागलपन को जानता है और यह भी जानता है कि कोई राजनीतिज्ञ ईमानदार नहीं होता और उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति जैसी हो जाती है "जो धूल और ओलों के अंधड़ में—जिसे तेज़ हवा ने और भी विकराल कर दिया हो—किसी दीवार की ओट में शरण ले ले" (496 C—E)। फिर भी प्लेटो स्वीकार करता है कि इस तरह की निवृत्ति 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ' (second best) मात्र है; और इस स्वीकृति की सचाई भविष्य में उसके अपने जीवन से प्रकट होनी थी। दार्शनिक राज्य में अपना महानतम काम ही करेगा, "क्योंकि जो राज्य उसके अनुकूल होगा उसमें उसका अधिक विकास हो सकेगा और वह अपने देश का भी उद्धार करेगा, अपना भी"। रिपब्लिक में जिस राज्य की कल्पना की गई है, वह ऐसा ही राज्य है और इसलिए उसके नागरिक उसकी सेवा के लिए हैं। "विधिकर्ता ने उनका संगठन उनकी प्रसन्नता के लिए नहीं किया था बल्कि इसलिए किया था कि वे राज्य में एकता की स्थापना करने में उसके सहायक बनें" (520 A)। दार्शनिक प्रकृति के विकास के लिए राज्य की अनिवार्य आवश्यकता रही है और राज्य के विकास के लिए भी दार्शनिक की जरूरत है क्योंकि वह एक "जीवंत सत्ता है...समाज के बारे में उसका विचार वही होता है जिसने विधि कर्त्ता का निर्देश किया था" (497 C—D) और जीवंत सत्ता होने के नाते वह राज्य को विधि-विधानों की बेड़ियों से बचा लेगा। इसलिए रिपब्लिक में, मौक़ा आने पर

दार्शनिक को नीचे उतर कर कर्म के मैदान में आना पड़ता है। साधारण राज्यों में वह जो कुछ करता है, बल्कि जो कुछ करने का उसे प्रोत्साहन दिया जाता है—यानी दर्शन और चिंतन के उच्चतर लोक में बने रहने का—उसकी अनुमति उसे यहाँ नहीं मिल सकती (519 D)। इस तरह शिक्षा के पूर्ववर्त्ती अवस्थान की तरह दार्शनिक अवस्थान भी सामाजिक अनुकूलन की उस पद्धति के रूप में हमारे सामने आता है जिसके द्वारा लोग समाज में अपने स्थान के योग्य बनाए जाते हैं और उसके पथ-प्रदर्शक बनने का प्रशिक्षण पाते हैं। ज्यों ही दार्शनिक सत्य की प्राप्ति कर लेता है, त्यों ही उसे एक 'जीवन पद्धति' के रूप में समाज के सामने रखने के लिए वह बाध्य हो जाता है; और ज्यों ही उसे चिंतन की सिद्धि हो जाती है, त्यों ही उसे कर्ममय जीवन की ओर मुड़ना पड़ता है। फिर भी प्लेटो ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है—जैसे उसने ऊपर से नीचे उतरने की बात कही है या विवशता और अनिवार्य कर्त्तव्य की चर्चा की है—उससे लगता है कि मानो वह सोच रहा हो कि कहीं न कहीं कुछ अंतर्विरोध ज़रूर है। वह इस अंतर्विरोध का समाधान करने के लिए यह युक्ति प्रस्तुत कर सकता है कि दार्शनिक अपने प्रशिक्षण के लिए समाज का कृतज्ञ होता है और उसकी यह कृतज्ञता इस रूप में प्रकट होनी चाहिए कि सामाजिक जीवन में वह कर्म में प्रवृत्त हो; पर, यह युक्ति केवल उस समाज के संदर्भ में ही टिक सकती है जो अपने सदस्यों को दार्शनिक प्रशिक्षण देता हो; और तब भी कर्म का जीवन दार्शनिकों को दूसरी दिशा में भटका देता है। कृतज्ञता के कारण वे उसे सहन भले ही कर लें पर फिर भी उसकी वजह से वे अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा और पूर्णतम उपयोग नहीं कर पाते। सच बात यह है कि यद्यपि "प्लेटो ने यह समझ लिया था कि मौका पड़ने पर नीचे मैदान में उतर आना दार्शनिकों का कर्त्तव्य है, फिर भी वस्तुतः उसके विचार से (चिंतनमय) जीवन ही सबसे उत्कृष्ट था"[1]। इसलिए, कभी तो वह यह समझता था कि श्रेय-भाव का दर्शन अनिवार्य रूप से व्यावहारिक कर्म के जीवन के लिए राह तैयार कर देता है और कभी यह सोचता था कि यह दर्शन ही अपने आप में पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त कभी तो वह यह सोचता था कि ज्ञान अपने आप में बड़ी अनमोल चीज है और कभी यह कि समाज के जीवन पर ज्ञान का जो प्रभाव पड़ता है, उस प्रभाव के संदर्भ में ही ज्ञान का मुख्य महत्त्व है। यह ऐसी समस्या है जो विचारक के सामने हमेशा ही आती रही है और आती रहेगी। हो सके तो वह यह सोच कर राहत पा सकता है कि सत्य की साधना भी अपने आप में समाज-सेवा की ही एक पद्धति है, कि सत्य का जिस रूप में हमने साक्षात्कार किया है, उसका संप्रेषण ही अपनी स्थिति के कर्त्तव्य को पूरा करना है—भले ही वह वाणी या लेखनी के द्वारा ही हो; कि जिन आदर्शों को हमने अच्छी तरह जान-समझ लिया है, वे कर्म-जगत् पर छा जाएँगे और उनका कर्म-जगत् के लोगों पर प्रभाव पड़ेगा[2]। प्लेटो इस राहत से संतुष्ट न था; और उसने फेबियनों के प्रचार-

---

[1] बर्नेट, ग्रीक फिलासफ़ी, पृ० 245। थिआएटेट्स, (173C) और क्रमशः में दार्शनिक जीवन से संबंधित अवतरण पर टिप्पणी।

[2] दूसरे शब्दों में प्लेटो के चिंतन में जो अंतर्विरोध निहित है, उसे हम अस्वीकार कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि हम कर्म और चिंतन के बीच भेद नहीं कर सकते—कम से कम इस आधार पर कि एक में सामाजिक गुण है और दूसरे में

प्रसार के तौर-तरीके छोड़ कर खुद भी कर्म की राह पर चलने की कोशिश की और यह भी कहा कि हर विचारक को कर्म-क्षेत्र में उतरना चाहिए। यह महत्त्वाकांक्षा न थी, महत्वाकांक्षा का परित्याग था। दर्शन से हटकर दार्शनिक के लौकिक व्यापारों के क्षेत्र में उतरने का जो चित्र प्लेटो ने प्रस्तुत किया हैं, उसमें कुछ-कुछ त्याग का रंग है। यह ऐसा है मानो किसी साधु को पोप की गद्दी पर बिठाने के लिए उसके चिंतन-कुटीर से बाहर निकाल लिया गया हो और वह नहीं-नहीं कहते-कहते भी मानो माने ले रहा हो क्योंकि वही मार्ग अधिक कठिन मार्ग है।

नहीं। दोनों सामाजिक हो सकते हैं—उसी तरह जैसे दोनों समाज-निरपेक्ष भी हो सकते हैं। कम से कम प्लेटो ने अपने चिंतन द्वारा कर्म-जगत् पर अनंत रीतियों से प्रभाव डाला है।

(छ) आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था

कुछ भी हो, प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य का निर्माण किया है, उसमें यह आवश्यक है कि शासन-सूत्र दार्शनिकों के हाथों में रहे और, अंत में हमें उनके शासन के स्वरूप पर विचार करना है। इस प्रकार शासन की चर्चा अंत में और शिक्षा-पद्धति के विवरण के स्वाभाविक परिणाम के रूप में करना विरोधाभास प्रतीत हो सकता पर प्लेटो में यह विरोधाभास निहित है। उसने शिक्षा का भावन इस रूप में नहीं किया कि वह शासन के अस्तित्व का फल है या कि वह शासन का ही एक काम है ; उसने तो बल्कि शासन का शिक्षा के परिणाम के रूप में भावन किया है और शिक्षा-पद्धति का निर्माण करते-करते और उसी के फलस्वरूप वह अपने शासक को ढूंढ निकालता है। कारण सीधा-सादा है। स्वयं राज्य ही एक शिक्षा-पद्धति है और उसकी शासन-व्यवस्था उसके स्वरूप का ही फल होती है । चूंकि वह ऐसी शिक्षा-पद्धति है, इसीलिए उसका पथ-प्रदर्शन ज्ञान के द्वारा होना चाहिए ; और चूंकि दर्शन ही ज्ञान है, इसीलिए उसका पथ-प्रदर्शन दार्शनिकों के द्वारा होना चाहिए। "जब तक दार्शनिक नरेश नहीं बनते या इस दुनिया के नरेशों और शासकों में दर्शन की भावना और शक्ति का संचार नहीं होता, तब तक राज्यों को अपने भीतर फैली हुई बुराइयों से कभी छुटकारा नहीं मिलेगा" (473 C—D)। अज्ञान और स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों की अयोग्यता का और गुटबाज़ी का अंत करने का यही उपाय है और इसी तरह से राज्य को ऐसे शासक मिल सकते हैं जो बुद्धिमत्ता के साथ और निःस्वार्थ भाव से शासन करें—बुद्धिमत्ता से इसलिए कि उनकी दृष्टि सत्य का दर्शन कर चुकी होती है और निःस्वार्थ भाव से इसलिए कि वे अपने पद को एक नैसर्गिक अधिकार के रूप में ग्रहण नहीं करते, बल्कि उसे एक कर्त्तव्य, एक बोझ समझते हैं जो उन्हें अपने साथियों की भलाई के लिए उठाना चाहिए। और राज्य ऐसे शासकों से ज्यादा कामना और किस चीज़ की कर सकता है ?

दार्शनिक-नरेशों के शासन को प्लेटो ने या तो राजतंत्र कहा है या अभिजात-तंत्र । ये दोनों नाम एक ही शासन प्रणाली व्यक्त करते हैं (445D), क्योंकि "हम राजकीय और अभिजात को एक ही समझते हैं" (587 D)। दार्शनिक शासकों का नाम चाहे कुछ भी हो, होते वे निरपेक्ष हैं—निरपेक्ष इस अर्थ में कि उनके ऊपर किसी भी तरह की

लिखित विधि का कोई अंकुश नहीं होता। हम देख चुके हैं कि यहाँ प्लेटो राज्य की वह साधारण यूनानी धारणा पीछे छोड़ देता है जिसके अनुसार राज्य समान लोगों की एक संस्था है; वह बस विधि की प्रभुता शिरोधार्य मानता है और वह निरंकुश शासन अंगीकार करने के अब करीब आ जाता है--यानी ऐसा शासन जिसमें विधि की प्रभुता लुप्त हो जाती है और उसकी जगह बलात् वैयक्तिक शासन ले लेता है। यूनानी जगत् में जितनी भी शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, उनमें सबसे ज़्यादा बदनामी इसी शासन-प्रणाली की थी; और हालाँकि प्लेटो ने यह बात साफ़ कर देने की सावधानी बरती है कि उसके राजतंत्र का साधारण निरंकुश शासन से कोई सरोकार नहीं—क्योंकि उसे वह शासन की आखिरी और सबसे घोर विकृति मानता है—फिर भी वह इस बात के प्रति सचेत है कि वह एक खतरनाक सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा है। यही कारण है कि उसने **रिपब्लिक** के सबसे बड़े विरोधाभास के रूप में दार्शनिक नरेश के शासन का प्रतिपादन किया है—वह स्त्री-पुरुषों की समान शिक्षा और समान काम के विरोधाभास से तो बढ़ कर है ही, पत्नियों के साझे के विरोधाभास से भी इक्कीस ही ठहरता है। हालाँकि दार्शनिक नरेश का शासन ऊपर से देखने पर निरंकुश शासन से मिलता-जुलता लग सकता है और हालाँकि कभी-कभी निरंकुश शासन का सुधार करके उसकी स्थापना भी की जा सकती है—और प्लेटो ने सिराक्यूज़ में उसकी स्थापना का प्रयास किया भी था—परंतु वह निरूपाधि निरपेक्षतावाद नहीं होता। वह लिखित विधि से स्वतंत्र हो सकता है; पर जिन्हें हम संविधान के मूल अनुच्छेद कह सकते हैं, उनके अंकुश से वह स्वतंत्र नहीं होता। दार्शनिक का काम यह नहीं कि मनमाने ढँग से राज्य को प्रभावित करे या उसे बदल डाले; वह तो उसके मूल सिद्धांतों के प्रति निष्ठा रखते हुए एक अचल संस्था के रूप में उसकी रक्षा करने के लिए, उसकी स्थिरता कायम रखने के लिए होता है। प्लेटो ने इसमें से चार सिद्धांत गिनाए हैं। शासकों को निगरानी रखनी पड़ेगी कि राज्य में न तो गरीबी घुसने पाए और न धन-संपदा का प्रवेश हो (421E)। राज्य न तो बड़ा हो और न छोटा, बल्कि उसमें एकता और आत्म-निर्भरता हो--यह बात ध्यान से रखते हुए उन्हें राज्य की एकता के अनुरूप ही उसका आकार सीमित रखना होगा (423 C—D)[1]। उन्हें न्याय-शासन की रक्षा करनी चाहिए और ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिए कि हर नागरिक व्यस्त रहे और अपना विशिष्ट काम करने में ही व्यस्त रहे (423 D)। अंतिम और सबसे बड़ी बात यह है कि शिक्षा-प्रणाली में किन्हीं नई बातों का समावेश न होने पाए क्योंकि "जब कभी संगीत के सरगम में परिवर्त्तन होता है, तभी उसके साथ राज्य की मूल विधियाँ भी हमेशा बदल जाती हैं" (424B—C)। इस प्रकार अंततः प्लेटो यूनान के विचारों के प्रति सच्चा रहा है और उसने अपने दार्शनिक नरेशों तक को एक मूल और अपरिवर्त्तनशील समाज-व्यवस्था का सेवक बनाने का प्रयास किया है।

●

---

1. जब हम प्लेटो के राज्य का आकार देखते हैं, तब हमें उसके स्वरूप के बारे में अनेक बातों का पता चलता है। उसका कथन है कि एक हजार योद्धा पर्याप्त हैं (423 A)। जनसंख्या पूरी करने के लिए उसमें तीसरे वर्ग के बहुत से लोगों को भी शामिल करना जरूरी है।

अध्याय 10

रिपब्लिक और उसका साम्यवाद-सिद्धांत

(क) संपत्ति का साझा
(ख) पत्नियों का साझा
(ग) रिपब्लिक में साम्यवाद का सामान्य सिद्धांत

अध्याय 10

रिपब्लिक और उसका साम्यवाद-सिद्धांत

(क) संपत्ति का साझा

प्लेटो ने न्याय के नाम पर और आध्यात्मिक उत्कर्ष की खातिर एक ऐसी नई शिक्षा-प्रणाली का ही प्रवर्त्तन नहीं किया जिसके सहारे न्याय का सुधार हो और शासन का पुनर्निर्माण, बल्कि उसने नई समाज-व्यवस्था की भी उद्भावना की जिसके अंतर्गत शासक-वर्ग परिवार और व्यक्तिगत संपत्ति दोनों का उत्सर्ग कर देता है और साम्यवाद की व्यवस्था अंगीकार कर लेता है। हम देखेंगे कि यह भी न्याय के नाम पर हुआ है और यहाँ भी प्लेटो का चरम लक्ष्य है—आध्यात्मिक उत्कर्ष। चूंकि प्लेटो प्लेटो था, अतः उसके चिंतन का केंद्र और आधार था—शिक्षा का सुधार और उसके द्वारा शासन का सुधार। नई समाज-व्यवस्था तो बस उसके परकोटे की तरह थी। पर चूंकि इस व्य- वस्था की नवीनता ने प्लेटो के आलोचकों और टीकाकारों के मन में कहीं राग जगाया है, कहीं विराग तथा और भी आधुनिक काल में प्लेटो के साम्यवाद और समाजवाद के सिद्धांतों में पाई जाने वाली समानताओं पर बल देना सहज-स्वाभाविक हो गया है, अतः मुख्य रूप से ध्यान उसी चीज़ पर केंद्रित रहा है जिसे स्वयं प्लेटो अपनी योजना का गौण भाग ही समझता। इस दिशा का संकेत सबसे पहले अरिस्टाटल ने दिया। **पॉलिटिक्स** के दूसरे खंड में उसने नई समाज-व्यवस्था को ही अपनी आलोचना का एक मात्र लक्ष्य बना लिया और इस आलोचना के दौरान सुझाव दिया कि सुधार का उपाय भौतिक परिवर्त्तनों में नहीं बल्कि शिक्षा में निहित है। इस तरह अरिस्टाटल ने परोक्षतः प्लेटो पर यह आरोप लगाया कि उसने प्रगति के उचित क्रम को उलट दिया है। पर, अगर हम प्लेटो के अपने प्रतिपादन की ओर मुड़ें और उसके अपने विचार- विश्वासों के संतुलन को जाँचने-परखने की कोशिश करें, तो हमें क्षण-मात्र के लिए संदेह न रहेगा कि उसके लिए सबसे पहली और सबसे बढ़ कर चीज है आध्यात्मिक सुधार— जिसकी उसने कोशिश की; और यह साम्यवाद उसी की एक भौतिक और आर्थिक परिणति थी। उसकी धारणा है कि अगर शिक्षा सचमुच अच्छी हो तो राज्य की एकता के प्रति निश्चितता के लिए सबसे अच्छी आधार वही हो सकती है (416 B); "अगर हमारे नागरिक सुशिक्षित होंगे, तो वे विवाह, स्त्रियों के आधिपत्य और बच्चों के प्रजनन जैसे और-और मसलों का हल आसानी से ढूंढ निकालेंगे"।

अरिस्टाटल की आलोचना के बावजूद इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो ने मूलतः आध्यात्मिक साधनों से ही मानव और समाज का कायाकल्प करने का यत्न किया।[1] साम्यवादी व्यवस्था की संस्थाएँ आनुषंगिक हैं : वे तो सिर्फ़ इसलिए हैं कि ज़मीन साफ़ हो जाए और वे सब कंकड़-काँटे हटा दिए जाएँ जो इन आध्यात्मिक साधनों के रास्ते में रुकावटें पैदा कर सकते हैं। **रिपब्लिक** की मूल धारणाओं में यही बात निहित है। राज्य मानव मन की सर्जना है : राज्य का सुधार करने के लिए हमें मानव-मन का सुधार करना चाहिए। न्याय कोई बाहर की चीज़ नहीं, वह मन का स्वभाव है ; और सच्चे न्याय की सिद्धि तभी हो सकती है जब मन अपना सच्चा स्वभाव पा ले। दूसरी ओर मानव-मनों के स्थायी सुधार की संभावना कुछ हद तक उन सामाजिक परिस्थितियों के स्वरूप पर भी निर्भर होती है जिनमें रहकर उन्हें काम करना पड़ता है : और अगर न्याय-शासन मूलतः मन के इस स्वभाव पर निर्भर है कि वह विशिष्ट कर्म के संपादन में एकाग्रचित्त हो, तो कुछ सीमा तक वह इस बात पर भी निर्भर है कि ऐसी भौतिक परिस्थितियाँ न हों जो इस एकाग्रता में बाधा डालें। भौतिक परिस्थितियों की सत्ता है और उनकी अनुकूलता या प्रतिकूलता का मानसिक जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ सकता है—यह स्वीकार कर लेना तो मन का अनादर करना नहीं है[2]।

प्लेटो का विश्वास था कि साम्यवादी व्यवस्था में आत्मिक जीवन के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं। स्वयं साम्यवाद का विचार—कम से कम संपत्ति के साम्यवाद का विचार—यूनानी जगत् में किसी भी तरह अज्ञात न था। यह सोचने का कुछ आधार है कि यूनानियों के कृषि की ओर मुड़ने से पहले यूनानी जाति के आरंभिक दिनों में ज़मीन साझे में रहती थी और अगर वह राज्य की नहीं तो कम से कम कबीलों और कुलों के समूहों की ज़रूर होती थी। कृषि-युग में जब ज़मीन लोगों को अलग-अलग जोतों में बाँटी जाने लगी, तब ज़मीन बाँटने का यह काम राज्य ने अपने हाथ में लिया। हर आदमी को उसका हिस्सा मिलने लगा किंतु परवर्त्ती काल में बहुतों के हाथ से उनका हिस्सा जाता रहा और मुट्ठी भर लोग बड़ी-बड़ी जोतें दबाकर बैठ गए। तब भूमि के फिर से बँटवारे की जो माँग हुई, उससे इस पहले वाले बँटवारे की याद ताज़ी हो जाती है। ऐतिहासिक काल में—एथेंस जैसे व्यक्तिवादी आधुनिक समाज तक में—व्यक्तिगत संपत्ति पर राज्य की निगरानी रहती थी और राज्य के पास बनों, खदानों तथा खानों के रूप में[3] अपनी भी संपत्ति रहती थी। जो समाज कम उन्नत थे,

---

[1] फिर भी, अध्याय 9 (क) के आरंभ में दी गई टिप्पणी देखिए।

[2] 416 C से तुलना कीजिए : "हमने जिस शिक्षा का वर्णन किया है, उसके अतिरिक्त कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह कहेगा कि संरक्षकों के घर-बार तथा अन्य धन-संपदा का इस तरह प्रबंध होना चाहिए कि उनके उत्कर्ष में तो कोई रुकावट आने ही न पाए बल्कि उनके मन में कोई इस तरह का भी लालच पैदा न हो कि वे अन्य नागरिकों के प्रति अन्याय करें"। इस अवतरण से न सिर्फ़ यह पता चलता है कि साम्यवाद शिक्षा का ही एक सहज फल है बल्कि उसकी निषेध-समष्टि से प्लेटो के साम्यवाद के अभावात्मक स्वरूप का भी पता चलता है।

[3] विलामोवित्ज़, स्टाट उंद गेसेलस्चाफ्ट डेर ग्रीचेन पृ० 61।

उनमें साम्यवाद के चिह्न लंबे समय तक बने रहे। स्पार्टा में व्यक्तिगत संपत्ति की पद्धति तो थी, पर वहाँ के नागरिक की ज़मीन पर उसकी ओर से कृषक दास काश्त किया करते थे और इस ज़मीन से जो उपज होती थी, वह सामूहिक भोजन-व्यवस्था में खप जाती थी जिसके अनुसार सभी नागरिक एक साथ मिलकर खाना खाते थे[1]। इस तरह, व्यक्तिगत स्वामित्व के प्रयोग के साथ-साथ सामुदायिक उपयोग की भी व्यवस्था थी और यह प्रवृत्ति स्पार्टा की अन्य प्रथाओं में भी व्यक्त होती थी––जैसे कि किसी भी नागरिक को दूसरे के घर से खाना लेने का अधिकार था, दूसरों के कुत्तों, घोड़ों और दासों तक के उपयोग का अधिकार था—मानो वे उसके अपने ही हों[2]। क्रीट में जो स्पार्टा की तरह ही एक डोरिस-समाज था साम्यवादी प्रवृत्ति और भी दो कदम आगे बढ़ी हुई थी। वहाँ के हर समुदाय के पास पंचायती ज़मीनें हुआ करती थीं जिन पर पंचायती कृषक दास काश्त किया करते थे और इनसे जो आय प्राप्त होती थी, वह पंचायती लंगरों में खाने-पीने का साज-सामान जुटाने में और सरकार के सामान्य खर्चों में काम आती थी। स्पार्टा और क्रीट की इन प्रथाओं में उस पद्धति से बेहद समानता दृष्टिगोचर होती है, जिसका रिपब्लिक में प्लेटो ने प्रस्ताव किया है[3]।

जब प्लेटो ने साम्यवाद की पैरवी की तब यूनान के लोग सिद्धांत रूप में साम्यवाद से परिचित न रहे हों––सो बात भी नहीं। ज़रूरी नहीं कि हम साम्यवादी सिद्धांत के उद्भव का श्रेय पायथागोरसवादियों को दें जिनके सिद्धांतों में परवर्त्ती पीढ़ी ने प्लेटो के अनेक विचारों के बीज ढूंढ निकाले हैं। पर, पायथागोरस की मंडली के सदस्य आपस में इस आदर्शोक्ति की दुहाई ज़रूर देते थे कि "जो कुछ मित्रों का है सो सबका है" और प्लेटो ने रिपब्लिक में यह आदर्शोक्ति उद्धृत की है। साम्यवादी सिद्धांत निश्चित रूप से तो एथेंस में प्रकट हुए और सो भी ई० पू० पाँचवीं सदी के उत्तरार्ध में। यह सच है कि एथेंस में न तो कोई समाजवादी दल था, न गंभीर समाजवादी प्रचार। इसका कारण कुछ तो यह था कि पेरीक्लीज़ के युग में एथेनी समाज की प्रतिभा निश्चित रूप से व्यक्ति-प्रधान थी और कुछ यह बताया गया है कि "यूनानियों में—और उनमें से भी मुख्यतः एथेनियों में—अनुशासन और संगठन के प्रति गहरी वितृष्णा थी"[4] पर अन्य क्षेत्रों की तरह यहाँ भी आमूल परिवर्त्तनवादी चिंतन साधारण समाज-मत से बहुत आगे था। दासों को संपत्ति के रूप में ग्रहण करने के अधिकार पर आक्षेप किया गया था और इससे भी एक कदम आगे बढ़कर सामान्य संपत्ति के

---

1. एथेंस में केवल दंडनायक एक साथ भोजन किया करते थे। साधारण नागरिक को, विधि-न्यायालयों और सभा में अपनी उपस्थिति के बदले, राज्य से वेतन मिलता था।
2. अरिस्टाटल, **पॉलिटिक्स**, II. 5, §7 (1263, a 35—7)।
3. प्लेटो ने स्वयं आठवें खंड (547—8) में श्रेष्ठितंत्र (timocracy) की चर्चा करते समय इन प्रथाओं की इस तरह से विवेचना किया है मानो वे उसके आदर्श राज्य की व्यवस्था के सबसे निकट हों—इस अर्थ में कि वे उसकी पहली विकृति हैं।
4. जिमर्न, **ग्रीक कॉमनवेल्थ**, पृ० 287—8।

अधिकार की आलोचना भी की जा सकती थी। इस आक्षेप का एक आधार यह हो सकता है कि उन दिनों सभ्य जीवन की रूढ़ियों से मुक्त 'प्रकृति-पुत्रों' के रीति-रिवाज़ों और संस्थाओं को आदर्श रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति ज़ोरों पर थी। हम देखेंगे कि यह प्रवृत्ति स्त्रियों के साझे के विचार का तो आधार थी ही, हो सकता है संपत्ति के साझे के विचार का आधार भी वही हो। इन दोनों विचारों का घनिष्ठ संबंध था: दोनों का मूल-मंत्र था—परिवार का और परिवार के साथ-साथ उसकी संस्थाओं का अंत—यानी एक दिशा में एकपत्नीत्व का और दूसरी में संपत्ति का अंत। इस संबंध का सूत्र अरिस्टोफ़न्स के एकलेसिआज़ुसाए में ढूंढा जा सकता है और संपत्ति के साझे का विचार उसमें निश्चय ही व्यक्त हुआ है। इस ग्रंथ की रचना ई० पू० 390 से कुछ पहले—शायद ई० पू० 393 में—हुई थी। और यह विश्वास सकारण है कि प्लेटो ने रिपब्लिक के पाँचवें खंड में इसकी ओर संकेत किया है[1]। एथेंस में राजनीति पर स्त्रियों का नियंत्रण है और पत्नियों के साझे की प्रथा प्रचलित है—यह कल्पना करके अरिस्टोफ़ेन्स इस योजना के अंग के रूप में संपत्ति के साझे की व्यवस्था प्रस्तावित करता है—

> "प्रत्येक व्यक्ति के पास जो भी चाँदी, ज़मीन तथा और-और चीजें होंगी वे, सबकी होंगी और सब उनका अबाध उपयोग कर सकेंगे"[2]।

इसके आगे, उसने अपने ढँग से अपने युग के आमूल परिवर्त्तनवादी सिद्धांतों पर, विशेषकर 'प्रकृतिवाद' (naturalism) पर व्यंग्य किया है, जो लोगों को बर्बर या पशु तक बना सकता है।

पर, प्लेटो ने संपत्ति के साम्यवाद की जो पैरवी की है, वह प्रकृतिवाद से बहुत दूर की चीज़ है। पत्नियों के साझे का विवेचन करते समय उसने प्रकृतिवादी दृष्टांतों का उपयोग किया है, पर संपत्ति के साझे की पैरवी में उसने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे एकदम नीतिपरक हैं। व्यक्ति पृथक् इकाई है और वह अपने ही परितोष में लगा

---

1. एकलेसिआज़ुसाए का रिपब्लिक से क्या संबंध है—यह एक पेचीदा सवाल है। एक सिद्धांत यह है—और इसे काफी समर्थन भी प्राप्त है—कि अरिस्टोफ़ेन्स ने यह रिपब्लिक के (या कम से कम रिपब्लिक के पहले प्रारूप के) पूरा हो जाने के बाद लिखा था और उसने प्लेटो पर व्यंग्य किया है (रोज़र ने इस नाटक का जो संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें उसकी भूमिका के पृ० 21—28 से तुलना कीजिए)। एक अन्य दृष्टिकोण यह है—और मुझे यही अधिक संभाव्य लगता है—कि एकलेसिआज़ुसाए की रचना रिपब्लिक से पहले थी। रिपब्लिक का रचना-काल 387 ई० पू० के आस-पास है और उसके पाँचवें खंड में प्लेटो ने साम्यवाद के विरुद्ध प्रचलित व्यंग्य का—जिसमें अरिस्टोफ़ेन्स का व्यंग्य भी शामिल है—जवाब देने की कोशिश की है। एडम ने रिपब्लक के अपने संस्करण खंड 1, पृ० 345—55 में इस संपूर्ण प्रश्न का बड़े विस्तार से विवेचन किया है। बहरहाल, अरिस्टोफ़ेन्स का व्यंग्य एक ऐसी चीज़ के बारे में है जिसकी प्लेटो ने कभी पैरवी नहीं की—यानी साम्यवाद की किसी ऐसी योजना की जिसमें सब हिस्सेदार हों और जिसमें सभी चीज़ों में—ज़मीन में भी—सबका साझा हो।
2. एकलेसिआज़ुसाए, 597—8। (रोज़र के अनुवाद पर आधारित)।

रहता है—इस झूठी धारणा का खंडन करने और इसे निर्मूल करने के विचार से ही प्लेटो ने रिपब्लिक का आरंभ किया है, यह हम देख चुके हैं। प्लेटो का लक्ष्य उसके बजाए इस धारणा की प्रतिष्ठा करना है कि व्यक्ति व्यवस्था का एक अंग हो और उस व्यवस्था में अपने स्थान की पूर्ति करके वह परितोष प्राप्त करता है[1]। हमने देखा था कि यह धारणा न्याय के नाम से व्यक्त की गई है और इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य-विशेष सचाई के साथ और अच्छी तरह से करे और कोई व्यक्ति स्वार्थवश या ज़ोर-ज़बर्दस्ती से अपने पड़ोसी के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश न करे। अस्तु, साम्यवाद प्लेटो के लिए इस न्याय-धारणा का अनिवार्य परिणाम है। उसके आदर्श राज्य के तीन वर्गों में से दो वर्ग शासक और सैनिक साम्यवादी शासन में रह कर ही अपना काम बुद्धिमत्ता से कर सकते हैं और उसमें निःस्वार्थ भाव से जुटे रह सकते हैं। राज्य के जीवन में मन के जिन भागों या तत्त्वों की वे अभिव्यक्ति करते हैं, वे हैं विवेक और उत्साह। यदि उन्हें इन तत्त्वों के कार्य-विशेष पूरे करने में जुटना हो तो उस बुभुक्षा-तत्त्व से छुटकारा पाना होगा जिसका प्रतिनिधित्व तीसरे वर्ग के लोग यानी 'किसान' करते हैं, वे नहीं। इसीलिए यह भी जरूरी है कि वे जीवन के आर्थिक पक्ष का भी त्याग करें क्योंकि वह बुभुक्षा की ही बहिरंग अभिव्यक्ति है[2]। इस प्रकार, मन के उच्चतर तत्त्वों की राज्यों में जो उचित स्थिति होती है, उससे साम्यवादी जीवन का अनिवार्य संबंध होता है और यह उसी की सहज परिणति होती है। यहाँ साम्यवादी जीवन का अर्थ उस जीवन से है जो आर्थिक प्रेरणाओं से मुक्त हो। दार्शनिक प्रकृति के शासन की—जहाँ विवेक-तत्त्व की प्रधानता होती है—वह विशेषतः आवश्यक शर्त है। साम्यवाद के बिना विवेक या तो निद्रा में निश्चल-निस्पंद पड़ा रहेगा (और उसकी जगह बुभुक्षा सक्रिय हो उठेगी और अर्जन-उपार्जन में जुट जाएगी) और अगर कहीं वह सक्रिय हुआ, तो बुभुक्षा उसके काम में रुकावट डालेगी, और उसे स्वार्थपूर्ति के कामों में प्रवृत्त करेगी। साम्यवाद विवेक के शासन की आवश्यक शर्त्त ही नहीं है, बल्कि विवेक प्रकट ही साम्यवाद के रूप में होता है। विवेक का अर्थ है निःस्वार्थता। इसका मतलब यह हुआ कि जो व्यक्ति विवेक से अनुप्राणित होगा वह आत्म-परितोष को ही अपना लक्ष्य बनाकर नहीं चल सकता बल्कि अपने आपको वृहत्तर इकाई की कल्याण-साधना में लगा देता है। दार्शनिक शासक विवेक की आँखों से देखता है कि वह राज्य का 'अंग' है और उसे बुभुक्षा तत्त्व का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि राज्य के अंग की हैसियत से उससे जिस चीज की अपेक्षा की जाती है, वह है शुद्ध विवेक।

---

[1] "नागरिक मेले में एकत्रित किसानों की तरह नहीं, बल्कि वे तो किसी समारोह की दावत में हिस्सा लेने वाले लोगों की तरह हैं जहाँ नियंत्रक भी वे ही हों और नियंत्रित भी" (421 B)। यह वाक्यांश जिस संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है, उसमें ब्राउनिंग के **रब्बी बैन एज़रा** के एक श्रेष्ठ अवतरण की याद दिला देता है।

[2] "जिसकी कामनाओं का लक्ष्य ज्ञान ही ज्ञान हो, वह तो आत्मा के आनंद में मग्न रहेगा···क्योंकि उसके चरित्र में उन प्रेरणाओं की कोई जगह न होगी जो दूसरे लोगों में आय और व्यय की इच्छा जगाती हैं" (485 D—E)।

यही है प्लेटो के साम्यवाद का मनोवैज्ञानिक आधार। किंतु प्लेटो ने स्वयं मनोवैज्ञानिक आधार से भी ज्यादा ज़ोर जिस बात पर दिया है, वह है व्यावहारिक और राजनीतिक आधार । संपत्ति के धरातल पर वह साम्यवाद को सिर्फ़ इसलिए ज़रूरी समझता है और यह बात सार्वभौम अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि अगर राजनीतिक और आर्थिक शक्ति एक ही हाथों में केंद्रित हो जाए तो वह राजनीतिक पवित्रता के लिए भी घातक होती है और राजनीतिक कार्यकुशलता के लिए भी । आज के श्रेणी-समाजवादी की सीख है कि लोकतंत्र की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति से आगे ही न रहे, उस पर नियंत्रण भी रखे। प्लेटो की सीख है कि उसकी धारणा के अभिजात-तंत्र की सिद्धि के लिए आर्थिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति से बिल्कुल अलग रखा जाना चाहिए । जब वह आदर्श राज्य की क्रमिक विकृतियों का विवेचन-विश्लेषण करता है, तब उसे इन सबका एक ही स्रोत दिखाई पड़ता है—इन दोनों शक्तियों का संयोग ; और वह यह भी पाता है कि जैसे-जैसे यह संयोग दृढ़तर हुआ है, वैसे ही वैसे विकृति भी बढ़ती गई है। जब कभी इस तरह का संयोग होता है, तब उसके दो परिणाम निकलते हैं—जिस व्यक्ति के हाथों में राजनीतिक शक्ति होती है, वह अपने आर्थिक स्वार्थों की धुन में भूल जाता है कि बुद्धिमत्ता ज़रूरी है और यह भी भूल जाता है कि निःस्वार्थता भी आवश्यक है । वह अपनी राजनीतिक शक्ति आर्थिक लाभ जुटाने में ही लगा देता है । उसकी रिआया उसके अज्ञान से घृणा करने लगती है, उसके स्वार्थ पर रोष से भर उठती है। तब उसके असंतोष की आग भड़क उठती है और वह बढ़ती जाती है—यहाँ तक कि राज्य दो भागों में बँट जाता है और वह एक समाज नहीं रह जाता (417 A—B) । प्लेटो इस व्यावहारिक विचार के बिंदु से ही आगे बढ़ता है और उसका साम्यवाद आदर्शोन्मुख भले ही लगे पर इस दृष्टि से वही उसके आदर्श राज्य का सबसे अधिक व्यावहारिक लक्षण है । पर, वह व्यावहारिक होने के साथ ही साथ दार्शनिक भी है ; और अनुभव पर आधारित होने के साथ ही साथ वह विशिष्ट कार्य के उस सिद्धांत पर भी आधारित है जो रिपब्लिक में आरंभ से अंत तक व्याप्त है। जिन लोगों को शासन-संचालन जैसा असाधारण काम करना है, उन्हें हर तरह असाधारण रूप से लैस भी होना चाहिए ; जिनका काम सबसे अनूठा है, उनके ऊपर लागू होने वाले विनियम भी अनूठे होने चाहिएं। इस दृष्टि से प्लेटो के संरक्षकों के साम्यवाद और मध्ययुगीन साधु-संन्यासियों के साम्यवाद की प्रायः जो तुलना की गई है, वह स्पष्ट ही सार्थक लगती है । संरक्षक और संन्यासी दोनों ही ऊँचे काम का व्रत लिए हुए होते हैं : संरक्षक और सन्यासी दोनों को दुनियादारी के गोरख-धंधों और छलनाओं से मुक्त होना पड़ता है। सच पूछा जाए तो मध्ययुगीन चर्च का यह सिद्धांत कि धार्मिक कृत्य और लौकिक कृत्य अलग-अलग हों यानी हिल्डेब्रैंड का सिद्धांत* मूलतः प्लेटो के इस सिद्धांत से अभिन्न

---

* हिल्डेब्रैंड के सिद्धांत से यहाँ अभिप्राय है पोप ग्रिगोरी सप्तम् (107—385) का सिद्धांत और नीति । उसने लौकिक शासकों की तुलना में चर्च की शक्ति पर विशेष ज़ोर दिया था ।

है कि राजनीतिक और आर्थिक शक्ति अलग-अलग रहनी चाहिए[1]। चूंकि साम्यवाद का संबंध उन तत्त्वों से है जो राज्य के कुछ भागों और वर्गों में विशेष रूप से पाए जाते हैं और चूंकि उसका आधार है आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के संगम के प्रति विरुचि, अतः वह समूचे राज्य में लागू नहीं हो सकता। तीसरे या आर्थिक वर्ग पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। जिस व्यवस्था का अर्थ ही बुभुक्षा को नकारना हो, उसका भला उस वर्ग पर कैसे असर पड़ सकता है जो बुभुक्षा तत्त्व का ही प्रतिनिधि हो। जिस व्यवस्था का उद्देश्य शासक-वर्गों को आर्थिक हितों से वंचित कर देना हो, उस व्यवस्था का उन लोगों पर कोई भी प्रभाव न पड़ेगा जो उन वर्गों के न हों। तीसरे वर्ग के पास व्यक्तिगत संपत्ति बनी रहती है—पर उस पर सरकार की कड़ी निगरानी रहती है। सरकार वाणिज्य और उद्योग का नियमन करती है (विधि-बल से कम; अपने सहज बुद्धि-बल से अधिक)। इस व्यवस्था के अधीन तीसरे वर्ग के हर सदस्य को उसके विशेष काम में लगा दिया जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने ही शिल्प का अभ्यास करे, दूसरे के शिल्प में कोई भी हस्तक्षेप न करने पाए और किसी भी तरह की फूट पैदा न हो। यह व्यवस्था उत्पादकों को बहुत अमीर बनने से भी रोकती है और बेहद गरीब हो जाने से भी क्योंकि अमीरी और गरीबी दोनों ही राज्य को विकृत और नष्ट कर कर देती हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था रिपब्लिक के मूल सिद्धांत के प्रति सच्ची रहती है। पर, यह साम्यवाद की नहीं, राज्य-नियंत्रण की नीति है। यह ऐसी नीति है जो अर्थ-व्यवस्था का व्यक्तिवादी प्रबंध स्वीकार करती है, पर राज्य के कल्याण की बातें ध्यान में रख कर उसका नियमन करती है[2]।

---

1. हिल्डेब्रैंड के सुधार और प्लेटो के सुधार की तुलना रोचक भी होगी और शिक्षाप्रद भी। हिल्डेब्रैंड ने चर्च को जिस रूप में पाया था, उसमें इजेनकर्चे (Eigenkirche) की ट्यूटनी धारणा और प्रथा के कारण पादरी आर्थिक स्वार्थों से इतने बँधे हुए और नियंत्रित रहते थे कि वे अपना काम ठीक से नहीं कर पाते थे। फिर, उसने चर्च को जिस रूप में पाया था, उसमें पादरियों के विवाह की व्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप पादरी आत्माओं के उन्नायक बनने के बजाए परिवारों के संस्थापक बनने की ओर ज्यादा प्रवृत होते थे। इस प्रकार धर्म-विक्रय और पादरियों के विवाह के विरोध में उसने जो संघर्ष किया, उसके उद्देश्य उन उद्देश्यों से मिलते-जुलते ही थे, जिनसे प्रेरित होकर प्लेटो ने यह आंदोलन किया कि राजमर्मज्ञों को आर्थिक स्वार्थों और पारिवारिक चिंताओं में लीन नहीं रहना चाहिए।
2. प्लेटो के राज्य में तीसरे वर्ग की स्थिति के बारे में कुछ कठिनाई है; और अरिस्टाटल ने उसके गठन के बारे में प्रश्न उठाया है। लगता सचमुच यह है कि उत्पादकों का वर्ग लुप्त हो रहा हो: प्लेटो शासक के विवेचन में बहुत अधिक व्यस्त है। ध्यान देने की बात है कि कोई विशेष गुण ऐसा नहीं बताया गया जो केवल तीसरे वर्ग में ही हो। शासक के पास बुद्धिमत्ता होती है, सैनिक के पास साहस, पर उत्पादक में केवल आत्म-नियंत्रण और न्यायशीलता हो सकती है जो कि उक्त दोनों वर्गों के भी गुण हैं। प्लेटो के कुछ सुधारों से तीसरे वर्ग का भी लाभ होगा—जैसे ईश्वर के परंपरागत चित्रण का सुधार और संगीत का उन्नयन। इन दोनों का निचले वर्गों पर असर पड़ेगा जिनके बारे में यह मानना पड़ेगा कि उन्हें देवकथाओं और संगीत का ज्ञान रहा होगा

इसलिए, प्लेटो की समाजवादी पद्धति ऐसी है जिसका समाज के आर्थिक ढाँचे से कोई संबंध नहीं है। उसके अंतर्गत उत्पादन की व्यक्तिवादी पद्धति बनी रहती है और एक भी उत्पादक पर उसका असर नहीं पड़ता। आज के किसी भी समाजवादी को यह समाजवाद अजीब-सा लगेगा, क्योंकि यह समाजवाद ऐसा है जिसमें भाजक तो सीमित हैं ही, भाज्य और भी सीमित है। इस पद्धति में भागीदार अगर कम हैं तो जिस चीज में वे भाग लेते हैं, वह भी थोड़ी ही है। जिन संरक्षकों के ऊपर वह पद्धति लागू होती है वे बाकी राज्य से अलग हैं क्योंकि वे तो दरिद्रता में भागीदार बनते हैं। संपत्ति तो उनके पास है ही नहीं। व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से एक एकड़ ज़मीन भी उनके पास नहीं होती : ज़मीन और उससे पैदा होने वाली चीज़ों पर तीसरे वर्ग के किसानों का अधिकार रहता है। उनके पास घर भी नहीं होते : वे पंचायती बैरकों में 'शिविर जीवन' व्यतीत करते हैं (415 E) और उनके द्वार सदा सभी के लिए खुले रहते हैं। यह स्पार्टा का स्वर है और यही स्वर हम तब फिर सुनते हैं जब प्लेटो अपने संरक्षकों को उसी तरह सोने और चाँदी से वंचित करने के लिए प्रवृत्त होता है जिस तरह स्पार्टा ने अपने नागरिकों को कर दिया था। "दिव्यतर धातुओं से ही तो उनका निर्माण हुआ है" (416 E) और "नागरिकों में अकेले वे न सोने-चाँदी का स्पर्श करें, न प्रयोग" (416 A)। संरक्षकों के पास न ज़मीन होगी, न घर होंगे और न सोना-चाँदी ; उनकी जीविका का तो एक ही साधन होगा—वह वेतन जो कृषक-वर्ग से नियमित निर्धारण के अनुसार उन्हें हर साल जिन्स के रूप में मिला करेगा और जिसमें ज़रूरत की ऐसी सारी चीज़ें आ जाएँगी जो साल भर के लिए काफ़ी हों। संरक्षकों के बीच निजी उपभोग के लिए इन ज़रूरी चीज़ों का बँटवारा नहीं होगा। स्पार्टा की तरह सब मिल-जुलकर इनका उपयोग करेंगे। स्पष्ट है कि प्लेटो का साम्यवाद त्याग और तपस्या का मार्ग है, और इस दृष्टि से भी वह आधुनिक समाजवाद से भिन्न है। आधुनिक समाजवादी शिक्षा की समानता और श्रमिक वर्गों के आध्यात्मिक उद्धार को भले ही कितना परम महत्त्व देता हो, पर उसके विचार का आरंभ भौतिक पदार्थों से ही होता है। वह इन पदार्थों को वांछनीय मानकर चलता है और फिर इस बात की पैरवी करता है कि इन चीज़ों का अधिक न्यायोचित वितरण हो ताकि इनके आधार पर जो सुख मिल सकता है, वह सुख अधिक से अधिक लोगों को मिल सके। उसकी योजना भावात्मक है और अगर प्लेटो की तरह वह न्याय-धारणा की दुहाई देता है, तो उसके निकट न्याय का मतलब नियत काम पूरा करने का कर्त्तव्य नहीं—जैसा कि प्लेटो समझता है—बल्कि उसके निकट न्याय का अभिप्राय है किए हुए काम के लिए उपयुक्त पुरस्कार पाने का अधिकार। प्लेटो की योजना अपेक्षाकृत अभावात्मक है और भौतिक पदार्थों के बारे में उसकी धारणा यह है कि वे विघ्न-बाधाएँ हैं। रिपब्लिक में एक से अधिक बार

और इन दोनों के परिशोधन से उन्हें लाभ पहुँचेगा। पर कहा गया है कि तीसरा वर्ग प्रायः कृषक दासों का वर्ग है और कुछ बातों में वह उन कृषक-दासों के अनुरूप है जिनका अरिस्टाटल अपने आदर्श राज्य में काश्तकारी के लिए उपयोग करना चाहता है। पर, तीसरे वर्ग के प्रति प्लेटो का जो रूख है, नोहले ने इसके औचित्य-प्रतिपादन का प्रयास किया है (उसके स्टाट्सलहरे-प्लाटोन्स के पृ० 138—47 से तुलना कीजिए)।

यह सवाल उठा है कि जो संरक्षक इस व्यवस्था के अधीन रखे जा रहे हैं, उन्हें क्या सुख से वंचित रहने के लिए विवश नहीं किया जा रहा (4192—1 ; 466)[1] ; और हालांकि प्लेटो ने इस सवाल का जवाब 'हां' में देने की कोशिश की है, फिर भी वह यह बात साफ़-साफ़ समझता है कि सुख का सिद्धांत समूचे राज्य के संदर्भ में ही सार्थक होता है ; कि राज्य का सामान्य कल्याण ही ऐसी चीज़ है जिसका महत्त्व है ; और यह कि इस कल्याण की ख़ातिर संरक्षकों को या तो विवश किया जाना चाहिए या प्रेरित ताकि वे अपना काम अच्छे से अच्छे ढँग से कर सकें—भले ही इस ढँग से अपना काम करने के लिए उन्हें उन सब चीज़ों से हाथ ही क्यों न धोना पड़े जिनके लिए अधिकतर लोग सबसे अधिक लालायित रहते हैं (421 B—C)। संक्षेप में, समाज के लिए यह हितकर है कि मन जिन उत्कृष्ट क्षमताओं से युक्त हो, उनका विकास किया जाए और उन क्षमताओं के आलोक में समाज का पथ-प्रदर्शन तथा संचालन हो ; और अगर इस समाज-हित के लिए कुछ लोगों को अपना कोई सुख त्यागना पड़ जाए (जिस अर्थ में दुनिया उसे ग्रहण करती है उस अर्थ में सुख) तो उन्हें यह त्याग सह लेना चाहिए।

प्लेटो का साम्यवाद त्याग-प्रधान है ; और इसीलिए वह आभिजात्य भी है। वह समर्पण का मार्ग है और यह समर्पण ऐसा है जिसका आरोप सर्वश्रेष्ठ लोगों पर होता है—केवल सर्वश्रेष्ठ लोगों पर। वह सारे समाज के हित के लिए होता है, पर सारे समाज पर लागू नहीं होता। वह केवल शासक-वर्गों के लिए है। इस अर्थ में, प्लेटो ने जिस साम्यवाद का प्रचार किया है, वह राजनीतिक है, आर्थिक नहीं। इसका उद्देश्य यह कहा जा सकता है कि जो शासक अनाड़ी हों, जिन्हें वेतन नहीं मिलता हो और जो भ्रष्टाचार के बल पर अपना काम चलाते हों, उनकी जगह ऐसे शासकों की प्रतिष्ठा की जाए जो प्रशिक्षित हों, कार्यकुशल हों और जिन्हें नियमित कर-व्यवस्था का बल प्राप्त हो। कोई चाहे तो यह भी कहा जा सकता है कि यहां राजनीतिक काम के लिए पेरीक्लीज़ जैसी वेतन-व्यवस्था[2] है और इस व्यवस्था का दुरुपयोग न हो—इसके लिए उसमें स्पार्टा की सामुदायिक खान-पान-व्यवस्था शामिल कर दी गई है और साथ ही इसमें उस व्यावसायिक प्रशिक्षण के सामंजस्य का भी प्रयत्न किया गया है जिसे

---

1. न्यायी आदमी अधिक सुखी होता है, रिपब्लिक का यह मूल सिद्धांत प्लेटो पूरी तरह कभी सिद्ध नहीं कर सका। आरंभ से लेकर अंत तक यह बस माना ही माना गया है और रिपब्लिक के अंत में अत्याचारी का जो विकट वर्णन है, अन्याय का जिस रूप में उल्लेख है, वह इस स्वीकृति की ही परिणति है। पर उसका निदर्शन कहीं नहीं किया गया (आगे अध्याय 11 (छ) से तुलना कीजिए) और यदि उसका निदर्शन किया भी गया है, तो प्लेटो ने व्यक्ति में न्याय के प्रतिनिधित्व द्वारा उस फल की सिद्धि की है। यह प्रतिनिधित्व आत्मा के भागों के संबंध के रूप में हुआ है जो सामंजस्य में प्रकट होता है और उस सामंजस्य के फलस्वरूप स्वास्थ्य और सुख प्रकट होते हैं। पर इस शब्द में जो सामाजिक गुण निहित है, उससे इसको कोई संगति नहीं बैठती।
2. टिमाएस में रिपब्लिक की बात दुहराते हुए प्लेटो ने स्वयं कहा है, "संरक्षक भाड़े के उन सिपाहियों जैसे होंगे जो रखवाली करने के लिए वेतन पाते हैं" (18 B) ; रिपब्लिक, 464 C से भी तुलना कीजिए।

पेरीक्लीज़-युगीन एथेंस अस्वीकार कर देता। इसलिए जहाँ प्लेटो राजनीतिक लक्ष्य की सिद्धि का प्रयास करता है जो कुछ-कुछ आर्थिक कार्यक्रम के रूप में अभिव्यक्ति पाता है; वहाँ आधुनिक समाजवादियों को[1] मूलतः आर्थिक कार्यक्रम की चिंता रहती है और उनके राजनीतिक लक्ष्यों का आधार भी वही होता है। उनका पहला और आर्थिक उद्देश्य है—उत्पादन के साधनों का समाजीकरण; उनका दूसरा और राजनीतिक लक्ष्य है—इस समाजीकृत संपत्ति का लोकतंत्रात्मक रीति से संगठित राज्य द्वारा नियंत्रण। उनके अनुसार वर्त्तमान वितरण-योजना में—जिसका आधार व्यक्तिगत पूँजी है—असमता और अन्याय विद्यमान है। वे पूँजी का राष्ट्रीयकरण करके और वितरण का नियंत्रण व्यक्तिगत पूंजीपति के बजाए राज्य को सौंप कर इस असमता और अन्याय को मिटाना चाहते हैं। वे इस बात को जानते-समझते हैं कि जिस राज्य को यह अधिकार सौंपा जाए वह राज्य अगर लोकतंत्रात्मक नहीं होगा, तो समाज़ीकरण और राष्ट्रीयकरण खोखले शब्द ही रहेंगे। इसलिए, उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का स्वामित्व होना चाहिए; इस स्वामित्व के ज़रिए वितरण की प्रणालियों पर समूचे समाज का नियंत्रण रहना चाहिए और यह बात बस लोकतंत्रात्मक राज्य में ही संभव हो सकती है। वहाँ जो मज़दूर पूंजी से नियंत्रित होंगे, वे ही पूँजी का नियंत्रण भी करेंगे और वहाँ रूसो का यह सिद्धांत एक नए ही अर्थ में चरितार्थ होगा कि "जब कोई अपने आपको सबके प्रति समर्पित करता है, तब वस्तुतः वह किसी के प्रति भी अपने आपको समर्पित नहीं करता"। प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक समाजवादी से इन सब बातों में भिन्न है। रिपब्लिक में उत्पादन के सारे साधनों के समाजीकरण का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। प्लेटो का ध्यान सिर्फ़ उपज की ओर है और उसके भी एक अंश का ही वह समाजीकरण करेगा—उस अंश का जो तीसरे वर्ग के सदस्य साल भर के लिए संरक्षकों को दिया करेंगे। और अगर हम पूंजीपतियों की चर्चा कर सकते हैं, तो उसके राज्य के ये ही पूंजीपति होंगे। इसका कारण यह है कि उसकी साम्यवाद की योजना गौण है और समाजवादी की योजना की तरह वह उसकी शासन-योजना से पहले नहीं आती, बाद में आती है और उसकी शासन-योजना लोकतंत्र की नहीं, बल्कि बौद्धिक अभिजात-तंत्र की योजना है। इस अभिजात-तंत्र का उस स्थिति के साथ मेल बैठ सकता है जिसमें

---

[1] आधुनिक समाजवाद बहुरूपिया है। यहाँ तुलना करते वक्त मेरे मन में समाजवाद का वह रूप है जिसे समष्टिवाद कहते हैं। मैंने आधुनिक साम्यवाद पर विचार नहीं किया है और न उसकी प्लेटो के साम्यवाद से तुलना करने की कोशिश की है क्योंकि मुझे समष्टिवाद एक निश्चित आदर्श लगता है (साम्यवाद नहीं) और उसकी प्लेटो के आदर्श से निश्चित रूप से तुलना की जा सकती है। साम्यवाद के आधुनिक रूप में साझे की ऐसी चीज़ों की कल्पना पहले से ही रहती है जिन्हें हर कोई ले सकता है—समष्टिवादियों के मतानुसार अपनी सेवाओं के अनुरूप नहीं, बल्कि अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप। इसका अर्थ है व्यक्तिगत संपत्ति का अंत। समष्टिवाद का अर्थ है व्यक्तिगत पूंजी का (या शक्तिमूलक संपत्ति का) अंत; पर वह ('उपयोज्य संपत्ति' के रूप में) व्यक्तिगत संपत्ति के लिए काफ़ी गुंजाइश छोड़ देता है। बस, एक शर्त्त है कि उसका समाज-सेवा के आधार पर मुनासिब ढँग से वितरण हो।

श्रमिक-वर्गों के पास व्यक्तिगत संपत्ति बनी रहे, पर शर्त्त यह है कि उनकी पूँजी की कुछ उपज उसके (अभिजात वर्ग) भरण-पोषण के लिए अलग रख दी जाए। उसके अपने सदस्यों के बीच किसी भी रूप में व्यक्तिगत संपत्ति का अस्तित्व रहे—यह बात वह अपनी कार्यकुशलता में ह्रास के डर से सहन नहीं कर सकता।

परंतु इस तरह से हम रिपब्लिक के और आधुनिक समाजवाद के उद्देश्यों में चाहे कितना भेद क्यों न कर लें, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि उनमें भेद है, तो उतना ही अभेद भी है। यह अभेद समझने के लिए हमें प्लेटो के साम्यवाद के एक अन्य पक्ष की ओर ध्यान देना होगा। उसका उद्देश्य कर्म के विशेषीकरण का प्रशस्त राजमार्ग तैयार कर देना भर नहीं है ; राज्य की एकता की रक्षा करना भी है। यह सच है कि इनमें से पहले उद्देश्य को प्राप्त कर लेने का मतलब काफ़ी हद तक दूसरे उद्देश्य को प्राप्त कर लेना भी है। अगर उच्च वर्ग को अपना विशेष कार्य करने के लिए औरों से अलग कर दिया जाए और उस मार्ग में जो-जो विघ्न-बाधाएँ हो सकती हैं उन सबसे उन्हें मुक्त कर दिया जाए, तो पद और शक्ति पाने के लिए वह छीना-झपटी न होगी जिससे राजनीतिक एकता नष्ट हो जाती है और जिससे राज्य राजद्रोह तथा गृहयुद्ध की बाढ़ में डूब जाया करते हैं। पर प्लेटो का तो विश्वास है कि उसकी साम्यवाद की योजना का राजनीतिक एकता की सिद्धि पर सीधा और निश्चित प्रभाव पड़ेगा। उस योजना के अंतर्गत संरक्षक हर तरह के स्वार्थों और स्वार्थ-प्रवृत्तियों से मुक्त हो चुके होंगे और वे एकाग्र भाव से सर्वसाधारण के कल्याण में दत्तचित्त हो जाएँगे (464 C—D)। जिन पर उनका शासन होगा, वे उनसे स्वभावतः स्नेह करेंगे क्योंकि वे स्वामी नहीं होंगे, उद्धारकर्त्ता और सहायक होंगे, और वे स्वयं भी स्वभावतः शासितों से स्नेह करेंगे क्योंकि अपने भरण-पोषण के लिए वे उन्हीं के ऋणी होंगे, और क्योंकि वे शासित दास तो होंगे नहीं जिनसे घृणा की जाए, पालनकर्त्ता और धर्मपिता होंगे जिनके प्रति अनुराग हो (463A—B)। इस तरह, शासक और शासित पारस्परिक सद्भाव के जिस सूत्र से बँधे होंगे उसका आधार कर्म का भेद भी नहीं होगा बल्कि पारस्परिक आवश्यकता, पारस्परिक कृतज्ञता भी होगी। आधुनिक समाजवादी के साधन भले ही भिन्न हों, पर उसके साध्य का स्वरूप मूलतः यही होता है। उसका भी लक्ष्य होता है—एकता और संघटन ; उसे भी जिस शत्रु का नाश करना होता है, वह है स्वार्थप्रेरित प्रतियोगिता। राजनीतिक शक्ति के लिए दो स्वार्थपूर्ण पक्षों के निर्बाध संघर्ष को दूर करने का जैसे प्लेटो ने प्रयत्न किया था ; ठीक वैसे ही वह भी आर्थिक शक्ति के लिए व्यक्ति-व्यक्ति की निर्बाध प्रतियोगिता का अंत करना चाहेगा। जैसे प्लेटो ने अति मानव (superman) के सिद्धांत के उन्मूलन का प्रयत्न किया था, बिल्कुल वैसे ही वह अर्थ-मानव के सिद्धांत का अंत करना चाहेगा। प्लेटो की तरह वह भी न्याय के आदर्श की सिद्धि चाहता है और उसके न्याय का पहले-पहल यह अर्थ भले ही मालूम पड़े कि भौतिक पदार्थों में ज्यादा हिस्सा मिले, पर अंत में उसके निकट भी न्याय का अर्थ वही है जो प्लेटो के निकट था यानी यह कि एक ऐसी समाज-व्यवस्था हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समग्र समाज के निर्वाह के लिए अपना नियत काम करे और सब पारस्परिक आवश्यकता तथा सद्भाव के सूत्र द्वारा एक-दूसरे से बँधे हों। इस प्रकार, आधुनिक समाजवादी एक ऐसी सामाजिक इकाई की धारणा को व्यावहारिक

रूप देना चाहता है जिसके सभी एक से सदस्य हों और जिसके हित की सिद्धि में सब अपने-अपने हित की भी सिद्धि कर लें—और यहाँ हम उसे उसी भूमि पर पाते हैं जिस पर प्लेटो के पाँवों के चिह्न हैं। संक्षेप में, दोनों का आदर्श एक है—एक ऐसे समाज का आदर्श जो सामान्य समाज-सेवा के आधार पर संगठित हो ; कुल, शील या धन-संपदा के भेद-भाव के आधार पर नहीं।

फिर भी, प्लेटो के साम्यवाद का जो रूप है, उस रूप में उसे अर्द्ध-साम्यवाद ही कहा गया है[1]। वह सारी सामाजिक इकाई की संस्था नहीं है। जिस समाज में उसकी स्थापना हो, उसके आधे से कम लोगों पर और आधे से कहीं कम पदार्थों पर उसका असर पड़ता है। दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं—एक व्यावहारिक, दूसरी सैद्धांतिक। पहली कठिनाई तो यह है कि साम्यवाद की जो व्यवस्था समाज के एक भाग पर लागू होती है, उसका व्यवहार में व्यक्तिगत संपत्ति की उस व्यवस्था के साथ कैसे समन्वय किया जा सकता है जो समाज के बाकी हिस्सों पर लागू होती है ? प्लेटो पहले तो राज्य के भीतर दो राज्यों की व्यवस्था की निंदा करता है ; पर फिर जिस चीज़ की निंदा करता है उसी की ओर लौटता मालूम पड़ता है[2]। इसी तरह पहले वह राजद्रोह का प्रतिवाद करता है पर बाद में ऐसे राज्य का निर्माण करता है जिसका ढाँचा विच्छेद-विभाजन के लिए मानो खुला निमंत्रण है। यदि व्यक्तिगत संपत्ति फूट का कारण है तो तीसरे वर्ग के सदस्यों में भी उसे क्यों रहने दिया जाए ? उसके कारण इस वर्ग में फूट की प्रवृत्ति पनपे-बढ़ेगी और चूँकि संरक्षक भौतिक साधनों से वंचित होंगे, अतः हो सकता है वे उस वर्ग के लड़ाई-झगड़े रोकने में असमर्थ रहें जिसके पास संपत्ति का बल होगा। यह बात भी आसानी से समझ में नहीं आती कि अध्यात्म-पथ के जो पथिक संपत्ति से और उसके स्वामित्व से जनित प्रेरणाओं से भी वंचित होंगे ; वे साधारण लोगों के कर्मों और प्रेरणाओं को कैसे समझेंगे और कैसे उन्हें वश में रखेंगे ? इससे प्लेटो की योजना की सैद्धांतिक कठिनाई उभर कर हमारे सामने आ जाती है। क्या अर्द्ध-साम्यवाद की पद्धति उसकी अपनी मूल स्थापनाओं का तर्कसंगत निष्कर्ष है और क्या राज्य के सभी वर्गों पर लागू होने वाली सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था उन मूल स्थापनाओं के अधिक अनुरूप न होती ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर भी निर्भर है कि उसकी मूल स्थापनाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह मान लेता है कि चूँकि मानव मन में तीन तत्त्व होते हैं, अतः इन्हीं तीन तत्त्वों के अनुरूप राज्य में तीन वर्ग पाए जाते हैं, और इसके आगे वह यह भी मान लेता है कि चूँकि मन के प्रत्येक तत्त्व को अपने नियत काम तक ही सीमित रहना चाहिए, अतः राज्य के तीनों वर्ग भी मन के जिस-जिस तत्त्व के अनुरूप हों, उसी तत्त्व के कार्य-कलाप की सीमा को वे अपनी सीमा समझ लें। इस तरह, वह शासक तथा योद्धा-वर्गों के लिए

---

[1] नाटोर्प, स्टाट उंट डी इडी डेयर जोसिपाल पाडोगोगिक।

[2] अरिस्टाटल की एक आलोचना यह है (पॉलिटिक्स, II. 5, § 20, 1264, a 24—6)। अरिस्टाटल ने प्लेटो की संपत्ति के साझे की व्यवस्था पर जो छींटाकशी की है, उसकी मुख्य-मुख्य बातें पॉलिटिक्स के इस खंड में स्पष्ट रूप से आ गई हैं।

तो साम्यवादी पद्धति की व्यवस्था करता है और उत्पादक-वर्ग के लिए व्यक्तिगत संपत्ति की पद्धति की। उसका आधार यह है कि शासक और योद्धा-वर्ग विवेक और उत्साह के जिन तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनके क्रियान्वय के लिए तो ज़रूरत है साम्यवाद की और उत्पादक-वर्ग जिस बुभुक्षा तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है, उसके लिए ज़रूरत है व्यक्तिगत संपत्ति की। यदि हम ये मूल सिद्धांत स्वीकार करें, और इस प्रकार यदि हम त्रिवर्ग-व्यवस्था की धारणा लेकर चलें, जिसमें प्रत्येक वर्ग मन के एक भिन्न तत्त्व की अभिव्यक्ति करता हो, तो हम अर्द्ध-साम्यवाद की उसी व्यवस्था पर जा पहुँचेंगे जिस पर प्लेटो पहुँचा था। हम सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तभी पा सकेंगे जब हम भिन्न स्थापनाओं से आरंभ करें। हम कह सकते है कि अगर व्यक्तियों के रूप में हम सबके मन में तीन तत्त्व होते हैं, तो समाज के अंगभूत सदस्य होने के नाते भी हम सबमें तीन तत्त्व होते हैं—यद्यपि यह संभव है कि किसी में एक तत्त्व की प्रबलता हो, किसी में दूसरे की और हम यह भी कह सकते हैं कि अगर हम सबमें तीन तत्त्व हैं, तो हमें छूट होनी चाहिए कि हम उन तीनों से काम लें और इसके लिए जो परिस्थितियाँ आवश्यक हों वे हमें मिलें। इसका परिणाम एक ओर तो यह होगा कि संरक्षकों में बुभुक्षा सक्रिय हो, और उसके फलस्वरूप संरक्षक आर्थिक गतिविधि में भाग लें और उस विशिष्ट साम्यवाद का त्याग कर दें जो उन्हें इस गतिविधि से रोकता है; और दूसरी ओर यह होगा कि उत्पादक-वर्ग में विवेक सक्रिय हो और उसके फलस्वरूप उसका भी सविवेक विकास हो और अगर इस विकास के लिए साम्यवाद ज़रूरी शर्त्त हो, तो वह सामान्य साम्यवाद में भागीदार बने। अगर हम इस ढँग से तर्क करें, अगर हम मान लें कि विवेक सबमें पाया जाता है और सभी में वह सक्रिय होना चाहिए; और अगर हम यह भी मान लें कि सबमें विवेक के सक्रिय होने के लिए साम्यवाद ज़रूरी है—क्योंकि यह शिक्षा की उस समानता के लिए ज़रूरी है जिसके बिना सबमें विवेक सक्रिय नहीं हो सकता—तब हम अपनी मूल स्थापनाओं से उस पूर्ण साम्यवाद का निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो प्लेटो अपनी मूल स्थापनाओं से नहीं निकाल सका। पर हम, तर्क-शृंखला की मूल स्थापनाओं को बदल कर ही यह परिणाम निकाल पाए हैं। हमने प्लेटो की व्याख्या नहीं की, उसका पुनरालेखन किया है।

अतः इस बात की व्याख्या की कोई ज़रूरत नहीं है कि प्लेटो सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तक क्यों नहीं पहुँचा[1]। कहा गया है कि उसकी असफलता का कारण

---

[1] नाटोर्प की पू॰ कृ॰ से तुलना कीजिए। नाटोर्प ने लॉज़ के एक अवतरण (739) की यह व्याख्या की है कि उसमें सब चीज़ों में सबके सामान्य साम्यवाद के प्रति संकेत किया गया है जिसके अतर्गत भूमि सबके साझे में रहती है। मैं इस व्याख्या से सहमत नहीं हूँ। उसके अनुसार इस अवतरण से यह भी सिद्ध होता है कि प्लेटो अंततः सामान्य साम्यवाद को पूर्ण आदर्श मानता था—इस बात से तो मैं और भी कम सहमत हूँ। मुझे लगता है इस अवतरण का संकेत रिपब्लिक की योजना की तरफ है। भाषा शिथिल हो सकती है; पर यह संभव नहीं कि प्लेटो अपनी परवर्त्ती रचना के एक अवतरण में चलते ढँग से ऐसी व्यवस्था की चर्चा करता जो रिपब्लिक की व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी और सो भी एक उच्चतर आदर्श के रूप में (आगे अध्याय 14 (ख) से तुलना कीजिए)।

यह था कि वह व्यावहारिक बातों को लेकर उन्हीं में खो गया है। तर्क दिया गया है कि जो योजना यूनानी नगर-राज्य के अभिजात वर्ग को साम्यवाद की व्यवस्था के अंतर्गत ले आती है, और जिस योजना में इस प्रकार सुरक्षा प्राप्त होने के वाद तथा दर्शन के आधार पर प्रशिक्षण मिल जाने के पश्चात् इस वर्ग पर राजनीति का उसकी अधोगति से उद्धार करने की ज़िम्मेदारी डाल दी जाती, उससे तुरंत ही व्यावहारिक लाभ होने की प्लेटो को आशा थी। उसकी आशा के केंद्र थे—धनी-मानी तरुण शासक। जिस तरह लूथर ने मूलतः ईसाई धर्म के सबंध में जर्मन राष्ट्र के अभिजात वर्ग की व्याख्या का सहारा लिया था, उसी तरह उसने 'यूनानियों के दार्शनिक आभिजात्य' से अपील की। कुलीन जन आर्थिक चिंताओं से पहले से ही मुक्त थे ; प्रश्न था : साम्यवादी व्यवस्था के द्वारा—जिनमें वे भी शामिल रहें—इस मुक्ति का और कैसे विस्तार किया जाए ? साक्रेटीज़ उन्हें ज्ञान-साधना की ओर पहले ही आकृष्ट कर चुका था ; प्रश्न था—क्यों न उन्हें गणित और तर्कशास्त्र के पूर्ण अध्ययन में प्रवृत्त किया जाए ? यह बात काफ़ी हद तक सच है कि आदर्शवादी शब्द का जो शिथिल और गलत अर्थ है, उसके हिसाब से देखें तो प्लेटो कोरा आदर्शवादी न था। किसी सीमा तक यह भी काफ़ी हद तक सच है कि उसने रिपब्लिक में जिस-जिस बात का प्रतिपादन किया है, उन सब के पीछे मंशा यह थी कि उन्हें तुरंत अमल में लाया जाए—जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक व्यावहारिक ढंग से अमल में लाया जाए। पर प्लेटो सामान्य साम्यवाद की व्यवस्था तक क्यों नहीं बढ़ा—इसकी व्याख्या करने के लिए इन सब बातों का सहारा लेने की जरूरत नहीं है। सीधी-सच्ची बात यह है कि इस तरह की व्यवस्था न तो उसके सामान्य सिद्धांतों के अनुरूप ही है और न वह उन सिद्धांतों का निष्कर्ष हो सकती है। यह ठीक है कि प्लेटो ने एकता पर ज़ोर दिया है और उसकी वेदी पर स्त्री-पुरुष के भेद को भी निछावर कर दिया है, पर भेद और विशेषीकरण पर भी उसका कोई कम ज़ोर नहीं रहा और उन्हीं के लिए, उसने वर्ग भेद बना रहने दिया है, बल्कि उसे और भी गहरा कर दिया है। सविवेक ज्ञान अनूठा होता है—उसे दृढ़ विश्वास है ; जो लोग इस ज्ञान के योग्य होते हैं उनमें और शेष मानव-जाति में भेद होता है—यह भी उसका दृढ़ विश्वास है। चूंकि वह साम्यवाद को उनके पूर्ण उत्कर्ष के लिए आवश्यक समझता है, अतः वह साम्यवाद उन्हीं के ऊपर और सिर्फ़ उन्हीं के ऊपर लागू करता है।

(ख) पत्नियों का साझा

प्लेटो की योजना में संपत्ति का ही साझा शामिल नहीं है, उसमें पत्नियों के साझ की भी कल्पना की गई है। प्लेटो ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा था, ये दोनों ही उसके तर्कसंगत परिणाम थे। वह चाहता था कि उसके आदर्श राज्य के शासकों को किसी तरह की परेशानी न हो—न तो अपने काम में उनका ध्यान बँटे, न स्वार्थ का कोई प्रलोभन उनमें हो। उसने उन्हें संपत्ति से वंचित कर दिया था क्योंकि उसकी चिंता काम से उनका ध्यान बँटाती और उसकी कामना प्रलोभन को जन्म देती। पर संपत्ति के उन्मूलन से उसका लक्ष्य आधा ही पूरा हुआ था। परिवार होगा तो उसके भरण-पोषण के लिए संपत्ति की भी ज़रूरत होगी—वह मनुष्य को अपने जीवन के सच्चे काम से विरत करता है[1]। वह मनुष्य में प्रलोभन जगाता है कि आदमी अपने स्वार्थ की सिद्धि में प्राणपण से जुटे और जब यह स्वार्थपरता अपने बच्चों के भविष्य के प्रति पिता की चिंता के रूप में सामने आती है, तब तो वह कुछ उदात्त-सी चीज़ लगने लगती है। इसलिए संरक्षकों के पारिवारिक जीवन का अंत उनके व्यक्तिगत संपत्ति के त्याग का ही परिणाम है, अनिवार्य परिणाम[2]।

रिपब्लिक में संपत्ति के साझे के देखे पत्नियों के साझे का अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। संपत्ति के साझे का विवेचन थोड़ी-सी जगह में ही कर दिया गया है। प्लेटो यह नहीं मानता कि चीज़-बस्त के साझे में कोई विरोधाभास है। और उसके विरुद्ध जो आक्षेप-आलोचनाएँ की जा सकती हैं, उनसे उनकी रक्षा करने की भी उसे कोई चिंता नहीं होती। पर उसे लगता है कि परिवार के बारे में जो-कुछ

---

1. ज़ोला के इस कथन से तुलना कीजिए: "व्यक्ति अपने काम में अपनापन खो देता है"।
2. प्लेटो मानता है कि संपत्ति और परिवार का अन्योन्य संबंध है। आधुनिक काल के कट्टर से कट्टर समाजवादी भी यह मानते हैं कि जिस समाजवाद से संपत्ति-व्यवस्था में क्रांति आती है; उसमें परिवार का सुधार-संस्कार भी निहित है।

वह कह रहा है, उसमें विरोधाभास है, बल्कि—जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे—दुहरा विरोधाभास है और वह बड़े उत्साह के साथ वैसे आपत्ति-आक्षेपों से इस विरोधाभास की रक्षा करता है जैसे कि कुछ साल पहले इसी तरह के विचारों के विरुद्ध **एकलेसिआज़ुसाए** में अरिस्टोफ़ेन्स ने प्रस्तुत किए थे। प्लेटो की योजना के अंतर्गत स्त्रियाँ पुरुषों की शिक्षा और काम-धंधों में भाग लेने लगती हैं जिसके फलस्वरूप परिवार का अंत हो जाता है और उसकी जगह ले लेती है अस्थायी और राज्य नियंत्रित विवाह-व्यवस्था। यह योजना न तो अश्रुतपूर्व थी, न अभूतपूर्व। भले ही अरिस्टाटल ने यह कहा हो कि "स्त्रियों के साझे जैसे नई बातों की किसी और ने उद्भावना नहीं की"[1], पर इस तरह के विचारों की झलक प्लेटो से पहले भी हमें मिल सकती है। इन विचारों के अंकुर का प्रकृत आधार प्रकृति-पुत्रों के आचार-व्यवहार में मिलता है। हेरोडोटस ने लिखा है कि "किस तरह एगाथीसियावासियों में स्त्रियाँ साझे में हुआ करती हैं; साझीदार भाई-भाई हो सकते हैं और आपस में बंधु-बांधव होने के नाते उनमें एक दूसरे के प्रति किसी तरह का द्वेष या घृणा नहीं होती"। उसने यह भी लिखा है कि "साउरोमेशिया की महिलाएँ घोड़े पर सवार होकर पुरुषों के साथ शिकार खेलने जाया करती हैं......लड़ने जाती हैं और पुरुषों जैसा ही लिवास पहनती हैं"[2]। स्पार्टा में कुछ हद तक स्त्रियाँ भी पुरुषों वाला प्रशिक्षण पाती थीं; पारिवारिक जीवन कोई खास नहीं था और पति अपनी पत्नियाँ उधार दे सकते थे ताकि वे राज्य की सेवा के लिए बच्चे जन सकें। एथेंस में स्त्रियों की स्थिति इससे बहुत भिन्न थी। वहाँ ई० पू० पांचवीं सदी में ही ऐसे अनेक लोग हुए थे जो स्त्री-पुरुषों के संबंधों में परिवर्त्तन चाहते थे। यूरिपिडीज़ ने **मीडिया** में 'स्त्रियों की दासता' की आलोचना की थी और **प्रोटेसिलाउस** के एक अवतरण से तो लगता है मानो वह स्त्रियों के साझे का समर्थक था[3]। **एकलेसियाज़ुसाए** से पता चलता है कि इस तरह की योजना का इतना प्रचार ज़रूर रहा होगा कि **अरस्टोफ़ेन्स**—जो एथेंस के उन्नत क्षेत्रों के आमूल परिवर्त्तनवादी विचारों का भेद पाने और उन पर टीका-टिप्पणी करने में हमेशा सबसे आगे रहता था—उसे अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाता। अंत में, अगर हम ज़ेनोफॉन के विवरण को सच मानें, तो साक्रेटीज़ का भी मत था कि स्त्रियों और पुरुषों की सहज-स्वभाविक प्रतिभा में किसी तरह का गुण-भेद नहीं होता—हालाँकि बुद्धि और बल में ज़रूर स्त्रियाँ नीचे होती हैं[4]; और अपने परवर्त्ती प्लेटो की तरह (और सच कहा जाए तो सामान्यत: यूनानियों की तरह) वह विवाह को दो जीवन-धाराओं का संगम नहीं मानता था बल्कि बच्चे पैदा करने और अच्छी संतति तैयार करने का साधन मानता था[5]।

---

1. **पॉलिटिक्स**, II. 7, § 1 (1266 a, 34)।
2. हेरोडोटस, IV. 104, 116; IV. 180 से भी तुलना कीजिए जिसका अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स**, II. 3, § 9 (1262, a 19) में निर्देश दिया है।
3. **मीडिया**, 230 और क्रमश:; **फ्रेगमेंट** 655।
4. Xen. *Sympos*. 2, § 9.
5. वहीं, **मेमोरेबिलिया**, II. 2; § 4.

यह बात हमें याद रखनी होगी कि स्त्री-पुरुष के संबंधों के बारे में सामान्य यूनानी विचार अनेक दृष्टियों से आधुनिक विचारों से भिन्न था। यूनानी गलियों और सभा-स्थलों का सार्वजनिक-जीवन पुरुष-प्रधान जीवन था। बाज़ार, सभा और व्यायाम-शालाओं में पुरुष ही आपस में मिला करते थे: "यूनानी नगर अधिकतर पुरुषों की मजलिसें हुआ करते थे"। स्त्रियाँ घरों के भीतर जनानख़ाने में रहती थीं, घर-गृहस्थी के काम करती थीं और बच्चे जनती थीं। उनका जल्दी ही—प्राय: पंद्रह साल की उम्र में—विवाह हो जाया करता था और विवाह के बाद वे एक घर के जनानख़ाने के एकांत से निकल कर दूसरे घर के जनानख़ाने के एकांत में जा पहुँचती थीं। पतियों के अतिरिक्त वे बिरले ही किसी पुरुष को देख पाती थीं: जीवन के और पक्षों की तरह सामाजिक समारोहों में भी पुरुषों का ही बोलबाला रहता था। विवाह राज्य की सेवा के लिए वैध संतान उत्पन्न करने का साधन माना जाता था और पत्नी उसका माध्यम। इस प्रकार, हमारे लिए पारिवारिक जीवन का जो मूल्य-महत्त्व है यूनानी के लिए उससे कहीं कम था[1]। वह राजनीतिक प्राणी के रूप में खुले में रहता था और स्त्रियों को कुछ-कुछ पूर्वी देशों की तरह परदे में रहने के लिए विवश किया जाता था और उन्हें ऐसी सीख दी जाती थी कि वे सोचें कि उन्हें कहीं कोई देख न ले या उनकी आवाज़ न सुन ले। इसका एक ही अपवाद था—स्पार्टा। इन धारणाओं में से कुछ को तो प्लेटो ग्रहण कर लेता है और कुछ के विरुद्ध जूझता है। वह यह परंपरागत धारणा स्वीकार कर लेता है कि विवाह बच्चे पैदा करने के लिए स्त्री-पुरुष का संयोग है; पर वह यह नहीं मानता कि विवाह किसी तरह का धर्म-संस्कार है या स्त्री-पुरुष का आध्यात्मिक समागम है—या यह कि विवाह से परिवार के किसी पवित्र अंतरंग समाज का जन्म होता है। दूसरी ओर वह स्त्रियों को अलग परदे में रखने की सामान्य यूनानी प्रथा का विरोध करता है और चाहता है कि वे भी राज्य के मुक्त जीवन में उतरें और उसके सारे अधिकारों और कर्त्तव्यों में पूरा भाग लें।

बाद वाले दृष्टिकोण से आरंभ करने पर हम कह सकते हैं कि जिस घर-गृहस्थी में स्त्रियाँ परदे में रहती हों, संपत्ति का संचय किया जाता हो, जीवन संकीर्ण हो, वह प्लेटो को फूटी आँखों नहीं सुहाता था। वह उसे राज्य की एकता और उसके सारे सदस्यों के सहज विकास में बाधक समझता था। हम ऊपर कह आए हैं कि एथेंस की प्रथा के विपरीत प्लेटो ने शिक्षा को परिवार के नियंत्रण से हटा कर राज्य के हाथों में देने का प्रयत्न किया था। अब हमें यह देखना है कि राज्य की एकता को पूर्णता

---

[1] इसका मतलब यह नहीं कि यूनान में परिवार की भावना थी ही नहीं। यूनानियों की पारिवारिक भावना में गहराई भले ही न हो, उसमें ऐकांतिकता ज़रूर थी और प्लेटो ने इसी ऐकांतिकता पर प्रहार किया है। वह परिवार को इतना कमज़ोर नहीं मानता कि उससे कोई मतलब ही न सध सके पर साथ ही वह उसे इतना सबल अवश्य मानता है कि राज्य के साथ उसे एकान्वित नहीं किया जा सकता और उसके गोरख-धंधे इतने अधिक होते हैं कि उसके सदस्यों का अबाध विकास नहीं हो पाता। बर्नेट, अरिस्टाटल ऑन एजुकेशन, 106, नोट 2, 132—3 से तुलना कीजिए।

प्रदान करने के लिए संरक्षकों के संदर्भ में उसने कैसे राज्य को ही एक-मात्र परिवार बना दिया है ; और राज्य को सबल बनाने के लिए अपने उत्कृष्ट स्त्री-पुरुषों को—विशेषकर स्त्रियों को —'नोन, तेल, लकड़ी' की चिंता से—जो उन्हें राज्य की सेवा से विरत करती है—मुक्त करके उसने कैसे अपने संरक्षकों के जीवन से परिवार का ही अंत कर देने की कोशिश की है। हमारे लिए जिस घर का इतना महत्व है, प्लेटो के निकट वह विघ्न-बाधा है। हम कहा करते हैं—"हर अँग्रेज़ का घर उसका गढ़ है" । प्लेटो का जवाब होगा—"दीवारें ढहा दो। बहुत हुआ तो उनके-भीतर संकीर्ण-परिवार-स्नेह ही पनपता-बढ़ता है ; और कहीं उल्टा फल निकला तो उनसे स्वार्थ प्रवृत्तियों और रुद्ध क्षमताओं को आश्रय मिलता है। दीवारें ढहा दो और जहाँ दीवारें रही हों, वहाँ सामान्य जीवन की खुली हवा का संचार होने दो"। इस तरह, घर की निंदा यह कह कर की जाती है कि वह एक लकीर खींचकर हमें औरों से अलग कर देता है और उस लकीर के भीतर स्वार्थ-प्रवृत्तियाँ पनपती-बढ़ती हैं ; और प्लेटो चाहता है कि हम देखें किस तरह "हर व्यक्ति दुनिया भर का साज-सामान जुटा-जुटा कर अपना घर संसार बसा लेता है, और किस तरह सबसे अलग-थलग होकर अपने बीवी-बच्चों के साथ अपने निज के सुख-दु:खों में डूब जाता है" (464 C—D)। प्लेटो के अनुसार यह घर-गृहस्थी ऐसी जगह है जहाँ प्रतिभा की जोत बुझ जाती है, सारी शक्तियाँ सिमट-सिकुड़ कर रह जाती हैं ; पत्नी दिन-रात चौके-चूल्हे की होकर रह जाती है (460 D)। "ओछेपन का बोलबाला होता है। उदाहरण के लिए गरीब अमीरों के तलवे चाटते रहते हैं। परिवार के पालन-पोषण में और घर-गृहस्थी के लिए जरूरी चीज़ें जुटाने में आदमी को हर वक्त परेशानी ही परेशानी उठानी पड़ती है" (465 B—C)। संक्षेप में प्लेटो देखता है कि परिवार एक ओर तो स्वार्थ की जड़ है जो बढ़ते-बढ़ते कुटुम्ब-कलह और नगर-द्रोह का रूप धारण कर सकती है और दूसरी ओर विकास का अवरोध करने वाली शिला है जिसकी वजह से स्त्री-पुरुष जो बन सकते थे, नहीं बन पाते ; जो काम कर सकते थे, नहीं कर सकते और इस तरह से न तो वे स्वयं 'न्यायनिष्ठ' हो सकते हैं (क्योंकि न्याय कर्त्तव्य-पालन में निहित होता है) और न जिस राज्य में वे रहते हैं, उसे ही 'न्यायनिष्ठ' बना पाते हैं। जिस दिन उसका अंत होगा, वह दिन राज्य के लिए एकता का (जो अच्छी चीजों में सर्वोपरि है), व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का और राज्य तथा व्यक्ति दोनों के लिए न्याय के नवोदय का दिन होगा। पर एक तरह से देखें तो यह कहना भूल होगी कि प्लेटो का लक्ष्य परिवार का अंत करना है। असल में जो चीज़ वह चाहता है, वह है—परिवार का सुधार-संस्कार, उसके एक नए रूप की प्रतिष्ठा। अगर एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वह राज्य से परिवार को ख़त्म कर देना चाहता है, तो दूसरे, और अधिक गहरे, अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वह राज्य में ही परिवार का समावेश कर देना चाहता है। लगता ऐसा है मानो वह कबाइली राज्य वाले पुराने ज़माने में लौट जाना चाहता है जबकि नागरिकता का अर्थ होता था बंधुत्व ; और वह राज्य को या राज्य के शासकों को एक परिवार का और परिवार को एक राज्य का रूप दे देना चाहता है[1] ; वह तो दोनों को एकान्वित

---

[1] उत्पादक-वर्गों के पास जिस तरह व्यक्तिगत संपत्ति बनी रहती है, उसी तरह घर और परिवार भी बना रहता है। जिन कारणों से संपत्ति का सा॰ा

कर देना चाहता है जिससे अंत उनमें से एक का भी नहीं होगा बल्कि जिस प्रतिद्वंद्विता के कारण उनके बीच खाई पैदा होती है, उसमें निहित परस्पर-विरोध दूर होगा।

प्लेटो के तर्क-प्रवाह में दो धाराएँ या 'तरंगें' हैं—एक का संबंध स्त्रियों के उद्धार से है, दूसरी का विवाह के सुधार से। पहले तो उसने स्त्रियों के उद्धार के नाम पर (451 C—456 B) पारिवारिक जीवन की समस्या का विवेचन किया है। उसका विचार था कि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी के भीतर रखने का परिणाम सिर्फ़ यही नहीं होता कि उनका विकास रुक जाता है, बल्कि यह भी होता है कि राज्य अपने आधे सदस्यों की सेवा से हाथ धो बैठता है। पुरुष तो बहुमुखी प्रतिभा के आदर्श की सिद्धि में लगे रहे हैं और उनके लिए आवश्यक है कि वे अपना कर्मक्षेत्र सीमित करें और विशेषीकरण की दिशा में बढ़ें; जबकि स्त्रियों के लिए (बच्चे पैदा करने और पालने-पोसने के अलावा) कोई भी एक काम निश्चित नहीं किया गया और उन्हें सब काम करने का अधिकार मिलना चाहिए जिन्हें करने की उनमें स्वाभाविक योग्यता हो। जब प्लेटो उनके स्वाभाविक रुझान पर विचार करता है, तब सबसे पहले वह पशु-जगत के एक दृष्टांत से प्रेरणा ग्रहण करता है। शुरू के एक अवतरण में उसने संरक्षकों की तुलना रखवाली करने वाले कुत्तों से की थी और अब वह कहता है कि (451 C) रखवाली करने का काम तो कुत्ते और कुतिया दोनों ही कर सकते हैं। दोनों में बस एक अंतर है और वह यह कि कुतिया कुत्ते से कुछ कमजोर होती है। दोनों की क्षमताओं का स्वरूप एक जैसा ही होता है: फलतः दोनों का प्रशिक्षण भी एक-जैसा होता है। इस प्रकार अगर हम यह दृष्टांत मान लें तो हमें स्वीकार करना होगा कि स्त्रियों और पुरुषों में एक-सी क्षमता होती है और उनके लिए एक-सा ही प्रशिक्षण ज़रूरी है। लेकिन, पशु-जगत् से लेकर जिन दृष्टांतों को मानव-जीवन पर लागू किया जाता है, उनमें दिक्कत यह होती है कि पशु और मानव समकक्ष नहीं होते; और अगर हम मानव के नैतिक संसार को पशुओं के नीति-निरपेक्ष संसार के अनुरूप ढालने लगें; तो हम या तो स्ट्रेप्सिएड्स (पीछे पृ० 111) की लीक पर पड़ जाएँगे या गॉर्जियाज़ में कैलीक्लीज़ की तरह (और डार्विन के नेसार्गिक वरण-सिद्धांत के आधुनिक विकृति-कर्त्ताओं की तरह) 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' वाली बात मानने लग जाएँगे। प्लेटो पशु-सृष्टि के दृष्टांत का सहारा लेकर ही तर्क नहीं करता; वह मानव प्रकृति के विश्लेषण द्वारा भी अपनी बात सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। प्लेटो यह नहीं मानता कि स्त्री-पुरुष में कोई प्रकार-भेद है। नारी पुरुष से केवल एक बात में भिन्न है—वह जननी है। और सारी बातों में वह दुर्बलतर पुरुष जैसी होती है। उसमें वे ही क्षमताएँ होती हैं जो पुरुष में होती हैं पर वैसी शक्ति नहीं होती। प्लेटो की दलील है कि किसी एक बात में भेद हो तो उसे और बातों में भी भेद का आधार बना लेना मूर्खता है। स्त्रियों की प्रकृति में ऐसा कोई भेद नहीं है जो राजनीतिक जीवन में उनके योगदान पर असर डाले (455 A—B)। और-और क्षेत्रों की तरह राजनीति के क्षेत्र में भी स्त्रियों

संरक्षकों तक ही सीमित रखा गया है, उन्हीं कारणों से स्त्रियों का साझा भी उन्हीं तक सीमित रखा गया है। संरक्षक-वर्ग के संदर्भ में संपत्ति के साझे का एक ही परिणाम और निष्कर्ष है—स्त्रियों का साझा।

की क्षमता पुरुषों की अपेक्षा हीनतर होती है। अनेक स्त्रियों में संरक्षकों के राजनीतिक कार्य करने की क्षमता नहीं होती जैसे कि बहुत-से पुरुषों में भी नहीं होती। लेकिन कुछ स्त्रियाँ ऐसी जरूर होती हैं जिनमें संरक्षकों के वे सारे काम करने की क्षमता होती है—भले ही कुछ कम मात्रा में हो—जिनसे पुरुष संपन्न होते हैं। इन स्त्रियों को प्रशिक्षण मिलना चाहिए और इसी तरह की योग्यता वाले पुरुषों के साथ मिलकर उन्हें संरक्षकों के रूप में काम करना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ, तो न्याय का सिद्धांत पराजित हो जाएगा और राज्य में ऐसे तत्त्व बने रहेंगे जो अपनी सहज योग्यता के अनुरूप उचित काम न कर रहे हों। हम देख सकते हैं कि प्लेटो स्त्रियों के अधिकारों के बारे में उतना उपदेश नहीं देता जितना उनके कर्त्तव्यों के बारे में और अगर उसका लक्ष्य स्त्रियों को घर-गृहस्थी के बंधन से मुक्त करना है, तो वह उन्हें वृहत्तर समाज की सेवा में लगाने के लिए ही है। वह राज्य के लिए स्त्रियों का उद्धार चाहता है। यदि स्त्रियों को संरक्षकत्व के हल्के काम करने का प्रशिक्षण दे दिया जाए तो राज्य की सेवा-व्यवस्था को नया बल मिलेगा और उसमें अधिक कार्यकुशलता आ जाएगी; पर, अंततः इसी तरह की व्यवस्था ही सच्ची स्वतंत्रता है। इसमें नारी पुरुष-जीवन की पूर्णता में उसके साथ कँधे से कँधा मिलाकर खड़ी होती है और इस तरह अपने जीवन की पूर्णता भी प्राप्त कर लेती है।

परंतु जो योजना नारी को राज्य की सेवा में लगा देती है, उसका जाति को बनाए रखने की भौतिक आवश्यकता के साथ किस तरह मेल बैठेगा? जो योजना नारी को परिवार के जीवन से हटा ले जाती है, उसमें संरक्षक-वर्ग के बीच विवाह की और बच्चों के जनने तथा पालने-पोसने की क्या व्यवस्था होगी? हम एक क्षण के लिए माने लेते हैं कि एकपत्नीत्व की प्रथा तब भी चालू रहती है। पुरुष-संरक्षक खुली बैरकों में एक साथ रहते हैं; उनके पास ऐसी कोई जगह नहीं होती जहाँ वे अपनी पत्नियों को ला सकें। स्त्री-संरक्षक भी इस तरह की ज़िंदगी बिताती हैं और इसी ढँग से रहती हैं, वे अपने पतियों के लिए घर-गृहस्थी नहीं जमा सकतीं। ऐसी परिस्थितियों में एकपत्नीत्व का अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता था कि पति अपनी पत्नी को जब-तब ही देखता[1] (शायद अपनी बैरकों में या शायद उसकी बैरकों में) और चूंकि वे दोनों ही राज्य के काम में लीन रहते, अतः उनमें से कोई भी बच्चों की देख-भाल न कर पाता। पर जब पति अपनी पत्नी के संसर्ग से वंचित हो जाए और पति-पत्नी दोनों बच्चों की देख-भाल न कर सकते हों तब एकपत्नीत्व-प्रथा के अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। इसीलिए, प्लेटो साम्यवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख होता है जिसमें संरक्षकों की पत्नियों और बच्चों में सबका साझा रहे (456 C—466 D)। इस व्यवस्था को तरजीह देने के दो कारण थे। पहला कारण तो भौतिक है। पशु-जगत् के उदाहरण से संकेत मिलता है कि अगर घोड़ों की अच्छी नस्ल तैयार करनी हो, तो आपको एक अच्छे घोड़े का ज्यादा से ज्यादा अच्छी घोड़ियों के साथ और एक अच्छी घोड़ी का ज्यादा से ज्यादा अच्छे घोड़ों के साथ संभोग कराना होगा। नागरिकों की अच्छी नस्ल तैयार करने के लिए राज्य को भी इसी सिद्धांत का पालन करना होगा। मनचाही एक पत्नी

---

[1] स्पार्टा में तरुण पति अपनी पत्नी के पास चोरी-छिपे ही पहुँच पाता था।

ग्रहण करने की प्रथा के बजाए राज्य को ऐसी साम्यवादी व्यवस्था लागू करनी होगी जिस पर उसका अपना नियंत्रण रहे। जब संरक्षक और संरक्षिकाएँ बैरकों में साथ-साथ रहेंगे और उनके एक-से ही काम-काज होंगे, तब स्वभावतः वे एक-दूसरे के साथ संभोग भी करेंगे, पर यह संभोग नियमित होना चाहिए और इस ढँग से नियमित होना चाहिए कि राज्य का अधिक से अधिक लाभ हो। विवाह उपयोगिता-सिद्धांत के अनुकूल होना चाहिए और अगर ऐसा हुआ, तो इस अनुकूलता के कारण ही उसमें एक पवित्रता आ जाएगी (458 E)। जाति का जीवन-प्रवाह बनाए रखने की दृष्टि से विवाह सबसे ज़्यादा उपयोगी तब सिद्ध होता है जब योग्यतम और प्रौढ़तम माता-पिता योग्यतम संतति को जन्म दें। यह बात घोड़ों, शिकारी कुत्तों और आखेट्य चिड़ियों—सबके बारे में सच है; और मनुष्यों के बारे में भी कुछ कम सच नहीं। इसलिए उचित आयु और नियत मौसमों में संरक्षकों और संरक्षिकाओं में जो सबसे अच्छे हों उन्हें अस्थायी विवाह-सूत्रों में बाँध देना चाहिए और इन विवाह-संबंधों के फलस्वरूप जो संतति पैदा हो, राज्य को उसका और सिर्फ़ उसी का पालन-पोषण करना चाहिए। यह कोई संकरता नहीं; यह तो संकरता के बिल्कुल विपरीत है। प्लेटो संतति के उत्कर्ष के लिए गंभीर और राज्य-नियंत्रित विवाहों का स्वप्न देखता है और विवाह के उन्मूलन का तो प्रश्न ही नहीं, वह तो उसे पावनता प्रदान करने की बात सोचता है और इसके लिए वह उसे उस पावनताकारी चरम लक्ष्य—समाज के महत्तम श्रेय—की पूर्त्ति का साधन बना देता है जिससे प्रत्येक श्रेयपूर्ण और पावन राज्य का आविर्भाव होता है।

प्लेटो विवाह में जो सुधार करना चाहता है, उसका यह पहला और भौतिक कारण है और यही उसकी सुधार-योजना का पहला भाग है जिसका संबंध संतति के उत्कर्ष से है। पर, उसने जिस सुधार का संदेश दिया है, उसके नैतिक कारण भी हैं। इन नैतिक कारणों का उसकी योजना के दूसरे भाग से संबंध है। उसका कथन है कि जब इन गंभीर परिणयोत्सवों की ऋतु आया करेगी तो इतने विवाह हुआ करेंगे कि संरक्षकों की संख्या स्थिर और अपरिवर्त्तित बनी रहे। बाद में जब इन विवाहों के परिणाम-स्वरूप बच्चे पैदा होंगे तब उन्हें तुरंत ही उनकी माताओं के पास से सरकारी शिशुपालन-केंद्रों में भेज दिया जाएगा और उन्हें यह कभी नहीं बताया जाएगा कि उनके माता-पिता कौन हैं। माँ को अपने बच्चे के लालन-पालन के बारे में कुछ नहीं करना पड़ेगा, उसे यह भी कभी पता नहीं चलेगा कि उसका बच्चा कौन-सा है; बल्कि जिन माता-पिताओं का विवाह एक ही ऋतु में हुआ होगा, उन्हें यह सोचना सिखाया जाएगा कि उस ऋतु से उचित समय के बाद जो बच्चे पैदा हुए हैं, वे उन सबके बच्चे हैं और इस तरह जो बच्चे पैदा होंगे, उन सबको यह सोचना सिखाया जाएगा कि वे आपस में भाई-बहन हैं। यह व्यवस्था फिर उपयोगिता की कसौटी पर खरी उतरेगी और सर्वश्रेष्ठ संतति पैदा करने की व्यवस्था की तुलना में कहीं अधिक गंभीर अर्थ में उसके अनुरूप होगी। राज्य के लिए एकता के सूत्र से बढ़ कर और कोई श्रेय नहीं है (462 B)[1]।

---

[1] स्पष्ट कहा जाए, तो प्लेटोवादी राज्य के निकट सबसे बड़ा श्रेय न्याय है परंतु न्याय में एक इकाई अथवा व्यवस्था का भाव निहित होता है और प्रत्येक

जो चीज़ राज्य के लिए सबसे उपयोगी है और जिससे राज्य का सबसे ज्यादा भला होता है, वह यह है कि उसके सदस्य स्वयं को एक शरीर की भाँति समझें, वे जहाँ तक हो सके, एक मन-प्राण होकर कार्य करें (462 C—D) ; वे एक ही चीज़ों को अपना समझें, एक ही लोगों से प्रेम करें, और एक ही पदार्थों के लिए 'मेरा' और 'तेरा' शब्दों का प्रयोग करें। संरक्षकों और प्रजा के परस्पर संबंध की दृष्टि से प्लेटो के राज्य में एकत्व है और यह एकत्व संरक्षकों और पोषकों का सामंजस्य है। संरक्षकों का एक दूसरे के साथ जो संबंध है, उसकी दृष्टि से भी उसमें एकत्व रहता है और उसका आधार है प्रशिक्षण की अभिन्नता तथा चीज़ों का साझा। और अंत में, जिस व्यवस्था में व्यक्तिगत पैतृकता की जगह मिली-जुली पैतृकता प्रतिष्ठित हो जाए, उसके माध्यम से अगर संरक्षक एक ऐसे परिवार का रूप धारण कर लें जिसमें सब एक दूसरे के संबंधी हों (या समझें कि एक दूसरे संबंधी हैं) तो जहाँ तक संरक्षकों का संबंध है, उसमें एकत्व की प्रतिष्ठा होगी। इसके अतिरिक्त समान पैतृकता की इस पद्धति से एकता की उद्भावना होगी और यह एकता राज्य की सारी व्यवस्थाओं और संस्थाओं में सामंजस्य तथा संगति के रूप में व्यक्त होगी। पहली बात तो यह है कि वह साझी संपत्ति-प्रणाली की समुचित पूरक होगी। साझी संपत्ति को आप व्यक्तिगत परिवारों के साथ नहीं मिला सकते क्योंकि व्यक्तिगत परिवार व्यक्तिगत संपत्ति के अर्जन की प्रेरणा देता है, और जब तक परिवार रहेगा, तब तक अर्जन की भी सहज प्रवृत्ति सक्रिय रहेगी। फिर, विधियों और मुकदमेबाजी के उन्मूलन से भी इसका मेल बैठ जाएगा और प्लेटो इसे अपने राज्य का अनिवार्य लक्षण बनाना चाहता था। इसका अर्थ होगा वैधिक नियमों की निर्जीव व्यवस्था की जगह पारिवारिक आचार-विचार की सजीव भावना की प्रतिष्ठा और लोग वैधिक विवशता के बजाए बंधुता तथा स्नेह के वैयक्तिक भावों से प्रेरित होकर अपने पड़ोसियों के प्रति सहज रूप से अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे (464 D —E)। जिन राज्यों के शासक एक परिवार के सदस्य होंगे, उनमें राजद्रोह का डर कभी न होगा और जिस समाज के सदस्य भौतिक चिंताओं और घर-गृहस्थी के झंझटों से मुक्त होंगे और स्नेह तथा सहज सहानुभूति के सुखद सूत्रों में बँधे होंगे, उस समाज में सुख का वास रहेगा[1]। प्लेटो की कल्पना ने जिस नए नगर की

सदस्य उसके एक अंग के रूप में कार्य करता है ; और इस इकाई में जितनी अधिक एकता होगी, उतनी ही आसानी से प्रत्येक सदस्य स्वयं को उस इकाई का एक अंग समझेगा और अंग के रूप में आचरण करेगा जिससे न्याय की प्रतिष्ठा हो सके। इस प्रकार चूँकि एकता न्याय के लिए आवश्यक है, अतः उसे राज्य का सबसे बड़ा श्रेय समझा जा सकता है।

[1] युक्ति दी जा सकती है कि प्लेटो का सगे-संबंधियों के संबंधों के बारे में बहुत अधिक आशावादी दृष्टिकोण है। यह तो ठीक है कि घुटने पेट को ही नवते हैं पर यह भी जगविदित है कि जहाँ चार बासन होते हैं, खटकते हैं। पर, अगर हम यह मान लें कि प्लेटो का दृष्टिकोण सही है और परिवार में इतनी पूर्ण एकता है तब परिवार का अस्तित्व सार्थक हो उठता है—वह श्रेय को प्राप्त कर लेता है। अतः यहाँ प्लेटो अपने ही बात काटे दे रहा है। बहरहाल, जैसा कि अरिस्टाटल ने कहा है, उसकी तर्क-शृंखला में एक दोष तो पाया ही जाता है—वह मान लेता है कि जो बात संबंधियों के छोटे से दायरे के

रचना की है, वही उसके शासकों का 'घर' होगा—और किसी घर से उनका कोई सरोकार नहीं होगा। वह वचन से नहीं बल्कि कर्म से भी उनकी 'पितृभूमि' होगी और भातृ-स्नेह के उत्साह से समान नागरिकता की भावना को पोषण मिलेगा।

प्लेटो की विवाह-सुधार-योजना के अंतर्गत श्रेष्ठ संतति उत्पन्न करने के तत्त्व का उसके निकट उन तत्त्वों की अपेक्षा कम महत्त्व है जिनसे राज्य की एकता पुष्ट होती है। फिर भी यह तत्त्व है बड़ा दिलचस्प। प्रजनन-शास्त्र के इस सिद्धांत की कि अच्छे गुण आनुवंशिक रूप में चलते रहते हैं, थिओगनिस के करुण काव्य में अभिव्यक्ति हुई है[1]। "हम अच्छी नस्ल के मेढ़ों, गधों और घोड़ों की तलाश में रहते हैं और लोगों का विश्वास है कि जो स्वयं अच्छा होता है, उसकी संतति भी अच्छी होती है"। बाद के ज़माने में ज़ेनोफॉन ने साक्रेटीज़ को आनुवंशिकता की समस्या पर सोच-विचार करते दिखाया है। वह यह बताने की कोशिश करता है कि अच्छे माँ-बाप की औलाद हमेशा अच्छी क्यों नहीं होती। साक्रेटीज़ की युक्ति है कि बात अच्छी नस्ल के होने से ही ख़त्म नहीं हो जाती ; यह भी आवश्यक है कि माँ-बाप दोनों अपने पूर्ण उत्कर्ष पर हों[2]। **रिपब्लिक** में प्लेटो ने पशुओं, विशेषकर सांड़-घोड़ों के प्रजनन (459 E—460 E) के दृष्टाँत का उपयोग करते हुए इस समस्या का वैज्ञानिक भावना से बहुत-कुछ आधुनिक जीव-वैज्ञानिक के ढँग पर सामना किया है। साक्रेटीज़ की तरह प्लेटो भी यह मानता है कि अच्छी से अच्छी नस्ल से संतति का प्रजनन उसी समय कराया जाना चाहिए जब वह अपने पूरे उत्कर्ष पर हो— और इसीलिए उसने पुरुषों के लिए तो बच्चे पैदा करने की आयु पच्चीस से पचपन साल तक और स्त्रियों के लिए बीस से चालीस साल तक निश्चित की है, और यह भी नियम बना दिया है कि अगर इन सीमाओं से बाहर होने पर संभोग हो, तो बच्चा पैदा नहीं होने देना चाहिए और अगर पैदा हो जाए, तो उसे मौत के घाट उतार देना चाहिए। आधुनिक सुजननशास्त्री विधान की पैरवी नहीं करता और विधान-मंडल में विवाहों की जो व्यवस्था निर्धारित की जाए, उस पर आम तौर से अविश्वास करता है पर इसके विपरीत प्लेटो यह बात एकदम राज्य पर छोड़ देना चाहता है और कला एवं काव्य की तरह विवाह का भी नियमन करने के लिए कमर कस लेता है। उसके नियमन का एक सिद्धांत हमें माल्थस की याद दिला देता है। जन-संख्या की वृद्धि वह भी नहीं चाहता—पर माल्थस की तरह उसका कारण आर्थिक नहीं और न यह डर ही है कि उसके लिए खाना-पीना नहीं जुटाया जा सकेगा। वह जन-संख्या की वृद्धि का विरोध करता है तो राजनीतिक कारणों से, अपने राज्य की राजनीतिक स्थिरता की रक्षा के विचार से। आधुनिक जीव-वैज्ञानिकों की तरह उसका विश्वास है : "समाज-संगठन का लक्ष्य होना चाहिए अनुकूलतम संख्या

बारे में सही है, उनके बड़े दायरे के बारे में भी सच होगी। दो बातें हैं, (१) वृत्त का आकार, और (2) उसका संबंध-सूत्र। प्लेटो भूल जाता है कि एकता लाने में पहले तत्त्व का कितना महत्त्व है। वह परिवार-वृत्त का तो अंत कर देता है ; परंतु उसके ऊपर आधारित उन प्रेरक-हेतुओं और दायित्वों को बनाए रखना चाहता है जिनका उससे पृथक् कोई अर्थ नहीं होता।

1. गीत 1183 और क्रमशः।
2. ज़ेनोफॉन, **मेमोराबिलिया**, IV. 4, § 23।

अधिकतम संख्या नहीं"[1]। इसी उद्देश्य को लेकर वह विवाहों की संख्या नियंत्रित करने की कोशिश करता है ; इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह इस बात की पैरवी करता है कि कुछ प्रतिबंध लगाए जाएँ। उदाहरण के लिए, वह इस बात को बहुत बुरा समझता है कि जो लोग एक जमाने से अपाहिज हों उन्हें दवा-दारू के बल पर ज्यादा दिनों तक जिंदा रखा जाए। अगर संभोग आयु की नियत सीमाओं के बाहर हो, तो वह गर्भपात का समर्थन करता है और कुछ स्थितियों में तो वह शिशु-हत्या तक की पैरवी करता है[2]। किंतु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हालांकि प्रजनन की समस्याओं में प्लेटो की दिलचस्पी है, पर इनसे कहीं ज्यादा चिंता उसे शिक्षा-समस्याओं की है। सुजनन-शास्त्रकार प्रकृति और लालन-पालन में भेद करते हैं और प्रकृति के महत्त्व पर जोर देते हैं। प्लेटो का सबसे पहले और सबसे ज्यादा विश्वास सही पालन-पोषण में है और उसने इस बात पर जोर दिया है कि सही परिवेश में तरुणों पर शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ता है। संपत्ति के साम्यवाद की योजना की तरह उसकी विवाह-सुधार-योजना भी, शिक्षा-योजना की तुलना में, गौण है[3]।

प्लेटो की विवाह-सुधार की योजना पर समग्र रूप से विचार करें तो हम देखेंगे कि उसके अनेक पक्ष और अनेक प्रयोजन हैं। वह अच्छी संतान पैदा करने की योजना है : वह स्त्रियों के उद्धार की योजना है : वह परिवार के राष्ट्रीयकरण की योजना है।

---

1. बाटेसन, बॉयोलॉजिकल फैक्ट एंड स्ट्रक्चर ऑफ सोसाइटी, पृ० 21।
2. इस आखरी बात के संबंध में रिपब्लिक का एडम का संस्करण देखिए, I. 357—60।
3. सफलता की वंश-परंपरा के आधार पर बाटेसन ने प्लेटो की त्रिवर्ग-व्यवस्था को जीव-विज्ञान की दृष्टि से सही माना है और उसे अंगीकार किया है (पू० क०, पृ० 33)। 'उत्परिवर्तन को नवीनताएँ' सामने आने पर श्रेणियों की अदला-बदली हो जानी चाहिए—प्लेटो का यह प्रस्ताव भी जीव-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है। यह और कह दिया जाए कि जहाँ प्लेटो ने रिपब्लिक में समशील स्त्री-पुरुषों के विवाह की पैरवी की है, वहाँ उसने पॉलिटिक्स और लॉज़ में असमान शील वाले स्त्री-पुरुषों के विवाह का समर्थन किया है। पॉलिटिक्स में उसने तर्क दिया है (310 D) कि समान शील वाले स्त्री-पुरुषों के विवाह के परिणामस्वरूप संतति भ्रष्ट हो जाती है। लॉज़ में उसने असमान शील वाले स्त्री-पुरुषों के विवाह का ("प्रत्येक व्यक्ति को अपने साथ के लिए अपने से विरोधी प्रकृति के व्यक्ति को ढूंढना चाहिए", 773 B) इस आधार पर समर्थन किया है कि समूचा राज्य मिश्रित स्वरूप का हो जाए। उसके विवाह-सिद्धांत में यह जो परिवर्तन हुआ है, वह उसके सामान्य राजनीति-सिद्धांत के परिवर्त्तन के अनुरूप है। उसने रिपब्लिक में आदर्श संविधान और आदर्श विवाह का समर्थन किया था ; परवर्त्ती दोनों रचनाओं में उसने मिश्रित विवाहों का और—जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे—मिश्रित संविधान का समर्थन किया है। एक दिलचस्प बात यह है कि लॉज़ में प्लेटो ने दो ऐसे उपायों की पैरवी की है जिनसे अच्छी संतति पैदा करने में मदद मिल सके—एक तो यह है कि पैंतीस साल की उम्र के बाद अविवाहितों पर कर (774 A) लगाया जाए और दूसरा यह कि वर-वधू के बीच, एक तरह से स्वास्थ्य प्रमाण-पत्रों की अदला-बदली हो (771 E—772 A) ; (आगे अध्याय 14 (घ) से तुलना कीजिए)।

उसका उद्देश्य यह है कि संतति सुधरे ; स्त्रियों को—और पुरुषों को भी—अधिक स्वतंत्रता मिले ताकि वे अपनी क्षमताओं का अधिकतम विकास कर सकें ; राज्य में—या कम से कम राज्य के शासकों में—अधिक पूर्ण और जीवंत एकता स्थापित हो। प्लेटो ने अपने सामने जो उद्देश्य रखे हैं, उनसे हम आसानी से सहमत हो सकते हैं, पर उसके साधन स्वीकार करना कुछ कठिन है ; और अन्य स्थलों की तरह यहाँ भी कोई चाहे तो प्लेटो के सिद्धांतों को स्वीकार कर सकता है, पर उनके प्रयोग को अस्वीकार। स्त्रियों के उद्धार की उसकी जो योजना है, उससे बहुतों को सहानुभूति हो सकती है ; फिर भी इस योजना के मूल में जो तर्क है, उससे अनेक शंकाएँ पैदा हो जाती हैं। आखिर, स्त्री-पुरुष में सिर्फ़ यही भेद नहीं कि पुरुष बीज डालता है और स्त्री बच्चे को गर्भ में धारण करती है, या अगर मूल भेद यही हो, तब भी उनसे और अनेक भेद पैदा हो जाते हैं जो बड़े गहरे हैं। स्त्री का स्त्रीत्व कोई अलग-थलग चीज़ नहीं होती कि बस एक उसी नाते वह पुरुष से भिन्न है। उसका समूचा व्यक्तित्व इससे प्रभावित होता है। स्त्री प्रकृत्या परिवार का प्राण होती है और यह बात भूलने का मतलब है परिवार का प्राणांत। प्लेटो यह मोल चुकाने के लिए तैयार है। प्रकृति से ही उसका अपना एक विशिष्ट कार्य है और यह कार्य शिशुपालन-केंद्र को सौंपना वह हमेशा अस्वीकार करेगी। उसके बच्चों को बड़ा होने में लंबा समय लगता है। पालन-पोषण के बिना उनका काम नहीं चल सकता (और इस दृष्टि से दूसरे पशुओं के बच्चों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती)। इसीलिए यह काम उसके लिए हमेशा ज़िंदगी भर का काम रहेगा[1]। अविवाहित नारी संसार के उन्मुक्त कर्मक्षेत्र में उतर सकती है, विवाहित स्त्री का जीवन-कर्म उसके लिए तैयार रहता है और निश्चय ही राज्य की सच्ची नीति यह नहीं कि मातृत्व का अंत कर दिया जाए, बल्कि यह है कि उसे एक विशिष्ट कार्य माना जाए, समाज के प्रति एक देन माना जाए। इसी में न्याय की सिद्धि है और इसी के द्वारा माँ सामान्य जीवन में अपनी स्थिति ग्रहण करती है और अपनी स्थिति के अनुरूप काम करके न्याय की सिद्धि करती है[2]।

प्लेटो की अस्थायी और राज्य-नियंत्रित विवाहों की जो योजना है, उसके बारे में भी बहुत हद तक यही बात कही जा सकती है। माँ-बच्चे के संबंध की तरह पति-पत्नी के संबंध का भी आजीवन महत्त्व होता है। यह असंभव है कि स्त्री-पुरुष बस संभोग के लिए ही एक-दूसरे से मिलें और फिर अपनी-अपनी राह चल दें। हो सकता है कि उनके मिलन का मुख्य प्रयोजन यही हो पर जैसा कि अरिस्टाटल ने कहा है, अंततः वे 'जीवन-मैत्री' के लिए एक-दूसरे से मिलते हैं। दोनों के समान हित में स्थायी दिलचस्पी ही उनके परिणय-सूत्र का आधार बनती है और जीवन को सही दिशा में ढालने वाले जो अनेक प्रभाव हैं उनमें से एक है सच्चे विवाह की मैत्री या स्थायी

---

1. तुलना कीजिए, अरिस्टाटल, पॉलिटिक्स II., 5, § 24, 1266, b 4.
2. यहाँ शायद यह कहने की जरूरत न हो कि इसका स्त्री के मताधिकार से कोई संबंध नहीं है (वह बिल्कुल अलग विषय है)। इसका संबंध तो प्लेटो की इस योजना से है कि स्त्रियाँ पूरी तरह से राजनीतिक जीवन और कार्य-कलाप में लीन हो जाएँ।

आध्यात्मिक संयोग। जब प्लेटो अच्छी संतति पैदा करने के लिए काम-प्रेरणा पर राज्य के नियंत्रण की बात सोचता है, तब वह इस प्रेरणा को एक अवास्तविक अमूर्त्त धारणा का रूप दे देता है। यही नहीं, वह व्यक्ति को भी एक साधन मात्र बना देता है और सो भी जीवन के एक ऐसे पक्ष में जहाँ व्यक्ति सबसे अधिक सहज रूप में स्वतः साध्य होने का दावा करता है। जहाँ व्यक्तित्व का भाव सबसे प्रखर होता है, जहाँ संपूर्ण मानव—उसकी देह और प्राण, विवेक और भावना, सारे विचार, सारी वासनाएँ, सारे सुख, और वह सब-कुछ जिससे देह की भूख-प्यास मिटती है ; अपनी तृप्ति चाहते हों, वहाँ वह व्यक्तित्व के एक मूल अधिकार का निषेध कर देता है[1]। लेकिन यह उतने महत्त्व की बात नहीं ; प्लेटो की मूल आलोचना तो इस बात को लेकर होगी कि उसने विवाह-सूत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति न्याय नहीं किया है—और न उसने परिवार के नैतिक मूल्य-महत्त्व और आवश्यकता को ही समझा है। अरिस्टाटल की **पॉलिटिक्स** और **एथिक्स** में इसका सहानुभूति से विवेचन हुआ है। वह एक संदिग्ध श्रेय के लिए जमी-जमाई संस्था को उखाड़ देता है और एकता के नाम पर आचारों के उस विद्यालय का ही विध्वंस कर देता है जिसमें कर्त्तव्य का पाठ अधिक आसानी से पढ़ लिया जाता है क्योंकि वहाँ स्नेह का पुट रहता है, और वैयक्तिक भावना का आलोक रहता है। पर, हम देखेंगे यह प्लेटो की विशेषता है कि राज्य की झंडाबरदारी करते-करते संस्थाओं के प्रति उसकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और शायद यह उसके राज-नीति-दर्शन की सामान्य आलोचना है कि वह अनेकता में एकता की स्थापना पर्याप्त रूप से नहीं कर पाता।

---

[1] प्लेटो के पास भावना के लिए कोई जगह नहीं। वह उसे कठोर उपयोगितावाद की कसौटी पर कसता है। **सिम्पोजियम** के लेखक में यह बात अजब सी लगती है। सुंदर अगर उपयोगी नहीं तो और क्या है ?

(ग) रिपब्लिक में साम्यवाद का सामान्य सिद्धान्त

साम्यवाद की समूची योजना के अंतर्गत चाहे वह साम्यवाद संपत्ति का हो या विवाह का, यह धारणा पाई जाती है कि आध्यात्मिक बुराइयों का जिन भौतिक दशाओं से संबंध होता है, उनका अंत करके आध्यात्मिक बुराइयों को दूर करने की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि प्लेटो की चिकित्सा में आध्यात्मिक आहार-संयम पहला और मुख्य उपचार है, पर भौतिक पदार्थों की निर्मम शल्य-क्रिया भी उसका एक साधन है। चूंकि आध्यात्मिक बुराइयों के साथ भौतिक दशाएँ गुंथी होती हैं, इसलिए प्लेटो को लगता है कि भौतिक दशाएँ आध्यात्मिक बुराइयों का कारण हैं और चूंकि कारण का अंत करना, कार्य का अंत कर देना है, अतः वह जीवन की भौतिक दशाओं का आमूल सुधार करने की दिशा में प्रवृत्त होता है। प्लेटो को आशा है कि वह लोगों को जीवन की एकदम भिन्न, भौतिक और बहिरंग परिस्थितियों में रहने के लिए विवश करके उनमें परस्पर, एकदम भिन्न भावना और भिन्न मनोवृत्ति पैदा कर सकेगा। अरिस्टाटल ने इस धारणा की जो आलोचना की है, उसका सार बहुत सरल है। आध्यात्मिक रोगों के लिए आध्यात्मिक औषधियों की ज़रूरत होती है। व्यक्ति को सत् की शिक्षा दीजिए और वह अपने भीतर के सत् से उन्हीं भौतिक दशाओं को जो पहले बुराई से घिरी हुई थीं, श्रेय की ज्योति से जगमगा देगा। भौतिक दशाएँ सहवर्त्ती होती हैं, कारण नहीं होतीं, वे सक्रिय शक्तियों के रूप में नहीं अवसरों के रूप में हैं। अवसरों से खिलवाड़ करना वृथा है। वह वृथा ही नहीं, वह आदमी को बिगाड़ता है, कमजोर करता है। लोगों को 'नोन, तेल, लकड़ी' की चिंता से मुक्त करने का अनिवार्य रूप से यह मतलब नहीं हो जाता कि वे स्वतंत्र, आत्मिक जीवन जीने लायक हो गए हैं, और यह शक तो कोई भी कर सकता है कि जिस जगत्-जाल में हम सबके जीवन फँसे हुये हैं क्या उससे भौतिक आवश्यकता पूरी होने के साथ-साथ नैतिक प्रशिक्षण भी नहीं मिलता और जैसा कि प्लेटो का विचार है, क्या उसके लोप हो जाने से 'ओलंपिक विजेताओं' के जीवन के बजाए 'शूकर-जीवन' का आविर्भाव तो न होगा ?

प्लेटो के चिंतन में कुछ-कुछ मध्ययुग के तत्त्व हैं, संसार और उसके प्रलोभनों के प्रति कुछ-कुछ साधु-संन्यासियों का सा डर है। वह दुनिया से भाग कर किसी एकांत कुटी में शरण नहीं लेता। 'सेक्रोप्स के नगर'* से उसे इतना प्रेम है कि वह उसे छोड़कर स्वर्ग में स्थित किसी नगर को नहीं पाना चाहता। उसका वस चले तो वह यही चाहेगा कि उस नगर के वर्त्तमान ढाँचे को तहस-नहस करके उसे अपने मन के अनुकूल ढाल ले। फिर भी, इस मानव-संसार के प्रति उसके मन में असंतोष का भाव है... जैसे अरिस्टाटल में यह भावना है कि हर चीज़ की उसके उत्कृष्टतम रूप में व्याख्या की जाए और फिर जीवन से जो कुछ मिल सके उसे हंसी-खुशी स्वीकार किया जाए—यह विश्वास करते हुए कि—

अशिव में भी शिवता का लेश—निरंतर विद्यमान है;
जहाँ हो सद्विवेक का हंस, वहीं बस—नीर-क्षीर का शुद्ध ज्ञान है।

इस तरह, व्यक्तिगत संपत्ति के प्रलोभनों के बावजूद अरिस्टाटल ने इस आधार पर उसकी सार्थकता सिद्ध की है कि वह व्यक्तित्व का आधार है और नैतिक कार्य का साधन, और इस तरह परिवार की चाहे कितनी सीमाएँ हों; उसने यह दलील देकर परिवार की सार्थकता प्रमाणित की है कि वह आचरण की पाठशाला है और राज्य की भूमिका। प्लेटो पर यह आरोप आसानी से लगाया जा सकता है कि वह भौतिक साधनों से आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि चाहता है और बुराई के अवसर दूर करने के प्रयत्न में वह अच्छाई के अवसर भी दूर कर देता है। फिर भी, प्लेटो ने इस विषय का जो विवेचन किया है, वह एकपक्षीय है और प्लेटो के विचारों में अर्ध-सत्य ही निहित है। आखिर, यह तो एक भयंकर भूल है कि मन को उसके भौतिक परिवेश से स्वतन्त्र समझ लिया जाए या यह निर्विशेष दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया जाए कि 'समाज-सुधार में सबसे मूल शर्त्त है—चरित्र'। शेक्सपीयर ने यह कहा कि अशिव में भी शिवता विद्यमान रहती है पर उसने प्रकृति की भी बात कही है—

प्रकृति डूब जाती है अपने परिवेश में,
ज्यों—रंजक के हाथ सदा भर जाते रंग में।

यह सोचना अकसर एक दकियानूसी सनक ही है कि चीज़ों में परिवर्त्तन की कोई ज़रूरत नहीं होती और चीज़ों के प्रति हमारे मन का जो दृष्टिकोण होता है, उसी में गलती होती है। जीवन की बाहरी चीज़ों का अस्तित्व चेतना में होता है

---

*सेक्रोप्स यूनान की पुराण-कथा का एक विशिष्ट व्यक्ति है जिसके बारे में समझा जाता है कि वह एटिका प्रदेश का पहला नरेश था और उसने एथेंस नगर की स्थापना के साथ-साथ सभ्य जीवन का समारंभ किया था। उसे श्रेय दिया जाता है कि उसने विवाह प्रथा की नींव डाली, नर-बलि के रिवाज का अंत किया और अपनी प्रजा को देवी-देवताओं की विधिवत् पूजा-अर्चना करना सिखाया। लक्षणा से 'सेक्रोप्स के नगर' का अभिप्राय है कोई भी समुन्नत सांसारिक नगर।

और मनुष्य के लिए उनका इसके सिवाय कोई अस्तित्व नहीं कि वे उसकी चेतना में बसी होती हैं। यदि वे उसकी चेतना में बसी हुई हैं, तो वे उसके आत्म का अंश हैं और आत्म-निर्णय का अभिप्राय है उस आत्म का निर्णय जिसकी वे अंश हैं। अपनी अंतर्वस्तु से भिन्न आत्म-चेतना का अस्तित्व नहीं हो सकता और अगर उस अंतर्वस्तु में ऐसी बाहरी चीज़ें शामिल हैं, जो बुरी हैं, तो निर्णयकारी आत्म उनके अनुरूप ही निर्णय करेगा। अगर हमें प्लेटो के साथ न्याय करना है, तो हमें उसके सिद्धांत का यह वास्तविक सत्य समझना होगा कि मन अपने परिवेश के साथ अपना सामंजस्य करता है। सुंदर परिवेश में वह सुंदर हो जाता है और असुंदर परिवेश में असुंदर। हम यह कह सकते हैं कि मन बुरी चीज़ों में से छान कर सच्ची चीज़ें ग्रहण कर सकता है। पर, प्लेटो ने इसके विपरीत जिस सत्य का अनुभव किया था, यानी यह कि बुरी चीज़ें अपनी बुराई की छाप मन पर डालती हैं, वह भी भुला नहीं देना चाहिए। हो सकता है उसने परिवेश के प्रभाव का अतिरंजित वर्णन किया हो, पर हमें चौकस रहना चाहिए कि कहीं हम उसके प्रभाव को घटाकर न देखें। सामाजिक परिस्थितियों का चरित्र पर असर पड़ता है और व्यक्तिगत संपत्ति के कुछ ऐसे रूप तथा पारिवारिक जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जिनसे मन का विकास कुंठित हो जाता है और वह भटकने लगता है। अगर हम प्लेटो की आलोचना करने की हिम्मत करें भी तो हमें इस बात की कि बुरे परिवेश के बुरे असर में उसका विश्वास था, उतनी आलोचना नहीं करनी चाहिए, जितनी इस बात की कि वह कुछ ऐसी चीज़ों को बुरा मानता था जो प्रकृत्या बुरी नहीं होतीं। रिपब्लिक के जो तत्त्व हमें बुरे लगते हैं, उनका स्रोत भी तो एक ऐसी उदार आत्मा की संवेदनशीलता ही है जो संपत्ति के नासूर और पारिवारिक स्वार्थांधता के घुन जैसी बुराइयों से बहुत पीड़ित है। इसमें संदेह नहीं कि वे बुराइयाँ थीं पर, फिर भी वे उन संस्थाओं की मूल तत्त्व नहीं थीं जिन्हें उन्होंने विकृत कर दिया था[1]।

स्पष्ट है प्लेटो के दृष्टिकोण में कुछ प्रतिक्रिया का तत्त्व भी निहित था। वह मानता है कि संस्थाएँ मन की उपज होती हैं, फिर भी उसने सभ्य जीवन की अनेक संस्थाएँ अस्वीकार कर दी हैं। यह बात असंगत लग सकती है और सहज ही यह प्रश्न सामने आता है कि जो विचारक संस्थाओं को मन की उद्भावनाएँ समझता हो और जो उन्हें अपनी बुद्धि की धारणाओं के बल पर ही अस्वीकार कर सकता हो, वह उन्हें क्यों अस्वीकार करे। यह ऐसा प्रश्न है जो बुद्धिमान् सुधारक को हमेशा

---

[1] जिस तरह प्लेटो के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें पर्याप्त सुसंबद्धता नहीं है (पृ० 261, पा० टि० 1), उसी तरह उसके बारे में यह भी कहा जा सकता है कि उसमें पर्याप्त आदर्शवादिता नहीं है। यथार्थ बुराइयों के प्रति वह इतना सजग है और उनसे इतना पीड़ित है कि वह परिवार जैसी संस्था के उज्ज्वल पक्ष को और उसके समग्र महत्त्व को नहीं देख पाता। अरिस्टाटल कम संवेदनशील और अधिक तटस्थ होते हुए भी परिवार और फिर संपत्ति तथा नाटक के दर्शन का निरूपण कर सका है, पर प्लेटो जो मानो दर्शन के निरूपण में ही खो गया था, इन चीज़ों की मीमांसा ही करते-करते रह गया है।

अपने आप से पूछना चाहिए और उसे यह सोच कर ज़रा भी दुःख न होगा कि जिन संस्थाओं का निर्माण, संधारण और अनुमोदन अनेक पीढ़ियों के बुद्धि-बल से हुआ हो, उनका वह अपनी बौद्धिक धारणाओं के वल पर विरोध कर रहा है। पर वह एक प्रश्न का सामना दूसरे प्रश्न से कर सकता है। क्या ये संस्थाएँ सही मन की उद्भावनाएँ हैं—ऐसे मन की जो उपयुक्त साधनों के सहारे सच्चे साध्य की ओर वढ़ रहा हो। सत्य की तरह भूल भी जड़ तक पहुँच सकती है और अकसर देखा गया है कि जब सशक्त बुद्धि के विचारों के पीछे प्रबल इच्छा-शक्ति और आकर्षक व्यक्तित्व का वल होता है, तव ये सुझाव विना किसी सच्ची परीक्षा या विवेचन के ही समूचे राष्ट्र के जीवन में समा जाते हैं। इतिहासकार देखता है कि वे राष्ट्र के जीवन में प्रवेश पा गए हैं और जम गए हैं, उसे एकदम उनकी पवित्रता में विश्वास हो जाता है, और जो लोग उनका विनाश करना चाहते हैं, वह उन पर आरोप लगाता है कि उनमें इतिहास-बुद्धि की कमी है और वह भूल गए हैं कि "वर्त्तमान की जड़ें अतीत में फैली हुई हैं"। फिर भी, दार्शनिक को यह जिज्ञासा करने का अधिकार है कि उनका कैसे आविर्भाव हुआ, वे किस अधिकार से जीवित हैं और उनसे मन के किस तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है; और जो उत्तर मिले, उनसे अगर उसका संतोष न हो, तो उसे यह सुझाने का पूरा हक है कि उनकी जगह किन विचारों की स्थापना होनी चाहिए थी, किन को अस्तित्व का अधिकार मिलना चाहिए था और मन के किस तत्त्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी। परंतु इतिहास को कुछ तो सम्मान मिलना चाहिए और प्लेटो उसे कोई सम्मान नहीं देता। वह उसकी बहुत सारी गतिविधि को गलत करार दे देता है और उसकी जगह अपने विचारों का आरोप कर देता है कि क्या होना चाहिए। अरिस्टाटल की आलोचना में कौशल है, वह नीरस है। "हम भूलें नहीं कि हमें सुदीर्घ अतीत और विगत वर्षों के साक्ष्य की ओर भी ध्यान देना चाहिए—अगर ये चीज़ें सही और ठीक होतीं, तो उस समय लोगों की नज़रों से ओझल न रह जातीं"[1]। पर, सच बात यह है कि क्या होना चाहिए—इस बारे में प्लेटो के विचार हमेशा परिवर्त्ती युग की ऐसी नई बातों का संकेत नहीं देते जिनकी खोज न की गई हो, बल्कि वे तो सुदूर अतीत की ऐसी पुरानी बातें हैं जिनकी याद अब भी बनी हो। प्रतिक्रिया के तत्त्व की हम चर्चा कर आए हैं; हम पूर्वजोद्भव (atavism) तत्त्व की भी चर्चा कर सकते थे। प्लेटो की दृष्टि में 'विलासितापूर्ण' राज्य ज्वर से पीड़ित है। यह ज़रूरी है कि उसका कुछ रक्त निकाल दिया जाए और उसकी शुद्धि कर दी जाए। उसमें सादगी लानी चाहिए। इससे प्लेटो का अभिप्राय यह है कि जो फालतू तत्त्व न्याय-भावना के अनुरूप नहीं हैं, उन्हें हटा देना चाहिए जिससे सारी इकाई में अनुरूपता आ सके। इसलिए उसे फिर सादगी की स्थिति में ले आया जाता है, पर अब जिस सादगी की उपलब्धि होती है, अपूर्ण अवस्था में वह दूसरी सादगी प्रमाणित होती है और इस

---

[1] पॉलिटिक्स, II. § 5, § 16 (1264, a 2); VII.10, § 8 (1329, b 33) से भी तुलना कीजिए। "जिस चीज़ की खोज हो चुकी है, हमें उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए और जो चीज़ नहीं है, उसे ढूंढ निकालना चाहिए"।

तरह लगता है कि प्लेटो पीछे लौटकर आगे का मार्ग ढूंढ रहा है। यह एक ऐसा उदाहरण है मानो कोई लेखक प्रयोग करते समय अपने ही सच्चे सिद्धांत में तोड़-मरोड़ करने लगा हो और ऐसा लगने लगता है कि जब साक्रेटीज को 'शूकर-नगर' में सच्चे और स्वस्थ प्रतिरूप का साक्षात्कार हुआ, तब उसमें व्यंग्य न था, वास्तविकता थी। यह प्रवृति बार-बार उभरी है। संगीत सरल वाद्य यंत्रों द्वारा सरल धुनों की सरल और सीधी अभिव्यक्ति तक सीमित है? चिंतन और जटिलता का तत्त्व लुप्त हो गया है और राग की जगह वाद्य यंत्र ने ले ली है[1]। प्लेटो के चिकित्सा-सिद्धांत में आदिम तत्त्व स्पष्ट है और जब हम पढ़ते हैं कि चिकित्सक का यह कर्त्तव्य है कि वह असाध्य रोगियों को मर जाने दे, तब उस जंगली का स्मरण हो आता है जो बूढ़ों को भूखा रख-रख कर मार डालता है[2]। प्लेटो ने जिस साम्यवादी व्यवस्था का सुझाव दिया है, उसमें एक बार फिर आदिम तत्त्वों का न मिलना असंभव है। हम पहले कह आए हैं कि ई० पू० पाँचवीं सदी के यूनान में लोग नरतत्त्वीय अध्ययन से अपरिचित न थे; और हम देख चुके हैं कि यह विश्वास सकारण है कि आमूल परिवर्त्तनवादी विचारक कभी-कभी कहा करते थे कि 'प्रकृति-पुत्रों' में सामाजिक पुर्ननिर्माण के संकेत मिल जाते हैं। यूनान का प्राचीन काल में कभी जो स्वरूप रहा होगा उसी स्वरूप के प्रतिनिधि आज के युग में ये 'प्रकृति-पुत्र' लगते हैं। इसी तरह लगेगा कि प्लेटो यूनान को उसका बचपन देकर उसका फिर से गठन करना चाहता था। रिपब्लिक ने साम्यवाद के मूल में न केवल स्पार्टा की पंचायती भोजन व्यवस्था है, न केवल स्पार्टा की विवाह-प्रथाएँ है[3], बल्कि स्त्रियों के साझे का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान है जो आदिम जातियों में प्रचलित था और संपत्ति के साझे के भी कुछ संकेत हैं जो ग्राम-समुदाय में विद्यमान था। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की एकता की जो धारणा प्रस्तुत की है, उस तक में प्रतिक्रिया का कुछ तत्त्व छिपा हुआ है। वह एक कबाइली या वंशागत राज्य है जो रक्त-संबंध के आधार पर एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। प्लेटो पर कालदोष (anachronism) का या इतिहास को विकृत करने का आरोप लगा देना और यह तर्क देना आसान है कि वह शुरू तो यहाँ से करता है कि राज्य की एकता आर्थिक स्वार्थ के उस भाव पर आधारित है जो उसका अंतिम और सचेत बंधन है और अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह एकता को बंधुत्व के उस भावनात्मक बंधन पर आश्रित मान लेता है जो उस एकता का पहला

---

[1] मूल में पाइब्रोच (Pibroch) शब्द है जिसकी जेमिएसन के आधार पर वेब्स्टर ने निम्नलिखित परिभाषा की है, "पर्वतीय पवन जो उस विशिष्ट राग के उपयुक्त होता है जिसकी संगीतकार या तो अभिव्यक्ति करेगा या शमन"।

[2] प्लेटो के इस सुझाव में यह सिद्धांत निहित है कि व्यक्ति को अपने आप में, अलग से जीवन का अधिकार नहीं होता। व्यक्ति को जीवन का अधिकार उस नागरिक के रूप में होता है—जो राज्य की सेवा कर सकता हो। प्लेटो के विचार और उसके आवश्यक संशोधन के लिए ग्रीन के **प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन**, पृ० 157, § 154 से तुलना कीजिए।

[3] कुछ दृष्टियों से स्पार्टा में भी उस सुदूर अतीत के चिह्न मिलते थे जिसे अन्य यूनानी राज्य पीछे छोड़ चुके थे।

अनगढ़ और अचेत रूप होती है । प्लेटो ने अपना विवेचन आर्थिक प्रेरणा-हेतु को सामने रखकर तार्किक आधार पर आरंभ किया है, ऐतिहासिक आधार पर नहीं—इसलिए इस तरह का तर्क तो गलत होगा ; पर इस आरोप में इतनी सचाई ज़रूर होगी कि कबीले की ओर लौटने से ऐतिहासिक दृष्टि की विफलता का संकेत मिलता है ।

प्लेटो ने जिस साम्यवादी योजना का सुझाव दिया है, उससे अनेक चरम प्रश्न सामने आ जाते हैं । मानव-स्वतंत्रता और वैयक्तिकता के साथ क्या उसकी सगति बैठ सकती है या वह इस तरह की वैयक्तिकता का अंत कर देती है ? दार्शनिक निरपेक्षतावाद (philosophic absolutism) की जिस व्यवस्था पर वह आधारित है, क्या वह व्यक्तिगत अधिकारों की व्यवस्था के अनुकूल है ? क्या—जैसा कि अरिस्टाटल ने कहा है—प्लेटो राज्य के अत्यधिक एकीकरण द्वारा भ्रातृत्व की वेदी पर स्वतंत्रता को, और दार्शनिक-शासकों की प्रतिष्ठा करके कुशलता की वेदी पर समानता को निछावर नहीं कर देता ? प्लेटो का यह लक्ष्य अवश्य है कि कोरे व्यक्तिवाद का नाश कर दिया जाए, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' उक्ति में अधिकारों की जो धारणा निहित है, उसको बल देने वाले व्यक्तिगत अधिकारों का नाश कर दिया जाए और मनचाहा काम करने के अर्थ में स्वतंत्रता का निषेध कर दिया जाए । दूसरी ओर, उसका निश्चय ही यह उद्देश्य है कि वैयक्तिकता की रक्षा का आश्वासन ही नहीं दिया जाए, बल्कि वास्तविक अर्थ में उसका विकास किया जाए और उसके साथ ही अभीष्ट अधिकारों और स्वतंत्रता का भी उन्नयन किया जाए । हम देख ही चुके हैं कि व्यक्ति, वास्तव में, योजना का एक भाग होता है और 'संपूर्ण' का एक अंग होता है । संसार की साध्यपरक धारणा में व्यक्ति की इसी तरह की धारणा निहित है । यह संसार इकाइयों का संघात नहीं, एक समन्वित संपूर्णता है, समग्र योजना है—इसलिए व्यक्ति अपने आप अलग से खड़ा नहीं रह सकता । एक संपूर्णता में वह अपने नियत स्थान पर खड़ा होगा और संपूर्ण के अंतर्गत किसी योजना में अपनी भूमिका निबाहेगा । इस धारणा के आधार पर स्वतंत्रता का अर्थ होगा—इस भूमिका को अबाध रूप से निभाने की स्वतंत्रता ; व्यक्ति के अधिकारों का मतलब उन परिस्थितियों से होगा जो इस भूमिका को निभाने के लिए ज़रूरी हों, और ये परिस्थितियाँ उसे मिलनी ही चाहिएँ ताकि वह अपनी भूमिका उचित रीति से निभा सके । निश्चय ही प्लेटो इस अर्थ में स्वतंत्रता और इस तरह की परिस्थितियाँ पाना चाहता है । साम्यवाद की सारी की सारी व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसी हर चीज़ से आज़ाद कर देना है जो उसे राज्य की योजना में अपना उचित स्थान लेने से रोकती हो । उस व्यवस्था का उद्देश्य है इन परिस्थितियों की सिद्धि—दूसरे शब्दों में, उन अधिकारों का आश्वासन जो उस योजना में उसके काम के ठीक-ठीक संपादन के लिए आवश्यक हैं । पर, इसका यह जवाब दिया जा सकता है कि यह साध्यपरक धारणा व्यक्ति को छोटा बना देती है और उसे संपूर्णता के एक भाग के पहलू में ही केंद्रित कर देती है और उसी दायरे में काम करने देती है । इसके विपरीत, हमारा यह उत्तर हो सकता है कि वह व्यक्ति को छोटा नहीं बनाती, उसका प्रसार और विस्तार करती है ।

व्यक्ति की रुचियाँ जितनी व्यापक होती हैं, उतना ही व्यापक उसका स्वरूप होता है और उस समय व्यक्ति संकीर्णतम होता है जब वह अपने आप में सीमित हो, उसके अपने से परे कुछ हित न हों; और वह व्यापकतम तब होता है जब उसका अस्तित्व एक भाग के रूप में होता है और वह उसी रूप में काम करे और अपने आप को उस संपूर्ण समुदाय के हितों से अभिन्न कर ले जिसका वह भाग हो। जितना विशाल वह अंगी होगा जिसका अंग बनकर व्यक्ति काम कर सके; जितनी विविध व्यक्ति की रूचियाँ होंगी, उतना ही बड़ा उसका व्यक्तित्व होगा। जीवन की आदर्शोक्ति यह कही जा सकती है, "आप अपनी मैत्री की परिधि जितनी बढ़ा सकें, बढ़ाइए और रुचियों में जितनी विविधता ला सकें, लाइए।"[1]

इसलिए, ज़रूरी नहीं कि भ्रातृत्व की सिद्धि के लिए स्वतंत्रता का बलिदान किया जाए ; बल्कि भ्रातृत्व के सहारे तो मानव अपनी शक्तियों का सबसे अधिक पूर्णता और इसीलिए सबसे अधिक स्वतंत्रता के साथ उपयोग कर पाता है। जब व्यक्ति के साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता है मानो वह समाज का एक भाग हो, तब अधिकार नष्ट नहीं होते ; व्यक्ति को अधिकार मिलते हैं समाज का सदस्य होने के नाते ; और वे समाज द्वारा निर्मित एक प्रकार की परिस्थितियाँ हैं जिनमें रह कर व्यक्ति अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन कर सके। साध्यपरक धारणा 'अधिकारों के संपूर्ण सच्चे सिद्धांत की नींव है'[2] क्योंकि उसमें व्यक्ति की यह धारणा निहित है कि वह समाज का सदस्य है, वह उसी साध्य को पाने के लिए प्रयत्नशील है और इस काम की सारी परिस्थितियाँ उसे सुलभ हैं। प्लेटो का विश्वास था और उसने सुख के नाम पर अपने पक्ष में इस आशय की युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं कि उसके दर्शन में न तो व्यक्ति का बलिदान किया गया है और न स्वतंत्रता का या अधिकारों का। उसका कहना है कि उसके संरक्षक सुखी थे यानी वे राज्य में अपने नियत स्थान पर काम करके अपनी वैयक्तिकता की निर्बाध और पूर्ण अभिव्यक्ति की उस भावना का परितोष प्राप्त करते थे, जिसे यूनानियों ने प्रसन्नता (यूदाइमोइया)

---

[1] "भाइयो, मैत्री निश्चय ही स्वर्ग है और मैत्री का अभाव नरक। मैत्री जीवन है और उसका अभाव मृत्यु। आप इस धरती पर जितने काम करते हैं, वे सब मैत्री की खातिर ही तो करते हैं। जिस जीवन-दीप का आधार मैत्री है, वह हमेशा-हमेशा ज्योति देगा और जब बहुत से लोगों का जीवन-दीप धरती पर बुझ चुका होगा, तब भी इस मैत्री-सूत्र से बँधे हुए आप में से एक-एक व्यक्ति का जीवन-दीप प्रेम की ज्योति से जगमगाएगा। (विलियम मॉरिस, **ए ड्रीम ऑफ जान बुल**)। "किसी समग्र का अंग न होने का अर्थ है कुछ भी न होना और यहां मेरी स्थिति है और जब तक मैं संसार के किसी एक भाग में इस तरह से नहीं समा जाता कि मेरा काम ही समूची इकाई को सहारा देना हो जाए, तब तक मैं अपने आप को इसी रूप में समझूंगा। (डॉने, बाल्टन की कृति लाइफ़ में उद्धृत एक पत्र के आधार पर)। पीछे पृ० 266, पा० टि० 1 से तुलना कीजिए।

[2] ग्रीन, **प्रिंसिपिल ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन**, पृ० 57, § 39।

कहा है[1]। उसका कहना है कि "अगर राज्य यथोचित होगा तो व्यक्ति का अपने आप विकास होगा और वह अपने साथ ही और सब का भी हित करेगा" (497 A)। तब, जहाँ तक व्यक्ति की स्वतंत्रता का संबंध है, प्लेटो के साम्यवाद में दोष कहाँ है ? माना कि प्लेटो ने वैयक्तिकता को ठीक समझा है और (समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के अबाध कार्य-कलाप की परिस्थितियों के रूप में) अधिकारों को भी ; तब क्या उसके सोचने में कोई गलती नहीं ? वह सही सिद्धांतों से चलता है ; पर क्या उनके प्रयोग में यहाँ दोष नहीं हो सकते, जसे कि अन्यत्र हुए है ? इसमें दो दोष दिखाई पड़ते हैं। पहली बात तो यह है कि यह सच है कि 'आत्म' का विस्तार होना चाहिए और उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएं फैलनी चाहिएँ। पर, यह भी सच है कि उसकी एक जड़ होनी चाहिए। रुचियों का व्यापक प्रसार बांछनीय हो सकता है—पर यह प्रसार तब तक बेकार है जब तक उसे सशक्त व्यक्तित्व और व्यक्ति की सजग भावना का आधार न मिले। जब तक हमारे सामने आत्म-भावना का वह आधार न हो, तब तक रुचियों के प्रसार में कुछ नहीं रखा और उसका फल भी कुछ नहीं। प्लेटो की भूल यह है कि इमारत की बात सोचने में वह नींव को भुला बैठा है, कि वह आत्म-विस्तार की कोशिश में यह भुला बैठा कि उसमें गंभीरता विद्यमान होनी चाहिए[2]। प्रायः देखने में आता है कि उसी मानस की रूचियाँ बड़ी विविध और व्यापक होती हैं जिसमें न न तो प्रभाव डालने की क्षमता होती है और न अपनी वैयक्तिकता ही ; और व्यक्तित्व की सशक्त भावना थोथे परोपकार की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ जाती है और दुनिया का अधिक भला कर सकती है—भले ही उस व्यतिक्त्व की रुचियों का क्षेत्र संकीर्ण हो। एक प्रकार के प्रसार का दूसरे प्रकार के संकेंद्रण से समन्वय करना होगा और इसलिए हमें सबसे पहले अपने आपको अलग-अलग व्यक्तियों के रूप जानना-समझना होगा। इसके बाद ही हम भेद-भावना से ऊपर उठ सकेंगे और समझ सकेंगे कि हम एक बृहत्तर व्यवस्था के अंग हैं और बृहत्तर साध्य के साधक। जब प्लेटो संपत्ति और परिवार का उन्मूलन करता है, तब वह अपने आपको अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में जानने-समझने की इसी शक्ति को नष्ट करता है क्योंकि संपत्ति और परिवार किसी भी सचेत व्यक्ति-भावना के आवश्यक आधार होते हैं।

इस तरह, प्लेटो के साम्यवाद का एक दोष यह है कि वह जिस सच्ची आत्म-भावना को जगाना चाहता है, उसी के आधार को नष्ट करके वह उसकी संभावना का अंत कर देता है। वह व्यक्ति को सोचने, समाज के सदस्य के रूप में काम करने और सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति करने का अधिकार यानी आवश्यक परिस्थिति नहीं देता क्योंकि वह व्यक्ति के लिए उस सबका निषेध कर देता है जो उसके चिंतन और कर्म मात्र की तथा किसी भी इच्छा की अभिव्यक्ति की आवश्यक

---

[1] क्या आदर्श राज्य के संरक्षक सचमुच 'सुखी' हैं—यह एक और प्रश्न है। (तुलना कीजिए, पीछे अध्याय 10 क ; आगे अध्याय 11 घ)।

[2] नैटिलशिप ने इसे यों कहा है, प्लेटो निगम-भावना के गुणों से इतना अभिभूत है कि उसने यह भुला दिया है कि "निगमों में आत्मा नहीं होती"।

परिस्थिति होती है। प्लेटो के चिंतन में एक और जो दोष देखा जा सकता है वह उसकी माँग है कि व्यक्ति राज्य से निचले स्तर की किसी व्यवस्था या योजना से अपने आप को अभिन्न नहीं करेगा। यह मान्यता इतनी ऊँची है कि मनुष्य उस तक नहीं पहुँच सकता। हर व्यक्ति अपने आपको एक अपेक्षाकृत निचली योजना और संकुचित व्यवस्था से अभिन्न कर लेता है और वैसा किए बिना रह नहीं सकता। यह व्यवस्था या योजना है—परिवार। यह सही है कि राज्य एक संघ है और हममें से हरेक उसका अंग है पर यह भी सच है कि वह संघों का संघ है और हममें से हर कोई इन संघों का अंग है। अरिस्टाटल ने यही महान् पाठ पढ़ाया है। फिर, यह भी सच है कि राज्य मन की उपज है, कि वह बहिरंग संगठन में मन का मूर्त्त स्वरूप है। पर, यह सच नहीं है कि राज्य की एकता वही बात है जो एक अकेले मन की एकता, या यह कि एक ही संगठन में मन का मूर्तीकरण होना चाहिए—'एक और अविभाज्य गणराज्य' में।

अगर हम वही दृष्टिकोण स्वीकार कर लें जो प्लेटो ने सुझाया है और राज्य को एक सावयव जीव के रूप में मान लें यानी एक ऐसी सर्वांगपूर्ण इकाई मान लें जिसके अंग एक साध्य की सिद्धि के साधन हों, तब हम इस तरह की आलोचना का अर्थ और महत्त्व ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे[1]। इस तरह की सर्वांगपूर्ण इकाई का प्रतिनिधि आम तौर से मानव-शरीर को माना गया है जिसके अंग जीवन-रक्षा के लिए इकाई के सदस्यों की तरह होते हैं। राज्य को सावयव जीव के रूप में मानना आवश्यक भी है और महत्त्वपूर्ण भी—आवश्यक इसलिए है कि राज्य में जो एकता पाई जाती है उसकी सच्ची झलक इससे मिल जाती है; महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इससे राज्य की एकता के उन झूठे विचारों का प्रतिकार हो जाता है जिनके अनुसार यह एकता मूलतः एक वैधिक धारणा है और उसका स्वरूप एक संविदे का फल। राज्य की सावयव जीव विषयक धारणा आधुनिक राजनीति-चिंतन में जीव-विज्ञान से ग्रहण की गई है और वह संविदा की उस वैधिक धारणा के विरुद्ध है जिसका हॉब्स और लॉक जैसे विचारकों ने प्रतिपादन किया है—ठीक वैसे ही जैसे प्लेटो ने अपने साम्यवाद से इसी तरह की धारणा ग्रहण की और उसे सोफ़िस्टों के

---

1. "जब हम एक सावयव जीव की बात करते हैं, तब हमारा अर्थ होता है—(1) कि वह एक ऐसी सजीव रचना है जो अलग-अलग तरह के अनेक भागों से बनी है; (2) कि अपनी विभिन्नता के कारण, वे भाग एक दूसरे के पूरक और परस्पर आश्रित हैं; (3) कि इसके फलस्वरूप उस जीव का स्वास्थ्य इस बात पर निर्भर होगा कि प्रत्येक भाग अपना उचित कार्य पूरा करे... राज्य एक सावयव जीव नहीं होता, वह तो एक सावयव जीव की तरह होता है। वह सावयव इसलिए नहीं होता कि वह भौतिक ढांचा नहीं होता, मानसिक ढांचा होता है—यानी वह समान उद्देश्य की सिद्धि के लिए विभिन्न मनों का संयोग होता है। परंतु, यह मानसिक ढांचा सावयव जीव जैसा इसलिए होता है कि ... समान उद्देश्य की पूर्त्ति इस बात पर निर्भर होती कि अलग-अलग भाग अपने अन्योन्याश्रित काम पूरे करें" (**पॉलिटिकल थॉट इन इंगलैंड फ्रॉम स्पेंसर टु टुडे**, पृ० 107)।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण के विरोध में प्रस्तुत किया। प्लेटो की तरह, आजकल राज्य के सावयव जीव-रूप पर जो बल दिया जाता है, वह उचित ही है और शुभ है। संविदापरक धारणा राज्य को एक व्यापारिक साझेदारी का रूप दे देती है जिसके सदस्यों को एक दूसरे से बांधने वाला सिर्फ़ एक ही सूत्र होता है—स्वार्थ का ऐच्छिक सूत्र। इन सदस्यों ने मानो अपने-अपने धन को एक व्यापारिक संस्था में लगा दिया है जिसे वे राज्य कहते हैं; और वे सोचते हैं कि इससे उन्हें लाभ होगा और अगर वे देखते हैं कि इससे उन्हें कोई लाभ नहीं होता—उदाहरण के लिए, सोफ़िस्टों का विचार था कि 'सबल' को इससे कोई लाभ नहीं होता—तो वे अपना रूपया संस्था में से वापस ले सकते हैं और ले लेंगे[1]। इसके विपरीत सावयव दृष्टिकोण के अनुसार यह सूत्र ऐच्छिक नहीं होता, अनिवार्य होता है। उससे हम यह सबक सीखते हैं कि राज्य की एकता न तो हाथों से बनती है और न वह हाथों से टूटती है; वह तो मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य की आवश्यकताओं का अनिवार्य परिणाम होती है। उससे हम सीखते हैं कि जैसे शरीर के अंग शरीर को नहीं छोड़ सकते, वैसे ही राज्य के सदस्य राज्य को नहीं छोड़ सकते और राज्य का विघटन जितना उसका अपना मरण है, उतना ही उसके सदस्यों का भी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जिस तरह व्यक्ति का इस रूप में राज्य से संबंध हो जाता है कि राज्य व्यक्ति के स्वभाव का फल और उसके अस्तित्व का अनिवार्य तत्व होता, इसी तरह व्यक्ति का व्यक्ति से और नागरिक का नागरिक से संबंध हो जाता है। एक ही इकाई के सदस्य होने के नाते नागरिकों का एक-दूसरे से घनिष्ठ संबंध होता है। जैसे एक अंग में पीड़ा होने पर शेष अंगों में भी पीड़ा-सी होने लगती है, उसी तरह एक वर्ग की दरिद्रता और अधोगति से शेष वर्गों का जीवन भी अभावमय हो जाता है[2] और इस तरह शक्तिशाली सदस्यों के लिये यह ज़रूरी हो जाता है कि वे स्वयं अपने ही कल्याण के

---

1. रिफ़्लेक्शंन्स ऑन फ्रेंच रेवोलूशन में बर्क द्वारा व्यक्त विचारों से तुलना कीजिए। "हमें यह नहीं समझना चाहिए कि राज्य मिर्च या कॉफ़ी, कपड़ा या तम्बाकू या ऐसी ही किसी और छोटी-मोटी चीज़ के व्यापार में साझेदारी का करार है, इससे अधिक कुछ नहीं—ऐसा करार जो किसी मामूली-से अस्थायी हित की पूर्ति के लिए किया जाए और किसी भी पक्ष की सनक पर भंग कर दिया जाए"।
2. प्लेटो और अरिस्टाटल के चिंतन में सावयव जीव-विषयक धारणा जिस रूप में व्यक्त हुई है; उसमें एक दोष है—उसमें उन अंगों की कल्पना की गई है जो शेष शरीर के जीवन के साधन तो हैं पर उसके भागीदार नहीं। फिर भी, राज्य की सावयव जीव-विषयक धारणा के आधार पर प्लेटो ने यह तर्क दिया है कि जिस प्रकार जीव में एक अंग का दूसरे के साथ सही अनुपात होना चाहिए और सब अंग अलग-अलग समग्र इकाई के अनुकूल होने चाहिएँ, कहीं ऐसा न हो कि कोई एक अंग बहुत अधिक बढ़ जाए और बाकी अंगों को नुकसान पहुँचाए, उसी तरह राज्य में एक वर्ग का दूसरे के साथ सही अनुपात होना चाहिए और सारे वर्गों का सामंजस्य इस प्रकार होना चाहिए कि वे समग्र इकाई के कल्याण में योग दे सकें (रिपब्लिक, (420 D)। पर, इस धारणा का दूसरा पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। (अध्याय 9—छ) से तुलना कीजिए)।

लिए दुर्बल सदस्यों को शिक्षा और सहायता दें। स्वार्थ और आकस्मिक संबंध को हटाकर उसकी जगह प्रतिष्ठित होती है लोकमंगल और जीवंत एकता की धारणा।

प्लेटो के चिंतन में लोक-मंगल की भावना प्रखर रूप में पाई जाती है। उसने अपने संरक्षकों में जिस गुण की कल्पना की है, वह है उसकी सत्ता के प्रति सजीव चेतना। उसकी दृष्टि में एकता का बहुत अधिक महत्त्व है। "जिससे राज्य में एकत्व की स्थापना होती हो, उससे बढ़कर श्रेय और किसी चीज में नहीं है" (462 B)। किंतु उस पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि सावयव जीव-विषयक धारणा को वह बहुत ज्यादा खींच ले गया है और "राज्य में एकत्व स्थापित करने के बारे में उसने अति कर दी है"।

राज्य के सच्चे सावयव सिद्धांत में वह बात माननी पड़ेगी कि सावयव जीवों के वर्ग की विशेषताएँ कुछ हद तक राज्य में भी मिल जाती हैं और अन्य किसी वर्ग की अपेक्षा राज्य इस वर्ग के अधिक निकट है, फिर भी उसे पूरी तरह इस वर्ग में नहीं रखा जा सकता[1]। सबसे पहली बात तो यह है कि अगर राज्य को सावयव जीव मान लिया जाए तो भी वह एक ऐसी सत्ता होगी जिसके अंगों में इच्छा विद्यमान होती है, उस इच्छा के साथ उसकी अभिव्यक्ति की माँग भी होती है और उस माँग के साथ व्यक्तिगत संपत्ति का दावा भी होता है जो इस अभिव्यक्ति को रूप देने के लिए आवश्यक आधार होता है, आवश्यक माध्यम होता है। दूसरे, राज्य ऐसा सावयव जीव होता है जिसके अंग अन्य सावयव जीवों के भी अग होते हैं। उदाहरण के लिए वे परिवार के सदस्य होते हैं और परिवार ऐसी सावयव सत्ता है जिसका साध्य राज्य के साध्य से हीन भले ही हो, पर जिसे राज्य के साध्य की वेदी पर निछावर नहीं किया जा सकता। परिवार जैसी किसी सावयव सत्ता का, जो मानव प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पूरी करती हो, विनाश नहीं किया जाना चाहिए—भले ही पहले-पहले देखने पर वह राज्य की सावयव एकता के लिए घातक लगती हो। पर, प्लेटो के सिर पर राज्य का भूत सवार हो गया था और इस तरह सवार हो गया था कि वह आग की तरह था जो जो कुछ भी राज्येतर है, उस सबको जलाकर खाक कर देता है[2]। आग किसी भी चीज को अछूता नहीं छोड़ती ; वह

---

[1] जो सावयव सिद्धांत पूरी तरह जीव-विज्ञान पर आधारित हो, उसके दायरे में राज्य का नैतिक पक्ष नहीं आता और न वह उसे स्वीकार करता है। यहाँ नैतिक पक्ष का मतलब यह है कि राज्य ऐसा समाज है जिसके चरण सचेत भाव से स्वतः श्रेय की धारणा की ओर बढ़ रहे हों। प्लेटो का सावयव सिद्धांत साम्यवाद पर आधारित है। अतः, उसमें इस तरह की कोई स्वीकृति नहीं है और उसने सावयव जीव के वर्ग का जिस रूप में भावन किया है, उसमें राज्य का एक ऐसा पहलू आ गया है जिसे हर्बर्ट स्पेंसर का सावयव सिद्धांत अपने दायरे में न ले सका था।

[2] इस संबंध में प्लेटो स्पार्टा की भावना के प्रति सच्चा था "जहाँ व्यक्ति और राज्य के बीच या तो संघ थे ही नहीं और अगर थे, तो वे भी यांत्रिक उप-विभाजन के साधन मात्र बन गए थे"। एथेंस में स्थिति दूसरी थी और हम देखेंगे कि अरिस्टाटल एथेंस के प्रति सच्चा था।

भी राज्य की सावयव एकता के संदर्भ में किसी अपवाद को सहन नहीं कर सकता था। यह मनोदृष्टि प्लेटो में सिद्धांततः ही लक्षित होती हो—सो बात नहीं। विश्व-इतिहास के विभिन्न युगों में, मानव-जाति के यथार्थ जीवन में, इसकी बहुत बड़ी भूमिका रही है। सोलहवीं सदी और फ्रांसीसी क्रांति के अधिकांश युग की यह विशेषता है कि उसमें राज्य को ही एकमात्र सावयव सता माना गया है और उसके गौरव की वेदी पर और सब सावयव सत्ताओं को भेंट चढ़ा दिया गया है। धर्म-सुधार-आंदोलन (Reformation) को प्लेटोवादी कहना अप्रासंगिक भले ही लगे, पर अपने एक पहलू में वह आंदोलन राज्य के केंद्रीकरण के उस आम आंदोलन का भाग था जिसने राज्य के अलावा और सारे संगठनों को या तो नष्ट कर दिया या राज्य के चरणों में झुका दिया। यह एक ऐसा आंदोलन है जिसकी झलक लूथर में भी मिलती है और मेकियावेली में भी; और ये दोनों ही उस आंदोलन के अग्रदूत हैं[1]। इस आंदोलन ने एक ओर तो चर्च के संगठन पर प्रहार किया और उस मध्ययुग से बदला लेने की कोशिश की जिसमें चर्च को रानी के आसन पर बिठाकर राज्य को उसकी चेरी बना दिया गया था। दूसरी ओर उसमें पुरानी मध्ययुगीन संस्थाएँ बह गईं। उदाहरण के लिए इँगलैंड में शायर और हंड्रेड नामक संघों का अंत हो गया और उनकी जगह राज्य के मनोनीत व्यक्तियों ने ली। फ्रांसीसी क्रांति में फिर केंद्रीकरण के आंदोलन का यही असर दिखाई पड़ता है। १७८९ की क्रांति ने प्राचीन शासन-व्यवस्था (ancien regime) के अयोग्य निरंकुशतावाद का अंत कर उसकी जगह गणराज्य के आततायी स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना की और जिस चर्च की स्थापना की और जिस चर्च को राजतंत्र ने धार्मिक स्वतंत्रताओं* के नाम पर अपने चरणों में झुकाने की कोशिश की थी, उसका 'एक और अविभाज्य गणराज्य' ने विनाश कर दिया। चर्च से उसकी संपत्ति छीनने के पक्ष में जिस तर्क का उपयोग किया गया था, वह महत्त्वपूर्ण है: चर्च एक निगम है जो अपनी आय के कारण राज्य की एकता के लिये खतरनाक है[2]।

यहाँ हम एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर आते हैं और वह है संघों के साथ राज्य के संबंध की समस्या। पिछले वर्षों में लोगों के मन पर यह समस्या बहुत छाई रही है और गियर्क के प्रभाव से संघों के वास्तविक व्यक्तित्व, सहज उद्‌भव और विकास

---

[1] ट्रीटश्के, पॉलिटिक, 1. 89।

* मूल में Gallican liberties शब्द है। इसका संकेत उन अधिकारों से है जिनका फ्रांस का रोमन कैथोलिक चर्च उपभोग करता था। ये अधिकार राज्य-शक्ति के विरोध में पड़ते थे और फ्रांस के नरेशों ने अपनी सत्ता बढ़ाने की खातिर चर्च के इन अधिकारों को नष्ट करने का प्रयत्न किया।

[2] चर्च के प्रति फ्रांसीसी सरकार की नीति से और हाल के वर्षों में संस्था-विधि के निर्माण से यही बात स्पष्ट होती है। फ्रांस में (जब तक राज्य संघों का पंजीयन न कर ले और उन्हें लाइसेंस न दे दे, तब तक) संघों के प्रति आपत्ति करने की प्लेटोवादी परंपरा रही है, पर, इँगलैंड में अरिस्टाटल के सिद्धांत का अनुसरण करने की और राज्य के अंतर्गत अनेक संघों और समुदायों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है।

तथा निहित अधिकारों के वारे में बहुत कुछ कहा गया है[1]। यूनानी जगत की विधि और व्यवहार में संस्थाओं की वास्तविक स्थिति क्या थी—यहां इसका संकेत दे देना तर्क-श्रृंखला की दृष्टि से भी उचित होगा, और प्लेटो को समझने के विचार से भी। यूनान के आम नगरों में कुल और कवीले जैसी संस्थाएँ थीं जो समान उपासना-पद्धति के आधार पर संगठित थीं और जिनके पास साझे की ज़मीनें तथा अन्य संपत्ति थी।

"इनमें से प्रत्येक समाज एक जीवंत प्राणी है और वह तब तक बना रहता है जब तक उसके सदस्यों में भाई-चारे की भावना रहती है। स्वयं राज्य इन समाजों में सबसे अधिक व्यापक होता है और उसका दायरा सबसे बड़ा होता है। उसके अलावा और उसके अधीन जो समाज हैं, अगर वह उनकी रक्षा नहीं कर सकता और उन्हें बनाए नहीं रख सकता, तो उसके अपने अस्तित्व का भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। व्यक्ति-नागरिक अपने आपको अनेक छोटे-बड़े वृत्तों का सदस्य समझता है ... प्रत्येक समाज में जो प्राण-तत्त्व पाया जाता है, वही यूनानियों के लिए किसी देवता का सगुण रूप धारण कर लेता है, या यह कहना ज्यादा सही होगा कि चूंकि वह जीवंत होता है, अतः उसे दिव्य समझा जाता है और इस प्रकार उसे सव्यक्तित्व समझा जाता है और अंत में व्यक्ति कहा जाता है।[2]"

अस्तु, यूनानी इस विचार तक तो कभी नहीं पहुँच सके कि निगम विधि-व्यक्ति (juristic person) होता है। पर जिस तरह मध्ययुगीन मठ अपने इष्ट साधु-संत के व्यक्तित्व में और उसके माध्यम से अपनी वैयक्तिकता की सिद्धि करते थे, उसी तरह यूनानी भी संघ को उसके देवता के रूप में और उसके माध्यम से एक व्यक्ति समझते थे। इस तरह, हालांकि एथेंस के पुराने कुल और कबीले सगोत्र-संघों के रूप में तो न रहे थे, फिर भी उनका अस्तित्व बना रहा क्योंकि वे व्यक्ति थे या उनका देवता व्यक्ति था और उन्हें नष्ट करने का सिर्फ़ एक ही उपाय था—उनकी हत्या। जब क्लीस्थेनीज़ के दिनों में डेमों का जन्म हुआ, तो हालांकि वे स्थानीय और कृत्रिम इकाइयां थीं, फिर भी उनका जल्दी से एक पंथ बन गया और उनके पास एक अपना खजाना तथा धन-संपदा भी हो गई। इस तरह वह केवल प्रशासनिक विभाजन न रहा, बल्कि एक सप्राण समाज बन गया जो नागरिकों की पंजी रखता था, सीनेट के लिए उम्मीदवारों का चुनाव करता था और ऐसे अनेक काम करता था जो एटिका के जीवन में डेमों को करने पड़ते थे। कुलों, कबीलों और डेमों में उन धार्मिक-संस्थाओं को जोड़ देना चाहिए जो नए देवता या उपासना-पद्धति के आधार पर पैदा हो गई थीं। डायोनीसियस का अपना संप्रदाय था और आर्फ़ियस-संस्कारों के अपने दायरे थे। अंत में, शिल्पियों और व्यापारियों की संस्थाएँ थीं जो

---

[1] तुलना कीजिए, पॉलिटिकल थ्योरीज़ ऑफ़ द मिडिल एजेज़, मेटलैंड द्वारा अनूदित (=दास ड्यूट्शे जेनोस्सेनस्चाफ़्टसरेख्ट, III. C. 2, § 11) और जोहानीज़ एल्थूसियस। फ़िगिस, चर्चेज़।

[2] विलामोवित्ज़, स्टाट उंद गेसेलस्चाफ़्ट डेर ग्रीचेन, पृ० 48।

अकेली गिल्डें न होकर वीर या देवता के आधार पर संस्था बन सकती थीं और इस तरह से उनका स्वरूप भी सचेत समाज का सा हो सकता था[1]। ये सब ऐसी बातें हैं जिनकी प्लेटो के दर्शन में हमें शायद ही कोई झलक मिले, पर अरिस्टाटल के सिद्धांत में इन तथ्यों को स्वीकृति मिली है और उसने कबीलों और डेमों के लोगों के बारे में कहा है कि उनका रूप ऐसी संस्थाओं का है जो राज्य के अनिवार्य भाग हैं। अरिस्टाटल ने परिवारों और गांवों को भी राज्य के संघटक सदस्य कहा है[2]।

जिस तरह, प्लेटो के मन में राज्य की एकता का भाव दृढ़ता के साथ जमा हुआ है, और उसकी वजह से वह अन्य किसी संस्था को सहन करने के लिए तैयार नहीं, उसी तरह वह ऐसे किसी व्यक्ति-सदस्य को भी स्वीकार नहीं करता जो राज्य की सेवा करने लायक न हो। समाज-सेवा ही एकमात्र मंत्र है : राजनीतिक व्यवस्था में बेकार लोगों के लिए कोई जगह नहीं है। राज्य की सेवा में हर तत्त्व का उपयोग होना चाहिए—जिस तत्त्व का उपयोग नहीं हो सकता और जो सेवा करने के योग्य नहीं है, वह 'अन्यायी' तत्त्व होता है और उसका अंत होना चाहिए। नागरिक के ऊपर राज्य के उत्कट दावे की यह जो भावना है, उससे रिपब्लिक की अनेक विशेषताओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। इससे अपाहिजों के प्रति प्लेटो के दृष्टिकोण की व्याख्या हो जाती है (पीछे खंड–ख देखिए)। वह सेवा नहीं कर सकता—इसलिए ज्यादा अच्छा यह है कि वह मर जाए। यहाँ समाज-सेवा के क्षेत्र में कार्य-कुशलता का स्वर इतना तीव्र है कि हमारे आधुनिक चिंतन में उसे सहन नहीं किया जा सकता और राज्य की सावयव धारणा का यह प्रयोग हमें विकृत लग सकता है। हम इस तरह का तर्क करने लगते हैं कि चूंकि राज्य सावयव दृष्टि से एक है, इसलिए उसे चाहिए कि वह अपने दुर्बल सदस्यों को अपने साथ लेकर चले, अपने सामान्य जीवन की पूर्णता से उनके दोषों और अपूर्णताओं का निवारण करे और यह भरोसा रखे कि ऐश्वर्य और करुणा का संयोग होने से उसके जीवन में अधिकाधिक पूर्णता आएगी क्योंकि जो सदस्य विशेष योगदान कर सकते हैं, उन्हें मान्यता और सहायता मिलती है। इसके विपरीत, प्लेटो यह बहस करने के लिए तैयार है कि चूंकि राज्य एक सक्रिय सावयव सत्ता है, अतः हर सदस्य को चाहिए कि वह योग्यतापूर्वक अपना काम करे और भार का जो हिस्सा उसके हिस्से में आए उसे ढोए—या फिर हट जाए। विशिष्ट कार्य की धारणा उसे कठोर बना देती है; दया की झूठी भावना के फेर में पड़कर वह न्याय के गुण में कमी नहीं आने दे सकता। उसने एक से अधिक बार कहा है कि नर मधुमक्खियाँ* वास्तविक राज्यों का अभिशाप हैं और यह संकल्प किया है कि उसके राज्य में नरमधुमक्खियों के लिए कोई जगह न होगी। उसने स्त्रियों की मुक्ति का जो प्रतिपादन किया है, उसका आधार यही है; क्योंकि इस युक्ति से स्त्री-जाति—

---

1. विलामोवित्ज, स्टाट उंद गेसेलस्चाफ़्ट डर ग्रीचेन, पृ० 48, 51, 114। सोलोन की संस्था-विधि के संबंध में पीछे पृ० 64 देखिए।
2. एथिक्स VIII., 9, §§ 5 — 6 (1160, a 18 — 28); पॉलिटिक्स, 1. 2, § 8 (1252, b 28) और 1, 3, § 1 (1253, b 2 — 3)।

* निकम्मे लोग।

जो नर-मधुमक्खियों का जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर थी, कामकाजी मधुमक्खियों का रूप ले लेती है। पुनः, प्लेटो का कला के प्रति जो दृष्टिकोण रहा है उसका भी यह एक आधार है। स्पष्टतः कला समाज-सेवा की एक पद्धति होनी चाहिए और इसलिए उसे किसी स्पष्ट सामाजिक प्रयोजन की पूर्ति करनी चाहिए। अंत में, वह उसके साम्यवादी सिद्धांत का भी एक कारण है क्योंकि साम्यवाद उन बाधाओं को दूर करने की पद्धति है जो समाज के सबसे ऊँचे और सबसे उत्तरदायी अंगों में अच्छी से अच्छी और भरपूर सेवा के जोश को ठंडा कर देती हैं[1]।

प्लेटो कुछ-कुछ राजनीतिक रहस्यवादी है जिसने भेद के तथ्य के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया है। रहस्यवादी की तरह वह चाहता है कि पूर्णता का प्रेमी अपने प्रेमपात्र के साथ—संरक्षक राज्य के साथ—इस तरह एकाकार हो जाए कि अनन्यता-सिद्धि की कोशिश में उसकी पृथक सत्ता का लोप हो जाए। अरिस्टाटल के इस कथन में अथाह ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है : "राज्य की जिस एकता को उसने सब चीज़ों से बढ़कर माना है, वह एकता कुछ-कुछ ऐसी ही है जिसका अरिस्टोफ़ेन्स ने **सिम्पोज़ियम** में यह कहकर उल्लेख किया है कि प्रेमातिरेक के वश प्रेमी यह चाहते हैं कि साथ-साथ जिए-बढ़ें और दो की जगह एक हो जाएँ और इस स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि वे दोनों या उनमें से कोई एक मिट जाए[2]।" आखिर, किसी संघ के अस्तित्व का प्रयोजन एकता ही नहीं हो सकता। वह तो एक गुण है जो अपने साध्य तक पहुँचने के लिए किसी भी संघ में होना चाहिए। और वह साध्य है उस संघ के जीवन की समृद्धि और पूर्णता (अरिस्टाटल ने इसे आत्म-निर्भरता कहा है)। इस समृद्धि की सिद्धि तब होती है जब विभिन्न अंग अपना अलग-अलग योगदान करें और इसके लिए जरूरी है कि वे अपनी भिन्नता बनाए रखें; और पूर्णता की सिद्धि तब होती है जब प्रत्येक सदस्य अपने नियत स्थान पर रहते हुए अपनी शक्ति का उपयोग करे। संघ-भाव के या एकता की इस भावना के बिना शक्ति का वह सोता नहीं फूटेगा पर जब तक जीवन की यह पूर्णता और समृद्धि लक्ष्य न बनेगी तब तक संघ-भाव की स्थिति भी वैसी ही होगी जैसे कोई निष्प्राण काया। सबसे अच्छा समाज वही है जो अपने हर सदस्य को याद दिलाता रहे कि उसका कर्त्तव्य अपने आपको समाज-सेवा में लगा देना है पर इसके साथ ही जो स्वयं यह याद रखे कि उसका अपना कर्त्तव्य यह है कि अपने हरेक सदस्य की समस्त शक्तियों को उभारे और उसकी सभी संभावनाओं को जगा दे। मूल सत्य है व्यक्ति की आत्मा; और समाज-हित की बात

---

1. प्लेटो हर प्रकार की क्षमता का उपयोग सक्रिय सेवा में करने के लिए कितना उत्सुक है—इसका एक उदाहरण हमें लॉज़ (794 D—795 C) में मिलता है जहां उसका आग्रह है कि लड़कों और लड़कियों को दोनों हाथों से काम करने की शिक्षा मिलनी चाहिए ताकि वे अपने धनुषों, गोफनों और बरछियों का राज्य की रक्षा में अधिक से अधिक कारगर ढंग से उपयोग कर सकें।
2. अरिस्टाटल, पॉलिटिक्स, 4, § 6 (1262, b 9—13)। एकता के प्रति प्लेटो का उत्साह रिपब्लिक, 462 A—E में सबसे अधिक मुखर हुआ है।

सोचते हुए भी, समाज-सेवा के साधक जुटाने के बजाए अगर कोई आत्मा की समस्त अंतरंग शक्तियों को जगाने की बात सोचे तो ज्यादा अच्छा है।

पर प्लेटो एकदम राजनीतिक रहस्यवादी किसी भी तरह नहीं है। यह कहना उचित नहीं है कि वह एकता को सब चीज़ों से बढ़कर महत्त्व देता है। उसका चरम आदर्श है न्याय और न्याय का अभिप्राय है किसी विशिष्ट कर्म का संपादन। न्याय में अनेक बातें निहित हैं। उसमें यह निहित है कि प्रत्येक अंग को बेरोकटोक अपना काम करने की आज़ादी है; और इसीलिए प्लेटो ने अपने संरक्षकों के बारे में कहा है कि उनका आवश्यक काम है स्वतंत्रता का निर्माण करना और केवल उन चीज़ों को प्रश्रय देना जिनसे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायता मिले (395 B—C)। फिर, इसमें सुख भी निहित है—वह सुख जो सही साध्यों की पूर्त्ति में निरत शक्ति की सचेत भावना से उत्पन्न होता है और इसीलिए प्लेटो ने अपने नगर के बारे में यह भी कहा है कि उसकी स्थापना उसके सब नागरिकों के लिए सुख सुलभ करने के प्रयोजन से हुई है। अंत में, एक ऐसी योजना के अर्थ में उसमें एकता की बात निहित है जिसके अंतर्गत और जिसकी क्रियान्विति के लिए हर अंग अपना अलग-अलग काम करता है; और इसीलिए उसने कहा है कि एकता का सूत्र ही विधिकर्त्ता का मुख्य लक्ष्य है और राज्य का महत्तम श्रेय (462 B—C)। पर, यह स्पष्ट है कि जिस एकता का अस्तित्व न्याय की ख़ातिर होता है वह अनेकता के रूप में ही विद्यमान हो सकती है। वह अलग-अलग कार्यों में लगे हुए अलग-अलग अंगों की एकता होनी चाहिए; और प्लेटो के राज्य की संपूर्ण रचना, जिसमें तीन वर्ग हैं और इन वर्गों के अलग-अलग तीन काम हैं, इस तथ्य के अनुरूप हैं। आख़िर, प्लेटो अनेकता में एकता की ज़रूरत समझता है और हमें याद रखना चाहिए कि जब वह निरपेक्ष और निर्विशेष एकता पर ज़ोर देता है, तब उसके मन में जो एकता होती है, वह अंग की एकता होती है, अंगी की नहीं। उसका लक्ष्य संरक्षक हैं और शासक-वर्ग के रूप में उनकी पृथक् सत्ता बनाए रखने के लिए वह इतना उत्सुक है कि उनमें आपस में अपना-तेरी का अंत कर देता है और साथ ही उनका राज्य के साथ तदाकार भी। दूसरी ओर परिणाम यह निकलता है कि संरक्षक राज्य-रूप हो जाते हैं। तीसरे वर्ग का प्राय: लोप हो जाता है। सामान्य साम्यवादी व्यवस्था में सहायकों का पूर्ण संरक्षकों में विलय हो जाता है और भेदरहित एकता का स्वर तीव्र हो उठता है। अगर हम इस तथ्य पर ज़ोर दें तो हम अरिस्टाटल के शब्दों में प्लेटो पर राजनीतिक रहस्यवाद का आरोप लगा सकते हैं। अगर हम रिपब्लिक के पूर्ववर्त्ती भाग और मूल योजना पर ज़ोर दें, तो हम देखेंगे कि यह आरोप भ्रांतिपूर्ण और निराधार है। यह तो संतुलन का विषय है और प्लेटो के हर पाठक को स्वयं ही यह संतुलन स्थापित करना चाहिए।

अध्याय 11

प्लेटो और यूनान के राज्य

(क) रिपब्लिक—एक आदर्श
(ख) आदर्श के आलोक में वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन
(ग) पहली विकृति—धनिकतंत्र
(घ) दूसरी विकृति—अल्पतंत्र
(ङ) तीसरी विकृति—लोकतंत्र
(च) अंतिम विकृति—निरंकुश-तंत्र
(छ) न्याय और अन्याय : अंतिम निर्णय
(ज) प्लेटो और सर्व-हेलेनवाद
(झ) नोट—टिमाएस और क्रिटिआस

अध्याय 11

प्लेटो और यूनान के राज्य

(क) रिपब्लिक—एक आदर्श

रिपब्लिक स्वप्न-लोक है, वह मेघमालाओं के बीच में बसा हुआ नगर है, वह डूबते हुए सूरज के किरण-जाल की छटा है जो संध्या को एक घंटे के लिए दिखाई पड़ती है और फिर रात की कालिमा में खो जाती है—रिपब्लिक की इस तरह की व्याख्या करना आसान है। पर, रिपब्लिक शून्य का नगर नहीं है, उसकी नींव वास्तविक परिस्थितियों पर है, उसका लक्ष्य है वास्तविक जीवन को ढालना या कम से कम उसे प्रभावित करना।

सबसे पहली बात यह है कि उसकी नींव वास्तविक परिस्थितियों पर है। उसके आठवें और नवें खंडों में यूनान के वास्तविक संविधानों का विश्लेषण किया गया है जिनमें स्पार्टा, एथेंस और सिराक्यूज़ इन सब की बारी-बारी से समीक्षा हुई है—स्पार्टा एक साथ धनिकतंत्र* और अल्पतंत्र का, एथेंस लोकतंत्र का और सिराक्यूज़ निरंकुश-तंत्र का उदाहरण है। प्लेटो के मत से ये सब रोगग्रस्त हैं। इन सब में ज्ञान कुंठित है और राजनीति-कला के अज्ञान की तूती बोल रही है। इन सब में विवेक से इतर तत्त्वों की वेल बेहद फैल रही है। इन तत्त्वों में एक है उत्साह और दूसरा है बुभुक्षा। उत्साह महत्वाकांक्षा और संघर्ष का मूल है और बुभुक्षा लोभ तथा सामाजिक फूट की प्रेरक। और फिर, स्वार्थ है जो नगरों में पृथकत्व के बीज बोता है, और जिसके कारण हर जगह एक राज्य की जगह दो राज्यों की स्थापना हो जाती है। इस ढँग से रोग का निदान करने के बाद प्लेटो ने अपना उपचार प्रस्तुत किया है—विवेक की प्रभुता, वैज्ञानिक और दार्शनिक शिक्षा द्वारा विवेक को ज्ञान-मार्ग पर बढ़ने का प्रशिक्षण ; साम्यवादी व्यवस्था द्वारा बुभुक्षा के जुए से विवेक की मुक्ति; उक्त व्यवस्था के अंतर्गत प्रशिक्षित विवेक की निर्बाध गति द्वारा दो राज्यों का एक राज्य के

---

* मूल में Timocracy शब्द है जो यूनानी शब्द Timocratia से निकला है। अरिस्टाटल के अनुसार इससे उस शासन-प्रणाली का बोध होता है जिसमें नागरिक और राजनीतिक सम्मान धन-संपदा के आधार पर वितरित हों। प्लेटो के चिंतन में इसका संकेत उस शासन-प्रणाली के प्रति है जिसमें सम्मान अथवा गौरव का विशेष महत्त्व हो।

रूप में एकीकरण। रोग की ही तरह उपचार का विवरण भी वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है। सातवें खंड में जिस प्रशिक्षण का सुझाव दिया गया है, वह वही है जो अकादमी में वास्तव में दिया जाता था और जहाँ तक साम्यवादी व्यवस्था का संबंध है, उसका न तो उस समय यूनान में अस्तित्व था और न कभी रहा था, फिर भी इसमें उन तत्त्वों का विस्तार किया गया था जिनसे यूनानी परिचित थे या रहे थे, जो या तो यूनान की अपनी सीमाओं के भीतर विद्यमान थे या सीमांत के बाहर की जातियों में पाए जाते थे। **रिपब्लिक** का स्वरूप मूल सिद्धांतों के निष्कर्षों पर ही आधारित नहीं, उसके पीछे यूनानी जीवन के तथ्यों का भी बल है।

चूँकि **रिपब्लिक** वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित थी, इसलिए उसका यह उद्देश्य भी था कि वह वास्तविक जीवन पर प्रभाव डाले। अगर हम **रिपब्लिक** (या लॉज़) और उसके साथ-साथ उसके अपने पत्र—विशेषकर सातवाँ पत्र—पढ़ें, तो हम यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकते कि प्लेटो के मन में जो प्रश्न सबसे ऊपर था, वह राजनीतिक सुधार का था। राजनीतिक आदर्शवादी होते हुए भी वह मन से एक वास्तविक राजनीतिज्ञ था। हम देख चुके हैं कुछ लोगों ने कहा है कि वह पूर्ण आदर्शवाद तक इसलिए नहीं पहुँच सका कि वह उसे मूर्त्त रूप देने के लिए बहुत उत्सुक था; कि वह अपने साम्यवादी सिद्धांत को प्रशिक्षित संरक्षकों के वर्ग के आगे इसलिए नहीं ले गया कि उसे आशा थी कि अगर उसका प्रयोग इस वर्ग तक ही सीमित रहा, तो शायद उसे व्यावहारिक रूप दिया जा सके। हम इतनी दूर तो न जाएँगे, पर यह ज़रूर कहेंगे कि चूँकि प्लेटो का साम्यवाद केवल एक वर्ग का साम्यवाद था और चूँकि उसने जिस शिक्षा की कामना की थी, वह थोड़े-से नागरिकों तक ही सीमित थी, अतः उसे विश्वास था कि उसका साम्यवाद साकार हो सकेगा और उसे आशा थी कि उसकी शिक्षा-योजना स्वीकार कर ली जाएगी। वह जिस नगर की नींव रख रहा है, वह यूनानी नगर है (470 E)। "वह असंभव नहीं है; हम ऐसी चीज़ों की चर्चा भी नहीं करते, जो असंभव हों; हालांकि यह हम स्वयं मानते हैं कि वे कठिन हैं" (499 D)। "अगर हमारी विधियों का निर्माण हो सका, तो उनका परिणाम ही सबसे अच्छा न निकलेगा बल्कि उनका निर्माण भी असंभव न होगा—कठिन भले ही हो" (502 C)। "राज्य और उसकी शासन व्यवस्था के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह सिर्फ़ सपना नहीं है; वह कठिन है, असंभव नहीं; पर वह संभव तभी हो सकता है जब या तो दार्शनिक नरेश बनें या नरेश दार्शनिक" (540 D)। दार्शनिक हों और दार्शनिक के काम के लिए उचित परिस्थितियाँ हों, तब आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है; और इसलिए प्लेटो का विचार है कि नगर में रहने वाले दस साल से ज्यादा उम्र के लोगों को 'गाँवों' में भेज दिया जाए और फिर निर्मल मन वाले मासूम बच्चों को आदर्श न्याय की रीति-नीति का प्रशिक्षण देकर आदर्श-प्राप्ति के लिए प्रयत्न आरंभ किया जाए (540 E)[1]।

---

[1] यह अवतरण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे लगता है प्लेटो के मन में यूनान के किसी वास्तविक नगर का और उस नगर के वास्तविक सुधार का चित्र है। ध्यान देने की बात यह है कि यह अवतरण दार्शनिक नरेशों के उच्चतर प्रशिक्षण-क्रम के विवरण के बाद सातवें खंड के अंत में आया है।

पर, प्लेटो का दृष्टिकोण और है ; और वह रिपब्लिक के नवें खंड के अंत में प्रकट हुआ है। "यह नगर तो बस शब्दों में ही विद्यमान है ; क्योंकि मैं सोचता हूँ धरती पर उसका कहीं अस्तित्व नहीं है" (592 A)। उसने आगे कहा है कि शायद वह स्वर्ग में स्थित है और उस व्यक्ति के लिए आदर्श की भाँति है जो उसके आलोक में अपने पथ पर चलना और उसके अनुरूप ही अपने जीवन को ढालना चाहे। जहाँ तक आदर्श की सिद्धि का प्रश्न है, हमें उसके दो रूपों में भेद करना होगा—एक तो उसका यथार्थ मूर्त्त रूप है, और दूसरा भाव रूप जो सारे समाजों में व्याप्त शक्ति के रूप में है[1]। प्लेटो को आदर्श के पहले रूप के बारे में आशा थी कि उसे प्राप्त किया जा सकेगा, पर इस आशा में संदेह का पुट भी था। किंतु आदर्श के दूसरे रूप के बारे में वह अधिक आश्वस्त था। दूसरे रूप की बात सोचते हुए उसने कहा है, "वह है या कभी होगा—इसकी कोई चिंता नहीं।" उसका निर्माण तो विचार से हुआ है, "इसलिए वह कभी नहीं बना, और इसीलिए हमेशा के लिए बन चुका है"; और अगर उसका अस्तित्व इस रूप में है और बना रहे कि वह मानव के विचार और कर्म को प्रभावित करता रहे, तो काफ़ी है। इसलिए प्लेटो को अपने आदर्श की व्यावहारिकता की कोई ख़ास चिंता नहीं है। जिज्ञासा तो एक आदर्श के लिए है, यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि आदर्श चीज़ों का अस्तित्व हो सकता है (472 C—D)। सिद्धांत में जिस पूर्ण सत्य की कल्पना की जाती है, व्यवहार उससे उन्नीस ही रहता है ; कर्म विचार का अनुचर होता है (473 A)। गोचर वस्तु-जगत् सिद्धांतों की रंगभूमि है, पर उसमें सिद्धांतों पर प्रतिबंध ही प्रतिबंध लगे होते हैं, कभी इस छोर पर प्रतिबंध, कभी उस छोर पर, कभी यह प्रतिबंध है, कभी वह। हम उस स्थिति की कल्पना ही कर सकते हैं जिसमें ये परिस्थितियाँ न हों और हम मन से उस संसार का चित्र अंकित कर सकते हैं जिसमें मानो मानव-जीवन के सच्चे सिद्धांतों की उन्मुक्त क्रीड़ा होती हो (501 A—C)। ऐसा चित्र स्वप्न नहीं होता। यह ठीक है कि यह एक अमूर्त्त कल्पना होती है यानी इसमें उन परिस्थितियों का अभाव मान लिया जाता है जिनमें सिद्धांत वास्तव में सक्रिय होते हैं या जिनके आधार पर उनमें संशोधन किए जाते हैं। हालाँकि इन परिस्थितियों को हटा दिया गया है या यह मान लिया गया है कि उनका अस्तित्व नहीं है, पर सिद्धांत बने रहते हैं ; और सिद्धांत स्वप्न नहीं होते, वास्तविकता होते हैं और वे उन परिस्थितियों से कम यथार्थ नहीं, अधिक यथार्थ होते हैं। अगर हम सिद्धांतों को इतना अमूर्त्त रूप दे देने के बाद उनके क्रियान्वय के लिए भिन्न और अधिक अनुकूल परिस्थितियों की कल्पना कर लें और इन परिस्थितियों में उनके लागू होने का चित्र प्रस्तुत करें, तो

---

[1] एडम रिपब्लिक के अपने संस्करण में यह विचार लेकर चला है कि दूसरे-चौथे खंडों के यूनानी या ऐहिक नगर का पाँचवें-सातवें खंडों के उस स्वर्गिक नगर से भेद करना होगा जो समग्र मानवता के लिए है। इनमें दूसरे-चौथे खंडों में शिक्षा-क्रम की पहली रूपरेखा का और साम्यवाद का वर्णन है तथा पाँचवें-सातवें खंडों में दार्शनिकों के शासन का तथा दूसरे शिक्षा-क्रम का। यह विचार व्यक्तिपरक लगता है। जिन दार्शनिकों को विज्ञान तथा दर्शन का उचित प्रशिक्षण मिल चुका है, उनका शासन प्लेटो के पहले (और एक-मात्र) नगर का अनिवार्य अंग है और यह नगर सदा ही ख़ास यूनानी नगर रहता है (पूर्ववर्ती नोट से तुलना कीजिए)।

हम एक अर्थ में तो स्वप्न देख रहे होंगे, पर एक और अर्थ में हम स्वप्न की दुनिया से बहुत दूर होंगे। लेकिन इस दूसरे विकल्प की शर्त्त यह है कि जिन परिस्थितियों के बारे में हमने सोचा हो कि वे नहीं हैं, वे अनिवार्य न हों और जिन नई परिस्थितियों की हम कल्पना करें, वे असंभव न हों। जिस समाज में हम रहते हैं, उसी पर हर चीज निर्भर है। अगर समाज पुरानी परिस्थितियों को मन से निकाल दे, उन्हें दूर कर दे और नई परिस्थितियों की कल्पना करे तथा उन्हें स्वीकार कर ले, तब सपना सच्चा हो सकता है और सपने का नगर सचमुच का नगर बन सकता है। प्लेटो के जीवन में ऐसे भी क्षण आए थे जब उसे समकालीन समाज के सुधार की कुछ इसी तरह की आशा बँधी थी। पर अगर यह असंभव हो, तब भी सपने का अपना महत्त्व है। अगर हम अपने जीवन के मूल तत्त्वों और संयोगों, उसके नित्य सिद्धांतों और अनित्य रूपों में भेद करना सीख सकें, तो अच्छा ही रहे। हम जिस समाज में रहते हैं, हमारी प्रवृत्ति उस समाज को उसकी समग्रता में—उसके मूल-तत्त्वों और संयोगों, उसके सिद्धांत और परिस्थितियों समेत—ग्रहण करने की होती है यानी हमारी प्रवृत्ति उसे एक ऐसी बँध इकाई के रूप में ग्रहण करने की होती है जिसका शुरू से आखिर तक एक-सा मूल्य-महत्त्व हो। स्वप्न हमें इस धरातल से ऊपर उठा सकता है और जीवन के विभिन्न तत्त्वों में भेद करना सिखा कर वह अपने जीवन पर अधिक नियंत्रण रखने में हमारी मदद भी कर सकता है। इतना ही नहीं, हमारे विचारों में जिन नई परिस्थितियों की कल्पना आई है, वह जीवन में खमीर का काम कर सकती हैं और वह स्वप्न साकार भले ही न हो सके, पर वह जीवन में स्थायी प्रभाव के रूप में बना रह सकता है। यथार्थ तथ्य के रूप में नश्वर मानवों की जितनी पीढ़ियों तक वह जीवित रहता, उससे कहीं अधिक वह एक प्रभाव के रूप में जीवित रह सकता है। **रिपब्लिक** ने अनेक पीढ़ियों के मानस को प्रभावित कर इतिहास पर जो प्रभाव डाला है, उसे मापना असंभव है। किंतु यह कहने पर शायद कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि प्लेटो के आदर्श नगर-राज्य की धारणा का प्रभाव कम से कम उतना तो रहा ही है जितना कि सचमुच के नगर-राज्य स्पार्टा का।

फिर भी प्लेटो ने उन बहुत सी परिस्थितियों की उपेक्षा कर दी जिन्हें हम अब भी अनिवार्य समझते हैं और उसने उन दूसरी परिस्थितियों के अस्तित्व की कल्पना की जिन्हें हम अब भी असंभव मानते हैं। व्यक्तिगत संपत्ति का अस्तित्व है, परिवार का अस्तित्व है, लोकतंत्र का अस्तित्व है। पेरागुए के जेसुइट धर्मावलम्बियों का राज्य ही इतिहास में एकमात्र शुद्ध साम्यवादी राज्य हुआ है; किसी भी सभ्य समाज ने या सभ्य समाज के किसी भी वर्ग ने अपने आपको एक ऐसे परिवार के रूप में कभी भी नहीं ढाला जिसमें स्त्रियों और बच्चों में सबका साझा हो। मारकस औरेलियस एक समय रोम का सम्राट था पर उसके समय में भी रोम-साम्राज्य का शासन दार्शनिक नहीं चलाते थे। मानव-जीवन के सिद्धांत अंततः वे सिद्धांत हैं जो सचमुच के मनुष्यों के बीच लागू होते हैं। मानव-स्वभाव को जहाँ तक हम जानते-समझते हैं, उसका सार व्यक्तित्व-चेतना में निहित है। वह चेतना संपत्ति की माँग करती है, पारिवारिक जीवन की माँग करती है और उसकी यह भी माँग है कि वह शासन-व्यवस्था की जिन शक्तियों के अधीन रहे, उनके संचालन में उसकी अपनी आवाज का

भी मूल्य हो। प्लेटो आसानी से इन सीमाओं को लाँघ सकता था। प्लेटो ने उन सिद्धांतों को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था जो प्रत्येक राज्य के मूल सिद्धांत हैं और सदा रहे हैं। उसने इस सत्य का दर्शन किया कि राज्य मन की उद्‌भावना है, उसने यह भी समझा कि राज्य एक सावयव इकाई है जिसके प्रत्येक अंग का एक निश्चित कार्य होता है। किंतु इन सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप देने के लिए उसने जिन परिस्थितियों की कल्पना कर ली, उनसे सहमत होना कठिन है। मन की उद्‌भावना होने के नाते ही राज्य को ऐसे तीन विशिष्ट वर्गों में विभाजित नहीं कर देना चाहिए जिनमें से एक को विशेष प्रशिक्षण दिया जाए और शासन-संचालन के कार्य को विशेष रूप से प्रशिक्षित इस वर्ग तक ही सीमित रखा जाए। अगर राज्य की एकता सावयव एकता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि परिवार का अंत कर दिया जाए या व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन। प्लेटो ने विवेक के विकास-क्रम में एक ऐसी अवस्था का उल्लेख किया है, जिसमें अपनी नई शक्तियों के प्रति सचेत होकर मानो खेल-खेल में, वह उनका प्रयोग हर चीज़ के प्रतिवाद के लिए करता है और उसकी स्थिति उस पिल्ले जैसी होती है जो हर चीज़ को अंधाधुंध चीर-फाड़ कर अपने दाँत पैने करता है (539 B)। प्लेटो स्वयं भी उसी स्थिति में पहुँच गया था जब विवेक और भी निरंकुश और प्रायः उतना ही विनाशकारी हो जाता है। वह अंतर्विरोधों से ऊपर उठकर जीवन के चिरंतन सिद्धांतों पर पहुँच गया था और उन पर अपनी मजबूत पकड़ के कारण था। वह संसार के उद्धार के लिए उन सिद्धांतों को संसार पर लागू कराना चाहता था। वह यह अच्छी तरह नहीं समझ पाया कि इन सिद्धांतों की चाहे कुछ भी सीमाएँ रही हों और उन्हें चाहे कितने ही अस्पष्ट रूप में समझा गया हो, फिर भी वे इतिहास में सदा सक्रिय रहे हैं और वह इस बात के लिए बहुत उत्सुक था कि दार्शनिकों को इन सिद्धांतों का जो सचेत अंतर्बोध होता है उसको आधार बना कर इन सिद्धांतों के सारे पिछले योगदान पर आक्षेप किया जाए।

इतिहास, बर्क की मान्यता के अनुसार, ईश्वर की लौकिक विभूतियों की लीला का विवरण मात्र भले ही न हो, पर (अगर इतिहास कोरी अव्यवस्था नहीं है और हम मानते हैं कि वह कोरी अव्यवस्था नहीं है, तो) वह एक ऐसा क्षेत्र निश्चय ही है जिसमें ऐतिहासिक काल के आरंभ से अब तक मानव-जीवन के मूल सिद्धांत निरंतर सक्रिय रहे हैं—चाहे अधूरे तौर पर ही रहे हों। अगर सावयव एकता कोई चीज़ है, तो सावयव विकास भी अवश्य ही कोई चीज़ है। जिस अर्थ में पेड़ का विकास होता है, उस अर्थ में मानव-समाज का विकास कभी नहीं होता। प्लेटो के अनुसार मनुष्य की सभी संस्थाएँ उसके मन की सृष्टियाँ और उद्‌भावनाएँ हैं। परंतु जब हम यह सोचें कि हमारे मन केवल उन तात्कालिक प्रयोजनों की सचेत अनुभूति के वश धीरे-धीरे तथा अस्थायी रूप से संस्थाओं की सृष्टि करते हैं जिन्हें हो सकता है कालांतर में नए प्रयोजनों के जुड़ जाने से हमारे जीवन की सामान्य योजना में धीरे-धीरे रस-बस जाने के कारण, हमारी सृष्टियाँ लांघ जाएँ, तब भी हम विकास की चर्चा कर सकते हैं। अगर हम इस विकास को सावयव जीव विकास मानें क्योंकि सारे भेदों के बावजूद प्रकृति-जगत् के सावयव विकास से इसका साम्य है, तो हम कह सकते हैं कि प्लेटो मानव-संस्थाओं का सावयव विकास समझने में असफल रहा। वह न तो विगत का विकास समझा और न

अनागत का। विगत में उसे किसी विकासमान आदर्श का उत्कर्ष नहीं दीखा, बल्कि एक स्थिर आदर्श का अपकर्ष ही दिखाई पड़ा; और अनागत के संदर्भ में उसकी दृष्टि यह न देख पाई कि उसमें दार्शनिक तक के आदर्श का विस्तार होगा और वह उससे भी ऊँचा उठेगा। वह एक स्थिर आदर्श को लेकर चला है जिसके बारे में उसका विचार है कि "उसे उसके मूल रूप में सुरक्षित रखा जाना चाहिए, उसमें किसी तरह का नया तत्त्व नहीं जोड़ा जाना चाहिए" (424 B)। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्लेटो चिर तरुण यूनानी जगत् का वासी था जिसमें मूर्त्तिकार की कलाकृतियों की भाँति ही, विधिकारों की राजनीतिक सर्जनाएँ भी सत्य और सौंदर्य के एक विशिष्ट शाश्वत रूप को सामने रख कर की जाती थीं। हम सदियों की पुरातनता के नीचे दबे हैं। और अगर प्लेटो के चिंतन की धुरी थी सर्जना और उसकी आस्था का केंद्र था एक चिरंतन आदर्श तो शायद हमारे चिंतन की धुरी है विकास और हमारी आस्था का केंद्र है निरंतर परिवर्त्तन। दुनिया हमारे चलाने से ही चलती है—जब हमारे विचार सक्रिय होते हैं और हमारी संकल्प-शक्ति प्रयत्न में जुटती है; और हमारे विचार तथा संकल्प के पीछे किसी आदर्श की प्रेरणा होनी चाहिए। राजनीतिक जीवन सहज विकास का नहीं, निर्माण का क्षेत्र है। उसमें आदर्श-स्रष्टा न हों, तो वह जड़ हो जाए। राजनीतिक जीवन जिन सिद्धांतों पर आधारित होता है, उन्हें लागू करने के लिए यदि नई-नई राजनीतिक संस्थाओं की कल्पना न की जाए, तो उस जीवन प्रवाह में सड़ांद आने लगे—फिर वे संस्थाएँ चाहे त्यागमय साम्यवादी जीवन जीने वाले दार्शनिक-नरेशों की संस्था के रूप में हों—जैसा कि हम प्लेटो में पाते हैं; या हमारे अपने युग की अधिक पूर्ण लोकतंत्रीय संस्था के रूप में, जिसके अंतर्गत उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों पर समुचित नियंत्रण रहे।

(ख) आदर्श के आलोक में वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन

हम देख चुके हैं कि **रिपब्लिक** का आदर्श इस अर्थ में आदर्श नहीं है कि वास्तविकता से उसका कोई संबंध न हो (कोई भी सच्चा या मूल्यवान आदर्श इस तरह वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं हो सकता)। वह इस अर्थ में आदर्श है कि उसमें यह दिखाया गया है कि राज्य अपने वर्त्तमान रूप में भी मानव-प्रकृति के जिन मूल नियमों पर आधारित होता है, पर जिनकी कसौटी पर वह न्यूनाधिक मात्रा में अपूर्ण ठहरता है, उन्हीं के अनुरूप अगर राज्यों का गठन किया जाए तो उनका रूप क्या होगा। चूंकि प्लेटो के आदर्श का यथार्थ से भी संबंध है, इसलिए उसका वास्तविक और व्यावहारिक महत्त्व है। यह आदर्श हमारे सामने एक ऐसा लक्ष्य और प्रयोजन प्रस्तुत करता है जिसके अनुरूप वास्तविक जीवन का गठन किया जा सकता है और इस प्रकार वह व्यवहार-बुद्धि को सहायता देता है। इतना ही नहीं, वह एक ऐसा मानदंड या कसौटी भी प्रस्तुत कर सकता है जिसके आधार पर वास्तविक जीवन का मूल्यांकन किया जा सके और इस तरह वह शुद्ध विवेक की सहायता करता है। "निरपेक्ष न्याय के स्वरूप की विवेचना का उद्देश्य है एक आदर्श की उपलब्धि करना, जिससे कि मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन उस आदर्श में अभिव्यक्ति पाने वाले मानदंड के आधार पर कर सकें और यह पता लगा सकें कि उनकी दशा उस आदर्श से कहाँ तक मिलती है" (472 C—D)।

प्लेटो के राज्य जैसे आदर्श स्वप्न-लोकों का यह एक बहुत बड़ा काम है कि उन्हें हम भले ही पा न सकें पर वे हमें यथार्थ को समझने लायक बना देते हैं। उनके माध्यम से हम यह जान पाते हैं कि अगर राज्य के अंतर्भूत सिद्धांत पूरी तरह से कार्यान्वित हो जाएँ, तो राज्य का क्या स्वरूप होगा; और तब हमें यह ज्ञान होता है कि राज्य के वर्त्तमान रूप का महत्त्व क्या है। इस तरह आदर्श-पक्ष के संदर्भ में ही राज्य को भली-भाँति समझा जा सकता है क्योंकि अगर कहीं हम राज्य की वास्तविक कार्य-पद्धति पर अलग से विचार करते रहें तो राज्य के बारे में आँकड़ों का ढेर ज़रूर इकट्ठा हो सकता है पर न तो हम यह समझ सकेंगे कि उसका अस्तित्व क्यों है और

न यह कि उसके काम की क्या महिमा है। इस अर्थ में राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत आदर्शों का विवेचन सदा ही होना चाहिए। राज्य क्या है—यह समझने के लिए उसे 'राज्य क्या है' पर ही नहीं, बल्कि 'राज्य को क्या होना चाहिए' पर भी विचार करना चाहिए। उसे स्वस्थ, या अरिस्टाटल की शब्दावली में 'न्यायपरायण' राज्य के बारे में छानबीन करनी चाहिए ; और न्यायपरायण राज्य आदर्श होना चाहिए, क्योंकि हर यथार्थ राज्य में कुछ-न-कुछ दोष पाए जाते हैं और वह कुछ हद तक 'विकृत' होता है। राज्य का शुद्ध स्वरूप व्यावहारिक परिस्थितियों की जिस धूल से ढक जाता है, उस धूल को हटा कर राज्य के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना राजनीति-विज्ञान का काम है—ठीक वैसे ही जैसे कि ज्यामिति-विज्ञान घन-पदार्थ में निहित सरल रेखा के मूल रूप को उजागर करता है। प्रकृति के साम्राज्य में कोई भी ऐसी सरल रेखा नहीं होती जिसकी केवल एक विमा हो। इसी प्रकार, आदर्श राज्य का भी अस्तित्व नहीं होता। परंतु यूक्लिड ने सरल रेखा को एवं प्लेटो तथा अरिस्टाटल ने आदर्श राज्य को विज्ञानों का मूल आधार माना है और इन विज्ञानों की वैज्ञानिकता में इस तथ्य से कोई कमी नहीं आती कि उनकी आधारभूत मान्यता 'अवास्तविक' है। वस्तुतः वे केवल इसी कारण विज्ञान हैं कि वे इस प्रकार की मान्यता को लेकर चले हैं।

प्लेटो ने **रिपब्लिक** के आठवें और नवें खंडों में वास्तविक राज्यों को इस आधार पर जाँचने और मापने का प्रयत्न किया है कि वे आदर्श से कितने पीछे रह जाते हैं। उसने वास्तविक राज्यों को इस रूप में परखा है कि उनमें यह आदर्श क्रमिक रूप से किस तरह बिगड़ता चला गया है। यह ठीक है कि इस प्रसंग में प्लेटो का विवरण अर्द्ध-ऐतिहासिक सा हो गया है, पर उसने ऐतिहासिक क्रम का पता लगाने की चेष्टा भी नहीं की। उसने यह कभी नहीं सोचा कि आरंभ में कभी कोई आदर्श राज्य रहा होगा या अवस्थाओं के जिस क्रम का विवरण उसने प्रस्तुत किया है ; वह कोई ऐतिहासिक क्रम है। वह तो एक आदर्श राज्य की कल्पना से ही चलता है जो एक पूर्ण मानस की पूर्ण रचना है और तब वह उसके विकृति-क्रम का एक तर्कसम्मत और कार्य-कारण श्रृंखला में बँधा हुआ चित्र प्रस्तुत करता है। वह यह भी मानता है कि राज्य का पतन बाह्य शक्तियों के प्रभाव से नहीं होता, बल्कि उसका अंकुर तो राज्य के भीतर से ही फूटता है। इस संपूर्ण चित्र के पीछे वही पुराना सिद्धांत संन्निहित है कि राज्य मन की उपज है और प्लेटो ने इस तर्क का आश्रय लिया है कि राज्य की क्रमिक विकृति मन की क्रमिक विकृति का परिणाम है। पर, यह क्रम एक तर्कसम्मत क्रम है। आदर्श राज्य की प्राथमिकता काल-क्रम के आधार पर नहीं, वह तो उस तत्त्व के आधार पर है जिसे अरिस्टाटल ने 'प्रकृति' (अथवा भाव) कहा है। हम राज्य के संगठन की तर्क-प्रक्रिया का अध्ययन कर चुके हैं। उसमें विविध मानसिक तत्त्वों का आविर्भाव काल-क्रम की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रत्येक के अपने महत्त्व की दृष्टि से हुआ था। इसी प्रकार, अब हम राज्य के विघटन की प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे हैं जिसमें प्रत्येक मानसिक तत्त्व अपने महत्त्व के क्रम के अनुसार लुप्त हो जाता है। आदर्श राज्य के संगठन की प्रक्रिया में विवेक-तत्त्व का समावेश सबसे अंत में हुआ था, अतः जब उल्टी प्रक्रिया शुरू होती है तो सबसे पहले उसी का लोप होता है और तब विकृति की एक के बाद एक अवस्था में राज्य को क्रमशः कम और हीनतर मानसिक तत्त्वों पर निर्भर रहना पड़ता

है और अंत में निरंकुश शासन के अंतर्गत राज्य केवल बुभुक्षा, और उसके भी हीनतम स्वरूप पर निर्भर रह जाता है। पर, यह दावा करना भले ही गलत हो कि इस चित्र के पीछे कोई ऐतिहासिक मंतव्य है, लेकिन हमें इस चित्र के ऐतिहासिक प्रभाव की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। **रिपब्लिक** के इन खंडों को इतिहास-दर्शन की दिशा में पहला प्रयास माना गया है[1]। वे इतिहास भले ही न हों, पर उनमें इतिहास की व्याख्या ज़रूर है और उनसे हमें यह पता चलता है कि इतिहास राज्य के पूर्ण आदर्श के विचार का नहीं, उसकी विविध विकृतियों का लेखा-जोखा होता है। उनसे हमें ज्ञात होता है कि इतिहास विविध अवयवों के उचित क्रम के अनुरूप सक्रिय मानव के समग्र मन की रचना नहीं बल्कि उसका निर्माण तो मानो मन के खंडतः सक्रिय विविध अवयवों के द्वारा हुआ है। और फिर प्लेटो के चिंतन में यह तत्त्व निश्चित रूप से निहित है कि प्रकृति के साम्राज्य में स्थित आदर्श राज्य पर ऐतिहासिक परिवर्त्तन के नियम लागू होते हैं। इस आदर्श राज्य का विकास-विस्तार भी होता है (424 A) और ऐसा ह्रास भी होता है जो उसे हमेशा के लिए समाप्त कर देता है (546)। पौधों के जगत् में ह्रास के जिस नियम के दर्शन होते हैं वही नियम मानव-जगत् में भी उतना ही सक्रिय है और हीन संतति से कालांतर में हीन राज्य का निर्माण होगा। अतः, प्लेटो कहना चाहता है कि उसके आदर्श राज्य में परिवर्त्तन अवश्य होगा और अगर उसमें यह परिवर्त्तन एक तर्कसम्मत पूर्वापर क्रम में हुआ, तो उसकी दिशा वही होगी जिसका उसने संकेत दिया है। अरिस्टाटल ने प्लेटो की आलोचना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से की है और तर्क दिया है कि असल में राज्यों के संविधान उस क्रम से नहीं बदलते जिसमें प्लेटो ने उल्लेख किया है—जैसे अल्पतंत्र सदा ही लोकतंत्र का या लोकतंत्र निरंकुश शासन का रूप नहीं लेता ; व्यावहारिक जीवन में लोकतंत्र उतनी ही सहजता से अल्पतंत्र का रूप ले सकता है जितनी सहजता से कि निरंकुश शासन का[2]। इस आलोचना के दो उत्तर हैं—एक तो यह कि यह आलोचना कुछ-कुछ अप्रासंगिक है क्योंकि प्लेटो न तो इतिहास ही लिख रहा था और न इतिहास के आधार पर कुछ सामान्य नियमों का निरूपण ही कर रहा था। दूसरा यह कि यदि हम अपवादों पर ध्यान न देकर सांविधानिक परिवर्त्तन के सामान्य नियम को स्वीकार करें, तो ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्लेटो का क्रम सही माना जा सकता है। यह सच है कि यूनान के वास्तविक इतिहास-प्रवाह में निरंकुश शासन अल्पतंत्र और लोकतंत्र के बीच में रहा तथा निरंकुश शासन ने लोकतंत्र के लिए भूमि तैयार की। पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ लोकतंत्र निरंकुश शासन में बदल गया—जैसा कि चौथी शताब्दी में सिरावयूज़ में हुआ था। पर मध्ययुगीन इटली के समाजों का विकास ठीक प्लेटो के क्रम के अनुसार हुआ। अल्पतंत्रात्मक समाज या तो लोकतंत्रात्मक जनता के आगे झुक गया या उसने जनता को शासन-व्यवस्था में भागीदार बनाना स्वीकार कर लिया ; और दोनों ही परिस्थितियों में वर्ग-विभाजन इतना उग्र बना रहा कि उससे राज्य अपंग हो

---

1. नेटिलशिप, **लेक्चर्स**, पृ० 299।
2. **पॉलिटिक्स**, v. 12, § 7 और क्रमशः (1316 a)।

गया और अंत में प्रत्यक्ष या परोक्ष निरंकुश शासन की स्थापना हुई[1]।

इस तरह, रिपब्लिक के आठवें और नवे खंडों में इतिहास का कुछ रंग है। लेकिन, कुल मिलाकर प्लेटो के सामने ऐतिहासिक उद्भव की समस्याएँ नहीं हैं और न उसे यह समझाने की ही बहुत चिंता है कि चीज़ों का आज जो रूप दिखाई दे रहा है, उन्होंने अपना यह रूप वर्षों की मंज़िल तय करने के बाद किस तरह पाया। उसके अपने युग में किसी खास मौके पर जो परिस्थितियाँ थीं, वह मानो उन परिस्थितियों के एक पहलू को ग्रहण कर लेता है और फिर उसके विभिन्न तत्त्वों के विभिन्न मूल्यों को अपने आदर्श राज्य की कसौटी पर कसता है। उसने निरंकुश शासक की निंदा की है और उसे आदर्श राज्य के शासक से सात सौ उन्नीस गुना बुरा बताया है। उसकी इस निंदा में कुछ विनोद का पुट है और कुछ गंभीरता का और इससे उसका प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। पर हो सकता है हमें किसी और प्रयोजन की भी गंध आए। प्लेटो सदा व्यावहारिकता का परिचय देता है और जब चिंतन-बुद्धि आदर्श का उपयोग एक कसौटी के रूप में कर रही हो, तब उस आदर्श में भी यह प्रवृत्ति होती है कि वह व्यावहारिक जीवन के लिए लक्ष्य बन जाए। सांविधानिक परिवर्त्तन और विकृति का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें आखिर यही संकेत है कि वह सच्चा रास्ता कौन-सा है जिस पर चल कर विकृत राज्यों को सुधारा जा सकता है और उन्हें फिर से आदर्श के धरातल तक उठाया जा सकता है। हम देखते हैं कि प्लेटो के निकट राज्य की विकृति का अर्थ है उसके नागरिकों के चरित्र की विकृति। राज्यों में जिस तरह के मन का प्रतिनिधित्व होता है, राज्य उसी के अनुरूप बन जाते हैं। आदर्श राज्य इसलिए आदर्श होता है कि उसमें ऐसे मन का प्रतिनिधित्व होता है जिसमें उसकी क्षमताओं का पूर्ण सामंजस्य हो गया हो। विकृत राज्य इसलिए कम या अधिक विकृत होता है कि उसमें ऐसे मन का प्रतिनिधित्व होता है जिसमें इस तरह का सामंजस्य कम या अधिक बिगड़ गया हो। यदि ऐसी बात है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य के सुधार की एक आशा यह हो सकती है कि उसके सदस्यों में मानसिक क्षमताओं का सामंजस्य स्थापित किया जाए। उदाहरण के लिए अल्पतंत्र का सुधार मानसिक क्षमताओं के सामंजस्य में कुछ ऐसा परिवर्त्तन करने से ही हो सकता है कि बुभुक्षा और लिप्सा के तत्त्वों में कमी हो और उन्हें उचित मात्रा में रखा जाए। किंतु, यह

---

[1] लुटोस्लास्की ने कहा है कि अरिस्टाटल ने प्लेटो के सांविधानिक परिवर्त्तन के सिद्धांत की आलोचना करने के बावजूद उसका उपयोग किया है। इस प्रसंग में यह और कहा जा सकता है कि अरिस्टाटल ने सांविधानिक परिवर्त्तन का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह भी असल में प्लेटो के विवरण की तरह तर्क पर ही आधारित है, इतिहास-सम्मत नहीं है। वह राजतंत्र से चला है यानी उस राज्य से जिसमें अकेले एक व्यक्ति का पूर्ण सद्गुण मूर्त्तिमंत होता है और फिर उसने एक-एक करके अभिजात-तंत्र, अल्पतंत्र, निरंकुश शासन और लोकतंत्र का चित्र अंकित किया है जिसकी कसौटी नैतिक आदर्शों की कसौटी है (III. 15 §§ 11–12 ; 1286, b)। यह क्रम इतिहास के अनुभवों पर नहीं, बल्कि नैतिकता की पूर्व-धारणाओं पर आधारित है (हरमन–स्वोबोडा, **ल्हेरबुच डेर ग्रीच, स्टाटसालटर टुमर**, III, I, पृ० 29)।

सामंजस्य फिर से हो सकता है तो केवल शिक्षा के द्वारा ; और इस प्रकार प्लेटो ने सांविधानिक परिवर्त्तन और विकृति का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका व्यावहारिक निष्कर्ष यह निकलता है कि शिक्षा का मार्ग ही राजनीतिक सुधार का एक-मात्र मार्ग है। सांविधानिक व्यवस्था में पैबंद लगाने से कोई लाभ नहीं (और यहाँ प्लेटो ने उस तर्क-शृंखला की पहले से ही आलोचना कर दी है जिसे अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के चौथे खंड में प्रस्तुत किया है)। सच्चा सुधारक तो वही है जो, अपने साथी नागरिकों को पहले से अच्छा आदमी बना दे[1]।

किंतु, रिपब्लिक के आठवें और नवें खंडों में जो प्रयोजन अधिक सीधे और साफ़ ढँग से व्यक्त हुआ है, उसी प्रयोजन से प्लेटो को दूसरे खंड में आदर्श राज्य की रचना करने की प्रेरणा मिली थी। वह न्याय का सच्चा स्वरूप खोज निकालने की इच्छा से आदर्श राज्य की रचना में प्रवृत्त हुआ था। प्लेटो का मत था कि अगर न्यायनिष्ठ राज्य में न्याय के बृहत् रूप का अध्ययन कर लिया जाए, तो फिर न्यायनिष्ठ व्यक्ति में न्याय के लघु रूप का अध्ययन किया जा सकता है। इसी तरह न्याय का स्वरूप खोजने की इच्छा से प्लेटो को उन राज्यों का विवरण प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिलती है जो आदर्श से पीछे रह जाते हैं ; और पहले की भाँति यहाँ भी वह यह मान लेता है कि अगर अन्याय के स्वरूप का अध्ययन उस रूप में कर लिया जाए, जिस रूप में वह राज्य के बृहत् अक्षरों में व्यक्त होता है, तो व्यक्ति-आत्मा के लघु अक्षरों में व्यक्त उसका स्वरूप आसानी से समझा जा सकता है। यही कारण है कि जब वह आदर्श राज्य की चार उत्तरोत्तर विकृतियों—धनिकतंत्र, अल्पतंत्र, लोकतंत्र और निरंकुश शासन—का अध्ययन करता है, तब वह सभी के संदर्भ में पूरी तरह तर्कसम्मत रीति से एक-सी प्रक्रिया का अनुसरण करता है। सबसे पहले वह राज्य के विकृत रूप के उद्भव और विशेषताओं का वर्णन करता है और फिर राज्य जिस प्रकार के व्यक्ति-चरित्र के अनुरूप हो और जो उसका स्रोत हो, उसका निरूपण करता है[2]। बात यहीं समाप्त नहीं

---

1. प्रसंगवश, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अरिस्टाटल ने प्लेटो की साम्यवादी योजना के विरुद्ध जो आलोचना प्रस्तुत की है (यानी यह कि प्लेटो की साम्यवादी योजना में व्यवस्था के परिवर्त्तनों पर बहुत जोर दिया गया है) वही आलोचना प्लेटो अरिस्टाटल की सांविधानिक सुधार-योजना के विरुद्ध प्रस्तुत कर सकता था और प्लेटो को यह आलोचना उतनी ही उचित (या उतनी ही कम उचित) होती, जितनी कि अरिस्टाटल की थी।
2. व्याख्या करते समय प्लेटो पहले राज्य पर विचार करता है और फिर व्यक्ति पर—परंतु केवल इसी कारण से हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कार्य- कारण-क्रम में पहले व्यक्ति आता है और फिर राज्य। राज्य जिस विशेष रूप में ढलता है, उसका कारण होते हैं, वे लोग, जिनसे मिलकर उसका निर्माण हुआ हो। "राज्य उसी तरह के होते हैं जिस तरह के कि लोग...वे मानव- चरित्र के अनुरूप पनपते-बढ़ते हैं" (544 E ; 435 E से तुलना कीजिए)। अस्तु, हर्बर्ट स्पेंसर की तरह प्लेटो यह मान लेता है कि समष्टि का चरित्र व्यष्टियों के चरित्र पर निर्भर होता है और अगर कहीं धनी लोग पर्याप्त सख्या में हों, तो वहाँ धनिकतंत्रात्मक राज्य का उदय होगा। इसका अभिप्राय यह भुला देना है कि समष्टि के स्वरूप-निर्माण में व्यष्टियों के चरित्र का

हो जाती। रिपब्लिक में प्लेटो का चरम उद्देश्य सिर्फ़ यही पता लगाना नहीं है कि न्याय और अन्याय का स्वरूप क्या है बल्कि यह निर्धारित करना भी है कि क्या न्याय सुख और अन्याय दुःख है ? इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह ज़रूरी है कि वह विभिन्न स्तरों के अन्यायी राज्यों और व्यक्तियों का वर्णन करे और वर्णन के समय यह बराबर बताता चले कि उनमें कितना सुख या दुःख व्याप्त है और यह काम कर चुकने पर वह इस स्थिति में होगा कि अन्याय के अंतिम अवस्थान की न्याय के आदर्श से तुलना कर सके और फिर शुद्ध न्याय के जीवन और शुद्ध अन्याय के जीवन के सापेक्ष सुख-दुःख को तोल सके (545A, 544A)। इस तरह, प्लेटो ने राज्य के उद्भव की जो पद्धति अपनाई है, उसे एक नया महत्त्व मिल जाता है। वह ज्यों-ज्यों एक कदम चल कर एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर उतरता जाता है, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि उतार के आदि और अंत के बीच कितनी बड़ी दूरी है। जब हम ढाल की एक के बाद एक सीढ़ियाँ गिनते हैं, तब हमें पता चलने लगता है कि ढाल कितना गहरा है और हम इस अंतिम फ़ैसले के लिए तैयार हो जाते हैं कि पूर्ण रूप से अन्यायी व्यक्ति पूर्ण रूप से न्यायी व्यक्ति से कम से कम चार सीढ़ियाँ नीचे होता है और "जहाँ तक सुख-दुःख का सवाल है, अन्यायी व्यक्ति और न्यायी व्यक्ति के बीच का फासला बहुत बड़ा होता है" (588 A)[1]।

अब हमें मालूम हो गया है कि प्लेटो ने सांविधानिक परिवर्त्तन और विकृति का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका प्रयोजन क्या है। निष्कर्ष यह है कि उसका आधार भी उस अर्थ में मनोवैज्ञानिक है जिस अर्थ में आदर्श राज्य की रचना का आधार मनोवैज्ञानिक है। आदर्श राज्य का आधार था विवेक, उत्साह और बुभुक्षा के तीनों तत्त्वों का सामंजस्य और एकता तथा उनमें विवेक की प्रधानता। क्रम में इससे आगे राज्य का जो रूप आता है, उसमें सामंजस्य और एकता की मात्रा उतनी नहीं होती। इसमें विवेक अपने उचित स्थान से भ्रष्ट हो चुका होता है और उससे अगले तत्त्व यानी उत्साह का नियंत्रण हो जाता है। राज्य के इससे अगले तीनों रूपों—अल्पतंत्र, लोकतंत्र और निरंकुश शासन—में बुभुक्षा की प्रभुता रहती है और इसके फलस्वरूप आत्मा के तत्त्वों में न्यूनाधिक मात्रा में असंतुलन पैदा हो जाता है। जब राज्य के तीन रूप इस तरह बुभुक्षा-तत्त्व पर आधारित हैं, तो यह लगेगा कि बुभुक्षा के तीन रूप या तीन श्रेणियाँ होनी चाहिएँ; और प्लेटो का कथन है कि इस तरह का भेद होता है। पहले हमें आवश्यक बुभुक्षाओं (necessary appetites) और अनावश्यक बुभुक्षाओं (unnecessary appetites) का भेद समझना चाहिए। आवश्यक बुभुक्षाओं के परितोष से तो हित होता है पर अनावश्यक बुभुक्षाओं से कोई लाभ नहीं होता, कभी-कभी उल्टे हानि ही हो जाती है। आवश्यक बुभुक्षाओं के अंतर्गत खाद्य की भूख और जीवन की सामान्य

जितना हाथ होता है उससे किसी तरह कम व्यष्टियों के आपसी संबंधों का नहीं होता।

[1] रिपब्लिक में सांविधानिक परिवर्त्तन की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उस का एक आवश्यक प्रयोजन आत्मा की करुणा का चित्रण है जिसमें विकार आ जाता है और जो अन्याय के जाल में फँस जाती है। इस दृष्टि से रिपब्लिक शैक्सपीयर के मैकबेथ की तरह है।

आवश्यकताएँ आती हैं। इस श्रेणी की बुभुक्षाओं के बारे में कहा जा सकता है कि उनसे उत्पादन बढ़ता है। इन्हें संचय-बुभुक्षाएँ (acquisitive appetites) कहा जा सकता है। दूसरी श्रेणी में अच्छे खान-पान की और आम तौर से हर तरह के ऐशो-आराम की बुभुक्षा आती है और इस श्रेणी की बुभुक्षाओं के बारे में समझा जा सकता है कि उनसे उपभोग को बढ़ावा मिलता है। इन्हें व्यय-बुभुक्षाएँ (spendthrift appetites) कहा जा सकता है (558 D—559 C)। इस तरह, अल्पतंत्र और लोकतंत्र में भेद का कुछ आधार मिल जाता है। अल्पतंत्र का आधार वह बुभुक्षा है जिससे उत्पादन को बढ़ावा मिले; लोकतंत्र में न केवल इस प्रकार की बुभुक्षाओं की ही बल्कि व्यय-बुभुक्षाओं की भी अभिव्यक्ति होती है। निरंकुश शासन के बारे में माना जा सकता है कि उसकी नींव शुद्ध रूप से व्यय-बुभुक्षाओं पर टिकी होती है। पर प्लेटो का विचार है कि अत्याचारी शासन के विशिष्ट स्वरूप को देखते हुए यह आवश्यक है कि बुभुक्षा के तत्त्वों का और गहरा विश्लेषण किया जाए, और इसीलिए उसने रिपब्लिक के नवें खंड के आरंभ में यह सिखाया है कि हमें उचित या स्वाभाविक बुभुक्षाओं और अनुचित या अस्वाभाविक बुभुक्षाओं के बीच भेद करना चाहिए। अनुचित या अस्वाभाविक बुभुक्षाएँ हमारे भीतर के बर्बर पशु की बुभुक्षाएँ हैं: ऐश-आराम की बुभुक्षा से उनका भेद यह है कि वे पाशविक बुभुक्षाएँ हैं, मानवोचित नहीं। हम रात को सोचते-सोचते अस्थिर मन लिए नींद की गोद में पहुँच जाते हैं, जब वासना और पाप की प्रेतछायाएँ हमारे ओर-पास मँडराती रहती हैं और जब "हम सबके—अच्छे लोगों के भी—भीतर निवास करने वाली दुर्धर्ष बर्बर पशु-प्रकृति कुछ कुछ अंगड़ाई लेने लगती है तब उन सपनों के सहारे हमें उनकी प्रकृति का ज्ञान हो सकता है" (572 B)[1]। अगर हम इस प्रकृति को जो पाशविक है, मानव-प्रकृति कह सकें और चूंकि यह प्रकृति हम सब में है इसलिए इसे मानव-प्रकृति कहा ही जाना चाहिए—तो हम कहेंगे कि मानव-प्रकृति का यही तत्त्व निरंकुश शासन में अभिव्यक्ति पाता है और उसी से निरंकुश शासन को पोषण मिलता है (571—2 B)।

प्लेटो ने विकृत राज्यों के जन्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें एक और तत्त्व का समावेश होता है और वह तत्त्व है—अति और अति के अनिवार्य प्रतिकार का सिद्धांत। इनमें से प्रत्येक राज्य अपने विशिष्ट सिद्धांत को इस हद तक खींचता चला जाता है कि उसकी भयंकर प्रतिक्रिया होती है, इतनी भयंकर कि 'घर के चिराग से ही घर में आग' लग जाती है। अल्पतंत्र में धन की कामना इतनी तीव्र हो जाती है कि अंत में धन ही इसे नष्ट कर देता है। लोकतंत्र में स्वतंत्रता की कामना इतनी तीव्र

---

[1] प्लेटो ने यह भी कहा है कि अगर हम सोने से पहले समुचित चिंतन-मनन करें, तो सपनों में हमारा विवेक सक्रिय रहता है और हमें सत्य का दर्शन होता है। शायद कुछ इसी तरह का विचार एस्काइलस ने अपने इस कथन में व्यक्त किया है कि जब आदमी सो रहा होता है, तब मानो पाप कर्म की स्मृति बूंद-बूंद कर उसके मन में रिसती रहती है और इसके फलस्वरूप जो वेदना होती है, उसके कारण अनजाने ही लोगों में ज्ञान का उदय होता है। (एगामेमनॉन, पंक्ति 180 और क्रमशः)।

होती है कि यह स्वतंत्रता ही उसे नष्ट कर देती है[1]। "जब किसी भी चीज़ की अति हो जाती है, तब विरोधी दिशा में प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगती है। यह बात मौसमों और पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों के बारे में ही नहीं, सबसे बढ़ कर शासन के रूपों के बारे में सही है" (563 E—564 A)। यह ह्रास के उस सार्वभौम नियम का एक दौर है जिसका प्रभाव पेड़-पौधों और पशुओं पर भी पड़ता है और मनुष्यों के नगरों पर भी (546 A)। राज्य का कोई एक तत्त्व ज्यों-ज्यों किसी सिद्धांत को अपनी ही सीमाओं में घेर लेता है त्यों-त्यों वह दूसरे तत्त्वों से दूर होता चला जाता है। इस स्थिति में राज्य में फूट पैदा हो जाती है और यही फूट, जो राजद्रोह की जननी होती है, राजनीतिक परिवर्त्तनों के लिए उर्वर भूमि तैयार कर देती है। ये राजनीतिक परिवर्त्तन होते तभी हैं जब राज्य का सामंजस्य बिगड़ जाता है (545 D) और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है, त्यों-त्यों राजनीतिक परिवर्त्तनों की गति भी बढ़ती है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। जब अल्पतंत्र में धनी-मानी लोग अपनी संपत्ति बढ़ा लेते हैं और संपत्ति के अधिकारों पर ज़ोर देने लगते हैं, तब इसके साथ ही उसी गति से ग़रीबी भी बढ़ती जाती है और मज़दूर वर्ग भी उतने ही ज़ोर से यह कहने लगता है कि आदमी चाहे गरीब क्यों न हों, फिर भी वह है तो आदमी ही। वर्ग-चेतना का विकास होता है और उसके फलस्वरूप वर्ग-युद्ध का; और जब क्रांति की परिस्थितियाँ मौजूद होती हैं, तो क्रांति का विस्फोट आसान हो जाता है। जब रोग ने शरीर में घर बना लिया हो, तब शरीर छूने भर से आदमी बीमार पड़ सकता है। इसी प्रकार, क्रांति का जन्म भी सदा बड़े गंभीर कारणों से होता है—भले ही उसका तात्कालिक श्रेय किसी बहुत ही तुच्छ प्रसंग को हो (556 E)[2]। स्पष्ट है कि इस चिंतन-पथ पर चलते-चलते प्लेटो संवि-

---

[1] **मेज़र फॉर मेज़र** के अंक 1, दृश्य II की निम्नलिखित पंक्तियों से तुलना कीजिए: "जैसे भोजन भट्ट को प्रायः उपवास करने के लिए विवश होना पड़ता है, वैसे ही प्रत्येक असंगत आचरण को संयम की सीमाएँ स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हम स्वभाव से ही तृष्णाओं के पीछे भटकते रहते हैं और जब हम उनकी तृप्ति की चेष्टा करते हैं तो हम इतनी अति कर डालते हैं कि हमारी स्थिति उन चूहों जैसी हो जाती है जो ज़हर खाकर बहुत सा पानी पीते-पीते मर जाते हैं"।

[2] क्रांतियों का जन्म तुच्छ प्रश्नों से नहीं हो सकता, तुच्छ प्रसंग से होता है (**पॉलिटिक्स**, V. 4, § 1 : 1303 b 17—18)। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के पाँचवें अध्याय में क्रांतियों के सिद्धांत का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उस पर प्लेटो का ऋण स्पष्ट है। इस सिद्धांत का आधार है—अति और अति के प्रतिकार का सिद्धांत। अरिस्टाटल का निष्कर्ष है कि किसी अति पर आधारित संविधान की रक्षा करनी हो, तो उसमें प्रतिबंधों और संतुलनों की व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरण के लिए अल्पतंत्र में धन के सिद्धांत को उसकी तर्कसम्मत परिणति तक नहीं खींचते जाना चाहिए, बल्कि लोकतंत्र जिस स्वतंत्रता-सिद्धांत पर टिका होता है, उसे भी काफ़ी हद तक स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार, संविधान की रक्षा का उपाय यह है जिस अति की ओर बढ़ने की उसकी प्रवृत्ति हो, उस ओर से रोक कर उसे मध्य मार्ग की ओर मोड़ा जाए (प्लेटो ने **पॉलिटिक्स** में राजनीतिक व्यवस्थाओं का विवेचन करते समय इस धारणा का उपयोग किया है)। और चूंकि मध्यमार्ग दो

धानिक परिवर्तन की आर्थिक व्याख्या जैसी चीज़ तक पहुँच जाता है। उसका विश्वास है कि धन की वितरण-व्यवस्था में परिवर्त्तन होने से राजनीतिक परिवर्त्तन भी होने लगते हैं। आदर्श राज्य की आदर्श साम्यवादी व्यवस्था विगड़ते ही यानी धनिकतंत्र के नागरिकों के व्यक्तिगत संपत्ति की व्यवस्था का समावेश करते ही, और इससे भी अधिक अल्पतंत्र के सदस्यों के व्यक्तिगत संपत्ति के संचय को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाते ही धन-संपत्ति की वितरण-व्यवस्था निर्धारित करने के लिए संघर्ष होगा और उसके दायरे में राजनीतिक संघर्ष भी आ जाएँगे ; और जब कभी इस वितरण में कहीं कोई भीषण अति या विषमता होगी, वहीं लड़ाई-झगड़े होने लगेंगे और क्रांति की आग भड़क उठेगी। पर अगर हम प्लेटो की इतिहास-व्याख्या को मुख्य रूप से आर्थिक व्याख्या समझ लें, तो हम उसका अर्थ बहुत बढ़ा-चढ़ा कर समझने के दोषी होंगे। हम देख ही चुके हैं कि उसकी व्याख्या मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक है। यह सच है कि प्लेटो ने राज्य के जिन अंतिम तीन रूपों का निर्देश किया है, उनका आधारभूत तत्त्व है, बुभुक्षा जो आर्थिक जीवन का मनोवैज्ञानिक आधार है। इस स्थिति का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि राज्य के अंतिम तीन रूपों के विकास और ह्रास में आर्थिक तत्त्वों का भी योग होता है। पर बुभुक्षा एक व्यापक शब्द है। अल्पतंत्र में उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है, वह रूप निश्चय ही आर्थिक होता है। लोकतंत्र और निरंकुश शासन में उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है, उसमें कुछ ऐसे तत्त्व भी रहते हैं जिन्हें आर्थिक नहीं कहा जा सकता। लोकतंत्र का स्रोत लोगों की यह इच्छा है कि वे आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की तरह 'जैसे चाहें, वैसे रहें'। और निरंकुश शासन का आधार है देह की वासनाएँ और प्रभुत्व-कामना और ये प्रवृत्तियाँ जंगली जानवरों में प्रबल होती हैं। लोकतंत्र और निरंकुश शासन दोनों में से किसी में भी अर्थ-तत्त्व प्रमुख नहीं होता। जहाँ तक धनिकतंत्र का संबंध है, उसका आधार बुभुक्षा नहीं, उसका आधार है उत्साह का तत्त्व और सम्मान का भाव। हाँ, यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि उसके विकास में और उसका स्वरूप ढालने में संपत्ति के अभिमान का भी हाथ होता है।

प्लेटो ने विकृत राज्यों के विभिन्न रूपों का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उस पर प्रभाव डालने वाला एक अंतिम तत्त्व और है। वह तत्त्व है—उसका सम-सामयिक इतिहास का ज्ञान और राजनीति का अपना अनुभव। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्लेटो ने निरंकुश शासन का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह सिराक्यूज के डायोनीसियस प्रथम के चरित्र की अनुकृति है। सिराक्यूज में प्लेटो की योजना के अनुसार ही लोकतंत्र के बाद निरंकुश शासन की स्थापना हुई थी और विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर गया है कि जिस अवतरण में प्लेटो ने 387 के अपने सिराक्यूज-प्रवास के अनुभवों का हवाला दिया है, वहीं एक स्थल पर उसने संवाद-शैली की सीमाएँ प्रायः तोड़ दी हैं और वह प्रत्यक्ष अपनी बात कहने लगा है। उसने अपने श्रोताओं से यह मान लेने का अनुरोध किया है कि निरंकुश शासक के बारे में यह निर्णय एक ऐसे व्यक्ति का है, "जो उसे परख सकता है, उसके साथ एक ही जगह रहा है, उसके दैनिक जीवन में मौजूद

अतियों को मिलाने से ही प्राप्त हो सकता है, अतः अरिस्टाटल इसी तरह मिश्रित संविधान के अपने विशिष्ट सिद्धांत तक पहुँचता है।

रहा है और उससे उसके सारे पारिवारिक संबंधों के संदर्भ में परिचित है" (577 A)। प्लेटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धनिकतंत्रात्मक राज्य की सारी विशेषताएँ क्रीट और स्पार्टा के संविधान में पाई जा सकती हैं हालांकि यह सच है कि यह स्पार्टा प्लेटो के अपने समय का नहीं उसके पूर्ववर्त्ती युग का स्पार्टा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हालांकि प्लेटो के आदर्श राज्य में स्पार्टा की विशेषताएँ मिल जाती हैं, फिर भी कुल मिलाकर स्पार्टा उसके आदर्श से बहुत दूर रह जाता है। वह तो आदर्श की विकृति है, —ऐसी विकृति जो ई० पू० पाँचवीं सदी में धनिकतंत्र से नीचे नहीं गई थी पर जिसमें चौथी सदी ई० पू० के आरंभिक वर्षों में, स्पार्टा-साम्राज्य के युग में, कुछ ऐसे लक्षण मिल जाते हैं जिनका उल्लेख प्लेटो ने अल्पतंत्र के संदर्भ में किया है[1]। यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने लोकतंत्र का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका आधार एथेंस है। थ्यूसीडाइड्स ने अंत्येष्टि-भाषण के अवसर पर पेरीक्लीज के माध्यम से लोकतंत्र का जो गुणगान कराया है[2], प्लेटो का प्रस्तुत चित्र सचमुच उस गुणगान का निश्चित उत्तर लगता है। आलोचकों ने लोकतंत्र-मानव में एल्सिबिआडिज़ के अनेक लक्षण ढूंढ निकाले हैं। इस प्रकार, यद्यपि प्लेटो की रचनाओं में इतिहास के अनेक निर्देश हैं, पर उसने इतिहास के सारे अनुभवों को समेटने की कोई कोशिश नहीं की है। प्लेटो ने केवल उन तथ्यों को चुन लिया है जो उसके तर्क-प्रवाह में खप जाते हैं। उसने उन्हीं संविधानों का निरूपण किया है जो उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुरूप हैं और उसने अपनी योजना में राज्य के उन रूपों को निश्चय ही छोड़ दिया है जिन्हें उसने मध्यवर्त्ती रूप कहा है—जैसे राजवंशतंत्र, अथवा आनुवंशिक अभिजात-तंत्र या 'विक्रयमूलक राजतंत्र' जिसमें वह कार्थेज की ओर संकेत करता लगता है (544 D)। उसने मौजूदा संविधानों के वर्णन या वर्गीकरण का कोई प्रयास नहीं किया क्योंकि वह उसके क्षेत्र से बिल्कुल बाहर है। इस प्रकार का प्रयास प्लेटो में हमें तभी मिलेगा जब हम उसके परवर्त्ती और अधिक यथार्थपरक संवादों—पॉलिटिकस तथा लॉज़ तक आएँगे।

---

1. एडम का रिपब्लिक का संस्करण देखिए, II. 219 (550 D पर दिया गया नोट)।
2. प्लेटो ने थ्यूसीडाइड्स के विचारों का अध्ययन अवश्य ही किया होगा। एक जगह उसने निश्चय ही थ्यूसीडाइड्स के एक अवतरण का हवाला दिया है। प्लेटो ने लोकतंत्र का यह जो विवरण दिया है कि उसमें स्तुति की जगह निंदा और निंदा की जगह स्तुति की भाषा का व्यवहार हुआ है (560 D—561 E), वह थ्यूसीडाइड्स के इसी तरह के विवरण, III. 82, से मिलता है (आगे खंड—ङ से तुलना कीजिए)।

(ग) पहली विकृति—धनिकतंत्र

आदर्श राज्य की पहली विकृति है धनिकतंत्र जिसमें विवेक-तत्त्व अपनी प्रधानता खो बैठता है और उसकी जगह ले लेता है उत्साह-तत्त्व। प्लेटो के चिंतन में धनिकतंत्र का एक विशिष्ट अर्थ है—सम्मान के सिद्धांत के अनुसार शासन[1]। इसमें आदर्श राज्य की सबसे कम विकृति लक्षित होती है और प्लेटो के अनुसार इसका कारण वही है जो सारे राजनीतिक परिवर्त्तनों का मूल कारण है—समाज का विभक्त होना। और इसीलिए वह उस प्रक्रिया को ढूंढ निकालने में जुट जाता है जिसे आदर्श राज्य में वर्गों के संतुलन बिगड़ने का कारण समझा जा सकता है। सबसे पहले विवाह की योजना छिन्न-भिन्न होती है। शासक अनुकूल ऋतु में सही स्त्री-पुरुषों का मिलन नहीं करा पाते और इसीलिए बुरी संतति का जन्म होता है। बाद की पीढ़ी के शासक अपने काम के अयोग्य होते हैं और इस कारण वे शिक्षा-योजना की उपेक्षा करते हैं। वे लोग न तो सबसे अच्छे नागरिकों को शासन की ओर आकर्षित कर पाते हैं न उन्हें शासन में उनका योग मिलता है। इस तरह वे एक अव्यवस्था-सी पैदा कर देते हैं जिसमें सोने के आदमी तो तीसरी श्रेणी में पहुँच जाते हैं और लोहे तथा पीतल के आदमी पहली श्रेणी में आ जमते हैं। इस प्रकार संरक्षकों का वर्ग मिला-जुला हो जाता है, यानी उसमें कुछ तो दार्शनिक प्रकृति के लोग रह जाते हैं जो साम्यवाद की पुरानी लीक पर चलते जाते हैं और कुछ आर्थिक प्रकृति के लोग आ जाते हैं जो दोनों हाथों से धन-संपत्ति बटोरने में जुट जाते हैं। तब एक दम इस वर्ग में फूट पड़ जाती है और संघर्ष हो उठता है जिसमें आर्थिक प्रकृति के लोगों की जीत-सी ही हो जाती है। व्यक्तिगत संपत्ति की प्रथा शुरू हो जाती है। बड़े-बड़े जमींदारों का एक समाज उत्पन्न हो जाता है जिसमें तीसरी श्रेणी के सदस्य स्वतंत्र मनुष्यों की स्थिति से और नीचे कृषक दासों (serfs) की स्थिति में पहुँच जाते हैं। एक राज्य की जगह दो राज्यों की स्थापना हो जाती है और, स्पार्टा की तरह, स्वामियों के वर्ग को भूमि-दासों

---

1. आम तौर से इसका अर्थ ऐसे संविधान से था जिसमें जिसके पास जितनी संपत्ति होती थी, उसे उतनी ही शक्ति दी जाती थी। इस अर्थ में प्लेटो का अल्पतंत्र (आलिगॉर्की) धनिकतंत्र (टिमोक्रेसी) होगा।

(helots) पर नज़र रखनी पड़ती है। पर, निम्नतर वर्गों की जीत निरपेक्ष नहीं होती और श्रेष्ठतर तत्त्वों के पास इतनी शक्ति बनी रहती है कि वे कोरे अल्पतंत्र की स्थापना न होने दें और राज्य में वह स्थिति न आने दें जिसमें उसकी सारी शक्ति लक्ष्मी की पूजा में ही लग जाए। यथार्थ जगत में धनिकतंत्रीय राज्य का प्रतिरूप है स्पार्टा और स्पार्टा की तरह धनिकतंत्रीय राज्य का भी आधार, वास्तव में मिश्रित संविधान होता है (548 C)। एक ओर तो वह बहुत सी बातों में आदर्श राज्य से मिलता है: उसमें पंचायती भोजन-व्यवस्था भी बनी रहती है और सामान्य शिक्षा-व्यवस्था भी, हालांकि उसका धरातल अपेक्षाकृत नीचा होता है। उसके शासकों का खेती, दस्तकारियों और व्यापार-वाणिज्य से कोई वास्ता नहीं रहता। दूसरी ओर वह कई बातों में अल्पतंत्र से मिलता है। उसके अंतर्गत शिक्षा में देह-तत्त्व पर बेहद ज़ोर दिया जाता है; उसके नागरिकों के पास अपने घर-बार होते हैं, अपनी संपत्ति होती है और उनके मन में (स्पार्टा के लोगों की ही तरह) सोने-चाँदी की उत्कट लालसा होती है, भले ही वह अव्यक्त रहे; इस सोने-चाँदी को अपनी निजी तिजोरियों में ताला डाल कर रखना उन्हें बेहद भाता है। इस तरह, यद्यपि धनिकतंत्रात्मक संविधान मिश्रित होता है, फिर भी उसके कुछ अपने खास तत्त्व भी होते हैं; और अगर वह समझौता भी होता है तो ऐसा समझौता होता है जिसकी कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं। वह विवेक पर आधारित नहीं होता, हालाँकि उसमें विवेक के तत्त्व होते हैं। वह बुभुक्षा पर भी आधारित नहीं होता, हालाँकि उसमें बुभुक्षा के भी तत्त्व होते हैं। उसका मूल आधार होता है उत्साह। इस राज्य में ऐसे लोगों की सराहना होती है जिनमें अदम्य उत्साह हो और जो स्वभाव से साहसी हों। उसकी मूल प्रेरक शक्ति होती है सम्मान-भावना और उसके रास्ते युद्ध और महत्त्वाकांक्षा के रास्ते होते हैं। वह मूलतः सैनिक राज्य है और यहाँ भी स्पार्टा से उसकी समानता है। यहाँ सैनिक ने दार्शनिक को सिंहासन से उतार दिया है, किसी पद पर पहुँचने की सीढ़ी सैनिक योग्यता है; और नागरिकों के मनोरंजन के साधन हैं: सैनिक छलबल तथा अनत युद्ध। इसलिए धनिकतंत्र में न्याय का लोप होने लगता है और अन्याय सिर उठाता है। कोई भी तत्त्व अपने उचित स्थान पर नहीं रहता और अपना उचित कार्य नहीं करता। सैनिक ने दार्शनिक की जगह हथिया ली है और किसान की धन-संपदा। संतुलन नष्ट हो चुका है और उसके साथ-साथ एकता भी। मतभेद और लड़ाई-झगड़े शुरू हो गए हैं और बढ़ते ही जाएँगे[1]।

---

[1] इँगलैंड के इतिहास में प्लेटो के धनिकतंत्र जैसी चीज अठारहवीं सदी में देखने में आती है। उस समय वहाँ ज़मींदार ज़मीन दाब कर बैठ गए थे और अधिकांश किसानों की स्थिति भूमिहीन मजदूरों की सी हो गई थी। शासक-वर्ग का ध्यान निरंतर लड़ाइयाँ लड़ने में और साम्राज्य बनाने में लगा हुआ था और अँग्रेज़ी संविधान की इस आधार पर सराहना की जाती थी कि वह विभिन्न तत्त्वों का मिश्रण है—हालाँकि यहाँ संविधान शब्द का प्लेटो से कुछ भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है।

(घ) दूसरी विकृति—अल्पतंत्र

धनिकतंत्र का भी मिश्रित संविधान होता है ; अतः उसमें अल्पतंत्र के भी कुछ तत्त्व और लक्षण मौजूद होते हैं। परंतु, अंतर यह है कि धनिकतंत्र का आधार तो है उत्साह, और अल्पतंत्र का आधार है बुभुक्षा ; एक का लक्ष्य है युद्ध और गौरव ; तथा दूसरे का वाणिज्य और धन-संचय। धनिकतंत्र के बिगड़कर अल्पतंत्र का रूप ले लेने का मतलब है सैनिक राज्य की वाणिज्य-राज्य में विकृति। इस तरह की विकृति आसानी से हो जाती है। धन-संपत्ति की जो बुभुक्षा—चोरी छिपे ही सही—धनिकतंत्रीय राज्य में दवे पाँव प्रवेश कर चुकी थी, यहाँ वही बुभुक्षा प्रधान और प्रत्यक्ष प्रेरणा-शक्ति बन जाती है। नागरिकता के औचित्य की यही कसौटी बन जाती है कि किसी के पास संपत्ति है या नहीं ; और शासन के एक ऐसे रूप का जन्म होता है "जिसका आधार संपत्ति का मूल्य होता है ; जिसमें अमीरों के पास शक्ति होती है और गरीब शक्ति से वंचित रहते हैं" (550 C)। अगर अपने पूर्ववर्त्ती और अधिक गौरवपूर्ण युग का स्पार्टा प्लेटो के धनिकतंत्र के वर्णन का आधार लगता है, तो ई० पू० चौथी सदी का स्पार्टा उसके अल्पतंत्र की रूपरेखा का प्रतिमान लगेगा। चौथी सदी के स्पार्टा के नागरिक अपने साम्रज्य के ज़माने में यह सीख गए थे कि साम्राज्य की कृपा से उन्होंने जो धन संचय किया है—और यह धन संचय प्रायः अनुचित तौर-तरीकों से हुआ करता था—उसका उपयोग कैसे किया जाए। प्लेटो ने अल्पतंत्र का जो चित्र खींचा है, उसमें अन्याय का तत्त्व अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है। धनिकतंत्रीय राज्य में न्याय-नियम की फिर भी कुछ पूछ हो जाती थी ; शासन का कार्य एक प्रकार की क्षमता पर निर्भर था, भले ही वह सैनिक क्षमता हो परंतु अल्पतंत्र में तो उसके नियम की कोई पूछ नहीं रहती ; शासन का काम क्षमता के आधार पर किसी को नहीं सौंपा जाता और पद पाने के लिए संपत्ति का स्वामित्व ही एक मात्र आधार होता है। अल्पतंत्र अपनी शासन-प्रणाली में ही न्याय-नियम का उल्लंघन नहीं करता, बल्कि अपनी सारी जीवन-योजना में भी वह उसके विरुद्ध रहता है। वह विशेष क्षमता के व्यक्तियों को विशेष काम देना हर जगह अस्वीकार कर देता है ; वह एक ही व्यक्ति-समूह को अनेक कारोबार करने की और किसान, व्यापारी, योद्धा, शासक—एक साथ सब कुछ बनने

की अनुमति दे देता है (552 A)। यह चीज़ न्याय के लिए घातक है; एकता के लिए भी उतनी ही घातक है। कुछ की तो अमीरी का ठिकाना नहीं रहता और बहुतों की गरीबी का, और धनिकतंत्र के मुकाबले अल्पतंत्र में एक राज्य के अंतर्गत दो राज्य अधिक यथार्थता से पाए जाते हैं। एक राज्य अमीरों का होता है, दूसरा गरीबों का। अल्पतंत्र ऐसे मज़दूरों का घर होता है जिनके पास न ज़मीन होती है, न रुपया-पैसा और न रोज़गार। इस तरह के मज़दूर-वर्ग में सदा ही असंतोष की आग सुलगती रहती है और वही उसे कभी-कभी अपराधों की ओर भी प्रवृत्त कर देती है। यह मज़दूर-वर्ग अल्पतंत्र के लिए खतरनाक साबित हो सकता है और वह कभी भी राजद्रोह का झंडा उठा सकता है। शासक-वर्ग का धन-संपदा और पदों पर एकच्छत्र अधिकार होता है। पर, उसमें भी खतरे का तत्त्व मौजूद रहता है। अल्पतंत्र में शासक रुपये-पैसे को अपना धर्म बना लेते हैं। संचय करने के लिए वे रहते कंजूसी से हैं पर मेहनत जी तोड़ कर करते हैं। उनका आराध्य होता है पैसा और बाकी सारी इच्छाएँ इसी एक लालसा के नीचे दब कर रह जाती हैं। इस पर भी, उनकी प्रकृति में कुछ अपराधपरक बुभुक्षाएँ छिपी रहती हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यापार में बेईमानी के रूप में होती है और हो सकता है कि किसी दिन वे पूरी तरह सक्रिय हो उठें। अल्पतंत्र में जैसे एक ही राज्य में दो राज्य होते हैं वैसे ही शासन-कर्त्ता नागरिक एक होते हुए भी दो व्यक्तियों जैसा होता है। उसकी कृपणता में शुद्धाचारवाद (puritanism) और लोभ का मिश्रण होता है और इन दोनों का कुछ समय के लिए भले ही गठबंधन हो जाए पर अंत में उनमें कलह होना आवश्यंभावी है[1]।

अस्तु, अल्पतंत्र में फूट की बेल फैलती जाती है; ज्ञान और न्याय पीछे हटते जाते हैं और मानव-प्रकृति के निम्नतर तत्त्व उभर कर ऊपर उठते आते हैं। अमीरों और गरीबों के बीच की खाई तथा स्वयं अमीरों का परस्पर विरोधी बुभुक्षाओं का संघर्ष—ये अस्थिरता के ऐसे तत्त्व हैं जो क्रांति को प्रायः अनिवार्य बना देते हैं। अगर अमीर अपनी पीढ़ी में समझदार हों, तो इस तरह का परिवर्त्तन रोका भी जा सकता है और प्लेटो ने इस रोकथाम के दो उपाय सुझाए हैं (556 A)। एक उपाय तो यह है कि संपत्ति के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया जाए यानी संपत्ति का पूंजी के रूप में उपयोग न करने दिया जाए और जरूरतमंद ज़मींदार को यह पूंजी उसकी ज़मीन-जायदाद रेहन रखकर सूद की अंधा-धुंध दरों पर न देने दी जाए। दूसरा उपाय यह है कि यह नियम बना दिया जाए कि पूंजी उधार देने और लेने वाले के बीच जो भी ऐच्छिक संविदे हों, उन्हें राज्य लागू न करेगा, बल्कि उनमें अगर जोखिम होगी तो वह पूंजीदार की होगी[2]। पर, अपनाया इनमें से एक भी उपाय नहीं गया। राज्य में

---

[1] प्लेटो ने अल्पतंत्रीय मानव का यह जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें एक तरह के नैतिक शुद्धाचारवाद (554 A) के साथ-साथ पैनी वणिक वृत्ति और व्यापारिक छल-कपट (554 C) पाए जाते हैं, और यह चित्र हमें आधुनिक अंग्रेज़ों के उन चित्रों की याद दिला देता है जो शत्रु-लेखकों (और हमारे अपने कुछ व्यंग्य लेखकों ने भी) प्रस्तुत किए हैं।

[2] इन दोनों प्रस्तावों में प्लेटो ने पूंजी और 'मुनाफ़ाखोरी' पर प्रहार किया है। किंतु आधुनिक समाजवादी का आक्षेप तो उस पूंजी पर होता है जिसका

षड़यंत्रकारी वर्ग जो यह समझता है कि अमीर लोग छल-कपट से उसे उसकी संपत्ति से वंचित कर रहे हैं, —बेरोक-टोक बढ़ता जाता है। वर्ग-चेतना और वर्ग-भावना का विकास होता है। जब निर्धन, थके-हारे और क्लांत-श्रांत लोग स्थूलकाय अमीरों के साथ सेना में भरती होते हैं और अपने स्वामियों को शारीरिक दृष्टि से ही नहीं, शायद नैतिक दृष्टि से भी अपने से हीन पाते हैं, तब घृणा की आग में तिरस्कार-भावना का घी पड़ जाता है। किसी भी तुच्छ प्रसंग को लेकर अनिवार्य क्रांति का विस्फोट हो सकता है। राज्य के अंतर्गत दो राज्यों में से कोई एक या दोनों राज्य अपने जैसे सिद्धांतों के अनुयायी विदेशी राज्य से सहायता की माँग कर सकते हैं; पर, अंत में जब निर्धन अपने शत्रुओं को पराजित कर चुकते हैं, तब लोकतंत्र की स्थापना होती है और उसके स्वतंत्रता तथा समानता के शासन की शुरूआत होती है।

उपयोग उत्पादन में किया जाए और जिसके आधार पर पारिश्रमिक की 'अन्यायपूर्ण' दर पर भाड़े के गुलाम रखे जा सकें, परंतु प्लेटो का आक्षेप उस पूंजी पर है जो 'अन्यायपूर्ण' दरों पर ब्याज पर लगाई जाए। दूसरे प्रस्ताव की महत्ता संदिग्ध है। इसके प्रभाव से ब्याज की दर स्वभावतः बढ़ जाएगी। दोनों प्रस्ताव एक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनसे पता चलता है कि एक स्थल पर प्लेटो विकृत राज्यों की रक्षा के उपायों पर विचार करने के लिए और अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के छठे खंड में राजनीतिक व्यवस्थाओं का जिस दृष्टि से निरूपण किया है, उनकी उसी दृष्टि से विवेचना करने के लिए प्रस्तुत हो गया है।

(ङ) तीसरी विकृति—लोकतंत्र

हम देख चुके हैं कि अल्पतंत्र का मनोवैज्ञानिक आधार है वुभुक्षा पर वुभुक्षा का केवल एक रूप या अवस्थान ; उसके अन्य सारे रूपों पर धन की विकट लालसा का शिकंजा कसा रहता है । लोकतंत्र का आधार है वुभुक्षा अपने सारे रूपों और अवस्थानों में । इसमें स्वतंत्रता किसी एक व्यक्ति को नहीं मिलती, सबको मिलती है और सब निरपेक्ष रूप से समान होते हैं। अब न संयम रहता है, न अनुशासन ; न श्रेणियाँ रहती हैं, न भेद । संयम की जगह ले लेती है स्वतंत्रता जिसके नाम पर हर व्यक्ति क्षण की वुभुक्षा से प्रेरित होकर जैसे चाहे अपना जीवन ढाल सकता है ; मानसिक तत्त्वों के स्वाभाविक पूर्वापर क्रम पर आधारित और उसके अनुरूप समाज का जो समुचित पूर्वापर क्रम होता है उसकी जगह अव आ जाती है सार्वभौम समानता जो सारे पदाधिकारियों को पर्ची के प्रयोग द्वारा नियुक्त करके प्राप्त की जाती है और जिसके पीछे पर्ची के प्रयोग का वल होता है। लोकतंत्र अराजकता है ; या फिर एक अन्य दृष्टि से वह वहुतंत्र (polyarchy) है । अराजकता वह इसलिए है कि उसमें कोई एक तत्त्व प्रधान नहीं होता ; और वहुतंत्र इसलिए कि उसमें एक साथ वहुत से तत्त्वों की प्रधानता होती है । लोकतंत्र उस सजे-कढ़े राजसी वस्त्र की तरह होता है जिस पर तरह-तरह के सलमा-सितारे जड़े हों । उसमें कोई एक प्ररूप (type) नहीं होता, अनेक प्ररूप होते हैं । उसमें किसी एक प्ररूप के अनुरूप कोई एक संविधान नहीं होता ; वल्कि संविधानों का एक वाज़ार होता है जहाँ हर फर्मायिश का नमूना मिल सकता है। पेरीक्लीज़ ने युद्ध में वीरगति पाने पाले एथेनियों के सम्मान में जो अंत्येष्टि भाषण दिया था, उसमें उसने जिस संविवान की यह कह कर सराहना की थी कि "अपने संविधान की प्रेरणा से हममें से हर व्यक्ति अपने वल-वूते पर एक ही समय में एक साथ और सो भी वहुमुखी क्षमता के साथ और जीवन की शालीनता में एक भी कदम पीछे न रहकर, अनेक काम करने के लिए, स्वेच्छा से समाज की सेवा में प्रस्तुत हो सकता है "[1] उसी संविधान के वारे में प्लेटो के ये विचार हैं । व्यक्तिगत मौलिकता तथा वहुमुखी विविधता का यह समन्वय—जिसकी आधुनिक युग में मिल ने उतनी ही प्रशंसा की है जितनी पेरीक्लीज़ ने अपने युग में की थी—प्लेटो के निकट एक शब्दबंध और कड़ुई बात

को मिठास के साथ कहने का प्रयास भर है। पेरीक्लीज जिस चीज़ को वहुमुखी प्रतिभा समझता था, प्लेटो को वह अस्थिरता लगती थी। एथेनी जीवन में रंगों की विविधता के प्रति वह सचेत था, पर वह यह भी अच्छी तरह समझता था कि रंगों की इस विविधता में योजना का सर्वथा अभाव है। लोकतंत्र के वड़े-वड़े पैगम्बरों का सदा से जो तर्क रहा है यानी यह कि लोकतंत्र में शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है, वह समृद्ध और अनेकरूप जीवन को उन्मुक्त कर देता है, वह विभिन्न तत्त्वों के संयोग-समन्वय की कल्पना करता है—प्लेटो इन सब तर्कों को जान-समझ सकता है। लेकिन, वह एक का उपासक है, अनेक का नहीं; उसकी आस्था सर्वगत भाव के एकत्व में है, व्यक्तियों की विविधता में नहीं; शुभ्र-ज्योति-किरण में है, वहुरंगी काँच के कलश में नहीं। सामाजिक प्रकार के महत्त्व और व्यक्ति-वैविध्य के महत्त्व का प्रश्न जितना सजीव प्लेटो के युग में था, उतना ही सजीव आज भी है। हो सकता है यह विरोध निरपेक्ष न हो, कि उस लोकतंत्रीय राज्य में सामाजिक प्ररूप की उपलब्धि हो सके जिसके सदस्य सामान्य सामाजिक मन और प्रयोजन के साथ व्यक्तिगत पहल-शक्ति का समन्वय कर सकें, कि स्वयं प्लेटो क्षमता के जिस विभेदीकरण और विशेषीकरण को इस तरह के प्ररूप की सिद्धि के लिए आवश्यक साधन समझता था, उसे सबसे आसानी के साथ ऐसे राज्य में प्राप्त किया जा सकता है जिसमें क्षमताओं का एक-दूसरे से अनायास भेद स्थापित हो जाता हो और अनायास ही अपने अनुकूल विशेष काम मिल जाता हो। पर, प्लेटो के मन में इस विरोध की जड़ जमी हुई है। लोकतंत्र में यह असंभव है कि एक ही प्ररूप पाया जाए। अगर अल्पतंत्र का अभिप्राय यह है कि एक राज्य में दो राज्य होते हैं तो लोकतंत्र का अभिप्राय यह है एक राज्य में जितने व्यक्ति होते हैं उतने ही राज्य। इसका कारण यह है कि लोकतंत्र में जितने व्यक्ति होते हैं उसमें उतने ही प्रकार के चरित्र और उनके अनुरूप उतने ही प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाएँ या जीवन-योजनाएँ पाई जाती हैं। प्लेटो के मत से यह कहना असंभव है कि लोकतंत्र में जीवन का कोई एक या कोई सर्वसम्मत नियम पाया जाता है। राज्य के बारे में उसकी मूल धारणा यह है राज्य एक सामाजिक प्ररूप है और प्रत्येक सदस्य को शिक्षा के एक ऐसे क्रम-विशेष से गुजरना चाहिए कि वह उसके अनुरूप ढल सके। पर लोकतंत्र उसकी इस मूल धारणा पर ही आघात करता है। लोकतंत्र का सिद्धांत है—प्ररूप का अभाव, नियम का अभाव, सामाजिक प्रशिक्षण का अभाव। लोकतंत्र में इस बात की जरूरत नहीं है कि प्रतिभा होने पर आपको शासन करना ही पड़े या आपकी इच्छा न हो तो भी आपके ऊपर शासन किया ही जाए। वहाँ यह भी जरूरी नहीं है कि जब और लोग युद्ध में जाएँ, तब आप भी युद्ध में जाएँ या जब और लोग शांति से रहते हों, तव आप भी शांति से रहें। लोकतंत्र में विधि का पालन कम होता है, उल्लंघन अधिक। सामाजिक प्रशिक्षण का कोई महत्त्व नहीं होता। लोकतंत्र में यह जिज्ञासा कभी नहीं की जाती कि उसके राजमर्मज्ञ अशिक्षित तो नहीं हैं। वहाँ तो प्रश्न यही होता है कि वे जनता के मित्र हैं या नहीं ?

स्पष्ट है कि प्लेटो ने लोकतंत्र के नाम से जिस चीज का वर्णन किया है, वह वही चीज है जिसे हम अराजकतावाद के नाम से पुकारते हैं—शैले का अराजकतावाद जिसमें—

"मानव राजदंडहीन, स्वतंत्र और निस्सीम होता है पर होता मानव है। वह समान होता है; उसका न कोई वर्ग होता है, न कबीला और न राष्ट्र। वह आंतक, उपासना और उपाधि से मुक्त होता है और स्वयं अपना राजा होता है"।

पर लोकतंत्र का यह अर्थ न तो प्राचीन यूनान में था और न आज के संसार में है। लोकतंत्र का अर्थ यह है कि स्वतंत्र और प्रभुतासंपन्न लोकमत में अभिव्यक्त, समाज के सामान्य मन और इच्छा के आधार पर उस समाज-विशेष का शासन हो। कुछ परिस्थितियों में यह शासन-व्यवस्था अराजकता के निकट पहुँच सकती है; पर दूसरी परिस्थितियों में--और इन परिस्थितियों की संभावना अधिक होती है—वह अराजकता के एकदम विपरीत भी हो सकती है। अगर सामान्य इच्छा दृढ़ता के साथ स्थिर हो, और समाज-जीवन के सभी या अधिकांश पक्षों को प्रभावित करती हो, तो लोकतंत्र अराजकता से उल्टा होगा और सामाजिक आदर्श या प्ररूप की खातिर अनेक पक्षों में व्यक्ति-जीवन का नियमन करेगा। परंतु अगर कहीं सामान्य इच्छा शिथिल हुई तथा उसमें सामंजस्य का अभाव हुआ और उसने समाज-जीवन के अनेक पक्षों की ओर ध्यान न दिया या न देना चाहा तो शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी और अराजकता का जन्म होगा। सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि समाज-मानस की किस हद तक सिद्धि हो पाई है, कि इस मानस ने किस सीमा तक सामाजिक आदर्श का निर्माण किया है और सामाजिक इच्छा कहाँ तक इस आदर्श की सिद्धि में लगी हुई है। अगर हम प्राचीन यूनान के लोकतंत्र पर विचार करें और अगर हम पेरीक्लीज की बात मानें तो लोकतंत्रीय एथेंस में एक सामाजिक प्ररूप का अस्तित्व था और उसकी सिद्धि के लिए एक सामाजिक इच्छा भी विद्यमान थी—और जिस राज्य पर पेरीक्लीज ने शासन किया उसके आदर्शों का परिचय पाने के लिए प्लेटो की अपेक्षा उसका अनुसरण करना शायद ज़्यादा अच्छा है। अगर हम अपने युग के लोकतंत्र पर विचार करें तो एक महत्त्वपूर्ण बात यह दिखाई पड़ेगी कि प्लेटो से बिल्कुल उल्टी दिशा में चलते हुए उसके आलोचकों का ध्यान लोकतंत्र की इस प्रवृत्ति पर गया है कि वह प्ररूप की एकविधता को बढ़ावा देता है और सामाजिक मत के दबाव से वैविध्य की उस स्वतंत्रता को परास्त कर देता है। उनकी राय में अभिजाततंत्रीय शासन-व्यवस्था इसके लिए सदा अधिक अनुकूल होती है।

प्लेटो ने लोकतंत्र को प्रायः अराजकता से अभिन्न मानते हुए उसके स्वतंत्रता और समानता के दोनों आधारभूत सिद्धांतों की निंदा की है। उसका विश्वास है कि वे सिद्धांतों का निषेध हैं, सिद्धांत नहीं। लोकतंत्रीय समानता समाज-व्यवस्था और सामाजिक ऊँच-नीच का निषेध है; और चूँकि उसका अर्थ यह होता है कि समानों और असमानों सभी के लिए समानता हो; अतः उसमें उस सच्ची समानता का भी निषेध है जिसके द्वारा अधिक योग्य को अधिक चीज मिलती है और कम योग्य को कम और उसमें सबके लिए अनुपात की समानता का पालन होता है[1]। लोकतंत्रीय स्वतंत्रता

---

1. सच्ची समानता का यह मतलब नहीं कि असमानों को समान मात्रा में चीजें दी जाएँ, समानता तो समानुपातिक दृष्टि से समान वितरण में है। दूसरे

सामाजिक प्ररूप तथा सामाजिक प्रशिक्षक का निषेध है। उसका अर्थ है—सामाजिक जीवन में सामाजिक आचरण के सिद्धांत का अभाव। लोकतंत्र अपने दोनों सिद्धांतों के कारण स्वयं भी न्याय का निषेध है। उसका आधार ही विशेष कार्य के सिद्धांत का पूर्ण तिरस्कार है और अपने नेताओं का चुनाव किसी विशिष्ट क्षमता के नाते न करके वह अपने इस आधार को एकदम उजागर कर देता है। लोकतंत्रीय मानव जिस संविधान के अनुरूप होता है, उसके दोष प्लेटो ने लोकतंत्रीय मानव का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हुए उभार कर रख दिए हैं। शायद, कुछ-कुछ एल्सिबिआडीज़ के प्रति निर्देश करते हुए उसने कहा है कि लोकतंत्रीय मानव गिरगिट की तरह है। वह सिद्धांत के अभाव को ही सिद्धांत का रूप दे देता है और असंगति को संगत स्वभाव का। लोकतंत्रीय मानव बहुरंगी, बहुरूपिया और अनेक जीवन-धाराओं का लघु रूप होता है और वह जिन अनेकविध संविधानों के अंतर्गत रहता है उनका दर्पण बन जाता है। उसके मन में तरह-तरह की इच्छाओं का अस्थिर संतुलन बना रहता है जो कभी एक ओर झुक जाता है, कभी दूसरी ओर। पहलवान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और सैनिक—वह बारी-बारी से सब कुछ बन जाता है, पर बहुत देर तक कुछ भी नहीं रह पाता। अपने राज्य की तरह वह भी बस स्वतंत्रता और समानता का साकार रूप होता है और अपनी बुभुक्षाओं के क्षेत्र में स्वतंत्रता और समानता को चरितार्थ करने के लिए वह मुक्त भोग करता है और बारी-बारी से हर बुभुक्षा की तृप्ति भी करता है। इस नैतिक अराजकता में नैतिक शब्दावाली अपना मूल अर्थ खो बैठती है। यहाँ 'सब धान सत्ताईस सेर के' बिकने लगते हैं ; एक चीज़ को अच्छा और दूसरी को बुरा बताना बेवकूफी होती है। सच पूछा जाए तो अपनी प्रौढ़ावस्था के अनुकूल नीति-निरपेक्षता के दृष्टिकोण में दृढ़ होने से पहले, अपनी जवानी के उद्दंड दिनों में, लोकतंत्रीय मानव नैतिक शब्दों का उलटा प्रयोग करता है : वह गुस्ताखी को शिष्टाचार, अराजकता को स्वतंत्रता और अपव्यय को उदारता कहने लगता है[1]।

किंतु अभी लोकतंत्र के एक दौर पर विचार करना बाकी है। यह वह दौर है जिसमें लोकतंत्र तेज़ी से सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्था के उस रसातल में डूबता चला जाता है जहाँ निरंकुश शासन का जन्म होता है (562 A—563 E)। जैसे धन की अति से अल्पतंत्र का विनाश होता है और उसका सिद्धांत ही उसके लिए मौत का सरंजाम करता है, वैसे ही लोकतंत्र जिस श्रेय की सिद्धि में लगा रहता है, वही श्रेय

शब्दों में, सच्ची समानता दो अनुपातों की समानता है—यानी क, और क को जो मिला उसका अनुपात तथा ख, और ख को जो प्राप्त हो उसका अनुपात। (गॉर्जियाज़, 508 A से तुलना कीजिए : पीछे पृ० 209, पा० टि० 1 देखिए)।

1. यह वह अवतरण (561 A—560 D से तुलना कीजिए) है जिसमें प्लेटो ने स्पष्ट रूप से थ्यूसीडाइड्स (111.82) की नकल की है। प्लेटो ने लोकतंत्रीय मानव का जो खाका खींचा है, उसमें वह अल्पतंत्रीय मानव की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक और दिलचस्प बन गया है। फिर भी, प्लेटो ने उसे अल्पतंत्रीय मानव की अपेक्षा नीचे धरातल पर रखा है क्योंकि उसमें व्यवस्था और अनुशासन कम होता है ; क्योंकि अपने सारे आकर्षण के बावजूद वह बेपेंदी का लोटा होता है।

उसके विनाश का कारण हो जाता है और स्वतंत्रता की अति उसके प्राण ले लेती है। विनाश की चरम परिणति निरंकुश शासन के रूप में होती है; पर प्रकृति का एक मध्यवर्ती सोपान और रहता है जिसे चरम लोकतंत्र कहा जा सकता है (हालांकि प्लेटो की रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ)। यहाँ स्वतंत्रता अस्थिर संतुलन के रूप में नहीं रहती; वह समान रूप से राज्य और परिवार में, विद्यालय और गली में, अराजकता का रूप धारण कर लेती है। इस राज्य में राजा-प्रजा के बीच कोई खाई नहीं रहती, प्रजा राजा की तरह हो जाती है और राजा प्रजा की तरह। परिवार में भी सारे भेद लुप्त हो जाते हैं; पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी सब समान स्वतंत्रता के धरातल पर उठते-बैठते हैं। विद्यालय में भी नियम और विनय का अंत हो जाता है; गुरू अपने शिष्यों से डरने लगता है और शिष्य अपने गुरु से घृणा करने लगते हैं। प्लेटो ने व्यंग्य में कहा है कि छूत की यह बीमारी जानवरों तक में फैल जाती है। सड़कों पर न तो कोई नियम रहता है, न व्यवस्था। घोड़ा पैदल चलने वाले राहगीर को सड़क से दूर खदेड़ने लगता है[1]। सबसे बड़ी बात यह होती है, और वह इसी सबकी परिणति होती है, कि लोग लिखित या अलिखित किसी भी तरह के नियमों की ओर ध्यान नहीं देते—ताकि उनके ऊपर किसी भी तरह का कोई नियंत्रण न रहे[2]।

यह चरम लोकतंत्र की सामाजिक स्थिति है, पर उसकी राजनीतिक स्थिति में भी कम अंधेर नहीं रहता। हम ऐसे राज्य में तीन वर्ग या दल देख सकते हैं। इनमें से पहला वर्ग होता है नरमधुमक्खियों का या बेकार लोगों का—इन लोगों का कोई और काम-धाम तो होता नहीं; बस वे पेशेवर राजनीतिज्ञ बन जाते हैं जो राजनीतिक मंचों पर इधर से उधर भिनभिनाते फिरते रहते हैं। दूसरा वर्ग होता है—सुव्यवस्थित संपन्न मध्य वर्ग। यही वर्ग पहले वर्ग का सहज शिकार होता है। तीसरा वर्ग जनसाधारण या मजदूरों का होता है और जब कभी यह वर्ग इकट्ठा हो जाता है, तब यह सबसे बड़ा और सबसे शक्तिशाली होता है, पर इसे इकट्ठा करने के लिए कुछ प्रलोभन की, कुछ रिश्वत की जरूरत होती है। इस स्थिति का अनिवार्य परिणाम निकलता है। पहला वर्ग तीसरे वर्ग की भलाई के लिए, और उससे भी अधिक अपनी भलाई के लिए, दूसरे वर्ग को लूटने लगता है। इस स्थिति में लोकतंत्र का अर्थ होता है संपन्न वर्ग को नुकसान

---

1. एथेनी राज्य-व्यवस्था विषयक रचना के लेखक ने भी यह बात कही है : "आप किसी आवासी विदेशी या दास को पहचान नहीं पाएँगे और गली में कोई दास आपको रास्ता नहीं देगा"। सबकी एक सी वेश-भूषा होती है; कोई नहीं बता सकता कि कौन कौन है? उक्त कृति को गलती से ज़ेनोफॉन की रचना मान लिया गया है।
2. इस अवतरण (569 C) में दो बातें निहित हैं : एक तो यह कि लोकतंत्र के दो भिन्न रूप होते हैं—एक वह जिसमें विधि के प्रति कुछ आदर रहता है और दूसरा वह जिसमें विधि के प्रति कोई आदर नहीं रहता; और दूसरी बात यह कि इसमें माना गया है कि यथार्थ राज्यों में विधि का होना विधि के न होने से ज्यादा अच्छा होता है। दोनों ही दृष्टियों से इस अवतरण में वह बात पहले से कह दी गई है जिसकी स्थापना बाद में **पॉलिटिक्स** में की गई है (आगे अध्याय 12—च देखिए)।

पहुँचा कर पेशेवर राजनीतिज्ञों द्वारा समाज का शासन—ऐसा शासन जिसमें मुख्य रूप से उनका अपना भला हो और आनुषंगिक रूप से सर्व-साधारण का। इस तरह की शासन-व्यवस्था में क्रांति के बीज ज़रूर छिपे रहते हैं। मध्यवर्ग अपनी रक्षा करने की कोशिश करता है। और जब वह ऐसा करता है तब उसके ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि वह प्रभुतासंपन्न जनता के विरुद्ध साज़िश कर रहा है; और जब उस पर इस तरह का आरोप लगाया जाता है, तब वह सचमुच साज़िश करने लगता है। जब मध्यवर्ग यह देखता है (और प्लेटो ने भी यह स्वीकार किया है) कि "लोग अपनी इच्छा से नहीं बल्कि अज्ञान से और प्रवंचित होकर" उसके प्रति अन्याय करने की कोशिश कर रहे हैं, तब वह भी जान-बूझ कर नहीं, बल्कि लाचारी में क्रांतिकारी दल का रूप ग्रहण कर लेता है। इस स्थिति में जो संघर्ष होता है, उसमें कोई लोक-संरक्षक जनता की तरफ़दारी करता है[1]। लोक-संरक्षक मध्यवर्ग का लुटेरा होता है। "कर्ज़े खत्म किए जाएँ और ज़मीन का फिर से बंटवारा हो"[2]—वह मध्यवर्ग के खिलाफ यह नारा बुलंद करता है और न्याय का ढोंग रच कर जिन-जिन लोगों पर उसका बस चलता है, उन्हें मौत के घाट उतार देता है। इस तरह वह गृह-युद्ध की आग सुलगा देता है। इस युद्ध में या तो उसे देश-निकाला दे दिया जाता है और वह पूरा निरंकुश शासक बन कर लौटता है या फिर वह अंगरक्षकों की माँग करता है और उसे वे मिल जाते हैं और तब वह उतना ही निरंकुश शासक बन जाता है।

अस्तु, लोकतंत्र के संबंध में **रिपब्लिक** का निर्णय यह है कि वह धिक्कार के योग्य है। वह जब तक जीता है, तब तक भी उसमें कोई आकर्षण नहीं होता, और जब मरने लगता है, तब वह सबसे निचले और सबसे पतित राज्य—निरंकुश-तंत्र के लिए राह तैयार कर देता है। बाद के संवादों में—**पॉलिटिकस** में और उससे भी अधिक **लॉज़** में—प्लेटो के दृष्टिकोण में एक परिवर्त्तन आ गया है। उदाहरण के लिए उसने **पॉलिटिकस** में लोकतंत्र के दोनों रूपों में भेद माना है—एक उसका श्रेयस्कर या विधिनिष्ठ रूप है और दूसरा हीनतर या विधिहीन रूप; और हालांकि उसने उन दोनों को अभिजात-तंत्र से निचले स्तर पर रखा है (यह अभिजात-तंत्र **रिपब्लिक** के धनिकतंत्र के अनुरूप है); फिर भी वह उन्हें अल्पतंत्र से ऊँचा समझता है। **रिपब्लिक** में साधारण और चरम लोकतंत्र में स्पष्ट भेद नहीं किया गया है: प्लेटो के मत से इनमें से किसी में भी न तो जीवन का कोई नियम पाया जाता है और न विधि के प्रति

---

[1] एथेंस के वास्तविक इतिहास में लोक-संरक्षक की स्थिति के बारे में पीछे पृष्ठ 51—52 देखिए।

[2] एथेंस में न्यायाधीशों को जो शपथ दिलाई जाती थी, उस में एक धारा यह रहती थी कि वे इन चीज़ों के पक्ष में कभी मत नहीं देंगे। इस कार्यक्रम का मतलब यह था—(1) जो ऋण ज़मीन की ज़मानत देकर लिए गए हों, उनसे जिनकी ज़मीनें रेहन रखी गई हों उन्हें मुक्त कर दिया जाए और ऋण के वे संविदे रद कर दिए जाएं; और (2) जो लोग रेहन की शर्त्तें पूरी न करने के कारण अपनी ज़मीन-जायदाद नहीं छुड़ा पाते और इस तरह उससे हाथ धो बैठते हैं, उनके हित को ध्यान में रखकर ज़मीनों का फिर से बँटवारा किया जाए।

सम्मान ; और उसने दोनों को अल्पतंत्र से हीन माना है। फिर भी रिपब्लिक की अदालत में लोकतंत्र का जो फैसला हुआ है, उसमें धिक्कार के साथ-साथ तरस का भाव भी है। प्लेटो यथार्थ जीवन में अभिजात था और एथेनी लोकतंत्र का शत्रु, यह समझना भूल होगी[1]। वह सिद्धांत में लोक-शासन का कट्टर शत्रु था : यह समझना भी उतनी ही बड़ी भूल होगी। उसे लोक से नहीं, लोकनेता से घृणा है। एक अवतरण (499 D) में उसने लिखा है, "मेरे मित्र ! लोगों को दोष न दो"। अगर वे पाप करते हैं, तो अज्ञान के कारण और धोखे के कारण। रिपब्लिक के छठे खंड के एक सशक्त अवतरण में उसने राज्य के संदर्भ में जहाज के प्राचीन रूपक का प्रयोग किया है जिसका पहले कभी एलसाएस ने अपने एक प्रसिद्ध गीत में उपयोग किया था। प्लेटो ने लोगों की तुलना किसी जहाज के कप्तान से की है जिसे सुकान (helm) पर कब्ज़ा जमाने के इरादे से विरोधी दावेदारों ने चारों ओर से घेर रखा हो। कप्तान अपने चालक-दल में सबसे लंबा और तगड़ा है, पर वह कानों से सुन नहीं सकता, आँखों से देख नहीं सकता और उसका नाविकीय ज्ञान भी नहीं के बराबर है। वह दिल का साफ़ है, पर अपनी कमज़ोरियों की वजह से लुट जाता है। उसके उद्दंड साथी अफीम खिला कर उसे बंदी बना लेते हैं और उसी के केबिन में कैद कर देते हैं ; फिर भावी नाविक यह कहते-कहते ज़बर्दस्ती सुकान पर कब्ज़ा कर लेते हैं कि राजनेतृत्व सीखा नहीं जा सकता और सिखाया तो बिल्कुल भी नहीं जा सकता।

---

[1] पीछे पृ० 167—8 देखिए।

(च) अंतिम विकृति—निरंकुश-तंत्र

अब यह बात स्पष्ट है कि लोकतंत्र का लक्षण दुर्बलता है, दुष्टता नहीं ; पर लोकतंत्र जिस निरंकुश-तंत्र के लिए राह तैयार कर देता है, उसका लक्षण दुष्टता है, दुर्बलता नहीं। जब प्लेटो निरंकुश-तंत्र की विवेचना करता है, तब उसके मन में सिराक्यूज़ का इतिहास और डायोनीसियस प्रथम की शासन-व्यवस्था घूमती रहती है। जब प्लेटो निरंकुश-तंत्र के जन्म का वर्णन करता है या निरंकुश शासक की शासन-पद्धति का खाका खींचता है तब वह दोनों में समान रूप से सिराक्यूज़ के इतिहास-प्रवाह का अनुसरण करता है। पहले दौर में निरंकुश शासक की वही स्थिति होती है जो एस्काइलस के एगामेमनॉन में सिंह-शावक की दिखाई गई है—"जो हाथ उसे खाना खिलाते हैं, उन हाथों को देख-देख कर वह हँसता-विहँसता है और सहारा पाने के लिए तलुवे चाटता है"। यह निरंकुश-तंत्र का वह दौर है जो डायोनीसियस प्रथम के आरंभिक दिनों में दिखाई पड़ा था। इसका यह रूप रोम के प्रिंसिपेट-काल में फिर से देखने को मिला। जब वह अपने आसन पर अच्छी तरह जम जाता है, तब वह युद्ध की नीति अपना लेता है। इसमें उसके दो लक्ष्य होते हैं—एक तो यह कि पथ-प्रदर्शन ज़रूरी हो जाए और दूसरे लोगों का देश की भीतरी स्थिति से ध्यान हट जाए। इसीलिए तो डायोनीसियस प्रथम ने कार्थेजवासियों से लड़ाइयाँ लड़ीं और आधुनिक काल में यही नैपोलियन तृतीय की युद्ध-नीति की जड़ थी। जब उसके वही पुराने साथी जो सत्तारोहण में उसके दाहिने हाथ रहे हों, उसकी शासन-व्यवस्था पर उँगली उठाने लगते हैं, तब वह उन्हें अपने रास्ते से हटाने के लिए विवश हो जाता है और अंत में होता यह है कि इस तरह की छींटाकशी के डर से वह साहस, उदारता और समझदारी के हर तत्त्व को राज्य से मिटा डालने के लिए कमर कस लेता है। जब निरंकुश शासन का अच्छाई से नाता टूट जाता है, तब उसे मज़बूरन बुराई से नाता जोड़ना पड़ता है। जहाँ से भी मिलें, वह भाड़े के सिपाही इकट्ठे करता है। अपने घर की रखवाली के लिए वह कुछ गुलाम तक रखता है और अपने सहयोगियों के भरण-पोषण के लिए उसके पास एक ही चारा रह जाता है—वह धार्मिक संपत्ति को सरकारी ख़ज़ाने में ले ले, अमीरों की ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर ले और मानो मातृहंता तक बन जाए यानी जिस जनता ने उसे

जन्म दिया था, उसी पर अपना 'परशु' चलाने लगे ।

अल्पतंत्र और लोकतंत्र की तरह निरंकुश-तंत्र का भी मनोवैज्ञानिक आधार बुभुक्षा है । पर अल्पतंत्र में निहित बुभुक्षा की तरह वह संचय की बुभुक्षा नहीं होती और न लोकतंत्र की तरह उसमें सब बुभुक्षाओं का संतुलन होता है । वह तो पशुओं जैसी निर्मम अनियंत्रित बुभुक्षा होती है—देह की लिप्सा और सत्ता का मद । यह बुभुक्षा और एक बार भड़कने पर और सारी बुभुक्षाओं को मार देती है और फिर हर वासना का काम यह हो जाता है कि वह आत्म-परितोष और आत्म-स्थापना की तृष्णा पूरी करने में लगे । यही वह चरित्र है जो निरंकुश-तंत्र में अपने विस्तार के पूरे अवसर न मिलने पर या तो भाड़े की सेना के लुटेरे और उच्छृंखल सिपाहियों के रूप में ढल जाता है या समाज में अपराधी-वर्गों के निर्माण में लग जाता है । यह वह चरित्र है जिसका स्वतंत्रता या मित्रता के आधार पर दूसरों के साथ संयोग नहीं हो सकता । वह या तो स्वामी बन कर रहेगा या सेवक । बराबरी के लिए वह बना नहीं होता । वह ऐसा तंतु नहीं होता जिससे समाज के वस्त्र का निर्माण हो सके । वह न विधि को मानता है, न राज्य को । वह पूरी तरह से अन्यायी होता है । न्याय का अर्थ है सामूहिक योजना में अपना काम करना पर यह चरित्र अपने व्यवहार से सामूहिक योजना का निषेध करता है और उसकी प्रकृति ही ऐसी नहीं होती कि उसमें भागीदार बन सके ।

(छ) न्याय और अन्याय : अंतिम निर्णय

यहाँ आकर **रिपब्लिक** के तर्क का एक चक्र पूरा हो गया है[1] और यह चक्र पूरा होने पर थ्रेसीमेकस द्वारा प्रतिपादित निर्मम आत्म-स्थापना का सिद्धांत फिर हमारे सामने उभर कर आ जाता है। पर अब इस सिद्धांत का मूल्य-महत्त्व पहले की तुलना में ज़्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। हम इसके विरोधी सिद्धांत, यानी योजना के प्रति आत्म-समर्पण और उस योजना के अंतर्गत विशिष्ट कर्म-संपादन के सिद्धांत, की उसकी समग्रता में देख चुके हैं। हम इन दोनों छोरों के बीच की स्थितियों को भी देख चुके हैं। अब इस सारे ज्ञान के आलोक में हमें निर्मम आत्म-स्थापना के सिद्धांत की परीक्षा करनी है और यह सारा तर्क-प्रवाह जिस मूल प्रश्न से फूट कर बहा था, उस मूल प्रश्न का उत्तर देना है। वह मूल प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण न्यायी व्यक्ति का सुख पूर्ण अन्यायी व्यक्ति के सुख से बड़ा होता है।

प्लेटो ने निरंकुश-तंत्र को पूर्ण अन्यायी राज्य कहा है और उसका वर्णन करते हुए उसने उस चीज़ का संकेत दे दिया है जिसे वह व्यंग्य में निरंकुश शासक का परमानंद कहता है। निरंकुश शासक सज्जनों की संगति से अलग जा पड़ता है और दुर्जनों की संगति में फँस कर रह जाता है[2]। प्लेटो ने **रिपब्लिक** के नवें खंड में तिहरी तर्क

---

[1] क्या सांविधानिक परिवर्त्तन का चक्र पूरा घूम चुकता है और निरंकुश-तंत्र की परिणति आदर्श राज्य के रूप में हो जाती है, जिससे कि एक नया चक्र शुरू हो सके? — यह ऐसा प्रश्न है जिसे प्लेटो ने न तो उठाया ही है और न जिसका उत्तर ही दिया है। पर, **रिपब्लिक** और **लॉज़** दोनों में ही यह अतर निहित प्रतीत होता है कि बात ऐसी ही है। जब प्लेटो **रिपब्लिक** में नरेशों या नरेशों और शासकों के लड़कों के दार्शनिक बनने की बात करता है, तब लगता है मानो वह निरंकुश-तंत्र को आदर्श राज्य के रूप में बदलने की बात सोच रहा हो (499 B)। इसी प्रकार, **लॉज़** में संकेत दिया गया है कि 'तरुण निरंकुश शासक' सुधार के लिए सर्वश्रेष्ठ आधार होता है (709E)।

[2] लॉज़, 728 B से तुलना कीजिए : "बुरे काम की सबसे बड़ी सजा है बुरे लोगों जैसा बन जाना और उन जैसा बन कर सज्जनों के सत्संग से दूर भागना, उनसे कट जाना और दुर्जनों के साथ चिपके रहना और उन्हीं की संगति करना।"

श्रृंखला के आधार पर इस निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करने की कोशिश की है और साथ ही यह प्रमाणित करने की भी कि न्यायी व्यक्ति पूर्ण सुखी और अन्यायी पूर्ण दुःखी होता है। पहली तर्क-श्रृंखला को राजनीतिक तर्क-श्रृंखला कहा जा सकता है (576 B—580C)। राज्य व्यक्ति का बृहत् रूप भर होता है, अतः हम राज्यों के सुख के आधार पर व्यक्तियों के सुख की चर्चा कर सकते हैं जो कि राज्यों के अनुरूप होते हैं। आदर्श राज्य पूर्ण न्यायी और पूर्ण सुखी होता है और इसलिए जो आदर्श व्यक्ति उस राज्य के अनुरूप होता है और उसका नागरिक होता है, वह भी पूर्ण न्यायी और पूर्ण सुखी होता है। कम से कम प्लेटो की यही धारणा है। पर वास्तव में आदर्श राज्य के नागरिक जिस सुख का उपभोग करते हैं, उसके बारे में निश्चयपूर्व कुछ कहना आसान नहीं है। स्वयं प्लेटो ने तो बस उन्हीं पूर्ण नागरिकों के सुख की विवेचना की है जो शासक या योद्धा हैं, और उसे यह सिद्ध करने में कठिनाई होती है कि वे जितने न्यायी हैं उतने सुखी भी हैं। यह सच है कि उसने दो अवतरणों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वे पूर्ण प्रसन्न हैं। एक अवतरण में जो चौथे खंड (419—21C) के आरंभ में आया है, उसका निष्कर्ष है कि मूल बात समूचे राज्य का सुख है और इसलिए उसका मत है कि अगर ऐसी बात है तो संरक्षकों और सहायकों को उस व्यापक सुख में अपना विशिष्ट योगदान करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए या प्रेरणा दी जानी चाहिए (519 E—520 A से तुलना कीजिए)। इससे यह बात साबित नहीं होती कि न्याय और सुख की एक ही बात है। एक अन्य अवतरण (565—6 C) में—जहाँ उसने बताया है कि साम्यवाद के क्या लाभ हैं—उसने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि चूंकि पहले दो वर्गों को संपत्ति और परिवार की चिंताएँ नहीं रहतीं, अतः वे ओलम्पिक खेलों के विजेताओं से अधिक सुखी होंगे। यहाँ वह यह मानता हुआ लगता है कि संरक्षक स्वतः सुखी होते हैं। पर उसने आगे चलकर कहा है कि अगर कोई संरक्षक इस तरह से सुखी होना चाहे कि वह संरक्षक ही न रहे, तब उसे यह सिखाया जाना चाहिए कि सारे से आधा ज्यादा अच्छा होता है और इस तरह प्लेटो एक बार फिर कुछ इस तरह का संकेत देता है कि 'संरक्षकोचित' सुख संरक्षक का अपना सुख इतना नहीं होता जितना व्यापक सुख के प्रति उसका योगदान होता है। इसलिए, यहाँ भी आवश्यक नहीं कि संरक्षक के न्याय का नतीजा उसका अपना ही सुख हो। जब हम मानदंड के दूसरे छोर पर पहुँचते हैं और निरंकुश-तंत्र तथा निरंकुश व्यक्ति के बारे में विचार करते हैं, तब प्लेटो के तर्क में उतनी कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। यहाँ वह तथ्य की भूमि पर खड़ा हो सकता है। वह उन यूनानियों से निरंकुश-तंत्र के बारे में बात कर सकता है जो उससे परिचित थे और घृणा करते थे। निरंकुश-तंत्रीय प्रकृति के बारे में वह एक ऐसे व्यक्ति के अधिकार से बोल सकता है जिसने सिराक्यूज़ में उसके प्रत्यक्ष दर्शन किए थे। सब लोग जानते हैं कि सबसे बुरे राज्य निरंकुश-तंत्रीय राज्य होते हैं ; और जो लोग निरंकुश शासकों से परिचित हों वे यह भी जानते हैं कि सबसे अधिक दुःखी वे ही लोग होते हैं। इसलिए, मानदंड के एक छोर पर तो प्लेटो न्यायी व्यक्ति के सुख को रखता है। वह उस समाज में अपनी सेवा के कारण न्यायी होता है जिसमें सब अपना-अपना विशिष्ट काम करके योग देते हैं। दूसरे छोर पर वह अन्यायी के दुःख को रखता है, जो अपने स्वभाव के वश किसी भी समाज में

साझीदार बनने के योग्य नहीं होता । उसका निष्कर्ष है कि साहचर्य स्वर्ग है और साहचर्य का अभाव नरक और उन दोनों के बीच बेहद गहरी खाई है[1] ।

राजनीतिक तर्क के बाद सहज ही मनोवैज्ञानिक तर्क आता है (580 D—583 B) । विभिन्न राज्य मन के विभिन्न तत्त्वों पर आधारित होते हैं ; और इसलिए राज्यों की तुलना करने के बाद हम उन विभिन्न तत्त्वों की तुलना कर सकते हैं जिन पर वे आधारित होते हैं । मन के तीनों महान् तत्त्वों—विवेक, उत्साह और बुभुक्षा—में से हरेक को अपना-अपना सुख और उसके अनुरूप अपनी-अपनी प्रसन्नता होती है[2] । इन तत्त्वों में जो सबसे ऊँचा है, यानी विवेक, उसे सबसे ऊँची प्रसन्नता प्राप्त होती है और इनमें जो तत्त्व सबसे नीचा है यानी बुभुक्षा, और उसका भी जो निम्नतम रूप है यानी शक्ति और आत्म-परितोष की तृष्णा—उसे सबसे ज्यादा दुःख मिलता है । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या मन के विभिन्न तत्त्वों से संबंध रखने वाले प्रसन्नता के विभिन्न प्रकारों को नापा जा सकता है और क्या उनकी तुलना की जा सकती है ? प्लेटो का उत्तर यह है कि सविवेक व्यक्ति उत्साह, बुभुक्षा और विवेक इन तीनों के सुख का अनुभव कर चुका होता है और उनकी परख कर सकता है ; और इसलिए अगर वह यह घोषणा करे —और वह करता भी है—कि विवेक का सुख सबसे बड़ा सुख होता है, तो उसका विश्वास किया जाना चाहिए । पर, इस उत्तर से प्रश्न का समाधान नहीं होता । विभिन्न प्रकार के सुखों को—चाहे उनमें कितना ही मात्रा-भेद क्यों न हो—मापने में यह बात निहित है कि हम परिमाण की कसौटी को गुण के सवाल पर लागू कर रहे हैं । यह कहना एक बात है कि एक प्रकार का सुख गुण की दृष्टि से दूसरे से अच्छा है और यह निर्णय नैतिक भावना कर सकती है ; पर यह कहना दूसरी बात है कि एक प्रकार का सुख मात्रा में दूसरे प्रकार के सुख से अधिक

---

[1] तर्क-शृंखला के इस भाग में मूल विचार यह है कि अपना काम अच्छी तरह करने में ही सुख है और जो व्यक्ति अच्छी तरह रहने का काम करता है, वह 'सुख से भी रहेगा'। (रिपब्लिक, 353 D—354 A से तुलना कीजिए और पीछे पृ० 236—7 देखिए) । मुश्किल यह है कि अगर हम प्रसन्नता को कोरे सुख से भिन्न मान लें तब भी यह जरूरी नहीं कि सुख से रहना और अच्छी तरह रहना एक ही चीज हों । हाँ, अगर हम आत्मा की अमरता और ईश्वर के साथ उसके संबंध को अपने विचार-क्षेत्र में ले लें, जैसा कि प्लेटो ने भी अंत में किया है, तो बात और है ।

[2] सुख या सुख-संवेदन का प्रसन्नता से या अगर और सही-सही शब्द का प्रयोग करें तो परम आनंद से भेद करना चाहिए । सुख बहुत से लोगों के निकट सबसे बड़ा श्रेय होता है (505 B) ; पर प्लेटो स्वयं सुखवादी नहीं बल्कि आत्मोत्कर्षवादी है । श्रेय सुख-संवेदन नहीं, बल्कि 'अंतरंग प्रसन्नता का वरदान' है जिसका स्रोत है—आत्मा की सुव्यवस्था । उसका मूल तत्त्व सुख-संवेदन नहीं, बल्कि सुख का संज्ञान होता है ; और उसका कारण यह है कि इस प्रकार की सुव्यवस्था में विवेक का स्थान सबसे ऊपर होता है···पर यह फिर भी सच है कि मानवी प्रसन्नता के बारे में प्लेटो की जो धारणा है ; उसका एक अंग सुख है ।

सुखदायी है। इस तरह का निर्णय नहीं किया जा सकता। कुछ भी हो, सविवेक व्यक्ति—जिसके लिए विवेक के सुख सबसे अधिक आकर्षक होते हैं—अपने लिए अपनी ही रुचि के अनुसार निर्णय करता है ; पर उत्साही व्यक्ति को काल और सृष्टि के चिंतन की अपेक्षा सैनिक कार्य में अधिक सुख मिलता है और हो सकता है उसका निर्णय सविवेक व्यक्ति के निर्णय से बिल्कुल उल्टा हो।

चूंकि प्लेटो का यह मत है कि विभिन्न राज्य मन के विभिन्न तत्त्वों पर आधारित होते हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि वह राजनीतिक तर्क के बाद मनोवैज्ञानिक तर्क पर आ जाए। इसी तरह यह भी स्वाभाविक है कि मनोवैज्ञानिक तर्क के बाद वह तर्क की तीसरी दिशा तत्त्वमीमांसीय दिशा—(583—7B) ग्रहण करे। उसका मत है कि सुख भावात्मक चीज़ है। लोग पीड़ा के निवारण को अकसर सुख का नाम दे देते हैं, पर वास्तव में सुख न तो पीड़ा से पलायन है न उसका निवारण। वह तो परितृप्ति की स्थिति होती है जिसमें आत्मा का कुछ विस्तार हो जाता है। यह तो अपने आप में इंद्रिय-सुखों के विरुद्ध तर्क है कि वे पीड़ा से निवारण के साधन होते हैं, उनमें परितृप्ति की भावात्मक स्थितियाँ परिलक्षित नहीं होतीं। पर, यह तो मनोविज्ञान का ही विषय है। तत्त्वमीमांसा का सच्चा प्रश्न तो तब उठता है जब हम उन चीज़ों के स्वरूप पर विचार करने लगते हैं जिनका हम मन के विभिन्न तत्त्वों के विभिन्न सुखों के संदर्भ में उपभोग करते हैं। वे जितने ही अधिक यथार्थ और सच्चे होते हैं उनकी उपलब्धि से परितृप्ति की उतनी ही अधिक यथार्थ और सच्ची स्थिति प्राप्त होती है। जब विवेकजन्य सुख की अनुभूति होती है, तब विवेक में जो चीज़ जुड़ जाती है वह यथार्थ और सच्चे अस्तित्व का यथार्थ और सच्चा ज्ञान होता है। जब बुभुक्षा के सुखों का अनुभव होता है तब बुभुक्षा में जिस चीज़ का सन्निवेश होता है वह कोरा संवेदन होता है और उस रूप में उसका संबंध अयथार्थ और अस्थिर इंद्रिय-जगत से होता है। यहाँ फिर एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या तत्त्वमीमांसीय यथार्थता से संपन्न चीज़ों से प्राप्त संतोष का सुख परिमाण में उस सुख से अधिक होता है जो इस प्रकार की यथार्थता से रहित चीज़ों से प्राप्त संतोष में मिलता है। कम से कम प्लेटो तो मानता है कि बात ऐसी ही है और यह मान लेने के बाद वह गणितीय आधार पर यह हिसाब लगाने तक की कोशिश करता है कि न्यायी व्यक्ति की प्रसन्नता और अन्यायी व्यक्ति की अप्रसन्नता में कितना मात्रा-भेद होता है। कुछ-कुछ पायथागोरस के अंदाज़ में—आधे मज़ाक में और शायद उससे अधिक गंभीरता के साथ—वह यह निष्कर्ष निकालता है कि आदर्श राज्य का शासक निरंकुश शासक की अपेक्षा सात-सौ उन्तीस गुना अधिक सुख से रहता है और निरंकुश शासक आदर्श राज्य के शासक की अपेक्षा उतना ही दु:खी रहता है (587 E)।

रिपब्लिक के शुरू में जो सवाल उठाया गया था कि अगर हम इस लोक के या परलोक के पुरस्कारों और दंडों की बात छोड़ दें, तो क्या अन्यायी व्यक्ति अपने आप में और अपनी आत्मा की गहराइयों में, न्यायी व्यक्ति की अपेक्षा कम सुखी होता है, उसका यही अंतिम उत्तर है। दसवें खंड के दूसरे भाग में प्लेटो ने

और भी ऊँची उड़ान भरी है। चिरंतनता के संदर्भ में न्याय और अन्याय के बारे में विचार करते हुए उसने वहाँ आत्मा की अमरता की चर्चा की है और कहा है कि अगर आत्मा न्याय की राह पर डटी रहे और उससे कभी डिगे नहीं, तो उसके गले में अमरता की वरमालाएँ पड़ सकती हैं। पर दसवाँ खंड तो भव्य परिवर्धन है; और **रिपब्लिक** का मुख्य विषय तो यही है कि न्याय अपने आप में सुख है और वह परलोक के विचार से निरपेक्ष होता है। क्या इस तरह के विषय का निर्वाह हो सकता है? जब तक अनंत आत्मा और आत्मा के प्रति परमात्मा की अनंत करुणा में आस्था के कारण दोनों का अभेद न हो गया हो तब तक अंतर्मन के आनंद और न्यायनिष्ठता दोनों का साथ-साथ अस्तित्व नहीं हो सकता। हम न्यायनिष्ठता को सामाजिक कर्त्तव्य की नींव पर आधारित कर सकते हैं और कह सकते हैं कि 'यह हमारे बंधुओं के लिए है' और यह कह कर हम कठोर आत्म-त्याग का जीवन अपना सकते हैं और स्टोइकों की भाँति जो कुछ अपना कर्त्तव्य समझें उसे पूरा करके सुखी हो सकते हैं। पर, यह नींव हमेशा नहीं रहेगी। कुछ चीज़ें ऐसी हैं जिनका तकाज़ा हमसे सामाजिक कर्त्तव्य नहीं करता, पर न्यायनिष्ठता करती है; और सामाजिक कर्त्तव्य की पुकार अपनी माँगों के क्षेत्र तक में बेअसर हो सकती है क्योंकि जो उस पुकार का अनुसरण करते हैं उन्हें सुख और संतोष मिल नहीं पाते। न्यायनिष्ठता को धार्मिक आस्था का आधार देने पर ही हम उसकी माँगों के लिए एक व्यापक नींव पा सकते हैं: ईश्वर के प्रेम में ही हम न्यायनिष्ठता और प्रसन्नता दोनों का अनंत सोता पा सकते हैं।

इज़रायल के लेखकों की भाँति (और जब प्लेटो अपने जीवन के अंतिम दौर में पहुँचा और उसने लॉज़ के दसवें खंड की रचना की, तब उसमें उन्हीं की भाषा गूँजती-सी लगती है) प्लेटो के सामने भी प्रसन्नता और न्यायनिष्ठता के संबंध की समस्या —जाब की समस्या, सामिस्ट की समस्या—अपने ज्वलंत रूप में उभर कर आई। इज़रायल के लेखकों की तरह ही अंत में उसने भी ईश्वर के नाम की शरण ली। **रिपब्लिक** के अंत में, एर की महान् पुराणकथा में उसने समस्या के समाधान के लिए चिरंतनता की दुहाई दी है। यह जीवन अमरता के नाटक का एक उपाख्यान भर है और अगर लगे कि न्यायी होते हुए भी हम इस जीवन में दुःख पा रहे हैं, तब भी इससे ईश्वर की विडंबना नहीं होती क्योंकि चिरंतनता काल-सापेक्ष धारणा को सुधार देती है। यही विचार लॉज़ में फिर आया है। लॉज़ के दूसरे खंड में प्लेटो ने **रिपब्लिक** के प्रश्न को फिर से उठाया है। क्या सबसे अधिक न्यायनिष्ठ जीवन सबसे अधिक सुखी नहीं होता? क्या अन्याय का जीवन दुःखमय नहीं होता और जो व्यक्ति अन्याय का जीवन जीता है, उसके लिए वह हानिकर नहीं होता (662 A—D)? उसका उत्तर है कि कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि विधिकार को यही दृष्टिकोण मानना और लागू करना चाहिए तभी लोग पवित्रता और न्याय का जीवन जिएँगे। इसका कारण यह है कि लोग तो सुख की राह पर चलते हैं और जब तक उन्हें यह यकीन न हो कि न्याय की राह पर सुख भी है, तब तक वे उस राह पर न चलेंगे (663 B)। इसका उल्टा दृष्टिकोण बुरी आत्माओं का दृष्टिकोण है, और इसलिए

वह बुरा भी है और झूठा भी ; पर अगर यह दृष्टिकोण सच्चा और दूसरा झूठा भी हो, तब भी जो विधिकार चाहता हो कि लोग डंडे के ज़ोर से नहीं, बल्कि स्वेच्छा से न्याय की राह पर चलें, वह इससे अधिक उपयोगी झूठ की कल्पना नहीं कर सकता था (663D—E)। यहाँ तो इसमें संदेह का स्वर है, पर लॉज़ के अंत तक पहुँचते-पहुँचते उसके स्वर में निश्चय का भाव आ गया है। ईश्वर है और वह न्यायी है। संपूर्ण चराचर जगत उसी के द्वारा संचालित व्यवस्था है। अपनी इस व्यवस्था में उसने हमारे लिए जो जगह निश्चित की है; उस जगह के अनुरूप कर्त्तव्य का पालन करना ही न्याय है ; और ईश्वर के शाश्वत विधान के पालन में न्याय की राह ही सुख की राह है।

"जो संपूर्ण सृष्टि का रखवाला है, उसने कुछ ऐसा विधान रचा है कि सब चीज़ें मिलकर समग्र के उद्धार और उत्कर्ष के लिए काम करें। उसके भीतर का प्रत्येक भाग, अपनी क्षमता के अनुसार, यथोचित प्रभाव डालता है और ग्रहण करता है और उसमें से एक भाग तुम्हारा है और भले ही वह सबसे तुच्छ क्यों न हो, वह सृष्टि के सापेक्ष होता है और उसमें उचित परिश्रम करता है। पर, तुम इसी चीज़ को भूल गए हो कि जो कुछ होता है, सृष्टि के ही निमित्त होता है जिससे कि उसका अस्तित्व सुखमय हो सके। कोई चीज़ तुम्हारे कारण नहीं होती, पर तुम्हारा अस्तित्व सृष्टि के कारण है। हर चिकित्सक और हर चतुर कारीगर अपना कार्य 'संपूर्ण' के निमित्त करता है, और उसके लिए जो चीज़ सबसे अच्छी होती है, उसे अस्तित्व में लाने के लिए यथोचित परिश्रम करता है। वह अंगी के लिए अंग का निर्माण करता है, अंग के लिए अंगी का नहीं। तुम अज्ञानवश दुःख उठाते हो क्योंकि तुम्हें नहीं मालूम कि तुम्हारे लिए जो चीज़ सबसे अच्छी है वह संपूर्ण के कार्य-व्यापार को ध्यान में रखते हुए, सृष्टि के जीवन में और तुम्हारे जीवन में किस प्रकार घटित होती है[1]। ...लड़के और छोकरे, तुम जो यह समझते हो कि ईश्वर ने तुम्हारी उपेक्षा की है, यह समझो कि अगर तुम बुरे हो, तो तुम्हारे हाथ बुराई आएगी और अगर तुम अच्छे हो, तो अच्छाई। तुम या कोई और, यह शेखी न मारो कि तुम ईश्वर के न्याय से बचे रहोगे, या तुम उससे ऊपर हो ; क्योंकि वह तुम्हारी कभी उपेक्षा नहीं करेगा। तुम अपने आपको इतना छोटा नहीं बना सकते, न तुम ज़मीन की गहराइयों में इतने नीचे डूब सकते हो। तुम अपने आपको इतना ऊँचा नहीं कर सकते और न तुम आसमान की ऊँचाइयों में इतने चढ़ सकते हो। पर तुम्हें इस लोक में या परलोक में यथोचित दंड अवश्य भोगना पड़ेगा। और इस तरह तुम उन लोगों के बारे में भी विचार करोगे जिन्हें तुमने नीच कर्म कर-कर के भी नीचे से ऊपर उठते हुए देखा था। तुमने कहा था, 'देखो वे कभी दुःखी थे, पर अब वे प्रसन्न हैं' और जैसे दर्पण में देखा जा सकता है, उसी तरह उनके कामों को देखकर तुम्हें लगा कि ईश्वर सब चीज़ों की उपेक्षा कर रहे हैं। पर यह तुम नहीं जानते कि किस तरह सारी चीज़ें एक साथ

---

[1] लॉज़, X. 903 B—D।

काम करती हैं और किस तरह हर चीज़ सृष्टि में अपनी भूमिका निभाती है"[1] ।

---

[1] वहीं, 904 E—905 । सी० रिटर ने लॉज़ की अपनी टीका में पृ० 30 पर इस सारे अवतरण के बारे में लिखा है, "ध्यान देने की बात है कि ऐसी किसी व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती जो वैज्ञानिक प्रमाण की कठिन कसौटी पर पूरी तरह खरी उतर सके। अवतरण में एक प्रकार की पुराण-कथा का स्वर है"। जिस नौजवान को ईश्वरीय विधान में संदेह है, प्लेटो उसमें आस्था जगाने के लिए उसे पुराण कथा या कहानी सुना रहा है। पर प्लेटो ने तो पुराण कथा में गहरी बातें कहीं हैं, और यह अवतरण रूप की दृष्टि से भी पुराण कथा नहीं कहा जा सकता बल्कि यह तो धर्म है, एक प्रतीक।

(ज) प्लेटो और सर्व-हेलेनवाद

चौथी सदी की सर्व-हेलेनी भावना की—विशेषकर जिस रूप में उसे ईसोक्रेटीज़ ने व्यक्त किया था, उसकी और इस भावना के साथ प्लेटो की सहानुभूति की—थोड़ी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं[1]। प्लेटो का विश्वास कितना गहरा था, रिपब्लिक के पाँचवें खंड के अंत में इसका उल्लेख्य प्रमाण मिलता है। जब प्लेटो अपने आदर्श राज्य की रचना पूरी कर चुकता है और उसके आंतरिक संगठन की नवीनताओं को समझा कर उनका औचित्य भी सिद्ध कर चुकता है, तब वह विदेशों के साथ उसके संबंधों के प्रश्न की ओर ध्यान देता है। फ़ारस के विरोध में स्पार्टा के अभियानों (ई॰ पू॰ 400—394)[2] ने जिन-जिन भावनाओं को जन्म दिया था, उनसे प्रभावित होकर प्लेटो ने 'बर्बरों' के विरुद्ध यूनानी राज्यों के बीच आपस में संश्रय की, या कम से कम मैत्री की, विदेश-नीति की पैरवी की है। रिपब्लिक के जिस भाग में इस तर्क का विकास किया गया है, वही निश्चित और सचेत रूप से प्लेटो के राजनीति-सिद्धांत का सबसे अधिक व्यावहारिक अंश है। जितनी दूर ईसोक्रेटीज़ गया है, उतनी दूर तो वह नहीं गया और न उसने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि यूनानी राज्यों की आंतरिक कठिनाइयों के समाधान का असली इलाज है महान् राजा के विरुद्ध एक होकर जिहाद करना। उसे इस बात का बहुत स्पष्ट ज्ञान था कि वे राज्य अपनी कठिनाइयों से छुटकारा तभी पा सकते हैं जब उनकी आंतरिक व्यवस्था में आमूल सुधार कर लिए जाएँ पर उसने यूनानी राज्यों की आपसी मैत्री की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। उसने इस विचार का भी आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि यूनान में एक सामान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि होनी चाहिए जिसके अधीन यूनानी राज्यों के

---

[1] पीछे पृ॰ 106, 156—9, 172—3 और 175—6 से तुलना कीजिए।

[2] स्पार्टा के अभियानों का विशेषकर उन अभियानों का जो एगेसिलाउस ने किए थे—स्वरूप कुछ-कुछ धर्म-युद्ध का-सा था। एगेसिलाउस ने एशिया माइनर की ओर कूच करने से पहले एगेमेमनॉन की तरह औलिस में बलि देने की कोशिश की थी और इस तरह ट्रॉय के विरुद्ध हेलास के पुराने साहचर्य की याद फिर से ताज़ा हो आई थी।

संबंधों का नियमन हो, या होना चाहिए। उसने फ़ारस के विरोध में जिहाद का प्रचार तो नहीं किया, पर इस बात पर ज़रूर ज़ोर दिया है कि यूनानियों और अन्य सारे राष्ट्रों में मूल भेद है और उसके अनुसार इस भेद से यह शिक्षा मिलती है कि यूनानी बाहरी दुनिया के प्रति भले ही संयम का व्यवहार न करें, पर उन्हें एक-दूसरे के प्रति ज़रूर संयम का व्यवहार करना चाहिए।

प्लेटो के तर्क से अंतर्राष्ट्रीय विधि और अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के बारे में उसके विचारों पर जो प्रकाश पड़ता है, वही उसमें स्थायी दिलचस्पी की चीज है। प्लेटो राज्य को आंतरिक क्षेत्र में निरपेक्ष बना सकता है, पर वह यह बिल्कुल नहीं मानता कि राज्य अपने बहिरंग जीवन में निरपेक्ष होता है या उसके ऊपर किसी तरह की मर्यादा नहीं होती। यह तो ठीक है कि प्लेटो के मन में ऐसे सार्वभौम भ्रातृत्व या व्यापक मानव-समाज की कोई धारणा न थी जो राज्य को अपने भीतर समेट ले और जिससे उसके कार्यों पर नियंत्रण रहे। जब तक मैकेदोन और रोम के विश्व-साम्राज्यों ने अपना काम नहीं कर लिया और जब तक चिंतन इन तथ्यों के अनुरूप ढल कर मानव-बंधुत्व और समानता की उन धारणाओं के रूप में नहीं आ गया जिन्होंने पहले स्टोइक दर्शन में और फिर मसीही धर्म में अभिव्यक्ति पाई थी, तब तक इस तरह के विचार का अस्तित्व था भी असंभव। प्लेटो के युग में यूनानी और बर्बर के बीच भेद की जो दीवार खड़ी थी, उसे वह लाँघ नहीं सका था और वह जिस भ्रातृत्व को स्वीकार करता है, वह यूनानी जगत् तक ही सीमित है। पर, उसे इस बात की स्पष्ट धारणा है कि यूनानी जगत् एक ही समाज है, उसका अपना एक ही शिष्टाचार अथवा एक ही सौहार्द है और उसके सभी सदस्य उसका पालन करने के लिए बाध्य हैं। इस समाज में शांति का राज्य रहना चाहिए और अगर कभी लड़ाई हो, तो वह मानवोचित नियमों के अनुसार होनी चाहिए। इस समाज के भीतर वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार की भी स्वीकृति होनी चाहिए; और किसी भी यूनानी को किसी दूसरे यूनानी का दास नहीं होना चाहिए। संक्षेप में, प्लेटो का विश्वास है कि यूनान की एक अंतर्राष्ट्रीय विधि है और यूनान के सभी राज्य इस विधि से बँधे हुए हैं।

यूनानी इतिहास के आरंभ में एम्फिक्टियोनिक परिषद् ने, कुछ-कुछ अस्पष्ट तरीके से, यूनान की अंतर्राष्ट्रीय विधि की धारणा को व्यक्त किया था। परिषद् का विकास थर्मोपिलय के आस-पास के उस स्थानीय संघ से हुआ था, जिसका प्रयत्न शायद यह होता था कि वहाँ से दर्रे से गुजरने वाले बड़े रास्ते में शांति और व्यवस्था बनाए रखे। धीरे-धीरे उस संघ ने बढ़कर लीग का रूप ले लिया जिसमें सारे के सारे यूनानी जगत् के तो नहीं, पर उसके अधिकांश के प्रतिनिधि होते थे; और उसने यूनान के धार्मिक केंद्र डेलफ़ी में अपना नया केंद्र बनाया। यह लीग काफ़ी हद तक स्थानीय थी और इसका संबंध डेलफ़ी की देववाणी से था। छठी सदी के शुरू और फिर चौथी सदी के बीच के सालों को छोड़कर (पर, रिपब्लिक की रचना के बहुत साल बाद) और कभी इस लीग ने किसी ख़ास सक्रियता का भी परिचय नहीं दिया था। किंतु, उसने अपने सदस्यों के लिए कुछ नियम निर्धारित कर दिए

थे जिनमें से एक नियम अकसर उद्धृत किया गया है—लीग का कोई सदस्य किसी एम्फिक्टियोनिक नगर को नष्ट न करे और न कोई ऐसी हरकत करे जिससे ऐसे नगर को नदी का पानी मिलना बंद हो जाए[1]। पाँचवीं सदी के शुरू के बीस सालों में भी जब यूनानियों और फ़ारसियों के बीच लड़ाइयाँ हुईं—कुछ समय के लिए यूनानी एकता की अधिक यथार्थ चेतना और अधिक सक्रिय अभिव्यक्ति देखने को मिली। प्लेटेया (479) की लड़ाई शुरू होने से कुछ समय पहले हेरोडोटस ने एथेनियों के मुँह से यह कहलवाया है, "दुनिया में न तो इतना सोना है और न कहीं इतनी सुंदर और अनमोल ज़मीन है जिसके लोभ में वे फ़ारस के पक्ष में मिल जाएँ और यूनान को गुलामी की जंजीरों में जकड़ दें। यह तो यूनानी राष्ट्र के प्रति द्रोह होगा—जिसका एक रक्त है, एक भाषा है, एक धर्म और संस्कृति है"[2]। पर पाँचवीं सदी के उत्तरार्ध की लड़ाइयों में इस तरह की भावनाएँ वेअसर हो गईं और स्पार्टा तथा एथेंस के युद्ध तथा विभिन्न राज्यों के भीतरी लड़ाई-झगड़ों ने यूनानी जगत् को जर्जर कर दिया। फिर भी, कुछ लोग बराबर पुरानी आस्था पर जमे रहे। एथेंस का साइमन इसी विचारधारा का था और उसने यह पैरवी की थी कि अगर कहीं स्पार्टा की शक्ति नष्ट हो गई, तो हेलास का विकास रुक जाएगा और वह अपाहिज हो जाएगा। और यही विचार स्पार्टा के केलिक्रेटिडास के भी थे जिसने 406 ई० पू० में मेथीम्ना पर होने वाले आक्रमण के समय प्रतिज्ञा की थी कि जब तक सत्ता उसके हाथ में है, तब तक वह भरसक किसी भी यूनानी को दास नहीं बनाया जाने देगा[3]। पेलोपोनेशियाई युद्ध के अंत तथा स्पार्टा और फ़ारस के बीच लड़ाई छिड़ जाने से इस विचारधारा को नई शक्ति मिली होगी। ईसोक्रेटीज़ तथा प्लेटो दोनों ने ही अपने-अपने ढँग से साइमन और केलिक्रेटिडास की परंपरा को जारी रखा है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे कुछ तो यूनानियों के दास बनाए जाने के बारे में हैं और कुछ उनके बीच युद्ध-नियमों के बारे में। उसका मत है कि यूनानी नगरों को यह कभी नहीं करना चाहिए कि वे यूनानियों को दास बनाएँ या दूसरों को ऐसा करने दें क्योंकि अगर वे अपने ही सदस्यों की स्वतंत्रता का अपहरण करके अपने राष्ट्र की शक्ति क्षीण करेंगे, तो यह डर है कि कहीं वे स्वयं बर्बरों के हाथों गुलामी के शिकंजे में न कस जाएँ (469 B)। यहाँ प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि स्वतंत्रता यूनानी जगत के प्रत्येक सदस्य का अधिकार है और चूंकि प्रत्येक अधिकार में यह बात निहित होती है कि एक समाज है जिसमें रहकर अधिकार भोगा जाता है और जो उस अधिकार का आश्वासन देता है, अतः कहा जा सकता है कि उसने परोक्ष रूप से एक सामान्य यूनानी समाज का अस्तित्व स्वीकार किया है[4]। यूनानी राज्यों के

---

1. Aeschines, de Falsa Leg ; c. 35.
2. हेरोडोटस, VIII. 144 : पीछे पृ० 29 से तुलना कीजिए।
3. Xenophon, Hell., I. 6, § 14.
4. यहाँ प्रसंगवश इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि प्लेटो के राज्य में किसी भी प्रकार की दासता के लिए गुंजायश है या नहीं—यह बात संदेहास्पद है। एडम ने 469 C की अपनी टिप्पणी में लिखा है कि दास या तो तीसरे

बीच युद्ध के नियमन के लिए प्लेटो ने जो विधियाँ निर्धारित की हैं, उनमें इस तरह के समाज की और इस तरह के समाज की अंतर्राष्ट्रीय विधि की धारणा अधिक निश्चित रूप से व्यक्त हुई है। यूनानियों के बीच जो युद्ध होता है, वह सामान्य अर्थ में युद्ध नहीं गृहयुद्ध है। यूनानियों की एकता का भावात्मक आधार तो है मित्रता और बंधुता और अभावात्मक आधार है वर्बर जगत के प्रति समान विरोध और शत्रुता (470 B—C)। जब किसी राज्य में गृहयुद्ध की आग भड़कती है, तब उस राज्य का लोकमत युद्ध की भीषणता की निंदा करता है और युद्धग्रस्त पक्षों से उम्मीद रखता है कि वे इस तरह से लड़ें कि मेल-मिलाप के दरवाज़े हमेशा के लिए बंद न हो जाएँ। यूनानी लोकमत यह आशा करता है या उसे यह आशा करनी चाहिए कि यूनानी राज्यों में अगर आपस में लड़ाई होगी, तो इसी ढँग की। वे न तो कभी यूनानी क्षेत्रों को नष्ट करें और न उनके मकानों को ही जलाएँ; उन्हें तो बस यह चाहिए कि वे (युद्ध के उपाय के रूप में और संघर्ष कम करने के इरादे से) वार्षिक फसल पर कब्जा कर लें। उन्हें चाहिए कि वे न तो उन लोगोंका सामान लूटें जो लड़ाई में खेत रहे हों, न उनकी अंत्येष्टि क्रिया में बाधा डालें और न देवालयों में विजय-स्मारकों का प्रदर्शन ही करें। यूनानियों को सचमुच का युद्ध—अपनी पूरी भीषणता से युक्त युद्ध—तो वर्बरों से करना चाहिए जो उनके 'स्वाभाविक शत्रु' हैं[1]। प्लेटो ने इस बारे में कुछ नहीं कहा कि लड़ाई लड़ना उसके आदर्श राज्य का कर्त्तव्य है या नहीं, पर अन्य यूनानी राज्यों के प्रति उसके राज्य का क्या कर्त्तव्य होगा—इस बारे में प्लेटो के विचार बहुत स्पष्ट हैं। वह यूनानी का नगर है और उसके नागरिक यूनान-प्रेमी होंगे, वे अन्य सारे यूनानियों को अपना भाई-बँधु समझेंगे और धार्मिक उपासना में उनके साथ रहेंगे। अगर उन्हें दूसरे यूनानियों से लड़ना पड़ा, तो उनकी यह लड़ाई अकारण

वर्ग की नौकरी कर सकते थे या वे संरक्षकों की सामूहिक भोजन-व्यवस्था में सेवा-कार्य के लिए रखे जा सकते थे। उसने (465 C की अपनी टिप्पणी में) यह भी कहा है कि "जहाँ परिवार न हो, जैसे कि वह प्लेटो के नगर में नहीं है, वहाँ दास नहीं हो सकते। प्लेटो के साम्यवाद में घरेलू दासता का भी अंत हो जाता है और पारिवारिक बंधनों का भी"। (पर, तीसरे वर्ग में परिवार रहेंगे और उनके साथ शायद दास भी)।

[1] **मेनेक्सेनेस** (245) में प्लेटो ने, अस्पासिया का एक भाषण प्रस्तुत करने की बात कहते हुए, एथेंस के बारे में कहा है कि जब यूनान के और-और राज्य अशक्त पड़ चुके थे, तब एथेंस के मन में विदेशी बर्बरों के प्रति घृणा की आग सुलग रही थी, क्योंकि एथेनी स्वयं शुद्ध रक्त के थे, आधे बर्बर न थे। परंतु **पॉलिटिकस** (262 D) के एक अवतरण का स्वर इससे भिन्न है। जहाँ प्लेटो ने यह विवेचन किया है कि विभिन्न जातियों के विभाजन और विभेदीकरण की उचित पद्धति क्या है, वहीं उसने यूनानी और बर्बर के तत्कालीन भेद को अशुद्ध विभेदीकरण का उदाहरण माना है पर तत्कालीन भेद के प्रति उसकी आपत्ति का मुख्य आधार यह नहीं है कि उसमें यूनानियों और बर्बरों के बीच एक खाई बन जाती है, बल्कि यह है कि जिन जातियों को न तो एक दूसरे का अनुभव है, न जिनका एक दूसरे से मिश्रण हुआ है, और न जो एक-दूसरे से किसी तरह मिलते हैं, उन सबको भ्रमवश एक ही नाम के अंतर्गत ला पटका गया है।

हमले के फलस्वरूप नहीं होगी, न वह जीत का डंका बजाने और विनाश-लीला रचने के लिए लड़ी जाएगी। वह लड़ाई तो बस अन्याय रोकने के लिए और उसका दंड देने के लिए लड़ी जाएगी और उसके द्वारा राष्ट्र-विधि के विरुद्ध अपराधों की रोकथाम की जाएगी। न तो वे शत्रु-राज्य के सारे नागरिकों—स्त्री-पुरुषों और बच्चों—को अपना शत्रु समझेंगे और उनके प्रति शत्रुओं जैसा व्यवहार करेंगे और यह जानकर कि "लड़ाई के कसूरवार थोड़े ही लोग हैं, और इस तरह का आचरण करके मानो अधिकतर लोग उनके मित्र हैं", वे अपना विवाद वहीं तक सीमित रखेंगे—और उससे तनिक भी आगे नहीं बढ़ाएँगे—जहाँ दोषी व्यक्तियों के दुष्कार्यों का फल भोगने वाले निर्दोष व्यक्ति दोषियों को प्रायश्चित्त करने के लिए मजबूर कर सकें (471 B)।

अगर प्लेटो के दृष्टिकोण को—जो अपने अधिकांश सम-सामयिकों के दृष्टिकोण से तो अधिक व्यापक था ही—सीमित कहा जाए तो उसके दृष्टिकोण की सीमा के कारण हमें इस तथ्य की ओर से आँखें नहीं मूंद लेनी चाहिएँ कि वह अंतर्राष्ट्रीय विधि के शासन का समर्थन करने वाला पहला विचारक है। ग्रोशियस से दो हज़ार साल पहले वह ग्रोशियस की समस्या का समाधान कर रहा है और युद्ध-विधि का पता लगाने की कोशिश कर रहा है। ग्रोशियस की तरह वह युद्ध-विधि को प्राकृतिक विधि पर आधारित नहीं मानता। उसे प्राकृतिक-विधि की दुहाई देने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि उसे राष्ट्रिकता (nationality) की भावना में अधिक ठोस आधार प्राप्त है। प्लेटो को यह बात अनुचित लगती है कि एक ही राष्ट्र की इकाइयां, भले ही वे राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हों, इस तरह का आचरण करें मानो उनका आपस में कोई संबंध ही न हो, मानो उन्हें एक दूसरे से कोई सरोकार ही न हो। पर, वह उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता को स्वीकार करता है और एक क्षण के लिए भी उसे अस्वीकार करने की बात नहीं सोचता। वह यूनान के किसी संघ की या किसी तरह की सामान्य राजनीतिक सत्ता की कल्पना नहीं करता। इसके अलावा उसने यह भी माना है कि यूनान के राज्य राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं। अतः राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र राज्यों की व्यवस्था के अंतर्गत विधि-शासन पर ज़ोर देने के कारण प्लेटो को भी अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्त्तक होने का श्रेय प्राप्त है[1]।

---

[1] डा० फिलिप्सन ने अपने ग्रंथ **द इंटरनेशनल लॉ एंड कस्टम आफ एन्शिएंट ग्रीस एंड रोम** (पृ० 36–37) में प्लूटार्ख के ग्रंथ **लाइफ़ आफ पेरीक्लीज़** (C 17) में से एक जनश्रुति का हवाला दिया है जो आज दिलचस्पी की चीज़ है। पेरीक्लीज़ ने प्रस्ताव रखा था कि "यूनान के सभी नगरों को नौवहन की स्वतंत्रता और सुरक्षा का तथा व्यापक शांति की स्थापना का आश्वासन देने के सर्वश्रेष्ठ उपायों पर विचार-विनिमय करने के लिए एथेंस में सभी यूनानी नगरों के प्रतिनिधियों की एक महासभा का आयोजन किया जाए"। कहा जाता है कि यह प्रस्ताव इसलिए असफल रहा कि स्पार्टा एथेंस से जलता था और उसे डर था कि कहीं एथेंस यूनानी जगत का नेता न बन बैठे।

(झ) नोट—टिमाएस और क्रिटिआस

टिमाएस और **क्रिटिआस** में (प्लेटो तीन भागों में एक पुस्तक-माला लिखना चाहता था, जिसमें से दो पुस्तकें तो ये हैं और तीसरी वह शुरू भी नहीं कर पाया था) प्लेटो की लेखन-शैली कुछ इस तरह की है मानो वह **रिपब्लिक** का उपसंहार लिख रहा हो। **टिमाएस** में **रिपब्लिक** का सारांश-सा प्रस्तुत किया गया है और यह वचन दिया गया है कि आदर्श राज्य को कर्मरत राज्य के रूप में चित्रित किया जाएगा। **क्रिटिआस** एक खंड-रचना जैसी चीज़ है और उसमें उक्त वचन की पूर्ति का मानो आरंभ हो गया है।

टिमाएस के आरंभ में **रिपब्लिक** का जो सारांश प्रस्तुत किया गया है, उससे कुछ कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। **रिपब्लिक** के पहले पाँच खंड ही इसकी परिधि में आए हैं, आगे के खंड नहीं। उसमें पूर्ण संरक्षकों का कोई उल्लेख नहीं है (उसमें तो सिर्फ़ दो वर्गों के लोगों का ज़िक्र आया है—एक तो उन लोगों का जो खेती-बाड़ी या और कोई काम-धंधे करते हैं और दूसरे उन लोगों का जो राज्य की रक्षा करते हैं); न दर्शन के शासन का ही उल्लेख है और न उच्चतर शिक्षा का। प्लेटो ने इन चीज़ों को क्यों छोड़ दिया—इसकी सफ़ाई देना आसान नहीं। कुछ लोग कहेंगे कि **रिपब्लिक** के दो भिन्न पाठ थे और इसके पहले पाठ में सिर्फ़ पहले चार खंड और (471 तक) पाँचवें खंड का कुछ भाग था, और **टिमाएस** में प्लेटो ने इसी पाठ की तर्क-श्रृंखला का फिर से स्मरण किया है। फिर, यह भी कहा गया है कि ''अगर प्लेटो ने **टिमाएस** को **रिपब्लिक** से संलग्न करने के लिए इतना कष्ट उठाया था, तो उसका उद्देश्य यह ज़रूर रहा होगा कि **टिमाएस** किसी न किसी ढंग से **रिपब्लिक** का पूरक बने'' और इन चीज़ों के छोड़ने का ''मतलब सिर्फ़ यही हो सकता है कि **टिमाएस** और उसके क्रम में उसकी जिन अन्य कृतियों को लिखने की योजना थी, उनके मूल में यह विचार रहा होगा कि वे किसी न किसी रूप में **रिपब्लिक** के परवर्ती खंडों का स्थान ले लें'' (बर्नेट, **ग्रीक फिलासफ़ी**, पृ० 339)। सबसे सीधा-सरल मत शायद यह है कि प्लेटो ने अपूर्ण सारांश प्रस्तुत किया है और यही उसका

दोष है। **रिपब्लिक** की रचना के बहुत अरसे बाद जीवन की संध्या में प्लेटो ने **टिमाएस** की रचना की थी और उस समय उसने **रिपब्लिक** की कुछ स्पष्ट और बहिरंग विशेषताओं का ही स्मरण किया है—ज्यादा ऊँची और गहरी बातें उसने छोड़ दी हैं। प्लेटो **रिपब्लिक** के अपने भावित राज्य को कर्मरत रूप में दर्शाने के जिस वचन के कारण उसका सारांश प्रस्तुत करने में प्रवृत्त हुआ, उसे पूरा करने का न तो शायद उसका कभी कोई गंभीर संकल्प था और न उसने उस वचन को पूरा किया ही—जब हम यह बात सोचते हैं, तो उसका यह अधूरापन सहज-स्वाभाविक लगने लगता है।

यह सच है कि **टिमाएस** (19 B–E) के शुरू में साक्रेटीज़ से यह इच्छा व्यक्त कराई गई है कि **रिपब्लिक** का भावित राज्य अपने आधार से उठकर कर्म और जीवन के क्षेत्र में उतरे। स्पष्ट है कि प्लेटो आदर्श राज्य के परिणामों के आधार पर उसका औचित्य सिद्ध करना चाहता है; यह दिखाना चाहता है कि उसकी उत्कृष्टता कैसे बड़े-बड़े कामों में अभिव्यक्ति पाएगी और फिर विलोमतः उन बड़े-बड़े कामों के आधार पर यह भी सिद्ध करना चाहता है कि उसकी उत्कृष्टता कितनी महान् है। पर थोड़े-से पन्ने ही लिखे गए हैं कि अचानक तर्क की दिशा बदल गई है। प्लेटो दृश्य-परिवर्त्तन कर के **रिपब्लिक** के राज्य से प्राचीन एथेंस में पहुँच जाने की बात सोचता है (26 D); और जब हम **क्रिटिआस** पर आते हैं, तब देखते हैं कि प्लेटो तो प्राचीन एथेंस की ही चर्चा कर रहा है—बिल्कुल काल्पनिक और प्राक्-ऐतिहासिक एथेंस की। **टिमाएस** में प्लेटो ने इस दिशा-परिवर्त्तन की सफ़ाई पेश की है। **रिपब्लिक** के आदर्श राज्य के नागरिक एकदम एथेंस के स्वर्ण-युग के नागरिकों की तरह होंगे और एक के बारे में बात करना वैसा ही है जैसा दूसरे के बारे में बात करना। पर दृश्य-परिवर्तन से कुछ ऐसा संकेत मिलता है मानो दृश्य का अपने आप कोई महत्त्व नहीं है। प्लेटो को तो एक प्रेमाख्यान की रचना करनी है और किसी भी रमणीक स्थल को वह अपने घटना-स्थल के रूप में ग्रहण कर सकता है।

क्रिटिआस का उपलब्ध अंश निश्चित रूप से विशुद्ध कल्पना है और उसे पढ़कर पाठक को, कई प्रकार से, कालरिज के कुबला खाँ का स्मरण हो आता है। इस अंश के आरंभ में तो "नौ हज़ार साल पहले के" प्राचीन एथेंस का विवरण मिलता है और उसके बाद एटलांटिस के प्राचीन राज्य का जिसे एथेंस ने युद्ध में परास्त किया था। एथेंस के विवरण में प्लेटो ने अपना ध्यान मुख्य रूप से सामाजिक संस्थाओं पर केंद्रित किया है हालाँकि प्रसंगवश वह प्राचीन एटिका की भौमिकी (geology) के बारे में भी मार्के का वर्णन कर गया है। एटलांटिस के वर्णन में उसने मुख्य रूप से उसकी प्राकृतिक विशेषताओं का विवेचन किया है। उस प्राचीन युग में एथेंस में किसान, शिल्पी और योद्धा—इन विशेषीकृत वर्गों की व्यवस्था प्रचलित थी (110 C)। योद्धा नगर के उन्नत भाग में, शिल्पी और कुछ किसान उसके ढलानों पर तथा बाकी किसान उसके चारों ओर फैले हुए प्रदेश में रहते थे। योद्धा मंदिरों के चारों ओर बाड़ों में रहते थे जो मकानों के साथ लगे हुए बागीचों जैसे होते थे। उनके मकान सादे और साधारण होते थे और उनके मंदिरों में भी कोई सजावट नहीं

होती थी। योद्धा वर्ग में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही होते थे और वे नगर के उन्नत भाग में रहते थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से सैनिक कार्यों में भाग लेते थे और इसका प्रमाण थी एथेना देवी की शस्त्र-सज्जित मूर्त्ति। योद्धाओं का एक अलग ही वर्ग था : वे एक साम्यवादी व्यवस्था के अंतगत रहते थे और उन्हें अपने भरण-पोषण के लिए अन्य नागरिकों से भत्ता प्राप्त होता था। किसान सच्चे किसान होते थे और वे अपना ध्यान खेती तक ही सीमित रखते थे; पर वे बहुत सज्जन होते थे और मान पर जान देते थे। ऐसे होते थे उस युग के एथेंसीवासी। उनकी संख्या अधिक से अधिक बीस हज़ार रहती होगी। समूचा यूरोप और एशिया उनके शरीर-सौंदर्य और सर्वांगीण बौद्धिक उत्कर्ष का लोहा मानता था और अपने ज़माने की अन्य सभी जातियों की अपेक्षा उन्होंने अधिक ख्याति प्राप्त की थी।

एटलांटिक का रँग-ढँग कुछ और था। वह आदिकालीन बेबीलोन की तरह से था यानी एक ऐसे विशाल द्वीप की तरह जो चारों ओर से कहीं स्थल, कहीं जल से घिरा हुआ था। दीवारों पर पीतल, टिन या ओरिचालकम* की चादरें मढ़ी रहती थीं। वहाँ लाल, सफ़ेद और काले रँग का संगमर्मर पाया जाता था। कुछ इमारतों में इनमें से केवल एक का और कुछ में तीनों का प्रयोग होता था। द्वीप के बीचोबीच एक मंदिर था जिसके चारों ओर सोने का बाड़ा बनाया गया था। वह एक क्रीड़ा-क्षेत्र के बराबर लंबा, आधे के बराबर चौड़ा और उसी हिसाब से ऊँचा था। यह मंदिर देखने में भद्दा और अजब लगता था। वह बाहर से चाँदी से मढ़ा हुआ था, पर उसकी त्रिकोणिका सोने की थी। उसके अंदर की छत हाथीदांत की थी, और दीवारें, खंभे तथा फ़र्श पीतल के। वहाँ का बंदरगाह दुनिया के हर कोने से आने वाले जहाज़ों और सौदागरों से खचाखच भरा रहता था और उसमें दिन-रात चीख-पुकार, शोर-गुल और गर्जन-तर्जन का समा बँधा रहता था। नगर में 10,000 रथ और 1200 जहाज थे और ज़मीन 60,000 हिस्सों में बँटी हुई थी। नगर का शासन-सूत्र दस नरेशों के हाथों में था और उनमें आपस में बड़ा भाई-चारा था।

ये दो चित्र प्रस्तुत कर चुकने के बाद कहानी का अंत हो जाता है। कर्म का कभी श्रीणेश नहीं होता। यह तो शुरू से आखिर तक कथा ही कथा है और उसने कथा-साहित्य को एटलांटिस की महान् और रोमानी परंपरा दी है। पर इसके आधार पर ही यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि क्रिटिआस में किसी भी तरह **रिपब्लिक** के त्यागमय दार्शनिक आदर्श का व्यावहारिक प्रतिफलन हो सकता था या आदर्श को उसके माध्यम से व्यावहारिक रूप देने का उसके लेखक का कोई गंभीर विचार रहा होगा।

---

* पीले रंग की एक विशेष धातु जिसका प्राचीन यूनान में चलन था।

अध्याय 12

पॉलिटिकस

(क) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की परिभाषा
(ख) पॉलिटिकस की पुराण कथा
(ग) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की अंतिम परिभाषा
(घ) राजनीतिक नम्यता के तर्क के आधार पर निरपेक्षता का पोषण
(ङ) सामाजिक सामंजस्य के तर्क के आधार पर निरपेक्षता का पोषण
(च) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरपेक्षता का संशोधन
(छ) प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण

अध्याय 12

पॉलिटिकस

शायद, **पॉलिटिकस (या स्टेट्समैन)** प्लेटो के जीवन के अंतिम काल की कृति है और कहा जा सकता है कि उसकी रचना या तो तब हुई थी जब वह डायोनीसियस द्वितीय के संपर्क में था (यानी 367—361 ई० पू० में) और या इसके ऐन बाद के वर्षों में[1]। **रिपब्लिक** की रचना का ठीक-ठीक समय चाहे कुछ भी रहा हो (और हम इसका पता भी नहीं लगा सकते) पर यह तय है कि उसे **रिपब्लिक** के प्रकाश में आने के अनेक वर्ष बाद ही लिखा गया था। लोकतंत्र के प्रति उसका दृष्टिकोण उतना प्रतिकूल नहीं। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विधि के प्रति एक नया दृष्टिकोण उसकी प्रमुख विशेषता है। उसमें विरोध का स्वर तो अब भी है पर अब वह उतना उग्र नहीं रहा। दूसरी ओर निरपेक्षतावाद (absolutism) में प्लेटो की अब भी आस्था है और हालांकि उसने राज्य के गठन में मन के विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण की आवश्यकता और उन्हें एक सूत्र में पिरोने के बारे में बहुत कुछ कहा है, पर लॉज़ में राजतंत्र और लोकतंत्र के जिस मिश्रित संविधान की पैरवी की गई है, उसका यहाँ बहुत हल्का-सा संकेत ही है। इसलिए, निश्चित है कि **पॉलिटिकस** की रचना लॉज़ से कुछ साल पहले हुई होगी। अगर हम **पॉलिटिकस** का रचना-काल जिसमें एक ओर तो निरपेक्षतावाद का प्रतिपादन है और दूसरी ओर विधि के महत्त्व का, 367 और 361 ई० पू० के बीच में रखें तो शायद बहुत ग़लत न होगा क्योंकि इस काल में प्लेटो को एक ओर तो सिराक्यूज़ के राजतंत्र से बड़ी-बड़ी उम्मीदें बँध रही थीं और दूसरी ओर विधि में भी उसकी दिलचस्पी पैदा हो गई थी और वह डायोनिसियस द्वितीय के साथ विधियों की प्रस्तावनाएँ तैयार करने में लगा हुआ था।

---

[1] शैली के आधार पर लगता है मानो इस संवाद की रचना बाद में हुई हो। उसका स्वर भी उसकी शैली के अनुरूप है। हम देखेंगे कि उसके स्वर में प्लेटो के चिंतन के अंतिम युग की ओर संक्रमण लक्षित होता है जिसकी अभिव्यक्ति लॉज़ में हुई है। (कैम्पबेल के संस्करण में उसके प्राक्कथन से तुलना कीजिए, पृ० li और क्रमशः)। नोहले (**डी स्टाट्सलेहरे प्लेटोस**, पृ० 71—100) ने काल-क्रम की दृष्टि से **पॉलिटिकस** को **रिपब्लिक** से पहले की रचना और **रिपब्लिक** की तर्क-शृंखला की भूमिका माना है और अपने इस दृष्टिकोण के कारण उसने **पॉलिटिकस** की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उसमें मुझे निश्चय ही उसकी कुशलता का परिचय तो मिलता है, पर जो है बिल्कुल ग़लत।

(क) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की परिभाषा

पॉलिटिकस की रचना करते समय प्लेटो का उद्देश्य यह था कि वह विभेदीकरण के आधार पर परिभाषा प्रस्तुत करने की कला के क्षेत्र में तर्क-शास्त्रीय व्यायाम का नमूना पेश करे ; उसका मंतव्य किसी राजनीतिक प्रबंध की रचना करना नहीं था[1]। उसके अन्वेषण का उद्देश्य राजमर्मज्ञ के स्वरूप को समझने की अपेक्षा यह अधिक है कि सामान्य विवेक-शक्ति का विकास किया जाए (285 D)। परिभाषाएँ प्रस्तुत करने के प्रयत्न में राजमर्मज्ञ तो मानो वेकार की चीज़ है जिसके ऊपर परीक्षण-प्रयोग किए जा सकें ; पर तर्क-नियमों के मेघ-जाल में प्लेटो के राजनीतिक उत्साह की किरणें बार-बार चमक उठी हैं और अंत में अपने नाम के अनुरूप ही यह संवाद निरपेक्ष और स्वतः साध्य रूप में राजमर्मज्ञ के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन वन गया है। तर्क-शृंखला में पहली कड़ी तो यह तय करने की है कि राजमर्मज्ञता का संबंध किस चीज़ से है और प्लेटो ने आरंभ में ज्ञान को व्यवहार से पृथक् माना है और उसने राजमर्मज्ञता अथवा 'राजनीति-विज्ञान' को ज्ञान के क्षेत्र में रखा है (258 E—259 D)। यूनानियों के बीच राजनीति-विज्ञान के व्यावहारिक स्वरूप के वारे में जो कुछ पहले कहा जा चुका है (पीछे पृ० 13—15), अगर उसे विशेष रूप से ध्यान में रखा जाए, तो पहले-पहल देखने पर इस स्थापना में विरोधाभास लगेगा। किंतु, प्लेटो ने व्यवहार शब्द का सीमित अर्थ में, 'कलाओं और शिल्पों'

---

[1] निरंतर ऊपर उठते हुए मानव-ज्ञान के सिद्धांत का निरूपण करने के लिए प्लेटो का जिस संवाद-त्रयी सोफ़िस्ट, स्टेट्समैन और फ़िलॉसफर की रचना करने का विचार था, उसी का एक भाग पॉलिटिकस है। पर सोफ़िस्ट तो 'नित्य-अनित्य' के विवेचन का ग्रंथ बन गया है, स्टेट्समैन भेदीकरण का और फ़िलॉसफर की रचना ही नहीं हो पाई। (कैम्पवेल के पॉलिटिकस के संस्करण में उसकी भूमिका से तुलना कीजिए, पृ० lvi—lviii)। इसी तरह, प्लेटो ने एक और संवाद-त्रयी—टिमाएस, क्रिटिआस और हर्मोकेटीज लिखने की योजना बनाई थी पर पहले की संवाद-त्रयी की भाँति ही यहाँ भी वह तीसरा संवाद लिखना शुरू ही नहीं कर पाया।

के संदर्भ में प्रयोग किया है और उसने ज्ञान का क्षेत्र व्यापक माना है और (हमें यह याद रखना होगा कि) साक्रेटीज़ के सिद्धांत के अनुसार ज्ञान का कर्म से घनिष्ठ संबंध तो होता ही है, उसकी परिणति भी अनिवार्य रूप से कर्म में ही होती है (पीछे पृ० 140)। तर्क-शृंखला में दूसरी कड़ी है—ज्ञान का दो शाखाओं में विभाजन—एक, आलोचनात्मक ज्ञान जिसमें शुद्ध ज्ञान के विषयों का निर्णय या विचार किया जाता है और दूसरा आदेशात्मक ज्ञान जिसमें निर्णय ही नहीं होता बल्कि निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए आदेश भी दिए जाते हैं[1]। राजमर्मज्ञता आदेशात्मक ज्ञान के अंतर्गत आती है: राजनीति-विज्ञान का स्वर आदेशात्मक होता है (259D—260B)। इसके आगे का कदम यह है कि आदेशात्मक ज्ञान के अंतर्गत प्रधान जाति और गौण जाति के बीच भेद किया जाए। कुछ लोग जो आदेश दे सकते हैं, प्रभुतासंपन्न होते हैं, उनसे ऊँचा कोई नहीं होता और उनके आदेशों का स्रोत स्वयं वे ही होते हैं। दूसरे लोग अधीनता में होते हैं और वे उन्हीं आदेशों को जारी कर देते हैं जो उन्हें दिए जाते हैं। राजमर्मज्ञ पहली श्रेणी का व्यक्ति होता है और उसका ज्ञान केवल आदेश देने का ज्ञान नहीं होता, परम आदेश देने का ज्ञान होता है (260B—E)। संवाद में आगे चल कर इस तर्क का विकास किया गया है (303D—305E); और प्लेटो ने विस्तार से यह सिद्ध किया है कि राजमर्मज्ञ वक्ता, सेनापति और न्यायाधीश से इसलिए बढ़ कर होता है कि प्रभुतासंपन्न होने के कारण उसे यह तय करना पड़ता है कि वे अपनी शक्तियों का कब और किन कामों में प्रयोग करें। संक्षेप में, जिन विज्ञानों का संबंध कर्म से है, उनमें राजमर्मज्ञता सब की सिरमौर है। स्वयं राजमर्मज्ञ की तरह उसका ज्ञान भी राजोचित है: **एथिक्स**[2] के आरंभ में अरिस्टाटल ने कहा है कि राजनीति-विज्ञान का स्वरूप रचनात्मक है। यह एक ऐसा सबक है जिसका प्लेटो पहले ही **यूथीडिमस** (पीछे पृ० 191) में निरूपण कर चुका है, पर **पॉलिटिकस** की तर्क-शृंखला द्वारा नए-नए दृष्टांतों के आधार पर इस सबका का एक बार फिर विवेचन किया गया है।

राजमर्मज्ञ जिस आदेश-शक्ति का प्रयोग करता है, उसका गुण क्या है—इसका वर्णन किया जा चुका है। अब देखना है कि इस आदेश-शक्ति का उद्देश्य क्या

---

1. अरिस्टाटल ने व्यावहारिक और सैद्धांतिक विज्ञानों में जो भेद माना है, यहाँ उसका पहले से संकेत मिल जाता है (अरिस्टाटल ने **पॉलिटिकस** के जो निर्देश दिए हैं, उनसे भी तुलना कीजिए, इसी खंड में आगे खंड ङ और खंड छ)।
2. तुलना कीजिए, **एथिक्स**, 1·2, §§ 4—6 (1093, a 27 और क्रमशः। यह अवतरण **पॉलिटिकस**, 303D—305E पर आधारित लगता है)। राजनीति-विज्ञान प्रकटतः सबसे ऊँचा और रचनात्मक विज्ञान है और यह इसलिए कि वह इस बात की व्यवस्था करता है कि राज्य में और कौन-से विज्ञान रहें, इन विज्ञानों का कौन-कौन अध्ययन करे और किस सीमा तक करे; और इसलिए भी कि इस विज्ञान का ऐसे-ऐसे कामों पर जो सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं—जैसे कि सेनापति, गृहपति और वक्ता के कामों पर—नियंत्रण रहता है (पीछे पृ० 191—2 से भी तुलना कीजिए)।

है और किन-किन के ऊपर उसका प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में, इसका प्रयोग भरण-पोषण के लिए होता है और जिन्हें सहारा देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है, वे जीवित प्राणी, या अगर और ज्यादा सही बात कही जाए तो मानव होते हैं—व्यक्तियों के रूप में नहीं, बल्कि समूहों या समुदायों के रूप में संगठित मानव (261 A—E)। राजमर्मज्ञ मानव-समूह के भरण-पोषण के लिए नियुक्त चरवाहा होता है। 'भरण-पोषण' शब्द में यह अर्थ निहित है (और संवाद के आरंभ में इसे निश्चित रूप से कह दिया गया है) कि घर-गृहस्थी के प्रबंध या राजनीति-विज्ञान के बीच कोई खाई नहीं है। किसी बड़े परिवार और किसी छोटे राज्य में सिर्फ़ मात्रा का भेद होता है, प्रकार का नहीं (259 B) ; और यही बात उनके प्रबंध-विज्ञानों के बारे में भी सही है। "उन सबका एक विज्ञान है और इस विज्ञान को राजन्य या राजनीतिक या आर्थिक विज्ञान कहा जा सकता है"। **पॉलिटिक्स** के आरंभ में इसी मत का विवेचन हुआ है ; अरिस्टाटल ने शुरू में ही इस विचार की सत्यता का खडन कर दिया है और राज्य तथा परिवार के भेद पर ज़ोर दिया है। सर राबर्ट फिल्मर ने भी अपने दैवी अधिकार के सिद्धांत के पक्ष में इसी के आधार पर तर्क प्रस्तुत किया है। उसने **पेट्रिआर्का** में कहा है कि "दिव्य विभूति प्लेटो ने जिस राज्य का निर्माण किया है, वह एक विशाल परिवार ही है, और कुछ नहीं" और तर्क प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार पिता को ईश्वर की ओर से परिवार पर शासन करने का अधिकार मिला होता है, उसी तरह राजा को भी ईश्वर की ओर से राज्य पर शासन करने का अधिकार प्राप्त है।

(ख) पॉलिटिक्स की पुराण कथा

परंतु, इस तरह राजमर्मज्ञ की जो परिभाषा प्राप्त हुई है, उससे प्लेटो को संतोष नहीं होता। अगर हम कहें कि राजमर्मज्ञ वह व्यक्ति होता है जो आदेशात्मक ज्ञान से संपन्न हो, जिसके पास सर्वोच्च नियंत्रण-शक्ति हो, जो अपने ज्ञान का प्रयोग मानव-समाज के 'भरण-पोषण' के लिए करता हो, तो वह वस्तुतः ऐसी परिभाषा होगी जो बहुत व्यापक होगी—कम से कम 'भरण-पोषण' शब्द के संदर्भ में बहुत व्यापक होगी—और इस प्रकार हम राजमर्मज्ञ का उन और लोगों से ठीक-ठीक भेद न कर सकेंगे जो स्वयं भी यह दावा कर सकते हैं कि वे भरण-पोषण के काम में लगे हुए हैं (267E—268C)। यहाँ आकर, और उक्त परिभाषा की इस आलोचना का स्पष्टीकरण करने के लिए, प्लेटो ने एक पुराण कथा का सहारा लिया है। यह पुराण कथा हमें मानव-समाज और शासन-व्यवस्था के दो अवस्थानों में भेद करना सिखाती है। पहला अवस्थान क्रोनस का युग था जब संसार का शासन-सूत्र ईश्वर के हाथों में था और लोगों को अपने काम-काज का बोझ नहीं उठाना पड़ता था। उस समय उनकी हालत पशुओं के एक झुंड जैसी थी जिसे दैवी चरवाहा उनके चरगाहों में ले जाता था (271—272A)। उस युग में लोगों का एक ही परिवार था, पत्नियों तथा बच्चों में सबका साझा था। धरती बिना जुताई के ही धन धान्य से झोली भर देती थी और करुणामय आकाश की छत्रछाया में लोगों को न तो कपड़ों की ज़रूरत होती थी, न आश्रय की—

धरती माता की शीतल सुरभित गोदी में—
रहता था मानव चिर शिशुता में तृप्त मग्न।

इसके बाद वह युग आया जिसमें हम रहते हैं; जिसमें ईश्वर मानो (जहाज के) सुकान से हट कर निर्देशन-बुर्ज में पहुँच गया[1]। इस युग में शुरू-शुरू में लोग बड़ी असहाय और विपन्न अवस्था में रहे—यहाँ तक कि कुछ समय तो उन्हें अपनी

---

[1] बर्नेट के अनुसार (पू० कृ०, पृ० 290 पर) यह रूपक पायथागोरस का है।

प्राणरक्षा के लिए पशुओं की दया पर निर्भर रहना पड़ा[1]। तब देवताओं ने उन पर कृपा की और उन्हें प्रोमेथियस ने आग, हेफाएस्टस और एथेना ने कलाएँ तथा देवताओं ने बीज और पौधे दिए। जब मनुष्यों को यह सारा-साज-सामान मिल गया, तब वे इस योग्य हो गए कि अपने काम-काज का बोझ सँभाल सकें, अपनी जीवन-धारा को मनचाही दिशा दे सकें और अपना शासन स्वयं चला सकें (274 C—D)।

पॉलिटिकस की पुराण कथा कुछ दृष्टियों से **प्रोटेगोरस** की पुराण कथा के अनुरूप है, पर जहाँ **प्रोटेगोरस** में यह बताया गया है कि देवताओं ने मनुष्यों को आध्यात्मिक उपहार दिए, वहाँ **पॉलिटिकस** में इस बात की कोई चर्चा नहीं है। **पॉलिटिकस** की पुराण कथा के माध्यम से प्लेटो जो शिक्षा देना चाहता है, वह कुछ ऐसी है कि उसमें इस तरह के किसी उपहार का उल्लेख नहीं किया जा सकता। शिक्षा यह है कि वह प्राचीन काल जब मानव-समूह दिव्य चरवाहों के शासन में रहता था हमारे वर्त्तमान जीवन-काल से भिन्न है। आज के जीवन में न तो कोई हमारी साज-सँवार करने वाला है और न राह दिखाने वाला; आज तो अपना हाथ जगन्नाथ ही हमारा आदर्श वाक्य होना चाहिए। इस भेद के कारण राजमर्मज्ञ की पुरानी परिभाषा हमारे युग के अनुकूल न होगी। पुरानी परिभाषा में वस्तुतः यह भाव निहित था कि राजमर्मज्ञ में देवत्व होता है। यह देवत्व आजकल के मानव-शासकों में नहीं पाया जाता और वे प्रायः उसी धरातल पर होते हैं जिस पर उनकी प्रजा (278 C)। 'भरण-पोषण' शब्द के अंतर्गत उस परिभाषा में आधुनिक राजमर्मज्ञ के कार्यक्षेत्र की अपेक्षा कहीं विस्तृत कार्यक्षेत्र का समावेश था। दिव्य चरवाहे और मानव शासक के बीच भेद किया जाना चाहिए; भरण-पोषण और प्रबंध के बीच भेद किया जाना चाहिए और मानव-शासक का कार्य उस समाज के प्रबंध तक ही सीमित कर देना चाहिए जिस पर वह शासन करता हो और अंत में (यह याद रखते हुए कि हमारा युग नश्वर मानव का युग है जिसकी प्रकृति में ही भूल करने की प्रवृत्ति है) हमें दो प्रकार के राजमर्मज्ञों में भेद करना चाहिए—एक राजमर्मज्ञ तो वह है जो सच्चा नरेश होता है और इस तरह शासन करता है कि लोग स्वेच्छा से उसके आगे झुक जाएँ और दूसरा राजमर्मज्ञ वह है जो निरंकुश शासक होता है और मदमत्त होकर इस तरह शासन करता है कि लोग डंडे के ज़ोर से ही उसके आगे झुकें (276 E)। क्रोनस के युग में, जो दिव्य चरवाहे का युग था और हमारे युग में, जो मानव-शासकों का युग है, अजीब और दिलचस्प भेद है। कहा गया है[2] कि प्लेटो का संकेत पायथागोरस के उस विचार की ओर है जिसके अनुसार ईश्वर संसार का चरवाहा है और नरेश ईश्वर का प्रतिनिधि। इस मत में धर्म-शासन या कम से कम

---

[1] प्रोटेगोरस, 322B से और पीछे पृ० 96—97, 197 से तुलना कीजिए।

[2] कैम्पवेल के **पॉलिटिकस** के संस्करण की प्रस्तावना, XXI—XXVI से और बर्नेट की पूर्वोक्त कृति के पृ० 290 से तुलना कीजिए। किंतु, कैम्पवेल का कथन है कि जिन पायथागोरसवादी लेखकों की रचनाओं में राजतंत्र के दैवी विधान का विचार प्रस्तुत हुआ है, वे सब प्लेटो के बाद के हैं और हो सकता है वे अपने संप्रदाय की किसी लोकश्रुति को व्यक्त न करके प्लेटो के दार्शनिक नरेशों के सिद्धांत का ही अनुकरण कर रहे हों।

राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत निहित है[1]। प्लेटो ने इस विचार और इस धारणा की उपेक्षा कर दी है। उसका कथन है कि इस तरह के पथ-प्रदर्शन में जो ज़िंदगी जी जाती है, उसके मूल्य-महत्त्व के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है लोग अपने नियति-चक्र की चिंता से मुक्त होकर उच्च दर्शन की ओर मुड़े हों : हो सकता है कि अपने प्रति कोई उत्तरदायित्व न रहने पर वे प्रेरणाशून्य हो गए हों और उन्होंने अपनी ज़िंदगी कोरी गप्पबाज़ी में बिताई हो (272 B—D)[2]। कुछ भी हो, हमारा सरोकार तो अब जो वस्तुस्थिति है, उसी से है। हमारा युग पतन के बाद का युग है (**प्रोटेगोरस** में पतन का जो विचार पहले ही आ चुका है, पॉलिटिकस में उसकी आवृत्ति देख कर आश्चर्य होता है), और जो संस्थाएँ पतित मानव-जाति की संस्थाएँ हैं और उसके अनुकूल हैं, सामान्य रूप से सेंट आगस्टाइन और आरंभिक ईसाई लेखकों की तरह प्लेटो भी उनके सापेक्ष औचित्य को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है[3]। अपनी व्यंग्यात्मक शैली में उसने यहाँ तक संकेत दिया है कि जब लोग पतन के बाद अपने जीवन-संचालन की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं, तब जीवन-मान में उनका उत्थान आरंभ हो जाता है।

---

1. इस प्रसंग में यह देख कर आश्चर्य होता है कि राजतंत्र के दैवी अधिकार के समर्थक फिल्मर ने पॉलिटिकस का उद्धरण दिया है।
2. पॉलिटिकस का यह अवतरण रिपब्लिक (372 A—D) के एक अवतरण और लॉज़ (678—9 E) के अवतरण से मिलता है।
3. पतन की धारणा मानो एक सेतु है जिसके सहारे प्लेटो साम्यवाद और दार्शनिक नरेशों के शासन के आदर्श की—जिसे अब पतन-पूर्व युग का आदर्श मान लिया गया है—अपनी पुरानी पैरवी छोड़ कर सिद्धांत के एक नए अवस्थान में आ गया है और यहाँ वह सचमुच में 'पतित' मानवों के लिए वास्तविक संस्थाओं का महत्त्व स्वीकार करता है। पतन के बारे में जो मसीही धारणा है, आरंभिक ईसाई लेखकों के लिए वह निश्चय ही एक सेतु प्रमाणित हुई जिसके सहारे साझी संपत्ति को प्राकृतिक संस्था मानने का विचार पीछे छोड़कर वे व्यक्तिगत संपत्ति के महत्त्व की स्वीकृति के तट पर पहुँच गए। यह स्वीकृति पतन में निहित पाप के उपचार के रूप में थी।

(ग) राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की अंतिम परिभाषा

विशिष्टीकरण और विभेदीकरण की मंज़िल अभी पूरी नहीं हुई। भरण-पोषण के बजाए प्रबंध को राजमर्मज्ञ का कार्य मानकर और यह समझ कर कि उसका शासन स्वेच्छा से शिरोधार्य किया जाता है—हमने राजमर्मज्ञ की परिभाषा को सुधार अवश्य लिया है पर हमने उन सब लोगों से उसका भेद नहीं किया जो उसकी उपाधि धारण करने का दावा कर सकते हैं। यहाँ प्लेटो ने बुनाई के दृष्टांत का सहारा लिया है; और जिस तरह कोई व्यक्ति सच्चे बुनकर को उसके नाम और व्यवसाय के झूठे दावेदारों से अलग करना चाहता है, उसी तरह प्लेटो ने भी सच्चे राजमर्मज्ञ को उसकी उपाधि के झूठे दावेदारों से अलग करने का प्रयत्न किया है (279 A और क्रमशः)। ध्यान देने की बात यह है कि बुनाई का यह दृष्टांत यों ही प्रस्तुत नहीं कर दिया गया है। प्लेटो ने अंततः जिस प्रयोजन के लिए इस दृष्टांत का उपयोग किया है, उसके लिए किसी और कला का दृष्टांत इतना उपयुक्त नहीं हो सकता था। हम देखेंगे कि सच्चा राजमर्मज्ञ एक ख़ास दृष्टि से सच्चे बुनकर की तरह होता है। सच्चे बुनकर की तरह सच्चे राजमर्मज्ञ को भी विषम प्रकृतियों को एक समान चादर के रूप में बुनना होता है और मानव-गुणों के ताने-बाने से काल के करघे पर एक अनन्य समाज के सप्राण वस्त्र की बुनाई करनी होती है। किंतु, अभी भी प्लेटो ने दृष्टांत का प्रयोग सामान्य अर्थ में ही किया है जिससे वह तात्त्विक राजमर्मज्ञता के स्वर्ण को उसी के जैसे लगने वाले अन्य तत्त्वों से छाँट कर अलग कर सके। यह आवश्यक नहीं है कि हम छँटाई की इस संपूर्ण प्रक्रिया का अध्ययन करें, हम तो एकदम उसके अंतिम दौर में आ सकते हैं। जो लोग बुनकर की उपाधि और नाम के प्रतियोगी दावेदार हैं, उन सबसे उसकी तुलना की गई है और फिर उन सबसे उसका भेद स्पष्ट कर दिया गया है और इसी तरह (कई छोटे-मोटे दावेदारों को हटाने के बाद) जो लोग राजमर्मज्ञ के नाम के चिर दावेदार हैं, उनसे राजमर्मज्ञ का मुकाबला किया गया है और फिर बताया गया है कि राजमर्मज्ञ का उनसे भेद क्या है। संक्षेप में कहा जाए तो राजमर्मज्ञ के नाम का यह दावेदार राजनीतिज्ञ वर्ग है। एक

नाटकीय अवतरण (291 A—B) में प्लेटो ने सेनटारों* और साटीरों† के आकस्मिक आविर्भाव पर आश्चर्य प्रकट किया है। नाना प्रकार की आकृति वाले ये प्राणी उन लोगों की तरह जिन्हें अपने समुचित काम का कभी ज्ञान या अभ्यास न रहा हो, "तुरंत एक-दूसरे का रूप और स्वभाव ग्रहण कर लेते हैं" : ये लोग "चोटी के सोफ़िस्ट और सिद्ध जादूगर होते हैं" जो (सोफ़िस्टों की तरह) झूठे ज्ञान का दंभ भरते हैं और मनुष्यों को कुछ ऐसा मंत्रमुग्ध कर देते हैं कि वह उस झूठे ज्ञान की सत्यता में विश्वास करने लग जाए। ये पर्ची के आवार पर निर्वाचित 'नरेश' हैं और इनका सच्ची रीति से नियुक्त नरेश से भेद करना होगा।

यह भेद करते समय प्लेटो ने आरंभ में संविधानों का संक्षिप्त और अंतिम वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अगर संख्या की कसौटी लागू की जाए यानी यह देखा जाए कि सत्ता कितने व्यक्तियों के हाथों में है, एक व्यक्ति के हाथ में है, थोड़े-व्यक्तियों के हाथों में है या बहुतों के हाथों में—तो तीन प्रकार के संविधान हमारे सामने आते हैं और अगर हम तीन और कसौटियाँ लागू करें यानी यह देखें कि संपत्ति का साम्राज्य है या दरिद्रता का, विधि की प्रतिष्ठा है या नहीं और आधार-तत्त्व वल है या सहमति, तो हम पहले दो संविधानों का दो भिन्न प्रकारों में उपविभाजन कर सकते हैं—एक स्थिति में यह उप-विभाजन राजतंत्र और निरंकुश-तंत्र के रूप में होगा और दूसरी में अभिजात-तंत्र और अल्पतंत्र के रूप में (291 D—E)[1]। पर प्लेटो का तर्क है कि इन कसौटियों का राज्य या राजमर्मज्ञता के स्वरूप से कोई संबंध नहीं है। शासकों की संख्या कितनी है, वे अमीर हैं या गरीब, वे डंडे के ज़ोर से शासन करते हैं या राज़ी-रज़ामंदी से, विधि सहित शासन करते हैं या विधि रहित, इनमें से कोई भी राज्य का भेदक सिद्धांत नहीं है और किसी भी व्यक्ति को इस आधार पर सच्चा राजमर्मज्ञ नहीं समझा जा सकता कि वह इनमें से किसी सिद्धांत की कसौटी पर खरा उतरता है। ये सभी सिद्धांत एकांगी हैं और अगर कोई व्यक्ति इनमें से किसी एक सिद्धांत की कसौटी पर खरा उतरता है तो इसका अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि वह पक्षधर का नाम अर्जित कर लेता है[2] (303 C)। जो राज्य इन सिद्धांतों में से किसी एक सिद्धांत पर ही आधारित होता है, वह सच्चे राज्य की छाया भर होता है और उसका राजमर्मज्ञ छाया का नेतृत्व

---

* यूनान का एक पौराणिक प्राणी जिसका कमर से नीचे का भाग घोड़े का तथा ऊपरी भाग मनुष्य के समान माना जाता था।

† यूनानी पुराण कथा में वर्णित वनदेवता जिसका रूप आधा मनुष्य का तथा आधा वकरे का होता था।

[1] स्पष्ट है कि यह उप-विभाजन अंत की दो कसौटियों के आधार पर किया गया है। (यह ध्यान देने की बात है कि इस आरंभिक वर्गीकरण में लोकतंत्र का उपविभाजन नहीं किया गया है, 292 A)। बहुतों की शासन-व्यवस्थाओं से थोड़े लोगों के शासन का भेद करने में संख्या की कसौटी को संपत्ति और दरिद्रता की कसौटी से मदद मिली है।

[2] यहाँ प्लेटो का संकेत एक राज्य के भीतर 'दो राज्यों' के अपने उस सिद्धांत के प्रति है जिसे वह पूर्ण ज्ञानयुक्त राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों के बारे में सही मानता था।

करता है और स्वयं भी छाया मात्र होता है। राजमर्मज्ञता ज्ञान-रूप है—केवल ज्ञान-रूप। शासन का एकमात्र सच्चा रूप वहीं है जहाँ के शासक ज्ञान-संपन्न हों (293 B) और एकमात्र सच्चा राज्य वह है जिसमें ऐसे शासक हों। दूसरे शब्दों में, राज्य तब तक एक राजनीतिक समाज नहीं हो सकता (वह एक गुट मात्र होगा ; इससे अधिक कुछ नहीं) जब तक कि वह ज्ञान पर आधारित राजमर्मज्ञता की समन्वयकारी शक्ति के माध्यम से एक इकाई के रूप में संगठित न हो जाए। इस ज्ञान तक केवल एक व्यक्ति की या हद से हद कुछ थोड़े से लोगों की ही पहुँच हो सकती है, समूह की राजनीति-विज्ञान तक पहुँच नहीं हो सकती (292 B)। और सच्चे राजमर्मज्ञ वे इने-गिने लोग ही होते हैं जो इस विज्ञान के धनी हों।

(घ) राजनीतिक नम्यता के तर्क के ग्राधार पर निरपेक्षता का पोषण

तव फिर, राजनीति के सिद्धांतों और राज्य-जीवन के तत्त्वों के रूप में हम विधि अथवा सहमति के बारे में क्या कहेंगे ? प्लेटो का उत्तर है कि दोनों ही अप्रासंगिक और अनावश्यक हैं ; वल्कि विधि तो अप्रासंगिक और अनावश्यक ही नहीं हानिकर भी है। राजमर्मज्ञता मूलतः आदेशात्मक विज्ञान है और उसमें नियंत्रण की सर्वोच्च शक्ति निहित होती है। वह कला है और प्रत्येक कला का मर्म यह है कि कलाकार अकेला राजा की तरह से काम करता है (यद्यपि राजमर्मज्ञ के अलावा जो अन्य कलाकार हैं, वे प्रभुतासंपन्न नहीं होते और वे अपनी कला का अभ्यास राजमर्मज्ञ के नियंत्रण में रह कर करते हैं) और वह ऐसी किसी नियमावली से नहीं बँधता जो उसकी कार्य-पद्धति निर्धारित करती हो[1]। कलाकार अपने ज्ञान के अनुसार अपने उपादान को अच्छे से अच्छा रूप देने के लिए स्वतंत्र होता है और कलाकार के नाते राजमर्मज्ञ को भी यह छूट होती है कि वह जैसे भी ठीक समझे अपनी प्रजा का हित करे (293 C)। इसका सवसे पहला निष्कर्ष यह है कि उसे अपनी प्रजा की सहमति की कोई जरूरत नहीं होती। यात्री और रोगी को कोई अधिकार नहीं कि चालक या चिकित्सक की कला के अभ्यास के बारे में आरंभ में अपनी सहमति दे। इसके विपरीत वे दोनों ही ज्ञान के पथ-निर्देश के सम्मुख अपना समर्पण कर देते हैं और इस ज्ञान का प्रयोग किस तरह होगा— इस वारे में वे किसी तरह के हस्तक्षेप का दावा नहीं करते। यह तो मौन स्वीकृति का विषय है, सहमति का नहीं ; और अगर चिकित्सक और यात्री अपनी कलाओं में पारंगत होंगे, तो वे निश्चय ही रोगी और यात्री का भला करेंगे और उन्हें इनकी मौन स्वीकृति भी निश्चित रूप से मिल जाएगी[2]। यही बात राजमर्मज्ञ के वारे

---

1. यूनान में इस समय तक कार्मिक संघ का युग नहीं आया था और न उसके समान शासन के आदर्श का ही प्रवर्त्तन हुआ था। यूनान में कामगारों के समान मत वाले ऐच्छिक संघ तो थे, पर कोई औपचारिक गिल्ड संगठन तक न था (पीछे अध्याय X—ग) वरना प्लेटो को यह संदेह जरूर होता कि क्या कलाओं के दृष्टांत से सचमुच निरपेक्षता के सिद्धांत को बल मिलता है ?
2. रिपब्लिक के पूर्ववर्त्ती खंडों की तरह यहाँ भी यह माना गया है कि हर

में सही है। यह कहना तर्कसंगत ही है कि वह राज्य को पहले इस बात का विश्वास दिला दे कि सुधार होगा, पर यह तो कोरा तर्क ही है (296 A)। अगर किसी नागरिक को पहले के देखे ज़्यादा न्यायपूर्ण, ज़्यादा अच्छे और ज़्यादा भले काम के लिए विवश किया जाए, तो इसमें उसका लाभ ही है, हानि नहीं और नागरिकों की भलाई का काम करने का हक़ हर आदमी को है —फिर चाहे वह नागरिकों की इच्छा के अनुकूल हो या प्रतिकूल (296 D—E)। स्पष्ट है कि ये उस प्रबुद्ध निरपेक्षता के सिद्धांत हैं जिसकी अठारहवीं सदी में तूती बोल रही थी। उस समय राजमर्मज्ञता की आदर्शोक्ति थी : "सब कुछ जनता के लिए और जनता के द्वारा कुछ नहीं"। और ये सिद्धांत ऐसे हैं जिनके अपने दोप हैं। प्लेटो चालक के दृष्टांत से जो बात सिद्ध करना चाहता है, वह वास्तव में सिद्ध नहीं होती। वह यात्रियों के प्रति उत्तरदायी भले ही न हो, पर जहाज के मालिकों और व्यापार-मंडल के प्रति वह उत्तरदायी होता है। जीवन का एक नियम यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथों में शक्ति हो, उनके ऊपर उत्तरदायित्व भी होना चाहिए और इस नियम का अपवाद राजमर्मज्ञ भी नहीं है। फिर, अगर हम चिकित्सक का दृष्टांत लें, तो हमें याद रखना होगा कि रोगी स्वेच्छा से अपने आपको उसके हवाले करता है और यह उसकी मर्ज़ी पर है कि वह चिकित्सक की मंत्रणा को स्वीकार करे या अस्वीकार और अगर हम यह दृष्टांत और आगे ले जाएँ तो हमारा निष्कर्ष होगा कि प्रजा किसी न किसी तरह के निर्वाचन के द्वारा स्वयं स्वेच्छा से अपने आपको अपने शासकों के हवाले कर देती है और ये शासक जो प्रस्ताव पेश करें, उन्हें वह स्वीकार भी कर सकती है, अस्वीकार भी। यह सच है कि रोगी को इस बात की छूट होती है कि वह चिकित्सक के पास जाए या न जाए, पर प्रजा को यह छूट नहीं होती कि वह राज्य में रहे या न रहे। यह सच है कि एक स्थिति में तो हमारा सरोकार व्यक्तियों से है और दूसरी स्थिति में समाज से। पर इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि चूंकि नागरिक अपने राज्य से बँधा हुआ होता है, इसलिए वह राजमर्मज्ञ से भी बँधा हो या चूंकि हम अपने मन से या बेमन से राज्य के सदस्य होते हैं, इसलिए हमें मन से या बेमन से शासन के किसी न किसी रूप के आगे सिर झुकाना होगा। जिस कला का सरोकार मनुष्यों से हो, उसमें उत्तरदायित्व अवश्य निहित रहता है और वह सहमति पर आधारित होती है। पर इस आलोचना पर ज़्यादा ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि हम आगे चल कर देखेंगे कि संवाद के दौरान प्लेटो ने अपनी स्थिति में संशोधन कर लिया है[1]।

कलाकार का लक्ष्य अपनी कला के विषय का हित करना होता है, अपना हित करना नहीं।

[1] सहमति की ज़रूरत के बारे में प्लेटो का जो दृष्टिकोण है, उसे लेकर एक कठिनाई उठ खड़ी होती है। 276 D—E में उसने राजमर्मज्ञ को निरंकुश शासक से इस आधार पर भिन्न माना है कि राजमर्मज्ञ समाज का ऐच्छिक आधार पर प्रबंध करता था। 293 D—E में, और उससे भी अधिक 296 A—E में, ऐसा लगता है मानो वह सहमति की आवश्यकता को ही समाप्त कर रहा हो। शायद, हम इस कठिनाई का समाधान यह कह कर कर सकते हैं कि (1) प्लेटो की आस्था सहमति में नहीं है, मौन स्वीकृति में है ; और (2) सच्चे राजमर्मज्ञ के साथ मौन का बल हमेशा होगा। मौन स्वीकृति अव्यक्त सहमति होती है। प्लेटो व्यक्त सहमति की ज़रूरत नहीं समझता।

सच्चे राजमर्मज्ञ को कलाकार के रूप में ग्रहण करने की प्लेटो की जो धारणा है, उसका दूसरा निष्कर्ष उसने यह निकाला है कि उसकी कला के लिए विधि अनावश्यक है—यहाँ तक कि अहितकर है। यह दृष्टिकोण **रिपब्लिक** से कुछ भिन्न है। वहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि जब शिक्षा जीवंत ज्ञान दे चुकती है, तब विधि की आवश्यकता नहीं रह जाती और इसीलिए विधियों की प्रचुरता अज्ञान और शिक्षा की कमी की द्योतक होती है। जब नागरिक स्वयं ही विधि रूप हो जाए, तब राज्य-निर्मित विधि व्यर्थ हो जाती है। इस स्थिति में विधियों और रूढ़ियों का कोई उपयोग नहीं रहता। विधि को अब भी एक बुराई तो **पॉलिटिकस** में भी माना गया है; पर इस आधार पर उतना नहीं कि उससे समूचे राज्य में अज्ञान के विद्यमान होने का संकेत मिलता है, जितना इस आधार पर कि उसका आशय होता है शासक के ज्ञान की उन्मुक्त क्रीड़ा पर प्रतिबंध और बाधा-बंधनों का आरोपण। विधि के विरुद्ध अब यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अपनी सामान्यता के कारण वह व्यक्तियों तथा स्थितियों में भेद नहीं करती और स्थायी होने के नाते वह कालगत भेदों का समाधान नहीं कर पाती। "मनुष्य-मनुष्य में और कार्य-कार्य में इतने भेद होते हैं और मनुष्यों की गतिविधियाँ इतनी अनंत और अनियमित होती हैं कि उनके ऊपर कोई सार्वभौम और सरल नियम लागू नहीं हो सकता और कोई भी कला ऐसा नियम निर्धारित नहीं कर सकती जो चिरंतन हो" (294 B)। विधि के नियम कठोर और स्थायी होते हैं, और वह उस दुराग्रही और अज्ञानी निरंकुश शासक की तरह होती है जो अपना निश्चय कभी नहीं बदलता। उसकी स्थिति उस चिकित्सक की तरह है जो पुस्तक पढ़-पढ़ कर इलाज करता है और इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता कि जिस रोगी का वह इलाज कर रहा है, उसके अपने शरीर-विधान की क्या विशिष्टता है और उसके रोग की क्या स्थिति है, उसमें क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं। यह सच है कि विधियों का अस्तित्व होता है और हालाँकि उनमें कमियाँ होती हैं, फिर भी वे सब को समान रूप से अपने दायरे में बाँध लेती हैं। पर इसके कारण सहज-सरल हैं। मनुष्य-मनुष्य और कार्य-कार्य के भेदों के अनुरूप विधियों का निर्माण हो सके, इसके लिए विधायक अपनी स्वतंत्र बुद्धि का उपयोग करने से मुँह चुराते हैं और वे जन साधारण के लिए ऐसे सामान्य नियम बना देते हैं जो बहुत स्थूल दृष्टि से ही वैयक्तिक स्थितियों के अनुकूल होते हैं। इस क्षेत्र में वे खिलाड़ियों के उस शिक्षक की तरह होते हैं जो अपने सिरदर्द से बचने के लिए ऐसी खूराक तय कर देता है जो उसके अधिकतर शिष्यों के अनुकूल बैठ जाती है। फिर वे समझते हैं कि हम हमेशा नहीं बैठे रहेंगे, और आने वाले युग का और उस युग के लिए जरूरी नियमों पर सोच-विचार कर के वे उस भविष्य के लिए सिद्धांत निर्धारित कर देते हैं जिस पर नियंत्रण रखने के लिए वे जीते नहीं रहेंगे—हालाँकि अगर वे स्वयं दुबारा आ सकते और नए युग और नई परिस्थितियों को देख सकते तो सबसे पहले वे खुद ही आगे बढ़ कर परिवर्त्तनों का सुझाव देते। अस्तु, व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो विधि के अस्तित्व को उचित माना जा सकता है पर आदर्श की दृष्टि से पदार्थ की परिवर्त्तनशीलता और काल के प्रवाह दोनों का यह

पर, लगता है प्लेटो इस समस्या से पूरी तरह परिचित नहीं है कि राजनीतिक दायित्व की व्यवस्था में सहमति का क्या योगदान होता है।

तकाज़ा है कि राजमर्मज्ञ की शक्तियों में उनके अनुरूप लचीलापन रहे और जो राज्य अपने शासकों को विधि के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर देते हैं वे इस लचीलेपन से वंचित हो जाते हैं।

उपर्युक्त तर्क का उत्तर यह दिया जा सकता है कि लचीलापन अच्छी चीज़ है, पर सुरक्षा भी अच्छी और शायद ज्यादा अच्छी चीज़ है। समुदाय में रहने वाले मनुष्यों को पहले से ही यह ज्ञात होना चाहिए कि उन्हें किन नियमों के अनुसार काम करना है और यह कि वे औरों से किन नियमों के अनुसार काम करने की आशा कर सकते हैं वरना मानव-जीवन अनिश्चित और अस्थिर ही बना रहेगा। और यह ज्ञान उन्हें तब तक नहीं हो सकता जब तक कि ऐसी विधियाँ न हों जिनकी पहले से घोषणा कर दी गई हो और जिनमें काफ़ी हद तक स्थायित्व हो। बैंथम सुख के विविध आधारों में सुरक्षा को प्रमुख समझता था। उसके विचार से सुरक्षा ही सबसे ऊँचा लक्ष्य है, शानदार सिद्धांत है और जीवन की वह नींव है जिस पर और सभी चीज़ें टिकी हुई हैं[1]। यह ठीक है कि हमें भविष्य को पहले से ही बहुत-सारी जंज़ीरों में नहीं कस देना चाहिए, पर फिर भी भविष्य में कुछ न कुछ निश्चितता तो होनी ही चाहिए; और वर्त्तमान पीढ़ी की उचित प्रत्याशा का भावी पीढ़ी की अपनी नियति के नियंत्रण की स्वतंत्रता के साथ किसी न किसी तरह सामंजस्य स्थापित होना ही चाहिए। शायद, प्लेटो विधि की अनम्यता से बहुत डरता था। वास्तव में प्लेटो के मन में विधि का जो स्वरूप था, वह हमें याद रखना होगा। यूनानी विधि जीवंत विकास-शील काया न थी, वह तो सूत्रों का ढाँचा भर थी। यूनानी राज्य विधि-पालन की प्रवृत्ति का आदर करते थे। उस प्रवृत्ति का स्रोत था स्थिर संहिता का पालन। नई उद्भावनाओं से उन्हें डर लगता था। एथेंस तक में विधि को बदलना मुश्किल था। एथेंस की सभा विधान सभा किसी भी तरह न थी। विधान-परिवर्त्तन के लिए विशेष उपायों और एहतियातों की ज़रूरत पड़ती थी। यूनानियों का परितोष थोड़ी-सी लिखित विधियों और उन अलिखित प्रथाओं के संकलन से ही हो जाता था जिससे वे लिखित विधियों के समान ही अपने आपको बँधा हुआ मानते थे। थोड़े-से स्थिर नियमों के बल पर ही वे वर्त्तमान की बहुमुखी माँगों और भविष्य की नवीन संभावनाओं से जूझने के लिए तैयार रहते थे। आज विधि पहले की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील और विकासोन्मुख है और वह लोकमत के साथ कदम से कदम मिला कर चलती है। उसमें पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार होता है और वह विशिष्ट व्यक्तियों और स्थितियों के ऊपर भी पहले की अपेक्षा अधिक लागू हो जाती है। हमारे विधान-मंडल में जैसी सक्रियता होती है, एथेंस का उससे कभी परिचय न रहा होगा और हमारा न्यायांग नई स्थितियों का सामना करने के लिए विधि में इस तरह संशोधन कर देता है कि हमें लगता है कि संशोधन के बाद भी प्राचीन नियम यथावत बना हुआ है (यह एक ऐसी शक्ति है जिसका एथेंस के लोक-न्यायालयों ने कभी प्रयोग न किया होगा)। पर इस तरह की शक्तियों के न

---

1. थ्योरी ऑफ लेजिस्लेशन : प्रिंसिपल्स ऑफ द सिविल कोड, I अध्याय, II और अध्याय XI.

होने से यह संभव था कि विधि में दो दृष्टियों से अनम्यता आ जाती जिनका उल्लेख प्लेटो ने किया है और शायद इसका परिणाम होता अन्याय। इस सीमा तक प्लेटो की युक्ति सही है। दूसरी ओर अरिस्टाटल की आलोचना से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि यूनान में सुनीति (equity) के रूप में एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व था जो विधि के रूप में कोई व्यक्त परिवर्त्तन किए बिना, विशिष्ट आवश्यकता या परिस्थिति-परिवर्त्तन के अनुकूल संशोधन कर सकती थी और इसके आगे अरिस्टाटल की इस आलोचना में भी गहन सत्य की अभिव्यक्ति हुई है कि अनम्य होने के कारण ही विधि का उन्मूलन करने से तो वस शासन के निरंकुश-तंत्र का द्वार खुल सकता है और उस निरंकुश-तंत्र के लिए यह बिलकुल आसान होगा कि अपनी नम्य शक्तियों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करे। विधि के समान शासन के अभाव में शासन-व्यवस्था बड़ी आसानी से व्यक्ति-पूजक बन सकती है और विधि को समान रूप से लागू किया जाए और लोगों की प्रत्याशाएँ अक्षुण्ण बनी रहें—इसके लिए नम्यता की युक्ति वाला पलड़ा निश्चय ही हल्का पड़ जाता है।

प्लेटो ने बुद्धिमान शासक के वैयक्तिक शासन और विधि के निर्वैयक्तिक शासन के बीच जो विरोध अंकित किया है, उससे एक ऐसा प्रश्न उठ खड़ा होता है जिस पर यूनानियों के बीच अकसर चर्चा होती रहती थी और जिस पर अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के तीसरे खंड के अंत में बहुत कुछ इसी ढँग से विचार किया है और चिकित्सा का वही दृष्टांत प्रस्तुत किया है पर उसके विवेचन का झुकाव कुल मिलाकर प्लेटो के विपरीत पड़ता है। प्रश्न यह है कि राजनीति को एक स्वतंत्र कला और राज्य को स्वतंत्र कला-सृष्टि का क्षेत्र माना जाए या उसे संचित अनुभव का विषय माना जाए जो एक विधि-विधान के रूप में साकार होता है और जिसका पालन करते जाना ही सबसे अच्छी बात होती है। प्लेटो में पहले वाली धारणा प्रबल है। उसने राजनीति को एक कला माना है और उसकी एक ही कलाकार या राजमर्मज्ञ में आस्था है। उसकी उस उन्मुक्त सर्जनात्मक आवेग में भी आस्था है जो कला का प्राण है, जिसका नियमों और रूढ़ियों की जकड़ में दम घुट जाता है; और, अंत में, उसका यह भी विश्वास है कि अन्य सारी कलाओं की तरह राजनीति-कला का उद्देश्य भी माध्य की सिद्धि और सामंजस्य की सृष्टि है और इस तरह की सिद्धि और सृष्टि तभी संभव है जब कलाकार स्वतंत्र हो और उसके रास्ते में कोई रुकावट न हो। अब तक पॉलिटिकस में राजमर्मज्ञता के स्वरूप का निर्माण करने वाले जिन-जिन तत्त्वों पर विचार हुआ है, अब उनमें माध्य और सामंजस्य के रूप में सबसे अंतिम और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का समावेश होता है।

(ङ) सामाजिक सामंजस्य के तर्क के आधार पर निरपेक्षता का पोषण

प्लेटो ने संवाद के एक पूर्ववर्त्ती अवतरण में बुनाई के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है कि अगर कलाएँ, सभी कलाएँ—बुनाई की कला या राजमर्मज्ञता की कला, या स्वयं विवाद की कला ही—माध्य का पालन न करें, तो वे नष्ट हो जाती हैं। ये सभी कलाएँ अति और अभाव के प्रति सचेत रहती हैं और माध्य का पालन करने पर ही वे उत्कृष्ट और सुंदर कृतियों का सृजन कर पाती हैं (284 A—B)। संक्षेप में, सभी कलाओं का कोई न कोई आदर्श होता है और यह आदर्श कोई असीम और अनिश्चित चीज नहीं होती, ससीम और निश्चित चीज होती है। वह आदर्श पकड़ में नहीं आता, पर फिर भी वह होता है अवितथ। वह एक स्थिर बिंदु होता है लेकिन कलाकार का तीर या तो उस बिंदु के ऊपर लगता है या नीचे। हम पहले ही पायथागोरस के उस सीमा-सिद्धांत का प्रभाव देख चुके हैं जिसकी प्लेटो और अरिस्टाटल दोनों पर इतनी गहरी छाप है (पीछे देखिए, पृ० 73)[1]। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत में हर चीज की या चीजों के हर वर्ग की सीमा अथवा मर्यादा को माध्य से अभिन्न माना जाता था और इस 'माध्य' को एक मिश्रण अथवा जिस संगीत-कला से

---

[1] जैसा कि पीछे (पृ० 72 पर नोट 1 देखिए) कहा जा चुका है, यह संभव है कि प्लेटो ने पॉलिटकस में निरपेक्षता-सिद्धांत की जो सामान्य पैरवी की है, उसके मूल में पायथागोरस के विचार रहे हों। एक पायथागोरस-मतावलंबी लेखक का अवतरण (जिसे कैम्पबेल ने पॉलिटिकस के अपने संस्करण, XXV) में उद्धृत किया है पढ़ने से लगता है कि मानो वह प्लेटो की ही युक्ति हो। "राजा के पास उत्तरदायित्वहीन सत्ता होती है, (और इसलिए वह सहमति के आधार पर मर्यादित नहीं होता) : वह साकार विधि होता है : मनुष्यों में देवता की भाँति होता है"। लगता है कि वाक्य का यह अंतिम अंश ('मनुष्यों में देवता') एक नारा वन गया था (पॉलिटिकस, 303 B और अरिस्टाटल, पॉलिटिक्स, 1284, a 10—11 से तुलना कीजिए)। यह देखकर अचंभा होता है कि एलैक्ज़ेंडर सचमुच मनुष्यों के वीच देवता होने का अभिनय करता था और उसके साम्राज्य की नींव थी—शासक में देवत्व का आरोप जिसके बल पर वह प्रजा से आज्ञाकारिता का दावा करता था।

इस सिद्धांत का ही जन्म हुआ था, उसकी भाषा में 'सामंजस्य' समझा जाता था—ऐसा सामंजस्य जो दो विरोधी चीज़ों में समन्वय स्थापित करता है। इस सिद्धांत का निष्कर्ष यह निकलता है कि हर सच्चे कलाकार का यह कर्त्तव्य है कि जिन चीज़ों से उसका साबका पड़ता हो, उनमें वह माध्य को खोज निकाले और उसका पालन करे और इस तरह से उपयुक्त मिश्रण या सामंजस्य को जन्म दे; और प्लेटो ने राजमर्मज्ञ को एक कलाकार मानकर यह निष्कर्ष राजमर्मज्ञ के ऊपर लागू कर दिया है। जैसे बुनकर ताने-बाने को इस तरह मिलाता है कि उनमें उचित सामंजस्य बना रहे, उसी तरह राजमर्मज्ञ के लिए भी ज़रूरी है कि वह मानव-प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों और तंतुओं में एकता की स्थापना करे। जिस तरह संगीतकार तीव्र स्वर और मंद स्वर का सामंजस्य ढूंढ निकालता है, उसी तरह राजमर्मज्ञ को भी मानवता के करुण संगीत में सामंजस्य की खोज करनी चाहिए[1]। मानव-जीवन के संगीत में तीव्र स्वर भी है और मंद स्वर भी। इसमें एक स्वर है पुरुषोचित उत्साह का जो उन्माद के छोर पर पहुँच कर अनावश्यक खतरे मोल लेता है और दूसरा स्वर है मर्यादित संयम का जो भीरुता की सीमा छूकर अकर्मण्यता के गढ़े में गिर पड़ता है। कुछ लोगों में इनमें से एक गुण होता है और कुछ में दूसरा; और जो स्थिति व्यक्तियों की है, वही स्थिति राज्य में वर्गों की होती है। राज्य में एक सैनिक वर्ग ऐसा होता है जो अपने साहस की अति के कारण सैन्यवाद का विकृत चोला पहन लेता है और एक शांतिप्रिय लोगों का वर्ग होता है जो संयम की अति के कारण शांतिवाद की गोद में जा पड़ता है (307 E—308 A)। जीवन में सद्गुण की एकता प्रकट नहीं होती: जीवन में लगता है एक सद्गुण दूसरे से भिन्न है, बल्कि वे परस्पर प्रतिकूल और एक दूसरे के विरोधी लगते हैं। एक प्रकार का मनुष्य दूसरे प्रकार के मनुष्य के विरुद्ध होता है, राज्य के एक वर्ग का दूसरे वर्ग से छह और तीन का रिश्ता होता है (300 B—C)[2]। यहीं राजमर्मज्ञ का प्रवेश होना चाहिए और यहीं उसे अपने कर्त्तव्य कर्म के दर्शन होंगे। उसे माध्य की खोज करनी चाहिए और विभिन्न प्रकृतियों का मिश्रण कर सामंजस्य की रचना करनी चाहिए[3]। वह ऐसी प्रकृतियों को खत्म कर देगा जो किसी काम की न हो।

---

1. प्लेटो ने पॉलिटिकस में मानव-प्रकृति और संगीत दोनों को एक साथ समानतः माध्य-नियम के अधीन माना है। पौरुष और त्वरा-तत्त्व शरीर, आत्मा और ध्वनि की गति में व्यक्त होता है (306 C—D): संयम और मंथरता का तत्त्व समान रूप से चिंतन, कर्म और ध्वनियों में व्यक्त होता है (307 A); और सबमें समान रूप में माध्य को ढूंढ निकालने की ज़रूरत होती है। इस विवेचन का पायथागोरस के विचारों से निभ्रांत संबंध प्रतीत होता है (लॉज़, 967 E से तुलना कीजिए: आगे अध्याय 14, ख देखिए)।
2. यहाँ लगता है कि प्लेटो श्रेय की एकता के सुकराती विचार की उपेक्षा कर रहा है और इस दृष्टि से प्रोटेगोरस के दृष्टिकोण और पॉलिटिकस के दृष्टिकोण में वैषम्य है, वैषम्य ही नहीं विरोध है।
3. प्लेटो ने पॉलिटिकस में माध्य की धारणा का राजनीति और अर्थशास्त्र में जो उपयोग किया है, वह अनेक दृष्टियों से एथिक्स में अरिस्टाटल द्वारा किए गए इस धारणा के उपयोग से मिलता-जुलता है। पॉलिटिकस के आरंभिक भाग और एथिक्स में जो संबंध है, उसकी पहले ही चर्चा की जा चुकी है। हमें याद

जिन लोगों में न संयम है, न साहस है और न अन्य कोई सद्‌गुण है, उन्हें वह या तो मौत के घाट उतार देगा या निर्वासित कर देगा, और जो लोग अज्ञानी और नीच होंगे उन्हें वह दास्यवृत्ति में लगा देगा। परोक्षाओं के द्वारा चुन लेने तथा प्रशिक्षण के द्वारा तैयार कर लेने के बाद बाकी लोगों को वह उसी तरह एकान्वित कर देगा[1] जैसे बुनकर ताने और बाने को समन्वित कर देता है—और यहाँ प्लेटो ने साहस-प्रधान प्रकृति की ताने के मज़बूत तारों से तथा संयम-प्रधान प्रकृति की बाने के कोमल धागों से तुलना की है। इसी तरह वह दो उपायों से यह सामंजस्य सिद्ध करने की कोशिश करेगा। एक उपाय आध्यात्मिक होगा, दूसरा भौतिक, एक अलौकिक होगा, दूसरा लौकिक। उसका सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह होगा कि वह सारे सद्‌गुणों में समन्वय स्थापित करे; जो चीज़ें अच्छी, न्यायपूर्ण और सम्मानजनक हों, उनके बारे में समान शिक्षा द्वारा सब प्रकार के लोगों और वर्गों में समान धारणा पैदा करे जिससे हर व्यक्ति या वर्ग अपनी विशिष्ट अति या अभाव से मुक्त हो जाए और व्यापक सामंजस्य प्राप्त कर सके। फिर, (पर इस विषय का कम महत्त्व है), समान गुण-धर्म वाले स्त्री-पुरुषों का विवाह करने की जगह (अगर लोगों को उनकी मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाए, तो वे यही करते हैं), वह विभिन्न प्रकार के स्त्री-पुरुषों को, जिनमें विभिन्न प्रकार के गुणों का प्रतिनिधित्व हो, विवाह के द्वारा आपस में मिलाएगा और इसका परिणाम होगा उन स्त्री-पुरुषों का मिलन जिनकी प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे की पूरक हो। इस प्रक्रिया से सारा समाज सामंजस्य के सौरभ से महक उठेगा[2]। प्लेटो का अंतिम सुझाव यह है (और इस सुझाव में हम लॉज़ के मिश्रित संविधान की हल्की झलक पा सकते हैं) कि रिक्त पदों की पूर्ति में भी यही सिद्धांत लागू होगा और जब किसी पद के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए अनेक व्यक्तियों की ज़रूरत हो, तब अधिक संतुलित कर्म और समुचित सामंजस्य की खातिर

रखना होगा कि अरिस्टाटल प्लेटो का शिष्य था और अगर वह रिपब्लिक के स्रष्टा उस प्लेटो के पद-चिह्नों पर नहीं चला है जिससे उसका कभी परिचय नहीं रहा था (क्योंकि उसका जन्म रिपब्लिक के रचना-काल के आस-पास हुआ था) तो वह पॉलिटिक्स और लॉज़ के रचयिता उस प्लेटो के पद-चिह्नों पर ज़रूर चला है जिसके व्याख्यानों को उसने सुना-गुना था। अरिस्टाटल की रचनाओं में पॉलिटिक्स के जो निष्कर्ष मिलते हैं, उनके लिए कैम्पबेल के संस्करण की प्रस्तावना देखिए।

[1] कैम्पबेल का कथन है कि उन्मूलन और समन्वय की यह दोहरी प्रक्रिया "तर्कशास्त्र की उस दोहरी प्रक्रिया की प्रतिरूप है जिसके द्वारा चिंतन के विषयों में विभेद और समन्वय किया जाता है" (प्रस्तावना, पृ० XV)। शुद्ध विवेक को सक्रिय होने पर विभेदीकरण और संश्लेषण की जिस प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है, उसी प्रक्रिया से अपने व्यावहारिक विवेक के प्रयोग में राजमर्मज्ञ को भी गुज़रना होता है।

[2] यहाँ यह बात ज़ोर देकर कही जा सकती है, और इसमें सत्य का काफ़ी अंश है कि जिस राजमर्मज्ञ का कार्य इतना उदात्त हो और जिसे इतना उन्मुक्त क्षेत्र मिला हो, वह वस्तुतः रेडिबिवस की पुराण कथा का अलौकिक चरवाहा ही होगा। प्लेटो ने स्वीकार किया है कि यह आदर्श स्वर्ण युग का है, पर फिर भी वह उसे नीचे उतार कर मनुष्यों के बीच और अपने युग में ले आया है।

यह सावधानी बर्ती जाए कि विभिन्न प्रकार के लोगों को, साहसी और कर्मठ, विनम्र और सजग लोगों को चुना जाए। बुनाई के जिस दृष्टांत के बारे में लगता था (सिर्फ़ लगता ही था) कि उसे यों ही प्रस्तुत कर दिया गया है, यहाँ उसका पूरा स्पष्टीकरण हो गया है और उसके साथ ही माध्य के सिद्धांत का भी भरपूर उपयोग हो गया है[1]।

यहाँ जिस आदर्श का सुझाव दिया गया है, लगे हाथों **रिपब्लिक** के आदर्श से उसकी तुलना भी कर ली जाए। दोनों आदर्शों में समानताएँ थोड़ी सी हैं, भेद बहुत हैं। **पॉलिटिकस** में बुनाई की जो दो पद्धतियाँ बताई गई हैं, वे **रिपब्लिक** की दो योजनाओं—समान शिक्षा-योजना और पत्नियों के साझे की योजना—के अनुरूप हैं, और जब प्लेटो संकेत देता है (310 A) कि बुनाई की दूसरी पद्धति बुनाई की पहली पद्धति पर निर्भर है तब उसमें **रिपब्लिक** के उस अवतरण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है जिसमें कहा गया है कि **अगर नागरिक सुशिक्षित होंगे, तो वे विवाह जैसे मामलों को अपने आप सुलझा लेंगे** (423 E—424 A)। दूसरी ओर, **पॉलिटिकस** में किसी शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की गई है। इसमें पत्नियों के साझे का कोई उल्लेख नहीं है[3]। संपत्ति के साझे का तो और भी कम है। और हालांकि विभिन्न प्रकृतियों के स्त्री-पुरुषों के विवाह की योजना में सुजनन का कुछ-कुछ प्रयोजन निहित है, पर वह **रिपब्लिक** के सुजनन-प्रयोजन से भिन्न है। इन दोनों संवादों की तुलना का एक अन्य आधार मनोवैज्ञानिक है। **रिपब्लिक** की तरह **पॉलिटिकस** में भी मानव प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के बीच विभेद स्थापित करने की चेष्टा है; यह विचार है कि विभिन्न प्रकृतियों में इन विभिन्न तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है; यह विचार है कि वर्गों का भेद प्रकृतियों के भेद पर आधारित होता है। पर, **पॉलिटिकस** के तत्त्व **रिपब्लिक** के तत्त्वों से भिन्न हैं। इसमें प्लेटो के उत्साह और बुभुक्षा की जगह साहस और संयम की बात है; विवेक-तत्त्व की अभिव्यक्ति केवल राजमर्मज्ञ में हुई है और **पॉलिटिकस** के वर्गों में सामाजिक व्यवसायों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है, सामाजिक प्रकारों का प्रतिनिधित्व हुआ है और यह **रिपब्लिक** के विपरीत है। फलतः विशिष्ट कर्म के संपादन के अर्थ में न्याय **पॉलिटिकस** का आदर्श नहीं है। उसका आदर्श तो वह

---

1. यह **पॉलिटिकस** के अंतिम खंड 309—11 की युक्ति है। पदों पर नियुक्तियाँ मिश्रण-सिद्धांत के आधार पर हों—यह सुझाव अंत में, 310 E—311 A, में आया है।
2. यहाँ सिर्फ़ एक संक्षिप्त संकेत है कि सारे विधि-विहित अध्यापकों और शिक्षकों का स्वामी होने के नाते राजमर्मज्ञ नागरिकों को, अपनी सत्ता के अधीन, उचित शिक्षकों के सुपुर्द करेगा जिससे वे उसके प्रयोजनों की पूर्ति के योग्य बन सकें (308 D—E)।
3. ज्यादा सही बात यह है कि पत्नियों के साझे के बारे में एक जगह आनुषंगिक उल्लेख है जहाँ पर क्रोनस के स्वर्ण-युग की एक विशेषता यह भी बताई गई है (272 A)। अगर हम इस निर्देश पर गंभीरता से विचार करें, तो लगेगा कि प्लेटो का विश्वास हो गया था कि साम्यवाद वस्तु-जगत् के नगरों का या उसके अपने युग के लोगों की चीज़ न थी, वह तो मेघ-लोक की या स्वर्ण-युग की ही चीज़ थी (कैम्पबेल, प्रस्तावना, पृ० XXXVII)।

सद्‌गुण है जिसे **रिपब्लिक** में संयम या आत्म-नियंत्रण कहा गया है ; और उसमें इस बात पर ज़ोर नहीं दिया गया है कि विभिन्न वर्ग अपने-अपने कार्यों में विशेषीकरण प्राप्त करें, उसमें तो विभिन्न प्रकारों को एकान्वित करने पर ज़ोर दिया गया है। प्लेटो ने **पॉलिटिकस** में जिस शासन-प्रणाली की पैरवी की है, वह **रिपब्लिक** की शासन-प्रणाली से किसी तरह कम निरपेक्ष नहीं है, पर, जैसा कि हम अभी देखेंगे **पॉलिटिकस** में उसने वस्तु-जगत् के राज्यों के प्रति, विशेष कर लोकतंत्र के प्रति, **रिपब्लिक** की अपेक्षा भिन्न और कहीं कम कठोर दृष्टिकोण अपनाया है और यही शायद दोनों संवादों का आधारभूत अंतर है।

(च) विधि-शासन के विचार के आधार पर निरपेक्षता का संशोधन

प्लेटो ने निरपेक्षता के पक्ष में जो तर्क दिए हैं, उनके अनुरूप कुछ आधुनिक दृष्टांत उपस्थित किए जा सकते हैं। जब वह वैज्ञानिक ज्ञान के शासन का समर्थन करता है और कहता है कि शासन विधि के प्रतिबंधों से स्वतंत्र होकर राज्य के हित में शक्तियों का प्रयोग करे, तब वह एक ऐसा तर्क प्रस्तुत करता है, जिससे सत्रहवीं शताब्दी का इँगलैंड अपरिचित न था। यह सदी विज्ञान-युग था : यह गेलीलियो और दकार्त का युग था और इसमें वैज्ञानिक शासन के अनेक उपासक उत्पन्न हुए थे। इनमें बेकन का स्थान सबसे ऊपर है। उसका शासन-सिद्धांत ऐसे वैज्ञानिक राजतंत्र का सिद्धांत था जिसके कार्यों पर सामान्य विधि (common law) या उसके न्यायाधीशों का नियंत्रण नहीं हो सकता (यही विचार कोक का भी था), पर जब कभी राज्य का विवेक बीच में आ जाता था, तब उसे यह अधिकार था कि वह अपने ही ज्ञान से सामान्य विधि का पथ-प्रदर्शन करे और न्यायाधीशों से मौन सम्मत्ति की माँग करे। जब बेकन ने अपने 'न्याय-शासन विषयक निबंध' (Essay on Judicature) में लोक-कल्याण के सिद्धांत का आग्रह किया और न्यायाधीशों से यह समझने का अनुरोध किया कि "जो विधियाँ इस साध्य की पूरक नहीं होतीं, वे सदोप हैं और उनकी स्थिति उस देववाणी की तरह होती है, जो ठीक से प्रेरित न हो" तब उसका स्वर प्लेटो के साँचे में ढला हुआ था। सच पूछा जाए तो परमाधिकार के संबंध में स्टुअर्टों का जो सामान्य सिद्धांत था, उसका कई बातों में प्लेटो के सिद्धांत से सादृश्य था। उसका स्वर नम्यता का स्वर था, उसका समर्थन इस आधार पर किया गया था कि सामान्य विधि न तो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का (विशेषकर आर्थिक जीवन की परिस्थितियों का) सामना कर सकती थी और न वह घटनाओं के तेज उतार-चढ़ाव के साथ कदम मिला कर चल सकती थी। जिस तरह प्लेटो विधि का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गया था, उस तरह परमाधिकार ने विधि का परित्याग नहीं किया था। पर, परमाधिकार की स्थिति विधि के दायरे के बाहर थी और उसके कुछ समर्थकों का तो यहाँ तक विचार था कि उसकी स्थिति विधि से ऊपर थी ; और जिस शासक के हाथ में

परमाधिकार होता, उसके लिए ज़रूरी था कि जब कभी राज्य के हित का प्रश्न उठे, तब वह अपने अंतर्ज्ञान द्वारा उस हित का संवर्धन करने के लिए स्वतंत्र हो। आधुनिक काल में राजतंत्र के पक्षपोषण के लिए नम्यता के तर्क की तरह सामाजिक सामंजस्य के तर्क का भी उपयोग किया गया है[1]। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं सदी के जर्मन सिद्धांत में इसका स्पष्ट रूप से उपयोग किया गया है। जर्मन विचारकों ने राज्य और समाज के बीच भेद माना है और समाज के संबंध में उनकी धारणा यह रही है कि वह विभिन्न और विरोधी तत्त्वों से मिल कर बनता है। इसी आधार पर उन्होंने राज्य के उस रूप की पैरवी की है जिसमें मध्यस्थ और निष्पक्ष सत्ता से संपन्न सर्व-तंत्र-स्वतंत्र नरेश समाज के विभिन्न हितों के बीच माध्य और सामंजस्य की स्थापना करता है। जर्मनों की समाज-धारणा आर्थिक है और जिन विभेदों से समाज में विभाजन पैदा होता है, उन विभेदों को आर्थिक समझा जाता है। राज्य के तत्त्वों के संबंध में प्लेटो की जो धारणा है, वह नैतिक है और उसने जिन विभेदों के समाधान का प्रयत्न किया है, वे नैतिक विभेद हैं। फिर भी, इन दोनों धारणाओं में सादृश्य है। पॉलिटिक्स के सिद्धांत और व्यवहारवाद (positivism) के कुछ तत्त्वों में भी सादृश्य खोजा जा सकता है। शासक वर्गों की अयोग्यता तथा अन्य वर्गों में राजनीतिक योग्यता के अभाव का परिचय पाकर कुछ व्यवहारवादियों ने उस अधिनायक सत्ता में अपनी आशाएँ केंद्रित कीं "जो विकासोन्मुख वर्गों का प्रतिनिधि हो और इसके साथ ही जिसमें दुर्बल और ह्रासोन्मुख वर्गों की रक्षा करने की शक्ति हो—यानी जो सत्ता मध्यस्थ के रूप में कार्य करने के योग्य हो"। इस तरह का अधिनायक "जिसके हाथ में संपूर्ण कार्यकारी सत्ता हो और जो किसी सांविधानिक प्रतिबंध को स्वीकार न करे, जो सिद्धांत में ही नहीं बल्कि वास्तव में राज्य का प्रधान हो और जो उसकी नीति में एकता बनाए रखता हो" उसी में "समाज का उच्चतम कार्य" निहित होगा पर अधिनायक केवल कुछ काल के लिए, "संक्रमणकालीन राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए," होता है और इस दृष्टि से व्यवहारवादी का प्लेटो से भेद है क्योंकि प्लेटो ने तो स्थायी अधिनायक की कल्पना की है[2]।

---

[1] कहा जा सकता है कि जो स्टुअर्ट नम्यता के समर्थक थे, वे सामाजिक सामंजस्य के भी समर्थक थे। वे पटवारियों, बड़े-बड़े ज़मींदारों और व्यापारी-वर्ग के हितों का सामंजस्य के साथ विकास कर सकते थे। यह इँगलैंड के इतिहास की एक दुःखद घटना है कि वे असफल हुए (हालाँकि कुछ और कारण ऐसे थे जिनके आधार पर उन्हें असफल ही होना चाहिए था) और इँगलैंड के जीवन का निर्देशन बड़े-बड़े ज़मींदारों और व्यापारी-वर्ग के नेताओं ने अपने हाथ में ले लिया और उसे व्यक्तिगत हित की दिशा में मोड़ा।

[2] कांग्रीव के पॉलिटिक्स के संस्करण में पृ० 503 और आगे के पृष्ठों से तुलना कीजिए। कोंट स्वयं तीन व्यक्तियों के अधिनायकवाद के पक्ष में था। कोंट के अनुसार 'उच्चतम स्थिति चिंतक-वर्ग की होती है' और उसने इस वर्ग को यह भी अधिकार दिया है कि वह शैक्षिक कार्यों के साथ-साथ मध्यस्थ की हैसियत से सामाजिक विवादों में नियमत रूप से हस्तक्षेप करे। इसमें कुछ-कुछ प्लेटो का ही स्वर ध्वनित होता है। आगे परिशिष्ट से तुलना कीजिए।

पर सादृश्य के बावजूद, निरपेक्ष शासन के संबंध में प्लेटो का जो तर्क है, उससे अनेक गंभीर प्रश्न पैदा होते हैं। क्या किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, यह संभव है कि वह प्लेटो के निर्देश के अनुसार मानव-जीवन के साथ इतने निर्द्वंद्व होकर खिलवाड़ करे ? मानव-प्रकृति काफ़ी जटिल विषय है ; विशेष कर अपने सामूहिक रूप में। क्या उसे इतनी आसानी से ढाला जा सकता है ? सुधारक के यह देखकर छक्के छूट जाते हैं कि मानव-इच्छाएँ रूढ़ियों और पक्षपातों के अजेय दुर्ग में घिरी हुई हैं। क्या इन सारे दुर्गों को ढाया जा सकता है और संचित अनुभव में क्या कुछ भी सचाई नहीं होती ? ये ऐसे प्रश्न हैं जो प्लेटो ने जीवन के अंतिम पहर में अपने से पूछे होंगे और जब उसने उनका समाधान किया, तो उसने अपने राजनीतिक चिंतन के एक नए दौर में प्रवेश किया। इस दौर में उसने यथार्थ के साथ समझौता किया और स्वीकार किया कि राजनीतिक जीवन में सहमति, विधि, संविधानवाद और मानव के वस्तु-जगत् की सारी मंथर अवैज्ञानिक रीतियों के लिए भी अवकाश होता है। यूनानी जाति का विधि की प्रभुता में विश्वास था ; और विश्वास था उस स्वतंत्र साहचर्य में जिसके अंतर्गत कोई भी एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति गिना जाता है, हरेक का अपना स्वर होता है और "सब बराबर और एक जैसे" होते हैं। अब तक प्लेटो ने अपनी जाति के इन सारे प्रिय और प्रचलित विश्वासों का विरोध ही किया था और यूनान के लोगों को वह उस निरंकुश-तंत्र का प्रतिपादक लगा होगा—और कुछ दृष्टियों से वह था भी—जिसके प्रति उनके मन में घृणा ही घृणा थी क्योंकि वह विधि, स्वशासन और समानता, इन सबकी हत्या कर देता था। जब वह **पॉलिटिक्स** के उपसंहार पर पहुँचा और अपने जीवन के प्रायः सत्तर वसंत देख चुका, तब उसे प्रचलित विश्वासों और पुरातनपोषी सिद्धांतों की महिमा का भान हो उठा। जिस तरह पहले उसने यह स्वीकार किया था कि आलोकित चरवाहा सभी युगों के लिए नहीं होता, उसी तरह अब वह यह स्वीकार कर लेता है कि निरपेक्ष शासक सब राज्यों के लिए नहीं होता। वह भी मानवों के बीच देवता की तरह होता है और उसका आविर्भाव कभी-कवाद ही होता है। इस तरह, बुढ़ापे में प्लेटो रिपब्लिक के नगर के शुद्ध आदर्शवाद को छोड़कर मानव के यथार्थ नगरों के अनुसंधान का और उन्हें जानने-समझने का प्रयत्न करता है। उसने यह माना है कि विधियों, निर्वाचनों और अपूर्णताओं के बावजूद यथार्थ राज्यों का भी इस नाते कुछ महत्त्व-मूल्य होता है कि वे आदर्श के निकट होते हैं और उसकी प्रतिच्छवियाँ प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु-जगत् में असमंजस की स्थिति रहती है जिसकी ओर से आदर्श परिस्थितियों की चर्चा करते समय हम अपनी आँखें मूँद सकते हैं पर जैसे ही हम यथार्थ के धरातल पर उतरेंगे, वैसे ही हमें इसका सामना करना पड़ेगा। इस धर्म-संकट का एक पक्ष यह है कि कला को नियमों के शिकंजे में कसना कला का गला घोंट देना है। धर्म-संकट का दूसरा पक्ष यह है कि अगर लोग उस कला के व्यवहर्त्ता को, जिसका सरोकार मानवी कार्यों और हितों से हो, बिना किसी बंधन के छोड़ दें, तो संभव है कि वे पाएँ कि उसने निजी हितों की वेदी पर उनके हितों का बलिदान कर

दिया है। अगर हम राजनीति-कला की दो विशेषताओं की ओर ध्यान दें, तो हमें संकट का समाधान पाने में मदद मिलेगी। पहली विशेषता यह है कि जहाँ किसी और कला का नियमों की जकड़ से दम घुट जाएगा और उसकी सृजन-क्रिया के आगे विराम लग जाएगा, वहाँ राजनीति-कला-वस्तु में अद्भुत प्राण-शक्ति पाई जाती है। राजनीतिक बंधन की सहज शक्ति आश्चर्यजनक होती है (302A) और यह बंधन उस समय भी नहीं टूटता जब सच्ची राजनीति-कला अपना एकता और समन्वय का कार्य बंद कर देती है। अगर हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए सच्चे राजमर्मज्ञ के जीवंत मन की जगह कठोर विधि-विधान ही रहें, तब भी हमारा राज्य जीवित रह सकता है और हमारे समाज में एकता बनी रह सकती है। राजनीति-कला की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें अन्य कलाओं की अपेक्षा इस बात की अधिक संभावना होती है कि कहीं कलाकार अपने असली काम से, अपनी कला की वस्तु के उन्नयन से हाथ खींचकर व्यक्तिगत लाभ के फेर में ही न पड़ जाए। रोगी की चिकित्सक से रक्षा करने की अपेक्षा इस बात की ज्यादा ज़रूरत होती है कि प्रजा की शासक से रक्षा की जाए। रक्षा का यह काम विधि ही कर सकती है। आख़िरकार, विधि को जन्म देने वाले दो ही तत्त्व हैं—अनुभव और बुद्धिमान व्यक्ति (300A)। विधि की स्थिति बुद्धिमत्ता के उन्मुक्त प्रवाह से नीची होती है, फिर भी जिस तरह कोई निष्प्राण पदार्थ किसी सप्राण की प्रतिच्छवि हो सकता है, उसी तरह विधि भी बुद्धिमत्ता की प्रतिच्छवि होती है। आख़िर, विधि पर आधारित राज्य आदर्श राज्य की अनुकृति है—यह सोचकर हम उसकी निंदा भले ही कर लें, पर वह किस की अनुकृति है, यह याद आने पर हमें उसे स्वीकृति देनी पड़ेगी।

विधि-राज्य का आधार है—शासन-व्यवस्था के प्रति अविश्वास। अनुभव से लोग अच्छी तरह जान गए हैं कि वह क्या करतूतें कर सकती है और उन्होंने संकल्प कर लिया है कि अब उनके काम-काज पर शासन-व्यवस्था का निरपेक्ष नियंत्रण नहीं रहेगा। फलतः, सब लोगों की या केवल धनी-मानी लोगों की एक सभा की स्थापना कर दी जाती है जिसमें स्वतंत्र माता-पिता से उत्पन्न या संपत्ति की आवश्यक योग्यता से संपन्न प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत व्यक्त करने की छूट होती है—फिर चाहे उसका व्यवसाय कुछ भी हो और राजनीति के विषय में उसका ज्ञान व अज्ञान कितना ही हो। सभा में गंभीर विचार-विनिमय होते हैं। उसे परामर्श मिलता है कुशल और अकुशल दोनों तरह के लोगों से और उस विचार-विनिमय का परिणाम होता है विधियों का एक संग्रह जिसके आधार पर और जिसके अधीन भविष्य में सरकार को काम करना होता है। अधिक सुरक्षा के लिए यह तय किया गया है कि सरकार का कार्यकाल स्थायी न हो, उसके सदस्य एक-एक साल के लिए नियुक्त किए जाएँ और (अगर सभा सब लोगों की सभा हो), तो उन्हें पर्ची के आधार पर नियुक्त किया जाए। जब उनके काम का एक वर्ष समाप्त हो जाए, तब एक परीक्षा-न्यायालय के सामने उनकी पेशी होनी चाहिए। इस न्यायालय के न्यायाधीश या तो धनी समाज में से हो सकते हैं या सारी जनता में से और अगर यह पता लगे कि शासकों ने विधियों का उल्लंघन किया है, तो उन्हें नियमानुसार दंड दिया जाना चाहिए।

विधि-राज्य में विधि की संहिता होती है, संक्षिप्त पदावधि होती है और अगर पदाधिकारी विधि-संहिता का पालन न कर सकें, तो वर्ष के अंत में उन्हें इसका फल भोगना पड़ता है। इन प्रतिबंधों के कारण विधि-राज्य में ज्ञान के उन्मुक्त क्रिया-कलाप के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। विधि-राज्य अपने पदाधिकारियों को जिन सूत्रों से बाँधे रखता है; उन सूत्रों से ही वह ज्ञान का प्रतिषेध नहीं करता। राजनीति में दार्शनिक की-सी जिज्ञासा को जो दंड दिया जाता है, उसके द्वारा भी वह ज्ञान का प्रतिषेध करता है। अगर, कोई व्यक्ति इस तरह का चिंतन करे, तो उसे सोफ़िस्ट कहा जाएगा और अगर वह अड़ा रहे, तो उस पर मुकदमा चलाया जाएगा और उसे विधि की पूरी कठोरता से दंड दिया जाएगा। और इस कार्यवाही का आधार यह होगा कि उसने नौजवानों को विधि के नियमों के आलोक में नहीं, ज्ञान के आलोक में, राजनीति का व्यवसाय करना सिखाया है और अपने साथियों के ऊपर मनमाना नियंत्रण रखने का पाठ पढ़ाया है। अस्तु, जब प्लेटो ने लोकतंत्रात्मक विधि-राज्य की रीति-नीति के औचित्य के विषय में अपने आपको ही आश्वस्त करने की कोशिश की, तब अंतिम बार फिर उसके मन में अपने गुरु की स्मृति हरी हो आई जिसे मौत के घाट उतार दिया गया था (297—8)।

लोग जिस तरह का व्यवहार अपनी सरकारों के साथ करते हैं, अगर वे आपस में एका करके उसी तरह का व्यवहार नेताओं और चिकित्सकों के साथ करने लगें, तो यह बात बड़ी बेहूदा लगेगी और हो सकता है कि नेता और चिकित्सक विद्रोह का बिगुल बजा दें। पर, जब विधि-राज्य की स्थापना हो जाए, तो सबसे अच्छा यह रहता है कि लोग उसकी आधारभूत विधि का पालन करें। जब विधि न हो, तब उसके बिना काम करना एक बात है, जब विधि हो, तब उसके विरुद्ध काम करना दूसरी बात। सच पूछा जाए तो यह संभव है कि जब किसी व्यक्ति को विधि से अच्छी किसी चीज़ की जानकारी हो तब वह विधि के विरुद्ध काम करे और इस तरह का काम उस राज्य के सच्चे राजमर्मज्ञ का सा काम होता है जिसमें कोई विधि न हो। पर कोई व्यक्ति स्वार्थवश भी विधि के विरुद्ध काम कर सकता है[1]। और इस तरह का काम विधि-पालन के लिए किए जाने वाले काम की तुलना में कहीं बुरा होता है। विधि के विरुद्ध किया गया कार्य दूसरी तरह का ही होगा—इस बात की सदा आशंका रहती है (300 B) और उन अभिजात-तंत्रीय और लोकतंत्रीय राज्यों में, जहाँ शासक-श्रेणी में बहुत लोग होते हैं और इसलिए जिनके संबंध में हम कल्पना कर सकते हैं कि वे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते (इसी अध्याय में पीछे खंड ग), यह निश्चित होता है कि विधि के विरुद्ध किया गया कार्य दूसरे प्रकार का ही होगा। निष्कर्ष यह है कि इस तरह के राज्यों में सबसे अच्छा रास्ता यही होता है कि विधि का निष्ठापूर्वक पालन किया जाए। विधि उस ज्ञान की प्रतिच्छवि होती है जिसे वे कभी पा नहीं सकते, इसलिए वे विधि-शासन के पालन द्वारा सच्चे ज्ञान के शासन के अधिक से अधिक

---

[1] इस अवतरण में विधि के प्रतिरोध की संभावना के साथ उसके पालन के समर्थन का जो संकेत है, उससे अपालॉजी और क्रिटो के तर्क की स्मृति हरी हो उठती है (पीछे पृ० 186—188 देखिए)।

निकट पहुँच सकेंगे (300E—301A)। राज्य का यह रूप आवश्यक हो—यह बड़े भारी खेद की बात है। विधि-राज्य आदर्श शासक और राजनीति की आदर्श कला में अविश्वास का परिणाम है। यह तो एक तरह की विश्वासहीनता है। उसमें सुख नहीं, दुःख ही दुःख है (301 E)। उसमें चिंतन स्वतंत्र नहीं होता, योग्यता की क़द्र नहीं होती, अधिकार अपने आसन पर प्रतिष्ठित नहीं होता। पर, वह जीवित रहता है और अगर जीवन सत्य की कसौटी नहीं, तो उसे कम से कम सम्मान पाने का तो अधिकार है ही।

(छ) प्लेटो का राज्य-वर्गीकरण

यहाँ आदर्श और यथार्थ की जो तुलना की गई है, उसके फलस्वरूप हम स्वभावतः विभिन्न प्रकार के राज्यों की तुलना और वर्गीकरण पर आ जाते हैं। ज्ञान द्वारा शासित राज्य और विधियों द्वारा शासित राज्यों का भेद; जिन विधि-राज्यों में विधि का पालन होता है और जिनमें उसका उल्लंघन होता है, उनका भेद; स्वयं इनमें संविधानों के एक विशेष वर्गीकरण का संकेत मिलता है। एक तो शुद्ध राजतंत्रात्मक राज्य होता है जिसमें विवेक-सिद्धांत की प्रधानता होती है, और जो वैयक्तिक होने के कारण नम्य (flexible) होता है। कुछ विधि-राज्य होते हैं जिनमें विवेक-सिद्धांत की प्रधानता होती है पर जिनका यह सिद्धांत विधि पर आधारित और इसीलिए कठोर (rigid) होता है। और कुछ ऐसे भी राज्य होते हैं जिनमें कोई सिद्धांत नहीं होता और जिनमें नम्यता पाई जाती है—ऐसी नम्यता जिसका अर्थ होता है अस्थिरता[1]। प्लेटो ने पहले और दूसरे वर्ग के संविधानों में जो भेद किया है, वह रूप की दृष्टि से तो उस भेद के समान है जो हम अब नम्य और अनम्य संविधानों (flexible and rigid constitutions) में करते हैं पर मूलतः उस भेद से भिन्न है। जब संविधान जनता या जनता के प्रतिनिधियों के मत द्वारा तुरंत बदला जा सके, तो हम उसे नम्य कहते हैं और जब स्थिति इससे उल्टी हो, तब हम अनम्यता की बात करते हैं। हमारे लिए नम्यता का अभिप्राय यह है कि राज्य का संविधान अपने सदस्यों की इच्छा के आगे तुरंत झुक जाता हो, और हमें यह चीज वांछनीय इसलिए लगती है कि ऐसा न होने पर गतिरोध और क्रांति का खतरा रहता है। प्लेटो के लिए नम्यता का मतलब यह था कि जिस मामले पर विचार किया जा रहा

---

[1] कैम्पबेल (प्रस्तावना, पृ० XVIII) ने क्रिटिआस के तर्क से तुलना की है, पर उसकी तुलना में शायद कल्पना का पुट अधिक है। क्रिटिआस में सबसे पहले प्राचीन एथेंस का वर्णन है जो पहले वर्ग के अनुरूप है: इसके बाद प्राचीन एटलांटिस के उस युग का वर्णन है जिसमें विधि का सम्मान होता था और यह वर्णन दूसरे वर्ग के अनुरूप है; और अंत में जैसे ही प्लेटो ने एटलांटिस के विधिविहीन युग का वर्णन आरंभ किया है, और जो तीसरी श्रेणी के अनुरूप होता, तभी संवाद समाप्त हो गया है।

हो या जिस चरित्र के बारे में निर्णय हो रहा हो उसकी बारीकियों के प्रति सरकार तुरंत ध्यान दे और यह उसे इसलिए वांछनीय लगता था कि ऐसा न होने पर कठोरता-पूर्वक विधि के उपयोग का खतरा रहता था। भेद की इन बारीकियों के प्रति किसी सरकार की ठीक-ठीक प्रतिक्रिया क्या है—यह निश्चय-पूर्वक जानने के लिए वह यहाँ तक मानने को तैयार था कि नागरिकों की इच्छा के प्रति किसी तरह की प्रतिक्रिया की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह हमारे अर्थ में नम्यता का उत्सर्ग करके उसने अपने अर्थ में नम्यता की सिद्धि की। जनता के नियंत्रण से मुक्त जिस शासन-प्रणाली की उसने पैरवी की है, वह शासन-प्रणाली हमारे मत से अनम्य है : जिस विधि-राज्य को सहन करने के लिए वह तैयार हो गया है, वह विधि-राज्य विधि द्वारा और विधि का निर्माण करने वाली सभा द्वारा नियंत्रित होने के कारण हमारे नम्यता-विषयक विचार के अधिक निकट है।

पॉलिटिकस में इस अव्यक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त एक व्यक्त और विस्तृत वर्गीकरण भी दिया गया है। सोफ़िस्टों के राज्य-सिद्धांत में जो तत्त्व पाए जाते थे, उनमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व था—राज्यों का वर्गीकरण। पेशे से शिक्षक होने के कारण उनमें वर्गीकरण के प्रति कुछ-कुछ पांडित्य-प्रेरित सहजवृत्ति पाई जाती थी। उदाहरण के लिए जिन विभिन्न प्रकार के राज्यों का एक ही नाम के अंतर्गत बोध होता था, उनमें भेद करने के लिए प्रोडिकस की पद्धति का आसानी से प्रयोग हो सकता था क्योंकि इस पद्धति में पर्यायों के भेद पर ज़ोर दिया जाता था। वर्गीकरण की दिशा में पहला प्रयत्न, जिसकी प्रेरणा शायद सोफ़िस्टों से मिली थी, हेरोडोटस के एक प्रसिद्ध अवतरण में देखा जा सकता है। इस अवतरण में फ़ारस के अमीर-उमरा राजतंत्र, अभिजात-तंत्र और लोकतंत्र के गुणों की तुलना करते दिखाए गए हैं और उनका निष्कर्ष यह है कि सबमें ऐसे दोष हैं जिनके फलस्वरूप हर स्थिति में अंततः निरंकुश-तंत्र की ही स्थापना होती है। लोकतंत्र का जो सर्वश्रेष्ठ रूप है, उसमें उसका अभिप्राय है—विधि के सम्मुख समानता, निर्वाचित और उत्तरदायी कार्यांग (executive), और लोगों द्वारा विचार-विनिमय की शक्ति के प्रयोग का अधिकार। पर, लोग यह नहीं जानते कि क्या ठीक और उपयुक्त है क्योंकि उन्हें कभी यह सिखाया ही नहीं गया। वे अपनी अज्ञानजन्य सनक के कारण बुरे से बुरे निरंकुश शासक हो सकते हैं; और उनकी अयोग्यता के कारण शासन-व्यवस्था में विकार आ जाता है। इसका परिणाम होता है लोकनायक के नेतृत्व में जन-विद्रोह। फिर वह निरंकुश शासक बन बैठता है। अभिजात-तंत्र का अभिप्राय यह होता है कि शासन-व्यवस्था में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जिनका कुलीन वंश में जन्म हुआ हो और जिनका पालन-पोषण भी ठाठ-बाट से हुआ हो; पर अभिजात लोग आन पर जान देते हैं और उनमें आसानी से झगड़े शुरू हो जाते हैं जो गृह-युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं जिसकी परिणति निरंकुश-तंत्र में होती है। फिर राजतंत्र के अच्छे से अच्छे रूप में उसका अभिप्राय यह होता है कि समूचे राज्य के कल्याण का उचित ध्यान रखा जाए और विदेश-नीति का योग्यतापूर्वक संचालन किया जाए; पर यह हो सकता है कि राजा को सत्ता का नशा चढ़ जाए। वह उद्धत

वन जाता है तथा गुणी से ईर्ष्या करने लगता है और निरंकुश शासक का रूप धारण कर लेता है[1]। इस प्रकार, जहाँ हेरोडोटस ने सारे संविधानों की निंदा की है, वहाँ एथेंस के वक्ताओं ने लोकतंत्र की सराहना की है और शेष संविधानों की निंदा। लोकतंत्र समानता का शासन है और उसमें निर्वैयक्तिक विधि की प्रतिष्ठा होती है। उसमें सब वर्गों को शक्ति मिलती है, पर किसी के साथ पक्षपात नहीं होता। अन्य सारे संविधानों का अर्थ है किसी एक वर्ग का शासन और उनका आधार होता है विशेषाधिकार (privilege)[2]। लोकतंत्र के इस गुण-गान के उत्तर में कुछ सोफ़िस्टों ने निरंकुश-तंत्र की सराहना की। उसे उन्होंने ऐसा शासन बताया जो बलवान के शासन के प्रकृत सिद्धांत के सबसे अनुकूल होता है। साक्रेटीज़ की शिक्षा लोकतंत्र के प्रतिपादकों के विरुद्ध तो थी ही, वह निरंकुश-तंत्र के प्रतिपादकों के भी विरुद्ध थी। हम देख चुके हैं कि उसका महान् सिद्धांत यह था कि शासन एक कला है और उसके लिए ऐसे ज्ञान की ज़रूरत होती है जो लोकतंत्र में नहीं मिल सकता क्योंकि उसमें सभा भी अयोग्य होती है और पदाधिकारी भी। साथ ही शासन में लोकमंगल के प्रति एक ऐसे निःस्वार्थ भाव की अपेक्षा होती है, जो निरंकुश शासक में कभी प्रकट नहीं हो सकता। इस तरह, राज्यों के वर्गीकरण का एक आधार यह हो सकता है कि उनके शासक कैसे हैं—निःस्वार्थ और बुद्धिमान् या स्वार्थी और बुद्धिहीन। पर, ज़ेनोफ़ॉन ने साक्रेटीज़ के वर्गीकरण को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह न तो उतना व्यवस्थित है, न सरल। ज़ेनोफ़ॉन का कहना है कि साक्रेटीज़ ने पहले तो राज्यों के तीन मुख्य भेद किए—राजतंत्र, अभिजात-तंत्र और लोकतंत्र और फिर उसने पहले दो के अच्छे और बुरे के आधार पर दो-दो उपभेद किए। निरंकुश-तंत्र से ठेठ राजतंत्र के भेद की उसने दो कसौटियाँ मानीं और वे ये कि राजतंत्र में विधि के प्रति सम्मान होता है और प्रजा की सहमति रहती है[3]। उसने ठेठ अभिजात-तंत्र का अल्पतंत्र से भेद किया, पर इस भेद का आधार कुछ भिन्न था—अभिजात-तंत्र में योग्यता का आदर होता है पर अल्पतंत्र में सिर्फ़ धन-संपदा का। लोकतंत्र की उसने (इसका उसने सिर्फ़ एक भेद माना है और उसे बुरा बताया है) इस आधार पर निंदा की कि उसमें ज्ञान के अभाव के दर्शन होते हैं। इस तरह, हमें पाँच संविधान मिलते हैं—राजतंत्र और अभिजात-तंत्र—अच्छे; शेष तीन—निरंकुश-तंत्र, अल्पतंत्र और लोकतंत्र—बुरे।

पॉलिटिकस में संविधानों के वर्गीकरण की दो विस्तृत योजनाएँ दी गई हैं। हम देख ही चुके हैं कि इनमें से पहली योजना आनुषंगिक है और उसमें प्लेटो के अपने दृष्टिकोण की नहीं, बल्कि तत्कालीन सिद्धांत की अभिव्यक्ति हुई है[4]। इस

---

1. III. 80—2.
2. एथेनागोरस ने सिराक्यूज़ में जो भाषण दिया था, उसमें उसने यही दिशा ग्रहण की थी। थ्यूसीडाइड्स ने इस भाषण का विवरण दिया है और इसकी ऊपर (पीछे पृ० 226) चर्चा की गई है।
3. ज़ेनोफ़ॉन, **मेमोराबिलिया**, IV. 6, 12 ; पर अगला नोट देखिए।
4. प्लेटो ने जिन पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है, उनकी लॉज़ (712 C) में भी चर्चा की गई है और वहाँ उन्हें सामान्य रूप से स्वीकृत (714 B) कहा

वर्गीकरण के मूल में संख्या की कसौटी है और इसके आधार पर हमें तीन प्रकार के शासन उपलब्ध होते हैं—एक व्यक्ति का शासन, कुछ व्यक्तियों का शासन, बहुतों का शासन और इस शासन के अनिवार्य या सहज स्वरूप के आधार पर और इसके विधिक और अविधिक स्वरूप के आधार पर पहले दोनों प्रकारों के (तीसरे प्रकार के नहीं) दो-दो भेद और कर दिए गए हैं (291)। अस्तु, इस योजना में पाँच संविधान हैं—राजतंत्र, निरंकुश-तंत्र, अभिजात-तंत्र, अल्पतंत्र और लोकतंत्र । दूसरी योजना (302 C—303 A) में जो प्लेटो की अपनी योजना है, सात प्रकार के संविधानों का उल्लेख किया गया है। प्लेटो ने राजतंत्र का एक नया रूप यानी उस राजमर्मज्ञ का शासन और जोड़ दिया है जो ज्ञान के सहारे राजकाज चलाता है ; और इस प्रकार उसने एक व्यक्ति के शासन के तीन रूप माने हैं—आदर्श राजतंत्र, वैध राजतंत्र और निरंकुश-तंत्र। फिर, जिस लोकतंत्र का पहली योजना में केवल एक ही प्रकार था, अब उसी लोकतंत्र के दो भेद कर दिए गए हैं—वैध लोकतंत्र और स्वेच्छ (या चरम) लोकतंत्र। जिन कसौटियों के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है, वे कसौटियाँ हैं—संख्या की, ज्ञान की और विधि के प्रति असम्मान की। इनमें से ज्ञान की कसौटी आदर्श राजतंत्र को अन्य सारे संविधानों से पृथक करती है और उसे विशिष्ट वर्ग का रूप देती है ; और विधि के प्रति सम्मान और असम्मान की कसौटी के आधार पर संख्या की कसौटी द्वारा निर्दिष्ट तीनों संविधानों के अच्छे और बुरे रूपों का निर्णय होता है। सहमति की कसौटी के बारे में कुछ नहीं कहा गया है, पर उसे विधि की कसौटी में निहित समझा जा सकता है ; सामाजिक तत्त्वों के बारे में भी कुछ नहीं कहा गया—जैसे, संपत्ति-योग्यता के होने या न होने के बारे में पहली योजना में उल्लेख जरूर है, कसौटी के रूप में उपयोग भले ही न हुआ हो। अगर हम पूर्ण राज्य या निरपेक्ष राजतंत्र को छोड़ दें "मानो वह देवता हो"—अगर हम आदर्श को छोड़ दें—हालांकि हमारा मानक अब भी वही है, और अपना ध्यान वास्तविक पर ही केंद्रित करें, तो हमें विद्यमान राज्यों के दो बड़े भेद प्राप्त होंगे—विधि-राज्य और स्वेच्छ राज्य। कुछ राज्य ऐसे होते हैं जिनमें विधि का पालन होता है और इसलिए जो द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के रूप में पूर्ण ज्ञान वाले राज्य के निकट होते हैं और कुछ ऐसे राज्य होते हैं जिनमें विधि का पालन नहीं होता और इसलिए जो आदर्श मानक से दुगुनी दूरी पर रह जाते हैं। संख्या-सिद्धांत के अनुसार और इस आधार पर कि शासक एक है, कुछ हैं या बहुत, इनका और उपविभाजन हो सकता है। इस प्रकार हमें निम्नलिखित योजना प्राप्त होती है :

गया है। प्रसंगवश यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि ज़ेनोफॉन के मत से सॉक्रेटीज़ ने संविधानों के जो जो भेद किए हैं, ये भेद उनके अनुरूप हैं। पर, इस तर्क का उद्देश्य यह विश्वास जगाना नहीं है कि संविधान के इन भेदों का जन्मदाता सॉक्रेटीज़ था ; इसका उद्देश्य तो यह बताना है कि ज़ेनोफॉन ने प्रचलित धारणाओं का अपने गुरु पर आरोप कर दिया था और यह बहुत संभव है (पीछे पृ० 142)।

I

(किसी भी तरह की योजना से ऊपर और अतीत, विधि की बाधा से मुक्त, पूर्ण ज्ञान का पूर्ण राज्य—रिपब्लिक का आदर्श राज्य)।

विधि-राज्य जो विधि में निहित ज्ञान द्वारा संचालित होते हैं और निष्ठापूर्वक विधि के अनुसार आचरण करते हैं :

(i) एक व्यक्ति का शासन या (आदर्श के विपरीत) सांविधानिक राजतंत्र।
(ii) थोड़े व्यक्तियों का शासन यानी अभिजात-तंत्र।
(iii) बहुतों का शासन या संयत और सांविधानिक लोकतंत्र।

II

जिस विधि में राज्यों का पथ प्रदर्शन करने वाला ज्ञान व्यक्त हो, उस विधि की अवज्ञा करने वाले स्वेच्छ राज्य :

(i) एक व्यक्ति का शासन या निरंकुश-तंत्र।
(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन या अल्पतंत्र।
(iii) बहुतों का शासन या चरम लोकतंत्र।

इस प्रकार, जो छह संविधान ऊभर कर सामने आते हैं उनमें प्लेटो ने राजतंत्र को सबसे पहले और निरंकुश-तंत्र को सबसे अंत में रखा है। एक व्यक्ति का शासन अच्छे और बुरे दोनों के लिए सबसे सबल होता है क्योंकि सत्ता अखंड रूप से एक व्यक्ति के हाथों में केंद्रित हो जाती है। इसके विपरीत बहुतों का शासन सबसे कमजोर होता है—अवगुण की दृष्टि से भी और सद्गुण की दृष्टि से भी क्योंकि शक्ति अनंत रूप से अनंत सत्ताओं में विभक्त रहती है; और इसके फलस्वरूप जहाँ प्लेटो ने स्वेच्छ राज्यों में चरम लोकतंत्र को सबसे पहला और सबसे अच्छा राज्य माना है, वहाँ उसने विधि-राज्यों में सांविधानिक लोकतंत्र को तीसरा और सबसे बुरा राज्य माना है[1]।

यहाँ जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है और जिस मूल्य-क्रम का संकेत किया गया है, उससे ऐसा लगता है कि प्लेटो के राजनीतिक दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हो गया था और यह परिवर्त्तन पॉलिटिकस के सामान्य स्वर में भी प्रकट हुआ। इसमें यथार्थवाद का पुट रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक है। आदर्शवाद का लोप नहीं हुआ है, पर उसका वस्तु-जगत् की राजनीति के अधिक यथार्थपरक बोध के साथ और द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में जो सद्गुण पाया जाता है, उसकी नई स्वीकृति के साथ सह-अस्तित्व है। आदर्श अब भी मानक है, पर अब वह एक दाहक ज्वाला नहीं रह गया

---

1. स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर और वर्गीकरण के सारे विषय पर पॉलिटिक्स का पॉलिटिकस से बहुत साम्य है। पर, पॉलिटिक्स पर पॉलिटिकस के ऋण के विषय में पहले ही जोर दिया जा चुका है।

है। अस्तु, **पॉलिटिक्स** में राज्यों का जो वर्गीकरण दिया गया है, वह **रिपब्लिक** के वर्गीकरण से बिल्कुल भिन्न है। **पॉलिटिक्स** में लोकतंत्र को, उसके दोनों रूपों को, अल्पतंत्र से ऊपर रखा गया है जब कि **रिपब्लिक** में अल्पतंत्र को लोकतंत्र से ऊपर रखा गया था और यह महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन है। उन दिनों की याद अब भी हरी है जब लोकतंत्री राज्य ने ज्ञान के मसीहा को मौत के घाट उतारा था, पर उस याद में अब उतनी चुभन नहीं रही है जितनी **गॉर्जियाज़** और **रिपब्लिक** के दिनों में थी और इसके फलस्वरूप ही, लोकतंत्र के बारे में जो फैसला किया गया है, उसमें भी पहले से कम कठोरता है। पहले प्लेटो ने इस राज्य की निंदा की थी और इसके स्वरूप को ही इसलिए अन्यायपूर्ण ठहराया था कि उसमें विशिष्ट कर्म के संपादन के सिद्धांत का निषेध था, पर अब उसके निर्णय में पुराने स्वर की कोई गूंज नहीं है। विधि अनुभव का फल है, वह ज्ञान का आविष्कार है—इस रूप में विधि का महत्त्व समझ कर प्लेटो ने लोकतंत्र का भी महत्त्व समझा है जो विधि-शासन पर आधारित होता है और हम देखेंगे कि जहाँ **लॉज** में **पॉलिटिक्स** के अनेक संकेतों का विस्तार किया गया है, वहाँ प्लेटो ने वैध राजतंत्र और वैध लोकतंत्र के संयोग की पैरवी की है और इस संयोग को स्वयं आदर्श राज्य के संविधान से दूसरे क्रम पर प्रतिष्ठित किया है[1]।

---

[1] प्लेटो ने अपने सातवें पत्र में कहा है कि शुरू-शुरू में, सार्क्रेटीज की मृत्यु के आघात से पहले, उसका विचार लोकतंत्री एथेंस के राजनीतिक जीवन में उतरने का था और संभव है कि **पॉलिटिकस** के दृष्टिकोण में उन्हीं आरंभिक विचारों की ओर वापस लौटने का संकेत हो। हम यह भी याद रखें कि चौथी सदी के बीच में एथेनी लोकतंत्र को नई जिंदगी मिल चुकी थी और हो सकता है उस समय उसका जो रूप था, वह प्लेटो को उस पुराने लोकतंत्र से बिल्कुल भिन्न लगा हो जिसकी उसने गर्हणा की थी।

अध्याय 13

लॉज़ और उसका राज्य-सिद्धांत

(क) लॉज का उद्भव और स्वरूप
(ख) लॉज का सिद्धांत—आत्म-संयम
(ग) शांति और युद्ध
(घ) विधि का स्वरूप
(ङ) इतिहास के सबक

अध्याय 13

लॉज़ और उसका राज्य-सिद्धांत

(क) लॉज़ का उद्भव और स्वरूप

प्राचीन जनश्रुति के अनुसार **लॉज़** प्लेटो की मृत्यु के बाद प्रकाशित रचना है जिसे प्लेटो के एक शिष्य और लिपिक, ओपसवासी फ़िलिप, ने प्लेटो की मृत्यु (ई० पू० 347) के एक वर्ष के भीतर ही प्रकाशित किया था। **लॉज़** में कहीं-कहीं शृंखला की कड़ियां लुप्त प्रतीत होती हैं और कुछ असंगतियां भी पाई जाती हैं—उसका यही कारण है कि जिस समय प्लेटो की मृत्यु हुई, उस समय यह रचना अधूरी थी और उसके संपादक ने इनके निराकरण की कोशिश नहीं की। प्लेटो के सातवें पत्र से ज्ञात होता है कि ई० पू० 361 में वह कनिष्ठ डायोनीसियस के साथ उपयुक्त प्रस्तावनाओं के अध्ययन में लगा हुआ था जिन्हें विधियों में जोड़ा जा सके। और हो सकता है कि उसे **लॉज़** की योजना इसी काल में सूझी हो। इसका रचना-काल उसके जीवन का अंतिम दशक माना जा सकता है जब उसकी आयु सत्तर वर्ष से भी अधिक हो गई थी[1]। **लॉज़** की बहुत-सारी बातें ऐसी हैं जिनपर बुढ़ापे की स्पष्ट छाप है। शेक्सपीयर के अंतिम नाटक **टेम्पेस्ट** के प्रोस्पेरो की भाँति जब वह अपने जादुई डंडे को तोड़ देता है और अपनी किताब समुद्र में डुबो देता है, प्लेटो भी यह समझने लग गया है कि "इस तीन दिन के तमाशे में अभिनय करने वाले लोग भी सपनों की तरह अनित्य होते हैं" और "मनुष्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह ईश्वर के हाथ की कठपुतली है और सच पूछा जाए तो यही उसका सबसे अच्छा रूप है" (803 C)। अब वह समझने लगा है कि ईश्वर ही सब कुछ है, आदमी कुछ नहीं ; पर धार्मिक सत्य की इस गहनतर अनुभूति के साथ ही उसमें कुछ कठोरता भी आ गई है और **लॉज़** के अंतिम

---

[1] खंड I (638 B) में प्लेटो ने किओस द्वीप पर—जिसने ई० पू० 364 में और फिर ई० पू० 363 में विद्रोह का झंडा उठाया था—एथेनी विजय की ओर संकेत किया है। लोक्री एपिज़ेफिरी के प्रति सिराक्यूज़ का जो बर्ताव रहा रहा था, प्लेटो ने उसका भी उल्लेख किया है। डायोनीसियस ने सिराक्यूज़ से अपने देश-निकाले की अवधि (ई० पू० 356—ई० पू० 346 तक) में लोक्री में जिस निरंकुशता से शासन किया था, यह उसका भी हवाला हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि खंड I की रचना ई० पू० 363 के पश्चात्, संभवतः ई० पू० 356 के भी पश्चात् हुई थी।

खंडों में हम बदमिज़ाज़ और बूढ़े व्यक्ति की अस्फुट वाणी सुन सकते हैं। शैली में और विषय-वस्तु में भी लेखक की ढलती आयु का आभास मिलता है[1]। इस रचना में कुछ प्रगल्भता-सी है : भूलने की प्रवृत्ति बढ़ती हुई प्रतीत होती है जिसके कारण पुनरावृत्ति और कहीं-कहीं असंगति-दोष आ गया है ; कलात्मक शक्ति घट गई है। प्लेटो ने संवाद के रूप की तो रक्षा की, पर वह उसकी आत्मा को अक्षुण्ण नहीं रख सका और सच पूछा जाए तो लॉज़ दो धीर, और सामान्य रूप से विनम्र, श्रोताओं के सम्मुख जिनमें एक क्रीट का निवासी है और दूसरा स्पार्टा का, एक एथेनी अजनबी का एकालाप है। यह रचना किस आधार पर लिखी गई है, इसका पता लगाना या उसके विभिन्न भागों का परस्पर संबंध जोड़ना मुश्किल है, पर यहाँ हमें यह याद रखना होगा कि प्लेटो का विश्वास था कि "जिस दिशा में तर्क ले जाए" संवाद को भी उसी दिशा में मुड़ जाना चाहिए और अपने इसी विश्वास के कारण उसने किसी स्पष्ट तर्कसम्मत योजना के अनुरूप पुस्तक लिखने की चिंता कभी नहीं की[2]। पहले चार खंड प्रस्तावना के रूप में हैं। इन चार खंडों के दो भाग हो जाते हैं जिनका आपस में कोई संबंध नहीं है। पहले दो खंडों में संगीत, नृत्य और मदिरा का तथा शिक्षा-क्रम में उनके स्थान का विवेचन है। तीसरे खंड में सामान्य रूप से राज्यों के ऐतिहासिक विकास पर विचार किया गया है। चौथे खंड में राजनीति की भूमिका है या उसके सामान्य सिद्धांतों का निरूपण। आगे के चार खंडों में संविधान के निर्माण का वर्णन है (इसमें शिक्षा-व्यवस्था और सामाजिक संबंधों का भी विवेचन है)। इस संविधान का आधार विधि को होना है और उत्कर्ष की दृष्टि से इसे रिपब्लिक में वर्णित राज्य से दूसरे क्रम पर आना है। आगे के मुख्य भाग (खंड IX—XI) में एक विधि-संहिता दी हुई है और कुछ दृष्टियों से उसे संवाद का सार कहा जा सकता है। नवीं पुस्तक में दंड-संहिता (criminal code) और ग्यारहवीं में व्यवहार-संहिता (civil code) है और उन दोनों के बीच में धार्मिक विधि-संहिता है जिसमें प्लेटो ने

---

[1] लॉज़ की शब्दावली और शैली दोनों ही पूर्ववर्ती संवादों से भिन्न हैं। इसके कारण कुछ लोगों ने लॉज़ को किसी और की रचना माना है, पर उनका दृष्टिकोण मान्य नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि लॉज़ का मुख्य अंश तो प्लेटो की ही रचना है, पर उसमें बाद के प्रक्षिप्त अंश बहुत सारे हैं और इन विद्वानों ने दूध को दूध और पानी को पानी करने की कोशिश की है। इस तरह का प्रयत्न न तो आवश्यक है और न वह सफल रहा है। जर्मन विद्वानों में प्राचीन काल की रचनाओं को मूल पाठ और प्रक्षिप्त में विभक्त करने की जो सतत प्रवृत्ति पाई जाती है—यह उसका ही एक उदाहरण है।

[2] इसके साथ ही रिपब्लिक तथा लॉज़ में एक अंतर देखा जा सकता है। रिपब्लिक में तर्क मार्ग से भटक सकता है पर वह रहता पहुँच के भीतर ही है और अगर तत्परता तथा दृढ़ता से काम लिया जाए तो उसके विहार का अंत कर उसे सही रास्ते पर लौटाया जा सकता है। लॉज़ में तर्क भटकता-भटकता बड़ी दूर चला जाता है और जब प्लेटो को अचानक ही इसका ज्ञान होता है, तब वह उसे चक्करदार रास्तों से वापस लाने की कोशिश करता है। "तर्क की लगाम बराबर खींचते रहना चाहिए। उसे भागने नहीं देना चाहिए ; बल्कि उसकी लगाम कसे रखनी चाहिए" (701 C)।

सच्चे धार्मिक विश्वास के सिद्धांतों का विवेचन किया है और अपधर्म (heresy) के अपराध के लिए दंड निश्चित किए हैं। अंतिम खंड उपसंहार माना जा सकता है। इसमें नई संस्थाओं पर इस ढंग से विचार आरंभ किया गया है कि लगता है मानो यह खंड परवर्त्ती चिंतन का परिणाम हो और इसे बाद में लिखा गया हो ; और प्लेटो की इस घोषणा के बावजूद कि वह ऐसे राज्य के बारे में विचार कर रहा है जो आदर्श से हल्का और नीचा पड़ता है, संवाद के स्वर में **रिपब्लिक** के आदर्शवाद की गूंज है। कुल मिलाकर संवाद ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, वह शक्ति अर्जित करता जाता है (हालाँकि यह शक्ति संवाद के रूप में नहीं है) और **लॉज़** के अंतिम चार खंड न केवल **लॉज़** के ही सर्वश्रेष्ठ अंश हैं, बल्कि वे प्लेटो की संपूर्ण साहित्य-संपदा के सर्वश्रेष्ठ अंशों में से हैं। उसका कवि और दार्शनिक का रूप कम, विधिकार और मसीहा का रूप अधिक प्रकट होता है। विधिकार के रूप में उसने, बेंथम की भाँति, यूनानी विधि को व्यवस्थित रूप ही नहीं दिया है, बल्कि उसने अपनी प्रस्तावना में उन मूल सिद्धांतों की भी व्याख्या की है जिन पर उसकी संहिता आधारित है। मसीहा के रूप में दसवें खंड में उसका तर्क इतना ऊँचा उठ गया है कि वह प्राय: सबसे बड़े हिब्रू मसीहा के समकक्ष पहुँच गया है। जब हम **लॉज़** पढ़ना आरंभ करते हैं, तब हम अपने आपसे कहते हैं जिस प्लेटो से हम परिचित हैं यह उसने कितना भिन्न है, पर जब हम उसे समाप्त करते हैं, तब हम यही कहते हैं, "इसमें भी प्लेटो ही मुखरित हुआ है और अगर तीस साल पहले उसके पास यह सामग्री होती, तो वह क्या न कर डालता"[1]।

जब प्लेटो ने **लॉज़** की रचना आरंभ की, तब तक उसके विचारों में आधारभूत परिवर्त्तन हो चुका था और इसका आभास हमें संवाद के शीर्षक से ही मिल जाता है। अब तक प्लेटो का विश्वास ऐसी वैयक्तिक बुद्धि के उन्मुक्त शासन में था जिसे अपने कार्य का उचित प्रशिक्षण मिला हो, पर जो विधियों की मर्यादा से स्वतंत्र सत्ता का उपयोग करती हो। **रिपब्लिक** में जिस पद्धति का प्रतिपादन किया गया था और अकादमी में जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता था, उसे आशा थी कि उस पद्धति के अनुसार वह इस प्रकार की बुद्धि को प्रशिक्षण दे सकेगा। सिराक्यूज़ में

---

[1] **लॉज़** के जो दोष हैं, वे मुझे अधिकतर साहित्यिक रूप के दोष लगते हैं। अस्सी वर्ष की आयु में जिस सामग्री के आधार पर प्लेटो ने एक ऐसी कृति की रचना की है जो पहले-पहल साधारण लगती है, उसी सामग्री के आधार पर वह पचास वर्ष की आयु में एक महान् ग्रंथ का प्रणयन करता। मैं कोंस्टेन्टाइन रिटर के इस कथन से सहमत हूँ (उसने अपने ये विचार **प्लेटोज गेसेट्ज़** नामक ग्रंथ में व्यक्त किए हैं जिसमें उसने **लॉज़** का सार भी दिया है और उसकी टीका भी दी है) : "मुझे यह यह कहने में रत्ती भर संकोच नहीं है कि **रिपब्लिक** के साथ ही यह ग्रंथ भी प्राचीन हेलास की संस्कृति के सबसे गौरवपूर्ण स्मारकों में से है और मेरा जिन श्रेष्ठ और सराहनीय ग्रंथों से परिचय है, उन्हीं में से यह भी एक है" (प्रस्तावना, पृ० V)। मैं यहाँ यह और कह दूं कि जहाँ तक मानव-प्रकृति और मानव-संस्थाओं से संबद्ध ज्ञान-संपदा का और यथार्थ जीवन के क्षेत्र में सिद्धांतों के विस्तृत प्रयोग का प्रश्न है, वहाँ तक **लॉज़** ने **रिपब्लिक** को भी मात दे दी है।

उसे लगा था कि मुझे उपयुक्त अवसर मिल गया है। यहाँ वह दिखा सकता था कि दर्शन का मूल्य क्या है और यहाँ एक तरुण निरंकुश शासक को दार्शनिक नरेश के रूप में ढाल कर वह यूनान को मुक्ति का मार्ग दिखा सकता था। वह सिराक्यूज़ में असफल हो गया था। पर इससे उसने हिम्मत न हारी और वह दूसरी राह की तलाश में जुट पड़ा। अगर वह ऐसे दार्शनिक शासक को प्रशिक्षित न कर सका, जो विधि के बिना और विधि के बजाए शासन करता, तो क्या यह संभव न था कि वह विधि को ही दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देता और सभी राज्यों के पालन के लिए एक दार्शनिक संहिता का प्रख्यापन करता ? वह अब भी दर्शन का व्यावहारिक उपयोग चाहता था। यह विचार उसे सबसे प्रिय था। अगर दर्शन शासकों का शिक्षक न हो सकता, तो वह कम से कम राज्यों का विधिकर्त्ता तो हो ही सकता था। यह सच है कि वह अपने उच्चतम कर्त्तव्य से वंचित हो जाता (प्लेटो ने **रिपब्लिक** का आदर्श कभी नहीं छोड़ा और न उसके हृदय से यह विश्वास ही कभी गया कि आदर्श राज्य का शासन प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत रूप से दार्शनिक के द्वारा होना चाहिए)[1] ; पर अगर राज्य का शासन निर्वैयक्तिक दार्शनिक विधि-संहिता के माध्यम से दर्शन के द्वारा परोक्ष रीति से हो सकता, तो 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ' राज्य की सिद्धि हो सकती थी। इस तरह के राज्य में भी विधि की व्यवस्था करने के लिए किसी न किसी तरह के व्यक्ति-शासन की जरूरत होगी ; और दार्शनिक राजतंत्र के अलावा इसे पाने का एक ही उपाय हो सकता है—राजा-प्रजा ; अमीर-गरीब के उन विभिन्न तत्त्वों का समन्वय या सम्मिश्रण जो वास्तविक यथार्थ राज्यों में राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। यह विकल्प अन्य सारे विकल्पों को पीछे छोड़ देता है। अस्तु, प्लेटो के जीवन के उत्तरकाल का प्रमुख राजनीतिक विचार है—मिश्रित संविधान से युक्त विधि-राज्य। वह मानो विचार और वास्तविकता के बीच की चीज़ है ; वह उप-आदर्श राज्य है जो वास्तविक जीवन की परिस्थितियों के इतने निकट है कि अविलंब वास्तविक जीवन में खप सकता है। हम यह भी देख सकते हैं कि यह मूल विधि के शासन के सामान्य यूनानी विचार की दिशा में वापस लौटना है—उस विचार की

---

[1] उसने आदर्श को कभी नहीं छोड़ा, पर उसने उसकी सिद्धि की आशा छोड़ दी (तुलना कीजिए, 875)। किंतु, **लॉज़** में अनेक बार **रिपब्लिक** का स्वर गूंज उठता है। दार्शनिक नरेशों के संबंध में उसकी आशा **लॉज़** में भी व्यक्त हुई है (709 E—712 A)। "किसी संविधान की प्रतिष्ठा जितनी जल्दी और जितनी अच्छी तरह निरंकुश-तंत्र से हो सकती है, उतनी जल्दी और उतनी अच्छी तरह किसी और पद्धति से न तो कभी हुई है और न कभी होगी" (710 B)। फिर, पाँचवे खंड के एक प्रसिद्ध अवतरण (709 B—E ; VII, 807 B से तुलना कीजिए) में उसने **रिपब्लिक** के साम्यवाद को सच्चा आदर्श और **लॉज़** की योजना को उसका स्थानापन्न भर बताया है। इस संबंध में आख़िरी बात यह है कि बारहवें खंड के अंत में—और यह हम आगे चल कर देखेंगे—वह **रिपब्लिक** के सातवें खंड में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था को ही सच्ची शिक्षा-व्यवस्था मान कर उसकी ओर वापस लौट आता है और दूसरे सर्वश्रेष्ठ आदर्श के बारे में जितना कुछ कहा गया है, उसके बावजूद वह पुराने आदर्श की ओर लौटता प्रतीत होता है।

दिशा में जिसके विरुद्ध स्वयं प्लेटो ने बड़े लंबे अरसे तक विद्रोह किया था। उसके विद्रोह का रूप था—विधि की जगह विधि के निर्माता मन की प्रतिष्ठा और विधि के लिखित अधिनियमों के वजाए उसके मूलवर्त्ती सिद्धांतों की प्रतिष्ठा।

यह बहुत वड़ा परिवर्त्तन है। यह प्लेटो के राजनीति-सिद्धांत को दो अलग-अलग अर्द्धांशों में वाँट देता है। एक ओर तो **रिपब्लिक** का संरक्षक है जो विधि की बेड़ियों से स्वतंत्र है; दूसरी ओर विधि का संरक्षक है जो उसका सेवक है और उसे उसका दास तक कहा गया है। पर परिवर्त्तन के वावजूद प्लेटो के इस चिंतन में संगति वनी रहती है। ये दोनों आदर्श एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। पहला आदर्श सदा ही प्लेटो का निरपेक्ष आदर्श रहा था और अब भी है। दूसरा गौण या सापेक्ष आदर्श है; वह गौण है **रिपब्लिक** के आदर्श की तुलना में और सापेक्ष है इस दृष्टि से कि उसे वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला गया है[1]। यह वात भी नहीं कि यह परिवर्त्तन आकस्मिक या बिना किन्हीं संगत कारणों के हुआ हो। **पॉलिटिकस** से पहले ही प्रकट हो गया है कि प्लेटो यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि वास्तविक राज्यों में विधि का होना विधि के न होने से ज्यादा अच्छा है: उससे प्रकट हो गया है कि वह शिक्षा, सामाजिक जीवन और शासन में किसी समुदाय के विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण का मूल्य-महत्त्व स्वीकार करने के लिए तैयार है (पीछे अध्याय 12—ङ देखिए)। ताने-बाने में एकसूत्रता लाने वाले बुनकर की कला पर आधारित रूपक का **पॉलिटिकस** और **लॉज़** दोनों में प्रयोग हुआ है (734)। प्लेटो के राजनीति-सिद्धांत के विकास पर वास्तविक जीवन की जिन घटनाओं का प्रभाव पड़ा था, उनमें सिराक्यूज़ के इतिहास-प्रवाह का प्रभाव सबसे सशक्त था और **पॉलिटिकस** में जिस परिवर्त्तन का संकेत मिलने लगा था, उसे पूरा करने में सिराक्यूज़ के घटना-क्रम ने मदद दी। प्लेटो के जीवन का वर्णन करते समय हमने देखा है कि जब 357 ई० पू० में डायोन ने डायोनीसियस को देश-निकाला दे दिया था, तव सिराक्यूज़ में अनेक कठिनाइयाँ और लड़ाई-झगड़े पैदा हो गए थे और प्लेटो उनका बड़ी उत्सुकता और सजगता के साथ अध्ययन करता रहा था। डायोनीसियस से सावका पड़ने पर उसे जो कुछ अनुभव हुए उनके कारण यदि निरपेक्ष आदर्श पृष्ठभूमि में चला गया था तो डायोनीसियस के पतन के बाद उसके दोस्तों को जो मुसीवतें झेलनी पड़ीं उनके कारण गौण विचार सामने आ गया था और पत्रों से हमें पता चलता है कि किस प्रकार प्लेटो के विचार मिश्रित संविधान और निर्वैयक्तिक विधि-संहिता की ओर उन्मुख होने लगे थे (पीछे पृ० 177)।

---

1. प्लेटो की तरह अरिस्टाटल के भी दो आदर्श थे। उसने **पॉलिटिकस** के सातवें और आठवें खंडों में जिस आदर्श राज्य का चित्र खींचा है, उद्देश्य की दृष्टि से वह प्लेटो की **रिपब्लिक** के अनुरूप है (हालांकि उसकी बहुत-सी वातें **लॉज़** में भी पाई जाती हैं और इससे अरिस्टाटल के आदर्श की गंभीरता का पता चलता है)। चौथे खंड की 'पालिटी' या मिश्रित संविधान **लॉज़** के मिश्रित राज्य के अनुरूप है। सत्रहवें अध्याय के अंत में दी गई टिप्पणी में **लॉज़** के प्रति अरिस्टाटल के ऋण का दिग्दर्शन कराया गया है।

लॉज़ के जन्म के कारण का पता लगाने की कोशिश करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अकादमी विधायकों की पोषिका थी और कुछ हद तक वह विधि का विद्यालय भी ज़रूर रही होगी। अंतिम चार खंडों में व्यवहार तथा दंड-विधि के जो विस्तृत विनियम—यूनान की विधि, विशेष कर एथेंस की विधि पर आधारित अधिनियम—दिए गए हैं उनसे लगता है कि प्लेटो ने यूनानी न्याय-शास्त्र का तकनीकी और व्यवस्थित अध्ययन अवश्य किया होगा। आजकल सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि यूनानी कला और दर्शन के क्षेत्र में और रोमी शासन और न्याय-शास्त्र (रोमियों ने इन दोनों को कला का रूप दे दिया था) के क्षेत्र में पारंगत थे। यह सामान्य वक्तव्य यूनानियों की प्रतिभा के साथ न्याय नहीं करता। यूनानी विधि का अधिकांश नष्ट हो चुका है[1]। जब भूमध्यसागर की द्रोणी (basin) पर रोम का अधिकार हुआ, तब धीरे-धीरे रोम की विधि भूमध्य सागर के सारे प्रदेश की विधि बन गई, और रोमी विधि अब भी जीवित है। पर रोमी कला और साहित्य की तरह रोमी विधि भी अधिकतर यूनानियों की ही देन थी। प्रकृति की समान विधि के बारे में स्टोइकों के विचार का रोम की प्राकृतिक विधि के विचार पर प्रभाव पड़ा हो—बात इतनी ही नहीं है (सर हेनरी मेन ने इस प्रभाव का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है)। सच तो यह है कि यूनानियों की जो वास्तविक विधि थी, उसका रोमी विधि पर पाँचवीं सदी से ही प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया था। यूनान में विधायकों के युग (प्रायः 600) के बाद से विधि और विधान का विपुल मात्रा में निर्माण हुआ था। नैपोलियन की संहिता की तरह से पुराने राज्यों में कभी-कवाद पर उपनिवेशों में प्रायः ही व्यवस्थित विधान का नियमित रूप से निर्माण होता रहता था। जब कभी किसी उपनिवेश की स्थापना होती थी, तब उपनिवेश की स्थापना करने वाला राज्य या उपनिवेश को बसाने वाले लोग संविधान और संहिता का निर्माण करने के लिए अधिकार या विधायी आयोग की नियुक्ति किया करते थे। प्लेटो ने लॉज़ में इसी स्थिति का भावन किया है। उसने कल्पना की है कि नोसस नगर एक उपनिवेश की स्थापना करना चाहता है और फिर बताया है कि उपनिवेश के विधिकार को किन दिशाओं में कार्य करना चाहिए[2]। यथार्थ जीवन की भाँति काल्पनिक स्थिति में भी हम संविधान-

---

[1] टिबेरियस के समय तक लोगों को सोलोन की विधियों का पता था और उन पर टीका-टिप्पणी होती थी तथा उनका अध्ययन किया जाता था। पुरातत्त्व की खोजों और इन खोजों पर विद्वानों के अध्ययन के फलस्वरूप गत पचास वर्षों में यूनानी विधि का पुनर्निर्माण हो गया है। 1884 में गोर्टीन की विधियों और क्रीट की परिवार-विधि की खोज से जो अंशतः ईसा से सात सदी पहले की है (किंतु उसके वर्त्तमान रूप को देखते हुए लगता है कि उसका संशोधन-संपादन ईसा से पाँच सदी पहले हुआ था) यूनानी विधि की यथार्थता प्रमाणित करने में मदद मिली है। इसी बीच पांडुलिपि-विज्ञान से हमारी जानकारी में निरंतर वृद्धि हो रही है; और फ्रांसीसी तथा जर्मन विद्वान् (विशेष कर फ्रांसीसी विद्वान) उपलब्ध सामग्री के आधार पर यूनानी न्याय-शास्त्र के पुनरान्वेषण में लगे हुए हैं।

[2] रिपब्लिक में तो प्लेटो ने पुराने राज्य के आमूल उपचार की पैरवी की है, पर लॉज़ में एक नए राज्य के लिए उसने मध्यमार्गी और रूढ़ संविधान का सुझाव दिया है। राज्यों के शासकों को दार्शनिक बनाकर और उनके

निर्माण और विधि-निर्माण की प्रक्रियाओं को साथ-साथ चलते देख सकते हैं ; और इससे संकेत मिलता है कि विचार की आवश्यकता है। सर्वश्रेष्ठ संविधान के बारे में यूनानी दार्शनिकों का राजनीतिक चिंतन राजनीतिक चिंतन ही नहीं है, वह वैधिक चिंतन भी है। जिस समय वे आदर्श राज्य की खोज में हैं, उस समय वे आदर्श विधि या प्राकृतिक विधि की खोज में भी हैं। अभी तक राजनीति-विज्ञान और न्याय-विज्ञान में कोई भेद नहीं हुआ है। और चूंकि बात ऐसी है, इसलिए निष्कर्ष यह है कि यूनानियों ने राजनीतिक चिंतन की नींव डालने की प्रक्रिया में विधि-सिद्धांत की भी नींव रखी।

सामाजिक जीवन को साम्यवादी व्यवस्था में ढाल कर वह वर्त्तमान राज्यों में आमूल परिवर्त्तन करने की कोशिश नहीं करता ; अपने से पहले के अनेक यूनानियों की भाँति वह तो विधिकार की भूमिका ही निबाह रहा है। इस अर्थ में भी लॉज़ का धरातल रिपब्लिक की अपेक्षा नीचा है। उसमें वैसी महत्त्वाकांक्षा नहीं दिखाई देती। उसमें नई और नम्य परिस्थितियों को ढालने की चेष्टा है, पुरानी और अनम्य सामग्री को ढालने की नहीं। प्लेटो ने स्पष्ट कर दिया है (736) कि उसने तो कोरी पट्टी पर लिखना शुरू किया है और उसके सामने निहित स्वार्थों की भी कोई कठिनाइयाँ नहीं रही हैं। जब बेंथम ने विधिकार के रूप में अपनी सेवाएँ प्रस्तुत की थीं, तब उसकी महत्वाकांक्षा प्रबलतर थी (पीछे पृ० 12, टि०) और उसने पुराने समाजों के लिए भी विधियाँ बनाने का प्रस्ताव किया था।

(ख) लॉज़ का सिद्धांत—आत्म-संयम

प्लेटो की तरह हम भी शुरू में प्रस्तावना दे सकते हैं और उसकी प्रस्तावना की भाँति हमारी प्रस्तावना में भी जिस राज्य का हमें वर्णन करना हो उसकी विधियों और संविधान के मूल में निहित सिद्धांतों का आख्यान हो सकता है। इन सिद्धांतों का सार एक वाक्य में प्रस्तुत किया जा सकता है—"जब विधिकार विधियों का निर्माण करता है, तब उसके सामने संपूर्ण सद्‌गुण रहता है, अंश सद्‌गुण नहीं" (630E)। राज्य और राज्य की विधियाँ नागरिकों के नैतिक उन्नयन के लिए ज़रूरी होती हैं—एक दृष्टि से नहीं, सभी दृष्टियों से ; क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि जिन लोगों को नागरिक जीवन के संपूर्ण श्रेय के बारे में कुछ भी ज्ञान न रहा हो, उनमें कभी सद्‌गुण का पूर्ण विकास हो सकता था (678 B)। इस तरह, सबसे पहली ज़रूरत यह है कि विधिकार के सामने पूर्ण सद्‌गुण की स्पष्ट धारणा हो। हम देख चुके हैं कि रिपब्लिक में सद्‌गुण को न्याय से अभिन्न माना गया है। न्याय का अर्थ है कर्म का विभेदीकरण ; और रिपब्लिक में कर्म का इतना कठोर भेद किया गया है कि राजनीतिक अंग केवल राजनीतिक काम करता है और अपने सारे सामाजिक अधिकारों से हाथ धो बैठता है ; आर्थिक या सामाजिक अंग केवल आर्थिक काम करता है और सारे राजनीतिक अधिकारों से हाथ धो बैठता है। एक वर्ग संरक्षकों का है जिनके पास न संपत्ति है और न परिवार लेकिन जिनका शासन पर एकच्छत्र अधिकार है ; दूसरा वर्ग किसानों का है जिनके पास संपत्ति है और जो पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं पर इन लोगों के पास न तो मताधिकार होता है और न शासन पर उनका किसी तरह का नियंत्रण होता है। रिपब्लिक में न्याय के संग-संग और उसके संगी के रूप में (ज्ञान और विवेक के अतिरिक्त) आत्म-नियंत्रण या संयम के सद्‌गुण का भी उल्लेख किया गया है। आत्म-नियंत्रण का अभिप्राय है विवेक के चरणों में बुभुक्षा का आत्म-समर्पण और इसीलिए रिपब्लिक में आत्म-नियंत्रण का एक ऐसे सद्‌गुण के रूप में भावन किया गया है जिसके प्रताप से बुभुक्षा का प्रतीक उत्पादक-वर्ग, विवेक के प्रतीक शासक-वर्ग के चरणों में, झुक जाता है। इसलिए, जिस तरह वह व्यक्ति-आत्मा में बुभुक्षा-तत्त्व और विवेक-तत्त्व के बीच

की कड़ी है, उसी तरह वह राज्य के सामाजिक और राजनीतिक अंगों के बीच की कड़ी है। वह विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य की स्थापना करता है और मानव-प्रकृति के ताने-बाने को एक सूत्र में बाँध देता है। लॉज़ का मुख्य प्रेरणा-स्रोत न्याय की जगह यह सद्‌गुण हो गया है। अब प्लेटो का आदर्श यह हो जाता है कि वह विभिन्न तत्त्वों को सामंजस्यपूर्ण एकत्व में ढाल दे; (और पॉलिटिकस में इस विचार का पूर्वाभास मिलने लगता है)। यह आदर्श उसका नहीं रह जाता कि एकता को विशिष्ट कर्मों के आधार पर खंडित किया जाए। अस्तु, जहाँ रिपब्लिक में आत्म-नियंत्रण और दूसरे सभी सद्‌गुणों को न्याय के अधीन कर दिया गया है, वहाँ लॉज़ में आत्म-नियंत्रण न्याय के सद्‌गुण समेत सभी सद्‌गुणों का सिरमौर है और उन्हें पूर्णता प्रदान करता है। (पीछे पृ० 230, पा० टि० 1)।

पहली बात यह है कि ज्ञान आत्म-नियंत्रण पर निर्भर होता है। ज्ञान केवल सामंजस्य की स्थिति में ही अपना काम कर सकता है—चाहे वह हमारे मन में अपना काम करता रहा हो, चाहे राज्य में (889 D)। पर सामंजस्य आत्म-नियंत्रण से पैदा होता है और इसलिए हम कह सकते हैं कि ज्ञान भी जो सामंजस्य का संगी और सहोदर होता है, आत्म-नियंत्रण से ही पैदा होता है। जब ज्ञान का इस प्रकार सामंजस्य से संबंध स्थापित हो जाता है और जब वह इस तरह आत्म-नियंत्रण पर आधारित होता है, तब हम यह आशा कर सकते हैं और हम पाएँगे कि लॉज़ में इस बात का कोई आग्रह नहीं है कि ज्ञान का ही एकांत शासन हो और दार्शनिक नरेश ही गद्दी पर बैठे। पर, केवल ज्ञान ही ऐसा गुण नहीं जो आत्म-नियंत्रण पर निर्भर हो। साहस और न्याय के सद्‌गुणों के बारे में भी यही बात सच है। कोई भी सद्‌गुण तब तक सार्थक नहीं होता जब तक कि पहले आत्म-नियंत्रण का सद्‌गुण न आ जाए। आत्म-नियंत्रण की शर्त्त तो पहले ही पूरी हो जानी चाहिए बल्कि यह कहा जाए कि वह ज्ञान साहस और न्याय इन सभी की अनिवार्य पूरक है (696)। वह सारे सद्‌गुणों की सिरमौर ही नहीं; वह स्वतंत्रता का सार-तत्त्व भी है और इसका कारण यह है कि वह बुभुक्षा का विवेक के साथ मुक्त सामंजस्य स्थापित करता है और विवेकप्रेरित इच्छा के द्वारा जिस दिशा में चाहे, उसी दिशा में निर्बाध रूप से प्रवृत्त हो सकता है। मानव स्वतंत्र कर्त्ता तभी होता है जब आत्म-नियंत्रण के प्रभाव में, विवेकसम्मत रीति से वह किसी एक रास्ते को चुने जो उसके विवेक के अनुसार सही हो और सबसे कम स्वतंत्र वह तब होता है जब वह मनमानी करने लगता है, जब उसका अपनी बुभुक्षाओं पर नियंत्रण नहीं रहता और वह अपने ही कुरूप अंतरंग का शिकार हो जाता है (626 E—628 A; 733 E—734 B)[1]।

---

[1] व्यक्ति में स्वतंत्रता का अभिप्राय है समग्र मानव का, अपने श्रेष्ठांश की स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकृत इच्छा के अनुसार स्वतंत्र कर्म। राज्य में स्वतंत्रता का अभिप्राय है समग्र राज्य का, अपने श्रेष्ठ प्रतिनिधियों के स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकृत निर्णय के अनुसार स्वतंत्र कर्म। मोंटेस्क्यू ने कहा है (एस्प्रिट डेस लोइज़ XI. 3): "व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके और जो कार्य उसे पसंद न हो, उसके लिए उसे बाध्य न किया जाए—स्वतंत्रता का यही अर्थ है, और कुछ नहीं।"

इन निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि जो विधिकार राज्य में आत्म-नियंत्रण के पूर्ण सद्‌गुण के आविर्भाव के लिए अपनी विधियों में सामंजस्य स्थापित करता है, "वह एक साथ तीन साध्यों की सिद्धि करेगा : वह जिस नगर के लिए विधियाँ बनाएगा, वह नगर स्वतंत्र होगा ; दूसरे उसमें एकता होगी और तीसरे उसमें समझदारी होगी" (701 D : 693 B)। इस तरह का नगर रिपब्लिक के नगर से भिन्न होगा। आत्म-नियंत्रण में कार्यों के निरपेक्ष विभेदीकरण की कल्पना नहीं रह जाती। फलतः, लॉज़ में शासकों के पास राजनीतिक और सामाजिक दोनों तरह के अधिकार रहते हैं और शासितों के पास भी। शासक के पास व्यक्तिगत संपत्ति और परिवार बना रहता है ; साम्यवाद का त्याग कर दिया जाता है हालाँकि सामूहिक भोजन-व्यवस्था कायम रखी जाती है और शासकों के निर्वाचन में शासितों का भी हाथ होता है, उन्हें अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। इस तरह के राज्य में वह एकता न होगी जो विभिन्न तत्त्वों के सहयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें प्रत्येक तत्त्व संपूर्ण के जीवन में अपने विशिष्ट कर्म के द्वारा योग देता है, पर चूँकि उसमें आत्म-नियंत्रण की परिव्याप्ति होती है, इसलिए उसमें सहानुभूति की एकता ज़रूर होगी। चूँकि आत्म-नियंत्रण सहानुभूति के रूप में प्रकट होता है, अतः वह हमें रिपब्लिक से भिन्न वातावरण में पहुँचा देता है। यह वातावरण दुर्लभ कम होता है, पर मानवीय अधिक ; वह उतना निर्मल नहीं होता पर उसमें वैसा रूखापन भी नहीं होता।

(ग) शांति और युद्ध

अगर आत्म-नियंत्रण समस्त सद्गुणों को पूर्णता प्रदान करने वाला और उनका सिरमौर है और उसी को राज्य का आधार होना चाहिए, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो राज्य किसी और सद्गुण पर, और उस एक ही सद्गुण पर आधारित हो, वह प्रकृति से ही अन्यायी होता है। जो राज्य साहस के सद्गुण पर आधारित हो और युद्ध को अपना लक्ष्य बना ले, वह विकृत राज्य होगा। संवाद के एथेनी अजनबी से स्पार्टा और क्रीट के सैनिक राज्यों के विरुद्ध संभवतः यही बात कहलवाई गई है क्योंकि वह अजनबी एक स्पार्टावासी और एक क्रीटवासी से ही बातचीत कर रहा है। यह ऐसी बात है जिसे कहने की प्रेरणा प्लेटो को शायद इतिहास की यथार्थ प्रक्रिया से मिली हो। स्पार्टा सैनिक राज्य तो था, पर 362 ई० पू० में मैनटिनेआ के युद्ध में वह थीब्स के हाथों पराजित हो चुका था। युद्ध-राज्य स्पार्टा अपनी प्रतिष्ठा खो चुका था और अब उसकी टीका-टिप्पणी का दौर आरंभ हो गया था। प्लेटो के लॉज़ और अरिस्टाटल की पॉलिटिक्स दोनों में उसी की अभिव्यक्ति हुई है[1]। स्पार्टा की नियति ही सैन्यवाद

---

[1] रिपब्लिक की रचना स्पार्टा-साम्राज्य के दिनों में हुई थी और इसके आठवें खंड में प्लेटो ने परोक्षतः स्पार्टा-संविधान की आलोचना की थी, पर अपनी साम्यवादी व्यवस्था में और नौजवानों के राजकीय प्रशिक्षण-क्रम की अपनी पैरवी में उसने कुछ हद तक स्पार्टा के आदर्श का ही अनुसरण किया था। लॉज़ में स्थिति उलट गई है, स्पार्टा के प्रशिक्षण की तो आलोचना की गई है पर उसके संविधान का आदर्श के रूप में अनुकरण किया गया है। अब प्लेटो का मत है कि स्पार्टा केवल युद्ध-राज्य है, वह एक-मात्र साहस-सद्गुण का उपासक है और उस सद्गुण पर आचरण करने में भी अपूर्ण है। सैनिक प्रशिक्षण-व्यवस्था में नोजवान व्यापक सामाजिक संपर्क से अलग-थलग हो जाते हैं, वे कुछ-कुछ शिविर-जीवन सा व्यतीत करते हैं जिसमें उन्हें भेड़-बकरियों की तरह रखा जाता है—फलतः अप्रकृत बुराइयाँ पैदा होती हैं (लॉज़, 636 और 836 से तुलना कीजिए जहाँ प्लेटो ने इस बुराई की कठोरता से निंदा की है; रिपब्लिक, 468 C, में उसका स्वर भिन्न है)। पर स्पार्टा राज्य का लक्ष्य और व्यवहार भले ही ग़लत हो, उसका संविधान मिश्रित और संयत

के विरोध में एक-मात्र चेतावनी न थी। सिसली में सिराक्यूज़ के शासकों का सैनिक निरंकुश-तंत्र हाल ही में स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हुआ था। यूनान में जब प्लेटो लॉज़ की रचना में संलग्न था, तब पवित्र युद्ध से उन भाड़े के सैनिकों का चरित्र बल प्रकट हो रहा था जिनकी रिपब्लिक (575 B) में निंदा की गई है और जिनकी मैकियावेली के प्रिंस में भी निंदा की गई है। इसी बीच उत्तर में मैकेदोन की सैन्य-शक्ति का धीरे-धीरे, लेकिन निश्चित रूप से, दक्षिण की ओर विस्तार हो रहा था। 359 ई० पू० में फिलिप राजा हो गया था; 357 ई० पू० तक उसने एथेंस से लड़ाई छेड़ दी थी; 351 ई० पू० में डेमास्थनीज़ ने अपना प्रथम फिलिप्पिक-भाषण दिया। हो सकता है युग के लक्षणों पर दृष्टि रखते हुए प्लेटो ने लॉज़ के पहले खंड में शांति की प्रभुता का प्रचार किया हो और उस राज्य की निंदा की हो जो स्पार्टा की तरह युद्ध को अपना लक्ष्य बना ले। उसके शब्दों में आधुनिकता की गूंज है और वे आज के युग में भी सार्थक हैं। सैन्यवादी के लिए "शांति तो केवल कहने की चीज़ होती है; और सच बात यह है कि हरेक राज्य की हर दूसरे राज्य के साथ हमेशा लड़ाई की स्थिति बनी रहती है। इस लड़ाई की घोषणा भले ही न हो, पर वह रुकती भी कभी नहीं" (626)। अत:, शांति युद्ध के अधीन होती है, युद्ध शांति के अधीन नहीं। और लोग सशस्त्र शांति की ऐसी स्थिति में रहते हैं कि जब आखिरकार युद्ध का डंका बजता है तो उनकी सारी संस्थाओं का एक ही लक्ष्य हो जाता है—विजय का लाभ और "पराजितों की सारी अच्छी चीज़ों पर अधिकार"। इस तरह की नीति से एक साहस के सद्गुण की ही उद्भावना हो सकती है, पर आत्म-नियंत्रण का सहारा न मिले तो साहस भी पंगु हो जाता है (634 A); और साहस के धनी पीड़ा से ऊपर भले ही उठ जाएँ, पर जिन सुखों पर उन्होंने कभी नियंत्रण करना नहीं सीखा, उनके प्रलोभन के बहाव में उनके पैर उखड़ जाते हैं (स्पार्टावासियों के साथ हमेशा यही बीतती थी)। 'वास्तव में' (और सैन्यवादी वास्तविकता के स्वरूप को जाने बिना ही इस शब्द का प्रयोग करता है) राज्य के भीतर भी ऐसी लड़ाइयाँ छेड़ने की ज़रूरत रहती है जिनमें आत्म-नियंत्रण से पैदा होने वाले सच्चे साहस की और उसके साथ ही साथ ज्ञान तथा न्याय की अपेक्षा होती है। आंतरिक संघर्ष में शिव का सामना अशिव से होता है और सच्चे सद्गुण की तरह सच्चा साहस उन्हीं आंतरिक संघर्षों में व्यक्त हो सकता है जिनमें शिक्षा का सामना अज्ञान से हो और सामाजिक न्याय सामाजिक अन्याय के विरोध में उठा हो। हर राज्य को चाहिए कि वह बाहर नहीं, भीतर देखे[1]; हर राज्य को चाहिए कि वह आंतरिक युद्ध में विजय

है (691 E—692 A)। यह संविधान इतना मिला-जुला है कि यह तय करना कठिन हो जाता है कि वह निरंकुश-तंत्र है या राजतंत्र, अभिजात-तंत्र है या लोकतंत्र और इसीलिए यह संविधान सच्चा और वास्तविक राज्य-तंत्र है (जबकि अन्य संविधानों में देशवासियों के किसी एक अंग की ही प्रभुता की अभिव्यक्ति होती है, 712 A—B)।

[1] एम० ईजेनमान ने लो कम्प्रोमिज़ में एक बात यह कही है आस्ट्रिया-हंगरी ने अपनी दृष्टि सदा ही बाहरी विस्तार की विदेश नीति पर रखी है और उसने अपनी अंतर्नीति को अपने बाहरी प्रयत्नों की आवश्यकताओं के अधीन कर दिया है (इसका परिणाम हानिकर रहा है)। उसका कहना है कि इसका अर्थ विकास के असली क्रम को उलट देना है जो भीतर से बाहर की ओर होना चाहिए।

तथा शत्रु-संहार की कामना न करे वल्कि संयम और आत्म-नियंत्रण से जनित सामंजस्य के द्वारा चिरंतन शांति और स्थायी मेल-मिलाप का प्रयत्न करे। अतः, अगर सैन्य राज्य प्लेटो की बात पर ध्यान दे, तो उसे वाहर की ओर अपने जीवन के विस्तार का, अपने एकांगी सद्‌गुण का, अपनी विजय और शत्रु-संहार की अपनी आशाओं का तथा 'युद्ध की प्राकृतिक अवस्था' के अपने समूचे दर्शन का सौंगंध खाकर त्याग कर देना होगा। वह अपनी सीमाओं के भीतर के युद्ध-क्षेत्र की ओर ध्यान देगा और शांति-दर्शन सीख कर आत्म-नियंत्रण के सिद्धांत के आधार पर अपनी अंतर्नीति को इस प्रकार ढालेगा कि विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य तथा मेल-मिलाप हो सके और इसकी सिद्धि बस आत्म-नियंत्रण से ही हो सकती है।

देखा जाए तो युद्ध राज्य-शरीर का रोग है और जो राज्य युद्ध-नीति पर चलता है वह अपनी इस कारगुजारी से प्रकट कर देता है कि वह पंगु और अपूर्ण है। "जव तक कोई आदमी पूर्ण श्रेय को आत्मगत नहीं कर लेता तव तक वह अन्याय से पूरी तरह बचा नहीं रह सकता ; और यह विशेषता राज्यों में भी पाई जा सकती है यानी अगर वे अच्छे होंगे तो उन्हें शांति मिलेगी और अगर वे बुरे होंगे, तो उन्हें भीतर-वाहर लड़ाई का ख़तरा रहेगा" (829 A)[1]। लड़ाई का पेड़ अपूर्णता और बुराई के वीच में पैदा होता है, और इसलिए प्लेटो का विचार है कि इस पेड़ के बढ़ने पर उसका फल भी अच्छा नहीं हो सकता। हम युद्ध के सबकों या युद्ध के महान खेल की चर्चा भले ही करें, पर "सचाई यह है कि युद्ध का स्वरूप ही कुछ ऐसा होता है कि उससे किसी तरह का उल्लेखनीय मनोरंजन या शिक्षा न तो कभी मिले हैं, न मिलते हैं और न कभी मिलेंगे" (803 D)। पर इस विश्लेषण से—जो वास्तव में आक्रामक युद्ध के स्वरूप का विश्लेपण है—यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि प्लेटो राजनीतिक निवृत्तिवादी था या उसकी 'शांतिवाद' में आस्था थी। अरिस्टाटल ने तो (जिसकी लॉज़ की आलोचना कुछ-कुछ सतही और अपूर्ण है) प्लेटो पर यह आरोप लगाया है कि उसने विदेशों के साथ अपने राज्य के संबंधों की उपेक्षा की है[2], और उसने प्लेटो की इस व्यवस्था पर कीचड़ उछाली है कि राजधानी में किलेवंदी न हो और "उसकी प्राचीरें भूमिशायी रहें"[3]। पर, सचाई यह है कि प्लेटो ने अपने राज्य और उसकी राजधानी की रक्षा का पूरा इंतज़ाम किया है। अगर उसके

---

1. यहाँ प्लेटो ने जिस सिद्धांत की ओर संकेत किया है, उस पर टी० एच० ग्रीन ने द प्रिंसिपिल्स ऑफ़ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन के खंड K में बल दिया है। विशेष रूप से §169, और §171 देखिए। §169 : "सच्चा राज्य नहीं बल्कि यह या वह विशिष्ट राज्य ही अपना प्रयोजन चरितार्थ नहीं करता...यह राज्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऐसे कार्य करता है जो बाहर के लोगों के लिए अहितकर होते हैं"। §171 : "यूरोप की सैन्य-व्यवस्था स्वतंत्र राज्यों के संबंधों का आवश्यक परिणाम नहीं है। उसके जन्म का मूल कारण तो यह है कि राज्य-जीवन का संगठन—उन लोगों के सहित भी जो थोड़े-से भी उसके प्रभाव में हैं—अभी इतना अपूर्ण है"।
2. पॉलिटिक्स, II. 6, 7 (1265, a 18—28)।
3. वही। VII. II. §§ 8—11 (1330, b 32—1331, a 10)।

नगर में प्राचीरें नहीं हैं, तो वे इसलिए नहीं हैं कि प्राचीरों वाले नगर में लोग अपने सीमांत की रक्षा की ओर से उदासीन होने लगते हैं[1] और उसने व्यवस्था की है कि उसके राज्य के सीमांतों पर खुदाई होगी और वहाँ खाइयों तथा किलों का जाल बिछा होगा (778 E: 760—1 A)। इतना ही नहीं; प्लेटो ने राष्ट्रीय सेवा का भी विधान किया है और कहा है कि लोग नागरिक निर्वाचनों में मतदान के अधिकार का तभी उपयोग कर सकते हैं जब कि वे यह सेवा करें। सभी नागरिकों को—स्त्रियों-पुरुषों दोनों को—महीने में कम से कम एक दिन युद्धाभ्यास करना होगा (829 B)। लोग मल्लयुद्धों के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं; और "हमारे नगर के योद्धा क्या उस सबसे बड़े संघर्ष के लिए तनिक भी कम तैयार होंगे जिसमें जीवन, संतति, संपत्ति और राज्य—ये सबके सब दाँव पर लगे होते हैं" (830 C)[2]। लॉज़ में युद्ध का महत्त्व पर्याप्त मात्रा में स्वीकार किया गया है, शर्त्त सिर्फ़ यह है कि वह पितृभूमि की रक्षा के लिए है[3]। अंतिम खंड के आरंभिक अध्यायों के एक अवतरण में, जिसकी सैन्यवाद के समर्थन के कारण एक जर्मन लेखक ने निंदा की है, उसने सैनिक अनुशासन के कठोर नियम निश्चित किए हैं और बहानेबाज़ी के लिए दंड का विधान करने के उपरांत 'शौर्य के लिए' जंगली जैतून का मुकुट पुरस्कार में देने की व्यवस्था की है जिसे विजेता किसी भी युद्ध-देवता के मंदिर में चढ़ा सकता है (942 A—945 B)।

---

[1] एक बार अँग्रेज़ी नौसेना के प्रधान ने अँग्रेज़ों को सलाह दी थी कि वे नौसेना पर भरोसा रखें और आराम से अपनी शय्याओं पर सोएँ। प्लेटो इसी चीज़ को रोकना चाहता है और इसीलिए उसकी इच्छा है कि प्राचीरें "भूमिशायी रहें"। प्राचीरों की वजह से "लोग सोचने लगते हैं कि नगर की रक्षा दिन-रात की लगातार निगरानी से नहीं होगी बल्कि अपने आपको प्राचीरों और दरवाज़ों के भीतर बंद कर लेने से और शय्याओं पर सोते रहने से होगी" (779 A)।

[2] प्लेटो सैनिक ढँग के खेलों के अलावा और सारे खेलों का बहिष्कार कर देगा (832 E) और फुटबाल के मैदान की जगह वह क़वायद का मैदान पसंद करेगा।

[3] गंपर्ज़ (वियना का एक प्रोफ़ेसर), ग्रीक थिंकर्स, भाग III, अँग्रेज़ी अनुवाद का पृ० 262। यह निंदा इसलिए और भी आश्चर्यजनक है कि यह जल्दबाज़ी में किए गए और ग़लत पाठ पर आधारित है। प्लेटो ने कहा है कि जहाँ तक सैनिक सेवा का संबंध है, युद्ध और शांति दोनों कालों में कठोर अनुशासन का पालन होना चाहिए। गंपर्ज़ ने इसका यह अर्थ निकाला है कि "संपूर्ण नागरिक जीवन के लिए सैनिक अनुशासन एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है" और इस पाठ को लेकर उसकी वाग्धारा प्रवाहित हो उठी है।

(घ) विधि का स्वरूप

राज्य क्या हो और क्या नहीं, वह किन भूलों से बचे और किस आदर्श की सिद्धि का प्रयत्न करे—इस संबंध में प्लेटो ने लॉज़ में उपर्युक्त धारणा प्रस्तुत की है। इस आदर्श को व्यक्त करना ही विधि का उद्देश्य है। विधि के स्वरूप, उसकी आवश्यकता, उसके जन्म, उसके विस्तार, और उसकी प्रभुता के बारे में कहने के लिए प्लेटो के पास बहुत-कुछ है और इसमें बहुत-कुछ ज्ञान-गंभीर है और सच तो यह है कि लॉज़ में जो कुछ लिखा गया है, उनके आधार पर विधियों की अंतरात्मा ग्रंथ लिखा जा सकता है।

नवें खंड में विधि की आवश्यकता के बारे में एक श्रेष्ठ अवतरण (875) है जिसमें बताया गया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के चोट पहुँचाए या घाव कर दे, तो उसे किस तरह का दंड दिया जाना चाहिए। विधि सभ्यता-रूप है। वह मानव की एक ऐसी संपदा है जिसे उसने धीरे-धीरे युगों में अर्जित किया है जिनके दौरान उसने अपने को अन्य पशुओं के धरातल से ऊपर उठाने की कोशिश की है। वह मानवता का लक्षण है[1]। हमें उसकी जरूरत दो कारणों से होती है। एक तो हमारे अपने मन इतने प्रबुद्ध नहीं होते कि वे यह समझ सकें कि सामाजिक जीवन के लिए सबसे अच्छा क्या है। दूसरे अगर इतनी बात समझ भी ली जाए तब भी हममें व्यक्तिगत रूप से सदा यह इच्छा या योग्यता नहीं होती कि हम सबसे अच्छा काम करें ही करें। अतः हमें विधि की जरूरत होती है, सबसे पहले इसलिए कि हमारी आत्माएँ अँधेरे में जिस श्रेय को टटोलती रहती हैं, विधि मानो उसी श्रेय को अलग करके हमारे सम्मुख साकार उपस्थित कर देती है। हमें जिस श्रेय की तलाश है, वह समाज का श्रेय है और चूंकि वह समाज का श्रेय होता है, अतः वह हमें समाज में एकता के सूत्र में बांधता है जिससे हम मिल-जुलकर उसे पाने का प्रयत्न कर सकें और जिस समाज की एकता का आधार समाज के श्रेय की खोज हो उसमें और केवल उसी में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का भी श्रेय पा सकता है। लोगों के लिए ये बातें समझ

---

[1] 937 E से तुलना कीजिए : "न्याय से ही मानव ने सभ्यता का पाठ पढ़ा है।"

लेना या यह समझ पाना कि समाज का श्रेय किसी एक व्यक्ति के श्रेय की पूर्ववर्त्ती शर्त्त है, कठिन है और यही कारण है कि विधान की जिस सच्ची कला का सभ्यता के निर्माण में औज़ारों और शिल्पों की अपेक्षा कहीं अधिक योग होता है, वह मानव-जीवन के लिए एक जरूरी चीज़ है। फिर, हमें विधि की और विधि के सरकारी तौर पर लागू किए जाने की इसलिए भी ज़रूरत होती है कि उससे हमारी शिथिल इच्छाओं को प्रेरणा मिल सके। अगर समाज के बल से समर्थित किसी समाज-मत का संगठन न हो तो लोग समाज-मत को बौद्धिक रूप से भले ही स्वीकार कर लें, पर उनकी प्रवृत्ति सदा ही यह होगी कि वे निजी स्वार्थ को अपना सिद्धांत बना लें और अपने निजी लाभ की ख़ातिर स्वार्थ-पूर्ण प्रतियोगिता में कूद पड़ें। सच तो यह है कि अगर ईश्वर की कृपा से किसी जाति में कोई ऐसा व्यक्ति उठ खड़ा हो जिसमें श्रेय को पहचानने की और अपनी ही गति से उसकी ओर बढ़ने की योग्यता हो, तो इस तरह के व्यक्ति को अपने मार्ग-दर्शन के लिए विधियों की ज़रूरत न होगी। ज्ञान से बढ़ कर न तो कोई विधि है और न आदेश ; और जो मन वास्तव में स्वतंत्र होता है, वह सदा ही प्रकृत्या स्वामी होता है, सेवक कभी नहीं। पर, यह तो स्वप्न है—मनुष्यों के बीच देवता का स्वप्न। इस तरह के मन का कहीं अस्तित्व नहीं है या अगर है भी तो बहुत कम ; और विधि और व्यवस्था की स्थिति द्वितीय सर्वश्रेष्ठ की स्थिति होती है तथा विधि में सामान्य प्रयोग के नियमों की उद्‌भावना भले ही रहती हो, पर वह (स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न की तरह) न तो प्रत्येक स्थिति का सामना कर सकती है और न प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति ही—यह मान कर हमें विधि और व्यवस्था का सहारा लेना चाहिए।

पर, अगर विधि स्वतंत्र मन नहीं, तो वह मन या विवेक की अभिव्यक्ति ज़रूर है और अगर वह प्रत्येक स्थिति का समाधान नहीं कर सकती, तो उसकी प्रायः सार्वभौम व्यापकता अवश्य है। प्लेटो ने एक से अधिक बार 'विधि' शब्द को 'मन' शब्द से जोड़ा है जिसका अर्थ यह है कि एक की व्युत्पत्ति दूसरे से हुई है और चूंकि उसके मतानुसार पद और पदार्थ में घनिष्ठ संबंध होता है, अतः व्युत्पत्ति का बड़ा महत्त्व होता है[1]। मनुष्य उन कठपुतलियों की तरह है जिन्हें कामना के अनेक सूत्र विरोधी दिशाओं में खींचते रहते हैं, "पर एक पवित्र और स्वर्ण-सूत्र विवेक का भी है जिसे राज्य की सार्वभौम विधि कहते हैं, जो हमें हमेशा थामे रहना चाहिए और कभी छोड़ना नहीं चाहिए" (644 E—645 D)। अतः, विवेक से अभिन्न होने के कारण विधि का प्रसार समूचे जीवन में होता है (631—2)। वह जन्म का विनियमन करती है, वह विवाह की व्यवस्था करती है, वह मृत्यु में भी शासन करती है क्योंकि मृतक का विधि के अनुसार ही अंतिम संस्कार किया जाना चाहिए। उसका संबंध जीवन की प्रत्येक वासना और भावना से होता है ; वह परिभाषाएँ प्रस्तुत करती है और जो

---

[1] तुलना कीजिए, 714 A, "विधि मन की नियामक है", और 957 C। वाचक पद और वाच्य पदार्थ के संबंध के बारे में प्लेटो की धारणा के लिए क्रेटिलस, 434 A से "वाक् और अर्थ अभिन्न हैं", और 635 से "नाम से परिचित नामियों से भी परिचित होता है", तुलना कीजिए।

सम्मान या असम्मान वह प्रदान करती है, उसके माध्यम से वह लोगों को अपनी उन परिभाषाओं का अनुसरण करने की शिक्षा देती है जिनमें बताया जाता है कि मानव-व्यवहार में पैदा होने वाली प्रत्येक भावना कैसी है—सही या ग़लत। और चूंकि उसके दायरे में संपूर्ण मानव-जीवन आ जाता है, चूंकि उसका संबंध मानव-प्रकृति की प्रत्येक मानसिक भावना से होता है, इसलिए उसका संबंध सारे भौतिक हितों से भी होता है। वह संपत्ति का विनियमन करती है और संपत्ति पर आधारित मानव-मानव के प्रत्येक संबंध का भी। कुछ मामले ऐसे भी होते हैं जिनके बारे में लिखित विधि का मूक रह जाना ही आवश्यक होता है (788 A—B)। ये छोटी-छोटी चीज़ें होती हैं, जो सदा प्रकट नहीं होतीं, और जिनका संबंध अंतरंग पारिवारिक जीवन से होता है। इन्हें अगर विधि के दायरे में ले आया जाए, तो इनसे लिखित विधि का ही नाश हो जाए क्योंकि ऐसी छोटी-छोटी चीज़ों में लोगों की सहज ही विधि का उल्लंघन करने की आदत पड़ जाती है। पर, यहाँ भी अलिखित रूढ़ि और प्रथा के रूप में विधि का स्थान हो सकता है (793)। रूढ़ि वह गारा है जिससे विधि की दरारें भरी जाती हैं, या उसकी तुलना मिस्त्री के पाए से की जा सकती है जो विधि की इमारत को सहारा देता है, जिससे उसकी पूर्त्ति होती है। अगर वह न हो, तो यह इमारत चटक उठे और ढह जाए। अगर विधिकार को सबसे अधिक सरोकार विधि से होगा तो वह रूढ़ियों, रीति-रिवाज़ों और स्वभावों की उपेक्षा नहीं कर सकता। विधि का उनके साथ और उनका विधि के साथ अभिन्न संबंध होता है, और "अगर ये छोटी-छोटी चीजें, जिन्हें सामान्य रूप से रूढ़ियाँ और आदतें कहा जाता है, लगातार आती रहें और हमारी विधियों का विस्तार करती चली जाएँ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं"। यह सही है कि बहुत कुछ उन अदालतों पर निर्भर होगा जो विधि को लागू करती हैं (876)। अगर किसी राज्य में अच्छी अदालतें हों, तो बहुत-कुछ उनकी समझ पर छोड़ा जा सकता है। पर जहाँ अदालतें बुरी हों—और यहाँ प्लेटो का स्पष्ट संकेत लोक-अदालतों की ओर है—जैसी कि एथेंस में थीं "वहाँ विधिकार को प्रायः प्रत्येक स्थिति में विधि का निश्चित निरूपण कर देना चाहिए"[1]।

विधि के उद्भव और निर्माण के बारे में भी प्लेटो के पास कहने के लिए बहुत कुछ है। समूचे संवाद में यह मान लिया गया है कि विधि का निर्माण विधिकार के हाथ में होता है। प्लेटो ने एक अवतरण में जहाँ पूर्ववर्त्ती समाजों के उत्थान का विवेचन किया है, वहाँ संकेत दिया है कि जब विभिन्न परिवारों ने मिल-जुल कर रहना आरंभ किया, तब उनकी रूढ़ियों के संघर्ष के कारण एक ऐसे विधिकार की जरूरत आ पड़ी जो विभिन्न रूढ़ियों की तुलना करके उनमें से सर्वश्रेष्ठ को चुन लेता ताकि उन्हें अंगीकार किया जा सके (681)। यह एक सच्ची बात है और बहुत से ऐतिहासिक दृष्टांतों से ज्ञात होता है कि जब विभिन्न रूढ़ियों को मानने वाले लोग एक ही इलाके

---

1. अदालतें दंड का निर्धारण किस प्रकार करती थीं—यहाँ प्लेटो मुख्य रूप से यही चर्चा कर रहा है।

में बस जाते हैं तब उनके वहाँ बसने से संहिता का निर्माण होता है[1]। एक और अवतरण में जब प्लेटो अपने उपनिवेश के निर्माण के लिए आवश्यक पूर्व-परिस्थितियों पर विचार कर रहा है तो उसे विधिकार की शक्ति के संबंध में संदेह हो जाता है (709)। शायद सच यह है कि मनुष्य कभी विधियाँ नहीं बनाता, हमारी सारी विधियों का निर्माण तो संयोग और प्रकृति के हाथों होता है। युद्ध के प्रभाव, आर्थिक परिस्थितियों का असर, महामारी, अकाल — लगता है ये ही हमारे विधिकार हैं। पर, प्लेटो का कहना है कि एक एक अन्य दृष्टिकोण भी है और वह अधिक सच्चा है। ईश्वर का सब चीज़ों पर शासन है। मानवीय कार्य-कलाप के क्षेत्र में संयोग और अवसर का सहयोग रहता है और कला का इस क्षेत्र तक में साथ रहता है। पर, अन्य सारी कलाओं की तरह, विधिकार की कला को भी संयोग और अवसर की ज़रूरत होती है जिसमें वह उन्मुक्त क्रीड़ा कर सके, उसे कुछ राजनीतिक शक्ति की ज़रूरत होती है जो उसकी रचना को तुरंत प्रभाव-मंडित कर सके और उसकी जड़ों को गहरे जमा सके। नैपोलियन की संहिता का पौधा एक ऐसी समाज-भूमि में रोपा गया था जिसे फ्रांस की क्रांति ने गहरा खोद डाला था ; नैपोलियन की शक्ति ने उसे आश्रय दिया। कुछ-कुछ इसी अर्थ में, और कुछ-कुछ इसी दृष्टिकोण से, प्लेटो चाहता है कि विधिकार का आविर्भाव उसी समय हो जब कि ऐसे तरुण निरंकुश शासक का आविर्भाव हो चुका हो जो अपनी शक्ति और अपने सजीव उदाहरण द्वारा कला का संयोग और अवसर के साथ यथोचित समन्वय स्थापित कर सके।

लॉज़ का एक मुख्य सिद्धांत यह है कि जब राज्य के लिए एक बार संहिता बन चुके तब उसमें विधि की प्रभुता रहे (712—15 E)। विधि-राज्य यूनान के वास्तविक राज्यों से उल्टा होगा। प्रभुतासंपन्न विधि का सेवक होने के नाते उसे अपनी शासन-व्यवस्था विधि के अनुरूप ढालनी होगी ; प्रभुतासंपन्न शासन-व्यवस्था का उपकरण होने के नाते विधि के अनुरूप नहीं। प्लेटो ने **रिपब्लिक**[2] में दो राज्यों के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, उसका स्मरण करते हुए उसने युक्ति प्रस्तुत की है कि सम-सामयिक राज्य राज्य नहीं हैं : "वे निवास के स्थान हैं जिनमें ऐसे नगर हो सकते हैं जो अपने ही एक भाग की प्रजा और दास हों और जिनमें हरेक का नाम उस भाग के स्वरूप के अनुसार रखा जाता है जो स्वामी हो"। उदाहरण के लिए, लोकतंत्र कोई राज्य नहीं ; वह तो दो भागों (संपन्न और लोक) में विभक्त जन-समूह है जिसमें से एक भाग दूसरे पर हावी होता है और अपने विशिष्ट नाम के आधार पर सामान्य समूह का नामकरण कर देता है। इसमें कोई संविधान नहीं होता, गिरोह होता है ; इसमें कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं केवल दल होता है। लोकतंत्र का अर्थ तो बस गुट का शासन है। गुट अपने को ही संपूर्ण समाज मानकर ऐसी हर चीज़ को विधि का रूप देने लगता है जिसे वह अपनी स्वार्थ सिद्धि में सहायक समझता हो। "उनका कहना है कि विधि को प्रतिष्ठित शासन के स्वार्थ की

---

[1] उदाहरण के लिए एल्फ्रेड की संहिता का संबंध इँगलैंड में डेन लोगों के बसने से है। जेंक्स के **लॉ एंड पॉलिटिक्स इन द मिडिल एजेज़**, पृ० 11 से तुलना कीजिए।

[2] तुलना कीजिए, **रिपब्लिक**, 422 E, 551 D।

सिद्धि करनी चाहिए, श्रेय की सिद्धि नहीं" । थ्रेसीमेकस का यही सिद्धांत है : "न्याय सबलतम का स्वार्थ है" ; या दूसरे शब्दों में, "विधि राज्य के प्रधान वर्ग का स्वार्थ है"। विधि-राज्य में हर चीज़ विरोधी क्रम से चलती है। सबसे पहले अनन्य और उच्चतम सत्ता के रूप में विधि की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और विधि की ही ख़ातिर शासन की रचना होनी चाहिए। पर, विधि सबके लिए एक और अनन्य होती है ; वह सबके हित में होती है और इसका अर्थ यह है कि जिस शासन की रचना विधि की ख़ातिर होती है, उसकी रचना सबकी ख़ातिर होती है। इसी आधार पर राज्य जीवित रह सकता है, फल-फूल सकता है और किसी भी आधार पर तो राज्य का क्षय होगा और उसके प्राण निकल जाएँगे। आगे चलकर प्लेटो ने कहा है कि अगर हम ऐसे राज्य को शक्ति के नाम से पुकारें, जिसकी उसमें प्रधानता हो, तो हम उसे ईश्वर के नाम से पुकारेंगे और उसे धर्मतंत्र कहेंगे क्योंकि उसमें जिस शक्ति की प्रधानता होती है वह है विवेक जो विधि में निहित होता है और विवेक ईश्वर की विभूति होता है[1]।

जिस प्लेटो का विधि की प्रभुता में विश्वास था, उसका विधि की अनम्यता में भी विश्वास होता। यह विश्वास था भी सहज-स्वाभाविक। शासक अपने कार्य जिस विधि के अनुरूप करें और प्रजा जिस विधि को अपने जीवन में प्रतिष्ठा दे, प्लेटो के मानस में उसी मूल विधि का चित्र है। यह यूनान का एक प्रचलित सिद्धांत था, पर प्लेटो ने लॉज़ में इस सिद्धांत को विस्तार दिया है। सच पूछा जाए तो प्लेटो ने स्वीकार किया है कि किसी चित्र की भाँति, उसकी विधि-संहिता में भी यहाँ-वहाँ संशोधन की ज़रूरत पड़ सकती है ; और उसने सुझाव दिया है कि विधि के संरक्षक उसके सेवक ही न रहें, जब ज़रूरत पड़े तब वे उसमें सुधार भी कर सकें पर शर्त्त यह है कि वे उसकी भावना के अनुसार कार्य करें। पर, ज़ाहिर है कि यह शक्ति उपनिवेश की स्थापना के कुछ साल बाद तक ही रहेगी ; और इस अवधि के बाद "कोई भी परिवर्त्तन न होंगे"। अगर, उस समय परिवर्त्तन हुए, तो तभी हो सकेंगे जब कि उनकी ज़रूरत समझी जाए और जब सब दंडनायक और सब लोग, सारी देववाणियों की स्वीकृति से, परिवर्त्तन करने के लिए तैयार हो जाएँ (769—73)[2]। हम देखेंगे कि

---

1. प्लेटो ने पॉलिटिकस के एक अवतरण की पुनरावृत्ति करते हुए धर्मतंत्र को क्रोनस के स्वर्ण-युग की शासन-प्रणाली बताया है। यह शासन-व्यवस्था पृथ्वी से लुप्त हो चुकी है, फिर भी हमें उसका अनुकरण करना चाहिए ; हमारे भीतर अमरत्व का जो भी अंश है, हमें उसके अनुरूप ही आचरण करना चाहिए और जिस विधि का मन या विवेक यानी हमारे व्यक्तित्व के अमर तथा दिव्य अंश के साथ अभेद हो हमें उसी विधि के अनुसार अपने नगरों का विनियमन करना चाहिए (713 E—714 A)।
2. यह स्पष्ट नहीं है कि प्लेटो यह उपबंध संपूर्ण विधि-संहिता के ऊपर लागू करना चाहता है या केवल नृत्य तथा बलि-विधियों के ऊपर ही (लॉज़, उसी स्थान पर, 772 B—C के संबंध में सी० रिटर की टीका देखिए, पृ० 170—1) बारहवें खंड में, जिसके बारे में हम कह आए हैं कि वह बाद में रचा गया प्रतीत होता है, कहा गया है कि नैश परिषद के सदस्य वे लोग होते थे जो विधियों का पर्यवेक्षण करते थे पर यह बात स्पष्ट नहीं है, हालांकि

अनम्य विधि के आग्रह की यह प्रवृत्ति शैक्षिक विधियों के क्षेत्र में अधिक मुखर है और प्लेटो ने एक से अधिक बार मिस्र की अचलता को अनुकरणीय आदर्श बताया है (656 D—E : 799 A—B)।

लॉज़ के अनेक अवतरणों में विधि की अनम्यता का संकेत मिलता है। पर प्लेटो के विधि-विवेचन का एक पहलू ऐसा है जिसके आधार पर हमें विधि की अनम्यता विषयक धारणा में काफी संशोधन करना पड़ेगा। प्लेटो द्वारा भूमिकाओं अथवा प्रस्तावनाओं की पैरवी में इस पहलू की अभिव्यक्ति हुई है (718 A—724 B)। विधिकर्त्ता अपनी विधियों को जो रूप दे, उसमें उसे उन सारी विधियों के पहले एक-एक प्रस्तावना रखनी चाहिए जिसमें एक ओर तो उन सिद्धांतों का विवेचन हो जिन पर वे विधियाँ टिकी हों और दूसरी ओर नागरिकों को यह समझाया जाए कि ये विधियाँ उन सिद्धांतों की युक्ति-युक्त परिणति हैं जिनमें वे विश्वास करते हैं, अतः उनका कर्त्तव्य है कि वे इन्हें शिरोधार्य करें। प्रस्तावनाओं की इस पैरवी के मूल में विविध कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि आत्म-नियंत्रण के जिस सिद्धांत से लॉज़ की तर्क-श्रृंखला को प्रेरणा मिली है, इन प्रस्तावनाओं को उसी सिद्धांत के निष्कर्षों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह सच है कि विधि विवेक की अभिव्यक्ति होती है और चूंकि विवेक प्रभुतासंपन्न होता है, अतः विधि को भी प्रभुता-संपन्न आदेश का रूप ग्रहण करना चाहिए। पर, विधि वह माध्यम भी है जिसके द्वारा आत्म-नियंत्रण के पूर्ण सद्गुण की सिद्धि होती है; और आत्म-नियंत्रण विवेक तथा बुभुक्षा का सामंजस्य होता है। प्रस्तावना का उद्देश्य इस तरह के सामंजस्य की सिद्धि करना है और आदेश के साथ अनुनय का संयोग करके बुभुक्षा को विवेक के अनुरूप बनाना है। इसके अलावा अनुनय-पुष्ट प्रस्तावना और आदेशात्मक विधि का समन्वय उस शासन-प्रणाली के अनुरूप होता है और उसके लिए राह तैयार कर देता है जिसकी प्लेटो ने पैरवी की है। राजनीतिक दृष्टि से मिश्रित संविधान उसके समानांतर है जिसमें लोकतंत्र के स्वतंत्रता-सिद्धांत और राजतंत्र के आदेश-सिद्धांत का समन्वय स्थापित हो जाता है। आज संसद में और सभा-मंचों पर मंत्रिमंडल को यह अवसर मिलता है कि वह किसी विधान-योजना की व्याख्या करे और उसका औचित्य सिद्ध करे। कुछ-कुछ इसी तरह के कार्यों की झलक हमें इन प्रस्तावनाओं में मिल जाती है जिनमें विधियों की व्याख्या की गई है और उनका औचित्य सिद्ध किया गया है। पर अगर, हम इन प्रस्तावनाओं को एक सेतु मान लें जिस पर होकर प्लेटो प्रशिक्षित दार्शनिक मन के शासन से विधि के शासन पर पहुँच आता है, तो हम प्लेटो के अपने मन के सबसे निकट पहुँच जाएँगे। विधि की मर्यादाओं से मुक्त रहने पर कोई आदर्श शासक जिन सिद्धांतों से प्रेरणा पाता, वे ही सिद्धांत इन प्रस्तावनाओं में निहित हैं, और यह शासक इन सिद्धांतों को विस्तार से जो व्यावहारिक रूप देता, विधि में यथाशक्ति उसी व्यावहारिक रूप की अभिव्यक्ति होती है। इन दोनों को एक साथ लिया जाए, तो वह व्यवस्था यथासंभव दार्शनिक राजतंत्र के सबसे अधिक निकट होगी। प्लेटो ने

ऐसी ध्वनि अवश्य है कि उसके पास संशोधन करने की शक्ति है (951 E—952 A ; 962 B से तुलना कीजिए)।

जिस चीज़ की पैरवी की है, वह कोरी विधि का शासन नहीं है, वह तो उस विधि का शासन है जो गौरव की एक लीक बनाती चली जाती है और जिसके द्वारा उस दार्शनिक स्रोत की याद ताज़ा हो आती है जहाँ से उसका उद्‌भव हुआ है। प्रस्तावना के माध्यम से प्लेटो विधि-राज्य स्वीकार करने को तैयार हो सकता है और हम कल्पना कर सकते हैं कि प्रस्तावना के बिना प्लेटो को विधि-राज्य असह्य और ऊसर-जैसा लगता और इस राज्य के प्रति उसकी दृष्टि में वही भाव होता—उससे अच्छा नहीं—जो धर्म-भावना से हीन प्राचीन विधि के प्रति सेंट पॉल की दृष्टि में निहित था।

प्रस्तावनाओं का विचार लॉज के किसी विशिष्ट अवतरण में नहीं है बल्कि वह समूची रचना में व्याप्त है और संवाद के कुछ सर्वश्रेष्ठ अवतरण प्रस्तावनाओं के रूप में हैं। जिस अवतरण में प्लेटो ने विधि की आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह अवतरण उसकी दंड-संहिता की एक शाखा की प्रस्तावना है। दसवें खंड की जिस उदात्त तर्क-शृंखला में उसने एक धार्मिक पंथ का निरूपण किया है वह उसकी अपधर्म-विधि की प्रस्तावना है। एक गंभीर और व्यावहारिक विचार है : हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने तरुण डायोनीसियस के साथ प्रस्तावनाओं का अध्ययन किया था और उसे स्पष्ट ही आशा थी कि विधान के रूप और शैली में यह परिवर्त्तन करके वह विधि के प्रति साधारण नागरिक के वास्तविक दृष्टिकोण में सचमुच परिवर्त्तन कर सकेगा। उसने प्रस्तावनाओं की जो पैरवी की है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि दार्शनिक के मन को इस बात की सदा पूरी-पक्की जानकारी होनी चाहिए कि अगर कभी निष्ठा का दावा या दायित्व का आग्रह किया जाए, तो उसका प्रयोजन क्या है। दार्शनिक का मन यह तर्क-वितर्क कर सकता है, "अगर लोगों को पता होता कि इन चीज़ों का उद्‌भव क्यों और कहाँ से हुआ है, तो वे महज़ परंपरा-पालन की खातिर उन्हें शिरोधार्य न करते और दायित्व को इसलिए हँसते-हँसते स्वीकार किया जाता कि उसके महत्त्व को समझा जाता"। शायद दार्शनिक का मन बड़ी जल्दी हर बात को सामा- न्य रूप में प्रस्तुत करने लगता है और जो, सत्य उसके अपने संदर्भ में ही सच्चा होता है, उसे वह साधारण लोगों के बारे में भी सच मान लेता है। प्लेटो का विश्वास है कि सूत्रबद्ध दर्शन लोगों के मन में आस्था की ज्योति जगा सकता है, पर जहाँ अविकल दर्शन अकसर ही निष्फल रहता हो, वहाँ क्या सूत्रबद्ध दर्शन सफल हो सकता है? साधारण मनुष्य नहीं चाहता कि दंड भोगने से पहले उसे उपदेश भी सुनना पड़े और उस पर विवेक तथा तर्क-वितर्क का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना प्लेटो (या ऐसे आन लिबर्टी में मिल) जैसे दार्शनिक ने समझ लिया है। एक और आपत्ति, जिसे विधि- वेत्ता उठा सकता है, यह है कि अगर दार्शनिक प्रस्तावनाएँ लिखी जाने लगें तो नैतिक दर्शन और न्याय-शास्त्र में अभेद करने की प्रवृत्ति हो सकती है और लगता है प्लेटो स्वयं कई बार इस तरह के भ्रम का शिकार हुआ है। पर, यह एक दिलचस्प बात है कि बेंथम जैसे कानूनी दिमाग का आदमी भी प्रस्तावनाओं का समर्थक था। जब उसने 1817 में अपनी ओर से संयुक्त राज्य अमरीका के लिए एक विधि-संहिता तैयार करने का प्रस्ताव किया था, तब उसने यह भी कहा था कि उस विधि-संहिता में "सामान्य उपयोगिता के सिद्धांतों पर आधारित…कारणों की एक सूची" जोड़ दी

जाए[1]। संयुक्त राज्य अमरीका ने बेंथम की यह बात सुनी-अनसुनी कर दी और दार्शनिक प्रस्तावनाओं से युक्त संहिता अब भी एक ऐसे स्वप्न के रूप में है जिसे साकार नहीं किया जा सका है।

लॉज़ में विधि की जो सामान्य धारणा व्यक्त हुई है, वह स्थूल रूप में यूनानी नगर-राज्यों के विचारों के अनुरूप है और इसीलिए अरिस्टाटल ने उसका काफ़ी हद तक अनुकरण किया है। यह धारणा हमारी धारणा से इसलिए अधिक व्यापक है कि इसमें विधि संपूर्ण नैतिक जीवन का नियमन करती है। प्लेटो ने नैतिकता और वैधिकता के बीच कोई भेद नहीं माना और अगर भेद माना भी है, तो बहुत कम। अगर विधि कुछ चीज़ों को अपने दायरे से बाहर रहने देती है, तो वे ऐसी तुच्छ चीज़ें ही होती हैं जिसके बारे में विधि बनाना बुद्धिहीनता का काम हो—इसलिए कि उनका पालन कराना असंभव हो। आज हम इस तरह का भेद मानते हैं और आधुनिक विश्व की विधि का कर्त्तव्य सिर्फ़ यह है कि वह अधिकारों और कर्त्तव्यों की एक ऐसी वैधिक योजना का निरूपण कर दे जिसके अंतर्गत स्वतंत्र नैतिक कर्म अपने आप हो सके[2]। प्लेटो की धारणा हमारी धारणा से अधिक व्यापक है—और इसीलिए एक तरह से वह उच्चतर भी है। इस धारणा के अनुसार विधि को शिक्षा के द्वारा और मन से मन को प्रभावित करके भी कार्यान्वित किया जाना चाहिए, केवल दंड और लौकिक शक्ति के द्वारा ही नहीं। प्लेटो और अरिस्टाटल के अनुसार विधि कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो व्यक्ति के ऊपर बाहर से प्रतिक्रिया करती हो, वह तो एक ऐसी भावना है जिसका अपना अंतरंग में अंतर्भाव करने का प्रशिक्षण व्यक्ति को मिलना चाहिए। शिक्षा का यही अभिप्राय है। विधि जिस सही विवेक की पुष्टि करती है, उसी सही विवेक की दिशा में तरुण-वर्ग को प्रवृत्त और प्रशिक्षित करने का नाम शिक्षा है (659 D)। इसी की वजह से लोग पूर्ण नागरिकता को स्पृहणीय मानते हैं, उसे प्यार करते हैं (643 E)। इसके कारण उचित आदतों के द्वारा तरुण व्यक्तियों की रागात्मक-वृत्तियों—हर्ष और मैत्री, घृणा और वेदना—को कुछ इस तरह का ठीक

---

[1] बोरिंग का संस्करण, **बेंथम्स वर्क्स**, IV. 491—4 देखिए। जेरमी बेंथम नामक एक अंग्रेज ने संयुक्त राज्य अमरीका के नागरिकों के नाम जो पत्र लिखे थे, उनमें से पाँचवें पत्र में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है। पत्र का शीर्षक है 'किसी विधि-संहिता के संदर्भ में न्यायानुकूलता पर विचार' (**ऑफ जस्टीफाइडनेस एज़ एप्लाइड टु ए बॉडी ऑफ लॉ**)। उसका मुख्य तर्क है : "विधि-विषय की संपूर्ण राशि का विस्तार उसी सीमा तक होता है, जिस सीमा तक उसकी संगति और सहायता के लिए उसके साथ संलग्न अनुरूप कारणों के कथन का ; इसके अतिरिक्त न वह कुछ हो सकती है और न उसे कुछ होना चाहिए"। लॉज़ के अध्येता के लिए इस संपूर्ण तर्क-शृंखला का अध्ययन उपयोगी होगा।

[2] बेंथम का एक ऐसी नैतिक संहिता के निर्माण का विचार था जो विधि-संहिता से भिन्न होते हुए भी उसकी पूरक होती। वह इस तरह की संहिता के अध्ययन को कर्त्तव्यशास्त्र कहता था (तुलना कीजिए, ग्राहम, **इँगलिश पॉलिटिकल फिलॉसफी**, पृ० 277 और क्रमशः)।

अभ्यास पड़ जाता है कि विवेक का आविर्भाव होने पर इन व्यक्तियों के मन उसके संगीत से मंत्रमुग्ध हो जाते हैं ; इतने मंत्रमुग्ध कि वे स्वभाव तथा विवेक दोनों की प्रेरणा से उस चीज़ से तो प्रेम करने लगते हैं जिससे उन्हें प्रेम करना चाहिए और स्वभाव तथा विवेक दोनों की प्रेरणा से उस चीज़ से घृणा करने लगते हैं जिससे उन्हें घृणा करनी चाहिए (653 B—C)। अभ्यस्तता का यही वह सिद्धांत है जिसकी अरिस्टाटल ने एथिक्स में शिक्षा दी है। प्लेटो ने लॉज़ में जिस शिक्षा-प्रणाली की इमारत खड़ी की है, उसकी नींव भी यही है। लॉज़ ने दुनिया को दो चीज़ें दीं और उसने भावी पीढ़ियों पर दो असर डाले। इनमें से एक चीज़ विधि-संहिता है और इस संहिता ने जो असर डाला, वह हेलेनी जगत् की विधि में और उसके माध्यम से रोम की विधि में गहरा समा गया। दूसरी चीज़ शिक्षा-क्रम है जो रिपब्लिक के शिक्षा-क्रम की तरह विश्वविद्यालय के लिए नहीं है, बल्कि माध्यमिक विद्यालय के लिए है और इस शिक्षा-क्रम का जो असर पड़ा है, वह भी शायद कम सुदूरव्यापी नहीं है।

(ङ) इतिहास के सबक

इन सिद्धांतों के आधार पर राज्य की रचना करने से पहले प्लेटो ने अतीत की ओर नज़र दौड़ाई है और लॉज़ के तीसरे खंड में इस बात पर विचार किया है कि इतिहास हमें क्या सबक देता है। प्लेटो ने इतिहास की जो यह दुहाई दी है उससे यह संकेत मिलता है कि लॉज़ की प्रकृति यथार्थपरक अधिक है। यह उस तार्किक पद्धति के विरुद्ध है जिसके आधार पर रिपब्लिक की रचना हुई है। इसके साथ ही यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि प्लेटो ने इतिहास का अपने ख़ास अंदाज़ में उपयोग किया है और उसने यूनान के अतीत का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें तथा यूनान के वास्तविक ऐतिहासिक घटना-प्रवाह में कोई साम्य ढूँढ निकालना असंभव है। प्लेटो ने अपने तर्क की पुष्टि में जैसे पुराकथाओं का उपयोग किया है, वैसे ही इतिहास का भी किया है और जहाँ वास्तविक इतिहास से उसके तर्क की पुष्टि नहीं हो सकी है, वहाँ उसने इतिहास में कल्पना का पुट दे दिया है और इसके फलस्वरूप तथ्यों में मनमाने परिवर्त्तन और परिवर्धन किए हैं[1]। रिपब्लिक से उसका जो भेद है, वह वास्तविक कम है, आभासी अधिक; और लॉज़ का आधार प्लेटोयी दर्शन है भले ही उसे प्लेटोयी इतिहास के छद्म के रूप में व्यक्त किया गया हो।

प्लेटो का इतिहास-विवरण प्रलय के बाद से आरंभ हुआ है। इसका संबंध मानव-गतिविधियों के उस चक्र से है जिसमें लोग इस समय रह रहे हैं[2]। जो लोग मौत

---

[1] इतिहास का इस ढँग से स्वतंत्र प्रयोग अकेले प्लेटो ने ही नहीं किया है। एटिक वक्ता इतिहास की दुहाई तो देते हैं किंतु ऐतिहासिक तथ्य का कोई विशेष सम्मान नहीं करते। हमें याद रखना होगा कि यूनानी शिक्षा-क्रम में इतिहास-विषय का समावेश न था और ई० पू० पाँचवीं सदी से पहले यूनान का इतिहास परिवर्त्तनशील जनश्रुति पर आधारित था और इसका निर्माण पुराकथाओं और आख्यानों के संयोग से हुआ था।

[2] जिस प्रलय का यूनानी और हिब्रू (या बेबिलोनियाई) परंपरा में उल्लेख मिलता है, प्लेटो ने क्रिटिआस और टिमाएस में उनकी चर्चा भी की है। पॉलिटिकस में चक्रों की चर्चा भी की गई है, भले ही उनका स्पष्टीकरण भिन्न रीति से किया

के मुंह से बच रहे थे, वे पहाड़ों की उन चोटियों पर जाकर रहने लगे जिनकी शरण
में आदिम मानव सहज ही प्राणरक्षा के लिए पहुँचता था। उनके जीवन का आधार
रिपब्लिक के शूकर-नगर की तरह का एक पल्लि राज्य (pastoral state) था : सभ्य
जीवन में जो कुछ अच्छा है उसके, और साथ ही जो कुछ बुरा है उसके, अधिकांश का
उन्हें ज्ञान न था और हालाँकि वे पूर्ण न थे, फिर भी गरीबी और अमीरी दोनों के न
होने से और अपने दिलों की सादगी के कारण वे भाग्यशाली थे। इस चित्र में ऐसा
लगता है मानो स्वर्णिम 'प्राकृतिक अवस्था' के स्वप्न और सभ्य तथा राजनीतिक
जीवन के तथ्यों में प्रभुता की होड़ लगी है और प्लेटो इस असमंजस में हो कि किसे
पसंद करे[1]। पर प्लेटो ने स्वीकार किया है कि लोग इस पार्वत्य स्वर्ग से संतुष्ट नहीं
हो सके। वे पर्वतों की चोटियों से उतर कर नीचे मैदानों में आ गए : पशु-चारण
छोड़ कर उन्होंने कृषि की ओर ध्यान दिया । पर्वतों की चोटियों पर वे पितृसत्तात्मक
परिवारों (patriarchal families) में रह रहे थे (680 E) : कृषि-जीवन में जिस
घनिष्ठतर समाज की ज़रूरत पड़ती थी, उसके कारण इन परिवारों में संपर्क स्थापित
हुआ। पता लगा कि एक पितृसत्तात्मक परिवार की प्रथाएँ-परंपराएँ एक-दूसरे से
अभिन्न नहीं : अतः सर्वश्रेष्ठ प्रथाएँ-परंपराएँ चुनने के लिए एक विधिकर्त्ता की
नियुक्ति की गई और इन चुनी हुई विधियों की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए परि-
वारों के मुखियाओं ने अपने आपको एक शासन के रूप में ढाल लिया। प्लेटो ने पितृसत्ता-
त्मक परिवार पर ज़ोर दिया है और विधि को रूढ़ियों का संकलन बताया है—और
उसकी ये दोनों बातें इतिहास-समर्थित हैं। कबीली समाज का विवेचन करने के बाद
वह नगर-समाज की ओर मुड़ा। तीसरे युग की मुख्य घटना है पर्वतों से दूर, मैदान में
ट्रॉय का निर्माण। ट्रॉय का नाम लेते ही उसके घेरे की याद हो आती है, उसके घेरे
का नाम लेते ही वीरयुग के यूनान की याद हो आती है और इस तरह हम बढ़ते-बढ़ते
चौथे और अंतिम युग में पहुँच जाते हैं जो तीन डोरिस राज्यों—स्पार्टा, आर्गस और
मेसेने—का युग है। इन तीनों राज्यों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के उपरांत
प्लेटो यह निश्चय करने का प्रयत्न करता है कि, "कौन सा राज्य सुव्यवस्थित है और
कौन सा दुर्व्यवस्थित, किन विधियों से राज्य का उत्कर्ष होता है और किन से अपकर्ष;
और किन परिवर्त्तनों से राज्य सुखी हो सकेगा" (683 B) ; और इस तरह पेलोपो-
नीज़ राज्यों के आरंभिक इतिहास के विवेचन के आधार पर उसने विधि-शासन और
मिश्रित संविधान के अपने सिद्धांत का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।

तीनों डोरियाई राज्यों में राजा और प्रजा ने उन देशविधियों के अनुसार
शपथें लीं जो शासक-शासितों दोनों पर समान रूप से लागू होती थीं। राजा ने तो
शपथ ली कि वह अपने शासन को कभी अधिक मनमाना शासन न बनने देगा; प्रजा

गया हो। "असीम अतीत तथा महान् काल-चक्रों के जिस विचार से प्लेटो की
कल्पना अभिभूत थी, वह विचार पायथागोरसवादियों से ग्रहण न भी किया
गया हो, तो कम से कम इतना तो है ही कि उनमें और प्लेटो में वह समान
रूप से पाया जाता था" (कैम्पबेल, पॉलिटिक्स की प्रस्तावना, पृ० XXII)।

[1] पीछे पृ० 249 पर पा० टि० 1 से तुलना कीजिए।

ने शपथ ली कि जब तक राजा अपनी शपथ निभाएगा तब तक वह राजतंत्र का तख्ता नहीं पलटेगी[1]। प्रत्येक राज्य के राजा और प्रजा की दूसरे दोनों राज्यों के राजाओं और प्रजाओं के साथ निश्चित मैत्री-संधि और सद्भावना थी। जब भी किसी दूसरे राज्य के राजा और प्रजा पर अन्याय होता, तब प्रत्येक राजा को उनकी मदद के लिए तैयार रहना था। इसी तरह संकट-काल में प्रत्येक राज्य की प्रजा को भी दूसरे राज्य के राजा और प्रजा की सहायता के लिए प्रस्तुत रहना था। अस्तु, एक अर्थ में प्रत्येक राज्य मिश्रित राज्य था : प्रत्येक राज्य में राजतंत्रीय शक्ति और लोक-अधिकार का समन्वय था : लगता है प्रत्येक राज्य में इस व्यवस्था की स्थिरता शेष राज्यों की सहायता के आधार पर निश्चित थी। इसके साथ ही प्रत्येक राज्य में विधिकर्त्ता के कार्य-कलाप के लिए उन्मुक्त क्षेत्र था। जिन क्षेत्रों में इस समय तीनों राजा और उनकी प्रजा रह रहे थे, उनमें उन्होंने हाल ही में प्रवेश किया था। और यहाँ विधिकर्त्ता के काम में रुकावट डालने के लिए न तो कोई निहित स्वार्थ थे, न परंपरागत पक्षपात (684)। पर, दो डोरिस-राज्यों के विधिकर्त्ता, इन प्रतिज्ञाओं, इस मैत्री-संधि और

---

[1] यहाँ प्लेटो ने सामाजिक संविदा की—या अगर और सही शब्दों का प्रयोग किया जाए तो शासन-संविदा की—पूर्वकल्पना की है। सच कहा जाए तो सामाजिक संविदा हरेक व्यक्ति का और सब व्यक्तियों के साथ संविदा है और उसके फलस्वरूप राजनीतिक समाज के अर्थ में राज्य की स्थापना होती है। शासन-संविदा इस तरह के समाज के साथ राजा या दंडनायक की संविदा है और इसके परिणामस्वरूप शासन के अर्थ में राज्य की स्थापना होती है। प्लेटो ने इस बाद वाले संविदा के बारे में लिखा है। प्लेटो जो कुछ कह रहा है, उसके उदाहरणस्वरूप वह शब्दावली प्रस्तुत की जा सकती है जिसके बारे में समझा जाता है कि एरागन के वैरनों ने अपने राजा के राज्याभिषेक के समय उसका उपयोग किया था : "हम लोग, जो इतने ही अच्छे हैं जितने कि आप, इस शर्त्त पर आपको अपना राजा और अधिपति चुनते हैं कि आप हमारे नियमों और विशेषाधिकारों का पालन करें : अगर आप ऐसा नहीं करेंगे तो हम भी आपको नहीं चुनेंगे"। एरागन में ही, नहीं, मध्ययुग के सभी नरेशों के राज्याभिषेकों के समय राजा और प्रजा एक दूसरे से प्रतिज्ञा किया करते थे : राजा तो अभिषेक के समय की प्रतिज्ञा प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में करता था और प्रजा स्वामिभक्ति की ; और राजा-प्रजा की एक-दूसरे के प्रति की गई यह प्रतिज्ञा उनके पारस्परिक समझौता सिद्धांत का एक आधार थी। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने क्रिटो में प्रत्येक नागरिक और नगर-विधियों के बीच संविदा की चर्चा की है और प्रोटेगोरस में उसने सही मानों में सामाजिक संविदा जैसी चीज़ की ओर संकेत किया है या प्रोटेगोरस से वैसा संकेत कराया है। क्रिटिआस में—इस रोमानी खंड-रचना के एक सबसे रोमानी अवतरण (119 C—120 D) में—एटलांटिस के दस राजाओं के एक राज्य-संघ का वर्णन है जो लॉज के तीन डोरिस राज्यों के राज्यसंघ के वर्णन से भिन्न नहीं है। पर, क्रिटिआस में प्रजा के योगदान का कोई उल्लेख नहीं है ; दसों राजा अपनी प्रजाओं के साथ किए गए किसी करार से नहीं बँधे, वे तो सीडन देवता की 'रचनाओं' से बँधे हैं ; और उसमें यह तो कहा गया है कि अगर उनमें से किसी एक की सत्ता को खतरा पैदा हो, तो सब एक दूसरे की मदद करेंगे ; पर उसमें यह कहीं नहीं कहा गया कि अगर लोगों की स्वतंत्रता संकट में पड़ जाए, तो वे भी एक-दूसरे की सहायता करेंगे।

इस उन्मुक्त कर्मक्षेत्र के बावजूद सफलता नहीं पा सके। मैत्री-संधि मैत्री-संधि सिद्ध नहीं हुई और उसके विनाश का कारण था राजशक्ति का अमिश्र स्वरूप, जिसे शपथ द्वारा मर्यादित तो किया गया था, पर जो किसी अन्य सत्ता द्वारा प्रतिबद्ध या संतुलित न थी ; और जिसके कारण प्रत्येक शासक अपनी मनमानी करने के लिए उत्सुक रहता था तथा शेष शासकों के साथ सहयोग करने से जी चुराता था। आर्गस और मेसेने के राजाओं ने अपने मित्रों, अपनी-अपनी प्रजा और अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति विश्वासघात किया। उन्होंने अपनी-अपनी प्रजा के अधिकारों का उल्लंघन किया ; अपनी प्रतिज्ञाएँ तोड़ीं ; विधियों को भंग किया। सारी गलती विधिकर्त्ताओं की थी। हो सकता है उन्होंने एकमात्र साहस सद्‌गुण को ध्यान में रखकर युद्ध की ख़ातिर विधियाँ बनाई हों : आत्म-नियंत्रण के सर्वोच्च सद्‌गुण को ध्यान में रखकर उन्होंने शांति की ख़ातिर विधियाँ नहीं बनाई थीं। आत्म-नियंत्रण से वंचित होने के कारण आर्गस और मेसेने के राजा बुद्धि से भी वंचित हो गए क्योंकि बुद्धि आत्म-नियंत्रण के बिना नहीं टिक सकती और बुद्धि से वंचित होकर उन्होंने उन राज्यों को ही नष्ट कर दिया जो उन्हें सौंपे गए थे। विधिकर्त्ता की एक और भूल यह थी कि उसने सारी शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में केंद्रित कर दी थी। जब माध्य का त्याग किया जाता है और कोई चीज़ जितना सहन कर सकती है उस पर उससे अधिक बोझ रख दिया जाता है, तब इसके परिणाम स्वरूप वह चीज़ टूट जाती है जैसे ज्यादा बड़ी बादबान होने पर जहाज़ लड़खड़ाने लगता है, अधिक मांस सेवन करने पर शरीर निकम्मा हो जाता है और अधिक प्रभुता पाने पर मन बौरा उठता है (691 C)। आर्गस और मेसेने तो नष्ट हो गए, पर स्पार्टा बचा रहा क्योंकि उसने इस नियम का पालन किया था। आर्गस और मेसेने की विधियों की तरह उसकी विधियों में भी दोष थे, पर उसका राजतंत्र कभी निरंकुश न रहा था। उस पर आरंभ से ही दुहरे राजतंत्र का अंकुश लगा हुआ था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सीनेट और एफर्स की समवर्त्ती सत्ताओं के उत्कर्ष से उसका संतुलन बना रहा। इसलिए, अगर इतिहास कोई सबक सिखा सकता है तो वह यह कि जहाँ अमिश्र संविधान असफल हो जाए, वहाँ मिश्रित और संतुलित संविधान सफल हो सकता है। तीनों डोरिस-राज्यों के विभिन्न नियति-चक्रों से यही शिक्षा ग्रहण की जा सकती है ; और जो विधिकर्त्ता चाहता है कि मेरे राज्य में स्थिरता बनी रहे, उसे स्पार्टा के आदर्श का अनुसरण करना चाहिए।

परंतु पेलोपोनेशियाई राज्यों के अलावा और राज्य भी हैं जिन पर विचार किया जा सकता है और अध्ययन के लिए डोरिस-प्रव्रजन तथा उसके परिणाम की तुलना में अधिक अर्वाचीन इतिहास भी है। फ़ारस निरपेक्ष राजतंत्र का नमूना है और एथेंस लोकप्रिय स्वशासन का। ये दो आदिम राज्य हैं, मूल राज्य हैं, शेष सारे राज्य उनके ही भेद हैं ; पर जब तक एक राज्य का दूसरे राज्य से मिश्रण नहीं होता, तब तक उनमें से कोई भी पूर्ण नहीं होता (693—701 C)। प्राचीन यूनान के इतिहास की दृष्टि से तो शुद्ध और अमिश्र राजतंत्र निदंनीय था ही, सम-सामयिक फ़ारस के उदाहरण से वह प्लेटो की आँखों में और भी निंद्य हो गया है। फ़ारस के इतिहास से पहले साइरस के शासन-काल में और फिर डेरियस के शासन काल में एक ऐसा समय अवश्य आया था जब एक ओर तो लोगों को आज़ादी मिली हुई थी और दूसरी ओर

राजा भी वहुत बुद्धिमान था। राजा इतना समझदार था कि अगर उसकी प्रजा का कोई व्यक्ति उसे बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्श दे सकता था, तो वह उससे सलाह ले लिया करता था। पर, जिस बुद्धिमत्ता के आधार पर राजा अपने पद के अधिकारी बने रहते हैं, फ़ारस के राजाओं में वह गुण बहुत समय तक विद्यमान नहीं रहा। फ़ारस-राजतंत्र के दोनों महान् संस्थापकों के बाद उनकी गद्दी पर जो उत्तराधिकारी बैठे, वे राजसी वातावरण में पनपे-बढ़े थे और उन्होंने आत्म-नियंत्रण का पाठ कभी नहीं पढ़ा था। वे शासक बुद्धिहीन थे क्योंकि उनमें वह गुण न था जो बुद्धि का सोपान होता है। बुद्धिहीन होने के कारण उन्होंने अपनी प्रजा की भलाई के लिए नहीं बल्कि अपनी तृष्णा-पूर्ति के लिए शासन किया; और इस ढँग से शासन करते हुए उन्होंने अपने राज्य को स्वतंत्रता से भी वंचित कर दिया और एकता के सूत्र से भी। फ़ारस के शासकों में बुद्धिमत्ता न थी, उसकी प्रजा स्वतंत्र न थी, स्वयं उसमें एकता न थी और इस तरह फ़ारस में वे तीनों चीज़ें न थीं जिनसे सच्चे राज्य का निर्माण होता है (पीछे खंड ख); उसके शासकों में आत्म-नियंत्रण का अभाव था और यही एकमात्र ऐसी चीज़ है जो अपने आप में कभी राजनीतिक शक्ति का आधार वन सकती है। पर, प्लेटो की व्याख्या के अनुसार एथेंस के इतिहास से सिद्ध हो जाता है कि निरपेक्ष राजतंत्र की तरह शुद्ध और अमिश्र लोकतंत्र भी निंद्य है। सच तो यह है कि एथेंस में भी एक समय ऐसा था जबकि सबसे प्रबल तत्त्व का विभिन्न प्रकार के अन्य तत्त्वों से मिश्रण हो गया था और समझा जाता था कि लोगों की स्वतंत्रता का विधि का सादर पालन करने की भावना और उस सामाजिक वर्ग-व्यवस्था के साथ निर्वाह हो सकता है जो संपत्ति की योग्यता पर आधारित हो और जिसमें अनेक स्तर हों। ये उस प्राचीन संविधान के दिन थे जिसके अधीन संकट की वेला में एथेंस एकता की सजीव अनुकृति बन गया था और उसने फ़ारस की शक्ति से लोहा लिया था और उसे पराजित किया था। किंतु, यहाँ भी भ्रष्टाचार पैदा हो गया; और फ़ारस के राजतंत्र की भाँति एथेंस का राजतंत्र भी आत्म-नियंत्रण से तथा उन गुणों से जो आत्म-नियंत्रण से ही मिल सकते हैं, वंचित हो गया। कला के ऊपर नियम का कोई अंकुश न रह गया। कवियों ने उसके नियमों का उल्लंघन करके नए-नए ग्राम्य तत्त्वों का समावेश किया और दुहाई दी कि कला की सच्ची कसौटी कला से मिलने वाला सुख है। लोगों को इस तरह जो पाठ पढ़ाए गए, उन्होंने तत्परता से उन्हें याद कर लिया[1] और पुष्टि की कि कला की

---

[1] यहाँ प्लेटो मानो यह कह रहा है कि एथेनी लोकतंत्र का नाश यूरीपिडीज़ ने किया था, साक्रेटीज़ ने नहीं। प्लेटो का यह आग्रह कि कला की विकृति राजनीतिक पतन का कारण है, उसके शिक्षा-विषयक दृष्टिकोण पर आधारित है जिसके द्वारा नागरिकों में विधिनिष्ठा आती है और राज्यों में स्थिरता। शिक्षा का महान् साधन है संगीत—अपने व्यापकतम अर्थ में—जिसमें काव्य और कला दोनों का समावेश हो जाता है। यदि संगीत निश्चित नियमों के अनुकूल रहे और ये निश्चित नियम विधियों के प्राणतत्त्व के अनुकूल रहें, तो शिक्षा अपना काम कर सकती है। यदि संगीत के क्षेत्र में स्वच्छंदता आ गई, तो शिक्षा का कार्य रुक जाएगा और विधि का आध्यात्मिक आधार नष्ट हो जाएगा।

सच्ची कसौटी यही है कि कला से उन्हें क्या सुख मिलता है[1]। वे संगीत और नाटक के निर्णायक बन बैठे; उन्होंने कला के नियमों को तो एक किनारे रख दिया और एक कोलाहलमय रंगतंत्र (theatrocracy) की स्थापना की जिसके अंतर्गत उनकी कृपा या अकृपा ही एकमात्र नियम बन गई[2]। अब लोगों के लिए यह कदम उठाना बहुत आसान हो गया कि वे राजनीतिक सत्ता का और सामाजिक जीवन के नियमों का तिरस्कार कर दें और एक ऐसे चरम लोकतंत्र की स्थापना करें जिसमें लोकेच्छा ही सही और गलत की एकमात्र कसौटी हो जाए, तथा विधि के बजाए लोक-सुख की प्रभुता स्थापित हो जाए। जैसे ही विधि की प्रभुता का लोप हुआ, वैसे ही शपथ-वचन और गंभीर दायित्व के प्रति सम्मान का और परमात्मा के प्रति संपूर्ण विश्वास का लोप हो गया और प्राचीन काल के टाइटनों की तरह लोगों ने सर्वोच्च परम सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का शंख फूंक दिया[3]।

इन गंभीर भर्त्सनाओं के बावजूद प्लेटो ने स्वीकार किया है कि अगर राजतंत्र और लोकतंत्र दोनों में अलग-अलग दोषों की कीचड़ है, तो इस कीचड़ में गुणों के कुछ कमल भी खिले हुए हैं। लोकतंत्र का वरदान है स्वतंत्रता; और उसका अभिशाप है अज्ञान जो ज्ञान होने का दंभ भरता है। राजतंत्र में स्वतंत्रता को नष्ट करने की प्रवृत्ति हो सकती है पर उसमें बुद्धिमत्ता के शासन की ओर संकेत होता है—भले ही

---

1. "इस बात में तो मुझे भी बहुतों के साथ सहमत होना पड़ेगा कि संगीत को उससे मिलने वाले सुख के आधार पर परखा जाना चाहिए। पर यह सुख हर किसी का सुख नहीं हो सकता। सबसे सुंदर कला वह है जिससे सबसे अच्छे और सबसे शिक्षित व्यक्ति को सुख मिले" (659 A)।
2. किसी ने कहा है कि "एथेंस का श्रोतावर्ग बड़ा सावधान और प्रदर्शन-प्रिय था"। किंतु, महान डायोनीशिया में प्रतियोगिता में आए हुए नाटकों का निर्णय करने और उन्हें पुरस्कार देने का काम दस न्यायाधीशों के हाथों में था। ये न्यायाधीश पर्ची के आधार पर लोगों की उस सूची में से चुने जाते थे जो परिषद् तथा नाटकों के वृंद गायकों द्वारा तैयार की जाती थी, पर प्लेटो का कहना है कि इस प्रकार के न्यायाधीश जनरव से बाध्य होकर श्रोतावर्ग के आदेशानुसार निर्णय कर सकते थे (659 B)।

   प्लेटो ने 'रंगतंत्र' की जो आलोचना की है, अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स, III. II, §3 (1281, b 7—10) में उस पर विचार किया है और उसे अस्वीकार कर दिया है—"(कुछ लोगों की तुलना में) बहुत से लोग संगीत तथा काव्य-कृतियों के ज्यादा अच्छे निर्णायक हुआ करते हैं। कोई किसी एक पहलू को परख सकता है और कोई किसी दूसरे को। सब लोग मिल कर सारे पहलुओं को परख लेते हैं"। प्लेटो ने रंगतंत्र की निंदा की है और लोकतंत्र की भी जिसमें उसकी परिणति होती है, पर अरिस्टाटल ने दोनों में सत्य का अंश पाने की कोशिश की है (पीछे अध्याय 10 ग से तुलना कीजिए)।
3. लोकतंत्र के मूलवर्त्ती स्वतंत्रता-सिद्धांत को राज्य के संविधान में स्थान मिलना चाहिए—यह बात प्लेटो ने रिपब्लिक में स्वीकार न की थी; लॉज में स्वीकार की है। पर, इस अवतरण में चरम लोकतंत्र का चित्र उतना ही काला है जितना वह रिपब्लिक के आठवें खंड में है (पीछे अध्याय 11—ङ से तुलना कीजिए)।

व्यवहार में उसका सदा यह अर्थ न होता हो। आप इन दोनों गुणों में समन्वय स्थापित कीजिए—ऐसी व्यवस्था कीजिए कि शासक बुद्धिमान हो और शासित को स्वतंत्रता का आश्वासन ; और तब आप देखेंगे कि भाई-चारे की भावना अपने आप ही पैदा जाएगी। पर, स्वतंत्रता, बुद्धिमत्ता और भ्रातृत्व—ये तीनों चीज़ें हैं जिन्हें पाने का राज्य को प्रयास करना चाहिए और अगर राजतंत्र और लोकतंत्र के समन्वय में वे मिल जाती हैं, तो राज्य के उसी रूप के लिए प्रयास करना चाहिए और, इस तरह प्लेटो ने नरेशों को दार्शनिक बनाने और लोगों का तिरस्कार या उपेक्षा करने की जगह, राजतंत्र का लोक-शासन के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। व्यावहारिक राजमर्मज्ञ अक्सर ऐसा प्रयास करते रहे हैं। अपने अनुभव के आलोक में हम सुगमता से कह सकते हैं कि इस तरह के समन्वय का सबसे अच्छा रूप ऐसे संविधानी राजतंत्र में उपलब्ध होता है जो प्रतिनिधि सभा द्वारा मर्यादित हो। पर, प्लेटो में अँग्रेज़ी संविधान के सैद्धांतिक रूप की झलक भले ही मिल जाए, अँग्रेज़ी संविधान के व्यावहारिक रूप की झलक नहीं मिल सकती—इसकी आशा ही नहीं की जा सकती। उसके सामने न तो ऐसे राजा की आधुनिक धारणा ही थी जो शासन का वास्तविक संचालन न करके ही अपनी प्रजा की निष्ठा मात्र से संतुष्ट रहे—यह तो सामंती युग की विरासत है—और न उसके सम्मुख यह आधुनिक विचार ही था कि प्रतिनिधित्व के परोक्ष साधन के द्वारा लोक-अधिकारों की रक्षा सबसे अच्छी तरह की जा सकती है। फलतः, प्लेटो का समाधान कुछ-कुछ संयत अल्पतंत्र (moderate Qligarchy) के रूप में प्रकट हुआ है जिसमें अनेक दंडनायकों के बीच विभाजित होने के कारण राजतंत्र की शक्ति क्षीण हो गई है और लोकतंत्र का अर्थ एक प्राथमिक सभा के इन दंडनायकों को निर्वाचित करने के अधिकार से अधिक और कुछ भी नहीं रहा है।

परंतु प्लेटो का स्वतंत्रता-सिद्धांत को स्वीकार करना—चाहे उसने यह सीमित रूप में ही किया हो—और यह मानना कि अंततः ज्ञान के समान सहमति भी शासन का आधार है, उसके चिंतन के विकास का एक नया चरण है। अब वह वैसा निरपेक्षतावादी नहीं रहा जैसा कि रिपब्लिक की रचना करते समय था ; और पॉलिटिकस की रचना करते समय उसका जो दृष्टिकोण था वह भी अब बदल गया है। रिपब्लिक में उसने सहमति के सिद्धांत पर न तो विचार किया था और न उसका उल्लेख ही ; पॉलिटिकस में उसने आग्रह किया था कि विधि-शासन की तरह सहमति की आवश्यकता भी 'राजमर्मज्ञ' की स्वतंत्रता के ऊपर अनावश्यक प्रतिबंध है[1]। लॉज़ में उसे प्रजा के जीवन-स्वातंत्र्य की अधिक चिंता है, शासक के कर्म-स्वातंत्र्य की कम। विधि-शासन स्वीकार करते समय अनुनयात्मक प्रस्तावनाओं के रूप में उसने जैसे सहमति-सिद्धांत के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है, वैसे ही मिश्रित संविधान स्वीकार करते समय उसने सहमति-सिद्धांत को प्रशासन के आधार के रूप में ग्रहण किया है। न्याय के जिस सद्गुण या क्षमता और कार्य के जिस पृथक्करण पर

---

[1] पीछे अध्याय 12—घ से तुलना कीजिए जहाँ कहा गया है कि सहमति-सिद्धांत के संबंध में पॉलिटिकस का विचार बिल्कुल स्पष्ट नहीं है।

रिपब्लिक आधारित है, उसका तर्कसम्मत परिणाम है निरपेक्ष शासन । इसी तरह, आत्म-संयम के जिस सद्गुण या विवेक और बुभुक्षा के जिस समन्वय पर लॉज़ आधारित है, उसका तर्कसम्मत परिणाम है यह सहमति-सिद्धांत । प्लेटो अब भी निरपेक्ष शासन का आश्रय ले सकता है और सच्चे मुक्त मन की प्रभुता में उसकी अब भी आस्था हो सकती है, पर उसने समझ लिया है कि, "इस तरह के मन का कहीं अस्तित्व नहीं है और अगर है भी तो बहुत कम" (805) । और यह ठीक है कि तरुण अत्याचारी शासक से उसे अब भी थोड़ी-बहुत आशा बँध सकती है, पर उसका यह स्पष्ट मत हो गया है कि तरुण अत्याचारी शासक के साथ विधिकर्त्ता का सहयोग होना चाहिए और उसकी सार्थकता राज्य के जन्मकाल के समय ही हो सकती है (709 — 713) । पॉलिटिकस में प्लेटो का आग्रह था कि सच्चे राज्य की एकमात्र कसौटी बुद्धि का होना है, सहमति का होना नहीं । उसके बजाए अब वह कह सकता है कि संविधान की कसौटी है स्वैच्छिक प्रजा का स्वैच्छिक शासन ; उसके बिना संविधान अराजकता का वैधिक रूप (832 C) मात्र होता है । उसने चिकित्सक के दृष्टांत का परिवर्त्तित रूप में उपयोग किया है । इस परिवर्त्तन में उसके चिंतन का परिवर्त्तन व्यक्त होता है । पॉलिटिकस में उसने युक्ति प्रस्तुत की थी कि चिकित्सक को अपने रोगी की सहमति की आवश्यकता नहीं होती ; तब फिर राजममंज्ञ को अपनी प्रजा की सहमति की क्यों आवश्यकता हो ? लॉज़ के जिस अवतरण में प्रस्तावनाओं के महत्त्व का प्रदर्शन किया गया है (720 B—D), उससे पता चलता है कि दास का चिकित्सक ही अत्याचारी की तरह आदेश देता है ; पर जो चिकित्सक स्वतंत्र व्यक्ति की चिकित्सा करता है, वह अपने रोगी के साथ मानसिक संपर्क स्थापित करता है, अपनी योग्यता के अनुसार हिदायतें देता है और वह उसे अपना नुस्खा तभी देता है जब उस नुस्खे की जरूरत और महत्ता के बारे में उसे विश्वास करा चुकता है । प्लेटो राज्यों का चिकित्सक तो अब भी है; पर अब वह अक्खड़ परामर्शदाता चिकित्सक नहीं रहा बल्कि समझदार पारिवारिक चिकित्सक बन गया है । अब उसे मानव-प्रकृति का अधिक गहरा ज्ञान हो गया है । लॉज़ के तीसरे खंड में उसने इतिहास से जो सबक सीखने की बात कही है ; वे वास्तव में उसके अपने जीवन-इतिहास के सबक हैं । उसने अपने अनुभव से जान लिया है कि जब रोगी का किसी इलाज के मूल्य-महत्त्व पर विश्वास जम जाता है, तब उस इलाज के सफल होने की अधिक आशा होती है और, आगे चल कर जब हम लॉज़ में व्यक्तिगत संपत्ति और पारिवारिक जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण पर विचार करेंगे, तब हम देखेंगे कि (भले ही वह साम्यवाद के जीवन को अब भी आदर्श जीवन मान रहा हो पर) वह यह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो गया है कि संपत्ति और निजी परिवार अंततः मानव जाति के लिए जीवन की स्वाभाविक व्यवस्थाएं हैं ।

●

अध्याय 14

लॉज़ में सामाजिक संबंधों की व्यवस्था

(क) भूगोल और जनसंख्या
(ख) लॉज में संपत्ति का विवेचन
(ग) लॉज के राज्य में अर्थ-व्यवस्था
(घ) लॉज में विवाह तथा परिवार का विवेचन

अध्याय 14

लॉज़ में सामाजिक संबंधों की व्यवस्था

(क) भूगोल और जनसंख्या

प्लेटो ने एक काल्पनिक उपनिवेश की स्थापना करके विधि-राज्य तथा उसके मिश्रित संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाही है। उसने अपने संवाद के दृश्य का आयोजन क्रीट द्वीप में किया है जिसके अधिकतर भाग में एक उपनिवेश की स्थापना होने वाली है; और संवाद का एक पात्र क्रीटवासी क्लीनिआज, दस व्यक्तियों के उस आयोग का भी सदस्य है जिसकी नियुक्ति उपनिवेश की स्थापना के कार्य की देखभाल के लिए की गई है (702 C)। इस आयोग को उपनिवेश के लिए विधियाँ बनाने का अधिकार प्राप्त है और क्लीनिआज़ ने अजनबी एथेनी से प्रार्थना की है वह आयोग के विचार के लिए एक संविधान और संहिता का मसौदा या रूपरेखा तैयार करे[1]। यहाँ जिस प्रकार की कल्पना की गई है, वैसा प्रकरण यूनान के वास्तविक जीवन में अकसर घटित होता रहता था। इससे उस प्रेरणा का भी संकेत मिलता है जो उपनिवेशीकरण से राजनीतिक चिंतन को प्राप्त होती थी और उस योगदान का भी पता चल जाता है जो इस चिंतन से नए राज्यों के निर्माण में प्राप्त हो सकता था। आधुनिक उपनिवेशी

---

[1] सच पूछा जाए तो लॉज़ में न तो उपनिवेश की वास्तविक योजना दी गई है और न उसका कोई कटा-छँटा विवरण ही। उसमें तो बस एक स्थूल आरेख दिया गया है जिसका उपयोग उपनिवेश के सचमुच बन जाने पर आधार के रूप में किया जा सकता है पर जिसका संशोधन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए 737 D में यह विचार व्यक्त किया गया है : "हम पूरे प्रदेश और पास-पड़ोस को देख कर यह तय करेंगे कि वास्तव में और नियमित रूप में उपनिवेश कितना लंबा-चौड़ा हो और उसकी जनसंख्या कितनी हो; इस समय तो हम ख़ाका और मसौदा तैयार करने की खातिर अपने तर्क-वितर्क विधान, (—प्रस्तावों) तक ही सीमित रखें (जिन पर बाद में आयोग विचार करे)"। पर, प्लेटो ने इस भेद का निर्वाह नहीं किया है और लॉज़ का अधिकांश अंतिम योजना और कटे-छँटे विवरण के रूप में है, स्थूल आरेख के रूप में नहीं। इससे व्याख्या-विषयक कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं जिन पर जर्मन आलोचकों ने बहुत सोच-विचार किया है। सी० रिटर की लॉज़ की टीका के पृ० 140—7 देखिए। सबसे सरल व्याख्या यही प्रतीत होती है कि प्लेटो दोनों दृष्टिकोणों के बीच झूलता रहा है (यह स्वाभाविक तो बहुत है, कुछ असंगत भले ही हो)।

जिस किसी मूल देश से आते हैं और जिसके प्रति उनकी ममता बनी रहती है, उसी की विधियों और संस्थाओं को भी अपने साथ ले चलने की प्रवृत्ति उनमें होती है[1]। यह प्रायः नियम सा ही बन गया था कि यूनानी उपनिवेश अपने ही ढँग से नया और स्वतंत्र जीवन शुरू किया करते थे। उनकी जनसंख्या में हमेशा नहीं, तो कभी-कभी विभिन्न विधियों और संस्थाओं के अभ्यस्त लोग हुआ करते थे और उनके लिए वह स्वाभाविक ही था कि वे अपनी नई जीवन-यात्रा के आरंभिक चरण में ही एक ऐसी नई संविधान-प्रणाली ढूंढ निकालने की कोशिश करते जिसमें उनके भेदों का समाधान हो जाता[2]। अगर उपनिवेशी एक ही जाति के हों, उनमें शुरू से ही जाति, भाषा, विधि और धर्म की एकता हो, तो इसके कुछ लाभ हो सकते हैं—प्लेटो यह समझता है (708 C)[3]। इसका दूसरा पक्ष यह है कि एकता होने के कारण उनमें अपने मूल देश की विधियों और संस्थाओं के प्रति अंध आसक्ति की प्रवृत्ति हो सकती है; और विभिन्न जातियों के उपनिवेशियों को मिल-जुलकर रहने में भले ही कठिनाई हो, पर वे नई विधियों और संस्थाओं को अधिक सुगमता से स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए, काल्पनिक उपनिवेश के उपनिवेशी समूचे क्रीट से ही नहीं आएँगे; वे पेलोपोनीज़ से भी आएँगे (708 C); और आयोग को क्रीट के नमूने पर विधियां अंगीकार करने का ही नहीं, इस बात का भी अधिकार रहेगा कि अगर वह समझे कि दूसरे देशों की

---

[1] आधुनिक काल तक में उपनिवेशों ने संविधानी परीक्षणों और आदर्श-सिद्धि के प्रयत्नों के लिए भूमि प्रस्तुत की है। केरोलिनास के मूल संविधानों की रचना दार्शनिक लॉक ने की थी (यह सच है कि उपनिवेशियों ने न तो कभी इन संविधानों को लागू किया और न कभी इन उपनिवेशों में इन्हें वैधिक आधार ही प्राप्त हुआ)। योजना में ही नहीं, उसकी तफ़सीलों तक में कुछ-कुछ प्लेटो का रंग है। "विधियों की वृद्धि न हो, इसके लिए व्यवस्था की गई थी कि सौ साल बीतने पर काल-प्रवाह से सारी विधियों का निरसन हो जाएगा और मूल संविधानों की किसी तरह की टीका-टिप्पणी या व्याख्या न हो सकेगी"। (एजरटन, ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ इँगलिश कालोनीज़ पृ० 78)।

[2] उदाहरण के लिए ई० पू० 443—4 में एथेंस ने थुरी में एक प्रसिद्ध उपनिवेश की स्थापना की थी जिसके निर्माण में यूनान का योगदान था। सामॉस का प्रोटेगोरस उसका विधिकर्त्ता था, अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के दूसरे खंड में मिलेटस के जिस हिप्पोडानस का उल्लेख किया है, वह उसका वास्तुशिल्पी था, और उसने उपनिवेश की इमारतों का नक्शा तैयार किया था; एग्रिजेंटम का एम्पेडोक्लीज़ उसके आरंभिक सदस्यों में था और बाद में इतिहासकार हेरोडोटस भी हेलीकार्नासिस से आकर वहीं बस गया था। इस प्रकार, थुरी एक महान् संगम था और उसके उपनिवेशी मिले-जुले लोग थे। यद्यपि वह मूल में एथेनी था, किंतु उसमें शुरू से ही डोरिस-तत्त्व भी बहुत था और वही अंत में सबसे प्रबल हो गया।

[3] "एक जाति का होने का अर्थ यह है कि लोगों में भाषा, विधियों, धार्मिक संस्कारों तथा और बहुत सी बातों की समानता पाई जाती है।" यह वाक्य उस अवतरण की भाँति है जिसमें हेरोडोटस ने यूनान की एकता का वर्णन किया है और जिसे प्रायः उद्धृत किया जाता है (VIII, 144)। पीछे अध्याय 11—ज से तुलना कीजिए।

विधियाँ ज्यादा अच्छी हैं तो वह उनके अनुरूप विधियाँ भी वना सके (702 C)[1]। इस तरह, यह उपनिवेश उन 'सहस्रधाराओं' का संगम होगा जो विभिन्न स्रोतों से फूट-फूट कर एक झील का रूप धारण कर लेती हैं (736 B) और विधिकर्त्ता को देखना होगा कि धाराओं का जल पूर्ण शुद्ध हो और उपनिवेशी अच्छे नागरिक हों।

उपनिवेश का संस्थापक विधिकर्त्ता जो कोरी पट्टी लिखना आरंभ करेगा, न तो इस बात के लिए विवश होगा कि वह अपने राज्य की प्रारंभिक शुद्धि करे और न अपना काम आरंभ करने के लिए उसे इस बात की जरूरत होगी कि जो तत्त्व उसके राज्य के ताने-बाने में बुने जा सकें, उन्हें वह मौत के घाट उतार दे या देश-निकाला दे दे (735)[2]। डोरिस-राज्यों की अपने इतिहास के प्रभात-काल में जो सुखद स्थिति थी, उसी स्थिति में वह है : उसके ऊपर न तो निहित स्वार्थों का बंधन है और न वंशागत पूर्वाग्रहों का ; बल्कि उसकी स्थिति तो और भी अधिक अनुकूल है। वह तय कर सकता है कि उसका उपनिवेश कहाँ बसे और बगैर किसी बाधा-बंधन के यह निर्धारित कर सकता है कि उसका राज्य किन भौगोलिक स्थितियों में अपनी जीवन-यात्रा आरंभ करे। जिसे हम राष्ट्रीय चरित्र पर जलवायु का प्रभाव कहते हैं, उससे प्लेटो अच्छी तरह अवगत है। भूमि और वातावरण का लोगों के मन और स्वभाव पर प्रभाव पड़ता है (747 E) ; जब विधिकर्त्ता अपनी विधियों का निर्माण करे, तब उसे इन बातों का ध्यान रखना चाहिए[3]। प्लेटो ने एक भौगोलिक

---

1. यहाँ प्लेटो ने पहले ही सामान्य यूनानी विधि को संहिताबद्ध करने की खुली छूट ले ली है।
2. इस अवतरण में बुनाई का निर्देश भी है और प्रारंभिक शुद्धि का संकेत भी —इन दोनों ही दृष्टियों से यह पॉलिटिक्स के अवतरण, 308 C—309 A, के समानांतर है। आगे चलकर प्लेटो ने कहा है कि मूल नगर के दृष्टिकोण से देखा जाए तो उपनिवेश की स्थापना भी शुद्धि का एक साधन ही है क्योंकि इससे निर्धन वर्ग जिससे संपत्ति और संविधान दोनों को खतरा हुआ करता है—देश से बाहर चला जाता है (735 E—736 A)।
3. मांटेस्क्यू ने विधियों पर जलवायु के प्रभाव के बारे में बहुत-कुछ कहा है और इँगलैंड की संस्थाओं की स्वतंत्रता का इँगलैंड की जलवायु के दोषों से संबंध स्थापित किया है। एस्प्रिट डेस लोइस के खंड 14, अध्याय 13 से तुलना कीजिए (इस खंड का शीर्षक है इँगलैंड पर जलवायु का प्रभाव) : "इस राष्ट्र की आत्मा पर बुरी जलवायु का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि प्रत्येक वस्तु के प्रति उसकी विरक्ति स्वयं जीवन के प्रति विरक्ति का रूप ले लेती है। इस तरह के देश में जहाँ निवासी प्रत्येक चीज असह्य पाते हों, सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह होगी जिसमें मनुष्यों का नहीं, बल्कि विधियों का शासन हो। इसका परिणाम यह होगा कि अगर कोई राज्य में परिवर्त्तन करना चाहेगा, तो उसे सारी विधियों में परिवर्त्तन करना पड़ेगा।" कहने का अभिप्राय यह है कि प्लेटो की तरह मांटेस्क्यू ने भी जिस मिश्रित संविधान और विधि-शासन की पैरवी की है, उनका कारण बुरी जलवायु ही है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भूगोल में प्लेटो की जो दिलचस्पी है, उसका विस्तार भू-विज्ञान तक है। क्रिटिआस में आदिकालीन एटिका का तथा उसके

परिस्थिति पर विशेष रूप से आग्रह किया है (अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स में इसका कुछ तो मंडन किया है और कुछ खंडन) और वह यह है कि उपनिवेश समुद्र तट के निकट नहीं बसा होना चाहिए (704—7)। यहाँ वह यूनान की सामान्य प्रथा का विरोध कर रहा है और सोच-समझ कर विरोध कर रहा है। यूनानी समुद्रचारी लोग थे और सागर के अतल जल मार्ग ही उनके राजमार्ग थे। उनके उपनिवेशों की स्थापना प्रायः सदा ही समुद्र-तट पर हुआ करती थी। प्लेटो चाहेगा कि उसके उपनिवेश की स्थापना अंतर्देश में हो और जहाँ तक संभव हो, वह महान् राजमार्ग से अलग रहे। वह चाहेगा कि उसका उपनिवेश आत्म-निर्भर हो जिससे उसे बाहर से चीजें मँगाने की जरूरत न पड़े। वह उसे आवश्यकता से अधिक का उत्पादन भी न करने देगा ताकि उसके पास बाहर भेजने के लिए कुछ न बचे। वह यह भी चाहेगा कि उसमें इमारती लकड़ी की कमी रहे जिससे कि उसका उपनिवेश जहाज बनाने के काम में न जुट पड़े। उसका विचार है कि समुद्रतटवर्त्ती राज्य में विकृति आ जाती है।

"दैनिक साथी के रूप में समुद्र किसी भी देश के लिए सुखकर हो सकता है पर सचाई यह है कि वह एक खारा और खट्टा पड़ोसी होता है—बहुत खारा और खट्टा। इससे देश में व्यापारिक चीजों की, धनोपार्जन और सौदेबाजी की बाढ़ आ जाती है: इससे लोगों के मन में छल-कपट और धोखा-धड़ी की आदतें पैदा होती हैं: इसकी वजह से राज्य श्रद्धाहीन और मित्रहीन हो जाता है—अपने आंतरिक जीवन में भी और दूसरे देशों के साथ संबंधों में क्षेत्र में भी" (705 A)।

अब तक समुद्रतटवर्त्ती राज्य की जो निंदा की गई है, वह वास्तव में वाणिज्य-राज्य की निंदा है। पर, समुद्रतटवर्ती राज्य में तो नौ-शक्ति का रूप धारण करने की भी प्रवृत्ति होती है और प्लेटो ने जितनी वाणिज्य राज्य की निंदा की है, उतनी ही नौ-शक्ति की भी; उससे किसी तरह कम नहीं। एथेनी अजनबी ने स्पार्टा और क्रीट की उनके सैन्यवाद के कारण निंदा की है; उसे यह न्याय का तकाज़ा मालूम पड़ता है कि इसी कारण वह अपने राज्य की भी आलोचना करे[1]। सच तो यह है कि

तट और कँटूर पर नौ हज़ार साल तक पड़ने वाले जल के प्रभाव का जो विवरण दिया गया है, ऐसा लगता है मानो वह किसी आधुनिक भू-वैज्ञानिक द्वारा लिखा गया हो (110 A—D)।

[1] स्पष्ट है कि प्लेटो का संकेत एथेंस की ओर है। आधुनिक इँगलैंड की तरह एथेंस भी अपने लिए खाद्यान्न का उत्पादन नहीं करता था। वह अन्न का आयात अधिकांशतः कृष्ण सागर से, दर्रे दानियाल के रास्ते करता था और बदले में कुछ तो अपने जैतूनों का, और कुछ तैयार माल का निर्यात करता था—जैसे बर्तनों का। और इँगलैंड की तरह ही एथेंस यूनान की महान् नौ-शक्ति भी था। ऐन इसी कारण प्लेटो की आलोचना—जो एथेंस की आलोचना है—इँगलैंड की आलोचना भी हैं; और सच तो यह है कि समुद्री सैन्यवाद के संबंध में प्लेटो के विचारों की गूँज अभी हाल में अँग्रेजों की नौ-शक्तिवादी नीति के शत्रु आलोचकों के स्वर में सुनाई पड़ी है।

समुद्री सैन्यवाद थल सैन्यवाद की अपेक्षा ज़्यादा बुरा समझा जा सकता है। नाविक दाँव-पेंचों में कभी तो अचानक स्थल पर आना पड़ता है और कभी अचानक पीछे हटना पड़ता है, और इस सबसे सैनिक स्वभाव धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है ; और नौ-राज्य में जिसकी रक्षा उसकी नौ-सेनाओं की यांत्रिक योग्यता के आधार पर होती है ऐसी सैनिक योग्यता वाले लोगों का सम्मान नहीं होता, जो इस सम्मान के सर्वश्रेष्ठ पात्र होते हैं[1] ।

इस प्रकार लॉज़ का राज्य आत्म-निर्भर होगा और वह वाणिज्य के घिसे-पिटे रास्ते से दूर रहेगा। वह एक कृषिजीवी समाज होगा जो अपनी आवश्यकताओं के लायक पर्याप्त फसलें पैदा करेगा और चाहे वह (स्पार्टा की भाँति) औरों से अलग-थलग न रहे, पर अपेक्षाकृत अधिक अलग-थलग रहेगा जिससे उसके मूल रूप की शुद्धता बनी रहे। उसकी जनसंख्या एथेंस और स्पार्टा[2] की जनसंख्या के ऐन बीच में होगी और प्लेटो ने उसके नागरिकों की संख्या 5040 निश्चित की है। प्लेटो ने यह संख्या यों ही स्थिर नहीं कर दी है। संख्या के महत्त्व में प्लेटो का सदा से ही विश्वास रहा था। जीवन के अंतिम चरण में उसके ऊपर पायथागोरस का रंग और भी गहरा चढ़ गया था और प्लेटो का दर्शन पहले से भी अधिक संख्या का दर्शन हो गया था। 5040 संख्या मूलतः इसलिए चुनी गई है कि उसे अनेक विभिन्न विभाजकों द्वारा विविध विभाजनों में विभक्त किया जा सकता है[3] । इस प्रकार वह सैन्य विभाजन के आधार के रूप में युद्ध में उपयोगी होगी। नागरिकों के बीच करों के निर्धारण और ज़मीन या अन्य राजकीय संपत्ति के वितरण के लिए वह शांति काल में भी उतनी ही उपयोगी होगी। स्पष्ट है कि प्लेटो ने जिस मुख्य विभाजक का संकेत दिया है, वह 12 की संख्या है ; और उसने जिस पद्धति की पैरवी की है, वह द्वादशक पद्धति है (746 D—E)। इस व्यवस्था के अनुसार राज्य में बारह कबीलें होंगे और राज्य-परिषद् में बारह

---

1. यह एक दिलचस्प बात है कि प्लेटो का संबंध नौ-शक्ति-संप्रदाय से न था। फ़ारस की शक्ति को सेलायस ने नहीं, मेराथान और प्लाटेआ ने नष्ट किया था (707 C)—यह कहना कुछ ऐसा ही है कि नैपोलियन लिप्जिग और वाटर्लू में पराजित हुआ था, ट्राफलगर में नहीं। यह बात भी ध्यान देने की है कि प्लेटो का यह तर्क कि नौ-राज्य में सम्मानों के उचित वितरण की व्यवस्था भंग हो जाती है, एथेनी संविधान-विषयक उस पुस्तिका के तर्क से मिलता है जिसे ज़ेनोफॉन की रचना बताया गया है पर जो वास्तव में उसकी रचना है नहीं। लेखक ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में कहा है कि यह उचित ही है कि साधारण नाविकों को कुलीनों या संपन्नों से अधिक शक्ति प्राप्त हो—राज्य की शक्ति का आधार ये ही लोग होते हैं, सेना नहीं।
2. एथेंस के नागरिकों की संख्या 40,000 से ऊपर थी। स्पार्टा के स्वतंत्र नागरिकों की परंपरागत संख्या 9000 थी, पर लॉज़ के रचना-काल में वह घट कर 1500 रह गई थी।
3. प्लेटो की बात गुणा के दो सवालों से समझाई जा सकती है : $1 \times 2 \times 3 \times 4 \times 5 \times 6 \times 7 = 5040$; और फिर, $7 \times 8 \times 9 \times 10 = 5040$। निष्कर्ष है कि 5040 दस तक की हर संख्या से विभक्त हो सकता है और वस्तुतः प्लेटो के अनुसार तो वह 59 विभाजकों द्वारा भाज्य है।

समितियाँ जिनमें से प्रत्येक समिति साल में एक-एक महीने काम करेगी। नागर कार्यों में यह व्यवस्था मुद्रा और नाप-तौल की गणना का आधार बनेगी। इस प्रकार इन दोनों में एक दूसरे के प्रति भी संतुलन और सामंजस्य रहेगा और साथ ही इनका राजनीतिक संगठन के प्रति भी संतुलन एवं सामंजस्य ही रहेगा[1]। किंतु, संख्या के प्रति प्लेटो की आदर-भावना में व्यावहारिक सुविधा का ही प्रश्न नहीं है—उसका महत्त्व इससे अधिक है। जब वह विधिकर्त्ता के लिए संख्या का ज्ञान ज़रूरी ठहराता है, जिसकी सब राज्यों के लिए उपयोगी होने की सबसे अधिक संभावना है (737 E); और नागरिकों को आदेश देता है कि वे एकरूप संख्यात्मक पद्धति को अपनी आँखों से कभी ओझल न होने दें (747 A), तब गणित के शैक्षिक मूल्य की बात भी उसके मन में रहती है। अगर संख्यात्मक आधार पर राज्य का गठन किया जाए, तो वह मानो अंकगणित का एक जीता-जागता पाठ बन जाएगा और चाहे कोई भी विषय हो—घरेलू अर्थ-व्यवस्था हो या राजनीति, या कला और शिल्प—इन सबमें नौजवानों को कुशल बनाने के लिए जितना महत्त्व संख्याओं के अध्ययन का है, उतना और किसी विषय का नहीं। गणित के अध्ययन से आलसी और बुद्धिहीन लोगों तक में इतनी कर्मठता और इतनी बुद्धि आ जाती है जो उनकी सहज शक्तियों की सीमा से परे होती है। इसमें और कुछ नहीं तो रिपब्लिक के सिद्धांत की प्रतिध्वनि अवश्य है कि गणित के अध्ययन की सीढ़ी पर चढ़कर लोग ऐंद्रिय जगत से ऊपर उठ कर शुद्ध चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश पा सकते हैं। गणितीय आधार पर गणित राज्य के पक्ष में प्लेटो का जो अंतिम और सबसे उदात्त तर्क है, वह तत्त्व-मीमांसा के लोक का स्पर्श करने लगता है। जिस राज्य का सच्चे गणितीय सिद्धांतों के आधार पर गठन किया जाएगा वह राज्य जगत के तथा उसकी संरचना के अनुरूप होगा, क्योंकि यह जगत भी संख्या पर आधारित संरचना है। राज्य के प्रत्येक अंग और प्रत्येक अंश को ईश्वर की पवित्र देन

---

[1] एथेंस में क्लीस्थेनीज़ के समय से अधिकतर दार्शनिक पद्धति का चलन था। अतः जब प्लेटो ने द्वादशक पद्धति अपनाई, तब वह एथेंस की प्रथा से दूर हट रहा था। एथेंस में दस कबीले थे और परिषद के भी दस भाग थे जिनमें से प्रत्येक भाग साल के दसवें हिस्से भर तक काम करता था। यह पद्धति साल को बारह महीनों में बाँटने की पद्धति के विरुद्ध पड़ती थी। सी० रिटर ने लॉज़ पर अपनी टीका (पृ० 129—139) में प्लेटो के राजनीतिक गणित के संबंध में एक दिलचस्प टिप्पणी दी है। उसने लिखा है कि अगर प्लेटो 'संख्यात्मक रहस्यवाद' के समुद्र में डुबकियाँ लगा लगा कर मज़े लेता है, तो इससे उसकी मानसिक शक्तियों का ह्रास बिल्कुल भी प्रकट नहीं होता; बल्कि उससे तो यह प्रकट होता है कि संख्या के प्रति प्लेटो का जो सम्मान भाव है, उसके पीछे एक वयोवृद्ध साधक की प्रखर व्यावहारिक दृष्टि है जिसमें संसार का व्यापक अनुभव समाया हुआ है। निश्चय ही यह सत्य है कि ऐसे समय में जब सांख्यिकी और सांख्यिकीय पद्धतियों का विकास न हुआ था और लोग अरबी अंकों से भी परिचित न थे, सामान्य द्वादशक पद्धति ग्रहण करने से प्रशासन और व्यापार के क्षेत्रों में बड़ी सुविधा हो सकती थी। व्यावहारिक जीवन में और साथ ही वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए सुगम गणना-पद्धति का क्या महत्त्व होता है यह समझाने के लिए रिटर ने आधुनिक मीटरी पद्धति का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

मानना चाहिए जो सृष्टि के काल और चक्र के अनुरूप हैं (771 B)। संख्या में ही ध्वनियों और संगीत का रहस्य निहित है ; आकाश-पिंडों की गतियों पर भी संख्या का ही नियंत्रण रहता है। सच्चा शासक आकाश के नक्षत्रों के रूप में गतिमान मन को और उसकी गति के साथ संगीत के संबंध को देख चुकता है ; और उसने जो कुछ देखा होता है, उसी के अनुरूप वह हमारी प्रवृत्तियों के स्वरूप और नियमों को ढालता है (967 E)। अपने वृत्त में नियम और माप के अनुसार परिक्रमा करने वाले नक्षत्र संगीत तथा उसकी लय-ताल के अनुरूप होते हैं। विधियों तथा संस्थाओं को इन दोनों के अनुरूप होना चाहिए जिससे कि इन तीनों में 'दिव्य सामंजस्य' की स्थापना हो सके और वे सब मिलकर नियम तथा माप का पालन कर सकें[1]।

---

1. यह अवतरण कठिन है और हो सकता है मैंने इसका अर्थ समझने में बहुत खींचा-तानी की हो। इसके समानांतर एक अवतरण पॉलिटिक्स (274 D) में मिलता है ; "हम एक साथ मिलकर अपने जीवन में संपूर्ण सृष्टि-क्रम का अनुकरण भी करते हैं और अनुसरण भी"। कैम्पवेल ने पॉलिटिक्स के अपने संस्करण की भूमिका, पृ० XXV में एक परवर्त्ती पायथागोरसी लेखक के अवतरण को उद्धृत किया है जिससे संकेत मिलता है कि शायद इन अवतरणों में प्लेटो पायथागोरस के विचारों का अनुसरण कर रहा हो। "ईश्वर का संसार के साथ जो संबंध है, वही राजा का राज्य के साथ होता है ; और संसार के साथ राज्य का जो संबंध है, वही संबंध राजा का ईश्वर के साथ होता है ; क्योंकि राज्य—जिसमें विभिन्न तत्त्वों के योग से सामंजस्य की स्थापना हुई है,—संसार की व्यवस्था और सामंजस्य का ही अनुकरण है।" यह विचार गॉर्जियाज में भी व्यक्त हुआ है (पीछे पृ० 205, टि० 2 देखिए) ; पीछे अध्याय 12—ङ से तथा आगे अध्याय 15—घ से भी तुलना कीजिए।

(ख) लॉज़ में संपत्ति का विवेचन

नए उपनिवेश में जीवन के सामाजिक आधार का वर्णन करते समय प्लेटो ने विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण के विचार को—जो समूचे लॉज़ में व्यक्त है—अपना निर्देश-सूत्र मान लिया है। सामाजिक आधार ऐसा होना चाहिए कि उस पर आसानी से अच्छे संविधान और विधि-व्यवस्था का भवन खड़ा किया जा सके और चूंकि संविधान मिश्रित होगा और विधि में अनुनय और आदेश का समन्वय होगा, अतः सामाजिक आधार भी विभिन्न तत्त्वों का सम्मिश्रण होना चाहिए। उदाहरण के लिए विवाह विभिन्न चरित्रों और वर्गों का संयोग होना चाहिए (773 A) ; संपत्ति व्यक्तिगत स्वामित्व और राजकीय नियंत्रण का मिश्रण होना चाहिए (740 A) ; और अगर कुछ लोग ऐसे हों जो अमीर हों तो उन्हें चाहिए कि वे नागरिकों की आपसी फूट रोकने के लिए अपनी धन-संपदा का कुछ भाग स्वेच्छा से गरीबों को दे दें (776 D—E)। ताने-बाने को—कसे और ढीले धागों को—इस तरह मिलाना चाहिए कि एक ऐसे वस्त्र का निर्माण हो सके जिसमें सामजंस्य हो (734 E—735 A)। सामाजिक व्यवस्था इस तरह की होनी चाहिए कि इसमें आर्थिक हितों का मेल हो और सामाजिक भेदों में सामजंस्य की स्थापना हो।

लॉज़ में जिस संपत्ति-व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया है, वह रिपब्लिक के साम्यवादी आदर्श से निश्चित रूप से भिन्न है (739)। प्लेटो ने तीन प्रकार के संविधान माने हैं—सर्वश्रेष्ठ या आदर्श, द्वितीय सर्वश्रेष्ठ या उप-आदर्श ; और तीसरे प्रकार का संविधान, जिसका उसने स्पष्टीकरण नहीं किया है, पर जिससे उसका संकेत शायद वास्तविक राज्यों के संविधानों के प्रति है। सर्वश्रेष्ठ राज्य, सर्वश्रेष्ठ संविधान और सर्वश्रेष्ठ विधियाँ वे होती हैं जिनमें इस पुरानी कहावत का अधिकतम पालन होता है कि मित्रों की सब चीज़ों में सबका साझा होता है। इस तरह के राज्य में स्त्रियाँ, बच्चे और सब चीज़ें सबकी होती हैं। व्यक्तिगत संपत्ति की धारणा का और उसकी भाषा का जीवन से एक दम लोप हो जाता है और राज्य—जो एक तन और एक मन हो जाता है—एक सुख से सुखी और एक दुःख से दुःखी होता है। इस तरह का आदर्श—आज या कल—संभव हो या हमेशा असंभव हो—पर एक बात निश्चित है :

वह श्रेय के अधिक अनुकूल होता है और इसलिए वह अन्य किसी आदर्श के देखे ज्यादा सच्चा होता है, ज्यादा अच्छा होता है। यह संविधान का ऐसा रूप है जो लोगों को सदा ध्यान में रखना चाहिए और जिसके अधिक से अधिक निकट पहुँचने का उन्हें भरसक प्रयत्न करना चाहिए। जब तक वर्त्तमान स्थिति बनी रहेगी, जब तक स्त्रियों, बच्चों और मकानों पर व्यक्तिगत नियंत्रण रहेगा और जब तक प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन सारी चीज़ों की इसी आधार पर व्यवस्था होगी, तब तक जीवन की उस पूर्ण शक्ति की सिद्धि न हो सकेगी जो मनुष्य को खूंटे से बँधे हुए बैल से ऊँचा उठा ले जाती है (807 C)। पर, एक द्वितीय सर्वश्रेष्ठ का उप-आदर्श भी है। "जिस राज्य के निर्माण का काम हमने अपने हाथ में लिया है, वह अगर कभी बन सका, तो वह अपने ढँग से चिरंतन पूर्णता के सबसे अधिक निकट होगा, और उसमें सर्वश्रेष्ठ के दूसरे क्रम की एकता होगी" (739 E)। अगर ऐसे राज्य का निर्माण हो सका, तो स्थिति पर्याप्त संतोषजनक होगी और जो लोग इस राज्य में रहेंगे, उनके सामने करने के लिए एक काम होगा—वे तन और मन के उत्कर्ष का अभ्यास करेंगे और यह काम महान् खेलों में विजय पाने से दुगुना कठिन होता है, बल्कि दुगुने से भी अधिक कठिन (807 B—C)। इस द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में ज़मीनों और मकानों का बंटन व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में होगा। उसमें साझी खेती भी नहीं होगी क्योंकि ऐसी चीज़ उन लोगों की पहुँच से बाहर होती है जो इस व्यवस्था में पैदा हुए हों और जिनका पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा वर्त्तमान रीति से हुई हो (740 A)[1]। जब ज़मीन का पहले-पहल बँटवारा

---

[1] इस अवतरण (739 A — 740 A) से अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। (1) 739 A में प्लेटो ने संविधानों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है और उसने 739 E में कहा है कि अगर ईश्वर की इच्छा हुई, तो वह द्वितीय सर्वश्रेष्ठ के बाद तीसरे प्रकार के संविधान का वर्णन करेगा। 739 A में उल्लिखित तीसरे क्रम के संविधानों से मैंने वास्तविक संविधानों का आशय ग्रहण किया है। इसलिए 739 E में जो वचन दिया गया है उसका अर्थ मैं यह समझता हूँ कि प्लेटो वास्तविक संविधानों का वर्णन करने का वचन दे रहा है क्योंकि मूल तत्त्वों का त्याग किए बिना ही उनमें सुधार किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्लेटो की प्रक्रिया **पॉलिटिक्स** में अरिस्टाटल द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया के सदृश है। पॉलिटिक्स में (क) सातवें और आठवें खंडों में आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है; (ख) चौथे खंड में उप-आदर्श राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया गया है; और (ग) पाँचवें और छठे खंडों में वास्तविक राज्यों—विशेष कर लोकतंत्र और अल्पतंत्र — के संगठन पर और इन राज्यों में लड़ाई-झगड़े दूर करने के उपायों पर विचार किया गया है। 739 A में जहाँ सी० रिटर ने तीसरे क्रम का अभिप्राय साधारण राज्य समझा है, वहीं उसने उसी जगह यह भी सुझाव दिया है कि प्लेटो ने 739 E में जिस तीसरे प्रकार के राज्य का वर्णन करने का वचन दिया है, वह नए उपनिवेश का वास्तविक संविधान है जो वैसे किसी संविधान के संक्षिप्त विवरण या उसकी रूपरेखा से भिन्न है (इसी अध्याय में खंड क से तुलना कीजिए)। इतने थोड़े से अवकाश में अर्थ का इस प्रकार का परिवर्त्तन मुझे असंभाव्य-सा लगता है और यह बात भी समझ में नहीं आती कि उपनिवेश का वास्तविक संविधान उसकी रूपरेखा से इतना भिन्न होगा जितना दूसरे प्रकार का संविधान तीसरे प्रकार के संविधान से। अस्तु, प्लेटो का तीसरे प्रकार के संविधान का वर्णन करने का वचन पूरा नहीं

होगा, तब हर नागरिक को एक-एक टुकड़ा मिलेगा ; पर यह ज़मीन भले ही हर नागरिक को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में मिले, लेकिन वह यह मानेगा कि यह ज़मीन सारे राज्य की है। अरिस्टाटल की भाँति प्लेटो भी बाद में चलकर व्यक्तिगत संपत्ति और साझे उपयोग के बीच समन्वय स्थापित कर देगा, जैसे कि उस समय स्पार्टा में कुछ दृष्टियों से सचमुच होता भी था। संपत्ति के अधिकार को एक ऐसा अधिकार मानना चाहिए जिसकी सृष्टि समाज ने की है और जिसका उपयोग समाज के हित में होना चाहिए। उसे व्यक्ति का ऐसा निरपेक्ष और सहज अधिकार नहीं मानना चाहिए जिससे उसे अपनी संपत्ति के मनमाने उपयोग की छूट मिल जाए। प्लेटो ने केवल सामान्य सिद्धांत का निरूपण ही नहीं किया, उसने सामान्य सिद्धांत के क्रियान्वय का उपाय भी सुझाया है। भूमि की उपज का सामूहिक भोजन-व्यवस्था में उपयोग होना चाहिए (896 E) जिसमें नर-नारी दोनों भाग लें और इस तरह अगर स्वामित्व व्यक्तिगत रूप में रहे, तो कम से कम खपत सार्वजनिक और सामूहिक हो।

ज़मीन के मूल 5,040 टुकड़े बराबर-बराबर होंगे और कोई भी व्यक्ति अपना टुकड़ा किसी दूसरे को न दे सकेगा और न उससे ले सकेगा (741 B)। जनसंख्या सदा 5040 ही बनी रहनी चाहिए जिससे हर टुकड़े के लिए हमेशा एक ही नागरिक रहे। अगर किसी नागरिक के कोई बच्चा न हो जो उत्तराधिकार में उसकी ज़मीन पा सके, तो उसे किसी अन्य नागरिक के लड़के को अपना उत्तराधिकारी बना लेना चाहिए। अगर सामान्य प्रवृत्ति विहित जनसंख्या से बढ़ने की हो तो या तो संतानोत्पत्ति को नियंत्रित करना चाहिए या उपनिवेश की स्थापना करनी चाहिए। पर अगर प्रवृत्ति इसके विपरीत हो (और लगता है कि प्लेटो को यही डर था। स्पार्टा की जनसंख्या के

होता और पूरा करने के लिए वह दिया भी नहीं गया। (2) लॉज़ के इस अवतरण में व्यक्त आदर्श रिपब्लिक के आदर्श से अभिन्न नहीं है। वह पूर्ण साम्यवाद का आदर्श है जिसमें ऊपर के दो वर्ग ही नहीं बल्कि नागरिक भी भागीदार होते हैं और इन वर्गों को जो वार्षिक सामान मिलता है, उसी में नहीं, बल्कि सारी चीज़ों में सबका साझा रहता है (पीछे पृ० 325—6 देखिए)। इसके विपरीत, मेरा विचार है कि प्लेटो का संकेत रिपब्लिक के आदर्श की ओर है—भले ही वह संकेत शिथिल हो—और मैं यह नहीं मान सकता कि लॉज़ के एक अलग-थलग अवतरण में कुछ गिने-चुने शब्दों में चलते-चलाते वह एक भिन्न आदर्श की चर्चा करता। प्लेटो ने अब समझ लिया है कि साम्यवादी आदर्श देवताओं या देवपुत्रों के लिए है (739 B) ; और इसीलिए जहाँ उसने रिपब्लिक की रचना करते समय आशा की थी कि यह आदर्श मानवों के बीच साकार हो सकेगा ; वहाँ उसने लॉज़ में इस आदर्श का कुछ इस तरह से अंकन किया है मानो वह अतीत की चीज़ हो। 740 A में, 'साझी खेती' के निर्देश की ध्वनि से यह लगता है कि रिपब्लिक की योजना में भूमि साझे में रहती और उस पर साझी खेती होती, पर, वस्तुतः प्लेटो का विचार यह था कि किसानों का ज़मीन पर अलग-अलग अधिकार रहे और वे उस पर अलग-अलग खेती करें। अगर यहाँ प्लेटो का उद्देश्य रिपब्लिक की ओर संकेत करना है, तो यह संकेत बड़ा शिथिल है, पर हो सकता है कि प्लेटो का इस तरह का कोई संकेत देने का इरादा ही न रहा हो और वह सिर्फ़ यह कहना चाहता हो कि साझी खेती तो 'क्रोनस के युग' की चीज़ थी।

ह्रास से उसे अनायास यही डर लगने लगा होगा), तो विवाहितों को तो पुरस्कार मिलने चाहिएँ और अविवाहितों को दंड। पर, जिस समानता की रक्षा के लिए प्लेटो इतना सजग है, वह केवल मूल भू-खंडों की या दूसरे शब्दों में भू-संपत्ति की समानता है। निजी मालमत्ते का उसके साथ कोई विरोध नहीं; उसकी असमानता और यह समानता साथ-साथ बनी रह सकती है। सबसे अच्छा तो यह हो कि उपनिवेश की स्थापना के समय हर नागरिक के पास बराबर-बराबर का निजी मालमत्ता हो, पर यह असंभव है (744 B)। फलत: प्लेटो ने व्यवस्था की है कि ज़मीन का जितना मूल्य हो, प्रत्येक नागरिक उससे चार गुने मूल्य का साज-सामान या ज़ायदाद इकट्ठी कर सकता है (744 E)। इस प्रकार धन-संपदा का एक मान होगा जिसके एक छोर पर तो वह व्यक्ति होगा जिसके पास ज़मीन और बहुत ही कम ज़ायदाद होगी और दूसरे छोर पर वह व्यक्ति जिसके पास ज़मीन और उससे चार गुने मूल्य की ज़ायदाद होगी। पहली स्थिति नागरिकता की आवश्यक शर्त है जबकि दूसरी स्थिति में सीमा से अधिक जो भी धन-संपत्ति होगी, वह सरकारी खजाने में पहुँचा दी जाएगी[1]। इसका परिणाम है संपत्ति की योग्यता के अनुरूप चार वर्गों की व्यवस्था; और संविधान का निर्माण करते समय प्लेटो ने मताधिकार और उसके प्रयोग का आधार इसी संपत्तिगत योग्यता को माना है। यहाँ जिस-वर्ग-विभाजन का प्रस्ताव किया गया है, उससे सोलोन के वर्ग-विभाजन की याद हो आती है और प्लेटो ने जिस अन्य विभाजन का प्रस्ताव किया है, उसका आधार एथेंस का उदाहरण लगता है। क्लीस्थेनीज़ ने दस कबीलों का निर्माण किया था और इनमें से हरेक कबीले के लिए उसने एक-एक क्षेत्र नियत कर दिया था हालाँकि यह क्षेत्र तीन विभिन्न इकाइयों में बँटा हुआ होता था और प्रत्येक इकाई एटिका के एक अलग भाग में स्थित होती थी। प्लेटो ने द्वादशक पद्धति के आधार पर बारह कबीलों का प्रस्ताव किया है जिनमें से प्रत्येक कबीले के लिए एक क्षेत्र निश्चित होगा। यह क्षेत्र स्पष्ट ही एक संहित भू-खंड होगा, क्लीस्थेनीज के क्षेत्र की भाँति नहीं होगा। किंतु एक दृष्टि से प्लेटो ने क्लीस्थेनीज़ की नीति का अनुकरण किया है। उसने कबीलों को तो असंबद्ध इकाइयों में नहीं बाँटा, लेकिन उसने हर नागरिक की जोत के दो परस्पर असंबद्ध आधे-आधे भाग अवश्य कर दिए हैं (745 C—E) जिनमें से एक तो मुख्य नगर के निकट होगा और दूसरा सीमांत के निकट[2]। क्लीस्थेनीज़ के लक्ष्य की तरह उसका भी लक्ष्य यही लगता है कि स्थानीयता की भावना और स्थानीय

---

1. यह इस योजना का आवश्यक अंग है और प्लेटो ने व्यवस्था की है कि सारी वैयक्तिक संपत्ति की सरकारी तौर पर रजिस्ट्री होनी चाहिए (745 A—754 E)। इसी प्रकार लॉज़ के परवर्ती खंडों में कराधान की चर्चा करते समय (955 D—E) उसने व्यवस्था की है कि करारोपण के विचार से प्रत्येक नागरिक को इसकी जाँच करा लेनी चाहिए कि उसकी संपत्ति (या पूंजी) पर कितना कर लगेगा और साथ ही उसे अपनी उपज (या आय) का वार्षिक विवरण भी तैयार रखना चाहिए। इस तरह, सरकार पूंजीगत आय के आधार पर कर लगा सकेगी।
2. रचना की दृष्टि से देखा जाए तो लॉज़ के राज्य में एक तो मुख्य नगर है और एक ग्राम-क्षेत्र। मुख्य नगर बारह भागों में बँटा हुआ है और ग्राम क्षेत्र भी नगर के केंद्र से निकलने वाली रेखाओं द्वारा बारह भागों में बँटा हुआ है (इनमें से हरेक भाग में एक-एक कबीले का निवास है)।

विभाजनों को रोका जाए। अगर हर व्यक्ति के पास दो जोत और दो घर हों,—एक नगर में तथा एक देहात में—तो फिर देहात तथा नगर के हितों में कोई विरोध पैदा न हो पाएगा[1]।

---

[1] क्लीस्थेनीज़ ने प्रत्येक कबीले को जिन तीन असंबद्ध इकाइयों में बाँटा था, उनमें से एक इकाई तो नगर के अंदर या उसके निकट हुआ करती थी, दूसरी इकाई समुद्रतट पर और तीसरी, जो इन दोनों इकाइयों के बीच में पड़ती थी, देहात के भीतरी भाग में बसी होती थी। उसका उद्देश्य अपने दसों कबीलों में से हर कबीले के तीनों हितों में समन्वय की स्थापना कर विभिन्न स्थानीय हितों के उन संघर्षों का अंत करना था जिसके कारण पीसिस्ट्राटस के निरंकुश-तंत्र का उत्थान हुआ था। प्लेटो के इस तरह की नीति अपनाने का कारण कुछ हद तक पेलोपोनेशियाई युद्ध का अनुभव हो सकता है जिसमें देखा गया था कि जो नागरिक देहात में रहते थे और जिन्हें स्पार्टावासियों की लूटमार का खतरा रहता था, उनके हित एथेंस की प्राचीरों के भीतर रहने वाले नागरिकों के हितों के प्रतिकूल पड़ते थे।

(ग) लॉज़ के राज्य में अर्थ-व्यवस्था

प्लेटो ने अपने नागरिकों के आर्थिक हितों या कार्यकलाप के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी और अगर छोड़ी भी है तो बहुत कम—हालांकि उसके हर नागरिक के पास ज़मीन के दो-दो टुकड़े हैं और कुछ नागरिक वैयक्तिक मालमत्ते की दृष्टि से औरों के देखे संपन्न हैं। कोई भी नागरिक किसी कला या शिल्प को व्यवसाय का आधार नहीं बना सकता (846 D) ; न वह पैसा कमाने के किसी घृणित तरीके को अपना सकता है—जैसे क्रय या विक्रय की कला को क्योंकि उसके फेर में पड़ कर स्वतंत्र और 'उदार' व्यक्तियों तक में नीचता आ जाती है (741 E)। किसी भी नागरिक के पास सोना या चाँदी न होगी और हालांकि सिक्के चलते रहेंगे, पर वे देश के अंदर ही चलेंगे, देश के बाहर नहीं (742 A)[1]। प्लेटो के राज्य में व्याज लेने की मनाही होगी। अगर कोई रुपया-पैसा उधार दे, तो अपनी ज़िम्मेदारी पर दे और जो व्यक्ति उधार लेगा, वह उधार ली हुई पूंजी लौटाने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य नहीं होगा (742 C)[2]। जब नागरिक उद्योग तथा वाणिज्य के दायरे से बाहर रहेगा, जब व्याज लेने या अपने पास मूल्यवान धातुएँ रखने की उसे मनाही होगी, तब वह धन-संचय को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने के प्रलोभन से बचा रहेगा और 'तन तथा मन का वह उत्कर्ष' पाने की कोशिश करेगा जिसका सबसे बुरा और सबसे कटु शत्रु है अपार धन-संपदा। सेंट पॉल की भाँति प्लेटो का विचार भी यही था कि धन की आसक्ति सारी बुराइयों की जड़ है और जब उसने कहा कि ज्यादा अमीरी का ज्यादा अच्छाई के साथ निभाव नहीं हो सकता (742 E—743 A), तब उसके शब्दों में हमारे प्रभु ईसा मसीह के इस वचन

---

[1] शायद, प्लेटो स्पार्टा की तथाकथित लौह मुद्राओं (लोहे की छड़ों) की बात सोच रहा है। किंतु वह इस बात के लिए तयार है कि राज्य के पास कुछ सामान्य हेलेनी मुद्रा रहे ताकि जो लोग यात्रा करना चाहें और जिन्हें इसकी अनुमति मिल जाए, वे स्थानीय मुद्रा के बदले राज्य से यह सामान्य हेलेनी मुद्रा प्राप्त कर सकें।

[2] रिपब्लिक, 556 B, में अल्पतंत्र को विनाश से बचाने के यही उपाय सुझाए गए हैं (पीछे पृ० 375—7 से तुलना कीजिए)।

की ही प्रतिध्वनि हुई है कि लक्ष्मी का लाड़ला स्वर्ग-राज्य में पाँव न रख सकेगा[1]। इस तरह अगर संपत्ति की श्रेय से शत्रुता है और अगर राज्य तथा विधियों का उद्देश्य श्रेय की उद्भावना करना है, तो राज्य का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि वह लोगों को धन-संपदा के पीछे न भागने दे। अगर राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयत्न करेगा, तो इससे उसका अपना हित भी होगा और उसके सदस्यों का भी। धन-संपत्ति लड़ाई-झगड़ों और मुकदमेबाज़ी की जड़ होती है। लड़ाई-झगड़ों और मुकदमेबाज़ी से वह भावगत एकता नष्ट हो जाती है जो राज्य का आवश्यक आधार है (743 C)। जो राज्य अपने सदस्यों का श्रेय और अपनी एकता चाहेगा, वह पूरी तरह कृषि पर निर्भर होगा। उसमें खेती भी उसी हद तक की जाएगी जिससे तन-मन की जरूरतें पूरी हो सकें (743D)। प्रकृतितंत्रीय सिद्धांतों (physiocratic principles) पर इस प्रकार आधारित और कृषि-जीवन की सच्ची और सहज अर्थ-व्यवस्था पर चलने वाले राज्य में विधिकर्त्ता का काम और राज्यों के विधिकर्त्ताओं के काम से आधे से भी कम होगा। उसमें नौ-वहन, वाणिज्य और खुदरा व्यापार न होगा; उसे ऋण, व्याज तथा अन्य हज़ारों चिंताओं से छुट्टी मिल जाएगी; वह केवल किसानों, चरवाहों और मधुमक्खी-पालकों के लिए विधियाँ बनाएगा (842 C)। ऐसे राज्य के नागरिक भी अपने विधिकर्त्ता से कम भाग्यशाली न होंगे। साधारण लोगों को जितना बोझ उठाना पड़ता है, उन्हें उसका आधे से भी कम बोझ उठाना पड़ेगा और जो महान् दौड़ उनके सामने हो उसमें रिपब्लिक के संरक्षकों की भाँति वे भी निश्चित होकर हिस्सा ले सकेंगे। हाँ ''यह जरूरी है कि वे उनसे थोड़े कम भाग्यशाली होंगे[2]। हर नागरिक

---

1. प्लेटो रूढ़ि से बँधे स्वर में नहीं बोल रहा (हालांकि कांचन-प्रियता के बारे में रूढ़ वचन कह देना आसान है)। उसने यह बात सच्चे मन से कही है। क्रीटवासी क्लीनिआज़ को एथेनी अजनबी से जो बात कहते हुए दिखाया गया है, उसमें यह स्पष्ट है (832 B): "हमें लगता है कि आपको धन-संपदा का जितना तिरस्कार करना चाहिए, आप उससे ज्यादा तिरस्कार कर रहे हैं मानो आपको निश्चय ही उससे घृणा हो"। प्लेटो ने जिस अवतरण में धन की आसक्ति को वह महान् छलना बताया है जो मानवों की आत्माओं को अच्छाई से दूर हटा देती है, उसी अवतरण (831 C—832 B) के बाद यह बात कही गई है। यहाँ यह और कह दिया जाए कि प्लेटो ने वाणिज्य, और धन की निंदा की है और यह आग्रह किया है कि केवल कृषिकर्म अपनाया जाए। अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के पहले खंड में उसका पुनराख्यान किया है। धन-संपदा के प्रति प्लेटो का दृष्टिकोण दिलचस्पी की चीज़ है पर मेरी सम्मति में उसमें पूँजी के प्रति समाजवादी विरक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हुई—हालांकि पोहलमान का विचार यही है। उसमें तो बल्कि धन-संपदा की मरीचिका के प्रति नैतिक विरक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।
2. लगता है **लॉज़** के इस अवतरण (807 C) में प्लेटो **रिपब्लिक** (465 D) की प्रतिध्वनि कर रहा है। रिपब्लिक में संरक्षकों के बारे में कहा गया है कि उन्हें ओलंपिक विजेताओं से भी बड़ी विजय और बड़े पारितोषिक प्राप्त हुए हैं। लॉज़ में नागरिकों को एक ऐसे उत्कर्ष की सिद्धि के लिए मुक्त कर दिया गया है जिसमें उन्हें उससे भी दुगुना या दुगुने से अधिक परिश्रम करना पड़ता और कष्ट उठाना पड़ता है जितना पीथियाई या ओलंपिक खेलों में विजय पाने के लिए आवश्यक होता है।

के पास ज़मीन का नियत टुकड़ा होता है, हर नागरिक उस पर दासों से जुताई कराता है जो उस ज़मीन पर बटाई की पद्धति-विशेष के अनुसार काश्त करते हैं और अपनी उपज का कुछ भाग लगान के रूप में दे देते हैं[1] ; और हर नागरिक अपने घर की

---

1. सच पूछा जाए तो यह दासता कृषक-दासता या सामंती दासता है। यह उस तरह की दासता (या कृषक दासता है) जो टेसिटस ने जर्मनों के बीच देखी थी (जर्मानिया, C. XXV : स्वामी गेहूँ, ढोरों और वस्त्रों के लाने का आदेश देता है तथा दास इस आदेश का पालन करता है)। यह स्पार्टा के हैलटों जैसी कृषक दासता है। दासता का जो एकदम सही अर्थ है, उसी अर्थ को ग्रहण करें यानी अगर उसका अर्थ हम कृषक दासता नहीं वरन् वैयक्तिक दासता मानें तो उसका अस्तित्व न तो **रिपब्लिक** में हैं—और हम देख चुके हैं कि इसे मानने का हमारे पास कारण है—और न **लॉज़** में (पीछे पृ० 346, पा० टि० 4 देखिए)। जिस तरह एथेनी नागरिकों के पास औद्योगिक दास थे, उस तरह प्लेटो के उपनिवेश के नागरिकों के पास नहीं हैं (पर यह चर्चा उसने अवश्य की है कि इस तरह के दास वहाँ आकर बस जाने वाले विदेशियों के पास होते थे) और जिस तरह एथेंस की नौकरी में राजकीय दास हुआ करते थे, उस तरह स्वयं उपनिवेश की नौकरी में राजकीय दास नहीं हैं। "नागरिकों की ज़मीन पर काश्त करने वाले दासों की स्थिति का विवेचन" करते-करते प्लेटो ने सुझाया है (अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** में इस दृष्टि से प्लेटो का अनुसरण किया है जैसा कि प्रायः अन्यत्र भी किया है) कि वे न तो एक देशवासी हों और न भरसक एक भाषा-भाषी ही हों : इस तरह वे आपस में कम मिलें-जुलेंगे और उन्हें गुलामी की वेड़ियों में जकड़े रहने में आसानी होगी (777 C; **पॉलिटिक्स**, VII. 10, § 13, 1330, a 25—26 से तुलना कीजिए)। उसने कहा है कि यूनानियों में दासों के प्रति व्यवहार के दो भिन्न और विरोधी तरीके हैं। कुछ स्वामी यह बात समझते हैं कि अगर उनके पास सबसे अच्छे और सबसे स्वामिभक्त दास हों, तो उनसे क्या लाभ हो सकता है और वे यह भी जानते हैं कि दासों ने अकसर अपने स्वामियों के जान-माल की रक्षा की है। अतः वे उनके साथ उदारता का बर्ताव करते हैं। जो मालिक सोचते हैं कि दास और मिट्टी के बने होते हैं और दूसरे लोगों की अपेक्षा बुरे होते हैं, वे दासों पर अत्याचार और दमन का चक्र चलाते हैं और दास स्वभावतः जितने पतित होते हैं, वे उन्हें उससे कई गुना पतित बना देते हैं। उसने बड़ा अच्छा सुझाव दिया है (777 D) कि मालिकों को दासों के प्रति अच्छा व्यवहार करना चाहिए—दासों के प्रति सम्मान की भावना से ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक आत्म-सम्मान की भावना से अच्छा व्यवहार करना चाहिए। अपने समकक्ष व्यक्तियों के साथ वे न्याय करने के लिए जितने तत्पर होंगे, उससे भी अधिक तत्परता के साथ उन्हें अपने दासों के साथ न्याय करना चाहिए क्योंकि जहाँ न्याय करना सबसे आसान हो, वहीं न्याय का वैशिष्ट्य सबसे अधिक स्पष्टता के साथ प्रकट होता है और दासों के साथ अच्छा व्यवहार करने से दासों में भी अच्छाई प्रकट होती है। दूसरी ओर, जब दास कोई ग़लत काम करें, तब उन्हें केवल डांटा-फटकारा न जाए ; बल्कि कठोर दंड दिया जाए और स्वामी को दास के साथ कभी हँसी-मज़ाक नहीं करना चाहिए, बल्कि उसे सदा आदेश देना चाहिए (777 E—778 C ; **पॉलिटिक्स**, 1. 13, § 14, 1260, b 5—7 से तुलना कीजिए) ; क्योंकि हँसी-मज़ाक से स्वामी के लिए शासन करना और दास के लिए आज्ञापालन अधिक कठिन

महिलाओं समेत अपने संगी-साथियों की सुखद संगति में पंचायती रसोई में भोजन करता है। पर, यह तस्वीर का एक पहलू है और प्लेटो भी अच्छी तरह जानता है कि तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। सच पूछा जाए तो ये संस्थाएँ द्वितीय सर्वश्रेष्ठ ही हैं और इस पर भी वे एक स्वप्न हैं; ऐसा स्वप्न जो शायद कभी सच नहीं हो सकता (745 E—746 D)। इसकी बहुत कम संभावना है कि लोग कभी इस बात के लिए तैयार होंगे कि उनकी संपत्ति की मात्रा और परिवारों के आकार की सीमाएँ स्थिर कर दी जाएँ; उनके इस बात के लिए राज़ी होने की भी संभावना नहीं कि उन्हें सोना-चाँदी से वंचित कर दिया जाए या उनकी ज़मीन का आधा हिस्सा देहात में और आधा शहर में रहे। प्लेटो ने इन आपत्तियों की सचाई स्वीकार की है, पर उसका तर्क है कि इससे पहले कि आदर्श को व्यवहार की कसौटी पर कसा जाए, और उसमें वास्तविक जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप यहाँ-वहाँ कुछ संशोधन किया जाए, या उसे कुछ निम्न स्तर पर लाया जाए, यह आवश्यक है कि आदर्श को एक पूर्ण और सुसंगत इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जाए। यह तर्क बिल्कुल सही है; किंतु इससे प्रमाणित होता है (और यह बात महत्त्वपूर्ण है) कि लॉज़ का गौण आदर्श भी है एक आदर्श ही और जब प्लेटो ने इस आदर्श का प्रतिपादन किया था, तब उसे इस आदर्श के साकार होने की उतनी ही (या उससे भी कम) आशा थी जितनी रिपब्लिक के ऊँचे आदर्श का निरूपण करते समय उसके साकार होने की रही होगी।

फिर भी, जब प्लेटो अपने राज्य के आर्थिक जीवन की बारीकियों पर विचार करने लगता है, तब अनेक दृष्टियों से उसने वास्तविकता के साथ समझौता करना चाहा है। उद्योग और व्यापार का राज्य से निर्वासन नहीं कर दिया गया। नागरिक के लिए वे निषिद्ध हैं, पर राज्य की अर्थ-व्यवस्था में उनका स्थान है मगर इस शर्त्त के साथ कि उनका संचालन विदेशियों के हाथों में रहे। नागरिक के लिए राजनीति-कला और तन-मन के उत्कर्ष का प्रयास; दास के लिए कृषि और विदेशी के लिए वाणिज्य तथा उद्योग—लॉज़ में प्लेटो ने श्रम का यही विभाजन किया है। लॉज़ के पन्नों में रिपब्लिक की पुरानी भावना का ही स्पंदन है और लॉज़ में जो त्रिवर्ग व्यवस्था दिखाई देती है, वह रिपब्लिक की त्रिवर्ग-व्यवस्था से मूलतः भिन्न भले ही हो, पर

हो जाता है। अगर, हम दासता की सत्ता स्वीकार करें, तो उनमें सहज बुद्धि की भी झलक मिलती है और सुनीति की भी। पर, दासता के प्रश्न पर प्लेटो यूनान के सामान्य दृष्टिकोण से आगे बढ़ा है—यह मानना ग़लत होगा। उसने दास को बच्चे के समान माना है जिसके मन का पूरा विकास न हुआ हो (793 E : 937 A)। अपनी दास संहिता के उपबंधों में वह नागरिक की अपेक्षा दास के प्रति कहीं तो कम कठोर है (854 E : 941 E) और कहीं निश्चित रूप से अधिक कठोर (845 A : 872 B); पर दोनों सूरतों में उसकी मान्यता एक ही है, यानी दास एक भिन्न और निम्नतम प्राणी है। हत्या-विषयक विधि (865—74) में, और उस विधि के अंतर्गत किसी स्वतंत्र व्यक्ति द्वारा की गई और किसी दास द्वारा की गई हत्या में तथा इसी प्रकार किसी स्वतंत्र व्यक्ति की हत्या और किसी दास की हत्या में जो भेद किया गया है, उसमें यह मान्यता सबसे स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है।

उसका मूल सिद्धांत वही है यानी हर आदमी को कोई एक और विशिष्ट काम ही करना चाहिए। नागरिक पूर्ण नागरिकता की कला या शिल्प के अतिरिक्त किसी भी अन्य कला या शिल्प को काम में नहीं लाएगा—यही सिद्धांत इस नियम का प्रेरक है और इस नियम का भी कि कोई भी विदेशी एक कला से अधिक को अपने धंधे का आधार नहीं बनाएगा (486 D—847 A)। किंतु, इस सिद्धांत के अधीन रहते हुए और इन नियमों के अधीन रहते हुए, प्लेटो ने आर्थिक क्रिया-कलाप के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र स्वीकार किया है। प्लेटो ने विदेशी शिल्पियों के तेरह भाग किए हैं। एक भाग तो नगर में रहता है और शेष बारह भागों में से प्रत्येक एक-एक कबाइली क्षेत्र में। प्रत्येक क्षेत्र में जो विदेशी शिल्पी होंगे, उन्हें विभिन्न गाँवों में भेज दिया जाएगा और यह वितरण कुछ इस तरह से होगा कि प्रत्येक गाँव में ऐसी हर कला और शिल्प पहुँच जाए जो आस-पास के सारे इलाकों की सुविधा के लिए ज़रूरी हो (848 E)। वाणिज्य-राज्य के प्रति अपनी आपत्तियों के बावजूद प्लेटो ने विदेशी वाणिज्य और स्वतंत्र उद्योग तक के लिए कुछ गुंजाइश निकाल ली है (847 B)। आयात या निर्यात पर कोई शुल्क नहीं लगेगा; पर न तो आवश्यक विलास-वस्तुओं (जैसे रंग-रोगनों और मिर्च-मसालों) का आयात होगा और न आवश्यक वस्तुओं का निर्यात। लॉज़ का राज्य किसी भी दृष्टि से उस सीमित व्यापार-राज्य के समान नहीं है जिसकी चर्चा फिख्टे ने की है। उसमें आवश्यक वस्तुओं का बेरोकटोक आयात हो सकता है और विदेशी शिल्पी भी बिना किसी बाधा के आ सकते हैं[1]। आंतरिक व्यापार के संबंध में भी प्लेटो का दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं है। यह सच है कि रुपया-पैसा कमाने की खातिर खुदरे व्यापार का उसने निषेध कर दिया है (847 E); पर इसे निरपेक्ष निषेध नहीं समझा जाना चाहिए। आवासी विदेशी नागरिकों से खाद्यान्न तो खरीदेंगे ही; इसलिए प्लेटो देश की उपज का एक तिहाई भाग उनके उपयोग के लिए अलग रख देता है (848 A)। जिस प्रकार, नागरिकों के लिए उनकी कलाकृतियों का खरीदना ज़रूरी है, उसी प्रकार उनके लिए अपनी कलाकृतियों का बेचना। खुदरा व्यापार ज़रूरी है और अगर धन बटोरने का तत्त्व समाप्त हो जाए या कम से कम सीमित हो जाए, तो उसकी इज़ाज़त देना आवश्यक है। अतः, जिस समस्या का समाधान करना है और जो समस्या लॉज़ में बार-बार उठी है, वह है दो भिन्न और विसंगत तत्त्वों के समन्वय की समस्या (918 B—920 C)। एक ओर तो खुदरा

---

[1] प्लेटो ने जिन विदेशियों की चर्चा की है; वे दो प्रकार के हैं: (1) निवासी विदेशी (या 'सहनिवासी'), जो किसी प्रकार का 'विदेशी-शुल्क' दिए बिना बीस वर्ष तक रह सकते हैं पर शर्त्त यह है किसी शिल्प के व्यवसायी हों; और वे विदेशी निवासी जो राज्य की सार्वजनिक सभा की स्वीकृति पाने पर आ-जीवन रह सकते हैं (850); (२) अस्थायी रूप से आने वाले अजनबी—ये गर्मियों में तिजारत के लिए आते हैं और उपनगरों में तिजारत करते हैं (952 E)। प्लेटो एथेंस के आवासी विदेशियों का मित्र था (रिपब्लिक के नाटकीय पात्रों से यही ज्ञात होता है, पीछे पृ० 230 देखिए) और इस वर्ग के प्रति उसका व्यवहार उदार रहा है। अजनबियों के देवता के प्रति सम्मान भाव के कारण वह अस्थायी रूप से आने वाले अजनबियों को भी विशेष वैधिक संरक्षण देना चाहता है (879 E)।

व्यापार ज़रूरी है ; ज़रूरी ही नहीं, इससे भी कुछ अधिक है : वह लाभदायक है। चीज़ों का बिकवाल मूल्य के सामान्य माप के रूप में मुद्रा का उपयोग करके सारी चीज़ों को एक ही मानक के संदर्भ में ग्रहण करने लगता है। वस्तु विनिमय की प्रक्रिया द्वारा एक चीज़ को दूसरी चीज़ से नापने का जो कष्ट लोगों को उठाना पड़ता, उससे वह उन्हें मुक्त कर देता है। इस दृष्टि से वह उपकार करता है। उसके व्यवसाय से समाज की भलाई होती है ; और समाज में उसका एक नियत स्थान और कार्य होता है। उसका कार्य है—समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की और उसके पदार्थों की नाप-तौल के लिए समान आधार की, व्यवस्था करना और प्रचुरता के साथ करना। दूसरी ओर, क्रय-विक्रय तो द्रव्य-प्रेम की असली जड़ है और द्रव्य का प्रेम सब बुराई की। अगर यह काम ऐसे लोगों के हाथ में रहता जो इस तरह के परिणाम से बचे रहते और अगर सरायदारी तथा दुकानदारी सर्वश्रेष्ठ ढँग के लोगों के हाथों में होती, तो हम देखते कि इस तरह की चीज़ें कितनी सुखदायी और प्रिय हो सकती हैं[1]। यह संकेत दिलचस्प ज़रूर है, पर प्लेटो जो समाधान प्रस्तुत करना चाहता है, उसका आधार यह नहीं है। सर्वश्रेष्ठ श्रेणी के लोगों को कुछ और चिंताएँ लगी रहती हैं जिनकी ओर पहले ध्यान देना होता है : नागरिक तो व्यापारिक लेन-देन में एक निष्क्रिय पक्ष ही हो सकता है और अगर वह सक्रिय भाग लेने की कोशिश करे और (मध्य युग के एक बिशप के शब्दों में) "अपने वर्ग की गरिमा खोकर तिजारत द्वारा धन संचय करना चाहे" तो उसे एक वर्ष का कारावास-दंड दिया जाएगा। क्रय-विक्रय विदेशियों के हाथों में छोड़ दिया जाना चाहिए ; परंतु उन पर ऐसा नियंत्रण रखना चाहिए कि लाभ कमाने की भूख शांति किए जाने की कोई गुंजाइश न रहे। प्लेटो खुले बाज़ारों की व्यवस्था की पैरवी करता है जहाँ खरीदार और बिकवाल सार्वजनिक रूप से एक जगह इकट्ठे हो जाएँ और विनियमन आसान हो (849)। उधार-खाते की यहाँ कोई मान्यता नहीं, जो उधार बेचे, अपनी ज़िम्मेदारी

---

[1] बात कुछ यह कहने जैसी है कि अगर सारी सरायों का प्रबंध लोक-मनोरंजन गृह-संघ (**पीपुल्स रिफ्रेशमेंट हाउस एसोशियेशन**) के हाथों में होता और सारी दुकानें सहकारी सिद्धांतों के आधार पर चलतीं, तो सरायदारी और दुकानदारी कहीं अधिक सुखदायी काम हो जाते। प्लेटो ने यूनान की सरायों के बारे में जो हवाला दिया है (919 A), उससे उसके युग की एक अजीब बात सामने आती है—और यह भी सिद्ध होता है कि कुछ चीज़ें नित्य होती हैं चाहे कोई-सा युग हो। "जो लोग ज़रूरतमंद या मुसीबत के मारे होते हैं, सराय का मालिक उन्हें आराम करने की अच्छी जगह देता है। जब लोग भीषण झंझावातों के प्रबल थपेड़े खा चुकते हैं, तब वह उन्हें निरुद्वेग शांति का वरदान देता है ; या फिर ताप से त्राण और ताज़गी देता है। और, इसके बाद, वह उनके साथ मेहमानों जैसा बर्ताव नहीं करता ; उनसे साथ ऐसा बर्ताव करता है मानो वे बंदी शत्रु हों जिन्हें उसने गिरफ्तार कर लिया हो और जिन्हें वह तभी आजाद करेगा जब वह उनसे छुड़ाई वसूल कर लेगा—भरपूर, अन्यायपूर्ण और गर्हित छुड़ाई"। बिल्कुल यह लगता है मानो प्लेटो को सराय में पहले तो हार्दिक स्वागत मिलता रहा हो और फिर अकसर पैसा भी खूब देना पड़ा हो।

पर वेचे (880 A)। दंडनायक हलका-सा मुनाफ़ा तय कर देते हैं (920 C)। बाज़ार के किसी भी एक दिन विक्रेता किसी चीज़ का एक ही दाम माँग सकता है (917 B)। पदार्थों में मिलावट हो तो मिलावट के पदार्थों के मूल्य के फ़ी दरम पर एक कोड़े का दंड दिया जा सकता है (917 D)[1]।

कुल मिलाकर और एक सामान्य दृष्टिकोण से देखें तो प्लेटो पर व्यापार जगत के व्यावहारिक जीवन के प्रति अभिजात-तंत्रीय उदासीनता का आरोप लगाना अनावश्यक भी है और अन्यायपूर्ण भी। उसने जिस पूर्वग्रह का परिचय दिया है, वह किसी भी तरह वर्गगत पूर्वग्रह नहीं है : वह नैतिक व्यवस्था का पूर्वग्रह है। वह घोर सौदेबाज़ी और बाज़ार के दाँव-पेंचों के निकृष्ट पहलू से उदासीन रहता है और इसलिए उदासीन रहता है कि उसकी आस्था उस सादा रहन-सहन में है जिससे उच्च चिंतन तथा उच्च कर्म का सोता फूटता है। अपनी इसी आस्था के बल पर उसने वहुत-सी चीज़ों की निंदा कर दी है जिनकी निंदा करने की ज़रूरत न थी और उसने ऐसी कुछ चीज़ों को स्वीकार कर लिया है जिनकी निंदा करना शायद ज्यादा अच्छा होता। उसने नागरिकता का एक ऐसे उदात्त अनुष्ठान के रूप में भावन किया है जिसकी परिधि में सारा जीवन समाया हुआ है और उसी की खातिर उद्योग तथा वाणिज्य में अपने नागरिकों के योगदान की उसने निंदा की है पर दासता की संस्था को स्वीकार कर लिया है। पेरीक्लीज़ की धारणा क्लिष्ट कम है, पर सचमुच भव्य अधिक। सच्चे नागरिक को आर्थिक जगत में भी रहना चाहिए और राजनीतिक जगत में भी। अगर प्लेटो के चिंतन में कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो संयम की दृष्टि से असंभव है ; तो उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है जो सुकोमल मानवीय भावना से ओत-प्रोत है। निर्धनों को सहायता देने की जिस विधि का उसने सुझाव दिया है—वह इसका एक उदाहरण है (936 B--C) ; वह हट्टे-कट्टे भिखारियों को देश निकाला दे देगा, पर दुर्भाग्य के मारे सच्चरित्र लोगों के प्रति उसके मन में दया है चाहे वे स्वतंत्र व्यक्ति हों चाहे दास। अगर इन स्वाधीन या पराधीन लोगों को थोड़े से भी व्यवस्थित संविधान या राज्य में पूर्ण उपेक्षित या निराश्रित होना पड़ा, तो यह सचमुच अजव वात होगी। यह विश्व-मानवता की भाषा है, वर्गगत पूर्वग्रह की भाषा नहीं। इसके साथ ही प्लेटो विदेशियों के प्रति जो व्यवहार चाहता है, या दासों के प्रति स्वामियों का जैसा आचरण चाहता है, या विदेशी वाणिज्य और देश के भीतर के व्यापार के प्रति उसने जो दृष्टिकोण ग्रहण किया है, वह किसी भी तरह एक सहृदय और उदार आत्मा के अयोग्य नहीं है। शायद यह एक छोटी-सी बात है, पर फिर भी इसका महत्त्व है कि प्लेटो ने तकनीकी शिक्षा जैसी चीज का भी समर्थन

---

1. इन उपबंधों में से दूसरे का एक हास्य-कवि एंलेक्सिज़ (जॉवेट, लॉज़ की प्रस्तावना, पृ० V) ने इस आधार पर मज़ाक उड़ाया है कि इसकी वजह से मछली का व्यापारी मछलियों को दिन के आरंभ की अपेक्षा दिन के अंत में कम कीमत पर वेचने से रुक जाएगा और उन्हें सड़ाने के लिए घर ले जाने को बाध्य हो जाएगा। तीसरे उपबंध के परिणामस्वरूप दंड का जो भी क्रम बनेगा वह युक्तिहीन होगा।

किया है — उसने सुझाया है कि बच्चों को आगे चलकर अपने व्यवसाय में जिस ज्ञान की ज़रूरत पड़े, वह उन्हें पहले से ही सिखाया जाना चाहिए और उन्हें बचपन में ही नकली औज़ारों से बढ़ईगिरी, भवननिर्माण और पशुपालन की कलाओं का अभ्यास करना चाहिए (643 B)।

(घ) लॉज़ में विवाह तथा परिवार का विवेचन

ऐन सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में तथा स्त्रियों की स्थिति और विवाह प्रथा के हरेक पहलू के बारे में **लॉज़** के प्लेटो और **रिपब्लिक** के प्लेटो में बड़ा सादृश्य है। प्लेटो ने अपनी पुरानी उदारता और उत्साहपूर्ण निरंकुशता के साथ ही स्त्रियों के इस अधिकार और कर्त्तव्य पर ज़ोर दिया है कि राज्य के सामान्य जीवन में वे पुरुषों की बगल में खड़ी हो सकती हैं। **रिपब्लिक** के दो प्रतिपाद्य सिद्धांत हैं : (एक) स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा मिले और उन्हें पुरुषों के सारे काम-काज करने की आज़ादी हो, और (दो) राज्य एक परिवार हो तथा पत्नी और बच्चे साझे में रहें। इनमें से पहले सिद्धांत की प्रायः पूर्ण स्वीकृति है, और दूसरे सिद्धांत को काफ़ी हद तक त्याग दिया गया है। पर प्लेटो का यह मत अब भी है कि स्त्रियों को सामूहिक भोजन-व्यवस्था के द्वारा सार्वजनिक जीवन में ले आना चाहिये और उसका यह विश्वास भी बना हुआ है कि सार्वजनिक हित के लिए विवाह पर नियंत्रण रखना चाहिए। एक रोचक अवतरण (805 D – 806 C) में उसने अपने युग के समाजों में स्त्रियों की स्थिति पर विचार किया है। ग्रेस में स्त्रियों को घर पर कठोर शारीरिक श्रम करना पड़ता है और उनकी स्थिति प्रायः दासों जैसी है। वे ज़मीन जोतती हैं और पशुओं की देखभाल रखती हैं। एटिका में पत्नी घर और घर की चल संपत्ति की स्वामिनी है, पर उसके सम्मान में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि 'वह घर की रानी' है और 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' होता है। स्पार्टा में अविवाहित लड़कियाँ व्यायाम करती हैं और वहाँ विवाहित स्त्री केवल आधी गृह-स्वामिनी होती है और आधी पौरुषमयी मातृमूर्त्ति हालाँकि उसका सिर्फ़ एक ही काम है—स्पार्टा की पुष्ट वंश-बेल का संवर्धन। प्लेटो के दृष्टिकोण से जो मूल तथ्य हैं, उन्हें कोई भी समाज नहीं मानता—वे तथ्य ये हैं कि भले ही स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कम क्षमता हो, पर वे पुरुषों के सारे काम-काज में हाथ बँटा सकती हैं और जब तक वे ऐसा नहीं करतीं, तब तक राज्य अपने आधे सदस्यों की सेवाओं से वंचित रहता है (805 A : 781 B)। ये तथ्य स्वीकार कीजिए और फिर निष्कर्ष यही निकलेगा कि स्त्रियों और पुरुषों के लिये सारी संस्थाओं का प्रबंध और व्यवस्था एक से सिद्धांतों के आधार

पर होनी चाहिए। सबसे पहले स्त्रियों को सामूहिक भोजन-व्यवस्था में भाग लेना चाहिए[1]। पुरुष अलग भी बैठ सकते हैं, पर उनकी पत्नियों और पुत्रियों को पास ही की पंगतों में बैठकर भोजन करना चाहिए (806 E)। अब तक वे घर की जिस चहारदीवारी में बंद रहती रही हैं और जिसका उन्हें अभ्यास पड़ गया है, उससे बाहर निकाले जाने का वे विरोध कर सकती हैं। पर वे चाहे कुछ भी विरोध क्यों न करें, अगर उन्हें सामूहिक जीवन की भावना से अनुप्राणित करना है और उसके कार्य में भागीदार बनना है, तो यह ज़रूरी है कि उन्हें उस जीवन में खींच लिया जाए (781)। दूसरे, उन्हें पुरुषों के समान ही प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए और सार्वभौम शिक्षा की एक अनिवार्य प्रणाली में स्त्रियाँ तथा पुरुष दोनों शामिल होने चाहिएँ। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी व्यायाम का प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए : लड़कियों और युवतियों को लड़कों और युवकों की प्रतियोगिताओं में भाग लेना चाहिए ; जब तक वयस्क स्त्रियों का विवाह न हो जाए, तब तक उन्हें वयस्क पुरुषों की प्रतियोगिताओं में भाग लेना चाहिए और अगर स्त्रियों की इच्छा हो, तो वे टुर्नामेंटों तक में भाग लें और पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर घोड़े पर सवारी करती हुई हथियारों से युद्ध करें (833—4)। पुरुषों के समान प्रशिक्षित स्त्रियों को आवश्यकता के समय पुरुषों के समान ही युद्ध करना चाहिए। राष्ट्र की सेवा में उन्हें भी लगाया जा सकता है ; महीने में एक दिन उन्हें भी पुरुषों के साथ मैदान में सैनिक क़वायद करनी चाहिए (829 B) ; और अगर लड़ाई हो और दुश्मन द्वार तक आ पहुँचे, तो उन्हें छिपना या रोना नहीं चाहिए बल्कि खुले में आकर अपने बाल-बच्चों की प्राणरक्षा के लिए लड़ना चाहिए जैसे "पक्षी लड़ते हैं" (814 B)। परंतु हालाँकि प्लेटो यों स्त्रियों की सेवाएँ ग्रहण करने का दावा करता है, पर उसने लॉज़ में उनके कोई पद ग्रहण करने या सभा में मत देने के बारे में कुछ नहीं कहा है। यह सच है कि उसके यहाँ स्त्री-पदाधिकारी हैं ज़रूर पर उनका संबंध विवाह की संस्था से ही है ; और रिपब्लिक की तरह लॉज़ में स्त्री-संरक्षकों का कोई संकेत नहीं है। हो सकता है प्लेटो समस्या के इस पहलू को भूल गया हो ; या उसे यहीं तक लिखने की याद रही हो कि "जो स्त्रियाँ विशिष्ट सद्‌गुण का परिचय दें, उनकी वैसी ही सराहना होनी चाहिए जैसी पुरुषों की" (802 A) ; या हो सकता है उसने सोचा हो कि रिपब्लिक में उसने जिस पारिवारिक जीवन का अंत कर दिया था पर लॉज़ में जिसे बिल्कुल अछूता छोड़ दिया है ; उसका स्त्रियों के राजनीतिक क्रिया-कलाप के साथ निभाव नहीं हो सकता।

लॉज़ में एक विवाह-प्रथा का विधान है, परंतु उस पर आदि से अंत तक राज्य का नियंत्रण है। प्लेटो ने आरंभ में ही युवक-युवतियों के प्रणय-प्रसंग की व्यवस्था की है। हर महीने हर कबीला एक धार्मिक उत्सव का आयोजन करता है ताकि उसके लोग एक दूसरे से परिचय प्राप्त करें और उनमें भाई-चारे की भावना

---

[1] सामूहिक भोजन-व्यवस्था को एक प्रकार का 'सहकारी गृह प्रबंध' (यह प्रयोग प्रो० बर्नेट का है) कहा जा सकता है। यह स्त्रियों को घर-गृहस्थी की चिंताओं से मुक्त करके उन्हें सार्वजनिक जीवन के लिए तैयार करने का साधन तो है ही ; अपने आप में एक प्रकार का सार्वजनिक जीवन भी है।

बढ़े। और इन उत्सवों के अन्य उद्देश्य तो हैं सो हैं ही[1], एक उद्देश्य यह भी होता है कि पुरुषों का अपनी भावी पत्नियों से परिचय हो जाए[2]। प्लेटो ने यह व्यवस्था भी की है कि विवाह से पहले स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को निर्वस्त्र देख लें और यही सुझाव बाद में जाकर सुजनन शास्त्र के आधार पर प्रस्तुत किया गया था कि वर और वधु एक-दूसरे के स्वास्थ्य की परीक्षा कर लें (772)। लॉज़ के मूल विचार तथा **पॉलिटिक्स** में पहले ही दिए गए सुझाव के अनुसार उसने सलाह दी है कि विवाह परस्पर विरोधी तत्वों का मिलन होना चाहिए ; अमीर को गरीब के साथ और उग्र स्वभाव के व्यक्ति को शांत स्वभाव के व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहिए। यह काम कानून के बल से नहीं होना चाहिए, उसका तो यहाँ प्रयोग हो ही नहीं सकता। यह तो इस विचार से होना चाहिए कि विवाह निजी सुख के लिए नहीं किया जाता ; राज्य के लाभ के लिए किया जाता है (773)। प्लेटो चाहता है कि जब पति-पत्नी विवाह सूत्र में बँध जाएँ, तब वे याद रखें कि उनका कर्त्तव्य राज्य की सेवा के लिए बच्चे पैदा करना है ; और इसी प्रयोजन के लिए विवाह के पहले दस वर्ष तक उसने पति-पत्नी को स्त्री-निरीक्षकों की निगरानी में रखने की व्यवस्था की है (764)। जिस राज्य की जनसंख्या स्थिर रखनी हो, उसमें स्पष्टतः किसी न किसी प्रकार का विनियमन आवश्यक होगा हालाँकि इन निरीक्षिकाओं के रूप में यह विनियमन स्वीकार्य नहीं हो सकता। कुछ दंपत्तियों के लिए तो यह संतति-विग्रह[3] के रूप में होगा, पर कुछ के संदर्भ में वह प्रोत्साहन का भी रूप लेगा (740)। प्लेटो को प्रजनन-दर के बढ़ने का नहीं बल्कि गिरने का डर था ; अतः वह कुछ तो निरीक्षिकाओं की सलाह-सीख द्वारा, कुछ माता-पिताओं को विशेषाधिकार और सम्मान देकर तथा कुछ पैंतीस वर्ष से अधिक आयु के अविवाहितों पर कर लगाकर संतानोत्पत्ति को प्रोत्साहन देना चाहता है। इनमें से अंतिम उपाय ऐसा है जिसके आज भी कुछ पैरोकार मिलते हैं (721 D : 772 A)। पर ये उपाय भौतिक कारणों पर ही आधारित नहीं हैं ; इनके कुछ नैतिक कारण भी हैं। मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे विवाह करें और बच्चे पैदा करें ताकि वे अमर हो सकें। विवाह न करना वास्तव में एक प्रकार का पाप है

---

1. मित्रता और सामाजिक संपर्क राज्य की एकता के सूत्र हैं ; और ये उत्सव सामाजिक संपर्क का एक रूप हैं। यह भी ज़रूरी है कि नागरिक एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानें ताकि जो लोग सम्मान के पात्र हैं उन्हें सम्मान मिल सके और जो पद के योग्य हैं, उन्हें पद (738 E)। लॉज़ के पहले दो खंडों में सामाजिक संपर्क का और इस बात का काफ़ी गहराई और विस्तार से विवेचन किया गया है कि इस संपर्क में नृत्य और संगीत का या विशेषकर मदिरा का क्या स्थान हो ?

2. प्लेटो ने स्त्री-पुरुषों की एक-दूसरे से जान-पहचान कराने के लिए सामूहिक मिलन-सभाओं की जो व्यवस्था की है, उसका आधुनिक समुदायों में भी अनुकरण किया जा सकता है जहाँ स्त्री-पुरुष राह चलते एक दूसरे से मिलते और परिचय प्राप्त करते हैं जिसकी परिणति विवाह के रूप में होती है।

3. प्लेटो ने **रिपब्लिक** में संतति-निग्रह के उपायों का जैसा स्पष्टीकरण किया है, वैसा लॉज़ में नहीं किया।

(721 D)[1]। लोगों का कर्त्तव्य है कि वे तन से स्वस्थ और मन से शुद्ध रहें क्योंकि बच्चों के मन और शरीर पर उनका असर पड़े बिना नहीं रह सकता (775 E)[2]। ब्रह्मचर्य के गुण का प्लेटो ने बड़ी निष्ठा के साथ और विस्तार से बखान किया है। गृहस्थाश्रम के बारे में उसने प्रायः रूथ की पुस्तक की भाषा का ही प्रयोग किया है।

"पति-पत्नी अपने माता-पिता और बंधु-बांधवों को छोड़ देंगे : वे मानो अपनी अलग बस्ती बसाएँगे और उसमें रहेंगे। वे बच्चे पैदा करेंगे, उनका पालन-पोषण करेंगे और जीवनज्योति को एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी के हाथों में थमाते चले जाएँगे, और वे सदा विधि के अनुसार देवताओं की उपासना करेंगे (776 B—C)"[3]।

कुल मिला कर, विवाह के विषय में प्लेटो का दृष्टिकोण कोरा भौतिक दृष्टिकोण नहीं है, उससे बहुत-कुछ अधिक है। उसका नैतिक—यहाँ तक कि धार्मिक-पक्ष भी है; और अगर इसमें कोई ग़लती है, तो वह वैसी ही ग़लती है जैसी प्लेटो ने **लॉज़** में प्रायः की है—यानी वह निष्ठापूर्ण पर्यवेक्षण की अति तक पहुँच गया है जो शायद असंभव है। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के बारे में भी प्लेटो की सामान्य धारणा उदात्त धरातल पर ही प्रतिष्ठित है, किसी और धरातल पर नहीं। उसकी बहुत सी विशेषताएँ ऐसी हैं जिनमें बड़ी व्यावहारिक बुद्धि का और साथ ही प्रबल मानवीयता तथा नैतिक अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। उसने संख्या पर जो बल दिया है, उस का व्यावहारिक पक्ष भी है और रहस्यात्मक भी : संपत्ति के पंजीयन तथा पूँजी और आय के नियमित निर्धारण के सुझाव उसकी राजनीतिक बुद्धिमत्ता के परिचायक हैं। एक ओर तो समुद्र से संबंधित सब चीज़ों के प्रति उसकी विरक्ति है, पर दूसरी और स्वतंत्र वाणिज्य में उसकी आस्था है; एक ओर प्लेटो ने दासता को स्वीकार किया है, पर गरीबों को, यहाँ तक कि दासों तक को मदद पहुँचाने की उसने पैरवी की है। उसके दासता-विषयक दृष्टिकोण में भी कुछ अच्छी बातें हैं। विवाह के विषय में प्लेटो का जो दृष्टिकोण है, उसमें भौतिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की बुद्धिमत्ता का समन्वय है पर उसका व्यवहार-पक्ष सिद्धांत-पक्ष की अपेक्षा कम पुष्ट है। समाज में स्त्रियों की स्थिति के बारे में उसका दृष्टिकोण एक बात में तो शायद दोषपूर्ण है और दूसरी बात में अतिरंजनापूर्ण; पर कुल मिलाकर वह दृष्टिकोण उदार है। **लॉज़** का

---

1. यह ऐसा विचार है जिसने तापसवाद के उन युगों को चौंका दिया होगा जिनमें कौमार्य को साधुता का प्रमाण माना जाता था।
2. यहाँ प्लेटो ने वही बात कह दी है जो आधुनिक सुजनन-शास्त्र हमें बताता है—वह यह कि शराबी माता-पिता की शराबखोरी का उनके बच्चों पर ज़रूर असर पड़ता है। आधुनिक विज्ञान जनित्र द्रव्य (germ-plasm) के बारे में जो भी जानकारी देता है, उससे इस दृष्टिकोण की खूब पुष्टि होती है।
3. अगर पति-पत्नी का स्वभाव एक दूसरे से न मिलता हो और विधि-संरक्षक तथा स्त्री-निरीक्षिकाएं पति-पत्नी में समझौता न करा सकें, तो **लॉज़** में विवाह-विच्छेद की अनुमति है।

प्लेटो समाजवादी नहीं है, पर उसने संपत्ति-अधिकार के सामाजिक स्वरूप को स्वीकार किया है : वह कुछ-कुछ प्रकृतितंत्रवादी है, पर उसने उद्योग तथा विनिमय के मूल्य और आवश्यकता को स्वीकार किया है। प्लेटो के दोषों का कारण यह है कि उसने नैतिक मानों का बड़ी कठोरता से प्रयोग किया है—पर फिर भी उनमें जितनी बुराई है, उससे अधिक अच्छाई है। यहाँ ऐसा बहुत कम है जो निष्प्राण हो, और अगर निष्प्राण है, तब भी वह 'मुखर है'।

अध्याय 15

लॉज़ की शासन-व्यवस्था

- (क) राज्य के आरंभ-काल के लिए की गई व्यवस्था
- (ख) राज्य की स्थायी संस्थाएँ
- (ग) लॉज़ में शासन-व्यवस्था का सामान्य स्वरूप
- (घ) लॉज़ के बारहवें खंड में स्वर-परिवर्त्तन

अध्याय 15

लॉज़ की शासन-व्यवस्था

लॉज़ का एक मूल सिद्धांत है—विधि की प्रभुता। शासन को विधि के अनुरूप होना चाहिए, विधि को शासन के अनुरूप नहीं। अगर प्रभुता इस तरह विधि में निहित हो, तो निष्कर्ष निकलता है कि हमें लॉज़ के राज्य में ऐसी कोई राजनीतिक सत्ता नहीं मिलेगी जो आधुनिक समाज के प्रभु के अनुरूप हो। दंडनायक-वर्ग, परिषद या सीनेट, कितनी ही बड़ी सभा हो, वह विधि के शासन के अधीन ही होगी और कुछ नहीं[1]। कम से कम लॉज़ के बारहवें खंड तक यही प्रतिपाद्य विषय है, और बारहवें खंड को अनेक कारणों से परिशिष्ट या परवर्ती रचना मानना चाहिए जो आरंभिक खंडों से नहीं मिलती और जिस पर अलग से विचार करने की ज़रूरत है। लॉज़ के राज्य में किसी प्रभुतासंपन्न संस्था या व्यक्ति के न होने का एक और भी कारण है। मूल कल्पना के अनुसार इस राज्य का संविधान मिश्रित होना है। इसमें राजतंत्र का लोकतंत्र के साथ, ज्ञान-सिद्धांत का स्वतंत्रता-सिद्धांत के साथ समन्वय होगा। मिश्रित संविधान में कोई एक प्रभुतासंपन्न सत्ता

---

[1] यह स्मरण रखना चाहिए कि विधि-शासन का जो अर्थ डायसी के लॉ आफ़ द कांस्टीट्यूशन जैसे ग्रंथ में है, प्लेटो के लॉज़ में उसका वही अर्थ नहीं है। अँग्रेज़ विचारक के लिए इसका अर्थ यह है कि अन्य व्यक्तियों की तरह कार्यकारी पदाधिकारी भी संसदीय अधिनियमन द्वारा निर्मित देशविधि के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उनके ऊपर भी इस विधि का पालन कराने वाले साधारण न्यायाधीशों के सामने मुकदमा चलाया जाता है। इस विधि-संहिता का जहाँ विधिकर्त्ता ने एक बार निर्माण किया, और इसे निश्चित रूप से कार्यरूप में परिणत किया, इसके बाद फिर वह मूलभूत हो जाती है। इस तरह, विधि-शासन का संसद की प्रभुता के साथ और संसद के उस विधि को बदलने के अधिकार के साथ निर्वाह हो सकता है जिसका न्यायाधीश पालन कराते हैं। प्लेटो के लिए विधि-शासन का अर्थ यह है कि राज्य में प्रत्येक अधिकारी, केवल कार्यकारी पदाधिकारी ही नहीं बल्कि सभा और परिषद् भी, एक विधि-संहिता के अधीन हैं। यह विधि-संहिता विधिकर्त्ता द्वारा एक बार निरूपित और निश्चित रूप से कार्यान्वित होते ही अनिवार्य हो जाती है। प्लेटो इस यूनानी धारणा से सहमत है कि मत के घात-प्रतिघात को शिक्षा के माध्यम से स्थिर विधि-संहिता के अनुरूप ढाला जाए, विधि को प्रतिनिधित्व के माध्यम से मत की गति के अनुरूप नहीं।

नहीं हो सकती । अगर स्पार्टा के संविधान के बारे में यह कहना असंभव है कि वह राजतंत्र है या अभिजात-तंत्र, निरंकुश-तंत्र है या लोकतंत्र, तो प्लेटो ने लॉज में जिस राज्य का निर्माण किया है, उसके बारे में भी यह कहना कठिन है कि उस पर किसी एक प्रभुतासंपन्न सत्ता का शासन है ।

(क) राज्य के आरंभ-काल के लिए की गई व्यवस्था

राज्य के निर्माण में प्लेटो ने दो भिन्न अवस्थानों की कल्पना की है—एक अवस्थान वह है जिसमें राज्य कार्य आरंभ कर रहा होता है और दूसरा वह है जिसमें राज्य नियमित रूप से कार्य करने लगता है। पहला युग असामान्य होता है और उसके लिए असामान्य उपायों की ज़रूरत हो सकती है। उसने लॉज़ के चौथे खंड के एक अवतरण में एक उपाय यह सुझाया है कि विधिकर्त्ता और निरंकुश शासक का सहयोग करा दिया जाए और वह निरंकुश शासक तरुण, शूरवीर और तेजस्वी हो, जल्दी सीखे और आसानी से भूले नहीं और आत्म-संयम के परम सद्गुण से संपन्न हो (709 E)। विधिकर्त्ता को सफल होने के लिए नक्षत्रों के शुभ योग की ज़रूरत होती है और ईश्वर-प्रदत्त सबसे शुभ अवसर यही होता है कि उसकी ऐसे तरुण निरंकुश शासक से भेंट हो जाए। "संविधान की स्थापना का इससे अच्छा और इससे जल्दी वाला न तो कोई उपाय है और न कभी हो सकता है" (710 B)। प्लेटो इस दृष्टिकोण की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ है कि अच्छी विधियों की परिभाषा कर देना तो अपेक्षाकृत आसान होता है पर विधियों के पीछे सक्रिय ऐसे किसी प्रेरक हेतु का पता लगाना मुश्किल होता है जिसके फलस्वरूप विधियाँ लोगों के लिए ग्राह्य हो जाएँ। इस कठिनाई का समाधान है—'तरुण निरंकुश शासक'। वह इन विधियों को अपने लोगों के ऊपर दो तरह से लागू करेगा—कुछ तो उदाहरण प्रस्तुत करके और अपने व्यक्तित्व के बल पर जिसके पीछे चलने के लिए लोग तैयार रहते हैं, और कुछ जोर-जबर्दस्ती और सचमुच बल प्रयोग करके। वह अपने आचरण द्वारा रूपरेखा प्रस्तुत करेगा : जो लोग संकेतित दिशा ग्रहण नहीं करेंगे उन्हें बलात् उस दिशा में चलाकर वह रेखाओं में रंग भरेगा। यह भी रिपब्लिक का पुराना आदर्श है ; पर यह द्विपक्षीय और अस्थायी है। यहाँ दार्शनिक नरेशों की जगह एक ही दार्शनिक या विधिकर्त्ता है और उसके साथ है एक निरंकुश शासक और ये दोनों ही प्रसव-काल में अस्थायी साधन हैं[1]। पर, छठे खंड के

---

[1] "जब सर्वोच्च शक्ति बुद्धिमत्ता तथा आत्म-संयम से संपन्न किसी व्यक्ति में निहित होती है, तब सबसे अच्छे संविधान और विधियों का जन्म होता है ;

आरंभ में संविधान-रचना शुरू करते समय प्लेटो ने वास्तव में जो पद्धति विचार सुझाई है, वह बहुत भिन्न है। तरुण निरंकुश शासक की जगह उपनिवेश के संस्थापक ले लेते हैं और नए राज्य को नियमित व्यवस्था देने में और कर्म में प्रवृत्त करने में सहयोग देकर वे विधिकर्त्ता की मदद करते हैं। उपनिवेशी एक-दूसरे से अपरिचित होंगे : उन्हें यह मालूम न होगा कि पद के लिए किसे निर्वाचित किया जाए ; और चूंकि उन्हें अभी विधियों की आत्मा का ज्ञान न होगा, अतः अगर उन्हें अपने ही

और किसी भी रीति से उनका जन्म नहीं हो सकता" (लॉज़, 712 A)। लगता है मानो यह लिखते समय प्लेटो **रिपब्लिक** के महान् विरोधाभास (473 C—D) को ही उद्धृत कर रहा हो। इस महत्त्वपूर्ण अवतरण से कई अन्य प्रश्न भी पैदा होते हैं। (1) इसमें तरुण निरंकुश शासक के प्रति जो निर्देश है, वह कनिष्ठ डायोनीसियस के प्रति ही हो सकता है। यह अजब बात है कि प्लेटो को डायोनीसियस का जो कुछ अनुभव हुआ था, उसके बाद भी वह निरंकुश-तंत्र का गुणगान करे और ऐसे समय करे जब निरंकुश शासक को निर्वासित करने वाले डिओ और डिओ के मित्रों के साथ उसका निकट संपर्क था। प्लेटो ने इस कठिनाई को समझ लिया है और उसने क्लीनिआज़ के मुंह से कहलवाया है, "जो व्यक्ति इस प्रकार तर्क कर रहा हो, वह किस तरह और किस युक्ति से आश्वस्त हो सकता है कि मैं सही हूँ" ? (710 C)। फिर भी, **रिपब्लिक** के प्रतिपाद्य का त्याग नहीं किया जा सकता चाहे उसकी सिद्धि के मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ हों और अनुभव से चाहे कितने ही दुःखदायी सबक मिले हों। सच्चा आदर्श अब भी यही है कि शासक को आलोकित राह पर लाया जाए। यह शायद ध्यान देने की बात है कि **लॉज़** के पाँचवें खंड में प्लेटो ने अनेक बार ऐसे विधिकर्त्ता की चर्चा की है जो स्वयं भी निरंकुश हो और उसने इस निरंकुश विधिकर्त्ता को ऐसे दूसरे विधिकर्त्ता से जो निरंकुश न हो, अधिक शक्तिशाली और इसलिए प्रकट रूप में अधिक वांछनीय बताया है (735 D : 739 A से तुलना कीजिए)। (2) एक और कठिनाई यह है कि इस अवतरण में प्रस्तावित पद्धति का संबंध किसी ऐसे नए राज्य से नहीं जिसका निर्माण हो रहा हो बल्कि एक ऐसे पुराने राज्य से है जिसमें परिवर्त्तन हो रहा है। यह निष्कर्ष 710 D—E पर आधारित लगता है जहाँ कहा गया है कि जब किसी राज्य में परिवर्त्तन कर उसे आदर्श राज्य बनाना हो, तब यह परिवर्त्तन सबसे आसानी से निरंकुश-तंत्र में हो सकता है, इसके बाद वैधिक राजतंत्र में और फिर लोकतंत्र में। अल्पतंत्र में यह परिवर्त्तन बड़ी मुश्किल से होता है। प्लेटो ने उपनिवेश की स्थापना के बारे में और जिस 'कोरी पट्टी' पर संविधान लिखा जाना है, उसके बारे में जो कुछ कहा है, उसके बावजूद वह वास्तविक राज्यों तथा वास्तविक परिस्थितियों के सुधार की समस्या में व्यस्त है। (3) 'तरुण निरंकुश' शासक का उस वास्तविक पद्धति से कोई सामंजस्य नहीं बैठता जिसका सुझाव **लॉज़** के राज्य को कामचलाऊ स्थिति में लाने के लिए छठे खंड में दिया गया है। संभवतः, इस निर्देश से 'प्रस्तावनाओं' का सुझाव देने के लिए भूमिका तैयार कर ली गई है क्योंकि इस निर्देश के तुरंत बाद प्रस्तावनाओं का सुझाव दिया गया है। अगर विधिकर्त्ता को निरंकुश शासक का सहयोग न मिले, तो वह जनता से अपील करता है और प्रस्तावनाओं द्वारा उसे अपनी विधियाँ स्वीकार करने के लिए तैयार कर सकता है।

साधनों के सहारे छोड़ दिया गया, तो उनसे भूल भी हो सकती है (751)। इसलिए, ज़रूरी है कि विधि-संरक्षकों के पहले निकाय को उपनिवेश के संस्थापक चुनें और यह भी जरूरी है कि जिन्हें वे चुनें, उनमें से अधिकांश स्वयं संस्थापकों में से हों[1]। उन्हें 200 सदस्यों का एक अस्थायी मंडल भी नियुक्त करना चाहिए; इनमें आधे सदस्य तो उनके अपने लोगों में से हों और आधे साधारण उपनिवेशियों में से। इस अस्थायी मंडल का काम इस बात की निगरानी करना होगा कि शेष दंडनायक पहली बार ठीक से चुने जाएँ और पद ग्रहण करने से पहले उचित जाँच-पड़ताल हो जाए। अगर संस्थापकों ने यह सब कर दिया तो उनका काम पूरा हो गया; और इसके बाद नए राज्य को अपनी समस्याओं का अपने आप हल करना होगा (754 D)[2]।

---

[1] विधि-संरक्षक बीस वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं और इस प्रकार उपनिवेश का पहले से ही कई वर्ष के लिए प्रबंध हो जाएगा।

[2] कोरिंथ के उपनिवेशों को छोड़कर और यूनानी उपनिवेशों में आरंभ से ही स्वायत्त शासन था। जहाँ तक कोरिंथ का प्रश्न है, उसने अपने उपनिवेशों को अपने साथ संलग्न और अपने ऊपर आश्रित रखा था। उपनिवेश के संस्थापक या विधिकर्त्ता की नियुक्ति मूल नगर कर सकता था (यद्यपि उसकी नियुक्ति अकसर उपनिवेशी स्वयं ही किया करते थे)। परंतु, इसके अतिरिक्त अपने सारे मामलों का प्रबंध उपनिवेश अपने आप ही करता था। देखिए, हरमन-स्वोबोडा, **ल्हेरबुच डेर ग्रिएस्चन स्टाट्साल्टर टुमर,** III. 1, पृ० 191 और क्रमशः।

(ख) राज्य की स्थायी संस्थाएँ

जव व्यवस्थित उपनिवेश अपने नियमित जीवन-पथ पर चलने लगे, तव उसमें निर्वाचन का काम एक लोक सभा करती है जो विचार सभा या परिषद् को और विभिन्न कार्यकारी दंडनायकों को चुनती है। इस सभा में पाँच हज़ार चालीस के पाँच हज़ार चालीस नागरिक होते हैं जिनका वर्गीकरण संपत्ति-योग्यता के आधार पर होता है। व्यक्तिगत संपत्ति की मात्रा में भेद के अनुसार उनके चार वर्ग बनाए जाते हैं। पहले दो वर्गों के नागरिकों के लिए सभा की वैठकों में उपस्थित होना अनिवार्य है और तीसरे तथा चौथे वर्ग के नागरिकों के लिए वैकल्पिक (764 A), पर किसी भी वर्ग का कोई नागरिक उस समय तक सभा की वैठक में उपस्थित नहीं हो सकता जव तक कि वह शस्त्र धारण न करता हो और उसने सैनिक सेवा न की हो (753 B)[1]। सभा का काम सिर्फ़ निर्वाचन करना है और कहा जा सकता है कि उसका अस्तित्व विधि-संरक्षकों तथा परिषद् का निर्वाचन करने के लिए ही है, हालाँकि उनके अतिरिक्त वह सेनापतियों का और अनेक स्थानीय पदाधिकारियों का भी निर्वाचन करती है। सैंतीस विधि-संरक्षकों का चुनाव तीन वार के मतदान द्वारा होना है। पहले मतदान में 300 उम्मीदवार चुने जाते हैं। दूसरे मतदान में इनमें से 200 उम्मीदवार निकल जाते हैं। वाकी जो 100 उम्मीदवार रह जाते हैं उनमें से तीसरे मतदान के द्वारा अंतिम निर्वाचन होता है (753)। परिषद् के निर्वाचन की प्रक्रिया कहीं अधिक विशद है और जिस वर्ग-व्यवस्था का विधि-संरक्षकों के निर्वाचन में कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख तक नहीं हुआ; वह यहाँ निश्चित रूप से

---

[1] 411 की क्रांति के दौरान एथेंस में जिस राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हुई थी, उसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अंतर्गत मताधिकार केवल उन 5,000 नागरिकों को प्राप्त था जिन्होंने अपने लिए कवच का प्रवंध कर लिया था। यहाँ यह कह दिया जाए कि 753 A के जिस अवतरण में सैनिक सेवा की योग्यता अनिवार्य ठहराई गई है, उसका प्रस्तुत संदर्भ में सभा की उन्हीं वैठकों से संवंध है जिनमें विधि-संरक्षकों और सेनापतियों का निर्वाचन हुआ करता था।

सक्रिय हो उठती है। परिषद् में कुल 360 सदस्य हैं जो एक वर्ष के लिए चुने जाते हैं और इनमें प्रत्येक वर्ग के नए-नए सदस्य होते हैं। निर्वाचन में पहला अवस्थान उम्मीदवारों का चुनाव है (एथेंस में पाँचवी सदी में इस अवस्थान को प्रोक्रीसीस अर्थात् चुनाव अथवा selection कहते थे। हम भी इसे इसी नाम से पुकार सकते हैं)। प्लेटो ने व्यक्तियों अथवा काकसों द्वारा किए जाने वाले व्यक्तिगत नामांकनों के लिए कोई गुँजाइश नहीं छोड़ी। संरक्षक-पद के उम्मीदवारों की तरह परिषद् में स्थान पाने के उम्मीदवारों का निर्वाचन सार्वजनिक मत द्वारा होना चाहिए। पर, विभिन्न वर्गों के उम्मीदवारों के चुनाव की रीतियाँ अलग-अलग हैं। प्रत्येक वर्ग के उम्मीदवार पहले दो वर्गों के उम्मीदवारों का चुनाव करते हैं। उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य है और वे अगर ऐसा न करें, तो उनके ऊपर जुर्माना होता है। तीसरे वर्ग के उम्मीदवारों के चुनाव में पहले तीन वर्गों के नागरिकों के लिए मत देना अनिवार्य है। अगर वे मत न दें, तो उन पर जुर्माना होता है। चौथे वर्ग के नागरिकों को यह आज़ादी है कि वे चाहें तो मत दें, न चाहें तो न दें। चौथे वर्ग के नागरिकों के चुनाव में पहले दो वर्गों के नागरिकों को या तो मत देना होगा या जुर्माना और पहले वाले जुर्माने की तुलना में दूसरे वर्ग के नागरिकों के लिए तो यह जुर्माना तिगुना है और पहले वर्ग के नागरिकों के लिए चौगुना। पर, अंतिम दो वर्गों के सदस्य मत दे भी सकते हैं और न चाहें तो नहीं भी दे सकते। जब उम्मीदवार का इस तरह से पहला चुनाव हो चुकता है, तब दूसरा अवस्थान आरंभ हो जाता है (इस अवस्थान को हम **आइरेसिस यानी निर्वाचन या** election कह सकते हैं) जिसमें दूसरा चुनाव करने के उद्देश्य से इन सभी उम्मीदवारों के के लिए मतदान होता है। इस मतदान में सभी नागरिक भाग लेते हैं और अगर वे भाग न लें तो उन पर साधारण जुर्माना होता है। इस मतदान के फलस्वरूप चारों वर्गों में से प्रत्येक वर्ग में 180 उम्मीदवार रह जाते हैं, बाकी के नामों का निरसन हो जाता है। तीसरे और अंतिम अवस्थान में (जिसे हम **क्लेरोसिस यानी मतदान या** voting कह सकते हैं) प्रत्येक वर्ग के बाकी 180 उम्मीदवारों में से परिषद् के 90 सदस्यों को पर्ची डालकर चुना जाता है। इस तरह परिषद् के कुल 360 सदस्यों का निर्वाचन पूरा हो जाता है[1]।

---

[1] प्लेटो द्वारा प्रस्तावित पद्धति को प्रोक्रीसिस और क्लेरोसिस की पद्धतियों के साथ चतुर्वर्ग व्यवस्था का समन्वय कहा जा सकता है। एथेंस में पाँचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में परिषद के निर्वाचन में इन पद्धतियों का प्रयोग होता था (पीछे पृ० 48—49 देखिए)। आजकल इसके सदृश दो उदाहरण सामने आते हैं : (1) अनिवार्य मतदान बेल्जियम के संविधान का तथा स्विट्जरलैंड के कुछ कैंटनों के संविधानों का एक भाग है। (2) परिषद् के निर्वाचन में जिस चतुर्वर्ग-व्यवस्था का प्रयोग होता है, वह कुछ बातों में उस त्रि-वर्ग व्यवस्था के अनुरूप है जिसका उपयोग कभी प्रशा की विधान-सभा के निर्वाचन में होता था। प्रशा में संपत्ति-योग्यता के आधार पर निर्वाचकों को तीन वर्गों में बाँट दिया गया था। ये तीनों वर्ग बराबर-बराबर मतदाता चुनते थे जबकि उनके सदस्यों की संख्या में बहुत अंतर था (पहले वर्ग में कुल निर्वाचकों के पाँच प्रतिशत तथा तीसरे वर्ग में अस्सी प्रतिशत

इस पद्धति का प्रभाव यह है कि उम्मीदवारों के चुनाव में पहले दो वर्गों का स्वर बहुत अधिक प्रबल हो उठेगा । इसके साथ ही प्रत्येक वर्ग के उम्मीदवारों के मूल चुनाव में सभी वर्ग भाग ले सकते हैं। उन्मूलन की प्रक्रिया में सभी वर्गों को भाग लेना ही होता है और पर्ची के प्रयोग का मंतव्य यह है कि अंतिम अवस्थान में समता बनी रहे। संपूर्ण व्यवस्था में सार्वभौम मताधिकार का वर्ग मताधिकार के साथ और मतदान द्वारा निर्वाचन की पद्धति का—जिसे यूनानी अभिजात-तंत्रीय पद्धति समझते थे—पर्ची की पद्धति के साथ—जिसे वे लोकतंत्रीय पद्धति समझते थे—सावधानी से समन्वय स्थापित किया गया है । प्लेटो ने इसका इसी आधार पर समर्थन किया है कि यह पद्धति राजतंत्र के बुद्धिमत्ता-सिद्धांत और लोकतंत्र के स्वतन्त्रता-सिद्धांत के बीच का रास्ता है (756 E)। उच्च (और संभवतः अधिक बुद्धिमान्) वर्ग उम्मीदवारों के चुनाव में जिस महत्तर शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं, वह पहले सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करती है और पहले अवस्थान में सारे नागरिकों के संभाव्य योगदान से, दूसरे में उनके अनिवार्य योगदान से और तीसरे अवस्थान में पर्ची के लोकतंत्रात्मक प्रयोग से दूसरे सिद्धांत का प्रतिनिधित्व होता है । प्लेटो ने इस पद्धति का एक और कारण से समर्थन किया है कि वह सच्ची समता पर आधारित है जो 'आनुपातिक' होती है । निरपेक्ष समता के सिद्धांत का आँख मूंद कर पालन करना, जो लोग क्षमता और पात्रता की दृष्टि से असमान हों, उन्हें समान शक्ति और सम्मान देना—झूठी समता का पालन करना और न्याय-मार्ग का परित्याग करना है। सच्ची समता आनुपातिक या अनुपातों की समता होती है : वह तभी उपलब्ध हो सकती है कि जब महान् व्यक्तियों की पात्रता और सम्मान का अनुपात, हीन व्यक्तियों की पात्रता और सम्मान के अनुपात के बराबर हो और यह तभी संभव है जब जो अधिक सम्मान का पात्र हो उसे अधिक और जो कम सम्मान का पात्र हो उसे कम सम्मान मिले[1]। इस तरह की आनुपातिक समता सच्ची समता होने के नाते, न्याय भी है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य

सदस्य होते थे)। इसके बाद निर्वाचक विभिन्न दलों द्वारा प्रस्तावित उम्मीदवारों में से सदस्यों का चुनाव किया करते थे। प्रशा की पद्धति ने (व्यक्तियों की समानता का बलिदान करके) संपत्ति की समानता लानी चाही। यह कहा जा सकता है कि उसका उद्देश्य आनुपातिक समानता था और वही प्लेटो के अनुसार सच्ची समानता होती है। परंतु उसने सामाजिक भेदों को और भी गहरा कर दिया। प्लेटो की पद्धति कहीं अधिक संयत है, पर शायद उसकी भी वही आलोचना हो सकती है और अरिस्टाटल ने परोक्षतः इसका संकेत किया है।

[1] यह स्वाभाविक ही है कि जब प्लेटो—विशेषतः अपने जीवन के अंतिम चरण में—संख्या और गणित में मग्न था, तब उसने पात्रता (आनुपातिक प्रतिनिधित्व) के विचार की विशेष रूप से पैरवी की। **गॉर्जियाज़** में इस विचार का सबसे पहले शक्ति के अधिक प्रतिनिधित्व के हिमायती कैलीक्लीज़ के द्वारा प्रतिपादन कराया गया है (483 D); पर एक भिन्न अर्थ में (508 A) साक्रेटीज़ ने भी इसका समर्थन किया है। (पीछे पृ० 209 देखिए)।

का नागरिकों के प्रति वैसा ही व्यवहार रहता है जैसा कि नागरिकों का उसके प्रति। यह सामरस्य और स्थिरता भी है क्योंकि जिस राज्य में अच्छे लोगों को यह असंतोष बना रहे कि वहाँ पात्रता की कद्र नहीं होती, उस राज्य में सामंजस्य नहीं रह सकता। प्लेटो को लगता है कि इस अंतिम तर्क में कठिनाई यह है कि अगर यह सच निकला, तो इसकी सचाई को स्वीकार करना मुश्किल होगा। ये सिद्धांत पर्ची की निरपेक्ष समानता के अनुरूप नहीं हैं, इतना तो प्लेटो ने भी मान लिया है।

"कभी-कभी लड़ाई-झगड़ों से बचने के लिए हर राज्य को 'समता' और 'न्याय' शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग करना पड़ जाता है। ऐसे अवसरों पर वह न्याय के उचित और पूर्ण स्तर के रूप में उसकी जगह सुनीति या पुण्य तक, की प्रतिष्ठा कर देता है। यही कारण है कि लोगों का असंतोष दूर करने के लिए पर्ची की समता स्वीकार की जानी चाहिए और यही कारण है कि हम यह प्रार्थना ही कर सकते हैं कि ईश्वर पर्ची कुछ इस तरह से निकाले जिससे न्याय को बल मिले। यही कारण है कि हमारे लिए समता के दोनों प्रकारों का उपयोग करना ज़रूरी है—भले ही हम पर्ची के संयोग पर आधारित समता का कम से कम उपयोग करें"। (757 D—E)।

समता के बारे में प्लेटो के तर्क की कठिनाई यह है कि हम उससे जो बात प्रमाणित करने की आशा कर सकते हैं, वह प्रमाणित नहीं होती। सच्ची समता के लिए उसके तर्क का आधार यह है कि समता और पात्रता को स्वीकृति मिलनी चाहिए, परिषद के निर्वाचन के लिए उसने सचमुच जो पद्धति सुझाई है, वह धन-संपदा की स्वीकृति पर आधारित है और वास्तव में जिस सिद्धांत का पालन किया है, वह यह है कि लोगों को पद और सम्मान संपन्नता या विपन्नता (744 B—C) के आधार पर मिलने चाहिएँ, उनके सद्‌गुण या उनके पूर्वजों के सद्‌गुण या शरीर-बल और सौंदर्य के आधार पर नहीं। फिर भी, लॉज़ की समूची तर्क-श्रृंखला से व्यक्त होता है कि प्लेटो ने यह दृष्टिकोण कभी नहीं अपनाया कि धन क्षमता से या संपत्ति पात्रता से अभिन्न है। और इस अंतर्विरोध को यही दृष्टिकोण दूर कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि सच्ची समता के लिए उसने जो तर्क दिया है, उसका आधार एक है और उसने जिस संस्था का सुझाव दिया है, उसका आधार दूसरा। यह असंगति स्वाभाविक है। किसी एक वक्त यह सोचना आसान होता है कि आदर्श संसार में कोई व्यक्ति जिस वस्तु का पात्र हो, वह उसे मिलनी चाहिए और जो अधिक सुपात्र हो, उसे अधिक मान्यता मिलनी चाहिए। पर किसी दूसरे वक्त यह सोचना आसान होता है कि लोगों को जो कुछ मिलता है वे उसी के पात्र होते हैं और उनकी संपदा की मात्रा उनकी पात्रता की सूचक होती है। इनमें से किसी भी दृष्टिकोण को तुरंत स्वीकार नहीं किया जा सकता। पात्रता को नापना या यह हिसाब लगाना कि जैसा काम किया गया है उसके हिसाब से मज़ूरी मिल गई है, असंभव है; और अगर यह संभव भी होता, तो भी वह संसार जिसमें पात्रता की सदा पूरी और सही-सही नाप-जोख हो सकती हो, हमारे इस संसार से बुरा होगा जिसमें अच्छा काम किया जा सकता है, नित्यप्रति किया भी जाता है, और इसलिए

किया जाता है कि लोग उसे अच्छा समझते हैं और करने के योग्य मानते हैं[1]। फिर, यह विश्वास करना भी असंभव है कि हमारी संपत्ति का हमारे मूल्य-महत्त्व से आवश्यक संबंध होता है या हमारा मूल्यांकन उस संपत्ति के आधार पर होना चाहिए या हमें समाज में अपना स्थान उस संपत्ति के आधार पर ग्रहण करना चाहिए। संपत्ति तो जहाँ कार्य और योग्यता के आधार पर प्राप्त हो सकती है, वहीं इस कारण से भी प्राप्त हो सकती है—और अधिकतर इसी कारण प्राप्त होती है—कि हमें कैसे अवसर मिले हैं। आर्थिक जगत् के बारे में हम चाहे कुछ भी कहें (चाहे हम आजकल की तरह मजूरी और कीमतों का निर्धारण इस बात पर छोड़ दें कि ज़रूरतमंद को कितनी सेवाओं की और कितनी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, चाहे हम यहाँ भी समता की कोशिश करें), राजनीतिक जगत् में तो निरापद मार्ग एक उसी समता का मार्ग लगता है जिसे प्लेटो ने झूठी समता कहा है। राज्य को यह ढोल पीटे बिना कि सब लोग समान हैं, मतदान-केंद्रों और अदालतों में उनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए मानो वे समान हों। राज्य उन्हें योग्यता से नहीं नाप सकता ; अगर वह उन्हें धन-संपत्ति से नापता है, तो वह एक ऐसे पैमाने का उपयोग करता है, जो उनकी योग्यता का सूचक नहीं है और, अगर वह उन्हें ज्ञान के पैमाने से नापता है, तो वह भी एक ऐसा पैमाना है जो और पैमानों से ज्यादा सच्चा नहीं। इससे तो राजनीतिक समता का सिद्धांत एक ऐसा विषय बन जाता है जिसे चाहे स्वीकार किया जाए, चाहे नहीं, और लगेगा मानो हम समता की खोज में लोगों का असंतोष दूर करने के लिए नहीं, तो कम से कम यथार्थ चिंतन से बचने के लिए लगे हुए हैं। पर, समता की जड़ें कहीं अधिक गहरी हैं और उसके औचित्य का आधार कहीं अधिक पुष्ट है। राज्य व्यक्तियों को मान्यता देता है और अधिकारों की रक्षा का आश्वासन भी। व्यक्ति होने के मूल तथ्य के नाते सभी लोग एक धरातल पर हैं। जो राज्य इस मूल तथ्य पर आधारित होगा, उसमें उस राज्य की अपेक्षा अधिक न्याय भी होगा और अधिक सुरक्षा भी जिसकी नींव पक्षपात पर या प्रासंगिक गुण-धर्मों पर रखी गई हो।

लोक सभा परिषद् का निर्वाचन करने के अतिरिक्त आम मत के द्वारा नगर और बाजार के स्थानीय पदाधिकारियों का भी निर्वाचन करती है पर ये पदाधिकारी पहले दो वर्गों में से ही चुने जाते हैं (763 D—764 A)। इनके अलावा वह सेनापतियों का भी निर्वाचन करती है। विधि-संरक्षकों के प्रस्ताव पर सभा के वे सभी सदस्य जो सैनिक सेवा की आयु के या उससे अधिक आयु के होते हैं, तीन सेनापतियों का निर्वाचन करते हैं, पर कोई भी व्यक्ति संरक्षकों द्वारा प्रस्तावित किसी उम्मीदवार की जगह अपने उम्मीदवार का नाम पेश कर सकता है और अगर आरंभिक मतदान में इस तरह प्रस्तावित उम्मीदवार को आधिकारिक उम्मीदवार से ज्यादा मत मिले, तो यह उम्मीदवार भी निर्वाचन के अंतिम

---

[1] बोसांके, फ़िलॉसिफ़िकल थ्योरी आफ द स्टेट, द्वितीय संस्करण पृ० XXIX—XXXI से तुलना कीजिए।

अवस्थान में भाग लेने का हकदार हो जाता है (755 B—C)[1]। प्लेटो ने सभा को निर्वाचन-कार्यों के अलावा तीन अधिकार और सौंपे हैं। जिन लोगों ने राज्य को नुकसान पहुँचाया है, उन लोगों के विरुद्ध राजनीतिक मुकदमों पर विचार करने का उसे अधिकार है (768 A)। अगर कभी विधि में परिवर्त्तन करना ज़रूरी हो जाए, तो यह परिवर्त्तन करने के लिए सभा की सहमति ज़रूरी होती है (772 D) और वह आवासी विदेशियों को बीस वर्ष की नियत अवधि के बाद भी देश में रुकने की अनुमति दे सकती है (850 C)। कुल मिला कर सभा सोलोन के सिद्धांतों के अनुसार बनी हुई है और उसे सोलोन के सिद्धांतों के अनुरूप ही शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। सोलोन के विधान के अनुसार निर्मित एथेनी सभा की भाँति यह सभा भी दो रूपों में कार्य करती है—लोक-निर्वाचक-मंडल के रूप में और लोक न्यायालय के रूप में। पर, लगता है उसे कोई विमर्शात्मक कार्य नहीं सौंपे गए हैं। राज्य के पोत की दिन-रात सजग निगरानी अवश्य होती है, पर यह काम भीड़ के बस का नहीं है (758 B)। यह काम अपने एक वर्ष के कार्य-काल में परिषद् करती है। एथेनी दृष्टांत के अनुरूप (यह दृष्टांत सोलोन-युग के बाद का है) प्लेटो ने प्रस्ताव किया है कि परिषद् के सदस्यों को बारह भागों में बाँट देना चाहिए और इनमें से एक-एक भाग को एक-एक महीने तक शासन के मुख्य अंग तथा राज्य के अध्यक्ष-मंडल के रूप में कार्य करना चाहिए (758 D)। एथेंस के 'अध्यक्षों' (prytanies) कि भाँति ये विभाग भी जब तक सत्ता धारण किए रहते हैं, विदेशियों तथा नागरिकों का स्वागत करते हैं और उनकी भाँति ही सभा की साधारण और असाधारण बैठकें बुलाते हैं और उनका विसर्जन करते हैं। ये बैठकें निर्वाचन, न्याय-विचार या विधियों में परिवर्त्तन में से किसी भी काम के लिए हो सकती हैं[2]।

परिषद् के बारहों विभाग अपने-अपने कार्यकाल में कार्यकारी दंडनायकों के सहयोग से काम करते हैं। कार्यकारी दंडनायक विधि-संरक्षक होते हैं। वे संख्या में सैंतीस होते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि वे साधारण सभा द्वारा निर्वाचित

---

1. राज्य के सामान्य संविधान की तरह सेना का संविधान भी मिला-जुला है। सेनापतियों की तरह बारह कबाइली रेजिमेंटों के कर्नल (सेनापतियों के प्रस्ताव पर) जनता के मत से निर्वाचित होते हैं; पर गणों के कप्तानों की नियुक्ति स्वयं सेनापति करते हैं (756 A)।
2. लॉज़ की लोक सभा सोलोन के समय की एथेनी सभा के अनुरूप है। एथेनी सभा की तरह वह भी चार वर्गों में विभक्त है और उसे एथेनी सभा जैसी ही शक्तियाँ प्राप्त हैं। लॉज़ की परिषद् उस परिषद् के समान है जिसकी स्थापना एथेंस में क्लीस्थेनीज़ ने की थी। उसे क्लीस्थेनीज की परिषद् के समान ही शक्तियाँ प्राप्त हैं और उसी की तरह अध्यक्ष-मंडलों में उसका विभाजन किया गया है। क्लीस्थेनीज की परिषद् कबीलों के अनुसार निर्वाचित होती थी। प्लेटो की परिषद् चार वर्गों के आधार पर निर्वाचित होती है, बारह कबीलों के आधार पर नहीं। पुनः, क्लीस्थेनीज की परिषद् दस अध्यक्ष-मंडलों में विभाजित थी। प्लेटो की परिषद् में बारह अध्यक्ष-मंडल हैं (क्योंकि प्लेटो ने द्वादशक पद्धति का अनुसरण किया है) और इस प्रकार उसका वर्ष के बारह महीनों के साथ ठीक सामंजस्य बैठ जाता है।

होते हैं और प्रत्येक विधि-संरक्षक बीस वर्ष तक अपने पद पर रहता है। पचास वर्ष से कम का कोई व्यक्ति इस पद पर निर्वाचित नहीं हो सकता और सत्तर वर्ष से अधिक का कोई भी व्यक्ति इस पद पर नहीं रह सकता। आयु की शर्त्त से स्पार्टा की गेरूशिया की याद हो आती है। स्पार्टा की विधि के अनुसार गेरूशिया के सदस्य भी वे ही लोग हो सकते हैं जिनकी आयु साठ वर्ष से ऊपर हो और विधि संरक्षकों की संख्या भी जेरोंटों (यानि स्पार्टा के वयोवृद्ध पुरुषों की शासन-संस्था के सदस्यों) की संख्या के बराबर होती थी। जेरोंटों की कुल संख्या तीस थी जिसमें दो नरेश भी होते थे[1]। कार्यकारी पदाधिकारियों का बीस-बीस वर्ष तक अपने पद पर जमे रहना अजीब बात है पर हमें यह याद रखना होगा कि संरक्षकों का मुख्य कार्य, उनके नाम के अनुरूप, विधियों का उचित परिपालन कराना है। उन्हें व्यक्तिक संपत्ति के वे रजिस्टर भी रखने पड़ते हैं जिन पर चर्तुवर्ग व्यवस्था आधारित होती है[2]। इनमें से जिस व्यक्ति के ऊपर शिक्षा का दायित्व होता है और जो शिक्षा-मंत्री के पद पर आसीन होता है, वही उसका अध्यक्ष होता है बशर्त्ते कि उसे अध्यक्ष का नाम दिया जा सके। राज्य के सारे दंडनायकों की संयुक्त सभा गुप्त मतदान की पद्धति से उसका निर्वाचन करती है और वह पांच साल तक अपने पद पर रहता है। उसे हर दृष्टि से सारे नागरिकों में सबसे अच्छा होना

---

[1] विधि-संरक्षकों की संख्या अजीब है। संख्यात्मक दृष्टि से सैंतीस का 5,040 से कोई संबंध नहीं है। रिटर ने लॉज की अपनी टीका (पृ० 132, नोट) में सुझाया है कि यह संख्या कबीलों पर आधारित है—प्रत्येक कबीले के तीन-तीन प्रतिनिधि होते थे और एक अतिरिक्त सदस्य मतदान के समान विभाजन को रोकने के लिए होता था। पर, यह अनुमान ही अनुमान है। दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं। (1) स्पार्टा में ऐसे अधिकारी होते थे, जिन्हें विधि-संरक्षक कहा जाता था पर उनके बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। एथेंस में भी सात विधि-संरक्षक होते थे और उनका काम यह निगरानी रखना था कि दंडनायक विधि का पालन करते रहें और सभा तथा परिषद् में भी विधि का पालन हो। इस तरह, एक मूल बात में प्लेटो के विधि-संरक्षकों के कार्य एथेंस के विधि-संरक्षकों के अनुरूप हैं और लगता यही है मानो उसने एथेंस के विधि-संरक्षकों की संख्या (सात) और कर्त्तव्यों में स्पार्टा के जेरोंटों की संख्या (तीस) और आयु की योग्यता जोड़ दी हो। अगर, यह बात सच है, तो यह 'मिश्रण' का एक अजब उदाहरण है। (2) प्लेटो ने अपने संरक्षकों का बीस वर्ष का जो कार्यकाल रखा है, उससे मिलते-जुलते मुझे एक दृष्टांत की याद आती है—स्विस संघीय कार्यांग की जिसके सदस्य कहने के लिए तो किसी भी संसद के जीवन पर्यंत अपने पद पर रहते हैं पर प्रायः उनका दुबारा निर्वाचन हो जाता है और कभी-कभी तो बीस-बीस वर्ष तक तो वे अपने पद पर बने रहते हैं।

[2] राज्य के अस्तित्व के पहले बीस वर्षों में संरक्षकों की विधियाँ बदलने की कुछ शक्ति होती है (अध्याय 13—घ से तुलना कीजिए)। पर, इस शक्ति का प्रयोग वही संरक्षक करते हैं जो उपनिवेश के संस्थापकों द्वारा विशेष रूप से नियुक्त किए गए हों। जिन अपराधों के लिए प्राणदंड दिया जा सकता है, उन पर विचार करने की भी कुछ शक्ति इन संरक्षकों के पास होती है (अगला नोट देखिए)।

चाहिए (766 A)। उसका पद राज्य के बड़े से बड़े पदों से भी कहीं ऊँचा होता है (765 E)। प्लेटो के राज्य का 'प्रधान मंत्री' शिक्षा-मंत्री हो, यह बात महत्त्वहीन नहीं है।

प्लेटो ने अपने राज्य की न्याय-संस्थाओं के बारे में विचार करते समय (767—768) सबसे पहले व्यक्तिगत और सरकारी मुकदमों में भेद किया है। व्यक्तिगत मुकदमों में तीन अवस्थान होते हैं और उनके न्यायालयों की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं। प्रथम न्यायालय स्वैच्छिक न्यायालय या विवाचन-मंडल होता है (956 B)। इस न्यायालय में निर्णयिकों का स्थान वे पड़ोसी या मित्र ग्रहण करते हैं जिन्हें विचारणीय प्रश्न की सबसे अच्छी जानकारी होती है और प्लेटो ने इस न्यायालय को 'महत्तम क्षमता' वाला न्यायालय बताया है। द्वितीय न्यायालय बारह प्रादेशिक क्षेत्रों में से प्रत्येक प्रादेशिक क्षेत्र का अपना-अपना कबाइली न्यायालय होता है। इस न्यायालय में न्यायाधीश का चुनाव पर्ची डाल कर होता है और इसलिए इसमें लोक-न्यायालय का सिद्धांत स्वीकार किया जाता है। यह ऐसा सिद्धांत है जिस पर प्लेटो ने ज़ोर दिया है : न्याय-व्यवस्था में सबका हाथ रहना चाहिए क्योंकि जिस व्यक्ति का न्याय-व्यवस्था में हाथ नहीं रहता वह यह सोच सकता है कि राज्य के संचालन में मेरा कोई हाथ नहीं (768 B)। तीसरा और अंतिम न्यायालय चुने हुए न्यायाधीशों का न्यायालय है। ये न्यायाधीश हर साल चुने जाते हैं और उनके चुनाव की विधि यह है कि राज्य के सारे दंडनायक मिल कर प्रत्येक दंडनायक-वर्ग में से एक-एक दंडनायक चुनते हैं[1]। इस न्यायालय की बैठकों का द्वार सब लोगों के लिए खुला होता है। प्रत्येक न्यायाधीश अपना निर्णय खुले तौर पर सुनाता है और दंडनायकों का वह संयुक्त मंडल जो इन न्यायाधीशों को चुनता है, न्यायालय की बैठकों में अवश्य ही उपस्थित होता है। यहाँ फिर अगर प्लेटो ने बड़े-बड़े लोक न्यायालयों की एथेनी व्यवस्था नहीं अपनाई (एथेंस के न्यायालयों में सैंकड़ों और कभी-कभी हज़ारों न्यायाधीश होते थे) तो उसने लोकप्रियता का नहीं तो कम से कम प्रचार का थोड़ा-सा तत्त्व मिलाने का अवश्य प्रयत्न किया है। सरकारी मुकदमों में स्पष्टतः एक ही सुनवाई होती है और उसने इन मुकदमों का निर्णय प्रायः पूरी तरह से जनता के हाथों में सौंप दिया है : राज्य के साथ अन्याय होने का मतलब सबके साथ अन्याय होगा और जब तक निर्णय में सबका हाथ न हो, तब तक उनके मन में अवश्य शिकायत रहेगी। मुकदमे की परीक्षा तो तीन मुख्य दंडनायक ही करते हैं जिनकी नियुक्ति अभियोजक (prosecutor) और प्रतिवादी (defendant) की पारस्परिक सहमति से होती है पर मुकदमे का आदि और अंत यानी आरंभिक कार्यवाही और अंतिम निर्णय लोक सभा के हाथ में रहता है।

---

[1] आगे चल कर नवें खंड, 855 E, में प्लेटो के कहा है कि प्राणदंड के योग्य अपराधों पर विचार करने का अधिकार विधि-संरक्षकों और उन विशेष न्यायाधीशों के हाथों में रहता है जो पूर्ववर्त्ती साल के न्यायाधीशों में से विशेष योग्यता के आधार पर चुने गए हों।

प्लेटो ने स्थानीय शासन-व्यवस्था का जो वर्णन किया है (760 A—764 C), वह अनिवार्य रूप से संक्षिप्त है। 5040 नागरिकों के राज्य को अपनी केंद्रीय सरकार से परे जाने की कोई ज़रूरत न होगी। केंद्रीय नगर में नगर-निरीक्षक और बाज़ार-निरीक्षक दोनों होंगे। ग्राम-प्रांत में प्रत्येक कबीले के लिए ग्राम्य निरीक्षक होंगे। ग्राम्य निरीक्षक पाँच होंगे और वे अपने कबीले द्वारा निर्वाचित होंगे और दो वर्ष तक अपने पद पर रहेंगे। कुछ दृष्टियों से उनके कार्य वे ही हैं जो इँगलैंड की पुरानी स्थानीय शासन-पद्धति के अंतर्गत **जस्टिसेज़ ऑफ द पीस** के हुआ करते थे। **जस्टिसेज़ ऑफ द पीस** की तरह ग्राम-निरीक्षकों का छोटा सा अधिकार-क्षेत्र है; उन्हीं की तरह इनका स्वरूप भी सामान्य प्रशासन-मंडल का है। प्रत्येक कबीले के पाँचों निरीक्षकों में से प्रत्येक निरीक्षक एक-एक दर्जन नौजवानों को अपने साथियों और सहयोगियों के रूप में चुनता है और निरीक्षकों का मुख्य काम ही यह है कि वे इन नौजवानों को प्रशिक्षण दें (आगे अध्याय 17—घ से तुलना कीजिए)। यह उनका अँग्रेज़ न्यायाधिपतियों से भेद है। अँग्रेज़ न्यायाधिपतियों से उनका दूसरा भेद यह है कि वे किसी एक प्रादेशिक क्षेत्र से नहीं बँधे होते। निरीक्षकों के प्रत्येक दल का कर्त्तव्य यह है कि वह अपने साठ सहयोगियों के साथ अपने कार्यकाल में समूचे राज्य का दो बार दौरा करे—एक साल तो बाएँ से दाईं ओर को और दूसरी साल दाएँ से बाईं ओर को और अपने दौरे में प्रत्येक ज़िले में एक-एक महीने तक रुके जिससे उसे तथा उसके साथियों को समूचे देश के बारे में प्रचुर ज्ञान हो जाए। दौरों के समय निरीक्षकों को काफ़ी व्यस्त रहना पड़ता है—जहाँ ज़रूरी होगा, वे देश की सुरक्षा के लिए खाइयाँ खुदवाने, सड़कें बनवाने, जल के उचित संभरण की व्यवस्था करने और सिंचाई-कार्यों को पूरा करने के लिए मज़दूर जुटाएँगे और अपनी निगरानी में उनसे काम कराएँगे। नगर तथा बाज़ार-निरीक्षकों के कर्त्तव्य इतने कठिन नहीं पर केंद्रीय नगर के महत्त्व से उनका पद भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसलिए, तीन नगर-निरीक्षक केवल पहले वर्ग में से ही चुने जाएँगे और पाँच बाज़ार-निरीक्षक केवल पहले दो वर्गों में से ही। पर, कोई भी नागरिक किसी उम्मीदवार के नाम का प्रस्ताव कर सकता है और आरंभिक चुनाव में प्रत्येक नागरिक का मतदान करना ज़रूरी होता है जिसके फलस्वरूप मूल उम्मीदवारों की संख्या घटकर चुने जाने वाले पदाधिकारियों की संख्या से दुगुनी रह जाती है और अंतिम चुनाव पर्ची डालकर किया जाता है। नगर-निरीक्षक नगर की, इसकी इमारतों, सड़कों और जल-संप्राप्ति की देखभाल करते हैं और बाज़ार-निरीक्षक बाज़ार के चौक और उसकी इमारतों तथा व्यापार की; पर दोनों प्रकार के पदाधिकारियों का अधिकार-क्षेत्र सीमित होता है।

इस स्थानीय शासन-पद्धति की यह सामान्य रूपरेखा एथेंस के पूर्ववर्त्ती उदाहरण के अनुसार है। हम देख ही चुके हैं कि अन्य बहुत सी बातों में लॉज़ के राज्य का संविधानी संगठन एथेनी ढँग का है। परिषद् तथा महासभा का स्वरूप एथेनी है। चतुर्वर्ग-व्यवस्था सोलोन के एथेंस की है। राज्य का बारह कबीलों में और परिषद् का बारह अध्यक्ष-मंडलों में विभाजन क्लीस्थेनीज़ के एथेंस की याद दिला देता है। दूसरी ओर, राज्य की सामाजिक व्यवस्था एथेंस की न होकर

स्पार्टा की है। प्रशिक्षण-पद्धति, पंचायती भोजन-व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति—इन सबका जन्म स्पार्टा के तौर-तरीकों से हुआ है। लॉज़ में स्पार्टा की आलोचना का स्वर **रिपब्लिक** की अपेक्षा अधिक कठोर है ; पर स्पार्टा का उदाहरण भी प्लेटो के सामने रहा है। हम कह सकते हैं कि लॉज़ का राज्य स्पार्टा की सामाजिक पद्धति तथा स्थिर व्यवस्था के साथ प्राप्त एथेंस के संविधानी रूपों तथा एथेंस की स्वतंत्रता के मिश्रण की परिणति है। वह कई दृष्टियों से मिश्रित राज्य है और इस दृष्टि से भी उसके मिश्र स्वरूप का किसी तरह कम महत्त्व नहीं कि उसमें यूनान के समसामयिक दो विरोधी राज्य-रूपों का मिश्रण हुआ है[1]।

---

1. यह नाटकीय पात्रों के द्वारा ही प्रकट हो गया है। इनमें से एक पात्र एथेनी अजनबी है जिसकी मुख्य भूमिका है और दूसरा पात्र स्पार्टा का मैगिलस है जो क्रीट और स्पार्टा की संस्थाओं के घनिष्ठ संबंध के कारण स्वभावतः क्रीट के क्लीनिआज़ के साथ संयुक्त है।

(ग) लॉज़ में शासन-व्यवस्था का सामान्य स्वरूप

स्थानीय शासन की यही वह पद्धति है और राज्य का यही वह संविधान है जिसका वर्णन लॉज़ के छठे खंड में किया गया है। वारहवें खंड में इस व्यवस्था में जो कुछ और नई वातें जोड़ी गई हैं, उन पर ध्यान देने से पहले हमें इस व्यवस्था के वर्त्तमान स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। इस पद्धति में एक लोक सभा है, एक निर्वाचित परिषद् है तथा विधि-संरक्षकों का एक कार्यांग है; उसमें सैनिक पदाधिकारी हैं, न्यायालय हैं तथा स्थानीय पदाधिकारी भी हैं। सभा वर्ग-व्यवस्था के आधार पर बनाई गई है। कुछ वर्ग तो ऐसे हैं जिनका सभा में उपस्थित होना आवश्यक है और कुछ ऐसे हैं जो चाहें तो सभा में उपस्थित हो सकते हैं। दोनों वर्गों में बीच भेद किया गया है। किंतु, प्रत्येक नागरिक सभा का सदस्य है और प्रत्येक नागरिक सभा की सभी वैठकों में मतदान कर सकता है। परिषद् के सदस्यों को महीनों के हिसाब से विभिन्न भागों में वाँट दिया गया है और एक-एक भाग एक-एक महीने राज्य में अध्यक्ष-पद ग्रहण करता है। इस परिषद् का निर्वाचन एक ऐसी पद्धति के आधार पर होता है जिसमें धन-संपदा के प्रति सम्मान का सार्वभौम मताधिकार के प्रति सम्मान के साथ संयोग होता है और निर्वाचन के प्रयोग का पर्ची के प्रयोग के साथ। लगेगा यह कि विधि-संरक्षक, बिना किसी भेदभाव के, सभी नागरिकों द्वारा और सभी नागरिकों में से निर्विघ्न निर्वाचित होते हैं। परंतु सैनिक पदाधिकारियों की भरती कुछ तो लोक-निर्वाचन द्वारा होती है और कुछ नामांकन (nomination) द्वारा। न्यायालयों में, चुने हुए न्यायाधीशों के रूप में, विशिष्ट ज्ञान का तत्त्व रहता है; किंतु फिर भी अधिकांश में वे लोक न्यायालय के सिद्धांत पर आधारित होते हैं; और नगर तथा वाज़ार के स्थानीय पदाधिकारी सवके द्वारा अवश्य चुने जाते हैं, भले ही वे सवमें से न चुने जाते हों। अतः समूची व्यवस्था में उच्च वर्गों द्वारा निरूपित बुद्धिमत्ता-तत्त्व को विशेष प्रतिनिधित्व मिला है। इसी तरह, समूची व्यवस्था में संपूर्ण नागरिक समुदाय द्वारा निरूपित स्वतंत्रता के तत्त्व को भी उन्मुक्त कार्यक्षेत्र मिला है और जो भी नागरिक चाहे अपना मत दे सकता है। इस पद्धति में कठिनाई यह है कि दोनों उच्चतर वर्ग—जो इस अर्थ में ही उच्चतर हैं कि उनके पास व्यक्तिगत धन-संपदा की मात्रा अधिक है—बुद्धिमत्ता के प्रतिनिधियों के रूप

में दिखाए गए हैं। इस कठिनाई के अलावा यह पद्धति इतनी सुसंगत, सांगोपांग और सतर्क है कि जटिल तक लगने लगती है। सारे राज्य में तत्त्वों का इस तरह से मिश्रण हुआ है कि उसे लोकतंत्र या अभिजात-तंत्र या अल्पतंत्र कहना मुश्किल लगता है। अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के चौथे खंड में, पोलिबियस ने अपने इतिहास के छठे खंड में और मोंटेस्क्यू ने विधियों की अंतरात्मा विषयक ग्रंथ के ग्यारहवें खंड में जिस मिश्रित संविधान की पैरवी की है, प्लेटो उसका सबसे पहला और साथ ही सबसे पूर्ण दार्शनिक लगता है।

यद्यपि अरिस्टाटल स्वयं मिश्रित संविधान का प्रतिपादक था, पर जिस रूप में प्लेटो ने मिश्रित संविधान का प्रतिपादन किया है उसका वह आलोचक है[1]। उसका विचार है कि मिश्रित संविधान पर अनेक आक्षेप हो सकते हैं। पहली बात तो यह है कि मिश्रित संविधान इस मान्यता पर आधारित है कि सर्वश्रेष्ठ संविधान लोकतंत्र तथा निरंकुश-तंत्र का मिश्रण होना चाहिए जबकि लोकतंत्र और निरंकुश-तंत्र या तो संविधान ही नहीं हैं और अगर हैं भी तो सबसे बुरे संविधान हैं। दूसरे, अनेक संविधानों का मिश्रण दो संविधानों के मिश्रण से ज्यादा अच्छा होता है और अंत में, प्लेटो के राज्य में राजतंत्र का कोई अंश नहीं है : प्लेटो का राज्य अल्पतंत्र और लोकतंत्र का समन्वय है जिसमें तराजू का पलड़ा अल्पतंत्र की ओर ही झुका हुआ है। इस आलोचना का कुछ अंश न सही है और न प्रासंगिक। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने निरंकुश-तंत्र का चरम लोकतंत्र के साथ समन्वय—जैसा संकेत अरिस्टाटल ने दिया है—नहीं किया है। वह तो इससे बहुत दूर है (पीछे अध्याय 13—ङ देखिए)। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने तो बड़ी सावधानी से इसका स्पष्टीकरण किया है कि

---

[1] **पॉलिटिक्स**, II. 6, § 8, 1266, a 4—7। यह ध्यान देने योग्य है कि अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स के दूसरे खंड में **लॉज** की जो आलोचनाएँ की हैं, वे कहीं-कहीं तो न्यायपूर्ण और गंभीर हैं, पर कभी-कभी सतही और गलत हो गई हैं। यह बात कुछ अजब सी है क्योंकि अरिस्टाटल ने सातवें और आठवें खंडों में आदर्श राज्य का चित्रांकन करते समय लॉज का बड़ी निकटता से अनुसरण किया है। (अंतिम अध्याय के अंत में इसका विस्तृत विवेचन देखिए)। इससे यह बात समझ में आती है कि **पॉलिटिक्स** उन पृथक् व्याख्यान-मालाओं का संग्रह है जो परस्पर कुछ-कुछ असंबद्ध से हैं। वैसे, इस स्थापना को मानने के कुछ और भी कारण हैं। ऊपर हमने जो कुछ कहा है उससे यह भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है कि अरिस्टाटल ने लॉज पर जो आक्षेप किए हैं, उनमें से कुछ का क्या स्वरूप है। परंतु, यहाँ उदाहरणस्वरूप यह और कहा जा सकता है कि दो-दो जोतों की जिस व्यवस्था को बाद में उसने स्वयं स्वीकार किया है, उसी व्यवस्था की उसने आलोचना की है (II. 6, §§15—16; 1265, b 24—6)। प्लेटो ने नागरिकों की संख्या के विनियमन की व्यवस्था किए बिना ही भू-संपत्ति को बराबर भागों में बाँटने का प्रयास किया है (II. 6, § 10 : 1265, a 38—42) या प्लेटो ने विदेश-संबंधों और पर्याप्त सैनिक रक्षा की व्यवस्था की उपेक्षा की है (II. 6, § 7—8 : 1256, a 20—8), इस तरह के वक्तव्यों से यह पता चल जाता है कि अरिस्टाटल की कुछ आलोचनाएँ कितनी गलत हैं।

वह तो राजतंत्र के उज्ज्वल पक्ष का लोकतंत्र के उज्ज्वल पक्ष के साथ समन्वय स्थापित करना चाहता है। राजतंत्र के उज्ज्वल पक्ष से उसका अभिप्राय है बुद्धि के शासन के सिद्धांत से और लोकतंत्र के उज्ज्वल पक्ष से उसका अभिप्राय है लोक-नियंत्रण के सिद्धांत से। उसने राजतंत्र का इतने व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है कि उसके अंतर्गत एक व्यक्ति का भी शासन आ जाता है और थोड़े व्यक्तियों का शासन भी और इस राजतंत्र को लोकतंत्र के साथ मिलाकर उसने वास्तव में अनेक संविधानों के उस मिश्रण की सृष्टि की है जो अरिस्टाटल को अभीष्ट था। उसने बुद्धि-प्रेरित शासन के सिद्धांत का लोक-नियंत्रण के सिद्धांत के साथ मिश्रण किया है और अंततः ये ही दो ऐसे सिद्धांत हैं जिनमें से एक को चुना जा सकता है या जिनका मिश्रण किया जा सकता है। दूसरी ओर अरिस्टाटल के अंतिम आक्षेप में वास्तव में बहुत बड़ी सचाई है। राजतंत्र का साधारण अर्थ ग्रहण करें तो प्लेटो के राज्य में राजतंत्र का वास्तव में कोई तत्त्व नहीं है। अल्पतंत्र को साधारण अर्थ में लें तो उसके राज्य में अल्पतंत्र का निश्चय ही पर्याप्त तत्त्व है। प्लेटो के सिद्धांत उसके व्यवहार से मेल नहीं खाते और जब वह व्यवहार में बुद्धि को धन-संपदा से अभिन्न मानता है, तब वास्तव में वह बुद्धि के शासन को धन-संपदा के उस शासन का रूप दे देता है जो, अरिस्टाटल की भाँति, उसकी दृष्टि में भी अल्पतंत्र का मूल तत्त्व है। अल्पतंत्र के शाब्दिक अर्थ को ग्रहण करें तो भी लॉज़ का राज्य लोकतंत्र के साथ अल्पतंत्र का मिश्रण है—इसके अलावा उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि पहले वर्ग के और दूसरे वर्ग तक के सदस्य अनिवार्य रूप से थोड़े ही होंगे और तीसरे तथा उससे भी अधिक चौथे वर्ग के सदस्य अनिवार्य रूप से बहुत होंगे। और आगे अरिस्टाटल का यह तर्क भी वास्तव में अनुचित नहीं कि प्लेटो के राज्य का पलड़ा अल्पतंत्र की की ओर झुका हुआ है; कि अमीरों को तो सभा में उपस्थित होने के लिए बाध्य किया जाता है पर गरीब चाहें तो सभा से अनुपस्थित रह सकते हैं; कि नगर और बाज़ार के निरीक्षकों के पद पर उच्च वर्गों के लोग ही प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं, निम्न वर्गों के लोग नहीं; कि परिषद् को निर्वाचित करने की पद्धति संपत्ति वालों के पक्ष में है। जब अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के एक परवर्ती खंड में अल्पतंत्रों की प्रकृति का विश्लेषण किया है, तब उसने बताया है कि अल्पतंत्रों में यह एक सामान्य युक्ति पाई जाती है कि अगर अमीर सभा में उपस्थित न हो सकें या अन्य नागरिक कर्त्तव्यों का पालन न कर सकें, तो उनके ऊपर तो जुर्माना होना चाहिए पर गरीबों को इसके लिए कोई सज़ा न मिलनी चाहिए। परंतु, इस युक्ति का एकमात्र उद्देश्य यह है कि लोक-स्वतंत्रता का थोड़ा सा दिखावा कर दिया जाए और असली मंशा यह है कि तथ्येन शक्ति सदा ही थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित रखी जाए (IV. 13, § 1—4 : 1297, a 14—35)। प्लेटो के राज्य का पलड़ा अल्पतंत्र की ओर झुका हुआ है। जब अरिस्टाटल यह आक्षेप करता है तो उसके आक्षेप में यह पूरक आक्षेप भी निहित है कि उसका झुकाव लोकतंत्र के विरुद्ध है। अरिस्टाटल ने स्पष्ट शब्दों में इस तरह की आलोचना नहीं की है, पर इस तरह की आलोचना की अवश्य जा सकती है। यद्यपि लोक सभा के संदर्भ में प्लेटो ने अनेक कुशल युक्तियों का आश्रय लिया है और उसे नाम-मात्र की कुछ शक्तियाँ भी दी हैं, परंतु फिर भी वह

कुछ-कुछ छाया-मात्र ही बनकर रह गई है। भीड़ राज्य के पोत की कभी भी सोत्साह रखवाली नहीं कर सकती (758 B) : कला के मामलों में और (यह भी लगेगा कि) राजनीति के मामलों में भी वास्तविक निर्णय बुद्धि और शिक्षा के अभिजात-तंत्र का होता है (658 E—659 C : 701 A—B)। व्यक्ति-आत्मा का वह तत्त्व जो सुख और दुःख का अनुभव करता है, राज्य की जनता या जन-समुदाय के समान होता है। जब व्यक्ति की इच्छाएँ विवेक और ज्ञान का अनुसरण नहीं करतीं, तब वही व्यक्ति की मूर्खता होती है (689 A—B)। इसी प्रकार जब जन-समुदाय अपने शासकों और अपनी विधियों के आदेश का पालन नहीं करता, तब यह राज्य की मूर्खता होती है। इन कथनों का लोकतंत्र के प्रति सच्चे विश्वास के साथ मेल बैठाना मुश्किल है। लोगों में योग्यता ढूंढ निकालने की पर्याप्त शक्ति होती है, प्लेटो यह नहीं मानता; फिर भी उसने जनता को पदाधिकारियों का निर्वाचन करने की शक्ति दी है। उसने यह उपहार वास्तव में "जनता का असंतोष दूर करने के लिए" दिया है। हमें लॉज़ के राज्य की परख उसमें व्याप्त भावना के आधार पर करनी चाहिए, उसकी संस्थाओं की व्यवस्था के आधार पर नहीं। अगर हम ऐसा करें, तो यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मिश्रित संविधान कोई ऐसा वास्तविक जैविक मिश्रण नहीं जिसमें सभी अंगभूत तत्त्व सक्रिय हों : उसमें तो लोक-तत्त्वों का, जो मुख्य रूप से निष्क्रिय होते हैं, सक्रिय और निदेशकारी उच्च वर्ग के साथ संयोग होता है। यह मौलिक आक्षेप है और यह ऐसा आक्षेप है जो अरिस्टाटल ने दूसरे खंड में लॉज़ की सीधी आलोचना करते समय उतनी स्पष्टता से व्यक्त नहीं किया जितना कि तीसरे खंड में जन-साधारण के बारे में अपने विचार प्रकट करते समय किया है। उसका कहना है कि सर्व-साधारण में सामुदायिक निर्णय की प्रतिभा होती है जिसके आधार पर वे कलागत विषयों की परख कर सकते हैं और इसी प्रकार राजनीतिक विषयों की परख का भी दावा कर सकते हैं। वे सहज भाव से अपने शासक चुन सकते हैं और सहज भाव से ही उनसे सवाल-जवाब कर सकते हैं। यहाँ अरिस्टाटल लोकमत की प्रभुता या 'सामान्य इच्छा' के उस विश्वास का स्पर्श कर उठा है जिसे प्लेटो ने कभी स्वीकार नहीं किया और अगर लॉज़ में वह इसे क्षण भर के लिए स्वीकार करता हुआ प्रतीत भी होता है, तो नाम-मात्र के लिए ही और अंततः अस्वीकार कर देता है।

(घ) लॉज़ के बारहवें खंड में स्वर-परिवर्त्तन

लॉज़ के बारहवें खंड में जो स्वर पूरी तरह छा गया है, उसकी ध्वनि पूर्ववर्त्ती खंडों तक में सुनाई देती है। अभी-अभी जिस तरह के अवतरण उद्धृत किए गए हैं, उनमें ज्ञान-शासन के सिद्धांत की निश्चित रूप से पुष्टि हुई है ; और अगर व्यवहार में यह लगता है कि ज्ञान के शासन में संशोधन किया गया है—कुछ तो उसका धन-संपदा के शासन के साथ अभेद स्थापित करके और कुछ उसे मिश्रित संविधान में स्वतंत्रता की क्रीड़ा के साथ जोड़कर—तब भी समाज-जीवन का एक बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसमें उसे अभी अपने शुद्ध रूप में क्रियाशील रहने दिया गया है। लॉज़ के स्वरों में एक स्वर पर्यवेक्षण का है। संपत्ति सीमित है; विवाह पर नियंत्रण है। एक अवतरण (730 D—E) में तो प्लेटो ने कहा है कि जो व्यक्ति शासकों को दूसरों के कुकर्मों की सूचना दे वह कई व्यक्तियों के बराबर है और जो लोग दूसरे नागरिकों को सुधारने में शासकों को सहयोग दें वे तो और भी अधिक योग्य हैं। लगता है इस अवतरण में प्लेटो ने एक-दूसरे के विरुद्ध जासूसी करने और एक-दूसरे पर निगरानी रखने की व्यवस्था की कल्पना की है। कवि, नाटककार, संगीतकार—सब पर नियंत्रण लगा दिया गया है (आगे अध्याय—17 क देखिए)। स्वतंत्रता के लिए राजनीति में कुछ गुंजाइश हो सकती है, पर कला के क्षेत्र में उसके लिए बहुत कम गुंजाइश है और लॉज़ के राज्य ने जिस प्रकार जीवन को अपने शिकंजे में कसा है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसमें पुलिस-राज्य के कुछ-कुछ लक्षण हैं। इसलिए जब अंतिम खंड में परदा उठता है और हम पथ-प्रदर्शन तथा नियंत्रण करने वाली प्रच्छन्न बौद्धिक विभूतियों को प्रकट होते देखते हैं, तब हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। ग्रंथ के आरंभिक खंडों में सभा और परिषद्, पदाधिकारी और न्यायालय आदि जिन संस्थाओं की चर्चा हुई थी, वे अब धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं और उनकी जगह दार्शनिकों या दार्शनिक खगोलविदों की नैश परिषद् का आविर्भाव होता है। नक्षत्रों के रहस्यों से परिचित होने के नाते ये लोग राज्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। यहाँ विधि-राज्य का विघटन होने लगता है—उस विधि राज्य का जिसका स्वरूप अनम्य है, जिसके नियम बदलते नहीं

और जिसे प्लेटो ने अब तक मिस्र के पिरामिड की तरह अचल माना है जो सदियों में न बदला है और न बदल रहा है। अब विधि-राज्य की जगह उस राज्य की रेखाएँ उभरने लगती हैं जिसका आधार विवेक की सहज क्रीड़ा है और जिसका निर्देशक है "सच्चा स्वतंत्र मन"। इसीलिए अरिस्टाटल का कथन है कि प्लेटो कहता तो यह है कि वह सामान्य रूप से स्वीकार्य राज्य की स्थापना करना चाहता है; पर वह धीरे-धीरे घुमा-फिरा कर लौट **रिपब्लिक** के पुराने आदर्श पर ही आता है[1]।

बारहवें खंड में पदाधिकारियों के जिस नए समुदाय का सबसे पहले परिचय दिया गया है वे परीक्षक या नियंत्रक हैं। उनका काम यह है कि अन्य दंडनायकों से कार्यकाल में उनके आचरण का निरीक्षण-परीक्षण करते रहें। यूनान में इस प्रकार का परीक्षण एक सामान्य प्रथा के रूप में प्रचलित था। कार्यकारी पदाधिकारी और परिषद् के सदस्य दोनों अपने उत्तरदायित्व से अवगत होते थे और उन्हें अपनी पदावधि का लेखा-जोखा देना पड़ता था लोकतंत्रात्मक राज्यों में ही नहीं (यद्यपि यह प्रथा लोकतंत्रात्मक राज्यों में विशेष रूप से प्रचलित थी) वल्कि अभिजाततंत्रात्मक और अल्पतंत्रात्मक शासन वाले राज्यों में भी[2]। सामान्य रूप से यह परीक्षा पदावधि की समाप्ति के तीस दिन के भीतर होती थी। कभी-कभी यह परीक्षा हर महीने हुआ करती थी और अगर इतनी बार न भी होती तो कम से कम समय-समय पर तो होती ही रहती थी। जो पदाधिकारी परीक्षा लेते थे (इन पदाधिकारियों को सामान्य रूप से यूथेनोई या लोगिस्ताई या कोरिंथ में नोमोफुए-कीज़ कहते थे) उन्हें साक्ष्य सुनने का ही अधिकार न होता था बल्कि वे अंतिम निर्णय भी दे सकते थे। जैसा कि अकसर हुआ करता था, वे साक्ष्य एकत्रित कर लेते थे और अंत में उस साक्ष्य के आधार पर न्यायालय निर्णय कर दिया करता था। हम यह सोच सकते थे कि चूंकि प्लेटो के राज्य के विधि-संरक्षकों का काम विधियों की रक्षा करना है, अतः वे अन्य सभी दंडनायकों की परीक्षा करेंगे[3]। पर, प्लेटो ने

---

1. **पॉलिटिक्स**, II. 6, §4 (1265, a 2—4)।
2. हरमन-स्वोबोडा, ल्हेरबुच I, III. 152—4 से तुलना कीजिए। यह और कह दिया जाए कि यूनान में पद-ग्रहण करने से पहले की आरंभिक परीक्षा नियमित रूप से होती थी—विशेषकर उन अधिकारियों के संदर्भ में जो पर्ची द्वारा नियुक्त किए जाते थे। प्लेटो ने लॉज़ के छठे खंड में विधि-संरक्षकों (753 E, 755 D), परिषद् (763 E), शिक्षा-निदेशक, (766 B), सेनापतियों (755 D), बाज़ार-निरीक्षकों (763 E) और प्रवर न्यायाधीशों (767 D) की आरंभिक परीक्षा की माँग की है। पर, अंतिम परीक्षा का बारहवें खंड तक कोई संकेत नहीं है।
3. यह समझ में नहीं आता कि परीक्षक विधि-संरक्षकों की निगरानी किस तरह कर सकते हैं (ज़ाहिरा तौर पर यही लगता है कि उनकी निगरानी होती है) क्योंकि विधि-संरक्षकों का भी अपने पद पर पचास साल या इससे भी ज्यादा उम्र में निर्वाचन होता है और वे बीस साल तक अपने पद पर रहते हैं। विधि-संरक्षकों का परीक्षकों से क्या संबंध है—यह बात स्पष्ट

एक नए और उच्चतर दंडनायक-पद की सर्जना की है। जो व्यक्ति इस पद पर नियुक्त होता है, उसे और सबके ऊपर निगरानी रखनी होती है। चूंकि यह पद अन्य पदों से अधिक महत्त्व का है, अतः इस पर वही व्यक्ति नियुक्त होते हैं जो योग्यता में औरों से बढ़कर हों (945 C)। प्लेटो ने व्यवस्था की है कि हर साल हर नागरिक पचास साल से अधिक आयु के किसी ऐसे नागरिक को नामांकित करेगा जिसे वह चरित्र तथा आचरण की दृष्टि से सबसे अच्छा समझता हो। जिन लोगों को इस प्रारंभिक मतदान में सबसे ज्यादा मत मिलते हैं, उनमें से (प्लेटो ने इन लोगों की संख्या का स्पष्टीकरण नहीं किया) आधे आगे एक और मतदान के द्वारा चुने जाते हैं और फिर इन आधे लोगों में से तीन को अंतिम मतदान द्वारा चुना जाता है[1]। इस तरह से जो तीन परीक्षक चुने जाते हैं, वे पचहत्तर वर्ष की आयु तक अपने पद पर रहते हैं। इस तरह परीक्षक-मंडल में प्रति वर्ष तीन नए सदस्यों की भरती होती है और यह मंडल सर्वश्रेष्ठ नागरिकों की संस्था होती है। इसमें पचास साल से अधिक आयु के सदस्यों की संभव संख्या पचहत्तर और संभाव्य संख्या चालीस होगी। ये लोग राज्य के सारे प्रशासन की निगरानी करते हैं[2]। मंडल का कार्य सारे दंडनायकों को न्याय-पथ पर अविचल रखना और इस प्रकार राज्य की एकता की रक्षा करना है। अगर वह असफल रहता है और दंडनायक विभिन्न दिशाओं में चलते हैं, तो नगर में फूट और कलह का बोलवाला हो जाएगा और वह एक न रह पाएगा, अनेक हो जाएगा (945 D—E)। फलतः, सब दंडनायकों का जीवन-मरण उसके सदस्यों की मुट्ठी में रहता है। हाँ, प्रवर न्यायाधीशों के न्यायालय में उनके निर्णय के विरुद्ध अपील हो सकती है (946 D)। अपनी शक्ति के अनुरूप ही उन्हें सम्मान मिलता है। सार्वजनिक सभाओं में वे अध्यक्ष पद पर

नहीं है। सच पूछा जाए तो लगता यह है कि परीक्षक ने ही विधि-संरक्षक की जगह हथिया ली है।

[1] गंपर्ज़ (ग्रीक थिंकर्स, अँग्रेजी अनुवाद के आधार पर, III. 250—1) ने नियंत्रणों की निर्वाचन-पद्धति को अत्याधुनिक योजनाओं से, आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व की योजनाओं से, मिलता-जुलता बताया है : उसमें "दूसरे मतदान तथा एक मत के सिद्धांत" का समन्वय है। यह कलम की कमजोरी लगती है। परीक्षकों के निर्वाचन में ऐसी कोई भी चीज नहीं जो विधि-संरक्षकों के या सभासदों के निर्वाचन से भिन्न हो—बस उसमें जटिलता उतनी नहीं है।

[2] अगर परीक्षक-मंडल के सभी सदस्य पचहत्तर वर्ष की आयु तक जीवित रहें, तो उनकी संख्या पचहत्तर होगी। पर, यह बात असंभाव्य है। अतः, इस मंडल में औसतन चालीस या उससे कम सदस्य रहेंगे। रिटर (पू० कृ० पृ० 363) का कहना है कि औसत संख्या 15 होगी। लगता है कि वह यह मानकर चला है कि चुनाव की औसत आयु 60 वर्ष है और मृत्यु की औसत आयु लगभग 65 वर्ष। फलतः औसत कार्यकाल प्रायः पाँच वर्ष का निकलता है। मुझे यह मानना कहीं अधिक युक्तिसंगत लगता है कि औसत कार्यकाल प्रायः बारह वर्ष का होगा और इसलिए मंडल के सदस्यों की संख्या (जिसमें प्रतिवर्ष तीन सदस्य निर्वाचित होते हैं) चालीस से ऊपर रहेगी।

रहते हैं। प्रति वर्ष जिन तीन परीक्षकों का निर्वाचन होता है, उनमें जिसे सबसे ज्यादा मत मिलते हैं, उसी के नाम पर उस वर्ष का नाम पड़ता है ; और जब किसी परीक्षक की मृत्यु होती है, तब उदात्त वैभव के साथ उसकी अंत्येष्टि कर दी जाती है। उसकी अर्थी को सवेरे ही सवेरे पूरी सैनिक शान-शौकत के साथ मकबरे तक ले जाया जाता है। अर्थी के साथ लड़कों की एक मंडली राष्ट्रीय गान गाते हुए चलती है। उसका कमरा भूगर्भ में एक लम्बा वितान-कक्ष होता है। उसके सहारे-सहारे पत्थर की चौकियाँ बना दी जाती हैं। मकबरे के चारों ओर एक वेदी-सी बनाई जाती है और उस पर वृक्ष-लताओं का एक कुंज बना दिया जाता है (947)।

परंतु परीक्षकों की शक्ति और प्रतिष्ठा कितनी ही क्यों न हो, वे प्लेटो के राज्य में शिखर पर नहीं हैं। वे ऐसे लोग हैं जो चरित्र और आचरण की दृष्टि से औरों से बढ़ कर हैं। परंतु अगर प्लेटो अपने और अपने मूल सिद्धांतों के प्रति सच्चा है, तो प्लेटो के राज्य में शिखर पर तो उन लोगों को होना चाहिए जो ज्ञान और दार्शनिक अंतर्दृष्टि के धरातल पर सबसे ऊँचे हों, जो नक्षत्रों का, पृथ्वी का और उनके पारस्परिक सामंजस्य का अर्थ समझने में सबसे बढ़-चढ़ कर हों। इन लोगों को उसने नैश परिषद् के रूप में पाया है और प्रस्तुत किया है। **लॉज़** के राज्य का बाहरी दुनिया के राज्यों के साथ क्या संबंध हो—इसकी चर्चा करते-करते ही लगता है प्रायः अनायास नैश परिषद् का आविर्भाव हुआ है और राज्यों के साथ अगर उसका अबाध संसर्ग रहा, तो उसके ऊपर बुरा असर पड़ेगा और उसके अच्छे आचार-विचार भी बिगड़ जाएँगे (949 E)। दूसरी ओर, अगर और राज्यों से बिल्कुल अलग-थलग रहने की कोशिश की जाए, तो वह असंभव है और अगर संभव हो भी तो बाकी सारा संसार उसे बर्बरतापूर्ण समझेगा[1]। किसी राज्य में इस बात की ओर ध्यान न दिया जाए कि दूसरे राज्य उसकी कितनी प्रतिष्ठा करते हैं तो यह गलत है। जो लोग खुद अच्छाई से दूर होते हैं, वे सही-सहज प्रेरणा से दूसरों की अच्छाई समझ सकते हैं ; और अच्छा आदमी सदा ही अच्छा नाम चाहेगा। जो बात लोगों के बारे में सही है वही कम से कम इस संदर्भ में राज्यों के बारे में भी सही है ; और अच्छा राज्य सदा ही यह चाहता है कि दूसरे राज्यों के बीच उसका अच्छा नाम हो। वह दूसरे राज्यों के सामने अपना सबसे अच्छा रूप रखना चाहेगा। जब वह अपनी प्रजा को यात्रा करने की और यात्रा में अपने साथ अपने राज्य की यशपताका ले जाने की अनुमति देता है, तब वह इस बात के लिए सतर्क होता है कि अपने सर्वश्रेष्ठ नागरिकों को ही विदेश भेजे। फलतः, प्लेटो ने जिस राज्य का निर्माण किया है, वह यूनानी जगत् की अंतर्राष्ट्रीय सभाओं में, ओलम्पिया में तथा अन्य समारोहों में ऐसे ही नागरिक भेजेगा जिनके आधार पर वह चाहेगा कि उसका मूल्यांकन किया जाए और इस प्रकार "युद्ध में जो गौरव मिलता है उसके विपरीत गौरव अर्जित करना चाहेगा" (951 A)। इस तरह का राज्य अपने राजदूतों की

---

[1] इसमें परोक्षतः स्पार्टा की और स्पार्टा वालों की एक आदत की बुराई की गई है कि वे समय-समय पर अजनबियों को देश के बाहर निकाल दिया करते थे।

योग्यता के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा, हथियारों के ज़ोर से नहीं। ये लोग सरकारी दूत होंगे, पर राज्य ग़ैर-सरकारी नागरिकों को भी 'दर्शकों' के रूप में बाहर भेजेगा बशर्ते कि उन्हें विधि-संरक्षकों की अनुमति मिल जाए। ये दर्शक अन्य नगरों का तथा उनकी विधियों का अध्ययन करेंगे और इन विधियों की अपनी विधियों से तुलना करने के उपरांत अपनी विधियों को आत्मसात् करेंगे—केवल आदत के बल पर नहीं, बल्कि पूरी तरह समझ-बूझकर। विधियों के प्राणतत्त्व को पूर्ण रूप से ग्रहण करने और जीवन के पूर्ण शील तक पहुँचने का यही एकमात्र मार्ग है[1]। दर्शक अपना अध्ययन संस्थाओं तक ही सीमित रखते हों—ऐसा भी नहीं है। संसार में दिव्य स्वभाव के थोड़े-से व्यक्ति सदा ही मिलते हैं। ऐसे व्यक्ति सुव्यवस्थित राज्यों में भी मिलते हैं, कुव्यवस्थित राज्यों में भी। लोगों को जल और थल दोनों के रास्ते इनकी खोज करनी चाहिए ताकि अपने राज्य की विधियों में जो कुछ सशक्त है, उसकी पुष्टि करना, और जो कुछ सदोष है, उसे निर्दोष बनाना वे उनसे सीख सकें[2]। यह उस प्लेटो का स्वर है जो जगह-जगह घूमा था और जिसने दुनिया देखी थी: यह उस प्लेटो का स्वर है जिसने सृष्टि और काल के द्रष्टा दर्शन का वरण किया था।

जब दर्शक पचास और साठ साल की उम्र के बीच दस साल या उससे कम, अपने पद पर रह चुके तब उसे अपने राज्य की सेवा में उसी तरह का वक्तव्य प्रस्तुत करना चाहिए जिस तरह का वक्तव्य वेनिस के दूत अपने सीनेट की सेवा में प्रस्तुत किया करते थे। और जिस संस्था की सेवा में वह अपना वक्तव्य प्रस्तुत करता है उसका नाम है नैश परिषद् (यह नाम इसलिए पड़ा है कि उसकी बैठकें उषाकाल और सूर्योदय के बीच में होती हैं)। नैश परिषद् उसके अनुभवों को सुनेगी और जाँचेगी कि उनसे क्या शिक्षाएँ मिलती हैं और तब वह यथोचित आचरण करेगी (951 D—E)। प्लेटो यहाँ जिस नैश परिषद् को लाया है, उसका वह दसवें खंड में प्रसंगवश पहले ही उल्लेख कर चुका है। वहाँ कहा गया है कि उसकी बैठक 'सुधार सदन' के निकट होती है और उसके सदस्य उन द्रोहियों से, जो सदन में कारावास भोग रहे हों, बातचीत करते हैं ताकि वे सुधर सकें (908 A)। यहाँ नैश परिषद में

---

1. अरिस्टाटल की आलोचना (**पॉलिटिक्स**, II. 6, § 7; 1265 a 20—5) के बावजूद प्लेटो 'विदेश-संबंधों' के प्रति उदासीन नहीं है। पर उसने युद्ध-कालीन विदेश-संबंधों के बारे में नहीं शांतिकालीन विदेश-संबंधों के बारे में विचार किया है और सो भी भौतिक लाभ की दृष्टि से नहीं, नैतिक लाभ की दृष्टि से। राज्य को अन्य राज्यों की संस्थाओं का सावधानी से अध्ययन करना चाहिए—उसका यह सुझाव कुछ हद तक दूसरे देशों की शिक्षा-पद्धतियों के या वहाँ के निर्धनों की सहायता-पद्धतियों के बारे में तैयार किए गए राजकीय प्रतिवेदनों आदि के रूप में पूर्ण हुआ है।
2. यहाँ यह संदेह हो सकता है कि अकादमी या अकादमी द्वारा सम-सामयिक एथेंस में दी गई शिक्षा के प्रति कुछ संकेत किया गया है। अगर इस तरह का कोई निर्देश है तो लगेगा कि इसमें उत्कट अहंकार की गंध है। पर लॉज़ में तथा कुछ सच्चे काव्य-पत्रों में इस तरह के अवतरण हैं जिनका यही स्वर है।

डोमिनिकीय समीक्षण (Dominican Inquisition)* की कुछ विशेषताएँ दिखाई देती हैं। बारहवें खंड में वह दार्शनिकों की एक मंडली के रूप में दिखाई गई है जो कुछ तो दर्शकों के वक्तव्यों के आलोक में[1] और कुछ दर्शन—संख्या और खगोल-विज्ञान के दर्शन—के आलोक में, सच्ची जीवन-पद्धति के बारे में विचार-विमर्श कर रहे हैं। लॉज की अन्य बहुत सी चीज़ों की तरह उसकी रचना का आधार भी मिश्रण का सिद्धांत है; पर अब जिन तत्त्वों का मिश्रण किया गया है वे विभिन्न सामाजिक वर्ग नहीं हैं; वे विभिन्न अवस्थाएँ तथा अनुभव और जीवन दृष्टि के विभिन्न अवस्थान हैं। परिषद के आधे सदस्य पदेन सदस्य होते हैं और ये लोग राज्य के उच्चतर पदाधिकारी होते हैं। ये पदाधिकारी अधिक आयु के होंगे क्योंकि वे ऐसे पदों पर होते हैं जिन पर पचास वर्ष से अधिक आयु के लोग ही काम कर सकते हैं। इस आधे भाग में निम्नलिखित पदाधिकारी आते हैं: परीक्षक जो सबके सब स्थानों के अधिकारी होते हैं और जिनकी आयु पचास वर्ष से अधिक होती है; दस वरिष्ठतम विधि-संरक्षक जो साठ और सत्तर वर्ष के बीच की आयु के होते हैं; शिक्षा-मंत्री जो निश्चित रूप से पचास वर्ष से अधिक आयु का होता है, सारे पूर्ववर्त्ती शिक्षा-मंत्री जो सत्तर वर्ष से अधिक आयु के हो सकते हैं और अंत में वे 'दर्शक' जिन्होंने अपने को परिषद् की सदस्यता के योग्य प्रमाणित किया हो और जो बिना किसी अपवाद के साठ वर्ष या उससे अधिक आयु के होते हैं। अब तक हमने परिषद् का जिस रूप में वर्णन किया है, उसके अनुसार वह वयोवृद्धों की संस्था है और

---

* डोमिनिक संप्रदाय द्वारा, जिसकी स्थापना सेंट डोमिनिक (1170—1221) ने की थी, मध्यकाल में अन्य मतावलंबियों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिए प्रयुक्त कठोर और नृशंस नीति।

[1] लॉज के पूर्ववर्ती खंडों में भी इस प्रकार की संस्था के संकेत मिल सकते हैं। पहले खंड (632 C) में कहा गया है कि विधिकर्त्ता जिन लोगों को संरक्षक नियुक्त करता है, उनमें से कुछ तो विवेक के सहारे चलते हैं और कुछ सच्चे मत के सहारे। इस अवतरण से बहुत हुआ तो एक अत्यंत क्षीण संकेत भर मिलता है। रिटर ने लॉज की अपनी टीका (पृ० 45 और क्रमशः) में दूसरे खंड के एक अवतरण (664 C—D) में एक और संकेत खोज निकाला है। इस अवतरण में प्लेटो ने न्यायपरायणता तथा सुख की अभिन्नता का गायन करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं के लोगों के सहगानों की उसी तरह व्यवस्था की है जिस तरह उसने बारहवें खंड की नैश परिषद् के अंतर्गत दार्शनिक अध्ययन के लिए विभिन्न अवस्थाओं के लोगों को एक जगह ला जुटाया है। पुनः, सातवें खंड (817 E—818 B) में, जहाँ गणित, ज्यामिति तथा खगोल-विज्ञान के अध्ययन का उल्लेख है, कहा गया है कि ये अध्ययन सब लोगों के लिए नहीं हैं, थोड़े से लोगों के लिए ही हैं "और वे लोग कौन हैं यह हम आगे चलकर अंत में बताएँगे"। यद्यपि नैश परिषद् का पूर्ववर्त्ती खंडों में अस्पष्ट संकेत आया है, पर नियमित और औपचारिक संस्था के रूप में उसका विशेष वर्णन बारहवें खंड में ही हुआ है और यहाँ भी उसका यह वर्णन एक ऐसे परिशिष्ट के रूप में हुआ है जिसका पहले वर्णित राजनीतिक संस्थाओं के साथ ताल-मेल बैठाना कठिन है। पूर्ववर्त्ती खंडों की जिस साधारण परिषद् का राज्य और उसके दंडनायकों पर नियंत्रण रहता था, उस साधारण परिषद् से नैश परिषद की संगति बैठाना प्रायः असंभव है।

सच पूछा जाए तो अव तक हमने राज्य के शासन का जिस रूप में वर्णन किया है, उस के अनुसार समूचे शासन को ही 'जरातंत्र' (gerontocracy) कहा जा सकता है—परिषद् तो उसी का लघु रूप है। किंतु, प्लेटो छठे खंड में जिस योजना का सुझाव दे चुका है और जिसके अनुसार प्रत्येक ग्राम क्षेत्र के पाँच निरीक्षकों के साथ वारह तरुण सहयोगियों को रखा गया है (760 B), वही योजना नैश परिषद् के लिए भी अपना ली गई है और इसके फलस्वरूप उसमें एक नए और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का समावेश हो गया है। पदेन सदस्यों में से प्रत्येक तीस और चालीस के बीच की आयु के एक तरुण सहयोगी को चुनता है और अगर शेष सदस्य सहमत हो जाएँ, तो यह सहयोगी परिषद् का नियमित सदस्य बन जाता है (961 B)[1]। जिन बड़े-बूढ़ों को प्रशासनिक मामलों का अनुभव है या जिन्होंने दुनिया घूमी और देखी है, उन्हें नौजवानों के ओज-तेज और उत्साह से मदद मिलेगी और इस तरह प्लेटो अगम तक पहुँचने के पुराने विफल मनोरथों को सफल करेगा—यौवन के साथ ज्ञान और जरा के साथ शक्ति का समन्वय करेगा। यौवन वार्धक्य के हाथ मज़बूत करेगा और उस की कठोरता कम। वह नौकरशाही का उत्थान रोकेगा क्योंकि जरातंत्र होने के नाते वह और भी बुरी होगी। पुनः, बुढ़ापे की बुद्धिमत्ता और दार्शनिक प्रतिभा का यौवन की कोरी सहज वृत्ति और मत के साथ मणिकांचन संयोग होगा। यही नहीं, तरुणों को अपने बड़े-बूढ़ों के साथ वहस में अपने जौहर दिखाने का अवसर मिलेगा और परिषद् में वे जो भी भूमिका निबाहेंगे, उसके द्वारा पद के लिए उनकी योग्यता का परिचय भी मिलेगा। जो लोग अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन करेंगे, शेष नगर उनका निरीक्षण करेगा और उनकी योग्यता के अनुसार उनकी पदोन्नति भी (952B) होगी। परिषद् तरुणों के लिए प्रशिक्षण और परीक्षण-स्थल ही नहीं, वह वयोवृद्ध पदाधिकारियों का एकता-सूत्र भी है। परिषद् विभिन्न दंडनायकों को सूत्रवद्ध करती है। वह मानो मंत्रिमंडल है जो विभिन्न विभागों—शिक्षा-मंत्री, परीक्षकों, विधि-संरक्षकों—को एक दूसरे से जोड़ता है और उनमें परस्पर संगति स्थापित करता है। अंत में, अपने अनुभवी पदाधिकारियों, तरुण सहयोगियों और घूमे-फिरे हुए दर्शकों के कारण परिषद् समूचे राज्य की बुद्धि और मन का प्रतिनिधित्व करेगी। इस नाते वह विधि के समूचे क्षेत्र का सर्वेक्षण करेगी और देश की विधियों तथा दूसरे देशों

---

[1] प्लेटो ने परिषद् की रचना की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की है। जिन दो अवतरणों (951 D—E, और 961 A—B) में इसका उल्लेख किया गया है, अगर उन पर एक साथ विचार किया जाए, तो अनुमान किया जा सकता है कि उसमें निम्नलिखित सदस्य हैं: (1) दस वयोवृद्ध विधि-संरक्षक; (2) सारे परीक्षक जिनकी संख्या चालीस या उससे कम हो सकती है; (3) वर्त्तमान शिक्षा-मंत्री और उसके दो-तीन पूर्ववर्त्ती; (4) कुछ 'दर्शक'। इस तरह पचास साल से ऊपर की आयु के सदस्यों की कुल संख्या पचास से अधिक हो जाती है, और चूँकि इनमें से प्रत्येक सदस्य का एक तरुण सहयोगी भी होता है, अतः परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या 100 या उससे अधिक हो जाती है। रिटर ने परीक्षकों की गिनती कुल पंद्रह रखी है और इसलिए वयोवृद्ध सदस्यों की वत्तीस रखी है। उसके मत से परिषद् के कुल सदस्यों की संख्या पैंसठ से लेकर अस्सी तक है।

में पाई जाने वाली अच्छी विधियों के बारे में चर्चा भी। प्लेटो का कथन है कि वह विधि के विषय पर प्रकाश डालने वाले अध्ययन की सारी शाखाओं का विवेचन करेगी और अगर वयोवृद्ध सदस्य निर्देश दें, तो तरुण सहयोगियों को परिश्रमपूर्वक उनके अध्ययन में लगा देना चाहिए (951 E—952 A)[1]।

हम कह चुके हैं कि नैश परिषद् राज्य का निदेशकारी मन है। प्लेटो की युक्ति है कि प्रत्येक सप्राण देह को अपने निदेशन के लिए मन की आवश्यकता होती है और मन को अपनी सहायता और जानकारी के लिए आँखों और कानों की। राजनीतिक व्यवस्था को अपने निदेशन के लिए मन की ज़रूरत होती है जिसका मूर्त रूप होती है नैश परिषद् और इस परिषद् को अपनी सहायता तथा जानकारी के लिए तरुण संरक्षकों के रूप में नेत्रों और कानों की आवश्यकता होती है जो राज्य की सारी गतिविधियों को देखते और सुनते हैं (964 B)[2]। मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा एक लक्ष्य की साधना करता है। इंद्रियाँ अनेक चीज़ों को देखती और सुनती हैं तथा वे बहुमुखी होती हैं : मन एक होता है और उसका लक्ष्य तथा उद्देश्य भी एक ही रहता है (पीछे पृ० 284 से तुलना कीजिए)। सामान्य मन की तरह राजनीतिक मन को भी एक लक्ष्य की साधना करनी चाहिए और इस साधना के लिए ज़रूरी है कि वह जाने की कौन-सा एक लक्ष्य उसके सामने है और साथ ही जाने उन साधनों को जिन के द्वारा उस लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। किसी भी राज्य के सामने न तो धन-संपदा का लक्ष्य होता है, न स्वतंत्रता का ; सबके सामने यह लक्ष्य तो बिल्कुल नहीं रहता कि वह स्वयं तो स्वतंत्रता का भोग करे और दूसरे राज्यों पर ज़ुल्म ढाए। उसके सामने तो एक ही लक्ष्य रहता है और वह है श्रेय का लक्ष्य (962 D—E) और श्रेय अपने आप में एक इकाई होता है, वह विभिन्न गुणों—साहस और बुद्धिमत्ता, आत्म-संयम और न्याय—का योग या समन्वय नहीं होता ; वह तो अनन्य और

---

[1] आक्सफर्ड की हेबडोमेडल परिषद् प्लेटो की नैश परिषद् से कुछ-कुछ मिलती-जुलती है। इस संस्था के प्रायः अठारह साधारण सदस्य साठ वर्ष की औसत आयु के होते हैं। दो प्रोक्टर भी अपने कार्यकाल में इसके सदस्य होते हैं। एक मान्य नियम के अनुसार उनके ऊपर यह मर्यादा लगी होती है कि वे चालीस वर्ष से कम आयु के (पर तीस वर्ष से अधिक आयु के) हों। "शासन में वयोवृद्धों के साथ तरुण भी रहें"—प्लेटो के इस सुझाव का इस आधार पर समर्थन किया जा सकता है कि प्राचीन समाजों की तरह आधुनिक समाजों में भी 'शासी निकायों' में उन्हीं लोगों को रखा जाता है जिनकी पद ग्रहण करते समय काफ़ी आयु होती है। इससे यह भरोसा तो हो सकता है कि शासन में बुद्धिमत्ता का तत्त्व रहेगा, पर इससे रूढ़िवाद के लिए राह खुल जाती है और तरुण क्रांति की दिशाओं में प्रेरित होने लगते हैं।

[2] प्लेटो ने इस वाक्यांश (तरुण विधि-संरक्षकों) का प्रयोग तो कर दिया है, पर शायद उसका इशारा नैश परिषद् के तरुण सदस्यों की ओर है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमें लॉज के इक्के-दुक्के अवतरणों को लेकर बाल की खाल निकालने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। इस कथन का संबंध 739—40 जैसे अवतरणों की व्याख्या से है (पीछे अध्याय 14—ख से तुलना कीजिए)।

एकात्मक गुण है जिसमें सारे गुणों का समन्वय होता है और अगर उसे प्राप्त करना हो, तो उसे इकाई के रूप में ही जानना होगा। इसलिए, जिस एक-मात्र साधन से श्रेय की सिद्धि की जा सकती है, वह है श्रेय की एकता का ज्ञान : राज्य के लिए श्रेय के राजनीतिक लक्ष्य को जिस एक-मात्र मार्ग पर चल कर प्राप्त किया जा सकता है वह है उन राजमर्मज्ञों का शासन जिन्होंने उसकी एकता का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। इस तरह के ज्ञान के विना किसी व्यक्ति को शासक नहीं कहा जा सकता (962 B): जो साधारण सद्‌गुणों के अलावा इसे नहीं पा सकता, वह दूसरों की अधीनता में भले ही काम कर ले, समूचे राज्य का उचित शासक नहीं हो सकता (968 A)। परंतु अगर श्रेय को एक इकाई के रूप में जानना हो और जिन अनेक एवं विविध रूपों में वह प्रकट होता है, उनमें से उसके एक सच्चे रूप या **भाव** को अलग करना हो तो साधारण से कहीं अधिक अवितथ प्रशिक्षण आवश्यक है (965 A—D)। ईश्वर में सारी चीज़ें एकाकार हो जाती हैं। श्रेय उसी में और उसी के माध्यम से एक इकाई का रूप धारण करता है। इसलिए जो व्यक्ति श्रेय की एकता का ज्ञान प्राप्त करना चाहे, उसे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जब हम सृष्टि को एक इकाई के रूप में और अपने-अपने नियत स्थानों पर अपने आपको उसके अंशों के रूप में देखने लगें, जब हम जान लें कि उसका शाश्वत मन इस चराचर में किस प्रकार व्याप्त है और वह हमारे मनों को उनके अनेक कार्यों में किस प्रकार प्रेरणा और सहारा देता है, तभी हम ईश्वर के दिव्य प्रयोजन में श्रेय की एकता तथा सारी चीज़ों की एकता का अवलोकन कर सकते हैं[1]। खगोल-विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त होने वाला प्रशिक्षण ही वह प्रशिक्षण है जिससे हमें ईश्वर का और इसलिए श्रेय की एकता का ज्ञान प्राप्त होता है। यह सोचना गलत है कि खगोल-विज्ञान से अनीश्वरवाद की ओर प्रवृत्ति होती है क्योंकि उसके कारण मनुष्य गति के आवश्यक नियमों द्वारा प्रेरित पदार्थ के अलावा और कुछ नहीं देख पाता। जो खगोल-विज्ञान पदार्थ को मानस के पहले रखे या मानस का बिल्कुल उन्मूलन कर सृष्टि का क्रम विकृत कर दे, वह झूठा खगोल-विज्ञान होता है। सच्चा खगोल-विज्ञान इससे उल्टा होता है। उसकी प्रेरणा से लोग उस मानस को देखते हैं जो सारे पदार्थ का पूर्ववर्त्ती है, जो "सबसे पुरानी और सबसे दिव्य चीज़" है, जिसका नक्षत्रों की गतियों पर नियंत्रण रहता है। खगोल-विज्ञान से हम सीखते हैं कि नियमित क्रम और पूर्ण सौंदर्य से संपन्न इन गतियों से उस निदेशकारी मन का प्रमाण उपलब्ध होता है जो स्वयं न तो किसी तरह कम नियमित है, न कम पूर्ण। ईश्वर और श्रेय को समझने के लिए हमें नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जो मन नक्षत्रों में संचरण करता है और सत्ता का मूल है, हमें उस

---

1. यहाँ प्लेटो फिर उस पुराने सिद्धांत पर आ गया है जिसे उसने प्रकट रूप से **पॉलिटिक्स** में त्याग दिया था (पीछे पृ० 421, पा० टि० 2 देखिए)।
2. लॉज़ के ग्रंत में प्लेटो ने तर्क दिया है कि (1) सच्चे राजमर्मज्ञ को श्रेय की एकता का ज्ञान होना चाहिए (963 B—966 A); और (२) उसे ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए जो ज्ञान का भव्यतम रूप है (966 B—968 A)। मैंने दसवें खंड (विशेष कर 903) में निहित शिक्षा का उपयोग कर के इन दोनों युक्तियों में संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है।

मन का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ; हमें विद्या की उन शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो इस तरह के ज्ञान के किए आधार रूप होती हैं ; हमें संगीत को इनके संदर्भ में समझने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ; और फिर हमने जो कुछ समझा है, जो कुछ जाना है, जो कुछ देखा है, हमें लोगों की आदतों और प्रथाओं के उन्नयन की दृष्टि से उनके उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यही वह दिव्य सामंजस्य है जिसकी कूज़ा के निकोलस ने चर्चा की थी। इसी सामंजस्य को ध्यान में रखकर नैश परिषद् को राज्य का पथ-प्रदर्शन और शासन करना चाहिए।

अस्तु, **लॉज़** के अंत में प्लेटो **रिपब्लिक** के सिद्धांतों की ओर वापस लौट आया है। हाँ, इस बार ये सिद्धांत एक नए और खगोल-वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। अब तर्कशास्त्र और 'भाव' का स्थान खगोल-विज्ञान और संख्या ने ले लिया है। प्लेटो एक बार फिर उस सच्चे स्वतंत्र मन के शासन की ओर वापस मुड़ा है जिसके बारे में वह पूर्ववर्त्ती खंडों में निराश हो चुका था और जिसके स्थान पर उसने विधि-शासन की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया था। एक बार फिर वह समझौते और समन्वय की जगह एकत्व के आदर्श की ओर मुड़ा है ; एक बार फिर वह दार्शनिकों के प्रशिक्षण की योजना और उसके साथ दार्शनिक नरेशों की प्रभुता की ओर उन्मुख हुआ है। नैश परिषद् **रिपब्लिक** के 'पूर्ण संरक्षकों' का ही रूप है। इन्हें अब एक मंडल का रूप मिल गया है और वे ऐसे तौर-तरीकों से जिनका कभी स्पष्टीकरण नहीं होता राज्य-तंत्र पर नियंत्रण रखते हैं और इस राज्य-तंत्र में उनका स्थान पूरी तरह कभी निर्धारित नहीं होता। जिस प्रकार पूर्ण संरक्षकों के लिए आवश्यक उच्चतर शिक्षा का **रिपब्लिक** के छठे खंड में संकेत दिया गया है, उसी प्रकार परिषद् के लिए आवश्यक अधिक अवितथ प्रशिक्षण की **लॉज़** के अंत में क्षीण रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। किंतु, जहाँ **रिपब्लिक** के सातवें खंड में संरक्षकों की उच्चतर शिक्षा का पूरा विवरण दिया गया है, वहाँ **लॉज़** में नैश परिषद् के लिए आवश्यक अधिक अवितथ प्रशिक्षण की पूरी रूपरेखा कहीं नहीं दी गई। संवाद के अंत में एथेनी अजनबी ने वचन दिया है कि "तर्क-क्रम में जो विषय फिर से उठा है", उस विषय यानी शिक्षा के बारे में अपने विचार प्रकट करने की वह 'जोखिम उठाएगा' (969 A); पर इस वचन के साथ ही **लॉज़** समाप्त हो गया है मानो कोई उस अंतिम कमरे की दहलीज पर आकर थम गया हो जिसकी छानबीन बाकी रह गई थी। पर, अगर हम **एपिनोमिस** (या लॉज़ के परिशिष्ट) को प्लेटो की कृति मानें (और भावना की दृष्टि से वह निश्चय ही प्लेटो की कृति है), तो हम **लॉज़** के अंत में दिए गए वचन की कुछ पूर्त्ति पा सकते हैं[1]। एक बार फिर एथेनी अजनबी,

---

[1] प्रो० बर्नेट (ग्रीक फिलॉसफ़ी, पृ० 8) ने **एपिनोमिस** को प्लेटो की रचना माना है। उसका कहना है कि तीन विमाओं (dimensions) में वस्तुओं का अध्ययन करने के प्रसंग में त्रिविमिति (stereometry) का सबसे पहले **एपिनोमिस** में प्रयोग किया गया है। **रिपब्लिक** के सातवें खंड में इस शास्त्र का सबसे पहले सामान्य शब्दावली में उल्लेख हुआ है और **एपिनोमिस** में त्रिविमिति का जो निर्देश है, वह **थिआएटेटस** (पृ० 222, 323) के एक

मैंगिलस और क्लीनिआज वक्ता उपस्थित हैं और वे इस प्रश्न पर विचार करते हैं : "बुद्धिमता क्या है और उसे किस प्रशिक्षण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है"। एथेनी अजनबी ने उत्तर दिया है, "बुद्धि संख्या की कला है, इस कला के बिना मानव-जाति बुद्धिमता तथा विवेक से कोसों दूर रहती है" (976 D—E)। बुद्धिमता का और सारी अच्छी चीज़ों का अस्तित्व संख्या के साथ ही होता है और बुरी चीज़ें वे ही होती हैं जिनकी कोई संख्या और माप न हो (978 A—B)। संख्या की कला ईश्वर की देन है और ईश्वर आकाश रूप है—आकाशीय मन है जो नक्षत्रों को उनके कक्षों में संचालित करता है और उनके परिवर्त्तन तथा अस्तित्व का आधार है (977 B)। संख्या के अनुसार नक्षत्रों की नियमित गति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनमें बुद्धिमता है और मन है क्योंकि मन नियत और स्थायी होता है और नक्षत्रों की नियत गति से सिद्ध होता है कि वे पदार्थ नहीं हैं जो 'पदार्थ के नियमों' के अनुसार चक्कर काटते हों, वे तो मन हैं और प्रत्येक सच्चे मन के स्थायित्व से आचरण करते हैं (982)। जो व्यक्ति आकाश में संचरण करने वाले मन की बुद्धिमता से अवगत है, उसने बुद्धिमता को पा लिया है और इस प्रकार बुद्धिमता का मार्ग खगोल-विज्ञान है—वह सच्चा और ऊँचा खगोल-विज्ञान जो हेसिऑड के कृषक की तरह उदयोन्मुख और अस्तोन्मुख नक्षत्रों को देखकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता वल्कि उनकी गतियों के कारणों का अध्ययन करता है और उस मन के बारे में सोचता-विचारता है जिसके द्वारा वे संचालित होते हैं (990 A)। जो व्यक्ति इस रीति से अध्ययन करेगा, वह सृष्टि की एकता को समझ लेगा।

> "यह आवश्यक है कि इस विद्यालय में विद्यार्थी को प्रत्येक रेखाचित्र, प्रत्येक संस्था-पद्धति, प्रत्येक सामंजस्य-योजना तथा नक्षत्रों की गति में पाई जाने वाली संपूर्ण अनुरूपता अपनी सारी अभिव्यक्तियों के माध्यम से एक इकाई के रूप में दीखे और अगर वह अपनी दृष्टि को अनन्य पर स्थिर रखकर अध्ययन करेगा, तो वे उसे इसी रूप में दीखेंगे क्योंकि चिंतन उसके सामने उस सूत्र का उद्घाटन कर देगा जो सबको आपस में बाँधे रखता है" (991 E)।

इस तरह लोग बुद्धिमता प्राप्त करेंगे और बुद्धिमता के साथ सुख की प्राप्ति होगी। यह सच है कि इस ऊँचाई तक थोड़े-से लोग ही पहुँच सकते हैं पर जब वे अपने परिश्रम द्वारा यहाँ तक आ पहुँचें और बुढ़ापे की मंज़िल पा लें, तब उन्हें

अवतरण का विस्तार मात्र है। **एपिनोमिस** का **लॉज़** से निकट साम्य है, परंतु इतने से ही यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि उसकी रचना **लॉज़** के लेखक ने ही की थी। परंतु (त्रिविमिति के उल्लेख के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों में भी) प्लेटो की दूसरी रचनाओं से उसका सामंजस्य है (उदाहरण के लिए 975 में आदिम मानव के एक-दूसरे को खा जाने का जो निर्देश हुआ है, उसकी **प्रोटेगोरस** के 326 D और आगे के अवतरणों से तुलना कीजिए जहाँ 'एक-दूसरे की हत्या' शब्दावली का प्रयोग किया गया है। उसकी **पॉलिटिक्स** के 274 B और आगे के अवतरणों से भी तुलना कीजिये)।

उच्चतम पद मिलने चाहिएँ । शेष लोगों को देवताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए उनके पद चिह्नों पर चलना चाहिए । "जब नैश परिषद् हमें जान ले और हमारी समुचित परीक्षा ले ले तब उसे हम सबके अंतःकरण में बुद्धिमता की ज्योति जगानी चाहिए" (992) ।

इस तरह, प्लेटो अंत तक प्लेटो है । वह आखिरी दम तक समझौते में या 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ' और मिश्रित संविधान तथा साधारण राजनीतिक व्यवस्था की व्यावहारिकता में आस्था नहीं रख सका[1] । नतीजा यह कि **रिपब्लिक** के राज्य की भाँति **लॉज़** का राज्य भी स्वर्ग में निर्धारित आदि रूप या आकाश के राज्य-तंत्र का पार्थिव प्रतिरूप बन गया है जिसमें नक्षत्र मन की क्रिया द्वारा अपनी परिधि में घूमते हैं और यह मन सारी निर्मित चीज़ों का पहला और एक-मात्र संचालक है । कुछ लोगों को लग सकता है कि **लॉज़** का अंत, और उससे भी अधिक **एपिनोमिस** एकदम ऊल-जलूल हैं और शायद यह भी लगे कि प्लेटो बुढ़ापे में आकर एक प्रकार के गणितीय रहस्यवाद में फँस गया है । परंतु यह निर्णय दे देना निर्मम भी होगा और गलत भी[2] । प्लेटो ने जिस खगोल-विज्ञान की चर्चा की है, वह खगोल-विज्ञान

---

1. मैंने **लॉज़** के बारहवें खंड की छठे खंड तथा आगे के खंडों के साथ संगति बैठाने का कोई प्रयत्न नहीं किया है और मुझे लगता है यह है भी असंभव । इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि हम ब्रंस (**प्लेटोज़ गैसेट्ज़े**) तथा अन्य जर्मन आलोचकों की भाँति यह समझ लें कि **लॉज़** में दो स्तर हैं या उच्चतर आलोचना की सामान्य शैली में इस संवाद को दो भिन्न ग्रंथों में विभक्त कर लें । हमारे लिए यह भी ज़रूरी नहीं है कि अपने कौशल का प्रयोग करके हम पूर्ववर्त्ती खंडों में बारहवें खंड के विचारों को ढूंढ निकालें या बारहवें खंड का पूर्ववर्त्ती खंडों की योजना के साथ पूर्वापर क्रम बैठा लें, जैसा कि रिटर ने अपनी टीका में किया है । लॉज़ का अंतिम खंड लिखते समय प्लेटो के विचार वही न थे जो पूर्ववर्त्ती खंडों की रचना करते समय थे । उसकी मृत्यु इस ग्रंथ को पूरा करने से पहले ही हो गई थी और वह दोनों भागों में संगति स्थापित न कर सका ; और जो काम वह न कर सका, उसे हम नहीं कर सकते । संगत होना प्लेटो की रीति नहीं ; वह तो एक स्तर के साथ दूसरे स्तर को जोड़े बिना एक के बाद दूसरे स्तर पर चढ़ता चला जाता है । ज्यों-ज्यों वह ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों **लॉज़** के आरंभिक भाग का उप-आदर्श आदर्श राज्य बनता जाता है, और शायद समग्र विषय का सर्वश्रेष्ठ निष्कर्ष यही है ।

2. संख्या या अनुपात, वर्ग या घन या गणित का कोई भी सूत्र हमें कभी सृष्टि के प्रच्छन्न मूल कारण के निकटतर पहुँचा सकता है—यह हमें कोरा स्वप्न लग सकता है । परंतु, शुरू के दिनों में जब गणित की पहली युगांतरकारी खोजें हो रही थीं, तब यह कल्पना करना बड़ा सहज था कि संख्या सृष्टि के रहस्योद्घाटन का अमोघ साधन है और विभिन्न भौतिक तत्त्वों के अनुपात की खोज कर के तथा विभिन्न गतियों की दरों तथा परस्पर संबंधों की खोज करके जीवन की व्याख्या की जा सकती है । इतना तो निश्चित है कि प्लेटो ने **लॉज़** में संख्या पर जो ज़ोर दिया है, वह कोई नई बात नहीं है । **रिपब्लिक** की विवाह-संस्था में उसका उल्लेख है और वह सदा ही उसके

कम है, धर्मशास्त्र अधिक ; और उसका रहस्यवाद वास्तव में प्रखर बुद्धिवाद है जिसने उसे समस्त गति और सृष्टि के मूल में एक सविवेक मन को खोज निकालने की प्रेरणा दी है। सच तो यह है कि उसके राजनीति-सिद्धांत की चरम परिणति धर्म-शासन (theocracy) है । **लॉज** के अंतिम खंड में उसने जिस राज्य की कल्पना की है, वह ऐसा राज्य है जिसका पथ-प्रदर्शन धर्म-सभा द्वारा होता है जो खगोल-विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त दिव्य सत्य के आलोक में सक्रिय होती है । यह सूर्यास्त और सांध्य नक्षत्र का समय था और वयोवृद्ध प्लेटो की दृष्टि ऊपर की ओर उठ गई, "स्वर्णाभ सांध्य नक्षत्रों के संगीत की ओर[1]" । उसका विश्वास था कि इन सारे गंभीर व्यापारों का संचालन मन करता है । उसका विश्वास था कि ईश्वर ने संख्या का बोध प्रदान कर मानव को आकाश में व्याप्त सत्य के वैभव को समझने की कुंजी दे दी है और मानव को चाहिए कि आकाश के संगीत तथा प्रमाप का अपने नगरों के संचालन में उपयोग करे । हम कह ही चुके हैं कि इससे कूज़ा के निकोलस का स्मरण हो जाता है। इससे हमें मध्ययुगीन पोपतंत्र (papacy) की भी याद आ सकती है जिसने मानव-जीवन को उस दिव्य सत्य के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया जो मानव-पुत्र के ईश्वरीय ज्ञान के प्रति विश्वास से उत्पन्न हुआ था, नक्षत्रों के चिंतन से नहीं[2] । लॉज का अंत मध्य युग का आरंभ है । यह बात बारहवें खंड के बारे में ही नहीं, अंत के तीनों खंडों के बारे में भी सच है । महान् दसवें खंड में जिस खगोल-वैज्ञानिक धर्म-शास्त्र की उच्चतम अभिव्यक्ति हुई है[3], उसने अरिस्टाटल की **मेटाफिज़िक्स** के एक

चिंतन का एक तत्त्व रहा है । हॉब्स (तथा सत्रहवीं सदी के अन्य भौतिक-गणितीय विचारकों) के साथ उसकी तुलना की जा सकती है। वे सब ज्यामिति को ही एक-मात्र ऐसा विज्ञान समझते थे जिसका ईश्वर ने मानव के सामने रहस्योद्घाटन किया है । पर, एक मूल अंतर है । प्लेटो के सर्वथा विपरीत हॉब्स का पूरी तरह विश्वास है कि गति के 'आवश्यक नियम' मन की व्याख्या कर देते हैं और उसके कारण रूप होते हैं : उसका संबंध ऐसे संप्रदाय से है जिसकी प्लेटो ने भर्त्सना की है (आगे अध्याय 16—ख देखिए) ।

[1] **Anth. Pal., IX. 270.**

[2] जहाँ चक्राकार ब्रह्मांड तिमिराच्छन्न हों और हमारी आहत कल्पना ऊपर को उड़ानें भरती हो, वहाँ हम पंखों की मर्मर ध्वनि नहीं सुनेंगे । यह थाप तो हमें अपने मिट्टी के बने बंद दरवाज़ों पर ही सुनने को मिलेगी ।

× × ×

निश्चय ही निशीथ में मेरी आत्मा, मेरी पुत्री कुंदन करती है और आहें भर-भर कर परमात्मा के चरणों से चिपटे रहना चाहती है । और देखो ! ईसा गेनेसरथ के जल पर नहीं, टेम्स के जल पर चले आ रहे हैं ।

—फ्रांसिस थॉम्पसन ।

[3] लॉज के दसवें खंड में अनेक दृष्टियों से ईसा-पूर्व धर्म-शास्त्र की उच्चतम अभिव्यक्ति हुई है । रिटर ने अपने ग्रंथ **प्लेटोज़ गेसेट्ज़े** (डार्स्टेलंग डेस इनहाल्ट्स) की प्रस्तावना (पृ० V) में इसके बारे में एक फ्रांसीसी लेखक का यह कथन उद्धृत किया है कि "यह पुस्तक ईसाई संवत् तक यूनानियों के धार्मिक विश्वासों की आधारभूत पुस्तक रही थी" और कहा है कि यूंजवियल

प्रसिद्ध अध्याय के माध्यम से मध्ययुगीन चर्च में प्रवेश किया था और दांते की इस धर्म घोषणा का कि "मेरा सिर्फ़ उस एक और अद्वितीय परमात्मा में विश्वास है जो ब्रह्मांडों का संचालन करता हुआ भी स्वयं संचालित नहीं होता" स्रोत भी, अरिस्टाटल से होकर, अंततः प्लेटो था—लॉज़ का रचयिता प्लेटो[1]। दसवें खंड की एक मुख्य विशेषता है धार्मिक उत्पीड़न की पैरवी और उस पर भी मध्ययुग की पूरी छाप है। हम ऊपर कह ही चुके हैं कि नैश परिषद् का भी, जो द्रोहियों को सुधारने के लिए उन्हें उपदेश देती है—डोमिनिकीय समीक्षण से सादृश्य है। **रिपब्लिक** तथा **लॉज़** के राज्य आदर्श हैं, पर वे ऐसे आदर्श हैं जिन्हें कुछ समय के लिए, तथा कुछ हद तक, कार्यान्वित भी किया गया था और जहाँ उन्हें व्यवहार के धरातल पर उतारा गया वह जगह थी मध्ययुगीन चर्च। रोमी चर्च ने प्लेटो के आदर्श को वास्तविक सप्राण संस्था का रूप दिया (और कुछ सीमा तक अब भी दे रहा है)। उसने यह कार्य कुछ तो अपनी संरचना द्वारा किया क्योंकि उसके पोपतंत्र का दार्शनिक नरेश से तथा पुरोहितों, संन्यासियों और गृहस्थ-वर्ग के पदसोपान का प्लेटो के तीन वर्गों से साम्य था, और कुछ अपने क्रिया-कलाप द्वारा, जीवन को एक दिव्य विचार द्वारा नियंत्रित योजना या बाह्य व्यवस्था के अनुरूप ढाल कर[2]।

●

ने अपने **प्रास्पेरेटिओ एवांजिलिका** में **लॉज़** की तर्क-श्रृंखला का सिलसिलेवार उत्तर दिया है।

1. **मेटाफिज़िक्स** का यह अध्याय A 7 (1072, a 19—1072, b 30) है। राबर्ट ब्रिजेज़ ने अपने काव्य-संग्रह, **स्प्रिट ऑफ मैन**, सं० 39, में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसने अपनी टिप्पणी में दांते का हवाला (**पेराडिसो**, XXIV) दिया है। यह यहाँ और कह दिया जाए कि मध्ययुग के लोग **टिमाएस** से परिचित थे। सच पूछा जाए तो मध्ययुग के लोगों का प्लेटो की प्रायः इसी एक रचना से सीधा परिचय था। उनका सृष्टि-शास्त्र (cosmology) अधिकतर इस ग्रंथ पर, तथा अरिस्टाटल की रचनाओं पर, आधारित था।
2. में यहाँ **यूनिटी आफ़ वेस्टर्न सिविलाइज़ेशन** (संपादक एफ० एस० मारविन), पृ० 90—121 में दिए गए मध्ययुगीन एकता-विषयक अपने अध्याय का हवाला देना चाहूँगा। वहाँ मैंने जो कुछ कहा है, वह एक श्रेष्ठ ग्रंथ—ट्रोल्ट्श द्वारा लिखित **डी सोज़िअल लेहरेन डेर क्राइस्ट लिचेन कर्चेन** पर, विशेषकर, पृ० 232—4 पर, आधारित है (रिटर की डार्स्टेलंग की भूमिका, पृ० V—VII से तुलना कीजिए) ट्रोल्ट्श ने ठीक ही कहा है कि प्लेटो और मध्ययुगीन चर्च की यह समानता सहज-स्वाभाविक है। चर्च ने प्लेटो का अनुकरण नहीं किया था। उसके अपने सिद्धांतों ने उसे स्वभावतः प्लेटो का अनुयायी बना दिया था (आगे परिशिष्ट § 2 से तुलना कीजिए)।

अध्याय 16

लॉज़ तथा उसका विधि-सिद्धांत

(क) अपराध तथा दंड के संबंध में प्लेटो का दृष्टिकोण
(ख) धर्म और धार्मिक उत्पीड़न

अध्याय 16

लॉज़ तथा उसका विधि-सिद्धांत

विधि के प्रति प्लेटो के सामान्य दृष्टिकोण के बारे में थोड़ा-बहुत पहले ही कहा जा चुका है। उसने अपने समय की यूनानी विधि में जिन विशिष्ट सुधारों का सुझाव दिया था, उनके बारे में यहाँ कुछ अधिक कहना न आवश्यक है और न संभव। उनका संबंध विधि के इतिहास से है, राजनीति-चिंतन के इतिहास से नहीं। विधि के इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्पष्ट है कि प्लेटो की अकादमी में, गणित के साथ-साथ, न्याय-शास्त्र का भी तकनीकी और व्यवस्थित अध्ययन होता था और हम देख चुके हैं कि यही अध्ययन इन सुधारों का आधार था। स्पार्टा और एथेंस, विशेषकर एथेंस, की विधियों की पूरी परीक्षा करने के बाद ही इन सुधारों का प्रवर्त्तन किया गया था; और जैसे वे सुधार अतीत की विधियों पर आधारित थे वैसे ही उन्हें भावी विधियों—हेलेनी राज्यों की विधियों और उनके माध्यम से रोम की विधियों—को प्रभावित करना था[1]। लॉज़ में एक ऐसी संहिता के निर्माण की चेष्टा की गई है—और यूनानी जगत् में यह शायद अपने ढँग का पहला प्रयास है—जो किसी एक राज्य की विधियों पर आधारित नहीं है बल्कि जिसके दायरे में यूनान की सामान्य विधि आ गई है और जो एक तालिका-मात्र नहीं है बल्कि जो सामाजिक आचरण के मूल सिद्धांतों के अनवरत संदर्भ में एक वैज्ञानिक अध्ययन है। इसका यूनान के लिए वही महत्त्व है जो बेंथम के **थ्योरी आफ़ लेजिस्लेशन** का इंगलैंड के लिए है। विधि-भावना से ओतप्रोत और विधि के विवरणों से युक्त यह ग्रंथ न्याय-शास्त्र (Jurisprudence) के क्षेत्र में एक गंभीर योगदान है। प्लेटो की विधि-प्रक्रिया में दिलचस्पी है ओर उसने उन नियमों का वर्णन किया है जिनके

---

[1] अब यह समझा जाता है कि रोम की अंतर्राष्ट्रीय विधि (*Jus gentium*) वाणिज्य-विधि का संग्रह थी। इसे वे विदेशी व्यापारी रोम लाए थे जो तिजारत के लिए रोम के उपनगरों में आकर बस गए थे और जिनके ऊपर रोम के दंडनायकों का शासन चलता था। प्लेटो ने लॉज (952B) में व्यापार में लगे हुए उस अजनबी की चर्चा की है जिसका उपयुक्त दंडनायकों को नगर के निकट, पर उसके बाहर, बाजारों, बंदरगाहों और राजकीय भवनों में स्वागत करना पड़ता है और यह ध्यान रखना होता है कि उसके साथ न्याय हो।

अनुसार न्यायालयों में बचाव पक्ष की ओर से सफ़ाई दी जानी चाहिए (855D—966A); उसने संविदा, उत्तराधिकार और सामान्य संपत्ति की विधि का विवेचन किया है ; अजनबी राहगीरों के अंगूर के बागों से अंगूर और फलों के बागों से सेब और नाशपातियाँ तोड़ने के अधिकारों का उसने बड़ा सोच-विचार कर नियमन किया है (844D—845C)। हम यह भले ही कहलें कि प्लेटो में विधि-चेतना के दर्शन होते हैं, परंतु "विधियों के दीर्घकालीन अध्ययन-अनुशीलन से अर्जित तर्क की उस कृत्रिम पूर्णता" के दर्शन उसमें नहीं होते जिससे कोक जैसा वकील संपन्न था और जिसकी वह सराहना करता था। उसकी विधि विधि भी है और साथ ही नैतिकता तथा धर्मशास्त्र तक है और एक प्रशिक्षित वकील लॉज़ के अधिकांश की इस आधार पर आलोचना करेगा कि वह विधि है ही नहीं। वैधिकता और नैतिकता या विधि और धर्म में कोई ठोस अंतर नहीं है[1] ; विधि-संहिता में ऐसे तत्त्व होते हैं जो वास्तव में नैतिक दर्शन या नैतिक धर्म-शास्त्र के होते हैं। दरअसल, यह एक ऐसी विशेषता है जो हम प्लेटो के अलावा अन्य यूनानी लेखकों में पा सकते हैं। विधि के क्षेत्र में यूनानियों की चाहे कुछ भी देन रही हो, पर उन्होंने उसे अध्ययन की एक ऐसी पृथक् शाखा कभी नहीं माना जो सामान्य आचार-शास्त्र से भिन्न हो और जिसके अलग सिद्धांत हों और जिस प्रकार उनके न्यायालयों में विधि से इतर बातें कही और मानी जाती थीं, उसी प्रकार उनकी विधि-संबंधी रचनाओं में ऐसे अनेक इतर तत्त्व हैं जिन्हें प्रमाण के रूप में प्रस्तुत और स्वीकार किया गया है।

---

[1] इस बात को सिसरो यों कहता कि अधिकार और कर्तव्य अलग-अलग नहीं होते और मानव-विधि तथा दिव्य विधि में भेद नहीं होता।

(क) अपराध तथा दंड के संबंध में प्लेटो का दृष्टिकोण

प्लेटो में यह विशेषता अपराध-विधि के विवेचन में सबसे ज्यादा उभर कर आई है। सच पूछा जाए तो हमें विधि तथा प्रस्तावना में—वास्तविक अधिनियम और सिद्धांतों के आलोक में अधिनियम की व्याख्या में—भेद करना होगा। यह भेद कर लेना सदा आसान नहीं होता : प्रस्तावना अधिनियम की सीमा में चली जाती है और अधिनियम प्रस्तावना का रूप ले लेता है। किंतु जिस हद तक यह सीमा-रेखा खींची जा सकती है, उस हद तक हमें नैतिक दर्शन के तत्त्व से विशिष्ट विधि के तत्त्व को पृथक करने में मदद मिलती है—नैतिक दर्शन सहज रूप से प्रस्तावना की सीमा में प्रवेश कर जाता है और हम अधिनियम के विशिष्ट विधि तर्क सीमित रहने की आशा कर सकते हैं। इस भेद को ध्यान में रखते हुए हम लॉज़ के नवें खंड में अपराध तथा दंड के संबंध में प्लेटो के विवेचन पर विचार कर सकते हैं। यह विवेचन अधिकांश में एक ऐसे धरातल पर हुआ है जो साधारण वैधिक विचारों और व्यवहार से दूर पड़ता है[1]। वकील और न्यायाधीश की दृष्टि में अपराध एक बहिरंग और वस्तुपरक क्रिया है जिससे मूर्त्त अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्वीकृति पर आधारित व्यवस्थित जीवन की एक बहिरंग और वस्तुपरक योजना का न्यूनाधिक उल्लंघन होता है। जब इस योजना का उल्लंघन हो चुकता है, तब न्यायाधीश अपराधी की नैतिक स्थिति के बारे में जिज्ञासा नहीं करता, वह अपराध के वास्तविक और ठोस तथ्यों के बारे में जिज्ञासा करता है। उसे निर्णय करना पड़ता है कि अपराध किए जाने का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है, इस अपराध से विधि-व्यवस्था को कहाँ तक आघात पहुँचा है और ऐसा क्या उपयुक्त दंड हो सकता है जिसके देने से भविष्य में वह अपराध नहीं होगा। यह सच है कि उसे यह भी निर्णय करना चाहिए कि अपराध जान-बूझ कर किया गया था या अनजाने में क्योंकि जो काम जान-बूझकर किया जाता है वह प्रकटतः और वस्तुपरक दृष्टि

---

[1] पुस्तक में जो कुछ कहा गया है, उसका 857 C—864 C के अवतरण से संबध है।

से उस काम से भिन्न होता है जो अनजाने में किया गया हो और उसके लिए यह भी जरूरी हो सकता है कि जिन परिस्थितियों में अपराध हुआ हो, वह उन परिस्थितियों की—और ये परिस्थितियाँ भी प्रकट और वस्तुपरक होती हैं—परीक्षा करे और तय करे कि उन परिस्थितियों के कारण अपराध की गुरुता घटती है या बढ़ती है। वह मंशा पर विचार करता है, परिस्थितियों तथा उनके प्रभावों की परीक्षा करता है, परंतु वह स्वयं प्रेरक हेतु की परीक्षा नहीं करता ; वह अपराधी के स्वभाव[1] या उसकी अंतरात्मा में सक्रिय प्रेरक हेतुओं की परीक्षा नहीं करता। वह ऐसा करता इसलिए नहीं कि कर नहीं सकता, क्योंकि अंतरात्मा के रहस्यों को तो कोई सर्वज्ञ की पढ़ सकता है । ये रहस्य कुछ ऐसे होते हैं कि अगर किसी अपराधी से जिरह की जाए तो शायद वह भी उनकी व्याख्या न कर सके क्योंकि लोग अपने आप तक को नहीं जानते और अपने प्रेरक हेतुओं तथा कार्य की प्रेरणाओं का स्वयं उन्हें भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता ।

किंतु, प्लेटो के लिए तो यह सारा विचार-चक्र गलत है। उसका मत है कि विधान का अभी तक ठीक ढंग से निरूपण नहीं हो सका है (857 C) । साधारण राज्य अपराधी के साथ इस तरह का व्यवहार करता है जैसे कि दास चिकित्सक रुग्ण दास का इलाज करता है। उसे जहाँ कोई स्पष्ट लक्षण दीखता है, तुरंत वह मनमाने ढंग से किसी स्पष्ट उपचार का आदेश दे देता है (857 C) । वह रोगी की सामान्य शरीर-रचना पर विचार नहीं करता, उसे यह नहीं बताता कि उसके शरीर में क्या विकार है, उसका कैसे उपचार हो सकता है और इस उपचार में वह किस तरह सहयोग दे सकता है (720 B—D से तुलना कीजिए) । सच्चा राज्य अपने कार्यों तथा अपराधी के अधिकारों के बारे में ज्यादा ऊँचा दृष्टिकोण अपनाएगा। उसका जितना ध्यान अपराधी की सामान्य मनोरचना पर होगा, उतना उसके कार्यों पर नहीं क्योंकि वे तो केवल लक्षण होते हैं ; और रुग्ण मन के उपचार के लिए जो मानसिक साधन उपयुक्त होते हैं, उन्हीं के प्रयोग द्वारा वह रोग दूर करने का प्रयास करेगा। विधियों का रूप स्नेहशील और समझदार माता-पिता का सा होना चाहिए, निरंकुश शासकों और स्वामियों का सा नहीं । उन्हें यह नहीं चाहिए कि वे अपनी आज्ञप्तियों का विज्ञापन करें और फिर धमकी देकर हट जाएँ, उनका काम तो यह है कि वे नागरिकों को दिन-प्रति-दिन प्रशिक्षण दें (859 A) । कहा जा सकता है कि यह तो शिक्षा देना हुआ, विधि को लागू करना नहीं (857 E) । प्लेटो के पास इसका सीधा जवाब है । विधि को लागू करना शिक्षा देना है, दंड देना सुधार करना है, और उसका उद्देश्य मन पर इस तरह असर डालना है कि चरित्र बदले । प्लेटो ने प्रस्तावनाओं की जिस ढंग से पैरवी की है, यह विचार उसके अनुकूल है । प्रस्तावनाएँ नागरिक को समझाने-बुझाने और उसका मत बदलने का ढंग हैं, उनका उद्देश्य उसे इस बात की प्रेरणा देना है कि वह विधि और दंड दोनों को सहज रूप से स्वीकार करे । यह ठीक है कि दंड अधिक

---

[1] जहाँ किसी को पागल जताया जाए या पागल मान लिया जाए, वहाँ बात ही और है ।

कठोर हो सकता है, पर वह भी समझाने-बुझाने का एक तरीका है और उसका भी वही प्रभाव होता है जो कि विधि का। पर फिर भी यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें अपराध-विषयक एक भिन्न सिद्धांत निहित है—उस सिद्धांत से भिन्न जिस पर साधारण विधि आधारित होती है। प्लेटो के सिद्धांत के अनुसार अपराध अनैच्छिक होता है। वह असदिच्छा का जानबूझ कर किया गया कृत्य नहीं होता ; वह तो नैतिक रोग का जिससे अपराधी ग्रस्त होता है आवश्यक परिणाम हुआ करता है[1] और राज्य को उसके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्लेटो ने **लॉज** में अपनी पूरी शक्ति के साथ यह प्रतिपादन किया है कि न्याय या सुकृत्य (right doing) ही सुख है और इस दृष्टि से **लॉज** में वह **रिपब्लिक** (पीछे अध्याय 11—छ) से किसी तरह पीछे नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि अन्याय या दुष्कृत्य (wrong doing) दुःख होता है। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से दुःख नहीं चाहता और इसलिए कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से गलत काम करना नहीं चाहता क्योंकि उसमें दुःख निहित होता है। इसलिए गलत काम या अपराध अनैच्छिक (involuntary) होता है। उसमें जो दुःख निहित होता है, वह उतना भौतिक दुःख नहीं होता—चाहे भले ही, इस जीवन में नहीं तो, अगले जीवन में उसका यह परिणाम निकलता हो। वह तो असल में मानसिक पतन का अधिक विकट दुःख होता है और आत्मा का संतुलन बिगड़ जाने के कारण तथा विवेक के शुद्ध तत्त्व और उसके शुद्ध सुखों के ऊपर लालसा तथा वासना के निकृष्ट तत्त्वों तथा उसके निकृष्ट सुखों की विजय के परिणामस्वरूप पैदा होता है[2]। कोई व्यक्ति जान-बूझ कर इस तरह का दुःख अपने सिर पर लेगा—

---

1. **टिमाएस** में एक अवतरण (86 B और क्रमशः) ऐसा है जिसमें मन के रोगों का विवेचन किया गया है। 'विवेक' का अभाव ही आत्मा का रोग है ; और इस तरह के अभाव दो प्रकार के होते हैं—पागलपन और अज्ञान। जो व्यक्ति इन दो में से किसी से भी ग्रस्त हो, उसकी स्थिति रोग की स्थिति माननी चाहिए। **टिमाएस** के तर्क से, जो अधिकतर शरीर-क्रिया-विज्ञान पर आधारित है, प्लेटो को यह कहने की प्रेरणा मिली है कि (863 E) "कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अपराधी नहीं होता, वह बुरी शारीरिक आदत और अनुचित शिक्षा-दीक्षा के कारण अपराधी हो जाता है"। किंतु अपराध शरीर-क्रियात्मक कारणों का फल होता है, प्लेटो के इस निष्कर्ष का उसकी अन्य रचनाओं के संदर्भ में परीक्षण और संतुलन होना चाहिए।
2. **लॉज** (728 A—C) से तुलना कीजिए। अपराधी यह नहीं समझता कि अपने सारे अपराध द्वारा वह अपनी आत्मा को—दिव्य ज्योतिर्पुंज रूप आत्मा को—अत्यधिक असम्मानजनक और हीन स्थिति में डाल रहा है। वह यह नहीं सोचता कि मैंने जो बुराई की है, मैं उसी का सबसे बड़ा कुफल भोग रहा हूँ यानी दुर्जनों की संगति करने और सज्जनों की संगति से दूर जा पड़ने का कुफल। समाज उसे दंड दे, न दे, वह सदा निश्चित रूप से दुःखी रहता है। **गाजियाज** (पीछे पृ० 205) तथा **रिपब्लिक** (पीछे अध्याय 11—छ) के तर्क से तुलना कीजिए।

यह विश्वास करना असंभव है। जो व्यक्ति इस तरह का दुःख भोग रहा है, वह स्वेच्छा से इस दुःख से मुक्ति पाना और जिस दंड के द्वारा इस दुःख से बच सके, उसे स्वीकार करना न चाहेगा—यह भी विश्वास करना असंभव है[1]। इस अर्थ में जो राज्य दंड देता है, वह दंड पाने वाले अपराधी का अभिकर्त्ता होता है। वह पीड़ित व्यक्ति के अधिकारों का या जिस व्यवस्था को भंग किया गया हो, उसका प्रतिपादक ही नहीं होता, वह स्वयं अपराधी के उज्जवल पक्ष का भी उन्नायक होता है। रूसो के शब्दों में कहें तो उसे स्वतंत्र होने के लिए, आत्मा के निकृष्टतम तत्त्वों की दासता से स्वतंत्र होने के लिए, बाध्य किया जा रहा है। कांट की वाणी में स्वयं उसे साध्य माना जा रहा है, दूसरों को अपराध में प्रवृत्त होने से रोकने के लिए साधन नहीं।

इस तरह देखें तो लगता है कि दंड के संबंध में प्लेटो का दृष्टिकोण सुधारात्मक है और उसने उसे एक ऐसे अपराध-सिद्धांत के साथ जोड़ दिया है जिसके अनुसार अपराध एक तरह का रोग होता है और अपराधी उस रोग से आक्रांत होता है। विधि के अनुसार जो दंड दिया जाता है, वह कभी किसी तरह की हानि करने के लिए नहीं होता, वह इन दो परिणामों में से एक के लिए होता है—या तो दंड पाने वाले व्यक्ति को ज्यादा अच्छा बनाने के लिए या दंड के बिना वह जितना बुरा हो सकता था, उसे उससे कम बुरा रखने के लिए (854 D—E); और इसका कारण यह है कि जो यह समझता है कि अपराध अनिच्छा से ही हो जाता है, उसे लगेगा कि अपराधी ने अपराध अनिच्छा से ही किए हैं (860 D)। इस दृष्टिकोण से हमें **एरेव्हान** में व्यक्त सैमुअल बटलर के उस विचार की याद हो आती है जहाँ उसने अपराध को "जन्म से पहले के या जन्म से बाद के दुर्भाग्य" का फल माना है और कहा है कि वह "न्याय की दृष्टि से दंडनीय नहीं होता"। इसका

---

[1] **गॉर्जियाज** का तर्क यह है : "कहीं मेरा अपराध-रोग जीर्ण न हो जाए और मेरी आत्मा को स्थायी रूप से अस्वस्थ तथा असाध्य रूप से रुग्ण न कर दे—इस डर से अपराधी को स्वेच्छा से ऐसी जगह जाना चाहिए जहाँ उसे जल्दी से जल्दी दंड मिल जाए। वह न्यायाधीश के पास उसी तरह जाए जिस तरह कि वह चिकित्सक के पास जाता है" (480 A)। **लॉज** (859—860 A) में प्लेटो का यही तर्क है कि न्यायविहित कष्ट भोगना (या दंडित होना) न्याय करने के समान ही सम्मानजनक है और इसलिए, उसकी ध्वनि है कि, वह स्पृहणीय भी है। 1917 की रूसी क्रांति से एक मिलता-जुलता दृष्टांत दिया जा सकता है। जब एक कारावास के अभियुक्तों से कहा गया कि वे स्वतंत्र हैं, तो उन्होंने जवाब दिया, "हमें स्वतंत्र होने का कोई अधिकार नहीं है। हमने अपराध किए हैं और हमें उनका प्रायश्चित करना चाहिए।" उन्होंने तुरंत ही अपने लोगों में से वार्डर चुन लिए और उनसे प्रतिज्ञा की कि हम आपकी आज्ञा का पालन करेंगे और हममें से जो कोई भागने की कोशिश करेगा, उसे हम फांसी दे देंगे (**टाइम्स, 21 अप्रैल, 1917**)। इससे कांट का यह सिद्धांत चरितार्थ होता है कि अगर किसी समाज का विघटन हो, तो उसका अंतिम कर्त्तव्य प्रत्येक अपराधी को दंड देना होगा।

शोधन तो प्रशिक्षत आत्मा-शिल्पी ही कर सकते हैं । बटलर ने इन लोगों को शोधक (straighteners) कहा है[1] । बटलर स्पष्ट नियतत्त्ववादी (determinist) है और वह अनायास रूप से आ पड़ने वाले दुर्भाग्य का उपचार करने के लिए न्यायाधीश की जगह मानसिक चिकित्सक को देना चाहेगा । लगता है कि अपराध के संबंध में प्लेटो का जो दृष्टिकोण है, तर्क के आधार पर उसका भी कुछ ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है । अगर अपराध अनैच्छिक होता है, तो फिर उसके विरुद्ध ऐसी विधियाँ क्यों बनाई जाएँ जिनसे उसका स्वरूप उल्टा लगने लगे, और फिर न्यायालय भी क्यों रखे जाएँ ? फिर भी, प्लेटो ने विधियों का निर्माण किया है और प्रचुर मात्रा में किया है ; उसने न्यायालय को भी कायम रखा है और इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि उसने अनैच्छिक और ऐच्छिक अपराधों के बीच भेद भी माना है ।

सच बात यह है कि प्लेटो उस तरह का नियतत्त्ववादी कतई नहीं जैसा बटलर है । वह अपराध को उत्तराधिकार में प्राप्त किसी पूर्वाग्रह का परिणाम नहीं मानता और न उसे किसी बुरे सामाजिक पर्यावरण का फल मानता है । उसने आनुवंशिक विकार के पुराने विचार का विशेष रूप से खंडन किया है : उसका मत है कि बच्चे अपने पिता के तौर-तरीकों से बच सकते हैं (855 A) । उसने माना है कि समाज का अपने सदस्यों पर असर पड़ता है तथा रिपब्लिक और लॉज़ में इस पर बराबर ज़ोर भी दिया गया है । बुरा राज्य बुरे नागरिकों का निर्माण करता है (832 B—C) । पर, उसकी दृष्टि में अपराध अपराध ही रहता है—एक घृणित चीज़, ऐसी चीज़ जिसके कारण व्यक्ति न केवल समाज में लाँछित होता है बल्कि अपनी दृष्टि में भी गिर जाता है । अगर वह उसे अनैच्छिक मानता है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह कोई ऐसा दुर्भाग्य है जो अपराधी के ऊपर कहीं बाहर से आ पड़ा है ; इसका मतलब सिर्फ़ इतना है कि यह आत्मा की विकृति है जिसे कोई भी विचारशील व्यक्ति कभी अपनी इच्छा से पसंद नहीं करेगा । संक्षेप में, प्लेटो एक साथ यह मानता है कि अपराध सचमुच बहुत बुरी चीज़ है और वास्तव में मानव-मन अच्छा होता है ; और इसीलिए उसका विश्वास है कि मुक्त मन कभी अपराध में प्रवृत्त नहीं होगा। दुष्टता का उदय तभी होता है जब मन दासता के पाश में बँध गया हो और वह अनजाने ही "अनचाहे अतिथि का स्वागत करता हो" । क्रोध और वासना मन पर काबू पा लेते हैं और एक ऐसी चीज़ के लिए आवास तैयार कर देते हैं जिससे उसे घृणा होती है (863) । बुरे राज्य में इस विजय का रास्ता और भी आसान हो सकता है : अच्छे राज्य का यह और भी अधिक कर्त्तव्य है कि वह विजेताओं को जीते और मन की निर्बंध प्रभुता की प्रतिष्ठा करे । अच्छा राज्य अपने नागरिकों को विलास और वासना पर जय पाने में जो मदद देता है, उसकी तुलना में प्लेटो ने बुरे राज्य के बुरे प्रभावों पर कमज़ोर दिया हैं । शिक्षा के सारे साधनों द्वारा वह यौवन में ही उनका प्रशिक्षण और संस्कार कर सकता है । वह उनका पथ-प्रदर्शन कर सकता है और विधियों, न्यायालयों तथा न्यायाधीशों द्वारा

---

[1] एरेव्हान, अध्याय X ।

सदा उनका सुधार-संस्कार कर सकता है। लोग उद्दाम विलास-वृत्तियों के फलस्वरूप अपराध की ओर प्रवृत्त होते हैं; राज्य लोगों की इन विलास-वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए उन कष्टों का चित्र प्रस्तुत कर सकता है जो लोगों को अपराध करने के कारण उठाने पड़ जाते हैं। जब तक अपराधी रोग-मुक्त न हो जाए और मन एक बार फिर अपने सिंहासन पर न बैठ जाए, तब तक वह इसी तरह के नियंत्रित भोजन और पथ्य से उसका संस्कार करने में लगा रहता है। अगर, और सारे साधन असफल हो जाएँ और राज्य अपराधी को उसका मानसिक स्वास्थ्य न लौटा सके, तो अंतिम साधन के रूप में वह उसे मृत्यु का उपहार दे सकता है। "ऐसे लोगों के लिए यही ज्यादा अच्छा है कि वे ज़िंदा न रहें; और फिर, अपनी मृत्यु के द्वारा ये लोग दो तरह से राज्य की सेवा करते हैं—एक तो वे दूसरों को अपराध से बचने की चेतावनी देते हैं और दूसरे राज्य को बुरा काम करने वालों से छुटकारा दिलाते हैं" (862 E : 864 E)।

तब, समाज के अपने विकार से जो विकार पनपता-बढ़ता है, उसके लिए प्लेटो ने समाज के उत्तरदायित्व को स्वीकार किया है। उसने सारे विकार के उपचार और सुधार के लिए समाज का उत्तरदायित्व स्वीकार किया है और उस पर ज़ोर दिया है, पर व्यक्ति के कार्यों के लिए व्यक्ति के उत्तरदायित्व का उसने कभी निषेध नहीं किया। अपराध अपराधी की अपनी वासनाओं का परिणाम होता है और अगर अपराध में उसकी बुद्धि का अचेत रूप से ही हाथ होता है, तब भी उसके भीतर कोई न कोई चीज़ ऐसी अवश्य होती है जिस पर उसका उत्तरदायित्व होना चाहिए (प्लेटो ने यह नहीं बताया कि यह चीज़ क्या है और यह उसकी व्याख्या का दोष है), और उस चीज़ का सुधार होना चाहिए और सुधार नहीं हो सकता, तो संहार होना चाहिए। इस तरह, अपराध के अनैच्छिक स्वरूप के सिद्धांत में विधियों, न्यायालयों, दंडों, और अंततः प्राणदंड तक का औचित्य है। यही नहीं, अंत में ऐच्छिक और अनैच्छिक कार्यों के बीच पाए जाने वाले भेद के साथ भी उसकी संगति बैठ जाती है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो ने सबसे पहले अपराध (crime) और क्षति (damage) के बीच भेद किया है (861 E—862B)। अपराध प्रेरणा और वृत्ति पर निर्भर होता है। वह आत्मा की आंतरिक विकृति होती है जो सदा अनैच्छिक होती है। क्षति वस्तुपरक क्रिया है जिसके फलस्वरूप क्षतिग्रस्त व्यक्ति की प्रतिष्ठा या संपत्ति में पर्याप्त ह्रास हो जाता है और वह जान-बूझकर भी की जा सकती है, अनजाने भी[1]। अपराध का उपचार हो सकता है

---

[1] अपराध और क्षति के बीच प्लेटो ने जिस भेद का निरूपण किया है, वह कुछ दृष्टियों से अँग्रेजी विधि में किए गए अपराध और दुष्कृति (tort) के भेद के अनुरूप है। अँग्रेजी विधि में अपराध का अर्थ वह कार्य है जो संविधि द्वारा निषिद्ध होने या लोकापकारी होने के कारण विधि के द्वारा दंडनीय होता है। और दुष्कृति वह है जिसमें संविदा का उल्लंघन तो नहीं होता पर जिसमें व्यवहार-विषयक अन्याय (civil wrong) या व्यवहार-विषयक क्षति (civil injury) होती है। इस आधार पर उसके कर्त्ता के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। आस्टिन की परिभाषा से तुलना कीजिए:

और उसके लिए दंड दिया जाता जा सकता है और इस तरह का प्रतिकर (compensation) दो प्रकार का होता है—कुछ प्रतिकर तो पुन:प्रतिष्ठा के काम आता है और कुछ जुर्म की सज़ा देने के काम में (933 E)[1]। क्षति में अनिवार्यत: अपराध निहित नहीं होता है, वह अपराध से भिन्न होती है, अपराध के बिना भी उसका अस्तित्व हो सकता है और उस पर अपराध से अलग विचार होना चाहिए। यह समझना गलत है, जैसा कि लोग आम तौर से समझते हैं, कि सब क्षतियाँ अपराध रूप होती हैं और चूंकि क्षतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—जान-बूझकर की गई क्षतियाँ और अनजाने में की गई क्षतियाँ—अत: अपराधों की भी दो श्रेणियाँ हो सकती हैं : ऐच्छिक अपराध और अनैच्छिक अपराध (861 E)[2]।

जिस अपराध की छानबीन पीड़ित पक्ष या उसके प्रतिनिधियों की मर्ज़ी से हो, वह व्यवहार-क्षति है। ज़िस जुर्म(offence) की छानवीन प्रभु अथवा उसके कर्मचारियों द्वारा की जाए, वह अपराध (crime)* होता है। पर (1) प्लेटो के लिए कोई अपराध अपराधी की अपराध-वृत्ति के कारण अपराध बनता है, संविधि के द्वारा नहीं; और (2) प्लेटो ने अपराध और क्षति के वीच जो भेद किया है, उसका आधार आत्मपरकता (आधार की प्रवृत्ति) और वस्तुपरकता (पर्याप्त क्षति) का अंतर है, उनके आधार पर की जाने वाली वैधिक कार्यवाही का अंतर नहीं है।

* यहाँ offence और crime का एक ही वाक्य में प्रयोग हुआ है। हिंदी में इन दोनों शब्दों के लिए अपराध शब्द प्रचलित है। यहाँ भेद करने के लिए offence के लिए जुम और crime के लिए अपराध शब्द का प्रयोग किया गया है।

[1] पुरानी जर्मन विधि भाषा में कुछ अंश तो बॉट (bot) होता है और वह पीड़ित पक्ष को मिलता है, कुछ अंश वाइट (wite) होता है और वह समुदाय को इसलिए मिलता है कि उसकी शांति-भंग हुई है।

[2] प्लेटो का तर्क पूरी तरह से मेरी समझ में नहीं आया है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, वह तर्क इस प्रकार है : (1) अनजाने में की गई क्षति अपराध नहीं होती क्योंकि अपराध अपराधी की अपराध-वृत्ति पर निर्भर होता है (862 B) और इस तरह की क्षति में वह नहीं पाई जाती ; (2) जान-वूझकर की गई क्षति अपराध हो सकती है और उस समय तो वह निश्चय ही अपराध होती है जब अपराध की प्रवृत्ति मौजूद हो। पर अपराध अपने आप में सदा अनैच्छिक होता है ; और इसलिए इसका निष्कर्ष यह है कि जान-बूझकर की गई जिस क्षति में अपराध की प्रवृत्ति होती है, वह अनैच्छिक अपराध होता है। दो टूक बात कही जाए, तो इसमें अंतर्विरोध है—या कम से कम विरोधाभास तो है ही।

अगर हम दूसरे छोर से यानी क्षति की धारणा के बजाए अपराध की धारणा से आरंभ करें, तो शायद तर्कश्रृंखला को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया जा सकता है। अपराध सदा अनैच्छिक होता है। इसलिए सभी जुर्मों को अपराध कहना और कुछ को ऐच्छिक तथा कुछ को अनैच्छिक मानना गलत है। सही प्रक्रिया यह है कि (1) अपराध—जो सदा अनैच्छिक होता है, और क्षति में—जो जान-वूझकर भी हो सकती है और अनजाने में भी, भेद किया जाए,

इस तर्क के आधार पर हमें दो निष्कर्षों की उम्मीद रखनी चाहिए : एक, प्रतिकर की कितनी मात्रा वसूल की जाती है—इस प्रश्न को लेकर जान-बूझकर की गई क्षति और अनजाने में की गई क्षति में कुछ भेद हो सकता है[1],—और दो, अपराध के फलस्वरूप क्षति हो या न हो, अपराध के बदले में दंड सदा मिलेगा । पर प्लेटो ने इनमें से कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला है[2] । प्लेटो को अपने सिद्धांतों के आख्यान की ही चिंता है, उनका विकास करने की नहीं । इन सिद्धांतों का सार यह है कि जिस विधि का संबंध बहिरंग कर्म अथवा क्षति से हो, उसमें और जिस विधि का संबंध अंतरंग स्वभाव या अपराध से हो, उसमें कुछ भेद है और ऐच्छिक तथा अनैच्छिक का भेद पूर्ववर्त्ती क्षेत्र में ही हो सकता है । इस तरह के सिद्धांत व्यवहार में नहीं चल सकते, प्लेटो ने उन्हें व्यवहार में लागू भी नहीं किया है । राज्य अंतरंग स्वभाव पर विचार नहीं कर सकता क्योंकि इस तरह के स्वभाव पर न तो विचार ही हो सकता है और न उसका मूल्यांकन ही संभव है । राज्य का संबंध सामूहिक लोगों और सामूहिक कार्यों से होता है और जब इस पैमाने पर कार्य हो, तब वह परिमाणात्मक ही हो सकता है, गुणात्मक नहीं ; उसका संबंध मूर्त्त और बहिरंग चीज़ों से ही हो सकता है, प्रेरक हेतु और बारीकियों से नहीं । अनैतिक कार्यों का दंड अंतरात्मा ही दे सकती है, राज्य तो अवैध कार्यों का ही दंड दे सकता है । सच पूछा जाए तो पाँच हज़ार नागरिकों का राज्य जिसमें अधिकारी प्रत्येक नागरिक को जानते रहे हों ऐसे-ऐसे काम अपने हाथ में ले सकता था जिनके लिए हमारे युग का महान् राज्य कभी प्रयत्न भी नहीं कर सकता । अगर हम यह याद न रखें कि प्लेटो का राज्य छोटे समाज के अनुरूप है, तो हम उसके दृष्टिकोण के साथ न्याय नहीं कर सकते । पर अगर, इस तरह का राज्य भी प्लेटो का बताया हुआ काम अपने हाथ में लेगा,

---

और (2) अनजाने में की गई मानव-हत्या जैसा कार्य अपराध के वर्ग में नहीं क्षति के वर्ग में रखा जाए । तब फिर जान-बूझकर की गई मानव-हत्या और सिर्फ़ वही, अपराध के वर्ग में जाएगी पर यहाँ भी मानव-हत्या का कृत्य जान-बूझकर किया गया हो सकता है, पर अपराध स्वयं अनैच्छिक होता है ।

[1] इस भेद का आधार यह होगा कि प्रतिकर का जो अंश "अपराध की सज़ा के लिए होता है," वह अनजाने में की गई क्षति की अपेक्षा जान-बूझकर की गई क्षति के लिए अधिक होना चाहिए ।

[2] सच पूछा जाए तो प्लेटो का कथन है कि अगर हम हिंसा के सहित और खुले आम किए गए कार्यों को गुप्त और कपटपूर्ण कार्यों से भिन्न मानें, तो बाद के कार्यों से संबद्ध विधि कठोर होनी चाहिए (864 C) ; पर यह एक नया भेद है जो जान-बूझकर की गई और अनजाने में की गई क्षति के भेद से मेल नहीं खाता । जहाँ तक पुस्तक में उल्लिखित दूसरे निष्कर्ष का संबंध है, प्लेटो ने स्वीकार किया है कि सिद्धांततः हत्या करने का आशय अपराध है और अगर उसका लक्ष्य पूरा न हो, तब भी उसे हत्या के अपराध जैसा ही दंड मिलना चाहिए (৪77 A) । पर, व्यवहार में, घटना जिस तरह घटित होती है, वह उस पर उसी तरह से विचार करता है और प्राणदंड की जगह कुछ हल्के दंड की व्यवस्था करता है ।

तो धर्म-संकट में पड़ जाएगा । उसकी दो स्थितियाँ हो सकती हैं—या तो वह अत्यधिक छान-बीन करने लग जाए और कठोर बन जाए या वह व्यापक दृष्टि रखने के कारण सबके प्रति क्षमा भाव अपनाने के आदर्श पर चल कर सारे काम के प्रेरक हेतुओं और सब लोगों के चरित्रों के बारे में अनुकूल दृष्टि रखने लगे और उसकी वेदी पर विधि और व्यवस्था की भेंट चढ़ा दे।

आदर्शवादी आशा ही कर सकता है और प्लेटो को भी आशा थी कि विधि के जिस शुद्ध विधान की आलोचनाएँ वहिरंग और अनुप्रयोग यंत्रवत् होते हैं—कभी बहुत उदार और कभी बहुत कठोर—उनकी सीमाएँ लांघ कर लोग समझ की दुनिया में अपने पाँव रखेंगे जिसमें कभी धोखा नहीं होता । शायद, उसे विश्वास था कि वह जिस तरह के शासकों को सत्तारूढ़ करना चाहता था, वे शासक ऐसे काम कर सकते हैं जिन्हें साधारण सरकारें नहीं कर सकतीं या करने की कोशिश नहीं करतीं और "जो लोग योग्यतम निर्णायक हों," उनके लिए विधियाँ बनाते-बनाते वह नई और उच्चतर रीतियों से विधियों का निर्माण कर सकता है (876 D)। पर, अगर उसने यह किया भी, तो सिर्फ सरसरी तौर पर; और जब उसने फौजदारी के मामलों पर विधियों का निर्माण आरंभ किया, तब उसने अपने सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रत्यन नहीं किया । अपने इस सिद्धांत के बावजूद कि सारे अपराध अनैच्छिक होते हैं और ऐच्छिक तथा अनैच्छिक का भेद क्षतियों के क्षेत्र में ही लागू हो सकता है, प्लेटो ने मानव-वध (homicide) से सबंधित एक विधि का सुझाव दिया है जो अपराध की साधारण धारणा और जान-बूझकर किए गए तथा अनजाने में किए गए अपराधों के साधारण भेद पर आधारित है (865 A—874 C)। एक अनैच्छिक मानव-वध होता है जिसके लिए शास्त्रोक्त शुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। एक मानव-वध वासना के प्रभाव में हो सकता है। यह दो तरह का होता है—पहले से अचिंतित और पूर्व-चिंतित । अगर वह पहले से अचिंतित हो, तो अनैच्छिक मानव-वध के समान होता है और उसे हल्का दंड दिया जा सकता है; पर अगर वह पहले से चिंतित हो तो ऐच्छिक मानव-वध के समान होता है और तब हत्यारे को अधिक कठोरता से दंड दिया जाना चाहिए और अंत में ऐच्छिक मानव-वध होता है जो हत्या करने के उद्देश्य से किया जाता है और जिसके लिए प्राणदंड मिलना चाहिए[1] । सच पूछा जाए तो प्लेटो ने उन सिद्धांतों का विरोध तो किया है जिन पर साधारण विधि आधारित होती है,

---

[1] इस वाक्यांश में ऐच्छिक कार्य का अपराध के साथ संबंध स्थापित किया गया है (869 E), अतः इससे पहले तर्क का खंडन हो जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि जो ऐच्छिक मानव-वध पहले से विद्वेष (malice afore thought) के फल-स्वरूप किया गया हो, प्लेटो ने उसके उपचार के लिए (प्राणदंड के अलावा) कोई अवकाश नहीं छोड़ा । प्राणदंड के संबंध में उसने सामान्य यूनानी विधि स्वीकार की है। सामान्य मानव-वध के बारे में उसका विवेचन, अँग्रेज़ी विधि के अंतर्गत किए गए इस विषय के विवेचन से, भिन्न नहीं है। अंग्रेजी विधि में मानव-वध के दो भेद माने गए हैं तर्कसंगत या माफ़ी योग्य मानव-वध (justifiable or excusable homicide) (भेद के लिए लॉज़ ऑफ़ इंगलैंड, IX, 586–7 देखिए);

पर उसने पालन साधारण विधि के सिद्धांतों का ही किया है । इसलिए, लगता है कि अपराध के स्वरूप तथा ऐच्छिक और अनैच्छिक के भेद की सारी चर्चा विषयांतर मात्र है और सो भी ऐसा विषयांतर जिसकी लॉज़ के मुख्य प्रतिपाद्य से कोई संगति नहीं। सच पूछा जाए तो वस्तु-स्थिति काफ़ी हद तक यही है । लगता है मानो प्लेटो न्याय-शास्त्र के साधारण नियमों का पालन करते हुए भी दर्शन के सम्मान की रक्षा करने के लिए उत्सुक है। न्याय-शास्त्र में ऐच्छिक अपराध की जो धारणा है, प्लेटो के दर्शन में उसके लिए कोई स्थान नहीं ; और इसीलिए उसने ऐच्छिक अपराध की धारणा के विरुद्ध दार्शनिक विरोध प्रकट किया है । अपना विरोध प्रकट कर लेने के बाद वह फिर न्याय-शास्त्र की ओर लौट गया है और उसने न्याय-शास्त्र की धारणाओं को स्वीकार कर के उनकी नए और अधिक व्यवस्थित ढंग से व्याख्या की है। पाठक को चेतावनी मिल जाती है कि वैधिक योजना मूल सिद्धांतों की कसौटी पर तो खरी नहीं उतरती पर उसे ऐसी व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जो कुछ विशेष स्थितियों और विशेष शर्त्तों के संदर्भों में ठीक हो । सच पूछा जाए तो यह योजना विधि तो अब भी है किंतु उसमें दिव्यत्व का पुट नहीं है। वह साधारण राज्य की जीवन-योजना है, पर वह आदर्श समाज में पाई जाने वाली जीवन-योजना नहीं हो सकती[1] ।

इसलिए अंत में, प्लेटो न्याय की उसी धारणा पर लौट आया है जिसके अनुसार किसी भी न्यायालय का न्यायाधीश चलता है । वह अपराध को ऐच्छिक दुष्कृत्य मानने के लिए प्रस्तुत होता है : वह दुष्कृति की प्रेरणाओं और चित्तवृत्ति

---

(2) सदोष मानव-वध (culpable homicide) । सदोष मानव-वध की दो मुख्य श्रेणियाँ हैं: (1) नरहत्या या अवैध मानव-वध जिसे पहले के किसी विद्वेष के बिना किया गया हो । इसमें कोई व्यक्ति जान-बूझकर या अनजाने किसी दूसरे व्यक्ति को मार डालता है । जान-बूझकर वह आवेश में कुछ उत्तेजनाओं के वशीभूत होकर हत्या करता है । अनजाने में वह कोई ऐसा काम करते-करते जिससे दूसरों को क्षति पहुँचने की संभावना न हो, हत्या कर बैठता है । (2) ससंकल्प किया गया खून जो पहले के विद्वेष के फलस्वरूप किया गया हो, अवैध मानव-वध होता है।

[1] लॉज़ के संबंध में रिटर की टीका के पृ० 280—1 से तुलना कीजिए। प्लेटो लॉज़ में प्रायः आदर्श और व्यवहार के दो धरातलों पर उनमें कोई सामंजस्य और संतुलन बैठाए बिना ही विचरण करता रहा है और यहाँ भी उसकी यही स्थिति है। 858 A में यह बात स्पष्ट हो गई है। "हमें विधि निर्माण करने की कोई ज़रूरत नहीं है, पर चूंकि इस समय हम सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों पर सामान्य विचार कर रहे हैं ; इसलिए हम दोनों ही शासन-प्रणालियों पर समान रूप से विचार कर सकते हैं—सर्वश्रेष्ठ संभव शासन प्रणाली पर और आवश्यक न्यूनतम शासन-प्रणाली पर। इसके साथ ही हम उन दोनों को कार्यान्वित करने के उपायों का भी अध्ययन कर सकते हैं" । पर, सर्वश्रेष्ठ संभव तथा आवश्यक न्यूनतम में सदा स्पष्ट भेद नहीं होता । प्लेटो के विधि संबंधी विवेचन में, उसके राज्य के संविधान और शासन-संबंधी विवेचन की भांति ही, दोनों एक दूसरे से अभिन्न हो गए हैं ।

के विवेचन का आग्रह नहीं करता। उसके विना ही वह मंतव्य और उसकी सहवर्त्ती परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल के लिए प्रस्तुत होता है। अपराध को ऐच्छिक मानने की धारणा समाप्त होने का एक सहज परिणाम यह हो सकता है कि दंड का वह दृष्टिकोण भी समाप्त हो जाए जो इस धारणा से संबद्ध होता है। पर प्लेटो की यह आस्था वरावर वनी रही है कि दंड के द्वारा सुधार हो सकता है; और जब उसने अपराध के वारे में इस तरह विचार किया है मानो वह जान–वूझकर किया गया दुष्कृत्य हो, तब भी वह दंड को निरंतर दुष्कृती के सुधार-संस्कार की प्रक्रिया समझता रहा है। उसकी दृष्टि में अपराध समाज-व्यवस्था का उल्लंघन-मात्र नहीं है जिसे रोकने के लिए समाज वाध्य होता है; वह अपराधी की एक तरह की नैतिक विकृति है, वल्कि उससे भी कुछ अधिक है, जिसका समाज या तो उपचार करेगा या संहार। उसका विश्वास है कि दंड प्रतिकारी नहीं होता; वह यह मान लेगा कि उसका काम निवारण करना होता है: उसका आग्रह यह है कि वह सुधार करता है। प्लेटो ने **प्रोटेगोरस** और **गॉर्जियाज** में वहुत पहले जो विचार व्यक्त किया था, वही नवें खंड में फिर से व्यक्त किया गया है और प्राय: उन्हीं शब्दों में। दंड अतीत में किए गए किसी कर्म का प्रतिकार नहीं होता क्योंकि जो हो चुका है, उसे अनहुआ नहीं किया जा सकता: वह भविष्य की ख़ातिर दिया जाता है और दिया भी इसलिए जाता है कि जिस व्यक्ति को दंड दिया जाए, वह; और जो उसे दंड पाते हुए देखें, वे दोनों या तो अपराध से विल्कुल घृणा करने लग जाएँ या कम से कम अपनी वेढँगी रफ़्तार में वहुत-कुछ कमी कर दें (934 A – B)[1]। यहाँ दंड के एक साथ दो उद्देश्य माने गए हैं—स्वयं अपराधी का सुधार और दूसरों को अपराध करने से रोकना। इनमें सुधार पहला उद्देश्य है और अपराध का निवारण गौण तथा आनुषंगिक उद्देश्य। **लॉज़** में अपराध को एक रोग माना गया है और चिकित्सा की कला से लिए गए अनेक रूपकों का प्रयोग किया गया है तथा अगर प्लेटो ने सैमुअल वटलर की तरह आध्यात्मिक शोधन के लिए चिकित्सकों की सृष्टि नहीं की है, (इस उपचार को आजकल विकलांग विद्या या orthopaedy कहते हैं), तो उसने दंड को मुख्य रूप से चिकित्सा के क्षेत्र में अवश्य ले लिया है। तथापि, हमें यह न सोच लेना चाहिए कि प्लेटो के चिकित्सा-विषयक रूपक उन आधुनिक अपराध-शास्त्रियों की भाषा के अनुरूप हैं जो अपराध को एक प्रकार की शरीर-व्याधि मानते हैं। प्लेटो ने जिस व्याधि की चर्चा की है, वह सदा आत्मा

---

[1] "उचित दंड अतीत में किए गए किसी कार्य का प्रतिकार नहीं होता (जो हो चुका है, उसे अनहुआ नहीं किया जा सकता): वह भविष्य के प्रति निर्दिष्ट होता है; और उसका प्रयोजन स्वयं अपराधी को और उन लोगों को, जिन्होंने उसे दंड भोगते देखा है, भविष्य में दुष्कृत्य से विरत करना होता है" (**प्रोटेगोरस**, 324 A B)। 'जव कभी अच्छी तरह से दंड दिया जाता है, तव दंड पाने वाला व्यक्ति या तो ज्यादा अच्छा व्यक्ति हो जाता है और उससे लाभ उठाता है या वह दूसरे व्यक्तियों के लिए उदाहरण वन जाता है जिससे वे उसकी यातना देखकर डर जाएँ और अपने आचरण में सुधार कर लें" (**गॉर्जियाज**, 525 B)।

की व्याधि है और उसने इस व्याधि के बारे में ऐसा कभी नहीं समझा है कि वह शरीर-रचना अथवा स्नायु-तंत्र के दोषों से जन्मती हो[1]। फिर भी, अपराध के क्षेत्र में चिकित्सा-शास्त्र के रूपकों के प्रयोग पर आपत्ति की जा सकती है और यह आपत्ति उस समय भी हो सकती है जब उनका प्रयोग उसी अर्थ में हो जिसमें प्लेटो ने किया है। अपराध रोग नहीं है; वह स्वतंत्र और उत्तरदायी कर्त्ता द्वारा समाज-विरोधी इच्छा का आग्रह है[2]; इस कर्त्ता के प्रति समाज का व्यवहार ऐसा होना चाहिए मानो कर्त्ता का कर्म और उस कर्म के परिणाम ये दोनों साभिप्राय हों। और उसकी क्रिया पर समाज में प्रतिक्रिया होनी चाहिए—तभी वह अपनी और अपनी आधारभूत जीवन-योजना की रक्षा कर सकता है। नैतिक दार्शनिक अपराध को नैतिक रोग मान सकता है पर समाज को, निश्चित नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने वाले लोगों के संगठित समुदाय को तो यह मान लेना होगा कि अपराध उन नियमों का जान-बूझकर और अपनी ज़िम्मेदारी को पूरी तरह समझते हुए, किया गया उल्लंघन है। समाज को अपनी और अपनी जीवन-योजना की रक्षा करनी होगी और इस रक्षा का—या दूसरे शब्दों में दंड का—मुख्य उद्देश्य यह होगा कि इस योजना का उल्लंघन न होने पाए। रोगी होने पर चिकित्सा का सहारा लेने से ज्यादा अच्छा यह है कि पहले से ही रोग की रोक-थाम कर ली जाए, पर रोक-थाम भी चिकित्सा का रूप ले सकती है और निवारक दंड से दंडित व्यक्ति का सुधार भी संभव है भले ही यह सुधार आनुषंगिक रूप से ही हो। औरों को समाज-अधिकारों के उल्लंघन से विरत करने के प्रयत्न का मतलब है स्वयं अपराधी को उससे विरत करना और इस तरह, और इस हद तक, दंड के द्वारा अपराधी का सुधार हो जाता है। पर अपराध की रोक-थाम में दंड की जो भूमिका होती है, उसमें इस तरह के सुधार का महत्त्व गौण है[3]। किंतु, प्लेटो ने यह क्रम पलट दिया

---

[1] ऊपर पृ० 541 पा० टि० 1 देखिए।

[2] अगर कर्त्ता आज़ाद न हो, तो वहाँ केवल पागलपन होता है, अपराध नहीं। अपराध को एक तरह का रोग मानने की धारणा में ख़तरा यह है कि इसमें अपराध और पागलपन का भेद मिटाने की प्रवृत्ति होती है। जब तक अपराधी के बारे में यह प्रमाण-पत्र न दे दिया जाए कि वह पागलपन की शरीर-व्याधि से पीड़ित है, तब तक उसे अधिकार होता है कि उसके साथ प्रकृतिस्थ व्यक्ति जैसा व्यवहार हो और समाज का भी कर्त्तव्य होता है कि वह उसके साथ प्रकृतिस्थ व्यक्ति जैसा व्यवहार करे। यह सच है कि प्लेटो ने अपराध और पागलपन को एक नहीं माना, लेकिन जब वह उसे ऐच्छिक मानता है, तब वह एक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगता है मानो अपराध एक तरह का स्वत्व हो।

[3] टी० एच० ग्रीन, **प्रिंसिपिल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन**, 204 § (193 से तुलना कीजिए): "राज्य अधिकारों का पोषक होता है। इस रूप में (और इसी रूप में वह दंड देता है) उसका इस बात से कोई संबंध नहीं होता कि अपराधी का कितना नैतिक अधःपतन हुआ है। दंड देते समय मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता कि दंड का दंडित व्यक्ति पर क्या असर पड़ेगा, बल्कि यह होता है कि उसका दूसरों पर क्या असर पड़ेगा"?

है। उसने दंड का मुख्य कार्य अपराधी का उपचार करना और सुधार करना माना है और उसकी सम्मति में अपराध की रोक-थाम करना तो दंड का एक सहवर्त्ती और गौण कार्य है। फिर भी प्लेटो अपराधियों को जिस तरह के दंड देना चाहता है, उनमें किसी तरह की नरमी नहीं है। ऊपर कहा गया था कि जो राज्य प्लेटो के सिद्धांतों के अनुसार आचरण करेगा, उसमें अपराधियों के प्रति इतनी कठोरता और निर्ममता होगी जो असंभव हो या उसमें पापी के प्रति इतनी करुणा होगी जिसे व्यावहारिक रूप न दिया जा सके। हमने ऊपर यह भी कहा था कि प्लेटो का यह दृढ़ मत था कि अपराध की ओर वही लोग प्रवृत्त होते हैं जो वास्तव में दुष्ट होते हैं। इसलिए, हम आशा कर सकते हैं और हमें यह दीखता भी है कि **लॉज** में उसने पहले विकल्प का अनुसरण किया है। प्लेटो ने जिस गुप्तचर्या (espinoge) को स्वीकार किया है उसके बारे में थोड़ा-बहुत पहले ही कहा जा चुका है; और **लॉज** के परवर्त्ती खंडों की एक विशेषता यह है कि उसमें विभिन्न अपराधों के लिए कठोर दंडों की व्यवस्था की गई है। जिन अपराधों के लिए प्राणदंड दिया जा सकता है, उनकी सूची लगता है बरावर लंवी होती चली गई है। नवें खंड में इस सूची में धर्म-स्थानों का अपमान, गुटबंदी और देशद्रोह शामिल हैं; दसवें खंड में इसमें धार्मिक अविश्वास के रूप आ गए हैं; ग्यारहवें खंड में उन वक्ताओं को भी इस सूची में ले लिया गया है जो अच्छे रास्ते को भी बुरा सिद्ध करते हैं; बारहवें खंड में इसमें एक के वाद एक करके अनेक अपराधों को शामिल किया गया है—राजकीय संपत्ति की चोरी[1], दंडनायकों का दुराचार, निर्वासितों को आश्रय देना, रिश्वतखोरी और न्यायालयों के निर्णयों की अवमानना। जगह-जगह मृत्यु के उपचार की व्यवस्था की गई है; और यहाँ जिन अपराधों के लिए प्राणदंड की व्यवस्था की गई है, उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके लिए एथेंस की विधि में भी प्राणदंड दिया जाता था[2]। फिर भी, ऐसे अनेकों अपराध हैं जिन्हें अकेले प्लेटो ने ही अपनी इस कठोर सूची में शामिल किया है।

---

1. **लॉज**, 941 से तुलना कीजिए। पहले के एक अवतरण (857 A–B) में प्लेटो ने निर्धारित किया था कि अगर कोई व्यक्ति राजकीय संपत्ति की चोरी करेगा, तो उसे उस संपत्ति के दुगने मूल्य का धन राज्य को लौटाना पड़ेगा।
2. जॉवेट, **लॉज** की प्रस्तावना, CC XX VII—CC XX IX से तुलना कीजिए।

(ख) धर्म और धार्मिक उत्पीड़न

हम अभी कह आए हैं कि प्लेटो ने जिन अपराधों के लिए प्राणदंड की व्यवस्था की है, उनमें से एक धार्मिक अविश्वास का अपराध भी है। लॉज़ में जिस धार्मिक विधि का निरूपण हुआ है,[1] वह समूचे संवाद के सबसे अधिक उल्लेखनीय तत्त्वों में से एक है और पूर्ववर्त्ती संवादों के स्वर तथा स्वरूप से सबसे ज्यादा दूर जा पड़ता है। प्लेटो की अंतिम रचना में जीवन-संध्या का कुछ रहस्यात्मक पुट है। ज्यों–ज्यों उसके चरण "जीवन-निशीथ के अंधकार" की ओर बढ़ते गए, त्यों-त्यों उसे मनुष्य की लघुता, ईश्वर की महत्ता तथा श्रद्धामय धर्म की परम आवश्यकता का अधिकाधिक अनुभव होता गया।

"हम जो वीर, बलिष्ठ और बुद्धिमान् हैं, हम जो यौवन–प्रभात में पंच तत्त्वों को भी ललकार चुके हैं" ; अंततः हम "देवताओं के हाथों में खिलौने हैं और अगर सचमुच विचार किया जाए, तो यही हमारा सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है" (804 C : 644 E)। "इसलिए, ज्यों-ज्यों हमारे चरण नीरव देश की ओर बढ़ें ; ज्यों-ज्यों हम प्रेम के द्वारा, आशा के द्वारा और धर्म के परात्पर उपहार के द्वारा यह अनुभव करें कि हम जितना अपने आपको समझते हैं, उससे कहीं महत्तर हैं—तो बस यही पर्याप्त है।"

---

[1] प्लेटो ने व्यवहार-विधि की जो रूपरेखा दी है, मैंने यहाँ उसका विवरण देने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। प्लेटो ने व्यवहार-विधि के संपूर्ण क्षेत्र पर विचार किया है। कुछ तो आरंभिक खंडों में और कुछ ग्यारहवें खंड में। आरंभिक खंडों में तो उसने पहले बताई हुई पद्धति के अनुसार विवाह और संपत्ति का विनियमन किया है और ग्यारहवें खंड में वाणिज्य-विधि (915—20 : पीछे अध्याय 14—ग से तुलना कीजिए), संविदा-विधि (920—1), उत्तराधिकार-विधि (922 A—928 C) और सामान्य परिवार-विधि (928—32 D) का विवेचन किया है। लॉज़ की न्याय-संस्थाओं के संबंध में अध्याय 15—ख देखिए।

हमारे लिए सारी चीजों का मानदंड ईश्वर होना चाहिए,—हम खुद नहीं (जैसा कि प्रोटेगोरस ने कहा था; 716 C)। हमें ईश्वर में विश्वास रखना चाहिए; अपनी गूढ़ चिंतन-शक्ति में नहीं। इस सांध्य भावना में प्लेटो भौतिकवादी की ओर मुड़ा है जो संसार की व्याख्या पदार्थ के, पदार्थ की अंतरंग शक्ति के, और गति के जिन आवश्यक नियमों के अनुसार पदार्थ संचालित होता है, उनके आधार पर करता है (889 B—890 C)। इस दृष्टिकोण के अनुसार संसार का आरंभ तत्त्वों से हुआ था और प्रत्येक तत्त्व अंतरंग शक्ति से संपन्न था और प्रकृति तथा संयोग ने इन तत्त्वों के संघर्षों और संयोजनों की परिस्थितियों के फलस्वरूप चंद्र और सूर्य को, पौधों और पशुओं को, तथा जिस समूचे चराचर से हम परिचित हैं, उसे जन्म दिया। इन संयोजनों में एक तत्त्व हावी हो जाता था तथा दूसरे तत्त्व उसकी प्रभुता स्वीकार कर लेते थे। संसार का निर्माण न तो किसी ईश्वर ने किया न मन या कला ने। देवताओं का अस्तित्व नहीं है : मन गौण तत्त्व हैं : कला बाद का आविष्कार है। कला बाद में प्रकृति या संयोग से पैदा हुई : कला नश्वर है ; नश्वर मानव की सृष्टि है : मानव की सीमाएँ उसकी भी सीमाएँ हैं और वह भी प्रकृत्या अनित्य है। वह प्रकृति, उसकी सर्जनाओं और प्रक्रियाओं की, अनुकृति मात्र है। इनमें से कुछ अनुकृतियाँ केवल क्रीड़ा के लिए होती हैं—जैसे संगीत और चित्रकला ; कुछ अनुकृतियों का गंभीर उद्देश्य होता है जैसा कि पशु-पालन का, जिसमें प्रकृति की पुनरुत्पादन-प्रक्रिया का अनुकरण होता है और इस प्रक्रिया में प्रकृति के साथ सहयोग भी। राजनीति-कला बाद वाली श्रेणी में आती है। उसमें प्रकृति का अनुकरण होता है और उसके साथ सहयोग भी; पर पशुपालन की तुलना में कम। उसका अनुकरण बड़ा अपूर्ण रहता है। उसके काम में प्रकृति का कोई सहयोग नहीं होता। वह जिन नियमों का निर्माण करती है, वे पूर्ण रूप से कृत्रिम होते हैं और झूठी धारणाओं पर आधारित। प्रकृति का एक नियम यह है कि जब स्वामित्व के लिए संघर्ष होता है, तब सबलतम स्वामी बन बैठता है। भौतिक जगत् की तरह मानव-जगत् में भी हर इकाई को अपनी अंतरंग शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिए। "भैंस उसी की होती है, जिसके पास लाठी हो"; प्रकृति के अनुसार रहने का अर्थ है दूसरों के ऊपर प्रभुता का आरोप, विधितः दूसरों की अधीनता में रहना नहीं। ये सच्ची धारणाएँ हैं ; इन धारणाओं पर आधारित विधि ही सच्ची विधि होती है : जिस राजनीति-कला में प्रकृति-जगत् का अनुकरण हो, वही सच्ची राजनीति-कला होती है। स्थिति यह है कि लोग विधियों की रचना करते समय एक-दूसरे के साथ जो विभिन्न करार करते हैं, उनके अनुसार ही विभिन्न राज्यों की अलग-अलग विधियाँ होती हैं। प्रकृति की कोई एकरूप विधि होने के बजाए विभिन्न विधियाँ होने से अव्यवस्था फैली हुई है। प्रकृति में और प्रकृति का अनुकरण करने वाली कला में सामंजस्य होने के बजाए एक खाई है और जो चीज प्रकृति से असम्मानजनक नहीं है, लोग विधि द्वारा उसे असम्मान-जनक बना देते हैं[1]।

---

[1] पीछे पृ॰ 101—2 से तुलना कीजिए।

अस्तु, प्लेटो के अनुसार संसार की भौतिकवादी धारणा जिसमें न मन का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और न ईश्वर का ; अपने अनुरूप ही राजनीति की भौतिकवादी धारणा को जन्म देती है । इस तरह की झूठी तत्त्व-मीमांसा के कारण ही सच्ची तत्त्व-मीमांसा ज़रूरी हो जाती है । "अगर इस तरह के तर्कों का व्यापक रूप से प्रचार न हुआ होता, तो फिर देवताओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाले तर्कों की ज़रूरत न पड़ती ।" (891 B) । अब जो स्थिति है, उसमें उनके अस्तित्व का प्रतिपादन होना चाहिए और प्लेटो ने यह प्रतिपादन करने का प्रयास किया है। सच्चा बुद्धिवादी मानव-जाति को सदा जो संदेश देगा, वही प्लेटो देता है कि सबसे पहले मन है और सबसे अंत में पदार्थ । झूठा बुद्धिवादी मनोहीन पदार्थ से आरंभ करता है और फिर कला के नाम पर मन को ले आता है। मन का समावेश वह इस रूप में करता है कि मन पदार्थ की उद्भावना होते हुए भी उसका सक्रिय अनुकर्त्ता, यहाँ तक कि उसका, विकर्त्ता भी है। ऐसा करके वह संसार का क्रम बिल्कुल उलट देता है। शाश्वत मन के अर्थ में मन सबसे पहले है ; वह पदार्थ का नियंत्रक (प्लेटो के शब्दों में संप्रेरक) है ; उसकी उद्भावना नहीं ; और जिस तरह ईश्वर का शाश्वत मन सृष्टि का संचालन करता है, उसी तरह मन उसके एक-एक भाग का संचालन करता है, और "सारी चीज़ें देवमय होती हैं" । अगर यह स्थिति है, तो प्रकृति और कला के बीच का विरोध नष्ट हो जाना चाहिए क्योंकि मन ही प्रकृति को रूपरंग देता है और मन ही कला को । "विधि और समूची कला का अस्तित्व प्रकृति के ऊपर निर्भर है या वह प्रकृति से किसी तरह कम नहीं है, क्योंकि वे मन की उद्भावनाएँ हैं" (890 D) । प्रकृति का अस्तित्व किसी मनोहीन सत्ता के नियमों के रूप में नहीं है और न कला मानव द्वारा उस सत्ता के नियमों की अनुकृति या विकृति है। प्रकृति ऐसी सत्ता है जो मन द्वारा नियंत्रित और संचालित होती है और कला यदि सृष्टि है तो वह ऐसी सृष्टि है जो मन द्वारा नियंत्रित और संचालित होती है।

> "ऐसा कोई साधन नहीं जो प्रकृति में सुधार करता हो। प्रकृति तो स्वयं उस साधन का निर्माण करती है। यही बात कला की है जिसके बारे में आप कहते हैं कि वह प्रकृति में उत्कर्ष लाती है जबकि सचाई यह है कि इस कला की भी जननी प्रकृति ही है। यह ऐसी कला है जो प्रकृति में सुधार करती है, बल्कि उसे बदलती है पर कला स्वयं प्रकृति रूप है" ।

तथापि, भौतिकवाद का दार्शनिक युक्ति द्वारा ही शोधन नहीं होना चाहिए ; उससे विधि तथा राजनीति की समुचित धारणाएँ विकृत हो जाती हैं । अतः उसका राज्य की शक्ति द्वारा भी शोधन होना चाहिए । राज्य को चाहिए कि वह चरम तत्त्वों के बारे में सच्चे विश्वास की, या दूसरे शब्दों में राजकीय धर्म की, रूपरेखा निर्धारित कर दे और जो लोग उसे न मानें, उन्हें दंड (या यातना) दे । लॉज़ में निरूपित धर्म-पंथ प्राकृतिक धर्म का पंथ है और उसका यह मूल सिद्धांत कि एक ऐसे दिव्य मानस का अस्तित्व है जिसका सृष्टि पर नियंत्रण हो, नक्षत्रों के अध्ययन से प्रमाणित होता है। प्लेटो ने इस पंथ का प्रचार हिब्रू पैग़ंबरों जैसे

उत्साह के साथ किया है और कभी-कभी तो उन्हीं जैसी भाषा तक का प्रयोग किया है ; और उसके पंथ के तीन मुख्य सिद्धांत वे ही हैं जो ईसाह और एंज़कील के हैं। पहला सिद्धांत ईश्वर के अस्तित्व का सिद्धांत है (893 A—899 D)। गति का जन्म मन से होता है और नक्षत्रों की पूर्ण गतियों का जन्म पूर्ण मन से ही हो सकता है। प्लेटो की वाणी से कभी तो एकेश्वरवाद (monotheism) के स्वर फूटे हैं और कभी वहुदेववाद (polytheism) के : कभी तो वह ईश्वर की चर्चा करता है और कभी देवताओं की ; पर उसका मूल विश्वास एक ऐसे मन में है जो सृष्टि का अधिष्ठाता और नियंता है, भले ही वह यह मानने के लिए तैयार हो जाता है कि सूर्य, चंद्र और तारे, वर्ष, मास और ऋतुएं इन सबके भी अपने-अपने प्रेरक मन और अपने अलग देवता हैं। दूसरा सिद्धांत ईश्वर की सार्वभौम अनुकंपा का है (899 D—905 C)। वह न तो झपकी लेता है, न सोता है : छोटी-बड़ी सभी चीज़ों पर उसका शासन है। संसार एक अखंड योजना है जिसकी रचना उसके संप्रेरक और शासक ने कुछ इस तरह से की है कि सब मिल-जुल कर श्रेय की सिद्धि के लिए प्रयत्न कर सकें। हम सबका अपना-अपना स्थान है जो स्वयं राजा ने नियत किया है और संपूर्ण की योजना में हम सब को अपनी-अपनी भूमिका निभानी होती है। उसकी सब पर नज़र रहती है और उसकी स्थिति कुछ इसी तरह की है कि—

"राम झरोखे वैठि के,
सवको मुजरा लेय ।
जैसी जाकी चाकरी,
तैसी ताकू देय" ।।

उसकी सतर्क दृष्टि से कोई नहीं वचता, उसके न्याय से किसी का निस्तार नहीं। अपने नियत स्थान पर रहकर उसकी इच्छा पूरी करने से सुख ही सुख मिलता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना स्थान छोड़ देने से अंत में दुःख ही दुःख मिलता है[1]। प्लेटो के पंथ का अंतिम सिद्धांत है ईश्वर का अडिग न्याय और जिस नियम के अनुसार वह आचरण करता है उसका अटल पालन (905 C—907 A)[2]। संसार जिस योजना के अनुसार संचालित हो रहा है, वह उस योजना का कभी रंच-मात्र भी उल्लंघन नहीं करेगा। किसी भी तरह की अनुनय-विनय उसे न्याय-पथ से विचलित नहीं कर सकती : कोई भी त्याग और वलिदान पापी को उसके दंड से नहीं वचा सकता।

---

1. इस तर्कश्रृंखला (903 B—905 C) के सबसे उदात्त अवतरण का कुछ अंश हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। इस अवतरण में यूनान के धर्म-चिंतन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति हुई है और उसका जूडिया के चिंतन से विलक्षण साम्य है (पीछे अध्याय 11—छ देखिए)।
2. ईश्वर सदा नियम का पालन करता है—इस विचार का सेंट आगस्टाइन पर और सेंट आगस्टाइन के माध्यम से विक्लिफ जैसे उन विचारकों पर प्रभाव पड़ा जिन्होंने आगस्टाइन की परंपरा का अनुसरण किया था।

प्लेटो का विश्वास है कि सच्चा राज्य इस तरह के धार्मिक विश्वास की बुनियाद पर और इस प्रकार के धर्म-सिद्धांतों को स्वीकार करके ही, जीवित रह सकता है। अगर, इस तरह का विश्वास न हो और अगर अनीश्वरवाद (agnosticism) के सिद्धांतों को खुली छूट मिल जाए, तो राज्य में अराजकता फैल जाए, मात्स्य-न्याय की तूती बोलने लगे और एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था का आविर्भाव हो जाए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्राकृतिक शक्तियों के अनुरूप अधिकारों का दावा करने लगे। इस संबध में **लॉज्ञ** का तर्क **रेफ्लेक्शंस ऑन द फ्रेंच रेवोलूशन** में दिए गए वर्क के तर्क से मिलता है। प्लेटो वर्क के इस विचार से सहमत हो सकता था कि धर्म-भावना ने "प्रजातंत्र की और उसके सारे पदाधिकारियों की प्रतिष्ठा की। यह प्रतिष्ठा इसलिए की गई कि जो लोग मानव के शासन-कार्य में लगे हैं और जो अपनी इस भूमिका में ईश्वर के प्रतिरूप होते हैं, उनके मन में अपने कार्य और लक्ष्य के संबंध में ऊँचे तथा उचित विचार होने चाहिएँ। यह प्रतिष्ठा इसलिए भी जरूरी है कि इसका स्वतंत्र नागरिकों के ऊपर स्वस्थ प्रभाव पड़ सके"।

वर्क का तर्क फ्रांसीसी क्रांति के विरुद्ध था। उसका विचार था कि फ्रांस में राजनीतिक अराजकता का चर्च के विनाश और धार्मिक विश्वास के पतन के साथ चोली-दामन का संबंध रहा था। प्लेटो का तक एथेनी लोकतंत्र के विरुद्ध था और उसका विचार था कि (अध्याय 13—ङ) वहाँ राजनीतिक जीवन में भौतिकवाद और धार्मिक क्षेत्र में वास्तविकता के फलस्वरूप ही अहम्मन्यता (egoism) और उच्छृंखलता की भावना पैदा हो गई थी। वर्क ने राज्य द्वारा चर्च की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन किया। प्लेटो चर्च से परिचित न था; उसने राज्य के तत्त्वावधान में पंथ की प्रतिष्ठा की पैरवी की। इसका अर्थ था नास्तिकता को विधि के उल्लंघन का पर्याय बना देना, और जहाँ वर्क ने प्रतिष्ठित चर्च का विरोध करने वाले व्यक्तियों के ऊपर कुछ निर्योग्यताएँ आरोपित करने की बात कही है, वहाँ प्लेटो धार्मिक उत्पीड़न के लिए प्रस्तुत हो गया है।

प्लेटो ने जिस उत्पीड़न की पैरवी की है, उसकी तीन मुख्य दिशाएँ हैं। ईमानदार नास्तिकों को जो समझ की कमी के कारण नास्तिक होते हैं, पर जो अन्यथा अच्छे व्यक्ति और नागरिक होते हैं, पाँच वर्ष तक उस सुधार-सदन में बंदी बना कर रखा जाएगा जो नैश परिषद् के सभा-स्थल के निकट ही स्थित है। यहाँ परिषद् के सदस्य उनसे मिला करेंगे और "उनके सुधार तथा उनकी आत्मा की मुक्ति के लिए उनसे बातचीत किया करेंगे" (909 A)। पाँच वर्ष बीतने पर उन्हें मुक्त कर दिया जाएगा, और अगर उनका सुधार हो गया, तब तो वे शांति से रहेंगे पर अगर उनका सुधार नहीं हुआ और उन्हें फिर नास्तिक पाया गया, तो उन्हें प्राणदंड दे दिया जाएगा[1]। बेईमान नास्तिकों को जिनका न केवल

---

[1] रूसो के कंट्रेट सोशल के डिला रिलीजन सिविल नामक अंतिम अध्याय से एक समानांतर उदाहरण दिया जा सकता है। रूसो प्लेटो की तरह किसी धर्म-पंथ की स्थापना करना नहीं चाहता, पर वह समुदाय के हाथों में यह निर्धारित करने की शक्ति जरूर दे देना चाहता है कि नागरिकों

राजकीय धर्म में अविश्वास होता है, बल्कि जो व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए निस्सार मंत्रों और जादू-टोनों के प्रयोग द्वारा व्यक्तियों, परिवारों तथा नगरों का नाश करते हैं, देश के बीचो-बीच किसी निर्जन और जंगली स्थान के निकट एकांत बंदीगृह में, तहखाने के भीतर आजीवन कारावास में रखा जाएगा, और जब वे मर जाएँगे तब उनके शवों को सीमांत के बाहर फेंक दिया जाएगा। अंत में, प्लेटो ने वैयक्तिक धर्मों के विरुद्ध विधि बनाई है। उसने अविश्वास का ही निषेध नहीं किया, वैयक्तिक विश्वास का भी निषेध किया है। वह यही नहीं चाहता कि सब लोग सार्वजनिक उपासना में समान रीति से भाग लें, उसने उन उपासना-गृहों का भी निषेध किया है जिनमें किसी तरह की कोई वैयक्तिक उपासना की जाती है। उपासना-स्थलों की स्थापना और संप्रदायों का प्रवर्त्तन करना कठिन और नाजुक काम होता है जिसके लिए विवेक की ज़रूरत होती है और इस तरह का काम किसी ऐसे नागरिक को अंधविश्वास की मनोदशा में, उतावलेपन से नहीं करना चाहिए। प्लेटो ने वैयक्तिक उपासना-गृहों का और पूजा-अर्चना का जो प्रतिषेध किया है उसका एक और कारण है । उपासना-गृहों की स्थापना जहाँ कुछ ऐसे भोले–भाले लोग कर लेते हैं जो राजकीय धर्म को स्वीकार करने के साथ-साथ वैयक्तिक धर्म-साधना के मार्ग पर भी बढ़ना चाहते हैं, वहाँ उनकी स्थापना निम्न श्रेणी के ऐसे नास्तिकों द्वारा भी की जा सकती है जो वैयक्तिक श्रद्धा के आवरण में अपने अविश्वास को छिपाने का प्रयत्न करते हों। उनका दमन दोनों ही कारणों से ज़रूरी हो जाती है ; भोले-भाले लोगों को, ज़रूरी हो तो, दंड देकर भी इस बात के लिए विवश किया जाना चाहिए कि वे सार्वजनिक उपासना-गृहों में ही जाएँ ; अगर कोई नास्तिक ऐसी श्रद्धा का प्रकाशन करे जिसमें उसका हृदय न हो, तो उसे प्राणदंड मिलना चाहिए[1]।

के लिए किन धर्म-सिद्धांतों का पालन करना श्रेयस्कर है । इन सिद्धांतों में धर्म की रूढ़ियाँ न होंगी, सामाजिकता की वे भावनाएँ होंगी जिनके बिना लोग अच्छे नागरिक नहीं बन सकते । जो लोग अविश्वास करेंगे, उन्हें दंड दिया जाएगा, इस आधार पर नहीं कि वे अपवित्र हैं, बल्कि इस आधार पर कि वे असामाजिक हैं । अगर कोई व्यक्ति इन सिद्धांतों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर ले और फिर इस तरह का आचरण करे, मानो उसका उनमें विश्वास न हो तो उसे प्राणदंड मिलेगा। उसने सबसे बड़ा अपराध किया है—उसने विधियों के सामने झूठ बोला है।

[1] लगता है कि यहाँ प्लेटो सामान्य यूनानी विचारों से हट रहा है। हम देख चुके हैं (पृ० 11—12) की यूनानी के लिए अपवित्रता का अर्थ था — जिन देवताओं की उपासना राज्य करता हो उनकी उपासना का निषेध। इसलिए यूनानी राज्य सामान्य रूप से नगर देवताओं की औपचारिक उपासना पर ज़ोर दिया करते करते थे (अगर समाज के देवताओं की नियमित रूप से उपासना न होती, तो उसे नुकसान पहुँच सकता था)। पर निश्चित है कि इन राज्यों में व्यक्तियों को यह आजादी दे दी गई थी कि वे अपने वैयक्तिक धर्म-संस्कार संपन्न कर सकते हैं और राज्य के देवताओं के अलावा अन्य देवताओं की उपासना भी।

कुछ दृष्टियों से प्लेटो की धार्मिक उत्पीड़न की पैरवी हमें मध्य युग के रोमी चर्च की याद दिला देती है। पर, दोनों में एक मूल अंतर है। प्लेटो ने जिस उत्पीड़न की पैरवी की है, वह धर्म-निरपेक्ष है। उसका कारण है राजकीय धर्म में अविश्वास : वह राज्य की ख़ातिर किया जाता है। मध्ययुगीन चर्च का उत्पीड़न उसकी लौकिक शक्ति की प्रतिष्ठा के लिए था। इस उत्पीड़न की व्यवस्था चर्च के न्यायालय करते थे। इसका उद्देश्य सारे मसीही धर्मावलंबियों के उस सामान्य समाज की पवित्रता की रक्षा करना था जिसका विस्तार राज्यों और उनकी सीमाओं के परे भी था। इससे भी सच्चा दृष्टांत शायद एलिज़ाबेथ के धार्मिक उत्पीड़न में पाया जा सकता है। प्लेटो की तरह उसकी भी आदर्शोक्ति थी—लोक-कल्याण। प्लेटो का विश्वास था कि जो राज्य समान धार्मिक विश्वास के सूत्र में नहीं बँधा, उसमें प्राकृतिक अवस्था और मात्स्य न्याय की स्थिति पैदा हो जाती है ; इसी तरह एलिज़ाबेथ का यकीन था कि अगर इँगलैंड एकरूप धार्मिक संस्कार के सूत्र में न बँधा होगा तो यह निश्चय ही संप्रदायों के गृह-युद्ध से जर्जरित हो जाएगा। अगर प्लेटो का विचार था कि जिस राज्य में नास्तिकता को सहन किया जाएगा, उस राज्य को ईश्वर कभी फलने-फूलने नहीं देगा (910 B) ; तो उसकी भी कुछ इसी तरह की धारणा थी या कम से कम वह कुछ इसी तरह की बात किया करती थी। प्लेटो ने धार्मिक असहिष्णुता की क्यों पैरवी की—इन धारणाओं से प्रश्न का कुछ समाधान हो सकता है पर क्या इन आधारों पर उसे क्षम्य माना जा सकता है ? कुछ लोगों ने सफ़ाई पेश की है कि प्लेटो के राज्य के शासक, जो विज्ञान तथा खगोल-विज्ञान का अध्ययन करके सच्चे विश्वास तक पहुँचे थे, दूसरों के उस विचार-स्वातंत्र्य का गला नहीं घोटेंगे जिसका उन्होंने स्वयं उपभोग किया है[1]। फिर भी, जब प्लेटो ने खगोल-विज्ञान के अध्ययन के पक्ष में निम्नलिखित विचार प्रकट किए, तब क्या उसने अपनी असंगति का और साथ ही अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक के प्रति असंगत होने का परिचय नहीं दिया है ?

> "कहते हैं हमें परमेश्वर और सृष्टि के बारे में जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए और न मूल प्रश्नों की छानबीन में ज़्यादा परेशान होना चाहिए .. क्योंकि ये चीज़ें धर्म के प्रतिकूल होती हैं ; पर सच बात इससे बिल्कुल उल्टी है .. और अगर कोई व्यक्ति किसी विद्या को अच्छा और सच्चा, समाज के लिए उपयोगी और ईश्वर के लिए आनंदकारी समझता है, तो वह उसका आख्यान किए बिना नहीं रह सकता" (821 A—B)।

सच पूछा जाए तो यह प्लेटो के पक्ष में कोई अच्छी दलील नहीं है कि उसने उत्पीड़न का इसलिए समर्थन किया कि उसका उत्पीड़क की बुद्धिमत्ता में विश्वास था और न हम यह दुहाई देकर ही लॉज़ की शिक्षा को उचित ठहरा सकते हैं कि उसका लेखक अपने आदर्श समाज के शासकों को जो शक्तियाँ देने के लिए तैयार था, वह साधारण राज्यों के शासकों को कभी न देता। मूल प्रश्न ज्यों

---

[1] रिटर की कमेंट्री, पृ० 327—30।

का त्यों है—क्या किसी मानव को धार्मिक विश्वास के क्षेत्रों में दूसरों पर बलप्रयोग की शक्ति दी जा सकती है ? अगर, इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया भी जा सके, तो एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है—क्या प्लेटो के मत की भांति मानव-बुद्धि पर आधारित किसी मत के बारे में यह दावा किया जा सकता है कि उससे कभी गलती नहीं होती और उसे अधिकार है कि वह उत्पीड़न के द्वारा अपनी सचाई को प्रमाणित करे ? मध्ययुगीन चर्च इस तरह का दावा करना उचित समझता था क्योंकि उसका विश्वास था कि उसका मत और उस मत की व्याख्या दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित है ।

अध्याय 17

लॉज़ का शिक्षा-सिद्धांत

- (क) शिक्षा-सिद्धांत का प्राक्कथन
- (ख) शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण
- (ग) लॉज में प्रारंभिक शिक्षा का विधान
- (घ) लॉज में माध्यमिक शिक्षा का विधान

नोट—अरिस्टाटल पर लॉज का ऋण

अध्याय 17

लॉज़ का शिक्षा-सिद्धांत

(क) शिक्षा-सिद्धांत का प्रावकथन

विधि का पालन करने-कराने के लिए अंतिम साधन के रूप में दंड की ज़रूरत पड़ती है और प्लेटो के मत से वह पीड़ा के उपचार द्वारा मन पर असर डालता है। इस उपचार के द्वारा वह उन उद्दाम सुखों का प्रतिकार और निराकरण करता है जिनसे अपराध करने की प्रेरणा मिलती है। इस तरह हम देख चुके हैं कि दंड एक अर्थ में शिक्षा है ; पर वह अस्वस्थ मन की शिक्षा है। वह समय-समय पर आघातों के द्वारा ही कार्य करता है ; उसका असर मन के बुरे तत्त्वों पर ही पड़ता है ; उसमें कष्ट-भोग अनिवार्य होता है और इस प्रकार वह अभावात्मक रूप से ही कार्य करता है। सच्ची शिक्षा निरंतर चलती है, उसमें प्रकृत मन का और उस मन के प्रत्येक तत्त्व का प्रशिक्षण होता है ; वह सुख-दुख दोनों को प्रशिक्षण देती हुई भावनात्मक रूप से कार्य करती है । सच पूछा जाए, तो एक आंशिक शिक्षा भी होती है। यह तकनीकी शिक्षा होती है जिसके द्वारा तरुण व्यक्तियों को उन विशिष्ट कलाओं और शिल्पों में उत्कर्ष प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता है (643 B—C)—जिनकी वे बाद में साधना करते हैं, पर सच्ची शिक्षा सिर्फ़ एक है—नागरिकता की सामान्य कला में तरुणों को दी जाने वाली सामान्य शिक्षा। यहां लक्ष्य है नागरिकता का उत्कर्ष, इसका उपाय है मन में पूर्ण नागरिकता की इच्छा और प्रेम की प्रतिष्ठा : इसकी सिद्धि है वह नागरिक जो न्यायानुसार शासन करना और शासित होना जानता है (643 E)। विधियों में इस तरह के नागरिक उत्कर्ष का आदर्श निहित रहता है। वे ऐसे नियमों के रूप में होती हैं जिनके द्वारा दंडनायक शासन करते हैं और प्रजा आज्ञापालन। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह लोगों में शुरू से ही विधियों के संस्कार जगाए (659 E) ; और उसकी पद्धति यह है कि उनकी मनोवृत्तियों को इस तरह ढाले और उनके स्वभाव का इस तरह निर्माण करे कि वे सहज स्वभाव से वही चीज चाहें जिसका विधि आदेश देती हो और उस चीज़ को सहज अरुचि के साथ ठुकरा दें जिसका विधि प्रतिषेध करती हो (653 B—C)। इस तरह स्वभाव दोनों रीतियों से बन सकता है—प्रत्यक्ष रीति से भी और परोक्ष रीति से भी। अगर तरुणों को

वास्तविक विधि का सम्मान करने तथा उसके सारे नियमों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की सीख दी जाए, तो वह प्रत्यक्ष रीति से पाया जा सकता है (811 B)। अगर तरुणों को विधि की अंतरंग भावना और स्वर से अनुप्राणित कर दिया जाए और उन्हें मन की ऐसी वृत्ति अर्जित करने की शिक्षा दी जाए जिसके कारण हम सदा ही विधि के अनुसार कार्य करते रहते हैं, तो इस तरह का स्वभाव परोक्ष रीति से बन सकता है (यही एक-मात्र पक्का रास्ता और सच्ची शिक्षा है)।

विधि स्थिर रहती है, अतः शिक्षा का तत्त्व तथा क्रम भी उसके समान ही स्थिर रहना चाहिए। प्लेटो का आदर्श मिस्र है[1]। बहुत समय पहले, ठीक 10,000 साल पहले, मिस्रियों ने समझ लिया था कि संगीत और शिक्षा की जिन प्रणालियों को तरुण जन अपने रक्त और स्वभाव में रचा-पचा लें, उन्हें एक उचित प्रतिमान द्वारा स्थिर कर देना चाहिए; और एक बार प्रणालियों के स्थिर कर दिए जाने पर युग-युगों तक उनका कड़ाई से पालन होता रहा है (653 D—E)। प्लेटो मिस्र का नियम अपनाना और उसे बचपन के खेलों तक में लागू करना चाहता है। जब खेल, तथा खेलों के नियम, स्थिर हों, जब बच्चे अनादि काल से प्रचलित अपने एक गीत के शब्दों में, "जैसा उन्होंने पहले किया" गाते-गाते खेलते हों तब न तो राज्य में कोई परिवर्त्तन होगा ओर न उन नियमों में जिनका राज्य को तत्परता से पालन करना चाहिए (797 A—B)। सभी विधियों के पालन के पीछे सबसे बड़ी शक्ति यह होती है कि किसी भी व्यक्ति को यह बात न तो याद रखनी चाहिए और न सुननी चाहिए कि खेल जिस रूप में आज दिखाई देते हैं, वे उससे भिन्न रूप में भी कभी रहे थे; और अगर कभी खेलों में परिवर्त्तन हो गया, तो उसके साथ ही स्थिरता के इस प्रशांत समुद्र में भी हलचल मच उठेगी और नए खेलों की अभ्यस्त नई पीढ़ी परिपक्व वय की होने पर विधियों में भी उसी तरह परिवर्त्तन कर देगी जिस तरह पहले खेलों में किए गए होंगे (798 B—C)। जिस तरह मिस्र में नृत्य और संगीत धार्मिक संस्कार थे, उसी तरह उन्हें यूनान में भी धार्मिक संस्कारों का रूप दे देना चाहिए; जो लोग उनमें किसी तरह का परिवर्त्तन सुझाएँ, उन्हें इनमें भाग नहीं लेने देना चाहिए और अगर वे फिर भी अपनी ज़िद पर अड़े रहें, तो उन पर धर्म-विरोध का आरोप लगाकर उनके विरुद्ध क़ानूनी कार्यवाही करनी चाहिए (799 A—B)। यह मनोवृत्ति कलात्मक स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं है और प्लेटो ने **रिपब्लिक** की तरह **लॉज़** में भी कला के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी हैं। प्लेटो ने साहित्य-सर्जना के नियम बनाए हैं और उसके प्रकार निर्धारित किए हैं : कोई भी कवि ऐसे गीतों

---

[1] प्लेटो की रचनाओं विशेषकर परवर्त्ती रचनाओं में मिस्र के प्रति बराबर निर्देश मिलते हैं और उनसे संकेत मिलता है कि उसकी मिस्र-यात्रा के विषय में अनुश्रुति शायद सच्ची है। उसने मिस्रियों के गणित-अध्ययन की सराहना की है— उनकी तुलना में यूनानी सूअर जैसे प्राणी हैं। उसने मिस्र के प्राचीन इतिहास-पुराण का गुणगान किया है—"तुम यूनानी सदा बच्चे ही हो। कोई भी यूनानी वयोवृद्ध नहीं है"। (**टिमाएस, 22 B**)। इसके साथ ही उसने स्वीकार किया है कि "मिस्र में बुरी चीज़ें भी हैं" (**लॉज़, 654 B**)।

की रचना नहीं कर सकता जो राज्य द्वारा मान्य विधि तथा न्याय, सौंदर्य और श्रेय के विचारों के प्रतिकूल हों, और न कोई कवि अपनी रचना को उस समय तक प्रकाशित ही कर सकता है जब तक कि उसे संबद्ध न्यायाधीशों और विधि-संरक्षकों ने देख न लिया हो और उसका अनुमोदन न कर लिया हो (801 C—D)[1]। संगीत और नृत्य का भी इसी तरह से विनियमन होगा ; पचास वर्ष से अधिक आयु के न्यायाधीश अतीत के सर्वश्रेष्ठ नमूने चुनेंगे । वे कवियों और संगीतकारों की सलाह ले सकते हैं, पर उनका सर्वोच्च कर्त्तव्य विधिकर्त्ता की इच्छाओं की व्याख्या करना और उन्हें कार्यान्वित करना है (802 B—C)। नाटक जीवित रह जाता है, पर हीन स्थिति में। "गंभीर चीज़ों को हास्यास्पद चीज़ों से अलग करके नहीं समझा जा सकता" और इसलिए सुखांत नाटकों की अनुमति दी जा सकती है, पर दो शर्तों पर। एक तो यह कि नाट्य-प्रदर्शन का काम क्रीत दासों और अजनबी लोगों से लिया जाए (816 D—E) और दूसरे नागरिकों को उसके व्यंग्य का लक्ष्य कभी न बनाया जाए (935 E)[2]। दुखांत नाटकों के प्रति प्लेटो का व्यवहार और भी कठोर है। किसी भी दुखांत नाटक का प्रदर्शन उस समय तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उसे दंडनायकों के सामने प्रस्तुत न किया जाए और जब तक उनकी सम्मति में उसकी शिक्षा विधियों की शिक्षा के समान या उससे भी ज्यादा अच्छी न हो (817 D)। इन विनियमों में प्लेटो ने "दुराराध्य और सैद्धांतिक शासन–प्रणाली" का समर्थन करने की उसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है जिसका परिचय राजनीति के साहित्यिक विचारक तब से अब तक अकसर देते आए हैं[3]। प्लेटो में सिद्धांत को अति तक ले जाने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका सबसे आश्चर्यजनक लक्षण यह है कि जिस क्षेत्र को हम सहज रूप से प्लेटो का क्षेत्र समझते हैं, उसी क्षेत्र में वह सबसे अधिक निर्मम है। प्लेटो अपने संबंध में

---

1. (829 C—D) में प्लेटो ने एक और नियंत्रण का संकेत दिया है। उसका सुझाव है कि यशस्वी व्यक्तियों पर गीतों की रचना उन्हीं व्यक्तियों को करनी चाहिए (1) जिनकी आयु पचास वर्ष से अधिक हो ; और (2) जिन्होंने स्वयं भी अच्छे और नेक काम किए हों (जैसे वेलिंगटन के ड्यूक के निधन पर टेनीसन का गीत)। पर, अगर महान् ड्यूक के निधन पर पामर्स्टन गीत लिखने बैठ जाए, तो वह टेनीसन के गीत की तुलना में हेय काव्य तो होगा ही, उसमें नैतिक शक्ति भी कम होगी। परंतु प्लेटो यह भूल गया है, और स्वयं कवि होने के नाते यह भूल कर सकता है, कि कवि सहानुभूतिपूर्ण कल्पना की प्रतिभा से संपन्न होता है।
2. जो हास्य कवि या व्यंग्यकार नागरिक का मज़ाक उड़ाता है उसे निर्वासन का दंड मिलता है। इस नियम के अनुसार अरिस्टोफ़ेन्स का एथेंस से निर्वासन हो सकता था (तथापि, प्लेटो ने निर्वासन के विकल्प के रूप में तीन मिनाए के जुर्माने की अनुमति दी है। इससे अरिस्टोफेन्स भिखारी बन जाता)।
3. साहित्यकार की सिद्धांतप्रियता के गुण से संपन्न प्लेटो ने सामाजिक और कलात्मक जीवन में व्यवस्था का सौंदर्य तथा विनियमन का सम्मोहन भरने का प्रयत्न किया है। फिर भी, साहित्यकार सदा अपना नियमन नहीं करते और दूसरों के द्वारा अपना नियमन तो उन्हें बिलकुल भी अभीष्ट नहीं होता।

इस तरह का वक्तव्य अस्वीकार कर देता हैं। वह साहित्यकार नहीं है, विधिकर्त्ता है; और जिस तरह उसने **रिपब्लिक** के दसवें खंड में विधिकर्त्ता को होमर से ऊँचा माना है, उसी तरह उसने लॉज़ में विधिकर्त्ता तथा दंडनायक को संगीतकार तथा कवि से ऊँचा स्थान दिया है। विधि की न्याय-निष्ठा के प्रति उसका उत्साह उसकी कला के ऊपर—जिसके बारे में वह अचेत था—हावी हो गया है। प्लेटो ने कवि–धर्म त्याग कर विधिकर्त्ता का धर्म ग्रहण कर लिया था, अतः वह कवियों के प्रति निर्मम था।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ज़ाहिर है कि जहाँ तक प्लेटो के राज्य के तरुणों की शिक्षा का—कम से कम संगीत की शिक्षा का—संबंध है, उसने उनका शिक्षा-क्रम बड़ा नीरस रखा है। प्लेटो स्थिरता के लिए उत्सुक है और वह तरुणों के मार्ग से ऐसी हर चीज़ हटा देना चाहता है जो उन्हें भड़काए या बिगाड़े; पर उस पर यह आरोप लगाना अनुचित नहीं है कि अपनी इस उत्कंठा में वह उपक्रम के सोते सुखा डालता है और रुचि-स्वातंत्र्य का गला घोंट देता है और ये दोनों ऐसी चीज़ें हैं जिनकी किसी भी शिक्षा–प्रणाली को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए बल्कि जिन्हें उचित दिशा देनी चाहिए। इसका उतना महत्त्व नहीं कि हमें किन–किन चीज़ों की शिक्षा मिलती है; ज़्यादा महत्त्व इस बात का है कि शिक्षा की प्रक्रिया में हम किस तरह की मानसिक शक्ति का विकास करते हैं और नई रीतियों, नए लेखकों तथा नए संगीत के प्रति युवकों का उत्साह अंततः विकासशील मन का उदात्त उत्साह होता है। हम जो प्रौढ़ या बूढ़े हैं, यह जानते हैं कि "प्राचीन कविताओं में ऐसी अनेक कविताएँ होती हैं जो पुरानी होने पर भी अच्छी हों" (802 A); पर हर व्यक्ति को श्रेय की स्वयं तलाश करनी चाहिए और हर युवक अपने आप ही अपनी विशिष्ट खोज करना चाहेगा। जीवन में स्थिरता होनी चाहिए, किंतु इसके साथ ही उसमें विकास भी होना चाहिए और उसमें विकास तभी हो सकता है जबकि वह पुराने साँचे तोड़कर नए साँचे गढ़े। कला समाज-सेवा का साधन हो सकती हैं, किंतु अगर वह समाज-सेवा की बँधी-बँधाई धाराओं में प्रवाहित हुई, तो वह कला न रहेगी। नृत्य, गान और संगीत, कविता, नाटक और कला—ये सब बाधित जलधाराएँ नहीं, उन्मुक्त जलधाराएँ हैं जो पर्वतों के आंचल से फूट कर बह निकलती हैं और बहते–बहते अपनी राहें बनाती जाती हैं। यह सच है कि किसी मंडली विशेष की अपनी विलासितापूर्ण और विजातीय कला हो सकती है परंतु अगर यह कला बुरी है, तो जनसाधारण की रुचि—जिसमें प्लेटो का विश्वास नहीं था और जिसकी जगह उसने राज्य के विनियमों को रखने की कोशिश की—उसे मार डालेगी और उसे मरने के लिए छोड़ा जा सकता है।

(ख) शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण

प्लेटो ने निर्णय किया और उसका निर्णय राजकीय विनियमन के पक्ष में हुआ। उसके अनेक विनियमों से आज की पीढ़ी के लोगों की सहज असहमति है[1], फिर भी उसका सामान्य शिक्षा-सिद्धांत न केवल अपने समय के व्यवहार से काफ़ी आगे बढ़ा हुआ है, बल्कि कुछ दृष्टियों से वह हमारे युग के व्यवहार से भी आगे ही ठहरता है। आजकल के राज्यों की अपेक्षा प्लेटो ने अपने राज्य में शिक्षा को उच्चतर स्थिति और शिक्षा-मंत्री को उच्चतर पद दिया है। उसके राज्य में शिक्षा-मंत्री की आयु पचास वर्ष होगी, वह विवाहित होगा, उसके बच्चे होंगे और वह सारे दंडनायकों के निर्वाचक-मंडल द्वारा विधि-संरक्षकों में से चुना जाएगा। हम देख ही चुके हैं कि शिक्षा-मंत्री का पद सबसे बड़ा पद होगा और वह राज्य का 'प्रधान मंत्री' होगा। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि बच्चे उसके नियंत्रण में रहते हैं, और "यदि प्रकृति में किसी चीज़ का आरंभ शुभ हो और वह अपने स्वाभाविक उत्कर्ष की दिशा में सही ढंग से चले, तो इसका उसकी उचित परिणति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है" (765 E)। दूसरा कारण यह है कि उसका शिक्षा पर नियंत्रण रहता है, और "अगर व्यक्ति समुचित शिक्षा तथा प्रखर प्रतिभा

---

1. एक पीढ़ी आसानी से दूसरी पीढ़ी की आलोचना करती है; और प्लेटो की पीढ़ी तो हमारी पीढ़ी से तेईस शताब्दी दूर है। हो सकता है इस शताब्दी के अंत में हमारे पौत्र समाजवादी गणराज्य में रहें और प्लेटो तथा सारे बीते युग के बारे में वे हमसे बहुत भिन्न ढंग से विचार करें। कुछ भी हो, हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि प्लेटो ने अपनी पीढ़ी के लिए लिखा था, हमारी पीढ़ी के लिए नहीं। आजकल का महान् राज्य, जहाँ हर चीज़ विशाल पैमाने पर होती है, अपने ही बोझ से यांत्रिकता और एकरूपता की ओर प्रवृत्त होने लगता है। यूनान के छोटे-छोटे राज्य एक नवीनता-प्रेमी नागरिक या एक छोटी सी नई उद्भावना से क्षुब्ध हो सकते थे। अरिस्टाटल की **पॉलिटिक्स** के पाँचवें खंड में इस तरह के अनेक उदाहरण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, यूनानी राज्य उन अस्थिर-चित्त यूनानियों के घर थे, "जो सदा किसी न किसी नई चीज़ पर लट्टू रहते थे"।

से संपन्न हो, तो वह समूचे प्राणि-जगत् में सबसे अधिक दिव्य और सभ्य बन जाता है, पर अगर उसका शिक्षण उचित रीति से या उपयुक्त रीति से नहीं होता, तो वह धरती के सारे प्राणियों में सबसे अधिक दुर्धर्ष हो जाता है" (766 A)।

शिक्षा-मंत्री का कार्य है व्यायाम-शालाओं और विद्यालयों में प्रशासन तथा शिक्षा का संचालन करना, उपस्थिति का नियमन करना और इमारतों की देखभाल करना (764 D)। न्यायाधीश, या कहा जाए परीक्षक और निरीक्षक जिनका व्यायाम तथा संगीत दोनों में प्रतियोगिताओं पर नियंत्रण रहता है और जो पुरस्कार देते हैं, सीधे उसकी अधीनता में आते हैं। संगीत के दो परीक्षक होते हैं जिन्हें आम सभा में संगीत-प्रेमी व्यक्ति निर्वाचित करते हैं। इन लोगों को जुर्माने के डर से सभा में ज़बरन उपस्थित होना पड़ता है। संगीत-परीक्षकों के लिए संगीत का भी कुछ विशेष ज्ञान आवश्यक होता है। समझा जाता है कि व्यायाम के परीक्षक सभी लोग हो सकते हैं, अतः इसके तीन परीक्षकों को आम सभा द्वारा जिसमें पहले तीन वर्गों के सदस्य उपस्थित होने के लिए बाध्य होते हैं, दूसरे और तीसरे वर्गों के सदस्यों में से चुना जाता है (765 A—C)। इस प्रकार, जहाँ प्लेटो ने सही शिक्षा-मंत्री और सही परीक्षक तथा निरीक्षक पाने के संबंध में पर्याप्त विस्तार से विचार किया है, वहाँ उसने अध्यापकों को, ठेठ यूनानी अदा में, दो-चार शब्दों में ही चलता कर दिया है। वे आवासी विदेशी होंगे और उन्हें वेतन मिलेगा (804 C—D)। नागरिक से वैतनिक कार्य करने की उम्मीद नहीं की जा सकती। उसके लिए यह काम लज्जा-जनक होगा और न उससे यही उम्मीद की जा सकती है कि वह प्रारंभिक शिक्षा देने का कार्य करेगा क्योंकि प्रारंभिक शिक्षा के बारे में आज अँग्रेज़ों की जो सामान्य विचारधारा है, सामान्य यूनानी दृष्टि में वह उससे भी नीची श्रेणी की चीज़ मानी जाती थी—बशर्त्ते कि उससे नीचे कोई श्रेणी हो सकती हो। एथेंस में विद्यालय के शिक्षक का पद शिल्पी के पद की अपेक्षा नीचा था[1]; पर सम-सामयिक तथ्यों के आधार पर प्लेटो का दृष्टिकोण आसानी से समझा-समझाया भले ही जा सके, परंतु वह प्लेटो के गौरव के अनुकूल कदापि नहीं। यूनानी शिक्षा-सिद्धांत की एक त्रुटि यह है कि इसमें शिक्षक का महत्त्व और कार्य बिल्कुल नहीं समझा गया है। आधुनिक शिक्षा-सिद्धांत में चरित्र का विकास निर्धारित करने में वैयक्तिक अनुभावन (suggestion) की महत्ता स्वीकार की जाती है, शिक्षक का व्यक्तित्व जो असर डाल सकता है, उस पर ज़ोर दिया जाता है और शिक्षक की स्थिति को उन्नत करने तथा उसके

---

[1] फ्रीमैन ने **स्कूल ऑफ़ हेलास्** में पृ० 81 पर दो अवतरण उद्धृत किए हैं जिनमें से एक डी **कोरोना** (§315) से है और दूसरा लूसियन (**मेनिप्पस वेल नेकियोम,** §17) से। पहले अवतरण में डिमास्थेनीज़ ने यह ताना कस कर आएस्चाइन्स का अपमान करने का प्रयत्न किया है: "तुमने पढ़ना और लिखना सिखाया: मैं विद्यालय गया था"। दूसरे अवतरण में लूसियन ने उन भिक्षुकों की चर्चा की है "जो दरिद्रता से विवश होकर या तो मछलियाँ बेचते हैं या पढ़ने-लिखने की आरंभिक शिक्षा देते हैं"।

प्रशिक्षण में सुधार करने की आवश्यकता मानी जाती है—यही यूनानी शिक्षा-पद्धति से उसका भेद है[1]।

अगर शिक्षक के प्रति प्लेटो का व्यवहार यह सिद्ध करता है कि वह अपने युग के पूर्वाग्रहों की सीमाओं से बँधा हुआ है, तो अन्य क्षेत्रों में वह सम-सामयिक पूर्वाग्रहों से ऊपर उठ गया है। एथेनी माता-पिता अपने वच्चों को विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शिक्षकों के पास भेजते थे; प्लेटो ने एक ऐसे विद्यालय की पैरवी की है जिसमें सभी विषय पढ़ाने के लिए अध्यापक हों (804 D)। इस प्रस्ताव के पक्ष में कहने के लिए उसके पास कुछ नहीं फिर भी यह प्रस्ताव बहुत महत्त्व का है। जिस विद्यालय में सभी विषयों की शिक्षा एक अध्यापक-मंडल दे उस विद्यालय के शिक्षण में नए प्राणों का संचार होगा, पाठ्य-चर्याओं में अंतर्संबंध स्थापित होगा, उनमें व्यवस्था आएगी और उसके सदस्य समान स्वर तथा परंपरा से प्रभावित होंगे। कहा गया है कि यहाँ प्लेटो ने मध्य युग के ग्रामर स्कूल की पहले से रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है[2]। हम इतना अपनी तरफ़ से जोड़ सकते हैं कि उसने बहुत दूर से आज के पब्लिक स्कूल की भविष्यवाणी कर दी है क्योंकि उसके विद्यालयों के साथ व्यायाम-शालाएँ और खेल के मैदान भी लगे हुए हैं। प्लेटो ने जिस एक नई बात का और सुझाव दिया है, उसका भी कम महत्त्व नहीं है। एथेनी माता-पिता को आज़ादी थी चाहे अपने बच्चों को स्कूल भेजें, चाहे न भेजें। प्लेटो ने सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था की पैरवी की है, "बच्चे जितने माता-पिता के होते हैं, उससे अधिक राज्य के" (804 E)। प्लेटो ने एक नई बात और कही है (और यह उसका सबसे प्रचंड सुधार है): लड़कियों को लड़कों के समान ही शिक्षा मिलनी चाहिए। एथेंस में लड़कियों को घर की चहारदीवारी में रखा जाता था और उनकी शिक्षा का क्षेत्र भी बड़ा संकीर्ण होता था। प्लेटो उन्हें खुली हवा में लाना और राज्य के समान जीवन में भागीदार बनाना चाहता है। सच पूछा जाए तो प्लेटो ने सह-शिक्षा की पैरवी नहीं की; पर उसने इस बात की निश्चित रूप से पैरवी की है कि व्यायाम तथा संगीत में लड़के-लड़कियों को एक-सा प्रशिक्षण प्राप्त हो।

---

[1] प्लेटो ने शिक्षक के लिए केवल एक चीज़ ज़रूरी ठहराई है—उसे लॉज़ में दिए गए उपदेश याद करने चाहिएँ और उनका अनुमोदन करना चाहिए (811 D)।

[2] बर्नेट, **ग्रीक फिलॉसफ़ी**, पृ० 311। प्लेटो का सुझाव है कि विद्यालयों और व्यायाम-शालाओं की तीन श्रेणियाँ तो नगर के बीचो-बीच हों (हम सोच सकते हैं कि वे एक दूसरे के समानांतर हों) तथा व्यायाम-शालाओं और खेलों के मैदानों की तीन श्रेणियाँ जिनमें घुड़सवारी और तीरंदाज़ी की जा सके, नगर के बाहर (804 B)।

(ग) लॉज़् में प्रारंभिक शिक्षा का विधान

लॉज़ में प्रारंभिक शिक्षा की जिस योजना का प्रस्ताव किया गया है, वह पालने से ही आरंभ हो जाती है। जब तक बच्चे तीन साल के न हो जाएँ, तब तक नर्सों को उन्हें अपनी बाहों में रखना चाहिए। अगर बच्चों को बहुत जल्दी अपने पैरों पर चलने के लिए विवश कर दिया गया, तो उनकी उठान सीधी नहीं होगी, और जब तक उन्हें चारों ओर घुमाया नहीं जाता और ऊपर-नीचे नहीं किया जाता— (मानो वे सदा 'कठिन स्थिति में हों'), तब तक न तो उनका शरीर पुष्ट होगा, न वे अपना भोजन पचा सकेंगे (789 D), न उनके स्वभाव में शांति आएगी और न वे डर के दौरों से छुटकारा पा सकेंगे। इस तरह के डर से छुटकारा तभी मिलता है जब शरीर को धीरे-धीरे हिलाया-डुलाया जाए (791 A)। चीखना-चिल्लाना और उछलना-कूदना बढ़ते हुए बच्चे की निशानी है। यह चीख-चिल्लाहट और उछल-कूद ही मात्रा और स्वर के प्रभाव से धीरे-धीरे गाने और नृत्य की दिशा में मोड़ी जानी चाहिए (664 E—665 A)। इसके साथ ही, पहले तीन सालों में बच्चों से न तो ज़्यादा लाड़-प्यार किया जाना चाहिए और न उन्हें बहुत अधिक ताड़ना दी जानी चाहिए। सही स्थिति बीच की स्थिति है जिसमें न तो हर चीज़ बच्चे को खुश करने के लिए की जाए, न उसके साथ अनावश्यक सख्ती बर्ती जाए (792 C—D)। तीन साल के बाद इच्छा-शक्ति दिखाई पड़ने लगती है और दंड देना शुरू किया जा सकता है। खेल भी ज़रूरी होते हैं, किंतु इस आयु के बच्चों में मनोविनोद का सहज तरीका पाया जाता है और ये बच्चे जहाँ भी इकट्ठे होते हैं, अपने लिए कोई न कोई खेल निकाल ही लेते हैं (793 E—794 A)[1]। नर्सों को चाहिए कि वे इस आयु के बच्चों को गाँव के मंदिरों में ले जाएँ; जब बच्चे खेलते हों, तब उन्हें अनुशासन में रखें; राजकीय निरीक्षिकाओं को चाहिए कि वे नर्सों को अनुशासन में

---

[1] प्लेटो ने खेलों के नियमन के बारे में जो सुझाव दिया है, वह स्पष्ट रूप से जरा बड़ी उम्र के बच्चों के लिए है।

रखें और सामान्य रूप से विधि-निषेधों का पालन कराएँ[1]। छह वर्ष की उम्र में लड़के-लड़कियों को एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है : लड़के लड़कों के साथ मिलें-जुलेंगे और लड़कियाँ लड़कियों के साथ (794 C)। अब अध्ययन आरंभ होता है, पर सिर्फ़ शारीरिक व्यायाम के रूप में। लड़कों को घुड़सवारी, तीरंदाज़ी और गोफन चलाना सिखाया जाता है। यही कसरतें लड़कियों को सीखनी पड़ती हैं। प्लेटो ने इन कसरतों के, सामान्य रूप से व्यायाम के, सैनिक उद्देश्यों पर ज़ोर दिया है। 'खेलों' को इस तरह नहीं खेलना है मानो वे ज्यादा अच्छे सिपाही और नागरिक बनाने के साधन हों[2]। यही कारण है कि लड़कियों को भी उतनी ही शिक्षा मिलनी चाहिए जितनी कि लड़कों को। प्लेटो के राज्य में महिलाएँ भी एक दिन पुरुषों के समान ही देश के लिए युद्ध करेंगी।

---

1. बच्चों के सामाजिक संपर्क की इस व्यवस्था के साथ किशोरों और किशोरियों के नियमित मिलन-स्थलों के बारे में प्लेटो के सुझाव (पीछे अध्याय 14—घ देखिए) की तुलना की जा सकती है। यह भी अपने ढंग से आधुनिक किंडरगार्टन के समान है।
2. अगर प्लेटो ने व्यायाम-शिक्षण के सैनिक प्रयोजन पर ज़ोर दिया है, तो इस का कारण यह नहीं है कि वह सैन्यवादी है (पीछे अध्याय 13—ग से तुलना कीजिए); वह इस बात के लिए उत्सुक है कि व्यायाम में व्यायाम की खातिर ही अति न हो (जैसी कि यूनान में प्रवृत्ति थी), बल्कि उसका एक प्रयोजन हो और वह इस प्रयोजन द्वारा मर्यादित और नियंत्रित हो।

(घ) लॉज़ में माध्यमिक शिक्षा का विधान

शारीरिक व्यायाम और विकास का समय दस वर्ष की आयु तक रहता है। प्लेटो ने यह कहीं नहीं बताया कि इसके साथ संगीत की शिक्षा भी चलेगी या नहीं पर, यह मानना उचित होगा कि प्लेटो ने जिन अन्य व्यायामों का उल्लेख किया है, उनके साथ नाच-गान भी चलता रहेगा। दस वर्ष की आयु होने पर शिक्षा का वह सोपान आरंभ हो जाता है जिसे शायद माध्यमिक शिक्षा-सोपान कहा जा सकता है[1]। अब मंच पर बच्चा नहीं बल्कि स्कूली लड़का आ गया है। यह लड़का सारे प्राणियों में सबसे अधिक दुर्निवार होता है क्योंकि अव्यवस्थित और अस्थिर विचार का स्रोत होता है (जो अन्य प्राणियों के भीतर नहीं होता) और उसमें धूर्तता, सतर्कता तथा धृष्टता कूट-कूट कर भरी होती है (808 D)। उस पर कठोर नियंत्रण रखने की आवश्यकता होती है। एक अध्यापक उसे स्कूल ले जाएगा और उसके आचरण पर निगरानी रखेगा; अध्यापकों और अध्ययन के द्वारा उसका वैसे ही सुधार-संस्कार होगा, जैसे स्वतंत्र व्यक्तियों का सुधार–संस्कार होता है; और प्लेटो ने प्रत्येक नागरिक को इस बात तक का अधिकार दिया है कि वह उसे (और उसके अध्यापक तथा शिक्षक तक को) उसी तरह ठीक करे "जिस तरह लोग दासों को ठीक करते हैं"। उसे पौ फटने तक उठकर स्कूल रवाना हो जाना

---

[1] पहली अवस्था, जो छह से दस वर्ष तक चलती है, प्रारंभिक अवस्था कही जा सकती है और यह तीन से छह वर्ष तक की किंडरगार्टन अवस्था के बाद आती है। यद्यपि इस अवस्था को प्रारंभिक अवस्था कहा जा सकता है, पर हमें याद रखना चाहिए कि इसमें पढ़ना, लिखना और हिसाब सीखना शामिल नहीं है। प्लेटो ने सदा व्यायाम-शिक्षण की अवधि हमसे बहुत अधिक रखी है। और यही बाद में अरिस्टाटल ने भी किया। इसी तरह हमें याद रखना है कि दस से सोलह वर्ष तक का माध्यमिक शिक्षा-सोपान कुछ दृष्टियों से हमारे प्रारंभिक शिक्षा-सोपान के अनुरूप है। इसमें पढ़ना, लिखना और हिसाब सीखना तो शामिल है ही, ज्यामिति, कुछ खगोल विज्ञान और संगीत का भी समावेश है।

चाहिए (प्लेटो ने लिखा है कि हममें से अधिकतर लोग बहुत सोते हैं। संभवतः, प्लेटो के इस विचार का कारण यह रहा हो कि उसे अपने बुढ़ापे में नींद कम ज़रूरी लगती होगी)। ज़िंदगी थोड़ी-सी है और पूर्ण शिक्षा, यहाँ तक कि संतोषजनक शिक्षा भी, बहुत समय चाहती है। यह "सारे प्राणियों में सबसे अधिक दुर्निवार" प्राणी को कष्टसाध्य और अरुचिकर लग सकती है ; लेकिन व्यवहार में प्लेटो स्कूली लड़के से बहुत अधिक माँग नहीं करता। उसे साहित्य का अनुशीलन करना चाहिए और इसलिए पढ़ना-लिखना सीखना चाहिए ; उसे विपंची की कुछ जानकारी प्राप्त करनी चाहिए ; हिसाब-किताब पर उसका अधिकार होना चाहिए। इनमें अंकगणित, तथा ज्यामिति के वे सारे तत्त्व आ जाते हैं जिनकी युद्ध, गृह–प्रबंध तथा नागरिक कार्यों में आवश्यकता पड़ती है ; और उसे खगोल-विज्ञान की भी कुछ आरंभिक बातें आनी चाहिएँ जिनसे पंचांग समझने में मदद मिलती है (809 D)। अस्तु, इस शिक्षा–सोपान में तीन विषय रहते हैं—साहित्य, संगीत, और आरंभिक गणित। साहित्य का अध्ययन तीन वर्ष तक यानी दस से तेरह वर्ष की आयु तक चलेगा। संगीत का अध्ययन तेरह वर्ष की आयु पर आरंभ होगा और सोलह वर्ष तक चलेगा। प्लेटो ने यह नहीं बताया कि संगीत का अध्ययन किस आयु पर आरंभ होगा, पर गणित के अध्ययन की भाँति वह भी सोलह वर्ष की आयु पर समाप्त होगा। साहित्य के अध्ययन में दो बातें शामिल हैं—पढ़ना और लिखना सीखना तथा यूनानी साहित्य के गौरव-ग्रंथों को कंठस्थ करना। यह ज़रूरी नहीं है कि कष्ट सह–सह कर लेखन के क्षेत्र में पूर्णत्व प्राप्त किया जाए—यहाँ हमें बताया गया है कि शिक्षा-व्यवहार में भेद है। कुछ लोग चाहते हैं कि लड़के कवियों के सारे के सारे काव्य-ग्रंथों को कंठ कर लें और कुछ चाहते है कि वे उनके चुने हुए अंशों को ही याद करें (810 E—811 A)। प्लेटो का झुकाव दूसरी प्रथा की ओर है। कवियों ने सभी चीज़ें ठीक नहीं कही हैं (यह बात **रिपब्लिक** में पहले ही कही जा चुकी है) और अगर यह स्थिति है, तो कविता का अधिक अध्ययन युवकों के लिए खतरनाक है। पर कविता के अलावा गद्य भी है। यह कठिन विषय है। गद्य में अनेक खतरनाक रचनाएँ हैं। कल्पना की जा सकती है कि यहाँ संकेत वैज्ञानिकों और सोफ़िस्टो की रचनाओं की ओर है। प्लेटो ने इतिहासकारों का कहीं उल्लेख नहीं किया है। प्लेटो, जो विधिकर्त्ता के गौरव-गान के लिए सदा प्रस्तुत है, इस कठिनाई का तत्काल समाधान निकाल लेता है। लॉज़ में दिए गए प्रवचन बहुत उच्च कोटि के हैं ; शिक्षा-मंत्री के सामने इनसे अच्छा कोई नमूना नहीं रखा जा सकता ; और अगर शिक्षकों से कहा जाए कि वे शिक्षा देने का अधिकार पाने से पहले इन प्रवचनों का या इसी तरह के अन्य प्रवचनों का अध्ययन करें और उनकी संस्तुति करें तथा शिष्यों से कहा जाए कि वे इन प्रवचनों को अपने शिक्षकों से सीखें-समझें, तो अच्छा ही रहेगा (811 D—E)। इस तरह उन्हें विधियों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाएगा और विधियों की अंतरात्मा का भी और वे नागरिक उत्कर्ष की राह पर—जो शिक्षा का साध्य है—हँसते-मुस्कराते अपने क़दम बढ़ा सकेंगे[1]।

---

[1] फ्रीमेन (स्कूल्स आफ हैलास्, पृ० 109—212) ने लिखा है कि संभवतः

जहाँ तक संगीत का संबंध गान और नृत्य से होता है, उसका अध्ययन दस वर्ष की आयु से पहले ही हो चुकता है । तेरह वर्ष की आयु से वाद्य संगीत का अध्ययन आरंभ हो जाता है । प्लेटो ने यह नहीं बताया कि लड़कों (और लड़कियों) को विपंची-वादन की शिक्षा दी जाए, या उसके विभिन्न सुर मिलाने की और दूसरों के विपंची-वादन को समझने की ही शिक्षा दी जाए ; पर एक बात के संबंध में उसकी सम्मत्ति स्पष्ट है—लड़के-लड़कियाँ जिस संगीत का अभ्यास करें, वह सरल होना चाहिए और उसमें ऐसी कोई उलझनें नहीं होनी चाहिएँ कि "तारों से तो एक तरह के स्वर निकलते हों और सुरकार ने दूसरी ही तरह के स्वर दिए हों" । प्लेटो चाहे गीतों के संबंध में विचार कर रहा हो, चाहे वाद्य संगीत–के, उसे सबसे अधिक चिंता यह रहती है की सारी संगीत-रचनाएँ नैतिक दृष्टि से उपयुक्त होनी चाहिएँ (812 C) । संगीत-रचनाएँ अनुकृतियाँ होती हैं और उनमें मनोदशाओं अथवा मनोरागों का अनुकरण होता है । अस्तु, मनोरागों की संगीतात्मक अनुकृति की श्रोता के मन पर प्रतिक्रिया होती है और श्रोता के मन में भी वैसे ही राग का उन्मेष या संचार हो उठता है । अगर वह मन की किसी साधु प्रकृति की अनुकृति हुई, तो वह श्रोता को ललकारती है और उनका आह्वान करती है कि वह अपने मूल रूप के अनुकूल बने, वह अनुकृति से प्रभावित होकर सच्ची साधुता के अर्जन में जुट जाए (812 B)[1] । मन में सहानुभूति की प्रवृत्ति जगाने में संगीत विशेष रूप से प्रभावशाली रहता है क्योंकि वह अनुकरणात्मक कलाओं में सर्वश्रेष्ठ होता है । इसके दो कारण हैं । पहला कारण तो यह है कि संगीत जो अनुकृतियाँ प्रस्तुत करता है, वे मूल के सबसे निकट होती हैं और वे मूल को पूरी सजीवता और सच्चाई के साथ पेश करती हैं । दूसरा कारण यह है कि संगीत सबसे अधिक सुख देता है और चूँकि वह जिस मूल का अनुकरण करता है, उसके साथ सुख का घनिष्ठतम संबंध स्थापित कर देता है, अतः वह हमें उस मूल को चाहने की और उसका अनुकरण करने की भी सबसे अधिक प्रेरणा

एथेंस के सगीत-शिक्षक एथेनी विधियों के "संगीत में ढले हुए छंदोबद्ध रूप की शिक्षा दिया करते थे जो सोलीन-प्रणीत माना जाता था" और उसने प्लेटो के **प्रोटेगोरस** (326 D) से यह वक्तव्य उद्धृत किया है कि "जब लड़के स्कूल छोड़ते हैं, तब नगर उन्हें विधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करता है" । यहाँ प्लेटो के ध्यान में शायद प्रस्तावनाएँ हैं, विधियाँ नहीं, और इनमें से कुछ प्रस्तावनाएँ श्रेष्ठ रचनाएँ हैं ।

[1] इस समूची प्रक्रिया में तीन सोपान या तत्त्व हैं : (1) मूल प्रवृत्ति, ; (2) संगीतात्मक अनुकृति ; और (3) सहृदय के मन में उठने वाली प्रवृत्ति जो संगीतात्मक अनुकृति के प्रभाव से उत्पन्न होती है । संगीत तथा उसके नैतिक स्वरूप का तर्क लॉज़ के दूसरे खंड में, विशेषकर 667—8 में, दिया गया है (जिस तरह लॉज़ का दसवाँ खंड धर्म-खंड है, उसी तरह दूसरा खंड संगीत-खंड है) । संगीत के प्रभाव के संबंध में **प्रोटेगोरस** में और निश्चय ही **रिपब्लिक** में इसी तरह का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है (326 A—B) । यहाँ यह और कह दिया जाए कि अरिस्टाटल ने पॉलिटिक्स (खंड VIII) में प्लेटो के सामान्य शिक्षा-सिद्धांत की तरह उसके संगीत-सिद्धांत को भी अंगीकृत और रूपांतरित किया है ।

देता है। स्वभाव-निर्माण का संगीत से बढ़ कर और कोई साधन नहीं है। लोगों की भावनाओं में विधियों की अंतरात्मा का स्वर फूंकने के लिए भी इससे बढ़कर कोई और शक्तिशाली तत्त्व नहीं है (859 D—E)। पर, अगर प्रेरणा की धाराओं में यह सबसे अधिक सप्राण है, तो यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस पर नियंत्रण रखा जाए और इससे सही प्रेरणा दिलाई जाए। उसका मूल्यांकन उसके सौंदर्यात्मक वैशिष्ट्य के आधार पर—यानी वह जो सुख देता है, उसके आधार पर—नहीं होना चाहिए क्योंकि सुख तो उसके व्यापार का एक संयोग या सहचर मात्र होता है। उसकी परख की कसौटी तो यह होनी चाहिए कि उसने जिस मूल का अनुकरण किया है, उसका नैतिक मूल्य-महत्त्व क्या है और उसका क्या नैतिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए लॉज़ के राज्य में जिस संगीत की शिक्षा दी जाएगी, वह संगीत ऐसा होना चाहिए जिसमें स्वस्थ नैतिकता का पुट हो (659 A)। और यही कारण है कि प्लेटो संगीत-रचनाओं के मूल्य-महत्त्व की जाँच करने के लिए पचास वर्ष से अधिक आयु के न्यायाधीशों की संस्था स्थापित करना और मिस्र के ढंग पर सदा के लिए उनके प्रकार स्थिर कर देना चाहेगा।

गणित के अध्ययन पर विस्तार से विचार करते समय (817 E—822 B) प्लेटो के मन में यह धारणा रही है कि उसके गहन अध्ययन में सब लोगों के नहीं केवल कुछ ही लोगों, अनुमानतः नैश परिषद् के तरुण सहयोगियों, के ही प्रवृत्त होने की आवश्यकता है। गणित का अध्ययन उसी सीमा तक होना चाहिए, "जहाँ तक आवश्यक हो" और ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि उसका अध्ययन उसी सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक वह व्यवहारिक रूप से युद्ध, गृह-प्रबंध और नागरिक कार्यों में उपयोगी हो। पर प्लेटो— अकादमी में गणित का शिक्षक और संख्या तथा उसके गुणों का मसीहा प्लेटो—इस सीमा से अधिक समय तक संतुष्ट नहीं रह सकता था। जल्दी ही वह शिकायत कर उठता है कि मिस्र ने यूनान को लजा दिया है। मिस्र के बच्चे वर्णमाला सीखने के साथ ही गणित का अध्ययन शुरू कर देते हैं : वे संख्याओं में क्रीड़ा करते हैं और अपने खेलों तक में गणित को ले जाते हैं : उनके अध्यापक बचपन में ही उन्हें ज्यामिति के अज्ञान से छुटकारा दिला देते हैं जो मानव-मन का सहज गुण प्रतीत होता है, परंतु जो उतना ही उपहासास्पद भी है जितना अपमानजनक। मिस्रियों की तुलना में यूनानी तो इंसान तक कहलाने लायक नहीं हैं ; उनमें सूअरों की सी मूढ़ता होती है (819 D)। उदाहरण के लिए वे भूल से यह सोचने लगते हैं कि ज्यामिति में तीनों विमाएं सदा सम्मेय होती हैं : उन्हें असम्मेयता की समस्या का तनिक भी ज्ञान नहीं होता। लगता है कि यहाँ प्लेटो ज्यामिति के ऐसे ज्ञान की माँग कर रहा है जो व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे की चीज़ है और जब प्लेटो खगोल-विज्ञान पर विचार करने लगता है, तब वह इस सीमा को और भी पीछे छोड़ देता है। उसने यूनानियों पर आरोप लगाया है कि वे अपने अज्ञान-मद में महान् देवताओं, सूर्य और चंद्र को भी बुरा-भला कहते हैं। वे उन्हें तथा अन्य नक्षत्रों को ग्रह अथवा अनियमित पर्यटक कहते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि इन नक्षत्रों की गति में भले ही कुछ अनियमि-

तता दिखाई पड़ती हो, फिर भी वे अपने नियमित वृत्ताकार परिक्रमा-पथों में संचरण करते रहते हैं (821 B—822 A)। जिस प्लेटो का यह विश्वास रहा हो कि नक्षत्रों के नियमित परिक्रमा-पथ से एक निदेशक मानस के अस्तित्व का परिचय मिलता है और ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है, उसके लिए यह चीज भूल से कुछ अधिक थी—अपलेख (libel) से भी अधिक थी : यह तो धर्मद्रोह (blasphemy) थी। सच्चे धर्म के लिए सच्चे खगोल-विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता होती है और यह अध्ययन उस सीमा तक होना चाहिए जहाँ पहुँचकर छात्र "ईश्वर की सत्ता और उसके प्रभाव" का दर्शन करने लगे। "अगर, यह सच है कि नक्षत्र वास्तव में वृत्ताकार परिक्रमा-पथों में संचरण करते हैं—और यह प्रमाणित भी हो सकता है—तो खगोल-विज्ञान का उतना अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए जितना इस सत्यबोध के लिए आवश्यक हो" (822 C)। इसलिए, अंत में, प्लेटो ने खगोल-विज्ञान का ज्ञान केवल पंचांग समझने के लिए ही आवश्यक नहीं ठहराया ; उसने खगोल-विज्ञान का ज्ञान अपने पंथ के बुनियादी सत्य को समझने के लिए भी आवश्यक ठहराया है[1]। हमें यह मान लेना चाहिए कि जिस अवधि में साहित्य, संगीत तथा गणित का अध्ययन होता है, उसमें व्यायाम का वह शिक्षण भी निरंतर चलता रहता है जो छह वर्ष की आयु में आरंभ होकर गान तथा नृत्य के साथ छह से दस वर्ष की आयु तक जारी रहता है। माध्यमिक शिक्षा-काल में लड़के-लड़कियाँ प्रायः ऑफ़ीसर्स ट्रेनिंग कोर में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, वे तीर और गाफन चलाना सीखते हैं, उन्हें हल्का और भारी दोनों तरह का सामान लेकर पैदल चलने की कवायद कराई जाती है : उन्हें दांव-पेचों, मोर्चों और शिविरों का अभ्यास कराया जाता है (813 D—E)। हमें बताया गया है कि इस सबको व्यायाम कहा जा सकता है ; और चूंकि व्यायाम शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है, अतः हम कह सकते हैं कि सैनिक प्रशिक्षण प्लेटो की शिक्षा-योजना का एक अनिवार्य अंग है। यदि उन थोड़े से लोगों को छोड़ दिया जाए जो गणित का उच्च अध्ययन करते हैं तो लगता है कि सोलह वर्ष की आयु में शिक्षा पूरी हो जाती है ; लगता है कि आगे के प्रशिक्षण का कम से कम कोई संकेत नहीं है। फिर भी, कोई नौजवान पच्चीस वर्ष की आयु तक विवाह नहीं कर सकता (722 E) और पच्चीस वर्ष की आयु से पहले कोई नौजवान ग्राम-निरीक्षकों का सहयोगी बन कर उनके साथ यात्रा भी नहीं कर सकता (760 C)। प्लेटो ने सोलह और पच्चीस वर्ष की आयु के बीच की खाइयाँ ही छोड़ दी हैं और हम यह मान भी लें कि बीच के इस समय

---

[1] लॉज के उपर्युक्त अवतरण (821 B—822 C) ने यह रोचक तथा जटिल प्रश्न खड़ा कर दिया है कि क्या कोपर्निकस के पहले ही प्लेटो कोपर्निकस के मत का प्रतिपादन कर चुका था और क्या उसका विश्वास यह था कि पृथ्वी एक परिक्रमा-पथ में सूर्य के चारों ओर घूमती है ? शायद हमारा यह सोचना ठीक ही है कि प्लेटो मानता था कि पृथ्वी चलती है पर प्रश्न है—क्या उसका यह भी विश्वास था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है ? इस संबंध में कुछ कहना कठिन है। अगली सदी में सेमॉस के अरिस्टार्कस का निश्चित रूप से यही विश्वास रहा था (बर्नेट की **ग्रीक फ़िलॉसफ़ी** के पृ० 347—48 से ; और रिटर की कमेंट्री के पृ० 228—50 से तुलना कीजिए)।

में अधिकतर सैनिक प्रशिक्षण दिया जाएगा, तो भी इस खाई का पटना कठिन है। यह बात और भी समझ में नहीं आती कि प्लेटो ने ग्राम-निरीक्षकों के सहकर्मियों की आयु इतनी ऊँची यानी पच्चीस वर्ष क्यों रखी है। एथेंस में अठारह वर्ष की आयु के तरुण वयस्क मान लिए जाते थे (कम से कम वे संपत्ति के स्वामी तो मान ही लिए जाते थे) और आगे के दो वर्षों में जब उन्हें एफेब* कहा जाता था, तब वे सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। इस प्रशिक्षण के संबंध में हमारी जानकारी के दो आधार हैं: चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के शिलालेख और साहित्यिक साक्ष्य। ये दोनों चीज़ें प्लेटो के परवर्त्ती युग की हैं। इस साक्ष्य से हमें ज्ञात होता है कि प्रत्येक कबीले के एफेब अनुशासनिक पदाधिकारी के नियंत्रण में रह कर पहले साल तो एथेंस के पास-पड़ोस में रक्षक-सैनिक का कार्य करते थे और दूसरे साल वे पेरीपोली के नाम से एटिका में और एटिका के सीमांतों पर गश्त लगाया करते थे। अपने दो वर्ष के प्रशिक्षण-काल में प्रत्येक कबीले के एफेब एक साथ भोजन करते थे और प्रत्येक टुकड़ी के अनुशासनिक अफ़सर को अपनी कमान में काम करने वाले हर व्यक्ति के लिए भत्ता मिलता था और वह आवश्यक राशन का प्रबंध करता था[1]। इस व्यवस्था में तथा ग्राम-निरीक्षकों और उनके सहकर्मियों की यात्राओं में—जिनकी ओर प्लेटो ने लॉज़ (760 B—663 C) में संकेत किया है—स्पष्ट सादृश्य हैं। प्लेटो की व्यवस्था में बारह कबीलों में से हर कबीला प्रत्येक कबीले के पाँच ग्राम-निरीक्षकों के सहकर्मियों के रूप में साठ नौजवान देता है: निरीक्षक और उनके सहकर्मी लगातार दो वर्षों में देहात की दो बार गश्त लगाते हैं—वे हर साल एक-एक महीने हर कबाइली प्रदेश में रहते हैं। वे एक साथ भोजन करते हैं और एक-दूसरे की हाजिरी बजाते हैं। सहकर्मी सैनिक अनुशासन में रहते हैं: छुट्टी मिलना मुश्किल होता है और छुट्टी के बिना अनुपस्थित होना गंभीर अपराध है। गश्ती दल के कार्य कुछ हद तक तो सैनिक होते हैं और कुछ हद तक असैनिक। खाइयाँ खोद कर और किलेबंदी करके उन्हें सीमांतों की रक्षा करनी होती है; सैनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर सड़कें ठीक रखनी होती हैं; जल के प्रवाह पर नियंत्रण रखना होता है और सिंचाई के उचित साधनों की खोज करनी पड़ती है। इस सारी व्यवस्था के दो उद्देश्य हैं—गश्ती दल के सदस्यों को रणक्षेत्र-सेवा तथा देश के सैनिक भूगोल की जानकारी देना; समुचित सैनिक और असैनिक इंजीनियरी द्वारा देहात के सौंदर्य में वृद्धि करना। एथेनी पद्धति के साथ इसकी जो समानताएँ हैं, उनकी अलग-अलग व्याख्याएँ की जा सकती हैं। हमने एथेनी पद्धति का जिस रूप में वर्णन किया है, अगर प्लेटो

---

* यूनान में 18 से 20 वर्ष तक की वय के नागरिक को एफेब कहा जाता था।

[1] ब्यूरी ने **हिस्ट्री ऑफ़ ग्रीस** के पृ० 826—8 पर और फ्रीमेन ने **स्कूल्स ऑफ़ हेलास** के अध्याय VIII में एफेब्रों की संस्था का वर्णन किया है। यह उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय की पाठ्य-चर्या की रूपरेखा सबसे पहले प्लेटो ने **रिपब्लिक** में प्रस्तुत की थी पर "प्रथम विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय" एथेनी एफीबेट को है, प्लेटो की अकादमी को नहीं। जब ऐफीबेट ने सैनिक व्यवस्था से निकल कर विश्वविद्यालय की शिक्षा-व्यवस्था का रूप धारण किया, तभी उसने "पहले विश्वविद्यालय को जन्म दिया था" (फ्रीमेन, पू० कृ०, पृ० 220)।

के जीवन-काल में वह उसी रूप में प्रचलित थी, तो फिर प्लेटो ने लॉज़ में उसका अनुकरण किया है। दूसरी ओर, अगर इस व्यवस्था का प्लेटो के बाद आविर्भाव हुआ हो और अगर उसमें केरोनिया युद्ध (ई० पू० 338) के कुछ बाद के एथेनी पुनरुत्थान का संकेत मिलता हो, तो एथेंस ने प्लेटो द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था का अनुकरण किया और प्लेटो का एक सुझाव उसकी मृत्यु के कुछ वर्षों के भीतर ही उसके नगर में कार्यान्वित कर दिया गया[1]। एथेनी एफीबेट ने अंत में एथेंस विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया ; पर प्लेटो के **लॉज़** में जिन समांतर संस्थाओं का वर्णन है, उन्हें विश्वविद्यालय शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत रखना मुश्किल है। **लॉज़** में प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा का वर्णन है, अंतिम अवस्थान का वर्णन उसमें नहीं किया गया। यह सही है कि प्लेटो ने **लॉज़** के अंत में शिक्षा-विषय के संबंध में कुछ इस तरह के विचार प्रकट किए हैं "मानो उसे तर्क द्वारा फिर से उठाया गया हो"। यह क्यों किया गया है, इसका हम पहले ही स्पष्टीकरण कर चुके हैं। उसने नैश परिषद् का आविष्कार किया है ; उसने उन शास्त्रों की चर्चा की है जिनका उसके सदस्यों को अध्ययन करने की ज़रूरत पड़ेगी। अब तो उच्चतर अध्ययन के या विश्वविद्यालय स्तर के उन विषयों का कुछ विवरण देना शेष रह गया है जो **रिपब्लिक** के सातवें खंड में दिए गए उच्च अध्ययन-क्रम के अनुरूप हो। पर न तो **लॉज़** पूरा हुआ, न यह विवरण दिया गया। हम दोनों संवादों की तुलना इसी नाते कर सकते हैं कि उनमें समान विषय-वस्तु का विवेचन हुआ है और दोनों का ही संबंध शिक्षा के प्रारंभिक अवस्थानों से है। **रिपब्लिक** की तुलना में **लॉज़** में कहीं अधिक विवरण हैं और उसके सिद्धांत भी अनेक दृष्टियों से कहीं अधिक व्यावहारिक हैं। प्लेटो ने मूल सिद्धांतों के क्षेत्र में कम विचरण किया है। उसे श्रेय के भाव के बारे में कुछ नहीं कहना, यथार्थ बच्चे के बारे में बहुत कुछ कहना है। उसकी दिलचस्पी बच्चे के क्रिया-विज्ञान (physiololgy) में है, उसके मनोविज्ञान में है। उसने शिशु से लेकर स्कूली बच्चे तक और स्कूली बच्चे से लेकर नौजवान तक उसके विकास का वर्णन किया है। संगीत के तत्त्व पर उसने गंभीरता से विचार किया है : गणित में उसकी दिलचस्पी है, भावों की प्रस्तावना के रूप में नहीं, बल्कि उसके व्यावहारिक प्रयोग में तथा मानव-जीवन पर उसके प्रभाव में। उसने नियमित

---

[1] **विलामोवित्ज़** का यही विचार है, **स्टाट उंद गैसेलस्चाफ़्ट**, पृ० 127। केरोनिया की विनाश-लीला के बाद प्लेटो ने **लॉज़** में जो निर्देश दिया था, उसे ध्यान में रख कर, एथेंस ने अपने तरुणों को दो वर्षों के कठोर सैनिक सेवा-क्रम द्वारा, अनुशासन में बाँधने का प्रयत्न किया (**अरिस्टाटेलीज़ उंद एथेन**, 1, 191 और क्रमशः से भी तुलना कीजिए)। ब्यूरी का भी यही विचार है। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि जहाँ तक प्लेटो के अपने निर्देशों का संबंध है, वे स्पार्टा के प्रति हैं, एथेंस के प्रति नहीं। उसने ग्राम-निरीक्षकों तथा उनके सहकर्मियों को गुप्त पुलिस कहा है (हालाँकि उसने यह भी कह दिया है कि नाम का कोई महत्त्व नहीं है, 763 B) और इससे स्पार्टा की गुप्त पुलिस का संकेत मिलता है जिसके अधिकारी अठारह से बीस वर्ष तक की आयु में स्पार्टा के देहात में गश्त लगाया करते थे और हैलटों के ऊपर निगरानी रखा करते थे (**लॉज़**, 633 C से तुलना कीजिए)।

सैनिक प्रशिक्षण की विस्तृत व्यवस्था का निरूपण किया है। उसने शैक्षिक प्रशासन की ओर काफ़ी ध्यान दिया है और लॉज़ की सबसे ग्राह्य या शायद सबसे मूल्यवान् देन यह है कि उसमें संगठित विद्यालय की पैरवी की गई है, अनिवार्य शिक्षा में आस्था प्रकट की गई है और लड़कियों की शिक्षा का समर्थन किया गया है।

लॉज़ में शिक्षा के विवेचन से प्रकट होता है—और लॉज़ में अन्य अनेक विषयों के विवेचन से भी वही स्पष्ट होता है—कि बुढ़ापे में भी प्लेटो के पास व्यावहारिक बुद्धि का कितना भंडार था, उसे यथार्थ जीवन का कितना गहरा ज्ञान था, ब्योरे की बातों पर उसका कितना अधिकार था। हमारे अँग्रेज़ी विश्वविद्यालयों में **लॉज़** के अध्ययन की सामान्य रूप से उपेक्षा की जाती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह उपेक्षा स्वाभाविक है। उसकी तर्कशैली में विश्रृंखलता, व्याख्या में अनावश्यक विस्तार और भाषा में प्रायः अस्पष्टता है। फिर भी, अगर हम एक तत्त्व को देखें, तो हमें उस परिपक्व विवेक के दर्शन होते हैं जो प्रायः **रिपब्लिक** के उद्दाम उत्साह से बाज़ी मार ले गया है; और चारों ओर बिखरे हुए बालुका-कणों में जगह-जगह पानी के सोते भी हैं। कहीं तो ऐसे अवतरण सामने आते हैं जिनमें गंभीर अंतर्दृष्टि है, और कहीं ऐसे अवतरण हैं जो बिलकुल नीरस हैं। दसवें खंड में ऐसे अनेक अवतरण हैं जो बहुत उदात्त हैं। इन सबमें तो नहीं, लेकिन कुछ अवतरणों में, सौंदर्य भी है और शक्ति भी[1]। जो अवतरण बिल्कुल नीरस हैं; उनमें भी कुछ व्यावहारिक संकेत और सुझाव हैं; और जो लोग लॉज़ के गहरे पानी में पैठे हैं, उन्होंने कुछ न कुछ पाया ज़रूर है। अरिस्टाटल ने अपनी **पॉलिटिक्स** की बहुत सी सामग्री इसी से ग्रहण की है; **पॉलिटिक्स** के अंतिम दो खंडों में वर्णित आदर्श राज्य तथा शिक्षा-सिद्धांत की रूपरेखा पर भी सबसे अधिक ऋण लॉज़ का ही है। मोर की **यूटोपिया** जिस तरह **रिपब्लिक** पर आधारित है, उसी तरह लॉज़ पर भी। रूसो ने **कंट्रैट सोशल** में जिन अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, उनसे मिलते-जुलते सिद्धांत और संभवतः उनके बीज, प्लेटो के लॉज़ में मिलते हैं[2]।

---

1. प्लेटो की चयनिका में इनमें से अनेक अवतरण शामिल होंगे—उदाहरण के लिए 875 (विधि के संबंध में); 889—90 (विधि तथा प्रकृति के संबंध में); 903—5 ('सारा विश्व एक योजना है')।
2. **लॉज़** के प्रति मोर तथा रूसो के ऋण का परिशिष्ट में विवेचन किया गया है।

नोट

अरिस्टाटल पर लॉज़ का ऋण

पॉलिटिक्स के लेखक पर **लॉज़** के लेखक का जो सामान्य ऋण है, उसकी ओर दोनों के प्रत्येक पाठक का ध्यान जाता है । अरिस्टाटल का जन्म ई॰ पू॰ 384 के लगभग हुआ था और वह ई॰ पू॰ 367 के लगभग विद्यार्थी के रूप में एथेंस आया था। उस समय प्लेटो **लॉज़** की रचना में लगा हुआ था और निश्चित है कि अरिस्टाटल पर प्लेटो का प्रभाव पड़ा होगा । **पॉलिटिक्स** तथा **लॉज़** में अनेक साहश्य हैं। (1) प्लेटो की भाँति अरिस्टाटल ने भी विधि की प्रभुता के सिद्धांत को स्वीकार किया है और शासकों को 'विधि के संरक्षक' तथा उसका 'सेवक' माना है (**पॉलिटिक्स**, III. 16, §4 : 1287, a 21) । (2) **पॉलिटिक्स** का वह सुप्रसिद्ध अवतरण (1.2, §14—16 : 1253, a 25—39) जिसमें अरिस्टाटल ने कहा है कि राज्य तथा उसकी विधि से रहित मनुष्य या तो पशु है या देवता, केवल विचार में ही नहीं बल्कि अभिव्यक्ति में भी, **लॉज़** के एक सुंदर अवतरण (874 E—875 D : 766 A से तुलना कीजिए) के अनुरूप है । लगता है कि यह अंश लिखते समय अरिस्टाटल के सामने **लॉज़** का उपर्युक्त अवतरण था। (3) अरिस्टाटल ने परिवार से राज्य के विकास का और आरंभिक राज्यों के पैतृक स्वरूप का जो वर्णन किया है (**पॉलिटिक्स**, 1 §2, 6—8 : 1252, b 16—27) उसमें वह उसी लीक पर चला है जिसपर प्लेटो **लॉज़** के तीसरे खंड (680 B—E) में चला है और साइक्लोप्स के बारे में होमर का जो उद्धरण प्लेटो ने दिया है, वही उसने दिया है। (4) उसने प्लेटो की यह युक्ति दोहराई है कि युद्ध का लक्ष्य शांति की स्थापना करना होता है, वह अपने आप में साध्य नहीं होता—(जैसा कि स्पार्टा में उसे बना दिया गया था)। (**पॉलिटिक्स**, VII. 2—3 की **लॉज़**, 1, 626 A—630 C के साथ तुलना कीजिए) । (5) अरिस्टाटल ने, **एथिक्स** में भी और **पॉलिटिक्स** के सातवें खंड के उन अध्यायों में भी जिनमें शिक्षा का विवेचन किया गया है—स्वभाव-निर्माण पर जो ज़ोर दिया है उसका साहश्य **लॉज़** के

दूसरे खंड (653) में उपलब्ध होता है। (6) मिश्रित संविधान की कल्पना **पॉलिटिक्स** और **लॉज़** दोनों ग्रंथों में समान रूप से पाई जाती है और दोनों ने ही स्पार्टा को इसका उदाहरण बताया है। (7) अरिस्टाटल ने कृषि की महत्ता और खुदरे व्यापार तथा सूदखोरी के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे प्रायः उन विचारों से अभिन्न हैं जिनका प्लेटो ने **लॉज़** के आठवें खंड के अंत और ग्यारहवें खंड के आरंभ में उल्लेख किया है। इसी प्रकार, प्लेटो ने नगर–कलह की रोक-थाम के लिए **लॉज़** में यह जो विचार प्रकट किया है कि अमीरों को चाहिए कि वे स्वेच्छा से गरीबों को भी धन–संपदा में हिस्सेदार बनाएँ (V. 736 D—E), उस विचार की **पॉलिटिक्स** (VI. 5, §, 10, 1320 b 7—11) में भी अभिव्यक्ति हुई है। (8) अंत में अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के सातवें और आठवें खंडों में अपने आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसके आदर्श राज्य के अवतरणों तथा **लॉज़** के तत्संबंधी अवतरणों में इतनी अधिक समानताएँ हैं कि यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अरिस्टाटल अपने सर्वश्रेष्ठ राज्य का चित्रण करते समय प्लेटो के द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का अनुकरण करे—यह बात विचित्र भी है और अर्थगर्भित भी। मैंने दोनों की समानता के एक दर्जन से अधिक उदाहरण एकत्रित किए हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं : (क) इस प्रश्न का विवेचन, कि आदर्श राज्य समुद्र के पास होना चाहिए या नहीं, (VII. 6) **लॉज़** के चौथे खंड के आरंभ में दिए गए एक समांतर अवतरण पर आधारित है। (ख) प्रत्येक नागरिक की भूमि दो खंडों में विभक्त होनी चाहिए, एक टुकड़ा नगर के निकट तथा दूसरा सीमांत के समीप होना चाहिए (**लॉज़**, 745)—इस व्यवस्था की **पॉलिटिक्स** के दूसरे खंड (10, §15 : 1265, b 24—6) में तो आलोचना की गई है, पर सातवें खँड (10, §11 : 1330, a 14—18) में इसे स्वीकार कर लिया गया है। (ग) इमारतों का विवरण तथा नगर की स्थिति (VII. 12, 2—3 : 1330, a 24—30) **लॉज़** (778) के अनुरूप है, किंतु अरिस्टाटल ने प्लेटो के इस प्रस्ताव (**लॉज़**, 778—9) की चर्चा की है और इसे अस्वीकार कर दिया है कि प्राचीरें नहीं होनी चाहिएँ (VII. II, § 8—11 : 1330, b 32—1331, a 10)। (घ) अरिस्टाटल ने देहात की चर्चा करते समय (VII. 12, § 8, 1331, b 15—16) रक्षक सदनों और पंचायती भोजन-व्यवस्था के साथ-साथ ग्राम निरीक्षकों के संबंध में प्लेटो का प्रस्ताव (**लॉज़** 760—2) दोहरा दिया है। (ङ) **पॉलिटिक्स** के आठवें खंड में जिस शिक्षा-योजना का प्रतिपादन किया गया है, उसमें **लॉज़** की चर्चा बार-बार आई है और जिस प्रकार प्लेटो ने अनिवार्य शिक्षा का इस आधार पर समर्थन किया है कि बच्चे अपने माता–पिता के नहीं, बल्कि राज्य के होते हैं (804 D), उसी प्रकार अरिस्टाटल ने सामान्य शिक्षा का इस आधार पर प्रतिपादन किया है कि किसी भी नागरिक का अपने आप पर अधिकार नहीं होता क्योंकि सब पर राज्य का अधिकार होता है (Viii. 1, § 3—4, 1337, a 21—29)। (च) अंत में, एक आश्चर्यजनक उदाहरण यह है कि जिस प्रकार प्लेटो (934—935) ने अपवचनों के विरुद्ध विधि का निर्माण करने के उपरांत अपने राज्य में सुखांत नाटक को स्वीकार करने की वांछनीयता पर विचार किया है, उसी प्रकार अरिस्टाटल ने निंदात्मक वाणी के

विरुद्ध व्यवस्था करने के अनंतर सुखांत नाटक का विवेचन आरंभ किया है (VII. 17 § 8—11 : 1330, b 2—23)।

निष्कर्ष यह निकलता है कि अरिस्टाटल ने **पॉलिटिक्स** के दूसरे खंड के आरंभ में **रिपब्लिक** तथा **लॉज़** दोनों की आलोचना तो की है, **रिपब्लिक** की अधिक और **लॉज़** की अपेक्षाकृत कम विस्तार से, पर वास्तव में उसकी **लॉज़** में ज्यादा दिलचस्पी थी : और जहाँ उसके सामान्य राजनीति-सिद्धांत पर **लॉज़** का ऋण काफ़ी था, वहाँ उसके आदर्श राज्य के चित्र पर **लॉज़** का सबसे अधिक ऋण था। यह ठीक है कि **पॉलिटिक्स** की रचना अरिस्टाटल ने की थी और उसने ग्रंथ की विषय-वस्तु का आयोजन अपने दर्शन तथा सिद्धांतों के संदर्भ में किया था : पर इस विषय–वस्तु का अधिकांश प्लेटो का था। **पॉलिटिक्स** में सर्वथा नई बात कुछ भी नहीं जैसे (उदाहरण के लिए) मेग्ना कार्टा में नहीं। इनमें से किसी में नई बात नहीं है, दोनों का उद्देश्य पूर्ववर्त्ती विकास को संहितावद्ध करना है।

●

परिशिष्ट

प्लेटो के राजनीति-चिंतन का परवर्त्ती इतिहास

(क) मध्य युग
(ख) पुनर्जागरण—सर टामस मोर
(ग) आधुनिक संसार—रूसो, हीगेल और कोंट

परिशिष्ट

प्लेटो के राजनीतिक-चिंतन का परवर्त्ती इतिहास

(क) मध्य युग

एक हज़ार वर्ष तक **रिपब्लिक** का कोई इतिहास न रहा : एक हज़ार वर्ष तक वह आँखों से ओझल ही रही। ई० पू० पांचवी सदी के नव्य-प्लेटोवादी प्रोक्लस के समय से पंद्रहवीं सदी के अंत में मारसिलिओ फिसिनो और पिको डेला मिरांडोला के समय तक **रिपब्लिक** प्रायः लुप्त पुस्तक थी। कहते हैं प्रोक्लस का यह आग्रह रहा करता था कि "अगर उसका बस चलता, तो वह इस समय **टिमाएस** और **सेक्रेड ओरेकिल्स** के अलावा शेष सारे प्राचीन ग्रंथों को मानव के ज्ञान-क्षेत्र से हटा देता"[1]। उसकी मनोकामना पूरी हुई। मध्य युग में प्लेटो के बारे में जो कुछ जानकारी थी, उसके स्रोत थे—चौथी सदी में चाल्सिडियस द्वारा किया गया **टिमाएस** के अधिकांश का अनुवाद और अरिस्टाटल, सिसरो, सेंट आगस्टाइन और माक्रोबाइस की रचनाओं में तथा अपुलेअस के **डी डोग्मेट प्लेटोनिस** और बोएथियस के **डी कंसोलेशोन फ़िलॉसफ़ी** में आए हुए उल्लेख। अंतिम ग्रंथ इतना लोकप्रिय रहा है कि लोग कितनी ही सदियों से उससे लाभ उठाते रहे हैं[2]। सिसरो की **डी रिपब्लिका** में भी **रिपब्लिक** की कुछ झलक है। **डी रिपब्लिका** में मिश्रित संविधान की सराहना तो की गई है और उसके लिए सिसरो परवर्त्ती यूनानी लेखकों का ऋणी था, साथ ही उसमें प्लेटो के लोकतंत्र-संबंधी विवरण का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, उसके निरंकुश-तंत्र के चित्र का अनुकरण किया गया है और सबसे बड़ी बात यह है कि **सॉमनियम सिकपिनोइस** में एर की उस देवकथा का रूपांतर प्रस्तुत किया गया है जिसका सामान्य रूप से परवर्त्ती चिंतन पर प्रभाव पड़ा था और जो पेट्रार्क की स्वर्ग पाने की आशाओं का आधार बनी थी[3]। सेंट आगस्टाइन का यूनानी साहित्य से बहुत कम परिचय था, पर उसने अपने ग्रंथ **डी सिविटाटे डेई** में (जिसमें प्लेटो की **रिपब्लिक** की तरह, एक अलौकिक नगर

---

1. सेंडीज, **हिस्ट्री ऑफ़ क्लासिकल स्कॉलरशिप,** पृ० 366—7।
2. जॉन स्काट यूनानी भाषा जानता था और उसने लैटिन में **टिमाएस** का उद्धरण दिया है जो चाल्सिडियस के अनुवाद से नहीं लिया गया है। केटाना के चर्च पदाधिकारी हेनरी एरिस्टप्पस ने सिसली के नार्मन राज्य में **मीनो** तथा **फाएडो** का अनुवाद किया था।
3. बर्कहार्ट, **द रेनेसां इन इटली,** पृ० 546।

का चित्र प्रस्तुत किया गया है) **डी रिपब्लिका** से अनेक उद्धरण दिए हैं और इस तरह प्लेटो की परंपरा को जीवित रखने में मदद दी है। **डी कंसोलेशोन फ़िलॉसफ़ी** पर प्लेटोवाद की उतनी ही छाप है, जितनी कि **डी सिविटाटे डेई** पर हिब्रू धर्म की : परंतु हालांकि बोएथियस ने **रिपब्लिक** से अकसर उद्धरण दिए हैं और उसने "नरेशों के दार्शनिक बनने या दार्शनिकों के नरेश बनने"[1] के अवतरण का विशेष रूप से उद्धरण दिया है, फिर भी इस ग्रंथ की विषय-वस्तु का आधार **टिमाएस** है। मध्य युग के विचारकों का **टिमाएस** से खास लगाव रहा। इसका कारण कुछ तो यह था कि यह ग्रंथ क्या था "एक पहाड़ था जिस पर वे अपना सर पटकते रह सकते थे"।। एटलांटिस की पुराणकथा एक महान् 'विषय' बन गई थी और बेकन का **न्यू एटलांटिस** उसके प्रभाव का अवशेष है[2]।

रिपब्लिक एक हज़ार साल तक निद्रालीन रही, पर इस बीच उसका प्रभाव निष्प्राण नहीं हुआ। जिन यथार्थवादियों ने सीधे **टिमाएस** से प्रेरणा ग्रहण की थी, वे अनजाने में **रिपब्लिक** के भी ऋणी थे। इन यथार्थवादियों की सार्वभौम सिद्धांतों में आस्था थी जो इस अर्थ में वास्तविक भी थे कि उनकी पहले से सत्ता थी। और मध्य युग में प्लेटो के 'भावों' के अतिरिक्त उसके और भी बहुत से सिद्धांत जीवित रहे।

"मध्य युग के शिक्षा-तत्त्व का बहुत सा अंश··· पहले से ही प्लेटो की **रिपब्लिक** में पाया जा सकता है। मध्य युग में लोक-सिद्धांत की चार आधारभूत सद्वृत्तियाँ जिनका प्रवचनों और रूपकों में समान रूप से प्रयोग होता था, प्लेटो द्वारा स्वीकृत विभाजन और व्यवस्था के अनुरूप हैं···यह विचार कि **ओरेटोर्स, बेलाटोर्स,** और **लेबोरेटोर्स** के तीन वर्ग **रिपब्लिक** पर आधारित हैं, कोरी कल्पना हो सकता है, पर प्लेटो के तीन वर्गों, संतों, योद्धाओं और साधारण लोगों, के कार्यों को जितना मध्य युग के वर्ग-सिद्धांत में समझा गया था—उदाहरण के लिए जिस रूप में पिअर्स प्लाउमेन के ग्रंथ में उनका प्रतिपादन हुआ है—उतना इतिहास में और कभी नहीं। तथापि, मध्य युग में संस्कारी कलाओं का जो वर्गीकरण किया गया था, उसके उद्भव के संबंध में किसी तरह का कोई संदेह नहीं है। मध्य युग में विद्यात्रयी—व्याकरण, भाषण-शास्त्र और तर्कशास्त्र—का जिस रूप में वर्गीकरण किया गया था, प्लेटो ने वह स्वीकार नहीं किया है; पर उसने **रिपब्लिक** में अंकगणित, ज्यामिति, खगोल-विज्ञान और संगीत विद्याओं का जो ।ववेचन किया है, उसमें विद्या-चतुष्टयी का अंतर्भाव हो गया है। मध्ययुगीन साहित्य में नरक, पापमोचन-स्थान (Purgatory)*

---

[1] 1, अध्याय IV।

[2] **टिमाएस** (24 E—25 D) में एटलांटिस की पुराणकथा का उल्लेख है। पर, इसका अधिक पूर्ण विवरण **क्रिटिआस** में दिया गया है।

* रोमन केथोलिक धर्म के अनुसार मृत्यु के बाद की वह अवस्था या स्थान जहाँ पुण्यात्मा व्यक्ति भूलोक में किए गए अपने कुछ क्षम्य अपराधों का प्रायश्चित करते हैं। यह धारणा हिंदू पुराणों में उल्लिखित वैतरणी नदी की धारणा से मिलती-जुलती है। कहा जाता है कि यह नदी पृथ्वी और भूलोक के बीच

और स्वर्ग के जो विवरण मिलते हैं, पैम्फ़िलियावासी एर के परलोक-दर्शन का आख्यान* उससे पुराना है"[1]।

प्लेटो के सिद्धांत और मध्ययुगीन सिद्धांत तथा व्यवहार के सादृश्य और भी गहरे हैं। जिस मठ-व्यवस्था (monastic system) के अंतर्गत विलेइन यानी सामंती कृषक-दास उपज का कुछ भाग साधुओं के सामूहिक खान-पान के लिए दे देते थे और साधु अपनी प्रार्थनाओं द्वारा सामंती कृषक दासों की रक्षा करते थे, **रिपब्लिक** का साम्यवाद उस मठ-व्यवस्था के समांतर ही न था ; वह चर्च के सिद्धांत का एक भाग था और उसका चर्च के संपत्ति-सिद्धांत पर असर पड़ा था। ग्रेशियन की सीख थी कि प्रकृत्या सब चीज़ें सब लोगों की होती हैं और हालांकि पतन (Fall) के बाद प्रकृति-विधि को सकारात्मक विधि के आगे घुटने टेक देने पड़े थे और सकारात्मक विधि में निजी संपत्ति को पतन में निहित पापपूर्ण लोभ-वासना की आवश्यक रियायत और उपचार के रूप में स्वीकार किया गया है, फिर भी यह बात अब भी सच है कि व्यक्ति को उतनी ही संपत्ति रखनी चाहिए जितनी कि उसे ज़रूरत हो—उससे ज्यादा नहीं, और सब लोगों को संपत्ति रखने का अधिकार उसी समय तक होता है जब तक वे अपनी संपत्ति का सही उपयोग करते हों। साम्यवाद आदर्श व्यवस्था है—यह प्रमाणित करने के लिए ग्रेशियन ने जेरूसलम के आदिम चर्च का ही उदाहरण नहीं दिया है, उसने प्लेटो के भी उद्धरण दिए हैं : "इसलिए, प्लेटो की रचनाओं में सबसे अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था उसी राज्य की मानी गई है जिसमें प्रत्येक सदस्य अपना-तेरी की भावना से मुक्त हो"। मित्रों की चीज़ों में सबका साझा

में है और इसमें रक्त तथा अस्थि जैसे जुगुप्साजनक पदार्थ भरे हुए हैं। मृत्यु के बाद हर व्यक्ति को चाहे वह पुण्यात्मा हो या पापी यह नदी पार करनी पड़ती है। हाँ, पापी को यह नदी पार करने में कष्ट होता है, पर पुण्यात्मा इसे सहज ही पार कर लेते हैं।

* मनुष्य को अपने न्याय या अन्याय-कर्म का इस जीवन में जो फल मिलता है, सो तो मिलता ही है ; मृत्यु के बाद उसे परलोक में अपने न्याय-कर्म का दस गुना सुख के रूप में और अन्याय-कर्म का दस गुना दुःख के रूप में फल मिलता है—प्लेटो ने **रिपब्लिक** के अंत में अर्थात् दसवें अध्याय के उपसंहार (615—621) में एर की देवकथा के माध्यम से इस शिक्षा की पुष्टि की है। एर दक्षिण एशिया माइनर के एक नगर में पैम्फ़िलिया के निवासी आर्मेनियस का पुत्र था। वह एक युद्ध में खेत रहा था और जब मृत्यु के बारहवें दिन उसे दफ़नाने के लिए कब्रगाह ले जाया जा रहा था, तभी अचानक उसके प्राण लौट आए और वह लोगों को विस्तार से परलोक के अपने संस्मरण सुनाने लगा। इन संस्मरणों का सारांश यह था मनुष्य इस लोक में जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसे परलोक में दस गुना सुख या दुःख मिलता है। इस पुराण कथा को एर का स्वप्न भी कहा गया है।

1. डब्ल्यू. पी. केर, द डार्क एजेज, पृ० 26—7।

हो जाना चाहिए—यह बात यूनान के एक सबसे ज्ञानी व्यक्ति ने कही थी[1]। **रिपब्लिक** के समूचे आदर्श राज्य और मध्ययुगीन चर्च में जो समता दिखाई देती है, उसके आधार पर प्लेटो के सिद्धांत और मध्ययुगीन जीवन में और भी गहरे समता-सूत्र खोजे जा सकते हैं। संगठन और कार्य दोनों की दृष्टि से वे एक-दूसरे से मिलते हैं। जिस तरह, प्लेटो ने **रिपब्लिक** के राज्य में तीन वर्गों का अस्तित्व माना था, और शेष वर्गों पर नियंत्रण रखने के लिए दार्शनिक नरेशों के वर्ग को सिरमौर बना दिया था, उसी तरह मध्ययुगीन चर्च ने अपने सदस्यों को **क्लेरिकी, रेगुलेअर्स** और **लाइकी** के तीन वर्गों में बाँटा था और अन्य सारे वर्गों पर नियंत्रण रखने के लिए क्लर्जी वर्ग को—विशेषकर पोप को—चर्च की समूची शक्ति का प्रधान केंद्र और स्रोत माना था[2]। अगर प्लेटो ने अपने दार्शनिक नरेशों से श्रेय के आदर्श सिद्धांत के आलोक में जीवन के हर पहलू पर नियंत्रण रखने की अपेक्षा की, तो उसके ढँग पर मध्ययुगीन चर्च भी ईसाई सिद्धांत के आलोक में अपने सदस्यों की प्रत्येक गतिविधि—युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय संबंध, उद्योग और वाणिज्य, साहित्य और शिक्षा—पर नियंत्रण स्थापित करने में प्रवृत्त हुआ। मध्य युग में प्लेटो के प्रमुख सिद्धांतों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का हमें जो सबसे अंतिम और पुष्ट साक्ष्य मिलता है वह है **लॉज** की राज्य-व्यवस्था—विशेषकर इस राज्य-व्यवस्था का वह रूप जो संवाद के अंत में उपलब्ध होता है और जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है, और सामान्य मध्ययुगीन राज्य-व्यवस्था के बीच पाई जाने वालो समानताएँ। ऊपर कहा गया था कि **लॉज** का अंत मध्य युग का आरंभ है[3]। जब हम दसवें खंड के धार्मिक उत्पीड़न की याद करते हैं, जब हम नैश परिषद् के सदस्यों को सुधार-सदन में धर्मद्रोहियों के प्रति उनकी आत्मा की मुक्ति के लिए उपदेश देते हुए देखते हैं, तब हम यह समझ सकते हैं कि उपर्युक्त कथन निराधार नहीं है। फिर भी, जब हम इन सादृश्यों का स्मरण कर रहे हों, तब हमें एक और चीज़ का स्मरण कर लेना चाहिए। ये सहज सादृश्य हैं। मध्य युग अपने ही मार्ग पर चल रहा था, प्लेटो के चरण-चिह्नों पर नहीं। यह मार्ग कई स्थलों पर उस मार्ग से मिल जाता था जिस पर पहले प्लेटो चल चुका था, पर यह संयोग आकस्मिक ही था। मध्य युग में प्लेटो के प्रत्यक्ष प्रभाव सिर्फ़ वे हैं जो **टिमाएस** के अध्ययन से, सार्वभौम आदर्शों के स्वरूप के संबंध में उसके दृष्टिकोण की परंपरा से और—इतना और कह दें—आगस्टाइन के धर्म-शास्त्र में पाए जाने वाले

---

[1] देखिए, कार्लायल, **मेडिएवल पॉलिटिकल थ्योरी इन द वेस्ट**, II. 136—7। रिपब्लिक और ग्रिगोरी सप्तम् के कार्यक्रमों में क्या समानता मिलती है—मैंने पहले के एक नोट (पृ० 319, पा० टि०।) में यही बताने का प्रयास किया है।

[2] यह विभाजन क्लर्जी वर्ग, वेरन वर्ग और लोक वर्ग के मध्ययुगीन विभाजन से भिन्न है। इस विभाजन में धर्माधिकारियों के दो वर्ग माने गए हैं और सर्वसाधारण का एक : सामान्य विभाजन में धर्माधिकारियों का एक वर्ग माना गया है और सर्वसाधारण के दो।

[3] पीछे अध्याय 15—घ से तुलना कीजिए।

प्लेटो-दर्शन के तत्त्वों से निकले थे[1]। मध्य युग के विश्वविद्यालयों का शिक्षा-क्रम **रिपब्लिक** के सातवें खंड में दिए गए शिक्षा-क्रम के अनुरूप हो सकता है; किंतु वह मध्य युग के विश्वविद्यालयों का शिक्षा-क्रम इसलिए था कि वह सदियों से शिक्षा का वास्तविक आधार-तत्त्व रहा था, इसलिए नहीं कि वह **रिपब्लिक** के शिक्षा-क्रम के अनुरूप था।

---

[1] प्लेटो-दर्शन की उस प्रवृत्ति के बारे में कुछ कहना मेरे क्षेत्र से बाहर है जिसने सेंट आगस्टाइन के माध्यम से मध्ययुगीन धर्म-शास्त्र में प्रवेश पाया था और जिसमें सदा उस ईश्वर की धारणा का प्रतिपादन किया गया था जो विधि के अनुसार कार्य करता है और जो बाद के नामरूपवादियों (nominalist) द्वारा प्रतिपादित रहस्यात्मक रीतियों से काम करने वाले रहस्यात्मक परमात्मा के सिद्धांत के विरुद्ध था।

(ख) पुनर्जागरण—सर टामस मोर

पुनर्जागरण से **रिपब्लिक** को नया जीवन-दान मिला। फ्लोरेंस की अकादमी का प्लेटोवाद तथा लोरेंजो डी मेडिसी के इर्द-गिर्द जो मंडली इकट्ठी हो गई थी, उसका प्लेटोवाद वास्तव में नव्य प्लेटोवाद था, किंतु मोंटेविशियो के छोटे से फ़ार्म में 1477 ई० तक फ़िसिनो ने प्लेटो की रचनाओं का लैटिन अनुवाद पूरा कर लिया था। तथापि, सर टामस मोर की **यूटोपिया** ही वह ग्रंथ है जिसमें, लगता है कि, सोया हुआ प्लेटो एक बार फिर से जाग उठा है[1]। **यूटोपिया** में रिपब्लिक की चर्चा कई बार आई है और इससे भी बढ़कर बात यह है कि इसमें संपत्ति के साझे और स्त्रियों के उद्धार की पैरवी की गई है। पर, **यूटोपिया** के लेखक को **रिपब्लिक** से चाहे कितनी ही प्रेरणा मिली हो, **यूटोपिया** एक भिन्न और स्वतंत्र ग्रंथ है[2]। प्लेटो के दर्शन में निवृत्ति-भावना कम नहीं; मोर में कुछ-कुछ प्रवृत्ति-भाव है। प्लेटो ने सिखाया था कि समाज को चाहिए वह अपने निरुपयोगी सदस्यों को मर जाने दे; मोर का सुझाव है कि जो लोग इतने बूढ़े या इतने रुग्ण हैं कि जीवन का कुछ रस या सुख नहीं भोग सकते, उन्हें आत्महत्या कर लेनी चाहिए। मोर प्लेटो से भिन्न भावना से अनुप्राणित था, हालांकि उसने तफ़सीलें प्लेटो से ग्रहण की हैं। मोर उस युग का विशिष्ट प्रतिनिधि है जिसमें "लोग ईसाइयों की मठ-व्यवस्था का विरोध करके एपीक्यूरी दर्शनिकों की भाँति रहते थे और ईसाई चर्च की प्रधानता के विरोध में प्लेटो के शिष्यों की भाँति सोचते थे"। मोर ने साम्यवाद की जो पैरवी की है उसकी ओर दृष्टिपात करने पर हम प्लेटो से उसका वही भेद

---

1. **प्लेटो रेडिविवस** चार्ल्स द्वितीय नेविले द्वारा लिखी गई एक ऐसी कृति का शीर्षक है जो प्लेटो के गौरव के अनुकूल नहीं है। हेनरी नेविले प्रचार-साहित्य का लेखक था जो क्रमशः कभी संसदीय शासन का समर्थक रहा था तो कभी राजतंत्र का।
2. मैं माइकेल्स और जीगलर द्वारा प्रस्तुत किए गए **यूटोपिया** के संस्करण (बर्लिन, 1885) का ऋणी हूँ (ईनलीटंग, पृ० 16—35)।

पाते हैं जो जीवन के प्रति दोनों के सामान्य दृष्टिकोण में व्यक्त हुआ है। हो सकता है मोर ने साम्यवाद का विचार प्लेटो से लिया हो, पर उसके साम्यवाद के प्रेरक हेतु और उसकी योजना बिल्कुल भिन्न हैं। हम देख चुके हैं प्लेटो के प्रेरक हेतु राजनीतिक या नैतिक हैं, आर्थिक नहीं : साम्यवाद की ज़रूरत इसलिए है कि उससे न्याय की सिद्धि होगी और निःस्वार्थ तथा सुचारु शासन की स्थापना उसी के अंतर्गत हो सकती है। मोर के प्रेरक हेतु आर्थिक हैं। उसका साम्यवादी सम-सामयिक आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध सीधी प्रतिक्रिया के रूप में है। प्लेटो का विचार था कि यूनानी नगरों का नाश अज्ञानी और स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने किया है। मोर का विचार था (जैसा कि पंद्रहवीं सदी के अंत में एक लॉर्ड चांसलर ने कहा था) कि, "इस शासन का पतन भूमि पर थोड़े से श्रीमानों के अधिकार कर लेने से और ज़रूरत के समय काश्तकारों की मदद न करने से हुआ है"। मोर ने देखा कि किसानों को उनकी जोतों से बेदखल किया जा रहा है और ज़मीनों पर भेड़ों के चरागाह बनाए जा रहे हैं; उसने देखा कि "भेड़े मनुष्यों को खाए जा रही हैं।" उसने देखा कि बड़े-बड़े ज़मींदार तो ज़मीनों पर अपना एकच्छत्र अधिकार स्थापित करते जा रहे हैं और जो लोग संतुष्ट किसान होते, उन्हें खानाबदोशी और चोरी का सहारा लेना पड़ रहा है। बुंडस्चुह नामक आंदोलन के द्वारा जर्मनी में कृषि-साम्यवाद का प्रचार हो रहा था और मोर का ध्यान भी कृषि-साम्यवाद की ओर गया। मोर का विचार था कि चूँकि निजी संपत्ति-व्यवस्था के फलस्वरूप अधिकांश अँग्रेज़ों को सुख की ज़िंदगी से हाथ धोना पड़ता है और इस तरह के आकर्षक नारों से कोई लाभ नहीं है कि संपत्ति को सबमें बराबर बाँट दिया जाएगा" तथा "जो जिसकी ज़मीन होगी, वह उसी के पास रहेगी," अतः हमें समग्र उपाय ही अपनाना चाहिए यानी साझी संपत्ति के चरम लक्ष्य का संधान करना चाहिए।

अस्तु, मोर के प्रेरक हेतु आर्थिक हैं। ये प्रेरक हेतु ऐसे हैं जिनकी ओर उसका ध्यान अपने युग की बुराइयों के कारण गया था; प्लेटो की रचनाओं का अनुशीलन करने के कारण नहीं। प्लेटो का साम्यवाद दो उच्च वर्गों तक ही सीमित था : मोर के साम्यवाद के दायरे में राज्य का प्रत्येक सदस्य आ गया है[1]। प्लेटो के

---

[1] मोर ने **यूटोपिया** के पहले खंड में कुछ इस तरह का विचार व्यक्त किया है मानो प्लेटो ने सामान्य साम्यवाद का प्रतिपादन किया हो। "वह प्लेटो के इस मत से सहमत है और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं कि वह ऐसे लोगों के लिए विधियाँ नहीं बनाएगा जो धन-संपदा तथा पदार्थों पर उपभोग और स्वामित्व का सबको समान अधिकार प्रदान करने वाली विधियाँ अस्वाकार कर देते हैं। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी विशिष्ट धन संपदा हो वहाँ यह व्यवस्था नहीं चल सकती"। पर, यहाँ उसका संकेत प्लेटो के संबंध में प्रचलित एक प्राचीन जनश्रुति के प्रति है, रिपब्लिक के प्रति नहीं (रूसो ने भी **कंट्रेट सोशल**, II. 8 में इसके प्रति संकेत किया है)। इस जनश्रुति के अनुसार प्लेटो ने आर्केडिया और थीब्स के लिए अर्थात् थीब्स के एपामिनोन्डास द्वारा आर्केडिया में संस्थापित मेगापोलिस नगर के लिए विधि बनाना इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि वे अधिकारों की समानता

साम्यवाद की कुछ इस तरह से व्यबस्था की गई थी कि दो उच्च वर्ग सांसारिक काम-धंधों और नोन, तेल, लकड़ी की चिंताओं से मुक्त रहें : मोर के साम्यवाद की योजना इस तरह से बनाई गई है कि प्रत्येक व्यक्ति खेती और पशुपालन के काम में लगे। तीसरे वर्ग के सदस्य जिस के रूप में जो वार्षिक लगान दिया करते थे, प्लेटो के संरक्षक उसी का आपस में हिस्सा-बाँट कर लेते थे : मोर के नागरिकों का अपने देश की हर तरह की उपज में हिस्सा-बाँट रहता है। प्लेटो ने तीसरे वर्ग के पास समूची संपत्ति का निजी स्वामित्व रहने दिया था ; उसने संरक्षकों के पास दो ही चीज़ों का साझा स्वामित्व छोड़ा था—उनके आवासों का और वार्षिक लगान का ; और किसी का नहीं। मोर ने अपने नागरिकों के पास निजी संपत्ति नहीं छोड़ी, उसने हर चीज़ का साझा स्वामित्व कर दिया है[1]। इन सारे भेदों में एक मुख्य भेद यह है कि श्रम के संबंध में दोनों विचारकों का दृष्टिकोण अलग-अलग है। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य संरक्षकों को श्रम से मुक्ति देना था। उसके साम्यवाद में अधिकांश चीजों का निजी स्वामित्व बना रहता है और थोड़ी सी चीज़ों के ही साझे स्वामित्व की व्यवस्था होती है। मोर का साम्यवाद बास्तव में सब चीज़ों का साम्यवाद था, और उसका उद्देश्य था—सब लोगों को श्रम के लिए मुक्त करना। बेरोज़गार किसान इंगलैंड की सड़कों पर मारे-मारे फिरें, इसकी जगह वह सबको काम देना चाहता है। मोर को वे आलसी लोग बिल्कुल नहीं सुहाते जो श्रीमानों के घरों में 'अजगर करे न चाकरी' की साकार मूर्त्ति बने बैठे रहते हैं। इसकी जगह वह तो यह चाहता है कि सब लोग एक-दूसरे की मदद करें। इस तरह वह काम के घटे कम करना और सब लोगों को दिन में छह घंटे काम करने की सुविधा देना चाहता है।

स्पष्ट है कि मोर का साम्यवाद आधुनिक समाजवाद से अनेक बातों में मिलता है और प्लेटो का साम्यवाद उससे बहुत भिन्न है। फिर भी, मोर के साम्यवाद और आधुनिक समाजवाद में कुछ भेद हैं। आधुनिक समाजवाद सामान्य रूप से समष्टिवादी है और उसमें उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व की पैरवी की गई है, मोर ने उपज के साझे स्वामित्व की पैरवी की है। आधुनिक समाजवाद सुख-साधनों को सब लोगों में बराबर-बराबर और निष्पक्ष-भाव से बाँट देना चाहता है। वह इनका समाज से बहिष्कार करना नहीं चाहता। इस दृष्टि से मोर प्लेटो के निकट है : वह आर्थिक जीवन को इतना सरल कर देना चाहता है कि उसमें कृषि की कुछ बुनियादी चीज़ें और ज़रूरी दस्तकारियाँ भर रह जाएँ। परंतु कुल मिलाकर मोर में आधुनिक समाजवाद की भावना है, उसमें संसार के पदार्थों के अधिक न्याययुक्त

के लिए तैयार नहीं हुए थे (**डायोगेनीज लार्यटियस**, III. 17)। तथापि, नाटोर्प का विचार है कि चूंकि प्लेटो के सिद्धांतों में युक्ति की दृष्टि से पूर्ण साम्यवाद निहित था, आधा साम्यबाद नहीं (पीछे पृ० 321—325 देखिए), अत: मोर ने **रिपब्लिक** के सिद्धांतों से ठीक ही निष्कर्ष निकाला है (**प्लेटोज़** श्टाट उंट् डी इडी डेयर ज़ोसियाल पाडोगोगिक, पृ० 24—33)।

[1] **यूटोपिया** में सोना बिल्कुल नहीं है : **रिपब्लिक** में संरक्षकों के पास ही सोना नहीं रहता।

वितरण का उत्साह है ; आधुनिक युग की यथार्थ आर्थिक परिस्थितियों के साथ उसका निकट का संपर्क है । उसने शिक्षा की समस्या पर भी उसी यथार्थवादी भावना से विचार किया है। प्लेटो की योजना का मुख्य अंग शिक्षा थी । उसकी तुलना में साम्यवाद गौण और हीन चीज़ थी। मोर की व्यवस्था में साम्यवाद सबसे पहले और सबसे ऊपर आता है ; उसने शिक्षा के केवल तकनीकी पक्ष पर ही विचार किया है। उसके विचार से शिक्षा का अर्थ है किसी दस्तकारी का प्रशिक्षण प्राप्त करना क्योंकि **यूटोपिया** के हर नागरिक को खेती के साथ-साथ किसी न किसी दस्तकारी का भी काम करना चाहिए और उसे ये दोनों काम नियमित रूप से वारी-वारी से करने चाहिएँ। यह एक ऐसा वक्तव्य है जिससे एक वार फिर श्रम के संबंध में मोर का आधुनिक और प्लेटो से भिन्न दृष्टिकोण व्यक्त होता है।

स्त्रियों के संवंध में मोर के विचार, कुछ दृष्टियों से बहुत हद तक प्लेटो जैसे ही हैं। स्त्रियों के उद्धार में उसकी आस्था है। वह मानता है कि स्त्रियाँ वही काम कर सकती हैं जो पुरुष। **रिपब्लिक** की तरह **यूटोपिया** में भी स्त्रियाँ पद सँभालती हैं ; **रिपब्लिक** की तरह वे रणक्षेत्र में भी जाती हैं। पर सब स्त्रियाँ नहीं लड़ती और वे सिर्फ़ एक ही प्रकार के पद सँभालती हैं—धार्मिक पद । **यूटोपिया** में स्त्रियों के साझे का भी विधान नहीं है : मोर का विश्वास एक-पत्नी-प्रथा (monogamy) में है। वर-वधू को चाहिए कि वे विवाह से पहले एक-दूसरे को नग्नावस्था में देख लें जिससे वे जान सकें कि वे विवाह के योग्य हैं—मोर के इस सुझाव में प्लेटो का शारीरिक स्वास्थ्य विषयक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है । पर यौन-समस्या के बारे में मोर का यही एक ऐसा विचार है जो प्लेटो के दृष्टिकोण के अनुकूल पड़ता है[1]।

---

[1] यह सुझाव **लॉज** (772 A) से लिया गया है। **यूटोपिया** में **लॉज** का भी अनुकरण किया गया है, **रिपब्लिक** का ही नहीं । जब मोर अपने आदर्श राज्य के खाके में रंग भरने लगा, तब उसकी दृष्टि स्वभावतः लॉज की ओर गई जिसमें हर चीज़ का विस्तार से विवेचन हुआ है । जिस तरह, **लॉज** में प्लेटो ने सभी नागरिकों के लिए—स्त्रियों और पुरुषों सभी के लिए—पंचायती भोजन-व्यवस्था की पैरवी की है, उसी तरह मोर ने भी की है (II, अध्याय V) : प्लेटो की तरह उसने भी बूढ़ों और नौजवानों को एक साथ रखने की कोशिश की है। **लॉज** के नागरिकों की भाँति **यूटोपिया** के नागरिक भी नक्षत्रों की गति और आकाशीय पिंडों के संचरण का अध्ययन करने में बड़े दक्ष और चतुर हैं (II, अध्याय VI) । **यूटोपिया** के नागरिक अपने को अलग-अलग रखते हैं और जब वे यात्रा के लिए निकलते हैं, तब उन्हें अपने शासक का अनुज्ञा-पत्र लेना पड़ता है (II, अध्याय VI.) : **लॉज** के बारहवें खंड से तुलना कीजिए) । मोर ने धार्मिक सहिष्णुता का प्रतिपादन किया है और यहाँ उसका प्लेटो से भेद है । उसने यूटोपिया नरेश के बारे में कहा है कि उसने प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता दे रखी थी। उसने लिखा है कि यूटोपिया की प्रजा अपने राजा के पद-चिन्हों पर चलती है और उसका विश्वास है कि सत्य अपनी ही शक्ति से अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा करेगा और आलोक में आएगा । किंतु, जब वह कहता है कि जिन लोगों का आत्मा की अमरता, ईश्वरीय विधान या पापियों के दैवी प्रतिकार में अविश्वास होगा, उन्हें प्राणदंड दिया जाएगा और जब वह यह

यूटोपिया में जनसंख्या पर नियंत्रण रखने का एक ही उपाय सुझाया गया है—उपनिवेशों की स्थापना।

इस प्रकार, लगेगा कि कुल मिलाकर मोर बहिरंग दृष्टि से ही प्लेटो का का अनुयायी है, अंतरंग दृष्टि से नहीं । वह आधुनिक काल्पनिक समाजवाद का जनक था, प्लेटो के साम्यवाद का अनुकर्त्ता नहीं । उसका उद्देश्य है—सबके लिए उपभोग की समानता ; प्लेटो का लक्ष्य था—थोड़ों के लिए ज्ञान की पूर्णता। प्लेटो के चिंतन में बुद्धिवाद ने दार्शनिक नरेश की और सर्वज्ञ की राह तैयार की है। फ्रांस-नरेश उसके **यूटोपिया** के बारे में क्या कहेगा—यह सोचकर ही मोर मुस्करा उठता है[1] । मोर के चिंतन में भाव की निवृत्तिमूलक निरंकुशता नहीं है : उसकी आदर्शोक्ति है : श्रम भी खूब, सुख भी खूब[2] ।

व्यवस्था करता है कि अविश्वासियों को सिर्फ़ दो तरह के लोगों—धर्माचार्यों और गुरु-गंभीर व्यक्तियों—से ही बात करनी चाहिए, और किसी से नहीं, तब उसकी विचारधारा प्लेटो के अनुरूप रहती है (II, अध्याय IX) ।

[1] अपने पहले खंड में मोर ने निश्चय ही प्लेटो के दार्शनिक नरेश की ओर संकेत किया है। प्लेटो ने सिराक्यूज़ में यह अनुभव कर लिया था कि दार्शनिकों के लिए नरेशों को परामर्श देना व्यर्थ है। उपचार एक ही है—ऐसा नरेश जो स्वयं ही दर्शन की ओर उन्मुख हो। दार्शनिक के संबंध में प्लेटो की यह उपमा सार्थक ही थी कि वह संसार की विघ्न-बाधाओं से बचने के लिए अपने घर की चहारदीवारी में बंद रहता है (**रिपब्लिक**, 496 D का भावानुवाद)।

[2] कम्पानेला का **सिविटास सोलिस** मोर की **यूटोपिया** की नकल है। एक फ्रांसीसी लेखक ने लिखा है कि उस पर प्लेटो की **रिपब्लिक** का प्रभाव है और साथ ही कैथोलिक संप्रदायों का भी। सूर्यनगर का संचालन तत्त्व-मीमांसक के हाथ में है। उसकी अधीनता में तीन दंडनायकों के पद हैं—युद्ध के लिए शक्ति, सुजनन के लिए प्रेम और विज्ञान, कला तथा शिक्षा के लिए ज्ञान। कम्पानेला संपत्ति का ही नहीं, परिवार का भी अंत करना चाहता है ; इसीलिए प्रेम के दंडनायक के पद की ज़रूरत है। डोमिनिकन संप्रदाय का संन्यासी होने के नाते उसने एक ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादन किया है जिसके अंतर्गत लोग अपने अपराध स्वीकार कर सकते हैं और कर रहे हैं। ऐसी व्यवस्था की **लॉज़** में भी पैरवी की गई है (पीछे अध्याय 15—घ देखिए)।

(ग) आधुनिक संसार—रूसो, हीगेल और कोंट

रूसो के साथ प्लेटो का राजनीति-सिद्धांत एक नई करवट लेकर उठ बैठता है और तब से चिंतन के क्षेत्र में जो प्रभाव डालना प्रारंभ करता है सो निरंतर डालता रहा है। जनीवा गणराज्य जिसके 'महिमाशाली, सम्माननीय और प्रभुता-संपन्न स्वामियों' को उसने अपना **'डिस्कोर्स ऑन द ओरिजन एंड फाउंडेशंस ऑफ़ इनइक्वैलिटी'** समर्पित किया था, कुछ-कुछ नगर-राज्य ही था। रूसो ने अपनी किशोरावस्था में जनीवा में प्राचीन काल के नगर-राज्यों के संबंध में प्लूटार्क के इतिहास का अध्ययन किया था और उसने अपनी रचनाओं में प्लूटार्क के इतिहास का बराबर उल्लेख किया है। आगे चलकर उसने प्लेटो का अध्ययन आरंभ किया और प्लेटो ने उसके चिंतन पर प्रभाव डाला[1]। प्लेटो की मदद से उसने अपने आप को लॉक के व्यक्तिवादी सिद्धांत से मुक्त किया[2] और वह **कंट्रैट सोशल** में प्रतिपादित

---

[1] रूसो के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उसने **रिपब्लिक, लॉज़ और पॉलिटिकस** का अध्ययन किया था। रूसो का इरादा था कि वह अपने एक ग्रंथ में **एक्ज़ामेन डी ला रिपब्लिक डी प्लेटोन** (प्लेटो की **रिपब्लिक** की परीक्षा) नामक एक अध्याय रखेगा (वाउघन **द पालिटिकल राइटिंग्स ऑफ़ रूसो,** 1. 399 E)। वह इस ग्रंथ की योजना ही बना कर रह गया, लिख नहीं पाया। रूसो की राजनीतिक रचनाओं पर ही नहीं, रसात्मक और शैक्षिक रचनाओं पर भी प्लेटो का असर पड़ा था। वाउघन का कहना है कि रूसो का **इमिटेशन थियाट्रेल लॉज़** के तीसरे खंड पर (होना दूसरा खंड चाहिए और **रिपब्लिक** के तीसरे और दसवें खंडों पर आधारित है। उसने अपने **एमील** नामक ग्रंथ में (वाउघन, **पू० क्रु०** II, 146) लिखा है: "क्या तुम इस बात की झलक पाना चाहते हो कि लोक-शिक्षा क्या चीज़ होती है? तब फिर प्लेटो की **रिपब्लिक** का अध्ययन करो…वह शिक्षा के विषय पर आज तक का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है"।

[2] अंशत:, पर वह उससे पूरी तरह नहीं बच सका। **कंट्रैट सोशल** का एक आकर्षण यह है कि इसमें रूसो व्यक्तिवादी शब्दावली के माध्यम से सामुदायिक सामाजिक नियंत्रण के सिद्धांत तक पहुँचने के लिए हाथ-पैर पटक रहा है और इस प्रयास में वह कभी-कभी यथार्थ व्यक्तिवाद के भँवरों में फँस जाता है।

राज्य के समष्टिवादी सिद्धांत पर पहुँच गया। सच पूछा जाए तो इस महान् कृति का नाम ही ग़लत है। इसे तो **डी ला ऑरगिनिज्म सोशल** नाम देना ज़्यादा ठीक होगा। रूसो ने संविदा की सामान्य और परंपरागत शब्दावली का प्रयोग किया है पर उसके तर्क में संविदा की व्यक्तिवादी ध्वनि कहीं भी नहीं है[1]। उसके विचार से राज्य एक नैतिक सावयव सत्ता (नैतिक और सामुदायिक सत्ता : नैतिक प्राणी) है और वह उसके कल्याण में निरत प्रभुतासंपन्न सामान्य इच्छा से संपन्न होती है। राज्य वैधिक अधिकारों की रक्षा करने वाला वैधिक संघ नहीं होता : वह एक नैतिक संघ होता है जिसके सामान्य जीवन के माध्यम से मानव अपने नैतिक जीवन में प्रवेश करता है। राज्य का सदस्य न होने की स्थिति में मनुष्य मूर्ख और सीमित प्राणी होता है ; वह बुभुक्षा और सहजवृत्ति से संचालित होता है। राज्य की सदस्यता के प्रभाव से वह बुद्धिमान् प्राणी बनता है, मनुष्य कहलाने के योग्य होता है (1·8, लॉज़, 875 से तुलना कीजिए)। राज्य सहजवृत्ति के स्थान पर न्याय की और बुभुक्षा के स्थान पर विधि की प्रतिष्ठा करता है। वह लोगों के कर्मों में नैतिकता की वह महक भर देता है जिसका उनमें पहले अभाव था। यह शुद्ध प्लेटोवाद या हेलेनी दृष्टिकोण है ; और राज्य को सामुदायिक नैतिक समाज मानने के हेलेनी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होकर रूसो ने स्वभावतः राज्य के शैक्षिक स्वरूप के संबंध में प्लेटोयी या हेलेनी दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन किया है। राज्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने सदस्यों को बुभुक्षा के बंधनों से मुक्त कर उनके लिए स्वतंत्रता के द्वार खोल दे : उसे चाहिए कि वह लोगों को स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करे (1·7)। "उसकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह लोगों के मन को राष्ट्रीय साँचे में ढाल दे और उनके विचारों तथा रुचियों को ऐसी दिशा दे कि वे प्रवृत्ति, उत्साह तथा आवश्यकता से देशभक्ति के रंग में रंग जाएँ"। (**गौवर्नमेंट डी पोलोग्ने,** अध्याय IV)। रूसो ने अपने सम्मुख इन सिद्धांतों को स्थिर नक्षत्रों की तरह रखकर राज्य के प्रति प्लेटो की तरह उत्साह की, तीव्र उत्साह की अनुभूति की थी। सच पूछा जाए, तो राज्य के संबंध में उसकी धारणा प्लेटो की धारणा से भिन्न थी। उसके राज्य में प्रत्येक नागरिक का सामान्य इच्छा के निर्धारण में योग रहता था और साथ ही उन विधियों के निमाण में भी जिनके माध्यम से और सिर्फ़ जिनके माध्यम से सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हो सकती है। रूसो ने लोकतंत्र, शुद्ध और

---

[1] जिस रूसो ने कहा था कि "मनुष्य जन्म से स्वतंत्र होता है पर वह हर जगह जंजीरों में जकड़ा हुआ है" और जिसने प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटने के मंत्र का प्रचार किया था, उसके बारे में यह पुरानी परंपरा कि वह व्यक्तिवादी था, **कंट्रैट सोशल** के ऐसे अध्ययन पर आधारित प्रतीत होती है जो पहले अध्याय के पहले वाक्य से आगे न बढ़ा हो। रूसो सूत्रकार था और अपनी रचना को एक सूत्र से आरंभ करने का उसे भारी दंड भोगना पड़ा है। अगर कहीं वह इसके बाद ही एक और सूत्र जोड़ देता और कहता चलता, "किंतु अगर बंधन न्याय के हों, उचित हों, तो यह न्याय्य और उचित होगा कि वह बंधनों में रहे और शासन की सार्थकता तभी है जब वह स्वशासन हो," तो वह असावधान पाठकों को अर्थ का अनर्थ करने से बचा लेता और अपने आप को ग़लत वाक्य-रचना के दंड से।

आदिम लोकतंत्र, का तथा विधि की प्रभुता का शंख फूंका था। ये यूनान के सिद्धांत थे, प्लेटो के नहीं : प्लेटो का विश्वास तो यह था कि राज्य की इच्छा उसके सबसे बुद्धिमान सदस्यों की इच्छा होती है और उसके सबसे बुद्धिमान सदस्यों को विधि की वेड़ियों में नहीं बांधा जाना चाहिए। किंतु, अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखने के लिए रूसो का लोकतंत्रात्मक और वैधिक राज्य भी उतना ही आतुर है, जितना प्लेटो का अभिजात-तंत्रात्मक और निरपेक्ष राज्य—उससे कम नहीं। रूसो को यह अभीष्ट है कि राज्य के अलावा नागरिक का और कोई समाज न हो। "सामान्य इच्छा की उचित अभिव्यक्ति हो सके—इसके लिए आवश्यक है कि राज्य में कोई आंशिक समाज न रहे और प्रत्येक नागरिक राज्य के संदर्भ में ही सोचे-विचारे" (**कंट्रेट सोशल**, II. 3)। अपने सदस्यों के ऊपर समुदाय की प्रभुता अविच्छेद्य और अखंड होती है; उसके ऊपर एक ही सीमा का आरोप हो सकता है कि वह सदा विधि के सामान्य नियमों में व्यक्त हो। नागरिक धर्म को किस रूप में मानें—समुदाय यह निर्धारित कर सकता है और समुदाय द्वारा निर्धारित इस नागरिक धर्म में रूढ़ियाँ नहीं होतीं, उसमें सामाजिकता की भावनाएँ होती हैं जो श्रेष्ठ नागरिकता तथा पक्की निष्ठा का आधार बनती हैं। वह अविश्वासी को दंड दे सकता है (इसलिए कि वह अधार्मिक है, इसलिए नहीं कि वह असामाजिक है। पर दंड देता ज़रूर है)। अंत में, जिस व्यक्ति ने धर्म स्वीकार कर लिया है, अगर वह इस तरह का आचरण करे मानो उसकी धर्म-सिद्धांतों में आस्था न हो, तो राज्य उस व्यक्ति को "जो विधियों के सामने झूठ बोला हो" प्राणदंड दे सकता है[1]।

यही वे मूल सबक हैं जो रूसो ने यूनानियों से और प्लेटो से सीखे थे। उसने छोटी-छोटी बातों के साथ बड़ी-बड़ी बातें भी प्लेटो से ग्रहण कीं; और उसके राजनीति-चिंतन की स्थूल रेखाओं पर ही प्लेटो का रंग नहीं है, समूचे रेखाचित्र पर उसकी गहरी छाप है। **कंट्रेट सोशल** के दूसरे खंड (अध्याय 7) में रंगमंच पर जो विधिकर्त्ता दिखाई पड़ता है, वह प्लेटो के रंग में रंगा व्यक्ति है। समाज सदा ही अपना कल्याण चाहता है, पर वह सदा उसका दर्शन नहीं कर पाता। समुदाय सदा ही सामान्य इच्छा का आख्यान करना चाहता है—और सामान्य इच्छा से रूसो का अभिप्राय है व्यापक कल्याण के प्रति उद्दिष्ट इच्छा—परंतु, उसे सदा यह ज्ञान नहीं होता कि वास्तव में उसकी इच्छा क्या हो। राज्य के आरंभ में यह कठिनाई विकट होगी और रूसो ने इसके समाधान के लिए जो दैवी उपाय सुझाया है, वह है विधिकर्त्ता। वह समुदाय को परामर्श देगा : अपने परामर्श का विधि के रूप में आरोप नहीं करेगा। वह समुदाय की प्रभुता का निषेध किए बिना ही उसके अज्ञान का निवारण करेगा। जिस तरह रूसो ने प्लेटो से विधिकर्त्ता का व्यक्तित्व लिया था, उसी तरह उसने प्लेटो से राज्य के आकार की धारणा भी ग्रहण की थी—शायद अनजाने में। राज्य का आकार बीच का होना चाहिए—वह न तो इतना बड़ा हो

---

[1] इस अवतरण तथा **लॉज़** के दसवें खंड के अवतरण की समानता हम पहले ही देख चुके हैं (पीछे अध्याय 16—ख देखिए)।

कि उसका अच्छी तरह से शासन न हो सके और न इतना छोटा कि आत्मनिर्भर न बन सके (II 9)। समुद्री वाणिज्य के संबंध में भी उसके विचार प्लेटो के विचारों जैसे ही हैं—उसके शब्द तक प्लेटो के ही शब्द लगते हैं । "क्या तुम्हारा समुद्रतट विस्तृत और विशाल है ? तब समुद्र को जहाजों से पाट दो : वाणिज्य और नौवहन का झंडा ऊँचा उठाओ : तुम्हारी जीवन आमामय पर अल्पकालीन होगा ।"

रूसो समाज-संविदा का अंतिम मसीहा नहीं है, वह आदर्शवादी संप्रदाय का पहला पैगंबर है : वह लॉक का उत्तराधिकारी और शिष्य नहीं, हीगेल का पूर्ववर्ती और शिक्षक है । "राज्य नैतिक स्वतंत्रता का वाहन है"—हीगेल ने भी (कांट की तरह) अपनी विचार-यात्रा का आरंभ रूसो की इस धारणा से किया था ; परंतु उस पर यूनानी नगर-राज्य के दर्शन और इतिहास का भी असर पड़ा था। यह असर सीधा भी था और रूसो की अपेक्षा कहीं ज्यादा भी था। वह प्रभाव 1802 के **सिस्टम ऑफ़ एथिक्स** में सबसे ज्यादा है : पर 1807 के **फ़िलॉसफी ऑफ़ माइंड** में भी यह प्रभाव उतनी ही गहराई से विद्यमान है । हीगेल ने राज्य की कल्पना विधि की शब्दावली में या विधि-संस्था के रूप में नहीं की । उसने राज्य की कल्पना समाज-नीति की शब्दावली में और उस समाज-नीति की उच्चतम अभिव्यक्ति और माध्यम के रूप में की है जिसका सारे समुदायों के जीवन पर नियंत्रण रहता है—राज्य के जीवन पर प्रमुख रूप से और विशेष रूप से । यह समाज-नीति अचानक समाज-मत के माध्यम से व्यक्त होती है और उसी के बल-बूते पर कार्यान्वित । राज्य को समाज-नीति का उपकरण मानने की इस धारणा में और राज्य को न्याय का उपकरण मानने की प्लेटोवादी धारणा में स्पष्ट संबंध है। इन धारणाओं का आधार-पटल एक ही है—राज्य एक नैतिक सावयव सत्ता है ; एक संगठित जीवन-व्यवस्था है जिसमें अपने कर्त्तव्य का पालन कर प्रत्येक नागरिक पूर्ण न्याय की सिद्धि करता है और इन दोनों धारणाओं की परिणति एक ही जीवन के रूप में होती है—"अपनी स्थिति और उसमें निहित कर्त्तव्यों के पालन" के रूप में । प्लेटो की तरह हीगेल भी निरपेक्षतावादी था और हालाँकि उसने प्रशा-नरेशों को दार्शनिक बनने की सलाह देने का साहस तो नहीं किया, फिर भी उसने शासन का मुख्य स्रोत "सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छा" में पाया । जिस प्रकार, प्लेटो ने एथेनी लोकतंत्र की इस आधार पर आलोचना की थी कि वह एक राज्य में दो राज्यों की सृष्टि कर देता है, उसी प्रकार हीगेल ने अँग्रेजों की प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली की इसलिए आलोचना की थी कि उसमें निजी और विशिष्ट स्वार्थों की वेदी पर राज्य की एकता का बलिदान हो जाता है । जिस तरह प्लेटो की साम्यवाद में आस्था थी, उस तरह हीगेल की साम्यवाद में कोई आस्था न थी, पर उसके सिद्धांत का एक अंग यह भी था कि अपने समस्त आर्थिक हितों के समेत 'नागर समाज' पर राज्य का नियंत्रण स्थापित होना चाहिए और अगर हीगेल समाजवादी न था, तो वह संरक्षणवादी (protectionist) जरूर था (इस स्थिति को कुछ लोग तो उत्कर्ष की दिशा में और कुछ अपकर्ष की दिशा में इससे आगे की स्थिति बताएंगे) ; और उसका मत था कि जिन निजी क्षेत्रों

में व्यक्तिगत स्वार्थ की अंधाधुंध पूर्त्ति होती हो, उन क्षेत्रों पर राज्य का नियंत्रण आवश्यक है[1]।

उन्नीसवीं सदी का एक प्लेटोवादी, संभवत: अपनी उच्छा के विरुद्ध प्लेटोवादी, आगस्ट कोंट था—वस्तुनिष्ठावाद का प्रवर्त्तक। प्लेटो की भाँति कोंट का का भी यह विश्वास था कि समाज का शासन वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा होना चाहिए और हो सकता हैं। पर कोंट का यह भी विश्वास था कि इस ज्ञान को तत्त्व-मीमांसा और धर्मशास्त्र की बेड़ियों में नहीं जकड़ना चाहिए और उसका स्वरूप कुछ ऐसा होना चाहिए कि उसकी व्यवहार के धरातल पर प्रतिष्ठा हो और वह आगमनात्मक हो और यह उसका प्लेटो से भेद था। प्लेटो की तरह उसकी भी गणित में आस्था थी, पर जहाँ प्लेटो का विचार यह था कि गणित शुद्ध 'भावों' का प्रदेश-द्वार है ; वहाँ कोंट का मत यह था कि गणितीय पद्धतियों के प्रयोग से स्वत: समाज-जीवन के सिद्धांत प्राप्त किए जा सकते हैं। उसकी दृष्टि में समाज-विज्ञान या समाज का अध्ययन सामाजिक भौतिकी का अध्ययन था जिसके दो पहलू थे—सामाजिक स्थिति-विज्ञान (social statics) और सामाजिक गति-विज्ञान (social-dynamics)। उसके अनुसार इस अध्ययन के आधार पर जो नियम प्राप्त होते थे, वे भौतिकी के नियमों की ही तरह निश्चियात्मक होते थे—अर्थात् जिस तरह गति भौतिकी के नियमों के अनुरूप होती है ; उसी तरह इन नियमों के अनुरूप कर्म होना चाहिए[2]। इन सिद्धांतों का निष्कर्ष यह था कि शासन एक वैज्ञानिक समस्या है और प्रशासन वैज्ञानिक पितृतंत्र (paternalism) का विषय। कोंट ने तत्त्व-मीमांसा के सारे सिद्धांतों को ठोकर मार दी और अतीत तथा वर्त्तमान के अध्ययन पर आधारित सकारात्मक सिद्धांतों के अलावा अन्य किन्हीं सिद्धांतों को शिरोधार्य करने से मना कर दिया। इस कसौटी पर प्लेटो से कोसों दूर रहता हुआ भी कोंट प्लेटो का ही शिष्य था क्योंकि वह राज्य का पुर्ननिमाण करना और वैज्ञानिक सिद्धांतों के आलोक में पुर्ननिर्मित राज्य का पथ-प्रदर्शन करना चाहता था। फिर, कोंट ने प्लेटो की तरह आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्ति, आध्यात्मिक

---

[1] 'हीगेल का समाजवाद से संबंध'—इस विषय पर डब्ल्यू० वालास के **लेक्चर्स एंड एसेज,** पृ० 441 देखिए। आधुनिक जर्मनी में प्लेटो के साम्यवाद की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है; और एक से अधिक विद्वानों ने (उदाहरण के लिए पोहलमान ने और उससे कुछ कम आग्रह के साथ नाटोर्प ने) प्लेटो को समाजवादी पक्ष का विचारक माना है।

[2] कोंट चाहता था कि समाज–विज्ञान इतिहास के अभिलिखित तथ्यों का अनुसंधान करे और इन तथ्यों को सुनिश्चित वैज्ञानिक नियमों की परिधि में ले जाए। इसके लिए उसने जिस पद्धति का सुझाव दिया, वह यह थी कि इतिहास के प्रत्येक तथ्य की पुरानी परंपरा का अध्ययन किया जाए और इस तथ्य को सामाजिक जीवन में उसकी परंपरा के विकास के किसी विशिष्ट अवस्थान की अंतर्निहित दशाओं का फल समझा जाए। इस तरह, मिल की शब्दावली में समाज-विज्ञान की "समस्या उन नियमों की खोज करना हो गई जिनके अनुसार समाज की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आविर्भाव होता है जो उसका उत्तराधिकार और स्थान ग्रहण करती है।"

तथा लौकिक वर्ग के बीच भी भेद किया था—भले ही उसके इस चिंतन पर प्लेटो का अपेक्षा मध्य युग का अधिक प्रभाव रहा हो। उसका आदर्श राज्य वह होता जिसका संचालन-सूत्र आत्म-ज्ञान के साधकों के हाथों में होता। ये लोग विज्ञान में पारंगत होते, विवेक के अवतार होते और बल के द्वारा नहीं, अनुभव के द्वारा कार्य करते तथा वैज्ञानिक सिद्धांतों के आलोक में राजनीति को दिशा-निर्देशन देते। कोंट का अपनी जवानी में सेंट साइमन से (जो मध्ययुगीन विचारधारा का पोषक होने के साथ-साथ कल्पना-राज्यवादी भी था) घनिष्ठ संबंध रहा था और उसने यह विश्वास सेंट साइमन से ग्रहण किया था, प्लेटो से नहीं कि दर्शन का लक्ष्य सामाजिक होना चाहिए और उसका काम समाज का पुनरुद्धार। कोंट ने आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के बीच जो विभाजक-रेखा खींची, उसकी प्रेरणा भी उसे सट साइमन से ही मिली थी। उसके चिंतन में प्लेटो के साथ जो सादृश्य दीख पड़ता है, वह आरोपित नहीं है, सहज-स्वाभाविक है। और जब वह तत्त्व-मीमांसा के सिद्धांतों पर आपत्ति करता है या सकारात्मक नियमों की माँग करता है, तब वह मूलतः प्लेटो के विरुद्ध है। स्थूल रूप से देखने पर कोंट हीगेल के शिष्यों की तुलना में प्लेटो के अधिक समीप है, पर यथार्थ में वह प्लेटो की अंतरात्मा से बहुत दूर है।

पिछले चालीस सालों में प्लेटो का दर्शन इंगलैंड के राजनीति-चिंतन के एक विशिष्ट संप्रदाय का मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहा है। यह वह संप्रदाय है जिसका विभिन्न दृष्टियों से ग्रीन, बोसांके और ब्रेडले ने प्रतिनिधित्व किया है[1]। शायद, इस संप्रदाय में दीक्षित अध्यापकों का ही यह प्रभाव है कि प्लेटो की एक नई शिष्य-मंडली पैदा हो गई है। अगर आप हमारे नगरों की ट्यूटोरियल कक्षाओं के छात्रों से बात करें, तो आपको ऐसे अनेक अँग्रेज़ श्रमजीवी मिल जाएँगे जिन्होंने **रिपब्लिक** का अध्ययन किया हो और जो उससे प्रेम करने लगे हों। शायद प्लेटो यह न मानता कि ऐसा भी हो सकता है—"जनता में दार्शनिकता का होना असंभव है" (**रिपब्लिक**, 494 A)। अगर प्लेटो इन चीज़ों की कल्पना कर सकता, तो शायद लोकतंत्र के बारे में उसे कुछ आशा बँधने लगती, शायद वह अपनी शिक्षा-योजना के क्षेत्र और साम्यवादी योजना की परिधि का विस्तार करने के लिए सहमत हो जाता ताकि जिस ज्ञान से उसने नेह जोड़ा था और जिसकी साधना में वह जीवन की अंतिम सांस तक जुटा रहा था, उस ज्ञान से नेह जोड़ने और उसकी साधना करने का अधिकार केवल इने-गिने भाग्यशालियों तक सीमित न रहता, और सभी उसका प्रसाद पाने के अधिकारी हो जाते।

●

---

[1] इँगलैंड के अर्वाचीन राजनीति-चिंतन पर—जाने-माने दार्शनिकों पर ही नहीं बल्कि रस्किन और कार्लायल जैसे साहित्यकारों पर भी—प्लेटो का जो असर है और उनके चिंतन में जो समानांतरताएँ मिल जाती हैं, उनका कुछ परिचय प्राप्त करने के लिए होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी द्वारा प्रकाशित **पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम स्पेंसर टु टु-डे** ग्रंथ देखा जा सकता है।

पारिभाषिक शब्दावली

हिंदी	अंग्रेज़ी
अंग-रक्षक	body guard
अंतःप्रज्ञा	intuition
अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता	international morality
अंतर्राष्ट्रीय विधि	international law
अंत्येष्टि भाषण	funeral oration
अर्जन	acquisition
अति	excess
अतिप्राकृतिक अनुशास्तियाँ	supernatural sanctions
अतिमानव	superman
अति-राज्य	super-state
अत्याचारी शासक	tyrant
अर्थक्रियावाद	pragmatism
अधिनियम	enactment
अधिवासी	settler
अनन्यता	identification
अनम्य संविधान	rigid constitution
अनावश्यक बुभुक्षाएँ	unnecessary appetites
अनित्य	variable
अनीति	unrighteousness
अनीश्वरवादी	agnostics
अनुकरणात्मक कलाएँ	imitative arts

हिंदी	अंग्रेज़ी
अनुकूलन	adaptation
अनुकूलतम संख्या	optimum number
अनुज्ञा-पत्र	licence
अनुदेश	instruction
अनुप्रयोग	application
अनुपाती न्याय	distributive justice
अनुपाती प्रतिनिधित्व	proportional representation
अनुभववाद	empiricism
अनुशास्तियाँ	sanctions
अपधर्म	heresy
अपराध	crime
अपराधशास्त्री	criminologist
अपवित्रता	impiety
अभावात्मक	negative
अभिकर्त्ता	agent
अभिघटन कलाएँ	plastic arts
अभिजात-वर्ग	nobility
अभिजात-तंत्र	aristocracy
अभियान	expedition
अभियोक्ता	accuser
अभिलेख	record
अमिश्र राजतंत्र	unmixed monarchy
अमूर्त तत्त्व	abstraction
अराजकतावाद	anarchism
अवशेष प्रणाली	method of residues
असम्मेयता	incommensurability
अस्तित्व-संघर्ष	struggle for existence
अर्हता	qualification
अहंवाद	egoism
आंतर्देशिक नगर	inland town
आकाशीय पिंड	heavenly sphere
आख्यान	legend

हिंदी	अंग्रेजी
आगमनात्मक	inductive
आचरण-संहिता	code of conduct
आज्ञप्ति	decree
आज्ञार्थक भाव	imperative mood
आतंक का साम्राज्य	reign of terror
आत्म	self
आत्म-नियंत्रण	self-control
आत्म-निर्भरता	self-sufficiency
आत्म-परितोष	self-gratification
आत्म-संयम	self-control
आदर्श	ideal
आदर्श राज्य	ideal state
आदर्शवाद	idealism
आदर्शोक्ति	motto
आदिम समाज	primitive society
आदेश	command
आद्य रूप	rudiment
आधार तत्त्व	substratum
आधार-वाक्य	premise
आधार-सामग्री	data
आनुपातिक प्रतिनिधित्व	proportional representation
आनुपातिक समानता	proportional equality
आनुवंशिक	hereditary
आभास	appearance
आमूल परिवर्त्तनवाद	radicalism
आयोग	commission
आरेख	drawing
आवश्यक बुभुक्षाएँ	nenessary appetites
आवासी विदेशी	metic
आहार-संयम	dieting
इंद्रिय-बोध	sense perception
इंद्रिय-सुख	pleasure of sense

हिंदी	अँग्रेज़ी
इतिवृत्तिकार	logographer
ईसाइयत	christianity
उत्कर्ष	excellence
उत्परिवर्त्तन की नवीनताएँ	mutational novelties
उत्पादक	producer
उत्तरदान	bequest
उत्तराधिकार	succession
उत्तराधिकार-विधि	law of succession
उत्साह	spirit
उद्बोधन	admonition
उद्दीपन	stimulus
उन्मूलन	elimination
उप-आदर्श राज्य	sub-ideal state
उपदेशात्मक	didactic
उपमंडल	sub-division
उपनिवेश	colony
उपनिवेशी	colonist
उपनिवेशीकरण	colonisation
उपयोगिता	utility
उपयोगितावाद	utilitarianism
उपसंहार	epilogue
उपाख्यान	episode
उपासना-पद्धति	cult
उम्मीदवार	candidate
उसी स्थान पर	*ad locum*
एकक	unit
एकीकरण	unification
एकपत्नीत्व	monogamy
एकान्वित शासन	single government
एकेश्वरवाद	monotheism
एफ़ेब	Ephebi
एफ़ीबेट	Ephebate

हिंदी	अँग्रेज़ी
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	historical perspective
'औपनिवेशिक' दासता	plantation slavery
कबाइली भूमिकर	Tribal Hidage
कबीला	tribe
करुण कविता	elegiac poem
कर्मकांड	ritual
कला का व्यवहर्त्ता	practitioner of art
कल्पना-राज्य	utopia
कल्पना-राज्यवादी	utopian
काम प्रेरणा	sexual motive
कायिकी	physiology
कार्मिक संघ	trade union
कार्यकारी पदाधिकारी	executive official
कार्यांग	executive
कालदोष	anarchronism
काव्यशास्त्र	poetics
किलेबंदी	fortification
कुकृती	wrong doer
कुकृत्य	wrong doing
कुतर्क	sophistry
कुल	clan
कृषक दास	serfs
कृषक दासता	sefdom
कृषिपरक शासन-व्यवस्था	agrarian regime
क्रांति	revolution
क्रीड़ा-क्षेत्र	stadium
कैंटन	canton
खंड-रचना	fragment
खगोल-विज्ञान	astronomy
खदान	quarry
खानाबदोशी	vagabonadage
गणितीय-भौतिकी संप्रदाय	mathematical physical school

हिंदी	अँग्रेज़ी
ग़बन	peculation
गश्ती दल	patrol
ग्रहणशील	impressionable
गृहपति	householder
गृह-युद्ध	civil war
ग्राम-चतुष्टय	tetrapolis
गिल्ड-संगठन	guild organisation
गुज़ारा	maintenance
गुट	faction
गुप्त मतदान	secret vote
गुरुत्वाकर्षण का नियम	law of gravitation
गोचर तत्त्व	sensible particulars
गोचर रूप	sensuous things
गोपनीय रहस्य	esoteric mystery
गौण कलाएँ	subsidiary arts
घन ज्यामिति	solid geometry
घनिष्ठता	intimacy
चरम लोकतंत्र	extreme democracy
चरम स्थिति	climax
चर्च-राज्य	church state
चिर भोगज अधिकार	prescriptive title
चुनाव	selection
जनमत	public opinion
जमानत	security
जरातंत्र	gerontocracy
जनित्र-द्रव्य	germ plasm
जनोत्तेजक नेता	demagogue
जन्मसिद्ध अधिकार	birthright
जिरह	interrogation
जिहाद	crusade
जीवन की शालीनता	graces of life
जीव-विज्ञान	biology

हिंदी	अँग्रेज़ी
जीवी	organism
जुर्म	offence
ज्यामिति	geometry
ज्ञान	knowledge
ज्ञान का आलंबन	object of knowledge
ज्ञान-द्वय का सिद्धांत	doctrine of the two knowledges
ज्ञान-प्रेमी	Lovers of Wisdom
ज्योतिष	astronomy
टोरी	tory
ठेठ	typical
तत्त्व-मीमांसा	metaphysics
तदर्थ संस्था	*ad hoc* body
तर्क	dialectic
तर्कबुद्धिवाद	rationalism
तर्कभ्रांति	fallacy
तर्कशास्त्र	logic
तहखाना	dungeon
त्वरा तत्त्व	quick element
ताना-बाना	warp and woof
तार्किक	logician
तीव्र स्वर (संगीत)	higher note
त्रासदीकार	tragedian
त्रिकोणिका	pediment
त्रिकोणमिति	trigonometry
त्रिमंडल	triumvirate
थियोसोफ़िस्ट	theosophist
दंड	punishment
दंडनायक	magistrate
दंड-संहिता	criminal code
दर्शन	philosophy
दस्तकार	craftsman
दार्शनिक	philosopher

हिंदी	अँग्रेज़ी
दार्शनिक नरेश	philosopher king
दार्शनिक निरपेक्षतावाद	philosophic absolutism
दाशमिक प्रणाली	metric system
दार्शनिक श्रेय	philosophic goodness
दासता	slavery
दिव्य सामंजस्य	divine concordance
दुष्कृति	tort
दृष्टांत	analogy, illustration
देवकथा	myth
देवमंत्र	hymns
देववाणी	oracle
'देश'	space
देशनिकाला	exile
देशविधि	common law
देशांतरण	migrations
दैवी अधिकार	divine right
द्रोणी	basin
द्रोही	peretic
द्वंद्वात्मक पद्धति	method of dialectic
द्वादशक पद्धति	duodecimal system
द्वितीय सर्वश्रेष्ठ	second best
द्वि-सदन-प्रणाली	bicameral system
धनिकतंत्र	timocracy
धर्म	creed
धर्म-निरपेक्ष	secular
धर्म-परिवर्त्तन	conversion
धर्म-पिता	foster-father
धर्म-युद्ध	crusade
धर्म-शास्त्र	theology
धर्म-सापेक्ष राज्य	theocratic state
धर्म-सुधार	reformation
धर्माधिकारी वर्ग	clergy

हिंदी	अंग्रेज़ी
धार्मिक उत्पीड़न	religious persecution
धार्मिक पवित्रता	religious piety
नकारात्मक	negative
नगरपालिका	municipum
नगर-प्रांत	urban area
नगर-राज्य	city state (polis)
नम्यता	flexibility
नम्य संविधान	flexible constitution
नरम अल्पतंत्र	moderate oligarchy
नर-मधुमक्खी	drone
नवजात राज्य	nascent state
नवीनता-प्रेमी नागरिक	eccentric citizen
नव्य प्लेटोवादी	Neo-platonist
नागर कार्य	civic affairs
नागरिक संगठन	civic organisation
नामरूपवादी	nominalist
नामांकन	nomination
नामावली	roll
नाशवाद	nihilism
निगम	corporation
निगमनात्मक पद्धति	deductive method
नित्य	being
निमित्त	mission, cause
नियम	rule
नियम-ग्रंथ	manual
नियतत्त्ववादी	determinist
निर्यात	exportation
निर्योग्यता	disability
निरंकुश-तंत्र	tyranny
निरंकुश राज्य	despotism
निरंकुश शासक	tyrant
निरपेक्ष राजतंत्र	absolute monarchy

हिंदी	अँग्रेजी
निरपेक्ष शासन	absolutism
निरपेक्षतावादी	absolutist
निरसन	repeal
निरीश्वरवाद	agnosticism
निरुपाधि निरपेक्षतावाद	unqualified absolutism
निवासी अदेशी	resident alien
निवृत्तिमूलक निरंकुशता	ascetic despotism
निर्वाचन	election
निर्वाचन-क्षेत्र	constituency
निर्वाचक-मंडल	electorate
निर्विशेष	Identical
निषेधात्मक	negative
निष्क्रिय पक्ष	passive side
निष्ठा	allegiance
नीतिवादी	moralist
नीतिशास्त्र	ethics
नैतिक संस्था	moral association
नैतिक सावयव सत्ता	moral organism
नैश परिषद्	nocturnal council
नैसर्गिक वरण-सिद्धांत	theory of natural selection
नौकरशाही	bureaucracy
नौ-राज्य	naval state
नौवहन	shipping
नौशक्ति-संप्रदाय	blue water school
न्याय	justice
न्यायपरायणता	righteousness
न्याय-पीठ	judicial bench
न्याय-भावना	righteousness
न्याय-शास्त्र	jurisprudence
न्यायालय	court
पंचांग	calender
पंचायती भोजन-व्यवस्था	common tables

हिंदी	अँग्रेज़ी
पंथ	cult
पक्षधर	partisan
पट्टा	concession
पतन की धारणा	conception of the fall
पत्तन	port
पद	office
पदाधिकारी	official
पदार्थ	matter
पदार्थ का अणुवादी सिद्धांत	atomist theory of matter
पदावधि	term of office
परकोटा	outwork, bastion
परम ज्ञान	master knowledge
परम नैतिक आदेश	categorical imperative
परमाधिकार	prerogative
परंपरागत लोकतंत्र	ancestral democracy
परंपरागत संविधान	ancestral constitution
परंपरावाद	traditionalism
परिक्रमा-पथ	orbit
परिणयोत्सव	nuptial
परिवेश	environment
परिशोधन	purification
परिषद् की अध्यक्षता-समिति	presiding committee of the council
परिषद्-समिति	committee of council
पर्ची	lot
पर्यावरण	environment
पवित्रता	piety
पांडित्य-प्रेरित सहजवृत्ति	scholastic instinct
पांडुलिपि-विज्ञान	papyrology
पाठ्यक्रम	curriculum
पापमोचन-स्थान	purgatory
पायथागोरस का सीमा-सिद्धांत	pythagorean doctrine of 'limit'
पालन-पोषण	nurture

हिंदी	अँग्रेजी
पीड़ित पक्ष	injured party
पुजारी-वर्ग	priesthood
पुनरुत्पादन-प्रक्रिया	process of reproduction
पुनर्जागरण	reformation
पुराकथाविद्	mythologist
पुरातत्त्व	archaeology
पुराण कथा	myth
पूंजीपति	capitalist
पूंजीवाद	capitalism
पूर्वज	ancestor
पूर्वजोद्भव	atavism
पूर्वाग्रह	prejudice
पेशेवर	professional
पैम्फ़लेटनवीस	pamphleteers
पैरवी	advocacy
प्रकथन	predication
प्रकल्पना	presumption
प्रकृत	normal
प्रकृति	nature
प्रकृतिवाद	naturalism
प्रकृतितंत्रवादी	physiocrat
प्रकृति-मानव	nataral man
प्रगीति-काव्य	lyric poetry
प्रजनन	breeding
प्रजा	subject
प्रतिकर	compensation
प्रतिकार	nemesis, retribution
प्रतिच्छवि	image
प्रतिनिधि	representative
प्रतिनिधित्व	representation
प्रतिनिधि-संस्था	representative institution
प्रतिपक्षता	anti-thesis

हिंदी	अँग्रेजी
प्रतिफल	requital
प्रतिबंध और संतुलन	checks and balances
प्रतिमा-भंजन	iconoclasm
प्रतिमान	standard
प्रतिरोध	resistance
प्रतिवादी	defendant
प्रतिषेध	prohibition
प्रतीक	symbol
प्रतीति	appearance
प्रत्यावर्त्तन	reversion
प्रथा	custom
प्रबुद्ध निरंकुशता	enlightened despotism
प्रभु	sovereign
प्रभुता	sovereignty
प्रमेय	theorem
प्ररूप	type
प्रवरता	superiority
प्रवाद	scandal
प्रव्रजन	migration
प्रशासन	administration
प्रशिक्षण	training
प्रशिक्षण-क्रम	course
प्रसंविदा	covenant
प्रस्तावना	preamble
प्राक्कथन	prolegomena
प्राकृतिक अधिकार	natural right
प्राकृतिक अवस्था	State of Nature
प्राकृतिक विज्ञान	natural science
प्राच्य संसार	oriental world
प्राणदंड	capital punishment
प्राणि-विज्ञान	zoology
प्राथमिक लोकतंत्र	primary democracy

हिंदी	अँग्रेज़ी
प्राधिकार	authority
प्राविधिक	technical
प्रिंसिपेट-काल	principate
प्रेमाख्यान	romance
प्रेरक हेतु	motive
प्लेटोवादी	Platonist
फलक	canvas
फिलस्तीनवाद	Philistinism
बंधक	mortgage
बर्बर	barbarian
बलप्रयोग	coercion
बहुतंत्र	polyarchy
बहुदेववाद	polytheism
बहुरूपिया	protean
बिंब	image
बिचौलिया	middleman
बिरादरी	brotherhood
बुद्धिवादी	intellectualist
बुभुक्षा	appetite
बोध	apprehension
ब्रह्मांड विद्या	cosmology
भरण-पोषण	sustentation
भाव	idea
भावनाएँ	emotions
भाव-समाधि	trance
भावात्मक	positive
भाषण-शास्त्री	rhetorician
भिन्न	'the different'
भूमि-दास	helot
भौतिकवाद	materialism
भौतिकविद	physicist
भौतिक वैज्ञानिक	physical scientist

हिंदी	अँग्रेज़ी
भौतिकी	physics
भौमिकी	geology
भ्रष्टाचार	corruption
भ्रातृत्व	fraternity
मंत्रिमंडल	cabinet
मंद स्वर (संगीत)	lower note
मंशा	intention
मठ	monastery
मठ-व्यवस्था	monastic system
मत	opinion, vote
मतदान	voting
मताधिकार	franchise
मध्यम मार्ग का सिद्धांत	doctrine of the mean
मध्यममार्गीय संविधान	moderate constitution
मध्यम स्वर	middle note
मध्यमार्गी	moderate
मध्य युग	Middle Ages
मध्यस्थताकारी राज्य	mediatory state
मर्यादा	limit
मसलहत	expediency
मसीहा	apostle
मसौदा	draft
महाकाव्य	epic
मात्स्य-न्याय	State of Nature
माध्य	mean
माध्यमिक शिक्षा	secondary education
मानक	standard
मानववाद	humanism
मानववादी	humanist
मानव-विज्ञान	anthropology
मानविकी (विद्याएँ)	humanities
मानस	Mind

हिंदी	अँग्रेज़ी
मिश्रित संविधान	mixed constitution
मुद्रा	currency
मुनाफ़ाखोरी	profiteering
मृतक-संस्कार	burial
मेघ-लोक	cloud-land
मैग्ना कार्टा	Magna Carta
मैत्री-संधि	alliance
मोह-भंग	disillusionment
यतित्ववाद	asceticism
यथार्थवाद	realism
यथार्थवादी	realistic
योग्यतम की चिरजीविता	survival of the fittest
रंगतंत्र	theatrocracy
रंगशाला	theatre
रसायन-शास्त्र	chemistry
रहस्यवाद	mysticism
राजकीय समाजवाद	state socialism
राजतंत्र	monarchy
राजदंड	sceptre
राजद्रोह	sedition
राजनीति	politics
राजनीतिक चिंतन	political thought
राजनीति-कला	political art
राजनीतिक विचारक	political thinker
राजनीतिक साहचर्य	political association
राजनीति-दर्शन	political philosophy
राजनीति-विज्ञान	political science
राजमर्मज्ञ	statesman
राजमर्मज्ञता	statesmanship
राजस्व	revenue
राजाओं का दैवी अधिकार	Divine Right of Kings
राज्य	state

हिंदी	अंग्रेज़ी
राज्य का कारण	raison d' e'tat
राज्य क्षेत्र	territory
राज्य-सिद्धांत	theory of state
राष्ट्र	nation
राष्ट्र-राज्य	nation-state
राष्ट्रिकता	nationality
राष्ट्रीयकरण	nationalization
राष्ट्रीयता	nationality
रूढ़ि	convention
रूढ़िवादी सिद्धांत	conservative doctrine
रूप	appearance
रूपक	metaphor
रूप-विधान	form
रेहन	mortgage
रोग-विचार/विज्ञान	pathology
लाभ-प्रेमी	Lovers of Gain
लोक-कर्मी	folk worker
लोकतंत्र	democracy
लोक-निर्वाचक-मंडल	popular electorate
लोक-नेता	demagogue
लोक-संरक्षक	protector of the people
लोक-सभा	popular assembly
लोकाचार	custom
वंश-क्रम	descent
वंशागत पाप	guilt of blood
वंशागत विधि	inherited law
वर्ग	class
वर्ग-बंधन	grouping
वर्ग-संख्या	square number
वर्गीकरण	classification
वयस्क	adult
वलय	ring

हिंदी	अँग्रेज़ी
वस्तुनिष्ठावाद	positivism
वाणिज्य-प्रणाली	mercantile system
वाणिज्य-राज्य	commercial state
वाणिज्य-विधि	commercial law
वायवीय राज्य	city of Nowhere
वासना	passion
वास्तविकता	reality
विकलांग विद्या	therapeutics
विकृति	perversion
विग्रह	discord
विचारकारी संस्था	deliberative body
विचार-साहचर्य	association of ideas
वितान-कक्ष	mound
वित्त	finance
वित्त-व्यवस्था	finances
विदेश-नीति	foreign policy
विद्वेष	malice
विद्याचतुष्टयी	Quadrivium
विद्यात्रयी	Trivium
विद्यापीठ	school
विधान-मंडल	legislature
विधायक/विधिकार	law-giver
विधि	law
विधिकर्त्ता	legislator
विधि-विधान	letter of law
विधि-व्यक्ति	juristic person
विधि-शासन	rule of law
विधि-संरक्षक	guardians of law
विनिमय	exchange
विनियम	regulation

हिंदी	अंग्रेज़ी
विपंची	lyre
विभेदीकरण	differentiation
विमर्शात्मक कार्य	deliberative function
विमा	dimension
विमुक्ति	exemption
विरूपण	backsliding
विरोधाभास	paradox
विलोम पक्ष	converse side
विवरण	narration
विवाचक	arbitrator
विवाचन-मंडल	board of arbitration
विवेक	reason
विवेकपरक	rational
विवेचन	discussion
विश्वकोशविद्	Encyclopaedist
विश्व-बंधुत्व	cosmopolitanism
विश्वासेच्छा	will to believe
'विशेष' न्याय-सिद्धांत	theory of 'particular' justice
विशेषाधिकार	privilege
विशेषीकरण	specialisation
विषयी	subject
वीर काव्य	Epos
वीर गीत	ballads
वृत्ताकार	circular
वैधिक	legal
व्यंग्य	satire
व्यक्तित्व	personality
व्यक्तिवाद	individualism
व्यय-नियामक विधियां	sumptuary laws
व्यय-बुभुक्षाएं	spendthrift appetites
व्यवहारवाद	postivism
व्यवहार-संहिता	civil code

हिंदी	अँग्रेज़ी
व्यापार-मंडल	Board of Trade
व्यायाम	gymnastics
व्यावसायिक वर्ग	professional class
संकरता	promiscuity
संकल्पना	conception
संकेत	allusion
संकेतात्मक भाव	indicative mood
संकेतावलि	code
संक्रमण	transition
संख्यात्मक रहस्यवाद	numerical mysticism
संचय-बुभुक्षाएँ	acquisitive appetites
संघ	association/league
संघटक सदस्य	constituent members
संदेहवादी	sceptic
संप्रदाय	school
संप्राप्ति/संभरण	supply
संप्रेषण	communication
संयत अल्पतंत्र	moderate oligarchy
संयम	moderation
संयोजन	combination
संरक्षक	guardians
संरक्षणवादी	protectionist
संरक्षण-व्यवस्था	protective system
संवाद	dialogue
संविदा	contract
संविदावादी	contractarian
संविधान	constitution
संविधानवाद	constitutionalism
संविधानी राजतंत्र	constitutional monarchy
संविधि-पुस्तिका	statute-book
संश्लेषण	synthesis
संसद	Parliament

हिंदी	अँग्रेज़ी
संसदीय अधिनियमन	parliamentary enactment
संस्कार	reminiscence
संस्कारी कलाएँ	liberal arts
संस्कृति	culture
संस्कृति-राज्य	*Kultur* state
संस्था	institution
संस्था-विधि	law of associations
सकारात्मक विधि	positive law
सगोत्र-संघ	kin-group
सत्/सद्गुण/सद्वृत्ति	virtue
सत्ता का कारण	raison d' être
सद्गुण का उद्भावक	producer of virtue
सद्भाव	goodwill
सदोष मानव वध	culpable homicide
सनकीपन	cynicism
सभ्यता	civilization
सभासद्	councillor
समता	equality
समतावादी	leveller
सममिति	symmetry
सम-सामयिक	contemporary
समष्टिवाद	collectivism
समाख्यान	narration/narrative
समागम	communion
समाज	society
समाजवाद	socialism
समाजवादी	socialist
समाधिकार	isonomy
समीक्षण	inquisition
समुद्रतटवर्ती राज्य	maritime state
सम्मान-प्रेमी	Lovers of Honour
सरकारी खज़ाना	public exchequer

हिंदी	अँग्रेज़ी
सर्जना	creation
सर्जनात्मक आवेग	creative impulse
सर्व-राष्ट्रवाद	cosmopolitanism
सर्व-हेलेनवाद	panhellenism
सह्-अस्तित्व	co-existence
सह्कर्मी	associate
सह्जवृत्ति	instinct
सह्वर्त्ती परिस्थितियां	attendant circumstances
सह्-शिक्षा	co-education
सांख्यिकी	statistics
सामंतवाद	feudalism
सांविधानिक विधि	constitutional law
सांसदिक	parliamentarian
साख (व्यवस्था)	credit
साटीर	Satyr
साध्यपरक दृष्टिकोण	teleological view
साधारण न्याय	universal justice
साधुता	goodness
सान्निध्य	contiguity
सामंजस्य	adjustment/concord/harmony
सामंती दासता	villeinage
सामरस्य	concord
साम्यवाद	communism
साम्राज्य	empire
साम्राज्यवाद	imperialism
सामाजिक आचरण	social ethics
सामाजिक गति-विज्ञान	social dynamics
सामाजिक प्रवरता	social superiority
सामाजिक संविदा	social contract
सामाजिक स्थिति-विज्ञान	social statics
सामान्य इच्छा	general will
सामान्य विधि	common law

हिंदी	अँग्रेज़ी
सामान्य श्रेय	common goodness
सावयव जीव	organism
सार्वजनिक जीवन	public life
सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा	universal compulsory education
सार्वभौम मताधिकार	universal sufferage
साहचर्य	association
साहित्यालोचन	literary criticism
साहित्यिक पत्र	epistle
सिरेनायक	cyrenaic
सुकान	helm
सुखवाद	hedonism
सुखांत नाटक	comedy
सुघटनीयता	plasticity
सुजनन-शास्त्र	eugenics
सुरकार	composer of melody
सुरक्षा	security
सुधार-सदन	house of reformation
सुनीति	equity
सु-मति	right opinion
सूदखोरी	usury
सूर्यनगर	city of the sun
सृष्टि	cosmos/universe
सेनटार	centaur
सेवकोचित कलाएँ	ministerial arts
सैनिकवाद/सैन्यवाद	militarism
सोफ़िस्ट	sophist
सौंदर्यवादी दृष्टिकोण	aesthetic point of view
सौहार्द	comity
स्टोइक	stoic
स्थानीय शासन	local government
स्थापना	proposition
स्नायु-तंत्र	nervous system

हिंदी	अँग्रेज़ी
स्वतंत्रता	freedom
स्वप्न-लोक	utopia
स्वभाव-निर्माण	habituation
स्वर	tone
स्वर-विज्ञान	harmonics
स्वर्ग राज्य	kingdom of heaven
स्वर्ण-युग	Golden Age
स्व-शासन	home-rule
स्वशासी	self-governing
स्वशासी समुदाय	self-governing community
स्वामित्व-नैतिकता	master morality
स्वायत्तता/स्वायत्त शासन	autonomy
स्वीकृति	acquiescence
स्वेच्छ राज्य	arbitrary state
शंकात्मक	aopretic
शब्द-विधान	accidence
शरीरक्रियाविद्	physiologist
शल्य-क्रिया	surgery
शहीद	martyr
शांतिवाद	pacificism
शास्त्रीय पद्धति	scholastic method
शिल्प	craft
शिशुपालन-केंद्र	creche
शिष्टाचार	civility
शुद्धाचारवाद	puritanism
शुद्धि	purification
शूकर नगर	City of Swine
शोधक	straightener
शोधनकारी सत्ता	corrective authority
शोधनात्मक न्याय	rectificatory justice

हिंदी	अँग्रेज़ी
शौकिया	amateur
श्रमजीवी-वर्ग	working class
श्रमपरक धंधा	mechanical occupation
श्रम-विभाजन	division of labour
श्रेणी समाजवाद	guild socialism
श्रेण्य ग्रंथ	classics
श्रेय	good/goodness
हीगेलवाद	Hegelianism
हेत्वाभास	sophism
हैलट	helot

अनुक्रमणिका

अ

अंकगणित, 299-302
अंतर्राष्ट्रीय विधि, 395, 537, पा० टि० 1
अकादमी, 168-171, 297-9, 524 पा० टि० 2, 537
अज्ञातनाम आयम्बलीची, 121
अपराध :—
  —का क्षति से भेद, 544
  —का स्वरूप, 539, 541
  —तथा दंड, 539-551
अपॉलॉजी, 141 पा० टि० 1, 146, 168, 186-8, 429 पा० टि० 1
अपोलो, 11, 62-63, 88 पा० टि० 1
अबडेरा, 91, 100
अनीश्वरवाद, 528
अनुपाती न्याय, 16-17, 303 पा० टि० 1
अभिजात-तंत्र, 5, 42, 432, 435
  —प्लेटो की दृष्टि में, 308, 318 322, 326
अरगिनुसाए का नौ-युद्ध. 133
अराजकतावाद :—
  —और सोफ़िस्ट, 222 पा० टि० 1
  प्लेटो द्वारा वर्णित लोकतंत्र में—के तत्त्व, 378-81
अरिस्टप्पस (सिरेनायक), 163
अरिस्टाइड्स, 192
अरिस्टाटल, 4, 6, 7, 11, 14, 17, 18, 19, 25, 39, 40, 42, 43, 51 116, 121, 143, 125 पा० टि० 1, 159, 221, 225 पा० टि० 1, 241, 247 पा० टि० 1, 258 पा० टि० 1, 265 पा० टि० 1, 313, 352, 365, 532
  —और रिपब्लिक, 247 पा० टि० 1, 258 पा० टि० 1, 259 पा० टि० 1, 262, 291, 300, 313, 319, पा० टि० 2, 329 पा० टि० 2, 338, 339, 340, 342, 347, 352, 353, 354, 364, 365, 367, 370, पा० टि० 2
  नागरिकों की विधिसम्मत शिक्षा, 55
  न्याय-धारणा, 71
  पॉलिटिकस का प्रभाव, 407, 421 पा० टि० 3
  पॉलिटिकस की आलोचना, 407, 419
  प्रकृति-जगत् के उदाहरण, 181
  मध्य वर्ग, 17
  यूनानी और बर्बर, 29

राजनीति-विज्ञान और नीति-शास्त्र की अविभाज्यता, 220 पा० टि० 1, 342 पा० टि० 1
राजनीति-विज्ञान की संकल्पना, 11-12
लॉज़ का प्रभाव, 443 पा० टि० 1, 461, 481 पा० टि० 1, 486 पा० टि० 1, 533, 580-2
लॉज़ की आलोचना, 451, 467 पा० टि० 2, 517-9, 524 पा० टि० 1
विधि की प्रभुसत्ता का सिद्धांत, 55
संविधान का स्वरूप, 9
सिनिकों से भेदाभेद, 163
अरिस्टोफ़ेन्स, 26, 111, 117, 145, 316, 328, 353, 565 पा० टि० 2
अर्कानियन्स, 26
अल्पतंत्र, 373 पा० टि० 1, 435
एथेंस में अल्पतंत्रात्मक दल, 98, 113, 120, 2, 144, 221
पॉलिटिकस में विवेचन, 434-5
रिपब्लिक में विवेचन, 225, 365-6, 369-371, 375-77, 383-4
लॉज़ में विवेचन, 468, 517
अवशेष-प्रणाली, 264

आ

आएस्चाइन्स, 143, 276
आत्म-संयम (या आत्म-नियंत्रण), 265
चारमिडीज़ में विवेचन, 189
डेल्फ़ी की शिक्षा—, 48
पॉलिटिकस में विवेचन, 423
रिपब्लिक में विवेचन, 230 पा० टि० 1, 261, 265, पा० टि० 1, 266
लॉज़ में विवेचन, 446-448, 451, 458, 466
आत्मा (आत्म), 234
आत्मा की अमरता, 391
रिपब्लिक में विवेचन, 237 पा० टि० 2, 240, 243-5, 282-86, 291
लॉज़ में विवेचन, 447
आदर्श का महत्त्व, 214-15, 363-64
आदर्श राज्य, 242-63, 435
— का निर्माण, 245-5
— की शासन-व्यवस्था, 308-9
— के वर्ग, 258-63
— में आर्थिक तत्त्व, 246-8
— में दार्शनिक तत्त्व, 252-7
— में सैनिक तत्त्व, 249-51
आनुवंशिक अभिजात-तंत्र, 372
आर्कीलायस, 80
आर्कीटस, 74, 173, 174
आर्गस 465
आर्फ़ियस-रहस्य, 351
आर्फ़ियस-सिद्धांत, 145
आयम्बलिचस, 121
आयोनिया, 4, 36,
आयोनियाई दार्शनिक, 68-78, 86

इ

इटोलिया, 25
इटोलियाई लीग, 25
इफ़िक्रेटीज़, 227, 251, पा० टि० 1
इतिहास :—
प्लेटो की इतिहास-व्याख्या, 371
लॉज़ में यूनानी इतिहास के सबक, 71, 462-9
संपूर्ण इतिहास सम-सामयिक, 20-1
इलियड, 62

ई

ईसा, 130 पा० टि० 1, 486

ईसोक्रेटीज़, 29, 90, 153, 154-159, 201, 227, 275, 277, 297, 299, 394

उ

उत्साह, 252, 287, 317, 373, 375

ए

एंटालसिडस की शांति-संधि, 155
एंटिस्थेनीज़ (सिनिक), 161-2
एंटीगॉन, 87-88, 186
एंटीफ़ोन (वक्ता), 92, 103, 121, 144
एंटीफ़ोन (सोफ़िस्ट), 103-106, 121 पा० टि० 1, 126-130
एकलेसिआज़ुसाए, 117, 316, 328
एक्सेनोक्रेटीज़, 170
एगामेमनॉन, 369, पा० टि० 1, 385
एगेसिलाउस, 394 पा० टि० 2
एग्रिजेंटम, 77, 474 पा० टि० 2
  —की सहस्र सभा, 78
एचिलीज़, 292
एजाक्स, 87
एटलांटिस की कहानी, 167 पा० टि० 1, 400
एटिका, 169
एडम, 17
ए ड्रीम ऑफ़ जॉन बुल, 345 पा० टि० 1
एथिकल स्टडीज़, 268 पा० टि० 4
एथिक्स, 220 पा० टि० 1, 352 पा० टि० 2, 407, 461
  —में सिनिकों के प्रति निर्देश, 163 पा० टि० 1
एथेंस, 7, 18, 19, 35, 36, 41, 42, 86, 537
  आर्थिक जीवन, 26-27, 42-43
  कार्यांग, 51
  जनसंख्या, 44
  शिक्षा, 277
  स्थानीय शासन, 49-52
एथेना, 36, 410
एथेनागोरस, 7, 120, 226 पा० टि० 1
एनाक्ज़ागोरस, 80, 100
एनाक्सिमेंडर, 75, 79, पा० टि० 1, 85, 134
एन्टिओकस एपिफ़ेन्स, 31
एपामिनोडास, 158
एपिनोमिस, 529, 531
एपीक्यूरस, 108
एप्युसिप्पस, 175
एफ़्रेत्र, 577
एफ़ेसस, 76, 77
एम्पेडोक्लीज़, 77, 474 पा० टि० 2
एम्फ़िक्टियोनिक परिषद्, 395
एर की देवकथा, 585
एरियोपेगिटिकस, 156
एरेव्हान, 542
एलिजाबेथ, 88
एलियाई लोग, 39
एलिस का हिप्पियास, 89, 91, 98, 99, 227
एलेक्ज़ेंडर, 30, 161
एलेक्सिज़, 491 पा० टि० 1
एल्केयस, 66
एल्साएस, 384
एल्सिडामस, 115
एल्सिबिआडिज़, 143, 277, 372, 381
एशिया माइनर, 173
एसे ऑन लिबर्टी, 459
एस्काइलस, 385

ओ

ओडीपस टिरेनस, 87, 243 पा० टि० 1

ओडीसियस, 292
ओरेस्टेस, 117 पा० टि०
ओल्ड टेस्टामेंट, 291

औ

औलिस, 394 पा० टि० 2

क

कंट्रेट सोशल, 19
कर्म:—
  चिंतनमय जीवन और कर्ममय जीवन, 176-8, 305-7
कला, 294
  शिक्षा में स्थान, 283, 288-9, 290-6, 299, 565-7 (संगीत भी देखिए)
कॉन्वियम सेप्टेम सापिएंटियम, 63
काव्य, 290, 292 पा० टि० 1
काल्सीडॉन, 91, 110, 123, 156
किओस, 98
कूज़ा का निकोलस, 529, 532
कृषि, 26, 64, 247 पा० टि० 1, 485-8
केटाना, 86
केरोनडास, 86
केरोनिया, 155, 158 पा० टि० 1, 578
केरोलिनास, 475 पा० टि० 1
केल्ट, 25
कैलीक्लीज़, 109, 110, 111, 112, 117, 207, 208, 234, 331
कोंट, 426 पा० टि० 2, 599-600
कोक, 538
कोरसीरा, 226
कोरिंथ, 30, 51, 505 पा० टि० 2
क्रिओन, 116, 186
क्रिटिआस, 115, 121 पा० टि० 1, 142, 167, 169, 400-1, 464
क्रिटिआस, 169, 399-401, 431 पा० टि० 1, 462 पा० टि० 2, 464 पा० टि० 1
क्रिटो, 54, 56, 146, 168, 186-8, 429 पा० टि० 1, 464 पा० टि० 1
क्रीट, 315, 473, 514
क्रेटिनस, 123
क्रोटोन 72
क्रोनस, 409
क्ज़ेरेक्सस, 231, 232
क्लाउड्स, 26, 111, 117, 145
क्लाडियस विधि, 41
क्लिओन, 7, 227
क्लीनिआज़, 473, 530
क्लीस्थेनीज़, 13, 34, 74, 351, 478 पा० टि० 1, 514
क्वेज़ाने, 90

ख

खगोल--विज्ञान, 302

ग

गणित, 297, 301
गाल, 31
गॉजियाज़, 57, 91, 94, 110, 119 154
गॉर्जियाज़, 57, 70 पा० टि० 1,107, 109, 111, 112, 118, 139, 149, 167, 182, 185, 194-5, 201-15, 222, 234, 299, 331, 380 पा० टि० 1, 436, 508, पा० टि० 1, 542, पा० टि० 1
गियर्क, 350
गेटे, 266
गेलीलियो, 425
ग्रीन, टी० एच०, 343 पा० टि० 2, 345 पा० टि० 2, 451 पा० टि० 1

ग्लॉकन, 107, 108, 238, 240, 249

च

चरम लोकतंत्र, 435
चाल्सिडियस, 585
चारमिडीज़, 185, 189, 190, 191, 192, 194, पा० टि० 1

ज

जरातंत्र, 526
जस जेंटियम, 171
जूडिया, 3, 555
ज़ेअस, 97, 196
ज़ेनो, 77
ज़ेनोफ़ॉन, 98, 120, 141 पा० टि० 1, 146 पा० टि० 2, 146, 151-3, 154, 433
ज़ेनोफ़ेन्स, 77
जेहोवाह, 291
ज़ोला, 327
ज्ञान, 294
  राजनीति में अपेक्षा, 195-6, 212-2, 521-7, 406-7, 412-13, 415-9, 429-30, 466-9
  साकेटीज़ का ज्ञान-द्वय का सिद्धांत, 136-196 पा० टि० 1
ज्यामिति, 300, 531 पा० टि० 2

ट

टायर्टेयस, 67
टारेन्टम, 74, 173, 174
टिबेरियस, 444 पा० टि० 1
टिमाएस, 167, 168 पा० टि० 1, 255 पा० टि० 1, 399, 400, 541 पा० टि० 1, 585
टेम्पेस्ट, 439
ट्राजन, 32
ट्राफ़लगर, 265
ट्रॉय, 463
ट्रीट्श्के, 350 पा० टि० 1

ड

डर्बीशायर, 34
डाएडालस, 196
डायसी, 501 पा० टि० 1
डायागोरस, 114
डायोगेनीज़ लार्यटियस, 75, 80
डायोगेनीज़ (सिनिक), 162
डायोन, 172, 174
डायोनीसियस द्वितीय, 171, 172 405
डायोनीसियस प्रथम, 152, 172, 385
डार्विन, 331
डिमास्थेनीज, 159, 276, 568 पा० टि० 1
डिमोक्रिटस, 100, 108, 164
डियोडोटस, 75
डी एलमबर्ट, 90
डी कंसोलेशन फ़िलॉसफ़ी, 585
डी डोग्मेट प्लेटोनिस, 585
डी पेस, 156
डी रिपब्लिक, 585
डी सिविटाटे डेई, 585
डेरियस, 465
डेलियम की लड़ाई, 133
डेलियाई लीग, 88
डेल्फ़ी, 11, 62, 141, 395
डोमिनिकीय समीक्षण, 524, 525, 533
डोरिस, 64

त

तर्कशास्त्र, 302

तीस अत्याचारी, 134
त्रिविमिति, 529

थ

थाओस, 120
थियाएटेटस, 215 पा० टि० 1
थियोगनिस, 6, 66, 335
थीब्स, 41, 74, 116, 158
थीसियस, 116
थुर्री, 93, 475 पा० टि० 2
थेमिस्टोक्लीज़, 120, 211 पा० टि० 1, 227
थेरामीन्स, 116 पा० टि० 1
थेल्स, 68, 77, 300 पा० टि० 2
थसाईट्स, 292
थ्रेस, 493
थ्रेस की लड़ाई, 133
थ्रेसीमेकस, 91, 110, 117, 149, 233, 234, 235, 238, 387, 457
थ्यूसीडाइड्स, 7, 92, 112, 113, 119, 120, 226 पा० टि० 1, 372 पा० टि० 2, 381 पा० टि० 1
थ्योरी ऑफ़ लेजिस्लेशन, 415 पा० टि० 1, 537

द

दकार्त, 425
द प्रिंसिपिल्स ऑफ़ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन, 451 पा० टि० 1
द लिविंग पास्ट, 300 पा० टि० 2
दांते, 533
दार्शनिक निरपेक्षतावाद, 344
दर्शन :—
    ईसोक्रेटीज़ का—, 155-6
    —और काव्य, 292 पा० टि० 1
    पाययागोरसवादियों का—, 71-2
    प्लेटो की दृष्टि में—, 57, 169-70, 282-4, 439
    यूनानी दर्शन की विशेषताएँ, 3 पा० टि० 1, 15 पा० टि० 1
    साक्रेटीज़ का—, 136-42
दार्शनिक शासक, 171, 192, 196, 252-7, 274, 308, 309, 317, 362, 503, 529
दासता, 396 पा० टि० 4
    यूनानी राज्य और—, 41-7
दिदरो, 90
दृष्टांत :—
    पशु-जगत, 111-2, 162, 181, 316331-2, 335-6
    राजनीति-सिद्धांत में प्रयोग, 181-2
    राजमर्मज्ञ और चालक, 412
    राजमर्मज्ञ और चिकित्सक, 415
    राजमर्मज्ञ और बुनकर, 412, 422-3
द्वंद्वात्मक पद्धति, 136, 169-180
द्वितीय सर्वश्रेष्ठ, 305, 442, 531

ध

धनिकतंत्र, 357, 367, 373-4
धर्म और धार्मिक उत्पीड़न, 552-9
धर्मतंत्र, 427 पा० टि० 1, 532

न

नगर-राज्य, 5,7
    —और कबाइली राज्य, 34-40
    —का राजनीतिक जीवन, 28
नाटक, 291 पा० टि० 2
निकोमेडिया, 32
निरंकुश शासन, 367, 385-6, 388, 432, 435

- निरपेक्षतावाद :—
  - ज़ेनोफ़ॉन के दर्शन में—, 152-3
  - प्लेटो के शासन-सिद्धांत में—, 291-2, 309, 402, 412-30, 468-9
  - हीगेल के दर्शन में—, 597-8
- निष्ठा, 30-31, 468
- नीत्शे, 109, 110, 114 पा० टि० 1
- नैटिलशिप, 237, पा० टि० 2, 240 पा० टि० 2, 244 पा० टि० 1
- नैपोलियन तृतीय, 385
- नैश परिषद्, 530, 523, 526, 527, 531, 533, 539
- नैसर्गिक वरण सिद्धांत, 331
- न्याय :—
  - आयोनियाई विचारकों की दृष्टि में 75, 81
  - ग्लॉकन का न्याय-सिद्धांत, 238-41
  - —और सुख, 387-93
  - —का स्वरूप, 230 पा० टि० 1, 317, 323
  - —के स्थूल सिद्धांत, 230-41
  - थ्रेसीमेकस का न्याय-सिद्धांत, 233-7
  - पायथागोरसवादियों की दृष्टि में, 70-1
  - प्लेटोवादी न्याय, 264-70
  - राज्य का आधार—, 39 पा० टि० 1
  - राज्य-न्याय और व्यक्ति-न्याय का भेद, 267 पा० टि० 1
  - **रिपब्लिक** का मुख्य प्रतिपाद्य,—219, 220, 229
  - साक्रेटीज़ की दृष्टि में, 98, 142
  - सिफ़ालस का न्याय-सिद्धांत, 230-2
  - सोफ़िस्टों की दृष्टि से, 107, 126-30
- न्यूमेन, 27

प

- परंपरागत लोकतंत्र, 156
- पतन की धारणा, 411
- पत्नियों का साझा, 327-32
- परिवार, 117, 162-3
  - —और शिक्षा, 276-80
  - —और संपत्ति, 315-7
  - **रिपब्लिक** में—की आलोचना, 327-38
  - लॉज़ में—की मीमांसा, 493-7
- परीक्षक, 521, 522
- **पानेगिरिकस**, 157
- पायथागोरस, 3, 13, 62, 120
  - तीन वर्गों का सिद्धांत, 73, 243, 259 पा० टि० 1
  - न्यायधारणा, 70
  - —का नियम, 69
  - —के अनुयायी, 67-78
  - प्लेटो का प्रभाव, 70
  - सीमा-सिद्धांत, 73-4, 420
- **पॉलिटिकल एकॉनोमी**, 123
- **पॉलिटिकस**, 177, 190, 191, पा० टि० 2, 197, पा० टि० 1, 202, 383, 405-36
  - —की पुराणकथा, 409-11
  - —के आदर्श की **रिपब्लिक** के आदर्श से तुलना, 423-4
  - रचना-काल, 105, 405
  - राजनीतिक नम्यता के आधार पर निरपेक्षता का पोषण, 415-9
  - राजमर्मज्ञ या निरपेक्ष शासक की परिभाषा, 406-8, 412-4
  - राज्यों का वर्गीकरण, 431-6
  - विधि-शासन के आधार पर निरपेक्षता का संशोधन, 424-430
  - सामाजिक सामंजस्य के आधार पर निरपेक्षता का पोषण, 420-4

पॉलिटिक्स (अरिस्टाटल भी देखिए), 14, 20, 26, 79, 116, 121, 181, 220, 225, 241, पा० टि० 1, 342 पा० टि 1, 451 पा० टि० 2, 517 पा० टि० 1, 518
पिएराएस, 230
पिको डेला मिरांडोला, 585
पूर्ण संरक्षक, 529
पेरागुए, 360
पेराडिसो, 533
पेरियांडर, 231
पेरि पोलितेइया, 121
पेरीक्लीज़, 8, 38, 42, 43, 44, 51, 79, 92, 112, 198, 202, 278, 321, 378, 379, 380, 491
पेरीपेटेटिक्स, 169 पा० टि० 1
पेरी फिसीओस, 75
पेलोपोनेशियाई युद्ध, 40, 112
पेलोपोनीज़, 474
पोप ग्रिगोरी सप्तम, 318 पा० टि०
पोलस, 204, 206
पोलिबियस, 517
पोलीनाइसेज़, 186
पोलीमार्कस, 231
प्रकृतिवाद, 316
प्रबुद्ध निरपेक्षता, 416
प्रस्तावना, 458
प्रास्पेरेटिओ एंवाजिलिका, 532 पा० टि० 3
प्रिंस, 13, 19
प्रिंसिपिल्स ऑफ़ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन, 343 पा० टि० 2
प्रिंसिपिल्स ऑफ़ सोशियोलाजी, 242
प्रिंसिपेट-काल, 385
प्रोक्लस, 585
प्लुटोई, 123
प्लूटार्क, 63, 161, 170 पा० टि० 2, 177 पा० टि० 1
प्लेटो, 3, 4, 6, 10, 14, 17, 18, 42
  अपराध-विषयक दृष्टिकोण, 204 पा० टि० 1
  कर्म बनाम चिंतन, 305-7
  कला-विषयक दृष्टिकोण, 294
  जीवनी, 167-78
  दृष्टांतों का प्रयोग, 181
  दो राज्यों का विचार, 225 पा० टि० 2, 456
  परिवार-सिद्धांत, 337-8
  पायथागोरस के अनुयायियों से संबंध, 70 पा० टि० 1, 71, 72
  प्रतिरक्षा-व्यवस्था, 451-2
  —और ईसोक्रेटीज़, 155, 170, 175, 395
  राजनीति-चिंतन का परवर्त्ती इतिहास, 585-600
  वर्ग-संघर्ष की ध्वनि, 224, 225
  विदेश-संबंध, 524
  विधि-सिद्धांत, 537-8
  संख्यात्मक रहस्यवाद, 530, 531
  संवादों की पद्धति, 179-182
  साक्रेटीज़ से संबंध, 147-50
  सिनिकों से भेदाभेद, 163
  सोफ़िस्टों के प्रति दृष्टिकोण, 91, 101, 107-14
प्रोटेगोरस, 94-99, 117, 119, 474 पा० टि०
प्रोटेगोरस, 53, 91, 96, 97, 149, 160, पा० टि० 1, 168, 196-200, 202, 214, 410, 464 पा० टि० 1
प्रोटेसिलाउस, 116, 328
प्रोडिकस, 92, 98, 115, 154, 160 पा० टि०, 432
प्रोमेथियस, 410

फ

फ़र्ग्यूसन, 26, 30
फ़ाएडो, 215 पा० टि० 1
फ़ाएनिस्साए, 79
फ़ारस, 87, 465
फालेयास, 123, 156
फिख्टे, 489
फ़िलस्तीनवाद, 204
फ़िलॉसिफ़िकल थ्योरी ऑफ़ द स्टेट, 268 पा० टि० 4, 510 पा० टि० 1
फिलॉसफ़ी ऑफ माइंड, 220 पा० टि० 1, 268 पा० टि० 4
फिलिप, 51, 158, 159, 450
फिलिप्पस, 159
फ़िल्मर, सर राबर्ट, 408
फियारे का जेसन, 158
फोसिसवादी, 40
फ्रांसिस थॉम्पसन, 532 पा० टि० 2
फ्रीजिया, 46
फ्रेगमेंट, 116

ब

बटलर 542, 543
बर्क, 348, 361, 536, 556
बहुतंत्र, 378
बिओशिया, 30
बिओशियाई लीग, 50, 158
बिस्मार्क, 148
बुभुक्षा, 71, 73, . 242-4, 246-8, 254, 258-60, 264, 266, 317, 357, 374, 375, 386, 389
  बुभुक्षाओं के भेद, 368-9
बेंथम, 12, 13, 171, 418, 460 पा० टि० 1, 537
बेकन, 425
बेबीलोन, 401
बोएथियस, 585
बोसांके, 46, 268, पा० टि० 4, 510 पा० टि० 1
ब्राउनिंग, 317 पा० टि० 1
ब्रैडले, 54, 268

भ

भाव, 2857, 301
भौतिक-गणितीय विचारक, 532

म

मध्य युग, 299
माक्रोबाइस, 585
'माध्य' का सिद्धांत, 421-2
मानव-विज्ञान, 86, 122, 343
मारकस औरेलियस, 360
मारसिलिओ फिसिनो, 585
मार्विन, 300 पा० टि० 2
माल, लॉर्ड, 148 पा० टि० 1
माल्थस, 335,
मिगारा, 66
मिगारिस, 66
मिटीलीन, 66
मिल, 123, 378, 459
मिलेटस, 474 पा० टि० 2
मिलेसिआस, 192
मिल्टिआडीज़,. 211 पा० टि० 1
मिश्रित राज्य, 515
मिश्रित संविधान, 374, 517, 531
मिस्र, 168, 521, 564
मीडिया, 116, 328
मीनो, 139, 148,149, 185, 194 पा० टि० 1, 196
मेक्लेसिआस, 120
मेजर फॉर मेजर, 370 पा० टि० 1
मेटाफ़िज़िक्स, 69, 220, 532
मेटिक, 91
मेनेक्ज़ेनस, 162

मेमोराबिलिया, 98, 142, पा० टि० 1, 2, 146 पा० टि० 2, 149
मेलोस, 7, 112, 120
मैकबेथ, 368 पा० टि० 1
मैकियावेली, 13, 19, 106, 109, 350
मैकेदोनिया (या मैकेदोन), 5, 31, 51, 159, 450
मैगिलस, 515, 530
मैथीम्ना, 396
मैनटिनेआ का युद्ध, 449
मोंटेस्क्यू, 447, पा० टि० 1, 517
  विधियों पर जलवायु का प्रभाव, 475 पा० टि० 3
मोर, सर टॉमस, 590-8

य

यूजेवियस, 532
यूथीडिमस, 185, 189, 190, 191, 193, 194 पा० टि० 1, 201, 202, 407
यूरिपिडीज, 79, 112, 116, 328, 466 पा० टि० 1
यूनानी धर्म, 11-12
यूनानी राज्य :—
  भौगोलिक विशेषताएँ, 28-9
  —और दासता, 41-7
  —और प्रतिनिधि-संस्थाएं, 48-52
  —और शिक्षा, 53-7
  सामान्य विशेषताएँ, 25-33
यूनानी लोग :—
  जिज्ञासा-वृत्ति, 3

र

रंगमंच-तंत्र, 210 पा० टि० 1, 467
रब्बी दौन एज़रा, 317 पा० टि० 1
राजनीति-कला, 14, 43, 419
  प्लेटो की दृष्टि में, 181-2, 190, 191-2, 197-200, 202, 202, 212, 235, 415-6, 428
  साक्रेटीज़ की दृष्टि में, 137, 140 146-9
राजनीति-विज्ञान, 14, 43, 407
राजमर्मज्ञ—कलाकार के रूप में, 415
राजवंशतंत्र, 372
राज्य :—
  —और व्यक्ति, 265-6
  —, व्यक्तियों के चरित्र की सृष्टि, 243, 266
रिपब्लिक, 14, 17, 18, 20, 79, 118, 122, 168 178 पा० टि० 1, 180, 181
  अर्थशास्त्रीय आधार, 220-23
  आत्मा का स्वरूप, 243
  आरंभिक संवादों में पूर्व-संकेत, 189, 191, 192, 194 पा० टि० 1, 195, 196, 199, 205, 214-5
  दासता का विवेचन, 46
  न्याय-सिद्धांत, 273-309
  पायथागोरस का प्रभाव, 70-4
  पूर्ववर्त्ती ऋण, 117
  योजना और उद्देश्य, 219-229
  रचना-काल, 185
  —, एक आदर्श के रूप में, 357-62
  —, एक समन्वित रचना, 255 पा० टि० 1
  —, **और पॉलिटिकस**, 405, 411 पा० टि० 2, 415 पा० टि० 2, 417, 423, 424, 435, 436

—, और लॉज़ 440, 441, 442 पा॰ टि॰ 1, 443, 444 पा॰ टि॰ 2, 446, 447, 449 पा॰ टि॰ 1, 456 पा॰ टि॰ 2, 478, 481, पा॰ टि॰ 1, 485 पा॰ टि॰ 2, 487 पा॰ टि॰ 1, 495 पा॰ टि॰ 3, 503 पा॰ टि॰ 1
शिक्षा-सिद्धांत, 273-309
शीर्षक, 219
साक्रेटीज़ का प्रभाव, 139, 142, 147, 149-50
साम्यवाद-सिद्धांत, 313-354
सोफ़िस्टों से संबंध, 90, 97, 104, 107, 110, 111, 112
रूसो, 19, 90, 162, 209, पा॰ टि॰ 3, 556 पा॰ टि॰ 1
प्लेटो का प्रभाव, 595-8
रिपब्लिक—शिक्षा के विषय पर आज तक का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ, 219, 273
रेफ़्लेक्शन्स ऑन फ्रेंच रेवोलूशन, 348 पा॰ टि॰ 1
रोम 36, 41, 537
—साम्राज्य, 15-6, 25, 31
रॉबर्ट ब्रिजेज़, 533

ल

लाइकरगस, 12
लाइकोफ़ोन, 116
लाउरियम, 44
लॉ ऑफ़ द कंस्टीट्यूशन, 501 पा॰ टि॰ 1
लॉक, 294, 347, 475 पा॰ टि॰ 1
लॉज़, 118, 156, 167, 177, 178 244, 291 पा॰ टि॰ 1, 387 पा॰ टि॰ 2, 457
अर्थ-व्यवस्था, 485-92
इतिहास के सबक, 462-9
उद्भव और स्वरूप, 439-445
जासूसी, 520
न्याय-व्यवस्था, 513
न्याय-सिद्धांत, 392-3
भूगोल और जनसंख्या, 473-9
रचना-काल, 185, 439
राज्य-सिद्धांत, 439-69
— का वस्तु-विधान, 440-1
— का सिद्धांत, आत्म-संयम, 446-8
— के राज्य का गणितीय आधार, 478-9
विधि का स्वरूप, 453-61
विवाह तथा परिवार, 493-7
शांति और युद्ध का विवेचन, 449-52
शासन-व्यवस्था का सामान्य स्वरूप 516-9
शैलीगत दुर्बलताएँ, 439-40
संपत्ति का विवेचन, 480-4
सामाजिक संबंधों की व्यवस्था, 473-97
स्थानीय शासन, 514-5
हेलेनी विधि पर प्रभाव, 171
लिओंटिनी, 91, 94
लीडिया, 46
लीबिया, 86, 116
लीसियस, 74
लूक्रेटियस, 197
लूथर, 140 पा॰ टि॰ 1, 326
लेरिसा, 122
लेवियाथन 19, 243, 244, पा॰ टि॰ 1
लैंचेज़, 185, 191, 192, 194 पा॰ टि॰ 1

लोकतंत्र, 5-6, 16, 27, 65, 116 पा० टि० 3, 119-20, 224, 369
  प्लेटो की दृष्टि में, 167, 199, 210, 221, 224, 225-7, 291, 322, 365, 371-2, 378-84, 405, 432-4, 435-6, 456, 466-7 517-9
  साक्रेटीज़ की दृष्टि में, 143-5, 147
लोक-संरक्षक, 383

व

वर्ग, 262
  पायथागोरस के सिद्धांत में, 73, 243
  पॉलिटिक्स में वर्ग-व्यवस्था, 423-4
  प्रशा की त्रिवर्ग-व्यवस्था, 507 पा० टि० 1
  प्राचीन एथेंस में वर्ग, 400-1
  प्लेटो के सिद्धांत में — , 73, 168, 227-8, 258-63, 324-6, 336 पा० टि० 3, 354
  लॉज़ में वर्ग-व्यवस्था, 483, 488-9, 506-9, 516-7
  वर्ग-संघर्ष, 370-1, 376, 382-3
  हिप्पोडामस के सिद्धांत में, 124
वाल्टेयर, 90
विधि, 274, 295, 296
  पॉलिटिक्स में विधि का विवेचन, 405, 413-5, 417-9, 425-30
  यूनानी विधि का महत्त्व, 444-5
  यूनानी विधि-सिद्धांत, 55-7
  रिपब्लिक में विधि का विवेचन, 239-40, 269-70, 274, 295-6, 309
  लॉज़ में विधि का विवेचन, 453-61
  —और प्रकृति का विरोध, 81-86, 100-2, 126-30, 163, 238-41
  —का उपयोग, 418
  —की आवश्यकता, 453-5
  विधियों की प्रस्तावना, 539, 540
  विधि-राज्य, 428-9, 435, 459, 520
  विधि-शासन, 529
  विधि-संरक्षक, 510, 511, 512, 516, 521
  साक्रेटीज और —, 146-7
  सिनिक और —, 163-4
  सोलोन की विधियाँ, 64
  हिप्पोडामस का विधि-सिद्धांत 124
  हेराक्लिटस का विधि-सिद्धांत, 75
वास्तविक राज्य :—
  आदर्श राज्य से संबंध, 223 पा० टि० 2, 357-62
  प्लेटो द्वारा आलोचना, 363-86
विक्रयमूलक राजतंत्र, 372
विदेश संबंध, 156, 394-8, 524
विदेशी आवासी, 230, 485-92
विद्याचतुष्टयी, 299 पा० टि० 1, 302
विद्यात्रयी, 300
विलामोवित्ज़, 12, 13, 26
विलियम मॉरिस, 345 पा० टि० 1
विवेक :—
  प्लेटो की संकल्पना, 73, 244, 252-7, 259-60, 267, 285, 317, 324-5, 368, 454
विशेषज्ञ, 212, 213 पा० टि० 1
विशेषीकरण, 236
  प्लेटो की धारणा, 190-1, 224, 227, 228-9, 236, 246-8, 264-5, 488-9
  साक्रेटीज़ की धारणा, 139-40

हिप्पोडामस की धारणा, 124
विश्वकोशविद्, 90
वेल्थ ऑफ नेशन्स, 189
वैराग्य-वृत्ति, 307, 321, 340
व्यक्ति और राज्य का संबंध, 367 पा० टि० 1
व्यक्तिवाद, 265
व्यावहारवाद, 426
व्यायाम, 73, 198, 202-3, 287, 277-9, 494
व्यायामशालाएँ, 27 पा० टि०, 3, 289 पा० टि० 1

श

शिक्षा :—
- ईसोक्रेटीज़ और —, 155-6
- ज़ेनोफ़ॉन और—, 151-2
- **पॉलिटिकस** में शिक्षा-सिद्धांत, 423
- प्रोटेगोरस और—, 96-7
- प्लेटो की अकादमी और—, 168-9
- मध्य युग में —, 297
- यूनानियों की शिक्षा-धारणा, 53-5
- यूनानी शिक्षा-पद्धतियाँ, 276-81
- **रिपब्लिक** में शिक्षा-सिद्धांत, 273-309
- **लॉज़** में शिक्षा-सिद्धांत, 563
- —का दार्शनिक आधार, 282-6
- —का महत्व, 273-8
- —में व्यायाम का स्थान, 290-6
- —में संगीत का स्थान, 290-6
- शिक्षा-मत्री, 513, 525, 567-8

श्रेय का भाव, 254, 255, 285, 303, 306
शूकर-नगर, 163, 244, 343, 463
शेक्सपीयर, 340
शैली, 379

स

संगीत :—
- (१) व्यापक अर्थ में (संस्कारी कलाएँ) :—
- पायथागोरस के अनुयायियों की दृष्टि में, 72
- प्लेटो की दृष्टि में, 289
- **रिपब्लिक** की शिक्षा-योजना में स्थान, 290-6
- (२) संकुचित अर्थ में (सामान्य संगीत :—
- केवल आमोद के लिए नहीं, 210, 467 पा० टि० 2,
- शिक्षा-साधन के रूप में, 198, 277-8

संघ :—
- प्लेटो और—, 349-51
- राज्य—संघ के रूप में, 5,246-7, 347
- सोलोन की संघ-विधि, 64

संपत्ति का साझा, 313-326
संयत अल्पतंत्र, 468
संरक्षक, 252, 258
- पूर्ण संरक्षक, 253-4
- पूर्ण संरक्षकों का उच्चतर अध्ययन-क्रम, 297-304
- **रिपब्लिक** के संरक्षक, 72, 73, 90, 252 और आगे, 354

संस्कार का सिद्धांत, 282-3
सद्गुण, 220, 253 पा० टि० 1
- यूनानियों के आधारभूत सद्गुण, 264

सप्लाइसेज़, 112, 116
सभा :—
- एथेंस की—, 48-9, 65, 139, 199, 201,
- **पॉलिटिकस** में उल्लेख, 331

  - लॉज के राज्य में स्थिति, 506-11, 516
- सर्व-हेलेनवाद, 394-8
- सहायक (संरक्षक भी देखिए), 252, 258
- सांविधानिक राजतंत्र, 435
- सांविधानिक लोकतंत्र (संयत लोकतंत्र), 435
- **सॉमनियम स्किपिनोइस**, 585
- साइमन, 211 पा० टि० 1
- साइरस, 465
- **साइरस**, 162
- **साइरोपीडिया**, 151-2
- साइमोनीडीज़, 152
- साउरोमेशिया, 328
- साक्रेटीज़, 38, 54, 69, 220, 248, 433
  - आर्किलायस का शिष्य, 80
  - जीवन-वृत, 135-5
  - ज्ञान-द्वय का सिद्धांत, 136, 196
  - पद्धति और सिद्धांत, 136-42
  - प्लेटो के संवादों में उल्लेख, 148, 168, 171, 179, 181, 185, 186-7, 190, 124-5, 212-3, 227, 436
  - मृत्यु, 143-49
  - विवाह-सिद्धांत, 328, 335
  - संविधानों का वर्गीकरण, 433
  - —और ज़ेनोफॉन, 143, 149, 433 पा० टि०
  - सिनिकों तथा सिरेनायकों से संबंध, 160-1
- साम्यवाद :—
  - पत्नियों का साझा, 427-38
  - पायथागोरसवादियों में साम्यवाद के तत्त्व, 315
  - प्लेटो के साम्यवाद का आधुनिक समाजवाद से भेदाभेद, 320-6
  - प्लेटो के साम्यवाद का मनोवैज्ञानिक आधार, 317
  - प्लेटो के साम्यवाद का राजनैतिक आधार, 318-9
  - प्लेटो के साम्यवाद-सिद्धांत की पृष्ट-भूमि, 313-4
  - यूनान में साम्यवाद की ऐतिहासिक परंपरा, 314-6
  - साम्यवाद का उद्देश्य, 313-4
  - संपत्ति का साझा, 313-236
- सामाजिक संविदा, 6, 464 पा० टि० 1
- सामान्य इच्छा, 519
- सामॉस, 474, पा० टि० 2
- साहस, 192-3, 244, 264-5, 279-80, 448
- सिफ़ालस, 230, 233
- सिनिक, 19, 99, 147, 160-164, 249
- **सिम्पोज़ियम**, 338 पा० टि० 1, 353
- सिराक्यूज़, 772, 121, 158, 171, 173, 174, 225, पा० टि० 1, 357, 371, 385
- सिरेनायक, 160
- सिसरो, 146, 538 पा० टि० 1, 585
- सिसली, 173, 175
- **सिसीफस**, 115
- सुधार-सदन, 524
- 'सु-मति' 196
- सेंट आगस्टाइन, 555 पा० टि० 2; 585
- सेंट पाल, 130 पा० टि० 1, 459, 485
- सेक्रोप्स का नगर, 340
- **सेप्टिमाइयस सीवरस**, 32
- **सेक्रेड ओरेकिलस**, 585
- सेयीज़, 74
- सेल्यूसिड, 30

सैन्यवाद, 449-450
सोफ़िस्ट, 4
  राजनीति–सिद्धांत, 85-130
  सामान्य लक्षण, 89-93
  सोफ़िस्ट-सिद्धांतों के विषय में प्लेटो का विवरण, 107-114
सोफ़ोक्लीज़, 87, 88, 243 पा० टि० 1
सोलोन, 6, 13, 62-77, 86, 156, 276, 511, 514
स्ट्राफर्ड, 148
स्ट्रेप्सिएड्स, 111, 331
स्ट्रेबो, 77
स्टेसिब्रोटस, 120
स्टोइक, 19, 76, 161, 391, 395
स्त्रियाँ,
  यूनान में स्त्रियों की स्थिति, 329
स्पार्टा, 18, 19, 35, 36, 41, 537
  —की शिक्षा-प्रणाली, 278-80
स्पिरिट ऑफ़ मैन, 533
स्वतंत्रता, 447 पा० टि० 1

ह

हक्सले, 301
हरकुलीज़, 62
हरमीज़, 97
हरमोडोरोस, 76
हर्बर्ट स्पेसर, 70, 292, 349 पा० टि० 1
हाइपरबोरिया, 86
हॉब्स, 19, 98, 289, 242, 244 पा० टि० 1, 347, 532
हिएरो, 152
हिप्पारकस, 300, पा० टि०
हिप्पोडामस, 123
हिरोडेज़ एटिकस, 122
हिल्ब्रैंड का सिद्धांत, 318 पा० टि०
हीगेल, 16, 220, 268, पा० टि० 4
  प्लेटो का प्रभाव, 598-9
हेफ़ाएस्टस, 410
हेवडोमेडल परिषद् (आक्सफर्ड), 527, पा० टि० 1
हेराक्लिटस, 75, 77, 78, 81, 91, 134, 139
हेरोडोटस, 6, 54, 86, 87, 119, 433, 454, पा० टि० 2
हेसिऑड, 62, 232, 277, 530
होमर, 62-63, 73, 277, 566
ह्यूम, 188

अनुवाद निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रकाशन

प्रकाशित :

1. गति-विज्ञान, भाग 1 (Dynamics Part 1—A. S. Ramsey)
अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

2. गति-विज्ञान, भाग 2 (Dynamics, Part II—A. S. Ramsey)
अनुवादक : स्व० डा० झम्मनलाल शर्मा
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

3. समाकलन-गणित (Integral Calculus—Shanti Narayan)
अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

4. अवकलन-गणित (Differential Calculus—Shanti Narayan)
अनुवादक : स्व० डा० झम्मनलाल शर्मा
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

5. कशेरुक प्राणियों की संरचना तथा परिवर्धन, भाग I (Studies on the Structure and Development of Vertebrates, Vol. I —E. S. Goodrich)
अनुवादक : डा० जगदीशचन्द्र मूना
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

6. कशेरुक प्राणियों की संरचना तथा परिवर्धन, भाग II (Studies on the Structure and Development of Vertebrates, Vol. I —E. S. Goodrich)
अनुवादक : डा० जगदीशचन्द्र मूना
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

7. अकशेरुकी प्राणि-जगत् : प्रोटोज़ोआ से टीनोफ़ोरा तक, भाग I (The Invertebrates : Protozoa through Ctenophora, Vol. I —L. H. Hyman)
अनुवादक : डा० हरसरनसिंह विश्नोई
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

8. यूनानी राजनीति-सिद्धांत (Greek Political Theory—Ernest Barker)

अनुवादक : विश्वप्रकाश गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

प्रेस में :

1. भारतीय विदेश-नीति के आधार (Foundations of India's Foreign Policy—Bisheshwar Prasad)

अनुवादक : विश्वप्रकाश गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

2. राजनय और राज्य-शिल्प (Studies in Diplomacy and Statecraft—G. Cap. Gooch)

अनुवादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

3. चिरसम्मत यांत्रिकी (Classical Mechanics—D. E. Rutherford)

अनुवादक : ओमप्रकाश शर्मा
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

4. बीजगणित और समीकरण सिद्धांत (Text Book on Algebra and Theory of Equations—Chandrika Prasad, D. Phil, Oxon.)

अनुवादक : डा० हरिश्चन्द्र गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

5. प्राणि-विज्ञान [illegible] रूपरेखा (Thomson's Outlines of Zoolgy)

अनुवादक : कृष्णकुमार गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

आगामी प्रकाशन :

1. प्रायिकता-सिद्धांत और उसके अनुप्रयोग (An Introduction to Probability Theory and its Applications—W. Feller)

अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY
वाल्मीकि विद्यापीठ-पुस्तकालय

2. उच्चतर बीजगणित (Higher Algebra—S. Bernard and J. M. Child)

अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

3. चन्द्रलोक का सर्वेक्षण (Survey of the Moon—Patric Moore)

अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

4. आधुनिक ब्रह्मांड-विज्ञान (Great Ideas and Theories of Modern Cosmology—Jagjit Singh)

अनुवादक : लज्जाराम सिंहल
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

5. अकशेरुकी प्राणि-जगत् : प्लेटीहेल्मिथीज़ तथा रिंकोसीला, भाग II (The Invertebrates : Platyhelminthes and Rhynchocoela, Vol. II—L. H. Hyman)

अनुवादक : डा० हरसरनसिंह विश्नोई
भाषा–संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

6. अकशेरुकी प्राणि-जगत् : ऐकैंथोसेफ़ैला, ऐस्केल्मिथीज़ और एन्टोप्रॉक्टा—भाग III (The Invertebrates : Acanthocephala, Achelminthes and Entoprocta, Vol. III—L. H. Hyman)

अनुवादक : डा० जगदीशचन्द्र मूना
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

7. यूरोपीय राजनय का इतिहास, 1451-1789 (A history of European Diplomacy, 1451-1781, R. B. Mowat)

अनुवादक : विश्वप्रकाश गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

8. यूरोपीय राजनय का इतिहास, 1815-1914, (A History of European Diplomacy, 1815-1914—R. B. Mowat)

अनुवादक : ओमप्रकाश गाबा
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

9. यूरोपीय राजनय का इतिहास, 1914-1925 (A History of European Diplomacy, 1914–1925—R. B. Mowat)

अनुवादकः विश्वप्रकाश गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

10. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास—1919 के बाद (The World Since 1919—Walter Consulelo Langsam)

अनुवादक : विश्वप्रकाश गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

11. राजनयिक व्यवहार (A Guide to Diplomatic Practice—Sir Ernest Satow)

अनुवादक : ओम्प्रकाश गाबा
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

12. कीट-विज्ञान (A Text Book of Entomology—A. D. Imms)

अनुवादक : डा० जगदीशचन्द्र मूना
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

13. प्रायोगिक प्राणि-विज्ञान (A Junior Course of Practical Zoology—Marshall and Hurst)

अनुवादक : कृष्णकुमार गुप्त
भाषा-संपादक : महेन्द्र चतुर्वेदी

●

०४७५१९

DATE DUE

०४७५।९

नं० १८३५१

AUTHOR सर अर्नेष्ट बार्कर

TITLE यूनानी राज्य सिद्धान्त

DATE DUE	BORROWER'S NAME

नं० १८३५१

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय